संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

सप्तदश-खण्ड

आयुर्वेद का इतिहास

प्रधान सम्पादक

स्व. पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय

प्रो. श्रीनिवास रथ

सम्पादक

डॉ. रमानाथ द्विवेदी

प्रो. रविदत्त त्रिपाठी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

जीवन-वृत्त
प्रधान सम्पादक
आचार्य श्रीनिवास रथ

जन्म : कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९९० (१.११.१९३३ ई.) जगन्नाथ पुरी (उड़ीसा)
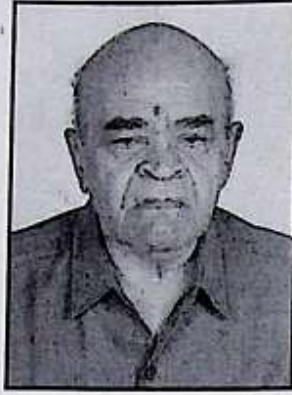
शिक्षा : अपने पिता पं. जगन्नाथ शास्त्री से व्याकरण तथा साहित्य शास्त्रों का अध्ययन। राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (क्वीन्स कालेज) से साहित्याचार्य तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर उपाधि।

कार्यक्षेत्र : सागर विश्वविद्यालय तथा विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन में अध्यापन (१९५५-९३)
सचिव, कालिदास समिति (१९७१-९३)
मानद निदेशक- सिन्धिया प्राच्य शोध संस्थान, उज्जैन (१९८५-९३) तथा
कालिदास अकादेमी, उज्जैन (१०८६-१९७५)
रंगमंच तथा आकाशवाणी केन्द्रों के लिये संस्कृत रूपकों का निर्देशन।

सम्मान : मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् द्वारा

पुरस्कार राजशेखर पुरस्कार - १९८५
संस्कृत सेवा के लिये राष्ट्रपति सम्मान महामहिम डॉ. शंकर दयाल शर्मा, १९९५
'तदेव गगनं सैव धरा' के लिये साहित्य अकादेमी पुरस्कार १९९९

सम्प्रति : उपाध्यक्ष, महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन

अभिरुचि : मौलिक संस्कृत रचना

संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

सप्तदश-खण्ड
आयुर्वेद का इतिहास

प्रधान सम्पादक
स्व. पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय
प्रो. श्रीनिवास रथ

सम्पादक
डॉ. रमानाथ द्विवेदी
प्रो. रविदत्त त्रिपाठी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

संस्कृत-वाङ्मय-बृहदितिहासं परिभाषिताष्टादशाश्वासम्।
मनसि विभाव्याकलितोपायाः श्रीयुतबलदेवोपाध्यायाः।।
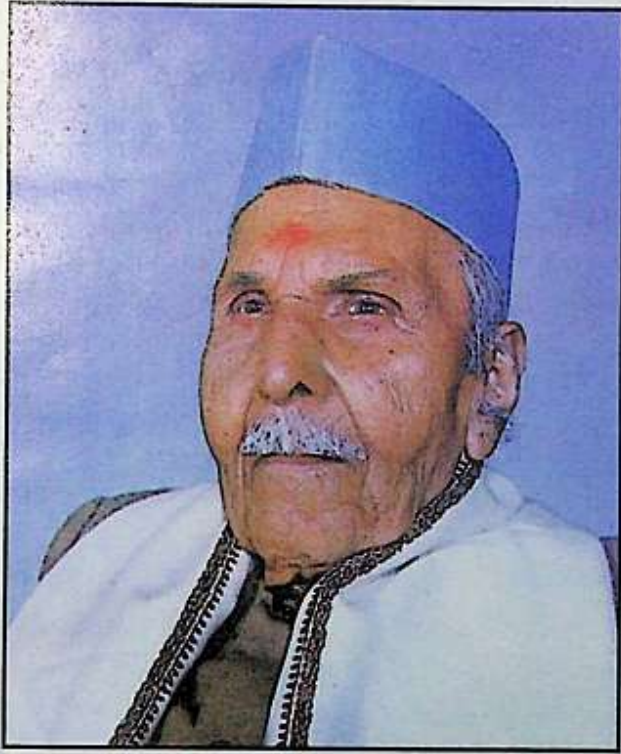
प्रवर प्रधान सम्पादक

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

(संवत् १६५६-२०५६ : १८६६-१६६६ ई.)

प्रकाशकीय

ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में उच्चकोटि के व्यक्ति पुरा काल में ऋषि अथवा महर्षि कहलाते थे। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्ट्य के प्राप्ति की इच्छा मानव स्वभाव को ही प्राप्त है। जिसके लिए स्वस्थ रहना परमावश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान रखते हुए महाकवि कालिदास ने कुमार-सम्भवम् में भगवान शिव से कहलाया है कि - "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। स्वास्थ्य संरक्षण के लिए मानव आदिकाल से ही वनौषधियों का सहारा लेकर विकसित हुआ। वैदिक संहिताओं की तरह ही आयुर्वेद की संहिताओं के द्रष्टा चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्ट आदि ऋषि ही रहे हैं। यही कारण है कि इसे 'पञ्चम वेद' भी कहा जाता है। आयुर्वेद रूपी इस वेद (शास्त्र) का मुख्य उद्देश्य स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा उसके रोगग्रस्त शरीर को रोगमुक्त करना है।

आयुर्वेद मात्र चिकित्सा विज्ञान ही नहीं है। अपितु यह जीवन का विज्ञान है। जो प्रारम्भ से ही केवल मानव को ही नहीं, देवताओं को भी आरोग्य लाभ प्रदान करता आ रहा है। अश्विनी कुमारों का चिकित्सा प्रयोग आज के विकसित वैज्ञानिक युग में भी चुनौती है।

सुश्रुत के अनुसार आयुर्वेद के आदिगुरु ब्रह्मा माने जाते हैं, जिन्होंने सृष्टि रचना के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की, क्योंकि आयुर्वेद से ही - १. आयु का अस्तित्व, २. आयु प्राप्ति, ३. आयु का ज्ञान, ४. आयु पर विचार किया जाता है, इसीलिए यह आयुर्वेद शास्त्र है।

मई २००५ में सर्वप्रथम जब मैं उत्तर प्रदेश शासन के भाषा विभाग में नियुक्त हुआ, तो मेरे पास समय की अधिकता थी। इसी मध्य मुझे संस्कृत संस्थान के निदेशक पद का दायित्व भी शासन ने सौंप दिया, जिसे मैं अपने पूर्व जन्म के पुण्य का फल मानता हूँ। विज्ञान का विद्यार्थी होने के कारण मैं संस्कृत वाङ्मय की सम्पदावेद, पुराण, स्मृति ग्रन्थों से अनभिज्ञ था, जिनका मुझे यहाँ अध्ययन करने का समय और साधन एक साथ मिल गया। मैंने संस्थान की प्रमुख गतिविधियों के विषय में जब डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी जी से पूछा तो उन्होंने 'संस्कृत वाङ्मय के बृहद् इतिहास' के प्रकाशन योजना विषय में बताया। ज्ञात हुआ कि १८ खण्डों के इस महनीय योजना के सात खण्ड अभी अप्रकाशित हैं। प्रधान सम्पादक पं. विद्या निवास मिश्र जी की मृत्यु पश्चात्, यह पद भी रिक्त है, सम्पादकों से कार्य में गति नहीं आ रही है। मैंने अब तक प्रकाशित खण्डों तथा शेष खण्डों की प्रगति समीक्षा कर इस कार्य को वरीयता सूची में रखा।

सर्वप्रथम संस्थान के मा. अध्यक्ष जी के परामर्शानुसार प्रधान सम्पादक पद पर शासन से प्रो. श्रीनिवास रथ जी की नियुक्ति का अनुमोदन कराकर शेष अप्रकाशित खण्डों के

सम्पादक की बैठक बुलाई। बैठक में यह सामने आया कि आयुर्वेद खण्ड का कार्य प्रायः पूर्ण है। इसे तत्काल प्रेस को मुद्रणार्थ दे दिया गया। इस खण्ड के सम्पादक प्रो. त्रिपाठी जी ने पूर्ण सहयोग कर समय से प्रूफ संशोधन का कार्य सम्पादित किये, जिसके फलस्वरूप यह ग्रन्थ इस रूप में आ पाया है। इस खण्ड के सम्पादक **आचार्य रमानाथ द्विवेदी** तथा **प्रो. रविदत्त त्रिपाठी** जी ने जिस प्रयास एवं परिश्रम से इस खण्ड के लेखकों से लेख प्राप्त कर उसका परिस्कार एवं संशोधन के साथ ही अपनी वैदुष्यपूर्ण सम्पादकीय से ग्रन्थ की ज्ञान सम्पदा को बहुमूल्य बनाया है, इसके लिए आभार प्रदर्शन के साथ विनम्र प्रणाम भी करता हूँ।

आद्य प्रधान सम्पादक **स्व. बलदेव उपाध्याय** जी के चरणों में प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिनकी सोच एवं दिशा निर्देशों के फलस्वरूप ही इस खण्ड का यह स्वरूप बन सका है। प्रधान सम्पादक प्रो. श्रीनिवास रथ जी का किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ! वस्तुतः इस खण्ड का शीघ्र प्रकाशन उनके आशीर्वाद एवं सत्प्रेरण का फल है।

इस खण्ड के सभी योग्य विद्वान् लेखकों का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने संस्थान के अनुरोध को स्वीकार कर अपने ज्ञान सम्पदा से इस खण्ड को अलंकृत किया है।

संस्कृत वाङ्मय योजना के संयोजक लेखकों, सम्पादक एवं प्रेस से सम्पर्क बनाकर लेखन, सम्पादन एवं मुद्रण कार्य में आने वाले गतिरोधों को दूर करने में सदैव तत्पर रहने वाले **डॉ. चन्द्र कान्त द्विवेदी** को भी अपनी हार्दिक शुभकामना देता हूँ। **डॉ. शैली अग्निहोत्री** प्रचार-प्रसार अधिकारी सहित संस्थान के सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों को साधुवाद देता हूँ, जिनका इस कार्य में सहयोग प्राप्त है। **शिवम आर्ट्स** के प्रवन्धक तथा उनके सहयोगियों को भी धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में इस खण्ड के प्रकाशन में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से जुड़े सभी का आभारी हूँ, जिसके फलस्वरूप यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो सका है।

विजया दशमी सं. २०६२

विद्वत्कृपाभिलाषी
प्रमोद कुमार पाण्डेय
निदेशक

निवेदनम्

उपाध्यायाय वन्द्याय बलदेवाय धीमते।
कृष्णज्येष्ठाय सोल्लासं प्रणामाञ्जलिरर्प्यते।।

नाविदितं विदुषां यदधीतिबोधाचरणप्रचारण-विधिसंवर्धिता भारतीया विद्याभ्यसनसरणिः परामृष्टाऽभूत् कपटशताचारचतुरैः वैदेशिकैः शासनाध्यक्षैः। ततश्च राजभाषेति कृत्वाऽऽङ्ग्लभाषाप्रचारपरा प्राथमिक-माध्यमिक-स्नातक-स्नातकोत्तर-क्रमनियोजिता शिक्षणपद्धतिरासूत्रिता। नवजागरणोत्साहकरम्वितमतिभिः कैश्चन भारतीयैरपि समर्थिता सती सेयमभिनवा शिक्षानीतिः सुलभावकाशा-सर्वत्र कृतास्पदा चाजायत। तदनु संस्कृतविद्यासु यथामति कृतश्रमैः कैश्चित् पाश्चात्यविपश्चिद्भिः ग्रथितानां तत्तद्विषयकसाहित्येतिहासग्रन्थानां पाठ्यग्रन्थतयाध्यापनं प्रावर्तत। तेषु च तत्तदभीष्टप्रामाण्याकलनपराः नैके वैदेशिका विद्वांसः भारतीयवैदुष्यमितिहासदृष्टिकलमिति प्रख्यापयाञ्चक्रुः। अपरे च केचनाङ्ग्ल-साम्राज्यहितरक्षणनिरताः सन्तः भारतीयसाहित्यलोचनासु प्रभूततरं कार्पण्यमेवाविष्कुर्वते स्म। तथात्वे अस्मद्गुरुचरणाः श्रीमन्तः बलदेवोपाध्यायमहोदया एव महामनसां मदनमोहनमालवीयानां, स्वातन्त्र्यसिद्धिमन्त्रदीक्षागुरूणां श्रीबालगङ्गाधरतिलकमहाभागानां, भारतोत्कर्षगीताञ्जलिपुलकितचेतसां श्रीरवीन्द्रनाथठाकुरमहोदयानां, सत्याग्रहग्रहिलानां श्रीमन्मोहनदासगान्धीमहाभागानां, इतरेषामपि स्वाराज्यार्जनपथिकानां स्वदेशमहिमोत्थानप्रयतनपदवी-मवलम्ब्य भारतीयविद्येतिहासादिविषयेषु प्रमाणानुसन्धानपुरःसरं याथार्थ्यापदेशविधिना बहूपकृतवन्तः अस्मादृशानां छात्राणाम्। निगमादिभारतीयविद्यासु स नास्ति विषयः यो न नीतः शास्त्रदृशा विवेचनपथं श्रीमदुपाध्यायवर्यैः।

उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानेन सुचिरमुपकल्पितानां संस्कृतवाङ्मयबृहदितिहासग्रन्थानां दुर्वहं निर्मितिधुरं निजायुषः द्वानवतितमेऽपि वर्षे वोढुं सोत्साहमङ्गीकृतवन्तः श्रीमदाचार्यबलदेवोपा-ध्यायवर्याः। अनुपदमेव विद्यासंख्ययाष्टादशभागविभक्तमुपकल्प्य सामान्यजनतावोधगम्यं महाग्रन्थंप्रतिभाजुषः स्वशिष्यान् तत्सम्पादनकर्मणि विनियुक्तवन्तः। कतिपयैरेवाब्दैः करबाणनभोनेत्रमितवैक्रमवत्सरवसन्तपञ्चयां भूमिकालेखपुरःसरं प्रकाशतामनायि वेदसंज्ञकः प्रथमः खण्डः। तदनु चतुर्भिरेववर्षैः निजायुषः शततमाब्दप्रवेशेन समं महाग्रन्थस्यैकादशखण्डानां प्रायशः पूर्णतामधिगतवद्भिः आचार्यवर्यैः श्रीभोलाशङ्करव्याससम्पादितार्षकाव्यखण्डस्य विमर्शहृद्या भूमिका श्रीजगन्नाथपाठकसम्पादिताधुनिकसंस्कृतसाहित्यखण्डस्याञ्जसैवालिखिता पुरोवाक् चेति लेखद्वयं युगपदलेखि ऋतुबाणनभोनेत्रमितवैक्रमवत्सरगुरुपूर्णिमापर्वणि। तत्र चार्षकाव्यखण्डभूमिकायां - "न खलु महाभारतं महाकाव्यम् प्रत्युत इतिहासः" इति प्रसङ्गेन-"नानाविधेषु प्रपञ्चेषु अनासक्तः सन् लोकः परमात्मज्ञानस्वरूपं मोक्षं प्राप्नुयादित्येव महाभारतस्य विद्यते मूलशिक्षा" इति व्याख्यानपूर्वकं काव्यशास्त्रखण्ड-सम्पादकं श्रीवायुनन्दनपाण्डेयमहोदयं

स्वमनोगताभिराशीर्वचोभिरेवाभिषिच्य श्रीमदाचार्यवर्याः परब्रह्मसायुज्यपदवीपथिकत्वमगाहन्त।

उत्तरप्रदेशसंस्कृतसंस्थानप्रयुक्तः संस्कृतवाङ्मयबृहदितिहासमहाग्रन्थस्य अष्टादश-खण्डेषु प्रकाशनोद्योगः मूलत एव नवभिः पद्यैः "ज्ञानमहासत्रम्" इति निरूपितमभूदाचार्यचरणैः।

अधुना प्रासङ्गिकतयौ चित्यामावहति तदनुस्मरणम्।

ज्ञानमहासत्रम्

"संसारेष्वप्रतिमं सम्पूर्णैर्गौरवैर्जुष्टम्।
सर्वविधानैः पुष्टं प्रणमामो संस्कृतेषु साहित्यम्।। १।।
स्वातन्त्रयानन्तरमथ तदिदं किञ्चिद्विनिर्मलं ज्योतिः।
समुदेत्यन्तःसलिलं समुत्सुकं दर्शनं दातुम्।। २ ।।
संस्थानसंस्थयायया संस्कृतसेवा सुसंदृब्धा।
उत्तरदेशविभूषातयेदमारब्धमथ महासत्रम्।। ३ ।।
अष्टादशभागेष्वथ सुबृहत्काय-प्रकृष्टेषु।
संस्कृतसाहित्यस्था दीप्ततरा काऽपि चित्रवियदालिः।।४।।
प्रत्येकस्मिन् भागे विद्यासंख्यामहत्त्वसुख्याते।
मूर्धन्या विद्वांसः सश्रममेतन्निर्वर्तयन्त्यार्याः।। ५ ।।
इतिहासमहाग्रन्थः सोऽयं वा कल्पनातीतः।
आद्यात्कालादधुनापर्यन्तं सर्वमामृशति।। ६ ।।
उत्तरमुत्तरमेतत्सर्वं संस्कृतविरुद्धानाम्।
मित्रं मित्रं चैतत्सदनुष्ठानं वरेण्यानाम्।। ७ ।।
गुरुगुरुरूपं निखिलं सहस्रशो जागरूकाणाम्।
आगामिनि सन्ताने रिक्थं गीर्वाणवाणीनाम्।। ८।।
दूरस्थान् विज्ञान्प्रति सारल्यैर्वाऽथ गाम्भीर्यैः।
निखिलं संस्कृत-वाङ्मयमालोडितवैभवं जयति"।। ९।।

– बलदेवोपाध्यायः।

इत्याकलयाञ्चक्रुः सर्वज्ञा बलदेवोपाध्यायाः।
तेषामेवाशीर्भिः समुपैष्यति पूर्णतां सत्रम्।।
आयुर्वेदस्य खण्डोऽयं स्मृतः सप्तदशात्मकः।
विधात्रे सर्वखण्डानां सप्रणामं निवेद्यते।। इति शम्

सर्वपितृअमावस्या
वैक्रमसंवत् २०६३
२२/०९/२००६ ई.

श्रीनिवास-रथः
"श्रीलीला"
उदयनमार्गः उज्जयिनी

भूमिका

आज के विश्व में सभी देशों के लोग आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति से परिचित हो चुके हैं। इस चिकित्सा पद्धति के सभी आधार ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में निबद्ध हैं। अतएव आयुर्वेद के क्षेत्र में अध्ययन तथा शोध अनुसन्धान के लिये संस्कृत भाषा की आधारभूत भूमिका आवश्यक ही नहीं कुछ स्थितियों में अपरिहार्य प्रतीत होती है। यूरोप तथा एशियाई देशों के अलावा आस्ट्रेलिया तथा सुदूर मैक्सिको, कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के अनेक छात्र भारतीय प्राच्य विद्या केन्द्रों में अन्यान्य विषयों के अन्तर्गत आयुर्वेद और वनौषधि के पाण्डु-लिपियों का भी अन्वेषण करने लगे हैं। आयुर्वेद की अविच्छिन्न परम्परा और विपुल साहित्य से सन्दर्भित संस्कृत वाङ्मय का समग्र इतिहास विद्वन्मनीषी आचार्य रमानाथ द्विवेदी तथा प्रो. रविदत्त त्रिपाठी के कुशल नेतृत्व में सम्पादित हुआ है।

आचार्य द्विवेदी ने 'अनादि आयुर्वेद का प्रादुर्भाव' के अन्तर्गत कहा है कि "आयुर्वेद को कुछ लोग ऋग्वेद से तो अधिकांश अथर्ववेद के उपवेद के रूप में विकसित मानते हैं।" साथ ही आचार्य जी ने उन परम्परा का भी उल्लेख किया है, जो आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद मानती आई है। ऐतिहासिक दृष्टि से आयुर्वेद की चरक, सुश्रुत तथा काश्यप संहिताओं की शास्त्रीय मान्यता अवश्य ही उस अविच्छिन्न धारा को रेखांकित करती है, जो भृगु-अङ्गिरस तथा अथर्व-अङ्गिरस के रूप में अथर्ववेद से जुड़ी है।

वस्तुतः किसी शास्त्र को उपवेद की संज्ञा से जोड़ने की परम्परा में उस शास्त्र के महत्त्व का प्रतिपादन ही अभीष्ट होता है। जिस प्रकार आयुर्वेद की सृष्टि ब्रह्मा, इन्द्र, अत्रि तथा भारद्वाज आदि के क्रम से चरक और सुश्रुत आदि संहिताओं में सन्निविष्ट दिखाई देती है, उसी प्रकार नाट्यवेद की सृष्टि भी ब्रह्मा से ही मानी गई है। भारतीय नाट्यशास्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए श्री अभिनव गुप्तपादाचार्य अपनी अभिवन भारती में इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं-

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्।।

जिसमें नाट्य को शास्त्र कहा गया है, परन्तु ग्रन्थ के अन्त में-"य इमं शृणुयात्प्रोक्तं नाट्यवेदं स्वयम्भुवा।" के द्वारा यह भी निदिष्ट हुआ है कि 'ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त यह नाट्यवेद है।' नाट्यवेद तथा नाट्यशास्त्र को समानार्थक नहीं माना जा सकता क्योंकि नाट्य रसस्वभाव होने के कारण अलौकिक तथा केवल आस्वाद्य होता है। अतएव उसके स्वरूप को समझने की प्रक्रिया का उपदेश शास्त्र बन गया है। अभिनव भारती के अनुसार नाट्य

अपने आप में वेद है। पितामह ब्रह्मा से आचार्य भरत को नाट्यवेद-विषयक-शास्त्र का उपदेश मिला था।

इसी सन्दर्भ में गान्धर्ववेद तथा धनुर्वेद का भी उल्लेख प्रासंगिक हो उठता है। औशनस संहिता या शुक्रनीति के अनुसार–

ऋग्यजुः साम चाथर्ववेदायुर्धनुषोः क्रमात्।
गान्धर्वश्चैव तन्त्राणि उपवेदाः प्रकीर्तिताः।। शुक्रनीति ४।२६७

बत्तीस विद्याओं की गणना चारों वेद तथा चार उपवेदों से प्रारम्भ होती है। इस क्रम में आयुर्वेद को ऋग्वेद का, धनुर्वेद को यजुर्वेद का, गान्धर्ववेद को सामवेद का तथा तन्त्रवेद को अथर्ववेद का उपवेद निरूपित किया गया है। शास्त्र चर्चा में विभिन्न सम्प्रदाय तथा आचार्य परम्परा का अपना महत्त्व होता है। यहाँ हमारे सम्मुख यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आयुर्वेद को ऋग्वेद से जोड़कर देखें या अथर्ववेद से क्योंकि आयुर्वेद की आचार्य परम्परा स्वयं को अथर्वाङ्गिरस से सम्पृक्त मानती आई है। अतः इस मत मतान्तर की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। नाट्यशास्त्र ने अपने उपकरणों का संग्रह चारों वेदों से किया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसों का संग्रह कर वेदों तथा उपवेदों से सम्बद्ध नाट्यवेद की रचना की थी।

जग्राह नाट्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।
वेदोपवेदैः सम्बद्धः नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना।। भरतनाट्यशास्त्र १।१७-१८

आयुर्वेद के सन्दर्भ में 'वेद' शब्द उसके अभिधान में उत्तर पद के रूप में निरन्तर सम्बद्ध रहा है। यह स्थिति अन्य किसी शास्त्र अथवा विद्या से भिन्न है। धनुर्वेद को धनुर्विद्या, नाट्यवेद को नाट्यशास्त्र, तन्त्रवेद को केवल तन्त्र, तन्त्रशास्त्र तथा तन्त्रविद्या के रूप में जाना जाता है। गान्धर्व विद्या को भी प्रायः केवल गान्धर्व कहा गया, परन्तु आयुर्वेद का 'वेद' शब्द को पृथक् कर कोई अभिधान कहीं उपलब्ध नहीं होता। आज भी इस चिकित्सा पद्धति को विश्व की सभी भाषाओं में 'आयुर्वेदिक' ही कहा जाता है। अतएव प्राचीन परम्परा के आचार्यों में कुछ आचार्य आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद भी मानते रहे हैं। जिस आर्ष परम्परा में अनादि आयुर्वेद की उत्पत्ति या प्रादुर्भाव को हम अधुनातन दृष्टि से देखते हैं, वहाँ वह आद्यन्त, यत्र-तत्र सर्वत्र परिव्याप्त दिखाई देता है।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का तैतीसवां सूक्त अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित रहता आया है। अतः वेद के सभी छात्र इस सूक्त से परिचित हैं। चिकित्सा पद्धति का एक सुविकसित रूप इस सूक्त के केवल दो मन्त्रों में दिखाई देता है।

त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।
व्यस्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः ऋग्वेद २।३३.२

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभि-र्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि
ऋग्वेद, २।३३.४

इन मन्त्रों में भिषक्, भेषज अर्थात् वैद्य और औषधि, अमीवाः अर्थात् रोग के अलावा वैदिक दृष्टि से शतायु का महत्त्व 'शतं हिमा अशीय भेषजेभिः' अर्थात् औषधों के द्वारा सौ बरसों की आयु प्राप्त करने का आदर्श भी स्पष्ट रेखांकित दिखाई देता हैं। ऋग्वेद में अश्विनी कुमारों के द्वारा प्रमाणित चिकित्सकीय उपलब्धियों के विवरण प्रस्तुत खण्ड के अध्यायों में डॉ. हरिहरनाथ चतुर्वेदी, डॉ. (श्रीमती) सुधा शर्मा, डॉ. हीरालाल विश्वकर्मा तथा डॉ. रामविलास सौहगौरा के आलेखों में द्रष्टव्य हैं।

यजुर्वेद में कर्मकाण्ड के अन्तर्गत वैदिक मन्त्रों की विनियोग प्रक्रिया में आयुर्वेद के व्यावहारिक पक्षों की अन्विति और अन्तः सम्बन्ध को लेकर हमारे प्रिय शिष्य डॉ. केदारनाथ शुक्ल ने बरसों पहले अपने एक आलेख में चिकित्सा विषयक प्रक्रिया को शुक्ल यजुर्वेद के कर्मकाण्ड में अनुस्यूत निरूपित किया था। विक्रम विश्वविद्यालय में वेद के अध्यापन के अलावा डॉ. शुक्ल को उज्जयिनी में प्रतिष्ठित शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा का वोध अपने परिवार में ही प्राप्त हुआ है। उनके अनुसार– शुक्ल यजुर्वेद (माध्यन्दिन) संहिता के बारहवें अध्याय में औषधियों की प्रार्थना, गुण सम्पत्ति एवं प्रभाव चर्चा उपलब्ध होती है, परन्तु यजुर्वेद के प्रथम यजुष् में ही 'अनमीवाः', 'अयक्ष्माः' का उल्लेख भी प्राप्त होता है। आचार्य उव्वट ने अपने भाष्य में 'अमीवा' को 'व्याधिविशेषः' तथा 'यक्ष्मा' को 'व्याधीनां राजा' कहा है। दर्शपूर्णमासेष्टि के सन्दर्भ में राग मुक्त जीवन की यहाँ कामना की गई है।

द्वादश अध्याय में विभिन्न ऋतुओं में प्रादुर्भूत ओषधियों के एक सौ सात उत्पत्ति स्थान, ओषधियों के पकने पर उनमें बभ्रु वर्ण का परिवर्तन, उनके गुण, प्रभाव, व्याधिहरण शक्ति, रोगों को युद्ध में अश्वों के समान पराजित करती पुष्पवती तथा फलवती ओषधियों के ज्ञान से सम्पन्न विप्र को भिषक् अर्थात् वैद्य कहलाने की पात्रता जो, राजाओं के समान ओषधियों की प्रतिष्ठता से परिचित तथा रोगों के निवारण में समर्थ हो आदि प्रार्थना-परक

यजुष् द्रष्टव्य हैं। ओषधियों की संस्कार प्रक्रिया में क्वाथ और रसादि का निर्माण योगों में परिलक्षित होते हैं। यहाँ ओषधियों से यह प्रार्थना की जाती है कि वे तरल रूप में सर्वत्र शरीर में व्याप्त हो कर रोग को निष्कासित करें तथा तस्कर रूप में चुपचाप पहुँच कर मल रूप रोगों का मार्जन करें। यजुर्वेद के इस बारहवें अध्याय में निबद्ध प्रार्थनाओं में आयुर्वेद के व्यावहारिक और प्रायोगिक विकास की स्थिति स्पष्ट होती है।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनैनु बभ्रूणामह शतं धामानि सप्त च।। १२।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्र मुत वो रूहः।
अथा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत।। १२।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः।। १२। ७५-७७

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।। १२ । ८०

अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेन इव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किंच तन्वोरपः।। ११२ । ८४

इसी तारतम्य में एक रोचक प्रसंग यह भी उपस्थित होता है जिसमें ओषधियों को देवत्व प्रदान कर उनसे संवाद स्थापित किया जाता है। ओषधियों से प्रार्थना की जाती है कि भूमि से खोदकर उनका संग्रह करने वाला क्षतिग्रस्त न हो, जिस रोगी के लिये उनको बटोरा गया है, वह रोगी सुरक्षित रहे-द्विपाद-चतुष्पाद सभी रोग मुक्त रहें। इस प्रार्थना को राजा सोम के साथ ओषधियों से उत्तर भी मिलता है कि जिस रोगी के लिये आचार्य हमारा उपयोग करें, हम उसे मृत्यु से पार कराती हैं।

मा वो रिषत्खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माक सर्वमस्त्वनातुरम्।।

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्त राजन् पारयामसि।। यजुर्वेद १२। ९५-९६

ओषधि विषयक इस बारहवें अध्याय का उपसंहार कुछ इतनी उदात्त मंगल कामना की अभिव्यक्ति के साथ उपनिबद्ध है कि ओषधि के संग्राहक और रोगी के साथ स्वयं ओषधियों के लिये भी दीर्घायु की कामना की जाती है, जिसके अन्तर्गत ओषधियों को शत-शत काण्ड-प्रकाण्डों में फैल कर सर्वत्र व्याप्त होने की शुभाशंसा की जाती है।

दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात्।। यजुर्वेद १२ । १००

यजुर्वेद में जिस प्रकार आयुर्वेद सम्मत रोग मुक्त दीर्घायुष्य का शिवसङ्कल्प परिलक्षित होता है, उसी प्रकार डॉ. शुक्ल के अनुसार महर्षि सुश्रुत ने आयुर्वेद और यजुर्वेद की परस्पर संगति को सटीक शैली में प्रस्तुत किया है।

आयुर्वेद के प्रमुख घटक– रोगी, औषध, परिचारक तथा वैद्य होते हैं। इनमें वैद्य का स्थान ही सर्वोपरि होता है क्योंकि कुशल वैद्य ही शेष सभी का पथ प्रदर्शन करता है और प्रत्येक क्रिया का निर्देश देता है। महर्षि सुश्रुत ने इस तथ्य की तुलना याग कर्म में अध्वर्यु की उपस्थिति से की है। यज्ञ के समस्त विधि-विधान का निर्देश कुशल अध्वर्यु से प्राप्त होता है। अतएव अध्वर के शेष घटक अर्थात् ऋग्वेद का होता, सामवेद का उद्गाता और चारों वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा यजुर्वेद के मनीषी याज्ञिक अध्वर्यु के विना यज्ञ सम्पादित नहीं कर पाते हैं।

वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोप्यपार्थकाः।
उद्गात्र-होत्र-ब्रह्माणो यथाध्वर्युं विनाध्वरे।। सुश्रुत संहिता २५ । १७

गोपथ ब्राह्मण में यज्ञों की रोग-शमन भूमिका का उल्लेख मिलता है। गोपथ अथर्ववेद का ब्राह्मण है। यहाँ ऋतुसंधियों में अर्थात् ऋतु-परिवर्तन के समय रोगों का बढ़ना तथा यज्ञों के द्वारा उन पर नियन्त्रण की चर्चा आई है। –"ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते ऋतुसन्धिषु यज्ञाः क्रियन्ते"।। – यज्ञ की रोगनिरोधक क्षमता को याज्ञिक और चिकित्सक दोनों स्वीकार करते हैं।

अस्तु, वेदों की संहिताओं से प्रायशः प्रतिपद सम्पृक्त आयुर्वेद के वेदत्व को विशेषज्ञ विद्वानों ने बड़े मनोयोग से प्रमाणित किया है। संस्कृत वाङ्मय के बृहत् इतिहास का यह आयुर्वेद खण्ड इस 'ज्ञानमहासत्र' के होता, उद्गाता, ब्रह्मा तथा कुशल अध्वर्यु पद्मभूषण पण्डित बलदेव उपाध्याय के कुशल निर्देशन में ही रचा गया है। इस खण्ड के सम्पादन में गुरु शिष्य परम्परा का एक जीवन्त उदाहरण भी साकार हुआ है। सामान्यतः वैद्यों का जीवन परार्थ घटक होता है और उन्हें अपने दैनन्दिन जीवन के लिये या परिवार के लिये भी समय निकालना कठिन होता है। फिर भी डॉ. रमानाथ द्विवेदी तथा प्रो. रविदत्त त्रिपाठी ने जिस मनोयोग से ग्रन्थ को वर्तमान परिणति तक पहुँचाया है, उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। हम उनके प्रति तथा चालिस अध्यायों के लेखक, विशेषज्ञ, विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करते हैं। यह ग्रन्थ पाठक समुदाय के लिये अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होगा। हमारे वरेण्य पाठक की ज्ञानमहासत्र के इस बृहद् आयोजन के परम

आराध्य इष्ट देव है। आशा ही नहीं हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत आयुर्वेद खण्ड का यह ग्रन्थ पाठकों को संग्रहणीय प्रतीत होगा।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान के अध्यक्ष तथा कार्यकारिणी के सदस्य, जिनके मार्गदर्शन में यह गौरव अनुष्ठान सम्पन्न हो रहा है, अवश्य ही हमारे लिये सम्मान के पात्र हैं। संस्कृत संस्थान के निदेशक श्रीयुत् प्रमोद कुमार पाण्डेय अपनी सतत् जागरूकता तथा कुशल नेतृत्व के लिये बधाई के पात्र हैं। उनके अनन्य सहयोगी डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी अपनी एकनिष्ठ सक्रियता तथा समर्पित सेवा भाव के लिये आचार्य प्रवर उपाध्याय जी के अगाध स्नेह से सदैव अभिषिक्त रहे हैं।

ग्रन्थ के सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिये मुद्रक शिवम् आर्ट्स, लेखक, सम्पादक तथा प्रकाशक सभी की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं।

सर्वपितृअमावस्या		श्रीनिवास-रथः
वैक्रमसंवत् २०६३		"श्रीलीला"
२२.०६.२००६ ई.		उदयनमार्गः उज्जयिनी

सम्पादकीयम्

धन्वन्तरिः स भगवान् स्वयमेव कीर्तिः,
नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध,
आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके।। श्रीमद्भागवतम् २।७।२१

अज ब्रह्मेशमहेशान् वाग्देवीं भास्करं गुरुन्
सम्पादयामि नत्वैतान् आयुर्वेदेतिहासकम्।।

भारतवर्षस्योत्तरस्यां दिशि उत्तरप्रदेशस्तत्रगीर्वाणवाण्या संस्थानं संस्कृतभाषायाः संस्कृतेश्च संरक्षणाय सम्वर्धनाय च बद्धपरिकरास्ति। संस्कृतसाहित्यस्योन्नयनायं संरक्षणाय च बहूनि आयोजनानि प्रतिवर्षं क्रियन्ते। अस्मिन्नेव सन्दर्भे संस्कृतसाहित्यस्य संरक्षणाय संस्कृतसाहित्येतिहास-ग्रन्थप्रणयनाय विद्वांसः नियोजिताः। तदात्वे इदमपि निर्णीतं परिषदा यत् संस्कृतवाङ्मयअन्तः प्रविष्टानि बहूनि ज्ञानविज्ञानशास्त्राणि सन्ति तेषु अन्यतमम् आयुर्वेदःशास्त्रंतस्यापीतिहासस्य लेखनमावश्यकम्। इतिकृत्वा संस्कृतसाहित्याङ्ग- भूतस्यायुर्वेदस्येतिहासग्रन्थस्य प्रणनाय विद्वांसः नियोजिताः। एवं महता परिश्रमेण विद्वद्भिरायुर्वेदेतिहासः प्रणीतः। कम्प्यूटरयंत्रेण टंकितश्च। सम्प्रति पूर्णतां गत आयुवेदेतिहासः प्रकाश्यते सम्पाद्यते च। एतस्मिन्नतिशुभावहेऽवसरे उपस्थिते आयुर्वेदीयचिकित्साशास्त्रस्य सम्वन्धे किञ्चिन्निवेदनं प्रस्तूयते-

सम्प्रति यदीय इतिहासः सम्पादनद्वारा प्रकाश्यमानोऽस्ति तस्यायुर्वेदस्यास्ति महन्महत्त्वम्। आयुर्वेदः न केवलं चिकित्साशास्त्रमपितु जीवनविज्ञानमपि। जीवन (आयु) सम्बद्धं यद्यज्ज्ञानमुपलभ्यते तत्सर्वमायुवेदस्य परिधेरन्तर्भूतम्। येन ज्ञानेन यया विद्यया वा प्राणिनां वपुः स्वस्थमनामयञ्च तिष्ठति तज्ज्ञानं आयुर्वेदः। आयुर्वेदे निर्दिष्टानामाहारविहाराणामनुपालनेन न केवलं शरीरं स्वस्थमनामयञ्च सञ्जायेत प्रत्युत जीवनमपि दीर्घं भवति। तिसृष्वेषणासु प्राणैषणा अस्ति वलवत्तमत्वम्। सर्वः खलु जनः स्वस्थमनामयमात्मानं कर्तुमीहते। जीवने दुःखं क्लेशञ्च कस्मैचिदपि नैव रोचते। यद्यन्मानवहितं तत्तदायुर्वेदशास्त्रेण सम्पादयितुं शक्येत।

आयुर्वेदे सिद्धहस्त आचार्यः आमयग्रस्तस्य रोगिणो व्याधेः सम्प्राप्तिं निदानं च साधु विज्ञाय वेदनानां प्रशमनाय प्रवर्तते। मृत्युशय्यापरिगताय मुमूर्षुकल्पाय निःस्वाय साध्याय रोगिणे निःस्वार्थो निस्पृहो भिषक् चिकित्साद्वारा समूलघातं व्याधिं विनश्य जीवनदानं ददाति। एवमेतत्पवित्रं पुरुषार्थचतुष्टयप्रदमैहिक-पारलौकिकसुखप्रदं चिकित्साशास्त्रमायुर्वेद इति। धन्यास्ते कोटिशो धन्यवादार्हाश्च येऽस्मिन् पावने वर्त्मनि पदं स्थापयन्ति। इतो विपर्ययमपि विलोक्यते लोके। तस्योलेखोऽपि ग्रन्थेषूपलभ्यते यत् लोभाक्रान्ता परोपकारपराङ्मुखा

स्वकार्यसाधनप्रवणा भिषक्छद्मचरास्सन्तो व्यथितान् भयपरिक्लिष्टान्वेदनया विकलशरीरान् प्राणिनोऽवलोक्य करुणालवमपि न प्रदर्शयन्ति प्रत्युत चिकित्साविपर्ययेण स्वीयामधमतां लोके प्रथयन्ति। तेषामपि शास्त्रेऽस्मिन्नस्ति परिचयः प्रदतः।

भवाब्धि पारगमेन आयुर्वेदचिकित्सातरां सुलभा यामधिरुह्य सुखेन पारंगता जना इहलोके सुखमनुभवन्ति अन्ते च परमानन्दं लभन्ते।

सर्वानतिक्रम्यायुर्वेद संस्कृतभाषायाः मुखं धवलीकरोति। इयं संस्कृतावाक् आयुर्वेदज्ञानविशिष्टासती प्रथमं देवेभ्योऽधिगता, तस्माद दैवीवाग्विशेषेण आयुर्वेद एव। तथाहि सृष्टेरादौ पूर्वसृष्टावनुभूतस्य चिकित्सित ज्ञानस्यानुस्मृतिरूपेण ब्रह्मणोपलभ्य प्रजापतिदक्षाय, दक्षेण चाश्विभ्यामाश्विभ्यश्चेन्द्रेणेत्थं देवैरासादितमायुर्वेद ज्ञानम्। अनादित्वादयमायुर्वेदः शाश्वत् उपदिश्यते त्रिकालदर्शिभिर्महर्षिभिर्यदाभारते प्रकृतेर्वैगुण्येन रोगाणामुत्पत्तिः संजातः तदा विबुधालयमासाद्य देवराजात् आयुर्वेदोऽधिग्रहीतः। भरद्वाज आत्रेयपुनर्वसु कश्यप प्रभृतयो महर्षयः देवेन्द्रात् शास्त्रमिदमधीतवन्तः। तैः प्रकाशितमिदं विश्वजनीनं शास्त्रम्।

एवं विश्वस्यादिमं विज्ञानमेतत्। अस्य शास्त्रस्यानुसारेणात्मानं स्वस्थं कर्तुं मानव-मात्रस्याधिकारः तथाहि-

नात्मार्थं नापि कामार्थं अथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां ससर्वमधिगच्छति।।

आयुषो वेदः ज्ञानम् आयुर्वेद उच्येत। येन शास्त्रेण आयुषोहिताहितं सुखं दुःखं आयुश्च ज्ञायते तच्छास्त्रमायुर्वेदः। अस्यायुर्वेदस्याष्टावङ्गानि- १. कायचिकित्सा २. शल्यचिकित्सा ३. कौमार्यभृत्यम् ४. अगदतंत्रम् ५. ऊर्ध्वांग चिकित्सा ६. भूत विद्या ७. रसायनम् ८. वाजीकरणञ्चेति। एष्वष्टस्वङ्गेषु कायचिकित्सा शल्यचिकित्सयोः प्राधन्यम् अस्ति। तत्रापि कायचिकित्साया प्राथम्यम् यतो हि शल्यचिकित्सानन्तरमपि कायचिकित्सानुसारिणी चिकित्सा भवत्यावश्यकी।

तत्र कायचिकित्सायाः मुख्यावुपदेष्टारौ भरद्वाजात्रेय पुनर्वस, देवेन्द्रशिष्यावास्ताम्। तयोरात्रेयपुनर्वसुरग्निवेशपुरःसरानन्तेवासिनः हिमगिरेरुपत्यकास्वधित्यकासु च गङ्गाद्वारे पाञ्चालराज्ये यायावरवेषेण परिभ्रमन्, चिकित्साविषये विद्वांसः संभूय संभाषा कुर्वन् गभीरासु समस्यासुविदुषामभिमतं शृण्वन् समन्वयपूर्वकं समाधानं कुर्वन् विचरति स्मैतिह्यम्।

एवमेव यदा देवैर्दानवैश्च मिलित्वा सागरमन्थनं कृतम् तदा तस्मात् चतुर्दशरत्नानि निस्सृतानि। तेष्वन्यतमोऽमृतकलशपाणिः धन्वन्तरिर्भगवान्वतीर्णो भूतले। धन्वनतरिदत्तेनामृतेन देवा अमरतां नीताः। तस्य भगवतस्स्वोपज्ञ आयुर्वेदस्य शल्यतंत्रम्। तदारभ्य ये जना शल्य क्रियां कुर्वन्ति स्म तेषामुपाधिः धन्वन्तरि इति प्रतिष्ठिता। एवमेव काशीपतिस्तृतीयो देवदासः

स्वोपज्ञेन शल्यज्ञानेन, चिकित्सा-नैपुण्येन "धन्वन्तरि" उपाधिना न केवलं विभूषितः प्रत्युत दिशो विदिशश्चानेके सुश्रुत प्रमुखाश्छात्रास्तस्यान्तिके समागच्छन्ति स्म।

एवमेव हिमवतोऽधित्यकायां स्वोरजमधिवसन् महर्षिः काश्यपः वृद्धजीवकादींश्छात्रान् उपदिशन्नासीत्। आयुर्वेदस्यान्येषामप्यङ्गानामध्ययनेऽध्यापने च प्रवृत्ता आसन् विद्वासः, एष्वङ्गेषु रचिता ग्रन्थाः आसन् ये वैदेशिकैः कृते आक्रमणे नष्टा अभूवन्। इदमपि श्रूयते यत् नालन्दाविश्वविद्यालयस्य पुस्तकालयः आक्रमणकारिभिः भस्मसात्कृत आसीत् यत्र मासं वर्षं अग्निर्न शशाम।

औषधीनां रसगुणवीर्यविपाकप्रभावख्यापकः द्रव्यगुणविज्ञानमपि चिकित्साङ्गभूत- मासीत्। नागार्जुनेन कृतम् लोहसिद्धेः देहसिद्धेश्च फलस्वरूपेण रसशास्त्रमपि चिकित्साङ्गभूत मासीत्। देवव्यपाश्रय चिकित्सामणि मन्त्रौषधि मङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चितोपवास-स्वस्त्यन्यनप्रणिपातादिरूपेण, युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा च संशोधनसंशमन चेष्टारूपा चासीत्। एतादृशस्यायुर्वेदस्य वेदैर्दर्शनशास्त्रैश्च निकट सम्बन्ध आसीत्। येन केचन विद्वांसः आयुर्वेद अथर्ववेदस्योपाङ्गं केचिच्च पञ्चमवेदमामनन्ति।

आदिकाव्ये रामायणे संजीवनी विशल्यकरणी संधानकरणी सावर्ण्यकरणीनामौषधीनां प्रयोगेण लक्ष्मणस्य मूर्च्छापनयनपूर्वकजीवनदानं वर्णितम्, अन्येषु युद्धेष्वपि हताहतानां सैनिकानां अङ्गभङ्गे अस्थिनां विचलेन च संधानम् संयोजनं आयुर्वेदाचार्या एव कृतवन्त आसन्। एतदवलोक्यास्य प्राचीनताविषये कश्चन संदेहलेशावसरः न स्थीयते।

आयुर्वेदस्य स्वतः प्रामायंपि सिद्धयति चिकित्सायाः साफल्यदर्शनात्। एवं भूतस्यापि चिकित्सा शास्त्रस्यास्य लिखितं व्यवस्थितं च इतिवृत्तं नास्ति। अस्य कारणमेतत्तु प्रतीयते यत् प्राक्तना आचार्या स्ववृतस्य कालस्य च विषये मौना दृश्यन्ते, यतोहि ते निःस्वार्था-निस्पृहा समदर्शिनश्चासन्। स्ववृत्तप्रकाशनं गर्वोक्तिमात्मश्लाघाञ्च मन्यन्ते स्मायुर्वेदाचार्याः। अतस्तेऽस्मात् पराङ्मुखा एवासन्। परवर्तिनश्च "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" इत्यनुसृत्य स्ववृत्त-प्रकाशनेऽरुचिं प्रादर्शयन्। आचार्यैः आयुर्वेदसिद्धान्तस्थापनाय दर्शनेषु पदार्थाः निर्दिष्टा द्रव्यगुण-कर्म-सामान्य-विशेष समवयाभावाः, प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दार्थापत्ति युक्त्यैतिह्यदिनि प्रमाणानि च स्वानुभवानि विधाय गृहीतानि। इत्थमायुर्वेद दर्शनधारयोरपूर्वोऽसाधारणोऽद्वितीयश्च संगमः स्वग्रन्थेषु विनिवेशितः आयुर्वेद महर्षिभिः।

अतएव वैदिक वाङ्मयस्य प्राचीनामामाचार्याणां जीवनविषये रचनाकाल विषये च पाश्चात्यैरितिहासकारैः पक्षपातेन आङ्गलवाङ्मयापेक्षयायुर्वेदस्य वेदस्य च कालोऽर्वाचीन एव निर्धारितः। पाश्चात्यानामनुयायिनो भारतीया विद्वांसः पाश्चात्यानामेव मान्यताधारणेऽनुमोदितवन्तः। आयुर्वेदीया चिकित्सा केवलं पारम्परिकीति कथने पाश्चात्या संकोचं नैव कुर्वन्ति। पाश्चात्यसंस्कृतेः भाषायाश्चन्धभक्तानां शासकानां कुटिलानीतिः वैद्यानां जागरुकतया नैव सफलीभूता।

पूर्वं यैर्विद्वद्भिरायुर्वेदतिहासग्रन्थालिखिताः तेषां नामानि प्रदर्श्यन्ते-

१. श्रीमान् गिरीशनाथः मुखोपाध्यायः २. श्री सुरेन्द्रनाथगुप्तः ३. श्री प्रफुल्लचन्द्र रायः ४. श्री हेमराजशर्मा ५. श्री हरिप्रपन्नशर्मा ६. श्री गणनाथसेनः ७. श्री भागवत सिंहः ८. श्री कुटुम्बिया ९. श्री दुर्गाशंकरः १०. श्री केवलराम शास्त्रि ११. श्री लक्ष्मीपतिः १२. श्री करम्बेकरः १३. अत्रिदेवगुप्त १४. आचार्य प्रियव्रत शर्मा १५. प्रो. रविदत्त त्रिपाठि च।

आयुर्वेदग्रन्थानामाचार्याणाञ्चेतिवृत्तं यादृगपेक्षितं तादृशस्य इतिवृत्तस्य लेखनाय यापेक्षासीत्तस्या पूरणाय उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-संस्थाने यः प्रयासः कृतः तत्परिणाम-स्वरूपेणा-स्मिन्नायुर्वेद-खण्डे यैः विद्वद्भिः लेखनकार्यकृतं तेषां नामानि निर्दिश्यन्ते-

१. मम सहायकः डा. हरिहरनाथ चतुर्वेदी "अनदि आयुर्वेद का प्रभाव" इत्यधिकृत्य वैदिके काले आयुर्वेदः प्रदर्शितः।
२. डा. हीरालाल विश्वकर्माणा श्रीमत्या डा. सुधा शर्म इत्याख्यया च "वेदों में आयुर्वेद" विषयमधिकृत्य वैदिक युगपरिचयः कायशल्यचिकित्से, वनस्पतयश्च संकेतिताः।
३. डा. रामविलास सोहगौरा महोदयेन "वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद एवं वैदिक वाङ्मय में मन्त्र एवं तंत्र चिकित्सा का इतिहास" इत्यधिकृत्य साधुविवेचितम्।
४. डा. हेमन्तकुमाररायेण "आयुर्वेद के आचार्य" विषयमधिकृत्य ब्रह्मण आरभ्य अनेका आचार्याः परिचायिताः।
५. "संस्कृत आयुर्वेद साहित्य में जैनाचार्यों का योगदान" विषये श्रीमताधर्मचन्द्रजैनेन समन्तभद्र, पूज्यपाद, नागार्जुन, उग्रादित्याचार्य, शुभचन्द्राशाधराणां योगदानं निदिष्टम्।
६. श्रीकान्ततिवारीमहोदयेन "बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद" विषये शारीरं कायशल्य चिकित्सा च परिचायिताः।
७. स्व. श्रीविद्याधर शुक्ल महोदयेन "भूतविद्या" मधिकृत्य भूतविद्या स्वरन्यम्, क्षेत्रम् प्रयोजनम्, रोगणा निदानं चिकित्सा च निदर्शिताः।
८. डा. गणनाथ द्विवेदिना "रसशास्त्र का इतिहास" विषये तृतीय शतकादारभ्य विंशति शतकं यावत् रसशास्त्र विकासः देवा, रससिद्धा, संहिता कालञ्च निरूपितञ्चः।
९. "रसेश्वर परिचय" मधिकृत्य श्री उमाशङ्कर द्विवेदिना रसेश्वरः परिचायितः।
१०. "द्रव्यगुण विज्ञान का इतिहास" इत्यधिकृत्य डा. कमलनयनद्विवेदिना संहिता संग्रहाधुनिककाला निर्दिष्टाः।
११. डा. रघुवीरप्रसादत्रिवेदिना "पश्चिम गोलार्धीय पञ्चदश भेषज द्रव्य परिचय" शीर्षकेन पश्चिमगोलार्धीयानां पञ्चदशद्रव्याणां स्वरूपम् गुणाश्च निर्दिष्टाः।
१२. डा. एस. जे. गुप्त महोदयेन "शल्यतंत्र का विकास" विषये शल्यस्वरूपम् वेदे वाङ्मयेचशल्यतंत्रं निर्दिष्टम्।

१३. डा. लक्ष्मण सिंह डा. रानी सिंहाभ्याम् "धन्वन्तरि का इतिहास" "आयुर्वेद में अनुसंधान पद्धति का इतिहास" "नाड़ी विज्ञान का इतिहास" विषये धन्वन्तरिपरम्परा शल्यतंत्रं च निर्दिष्टे।

१४. डा. श्री हरिहृदय अवस्थी डा. संगीता गहलौताभ्याम् "शारीर का इतिहास" विषये वेदस्मृति पुराणरामायण महाभारत संहितासु शारीरस्येतिहासः निर्दिष्टः।

१५. स्व. वैद्यश्रीनारायणविद्यार्थीमहोदयेन दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में आयुर्वेद" मवलम्ब्य लंका-तिब्वत-थाई देशेषु प्रचलित आयुर्वेदः निर्दिष्टः।

१६. डा मिथिलाप्रसादत्रिपाठिना "मध्य प्रदेश की वैद्य परम्परा" "मालवा की वैद्य परम्परा"।

१७. श्री बनवारीलालगौडेन "राजस्थान की वैद्य परम्परा"।

१८. डा. विनायकजर्नादनठाकरेण "गुजरात की वैद्य परम्परा"।

१९. वैद्य ताराशंकरमिश्रेण "काशी की वैद्य परम्परा" "वाराणसी से भिन्न स्थानों विहार उत्तर प्रदेश एवं उत्तरांचल का वैद्य परम्परा" शीर्षकैः वैद्यानां परिचयः प्रस्तुतीकृतः।

२०. डा. प्रभाकान्तउपाध्यायेन "आयुर्वेद के आठ अङ्ग एवं उपाङ्ग" विषये साधु स्पष्टीकृतम्।

२१. डा. चन्द्रशेखरपाण्डेयेन "पशु आयुर्वेद" "वृक्षायुर्वेद" विषये गो अश्व गज चिकित्सा वर्णिताः।

२२. डा. बृजमोहन सिंह डा. संगीता गहलौताभ्यां "चुम्बक एक्यूप्रेशर एक्युपंचर रेकी" "योग का इतिहास" "कौमारभृत्य (प्रसूति तन्त्र, स्त्रीरोग बाल रोग)" चिकित्सा प्रकाशिता।

२३. "ज्योतिष शास्त्र एवं आयुर्वेद" अधिकृत्य ज्योतिषस्य आयुर्वेदे उपयोगिता डा. उमाशङ्करत्रिपाठिना निदर्शिता।

२४. डा. विजयनारायण मिश्रेण "आयुर्वेदीय ग्रन्थग्रन्थकाराणां" परिचयः प्रदत्त।

२५. डा. रमेशचन्द्रवर्मणा "आयुर्वेदीय शिक्षण संस्था एवं आयुर्वेदिक पत्र पत्रिकाः" उल्लिखिताः।

२६. प्रो. रविदत्तत्रिपाठिनाः "आयुर्वेदीय इतिहास सन्दर्भः" व्याख्याता।

२७. डा. निधिमिश्रेण "आयुर्वेद में पर्यावरण एवं समाज का इतिहास" विषये निरूपितम्।

२८. डा. वृजकुमारद्विवेदिना "पुराणों में आयुर्वेद" परिचायिता।

ततोन्येषामपि विदुषां येषां लेखाः पुस्तकेऽस्मिन् प्रकाशिताः तेषां सर्वेषां कृते मम साधुवादाः। सर्वे में धन्यवादार्हाः।

आदौ स्मराम्यहं "संस्कृत वाङ्मयेतिहासस्य" प्रधानं सम्पादकं पद्मविभूषण स्वर्गीय बलदेवउपाध्यायमहानुभावं यस्यानुभावेन ग्रंथोऽयं प्रकाशितत:। तेषां कृत स्वीयां श्रद्धाञ्जलिं सर्मर्पयामि।

अधुना विद्यमानस्य "संस्कृत वाङ्मयेतिहासस्य" प्रधान सम्पादकस्य प्रो. श्री निवास रथ, महानुभावस्यानुगृहीतोस्मि यस्य वैदूष्यात् ग्रंथोऽयं प्रकाशितः। कामयेऽहं तस्य भूयो भूयो मंगलम्।

ममान्तेवासि प्रो. रविदत्तत्रिपाठीमहोदयस्य (भू.पू. निदेशक, आयुर्वेद एवं यूनानी सेवायें, उ.प्र.) साहाय्यं श्लाघनीयं येन अवशिष्टं सम्पादनकार्यं सुष्ठुरूपेण प्रपूरितम्।

पुनरपि अहमुपकृतोस्मि विद्वद्वर श्री उमाशंकरत्रिपाठीमहोदयस्य यस्य साहाय्येन ग्रन्थस्यास्य सम्पादकीयाभूमिका प्रपूरिता।

उ.प्र. संस्कृत संस्थानस्य निदेशकः श्री प्रमोदकुमारपाण्डेयमहोदयस्यापि परमनुगृहीतोस्मि यस्य सततप्रयत्नतो बहुकालप्रतीक्षितोऽयमितिहासग्रन्थः प्रकाशितः। एतदर्थं तस्य कृतेऽपि मम साधुवादः।

अन्तिमे चरणे श्री चन्द्रकान्तद्विवेदीमहोदस्य क्रियादाक्ष्यं, तत्परतां, नैरन्तर्यञ्च स्तुत्यं यस्य प्रयासेभ्यो ग्रन्थोऽयं प्रकाशितः। एतदर्थ तस्य कृतेऽपि मम साधुवादः।

अस्मिन्नायुयुर्वेदतिहासखण्डे यद्यन्निरूपितमस्ति तेन संस्कृतसंस्थानं यत् समीहितं तस्याः पूर्तिर्भूयादिति–भूयो भूयः कामये अस्तु सर्वेषां मङ्गलम्।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्।

इति शम्।

विदुषां विधेयः

विजयादशमी — **रमानाथ द्विवेदी**

वि.सं. २०६३ — वी. १२/१२० ई-१ गौरीगंज,

२.१०.२००६ — वाराणसी।

सम्पादकीय

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति ही नहीं है, अपितु यह अथर्ववेद का उपवेद है। काश्यय संहिता एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसे "पञ्चमवेद" कहा गया है। अन्य वेद केवल परलोक हितकर हैं, जबकि आयुर्वेद दोनों लोकों के लिए हितकर है। इसी लिए आयुर्वेद को पूण्यतम वेद कहा गया है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।। (चरक सू. १-४३)

आयुर्वेद किसी देश-विशेष की चिकित्सा नहीं हैं। यह तो आयु का वेद (Science of Life) है, जो सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा प्राणिमात्र के लिये है।

आयुर्वेद के प्रायः सभी प्राचीन संहिताओं में आयुर्वेद के प्रारम्भिक ज्ञान परम्परा का दिग्दर्शन किया गया है। ऐसा समझा जाता है कि आयुर्वेद का ज्ञान देवलोक से मृत्युलोक में आया। इसे ही आयुर्वेदावतरण (आयुर्वेद का आगमन) कहते है। इस प्रंसग में यह भी कहा गया है कि आयुर्वेद का अवबोध (ज्ञान) ब्रह्मा को सर्वप्रथम स्मरणपूर्वक हुआ था। ब्रह्मा से दक्ष प्रजापति, दक्ष से अश्विनीकुमारों (नासत्य एवं दस्त्र) और अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने आयुर्वेद को यथावत् प्राप्त किया। चरक, सुश्रुत, काश्यप, वाग्भट, हारीत एवं भाव प्रकाश में यही परम्परा दी गयी है। इसे 'प्रागैतिहासिक काल' कह सकते है।

इन्द्र से विभित्र कालों में विभित्र ऋषियों ने आयुर्वेद ज्ञान प्राप्त किया। उनके द्वारा आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इसे 'ऋषिकाल' कह सकते है। ऋषियों ने वेद-वेदांग का ज्ञान दिया। कुछ ऋषि आयुर्वेद आदि विषयों में भी ज्ञानवान थे। इस प्रकार वैदिक कालीन एवं उत्तर वैदिक कालीन समग्र भारतीय साहित्य ऋषियों की ही देन है। वैदिक साहित्य में आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त, रोगों एवं वनौषधियों का उल्लेख मिलता है।

पृथक् शास्त्र के रूप में आयुर्वेद के प्रादुर्भाव को 'उत्तर वैदिक काल' के रूप में माना जा सकता है। इस काल में आयुर्वेद के प्राचीन संहिता ग्रन्थ बने। यह इस विज्ञान का मूलभूत साहित्य है। इन संहिताओं के निर्माण काल को आयुर्वेद के इतिहास का 'प्रथम काल' कहा जाना चाहिए, क्योंकि इस काल में इसका स्वतंत्र अस्तित्व प्रदर्शित हुआ और एक विज्ञान के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हुई। इस प्रसंग में एक ऐतिहासिक तथ्य बतलाना आवश्यक है कि संहिताओं से भी पूर्व आयुर्वेद के 'तंत्र' या कल्प ग्रन्थ निर्मित किये गये। चरक संहिता से ज्ञात होता है कि आत्रेय पुनर्वसु के छः शिष्यों ने अपने नाम से पृथक्-पृथक् तंत्र रचे। इनमें से अग्निवेश ने कायचिकित्सा पर प्रथम तंत्र लिखा, यही चरक संहिता का मूल आधार है। इसी प्रकार सुश्रुत संहिता में भी धन्वन्तरि दिवोदास से उपदेश

ग्रहण करके औपधेनव, औरभ्र, सुश्रुत, पुष्कलावत ने अपने नाम से तंत्र बनाये। तंत्र काल या संहिता काल के बाद संग्रह-काल प्रारम्भ होता है, जो न्यूनाधिक रूप से ईसवी सन् के प्रारम्भ से १०वीं शती तक इसे माना जा सकता है। संग्रह काल की प्रमुख रचना अष्टाङ्ग हृदय एवं अष्टाग संग्रह है, जो वाग्भट द्वारा निर्मित है। वराहमिहिर (५०५-५८७ ई.) ने वाग्भट के रसायन प्रयोगों के साथ अन्य बातों को अपनी बृहत्संहिता में दिया है। अतः वाग्भट का काल चौथी शती या पाँचवी शती का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है। इन्दुकर के पुत्र माधव ने सातवीं शती में रोगनिदान पर रुग्विनिश्चय बनाया, जो कालान्तर में लेखक के नाम से 'माधवनिदान' कहलाया। हासन् उल रसीद (७६८-८०६ ई.) के काल में इस ग्रन्थ का अरबी में अनुवाद हुआ था। अतः इसका रचना काल सातवी शती या उसके कुछ पूर्व माना जा सकता है। नवी शती में बृन्दमाधव ने सिद्धयोग की रचना की।

१०५० ई. में बंगाल में चक्रपाणिदत्त ने सिद्धयोग संग्रह के आधार पर चक्रदत्त की रचना की। बंगाल के ही एक अन्य विद्वान् वगंसेन जो गदाधर का पुत्र था, ने वगंसेन (चिकित्सा सार संग्रह) की रचना की। इनका काल बारहवी शती उत्तरार्ध था, १३वीं शती पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है। लगभग इसी समय या इससे कुछ पूर्व गुजरात के वत्सगोत्रीय सोढ़ल ने 'गद निग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा। इनका काल बारहवी शती मध्य या अन्तिम चरण माना जाता है। तेरहवी शती के मध्य शारङ्गर्धर ने शारङ्गर्धर संहिता लिखी। इसमें रोग परीक्षा के सन्दर्भ में सर्वप्रथम नाड़ी परीक्षा का उल्लेख है। वोपदेव (१३०४ ई.) ने इस पर टीका लिखी। सोलहवी शती में लटकन मिश्र के पुत्र भाव (भावदेव) मिश्र ने भावप्रकाश की रचना कर आयुर्वेद की सम्पूर्ण चिकित्सा आदि का व्याख्या का स्तुत्य प्रयास किया। अकबर के राजस्व मत्री टोडरमल (१५८६ ई.) के संरक्षण में रचित टोडरानन्द का एक भाग आयुर्वेद सौख्य है। लोलिम्बराज का वैद्यजीवन (१६०० ई.) रचित है, सत्रहवी शती में त्रिमलभट्ट की योग तरंगिणी और बृहद् योगतरगिणी रचना है। जगन्नाथ कृत योगसंग्रह (१६१६ ई.), भट्ट मोरेश्वर कृत वैद्यामृत (१५४७ ई.), हर्षकीर्ति सूरि कृत योग चिन्तामणि, विद्यापति कृत वैद्यरहस्य (१६८२ ई.), रघुनाथ पंडित कृत वैद्यविलास (१६७६ ई.), शिवानन्द गोस्वामी कृत वैद्यरत्न (१७वीं शताब्दी का अन्तिम चरण), योगरत्नाकर (१७वी शती), बलराम (बनारस) कृत आंतक तिमिर भास्कर (१८वीं शती) मुख्य ग्रन्थ है। १८वीं शती में गोविन्ददास ने भैषज्य रत्नावली लिखी।

स्वतंत्र रोगों के निदान पर कायस्थ चामुण्ड कृत ज्वर तिमिर भास्कर (१५वी शती), काशीनाथ कृत रसमञ्जरी, राजा वीरसिंहदेव ने १३८३ ई. में वीर सिंहावलोक, आनन्द रायमरवी ने जीवानन्दन नाटक शैली में (१७१७-१७७२ ई.) आयुर्वेद चिकित्सा पर ग्रन्थ प्रणयन किया है।

जैन साहित्य में उग्रादित्याचार्य (१८०० ई.) कृत कल्याणकारकम् चिकित्सा ग्रन्थ है। जैन साहित्य में आयुर्वेद को प्राणवायु कहा गया है। दक्षिण में वीर शैव सम्प्रदाय के प्रवर्तक वासवराज (१२वी शती) ने वासवराजीयम् लिखा है।

१०वी शती के पश्चात् रसयोगों का आयुर्वेदीय चिकित्सा में प्रचलन बढ़ गया। वैसे तो रसशास्त्र का विकास ५-६वी शती से हो चुका था। पारद द्वारा 'देहासिद्धि' एवं 'लोह सिद्धि' काल रसशास्त्र का मूल है। रसशास्त्र के प्रवर्तक सिद्ध नागार्जुन है। इनका काल ७वी शताब्दी है। रसशास्त्र पर नागार्जुन कृत कक्षपुट और रसरत्नाकर और गोविन्दभगवत् पदाचार्य कृत रसहृदय तंत्र (८वी शती), सोमदेवकृत रसेन्द्रचूणामणि (१२वी शती), यशोधर भट्ट कृत रसप्रकाश सुधाकर, रस वाग्भट कृत रसरत्नसमुच्चय (१३वीं शती) प्रमुख ग्रन्थ है।

पथ्यापथ्य पर विश्वनाथ सेन कृत पथ्यापथ्यविनिश्चय, पाकविद्या पर नलकृत पाकदर्पण, क्षेमशर्मा कृत क्षेमकुतूहल, रघुनाथ पंडित कृत भोजन कुतूहल प्रसिद्ध है।

निघण्टु ग्रन्थ-वनौषधियों का ज्ञान पर्याय और गुणधर्म के द्वारा किया गया है। संहिताओं की इसी सामग्री को आधार बनाकर परवर्ती काल में औषधि द्रव्यों के सम्बन्ध में स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये। ये ग्रन्थ वैदिक शब्दकोष की भांति औषधि द्रव्य परिचायक होने से निघण्टु ग्रन्थ कहे गये। अमरकोष (५वी शती) औषधियों का पर्याय सूचक निघण्टु प्राचीनतम है। इसके अतिरिक्त माधव (७वी शती), सोढल (१२वी शती), वोपदेव (१३०० ई.), मदनपाल (१३७४ ई.), कैयदेव (१४वी शती), नरहरि पंडित (१४वी शती), भावमिश्र (१६वी शती), त्रिमलभट्ट (१७वी शती), नारायण (१७६० ई.), विष्णु वासुदेव गोडवोले (१८१० ई.) प्रमुख निघण्टुकार है।

व्याख्या ग्रन्थ-चरक संहिता पर जेज्जट कृत निरन्तर पद व्याख्या, चक्रपाणि कृत आयुर्वेददीपिका, शिवदास सेन कृत तत्वप्रदीपिका, कविराज गंगाधर कृत जल्पकल्पतरु व्याख्या, योगीन्द्रनाथ सेन कृत चरकोपस्कार, ज्योतिषचन्द्र सरस्वती कृत चरक प्रदीपिका, सुश्रुत संहिता पर गयदास कृत वृहत्पंजिका, चक्रपाणि कृत भानुमती टीका, डल्हण कृत निबन्ध संग्रह व्याख्या, हाराणचन्द्र चक्रवर्ती कृत सुश्रुतार्थ संदीपन, अष्टाङ्गसंग्रह पर इन्दु कृत शशिलेखा, अष्टाङ्गहृदय पर चन्दनन्दन कृत पदार्थ चन्द्रिका, अरुणदत्त कृत सर्वाङ्गसुन्दरा, हेमाद्रि कृत आयुर्वेद रसायन, माधवनिदान पर विजय रक्षित एवं श्रीकण्ठदत्त कृत मधुकोष, वाचस्पति कृत आंतकदर्पण, शाङ्गर्धर पर आढमल्ल कृत दीपिका तथा काशीराम कृत गूढार्थ दीपिका प्रमुख व्याख्या ग्रन्थ है।

बीसवी शताब्दी में आयुर्वेद के विकास में पं. शंकरदाजी शास्त्री पदे का विशेष योगदान है, जिन्होंने १९०७ में निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन की स्थापना की, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण देश में आयुर्वेद संगठन का कार्य प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् प्रदेश स्तर

पर आयुर्वेद महाविद्यालय खुलने लगे। इनकी सम्बद्धता भारतीय चिकित्सा परिषदों अथवा विश्वविद्यालयों से होने लगा। उत्तर प्रदेश सरकार १६३६ में इण्डियन मेडिसिन एक्ट पास किया। दिसम्बर १६७० में भारतीय संसद द्वारा भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् अधिनियम १६७० पारित किये जाने के पश्चात् इसका जन्म हुआ। इस संस्था ने १६७१ से कार्य प्रारम्भ कर दिया।

बीसवी शताब्दी में आयुर्वेद के विकास में जिन महापुरुषों का योगदान है-उसमें पं. मदनमोहन मालवीय, डा. सम्पूर्णानन्द, कविराज धर्मदास जी, पं. सत्यनारायण शास्त्री, पं. राजेश्वर दत्त शास्त्री, डा. गणनाथ सेन, यादव जी त्रिक्रम जी, कैप्टन श्रीनिवास मूर्ति, डी. गोपालाचार्लु, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पं. शिवशर्मा जी, पं. रामरक्ष पाठक, पं. विश्वनाथ द्विवेदी, पं. ब्रजविहारी चतुर्वेदी (विहार), पं. लक्ष्मीराम जी स्वामी (राजस्थान), मोहन लाल व्यास, सी. द्वारिकानाथ एवं वैद्य जीवराम कालिदास आदि प्रमुख है।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ की इस सराहनीय योजना के सभी खण्डों का विभाजन तथा प्रत्येक खण्ड की रूपरेखा तैयार करने वाले और समय-समय पर खण्ड सम्पादक गुरुवर प्रो. रमानाथ द्विवेदी जी के साथ ही मुझे भी निर्देश देने वाले प्रथम प्रधान सम्पादक पद्मभूषण **श्री बलदेव उपाध्याय** का मैं आजीवन आभारी रहूँगा, जिन्होंने लेखन और सम्पादन की कला में हमें मार्गदर्शन किया। वर्तमान प्रधान सम्पादक **प्रो. श्री निवास रथ** जी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अपने आयुर्वेद-विषय गंभीर ज्ञान के समुद्र से कुछ मोती निकालकर पाठकों को प्रसाद के रूप में जो आशीर्वाद दिया है, उससे इस खण्ड का और महत्त्व बढ़ गया है।

इसके प्रणयन की दिशा में प्रयास आद्य सम्पादक के निर्देशन में १६६१ में प्रारम्भ हो गया था। जिन सहयोगी लेखक तथा विद्वानों का योगदान है, उनके नाम है-डा. हीरालाल विश्वकर्मा एवं डा. (श्रीमती) सुधा शर्मा नई दिल्ली, डा. रामविलास सोहगौरा रीवाँ (म.प्र.), डा. हेमन्त कुमार राय अमृतसर (पंजाब), वैद्य धर्मचन्द्र जैन इन्दौर (म.प्र.), डा. श्रीकान्त तिवारी वाराणसी, डा. (स्व.) विद्याधर शुक्ल वाराणसी, डा. गणनाथ द्विवेदी वाराणसी, वैद्य उमाशंकर द्विवेदी जबलपुर (म.प्र.), डा. कमलनयन द्विवेदी, वाराणसी, डा. (स्व.) रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी, हाथरस (उ.प्र.), वैद्य (स्व.) श्रीनारायण विद्यार्थी, लखनऊ, डा. मिथिलाप्रसाद त्रिपाठी, इन्दौर (म.प्र.), वैद्य बनवारी लाल गौड जयपुर (राजस्थान), डा. विनायक जनार्दन ठाकर जामनगर (गुजराज), वैद्य (स्व.) ताराशंकर मिश्र वाराणसी, डा. चन्द्रशेखर पाण्डेय हड़िया इलाहावाद, डा. ब्रजमोहन सिंह एवं डा. (श्रीमती) संगीता गहलीत वाराणसी, डा. उमाशंकर त्रिपाठी, लखनऊ, डा. विजय नारायण मिश्र, प्रयाग, डा. रमेशचन्द्र वर्मा, मिर्जापुर, डा. (श्रीमती) निधि मिश्रा, कानपुर, डा. हरिहृदय अवस्थी,

वाराणसी, डा. शिवजी गुप्ता वाराणसी, डा. लक्ष्मणसिंह एवं डा. (श्रीमती) रानी सिंह वाराणसी डा. वृजकुमार द्विवेदी वाराणसी तथा डा. प्रभाकान्त उपाध्याय हड़िया इलाहाबाद।

श्रद्धेय पूज्य गुरुवर **डा. रमानाथ द्विवेदी,** जिनकी कृपा मुझ पर अकारण छात्र-जीवन से रही है, का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने आयुर्वेद खण्ड के प्रस्तुत इतिहास के सम्पादन का दायित्व मुझ पर सहज स्नेहवश ही सौंपा। एतदर्थ मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा।

सम्पादन लेखन में अनेकों विद्वानों एवं आचार्यो ने सहयोग करके अपनी रचनाएं भेजी है, हम उनके प्रति कृतज्ञ है। मैं आयुर्वेद जगत् के उन सभी आचार्यों का नमन करता हूँ, जिनका आशीर्वाद इस खण्ड की पूर्णता में मेरे साथ परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से रहा है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक अध्याय के लेखक पर ही उसके लेखन का विशेष उत्तरदायित्व है।

इस खण्ड के लेखन, सम्पादन एवं मुद्रण कार्य में सदैव प्रेरणास्रोत रहे पूर्व निदेशक **डा. सच्चिदानन्द पाठक** तथा वर्तमान निदेशक **श्री प्रमोद कुमार पाण्डेय** का हृदय से आभारी हूँ, जिनके सहयोग से यह कार्य पूर्ण हो सका है। इस कार्य के लिए सर्वाधिक व्यग्र तथा हमेशा फोन एवं पत्र द्वारा अनुस्मरण कराकर इस खण्ड के पूर्ण कराने में सूत्रधार की भूमिका निभाने वाले **डॉ. चन्द्रकान्त द्विवेदी** को मैं हृदय से आशीर्वाद देते हुए उनके उज्जवल भविष्य की मंगल कामना करता हूँ।

आयुर्वेद इतिहास की प्रस्तुतीकरण की दिशा में हमारे प्रयत्न पर आयुर्वेद जगत् की चाहे जो भी प्रक्रिया हो, हमें इस बात का सन्तोष है कि आयुर्वेद इतिहास के जिज्ञासुओं का प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा आयुर्वेद इतिहास के सम्बन्ध में ज्ञानवर्द्धन हो सकेगा और रुचि आयुर्वेद अन्वेषण की दिशा में बढ़ेगी।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमसे अनेक त्रुटियों हुई है, अनेक आयुर्वेद के प्रतिष्ठित आचार्य अचर्चित रह गये है या कम चर्चित हुए है, इस दिशा में हमारी कुछ विवशता रही है, समय सीमा एवं स्थानाभाव के कारण अनेकों रचनाओं को हम स्थान नहीं दे पाये है, हमें विश्वास है विद्वद्वृन्द हमारी त्रुटियों को क्षमा करते हुए हमारा मार्गदर्शन करेंगे और अगले संस्करण में इसे परिष्कृत करने में हमें सहयोग प्रदान करेंगे।

रविदत्त त्रिपाठी
चन्द्रकुटी १६-ए,
कैलाशपुरी कालोनी, नेवादा सुन्दरपुर,
वाराणसी-२२१००५।

विजयादशमी
संवत् २०६३ विक्रम
२.१०.२००६

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास

विषय-सूची

आयुर्वेद का इतिहास

विषय एवं लेखक संकेत

	विषय	लेखक
१.	अनादि आयुर्वेद का प्रादुर्भाव	डा. रमानाथ द्विवेदी वाराणसी। डा. हरिहरनाथ चतुर्वेदी ३/३, कवीर नगर कालोनी, वाराणसी।
२.	वेदों में आयुर्वेद	डा. हीरालाल विश्वकर्मा डा. (श्रीमती) सुधा शर्मा १५/६३, कल्याणपुरी, नई दिल्ली-११०००६
३.	वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद	डा. रामविलास सौहगौरा नेहरूनगर (दुर्वल आय वर्ग आवास के पास), रीवां, म.प्र.।
४.	आयुर्वेद के आचार्य	डा. हेमन्त कुमार राय लक्ष्मीनारायण, आयुर्वेद महाविद्यालय, अमृतसर। ई-२३०० राजाजीपुरम् लखनऊ-२२६ ०१७
५.	संस्कृत आयुर्वेद साहित्य में जैनाचार्यों का योगदान	वैद्य धर्मचन्द जैन प्रिंस यशवन्त राव आयुर्वेदीय जैन औषधालय, विद्यावानी, इन्दौर, म.प्र.।
६.	बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद	डा. श्रीकान्त तिवारी रीडर कायचिकित्सा, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
७.	भूतविद्या	स्व. (डा.) विद्याधर शुक्ल वाराणसी।
८.	रसशास्त्र का इतिहास	डा. गणनाथ द्विवेदी नगवा, वाराणसी।

९.	रसेश्वर परिचय	वैद्य उमाशंकर द्विवेदी ग्राम एवं पोस्ट-मझोली, जबलपुर (म.प्र.)।
१०.	द्रव्यगुण विज्ञान का इतिहास	डा. कमलनयन द्विवेदी रीडर द्रव्यगुण, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
११.	पश्चिम गोलार्धीय पञ्चदश भेषज द्रव्य परिचय	स्व. (डा.) रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी त्रिवेदीनगर, हाथरस, उ.प्र.।
१२.	शल्यतंत्र का विकासक्रम	डा. एस.जे. गुप्ता प्रवक्ता शल्यतंत्र, शल्य-शालाक्य विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
१३.	धन्वन्तरि का इतिहास	डा. लक्ष्मण सिंह वरिष्ठ प्रवक्ता, शल्य-शालाक्य विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
		डा. रानी सिंह प्रवक्ता आयुर्वेद सिद्धान्त एवं दर्शन, मौलिक सिद्धांत विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
१४.	शारीर का इतिहास	डा. हरिहृदय अवस्थी रीडर रचना शारीर एवं विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धांत विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी २२१००५।

२४.	चुम्बक, एक्यूप्रेशर, एक्यूपंचर एवं रेकी चिकित्सा	डा. ब्रजमोहन सिंह रीडर, कौमारभृत्य, प्रसूति, स्त्री रोग एवं वालरोग विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। डॉ. संगीता गहलौत
२५.	ज्योतिष एवं आयुर्वेद : एक विहंगावलोकन	डा. उमाशंकर त्रिपाठी ५६६-च/३६४, प्रेमनगर, आलमबाग, लखनऊ।
२६.	आयुर्वेद वाङ्गमय में मंत्र एवं तंत्र चिकित्सा का इतिहास	डा. रामविलास सौहगौरा
२७.	आयुर्वेदीय ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार	डा. विजनरायण मिश्र १८५ ए तिलकनगर, वाघम्बरी गद्दी अल्लापुर, इलाहावाद।
२८.	आयुर्वेदीय शिक्षण संस्थान एवं आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाएं	डा. रमेशचन्द्र वर्मा चिकित्साधिकारी, राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय, खमरिया, संतरविदास नगर, भदोही, उ.प्र. मिशन कम्पाउण्ड, रमईपट्टी, मिर्जापुर, उ.प्र.।
२६.	आयुर्वेदीय-इतिहास-सन्दर्भ	प्रो. रविदत्त त्रिपाठी वाराणसी।
३०.	वृक्षायुर्वेद	डा. चन्द्रशेखर पाण्डेय
३१.	आयुर्वेद में पर्यावरण एवं समाज का इतिहास	डा. निधि मिश्रा प्रवक्ता, महिला महाविद्यालय पी.जी. कालेज, किदवई नगर, कानपुर ग्वालदास साहू लेन, गोलघर, वाराणसी।

३२.	आयुर्वेद में अनुसंधान पद्धति का इतिहास	डा. रानी सिंह डा. लक्ष्मण सिंह
३३.	कौमार भृत्य (प्रसूति तन्त्र, स्त्री रोग एवं बाल रोग का इतिहास)	डा. ब्रज मोहन सिंह डा. संगीता गहलौत
३४.	पुराणों में आयुर्वेद	डा. बृजकुमार द्विवेदी रीडर, आयुर्वेद सिद्धान्त एवं दर्शन मौलिक सिद्धान्त विभाग आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान काशी हिन्दू विश्विविद्यालय, वाराणसी।
३५.	उपनिषद् पुराण, रामायण, महाभारत, ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्य सूत्र स्मृति एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र में आयुर्वेद	डा. संगीता गहलौत
३६.	नाड़ी विज्ञान का इतिहास	डा. लक्ष्मण सिंह डा. रानी सिंह
३७.	योग का इतिहास	डा. संगीता सिंह डा. ब्रजमोहन सिंह
३८.	स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात आयुर्वेद	डा. रानी सिंह प्रो. रविदत्त त्रिपाठी
३९.	आयुर्वेद का विकास क्रम	डा. संगीता गहलौत
४०.	पुराकालीन चिकित्सा विज्ञान	डा. रमाकान्त द्विवेदी

प्रथम अध्याय

अनादि आयुर्वेद का प्रादुर्भाव

आयुर्वेद के मूल प्रवर्तक ब्रह्मा हैं, जिन्होंने लक्षश्लोकी आयुर्वेद संहिता निर्मित किया। चरक के मत में ब्रह्मा से दक्ष प्रजापति, प्रजापति से अश्विनी कुमार एवं अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने यह ज्ञान आत्मसात किया[१]। आधुनिक इतिहास बोध की भाषा में आयुर्वेद प्रागैतिहासिक मानकों से भी पूर्व पुरातन संस्करण तो है ही, पर, यह अद्यतन अनवरत प्रकार भी है। आयुर्वेद का आदि अन्त अज्ञेय है। अनादि है, शाश्वत[२] अक्षुण्ण धारा है। ब्रह्मा द्वारा सृष्टि से भी पूर्व की यह प्रथम रचना है, सुश्रुत का ऐसा ही मत है। आधुनिक इतिहास के मानकों में ब्रह्मा, इन्द्र, अश्विनीकुमार, दक्ष प्रजापति आदि की ऐतिहासिकता मिथकीय हो सकती है। पर ये सभी पात्र भारतीय साहित्य, दर्शन, इतिहास के प्रत्ययों में, परम्पराओं में साक्ष्य-सम्मत हैं। वैदिक जगत में सभी पात्र प्रत्यक्ष मिलते हैं। समझने के लिए यह मानना सुसंगत है कि आयुर्वेद ब्रह्मा से इन्द्र पर्यन्त देवलोक की सीमित संपत्ति था और जब यह पृथ्वी पर अवतरित हुआ, तभी से इतिहास के कलेवर में इसका शुभारम्भ हुआ।

सत्रहवीं सदी के भावप्रकाश में भी आयुर्वेद की गंगा ब्रह्मकमण्डलु से निस्सृत मिलती है।[३] अथर्ववेद का सर्वस्व यह सारभूत आयुर्वेद मूलतः इस प्रकार "ब्रह्म संहिता" है। तदनन्तर दक्ष प्रजापति ने उपांङ्गों सहित आयुर्वेद का अध्ययन किया[४]। दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने इसे ग्रहण किया।[५] अश्विनी कुमारों ने इस अश्विनी संहिता से अनेक यशस्वी उपचार किये।[६] भैरव द्वारा ब्रह्मा के शिरश्छेद पर अश्विनी कुमारों ने शिर का प्रत्यारोपण सफलता पूर्वक किया।[७] देवलोक में आयुर्वेद का "अश्विनी संहिता" संस्करण

---

१. ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः। जग्राहनिखिलेनादावश्विनी तु पुनस्ततः।।
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्। च.सं. १/४-५

२. सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्
स्वभाव संसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च। च.सू. ३०/२७

३. क्रममाह तत्रादौ ब्राह्मणः प्रादुर्भावः-विधाताथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम।। भा.प्र. १/५

४. ततः प्रजापतिं दक्षं दक्षं सकलकर्मसु। विधिर्धीनीरधिं साङ्गमायुर्वेदमुपादिशत्।।
भा.प्र. १/६

५. अथदक्षः क्रियादक्षः स्वर्वैद्यौ वेदमायुषः,
वेदयामास विद्वांसौ सूर्यांशौ सुरसत्तमौ।। भा.प्र. १/७

६. दक्षादधीत्य दस्रौ वितनुतः संहितां स्वीयाम्।
सकल चिकित्सकलोक प्रतिपत्ति विवृद्धये धन्याम्। भा.प्र. १/८

७. स्वयंभुवशिरश्छिन्नं भैरवेण रुषाऽथ तत्। अश्विभ्यां संहितं तस्मात्तौ जातौ यज्ञभागिनौ।
भा.प्र. १/९

अपने आश्चर्य जनक उपचारों के कारण जनप्रिय होता गया। देवराज का बाहुस्तम्भ रोग इस विद्या से ठीक हो गया।[१] पूषा नामक सूर्य के दांत टूटने पर, भग नामक सूर्य के नेत्र फूटने पर, चन्द्रमा के राजयक्ष्मा पर इस आयुर्वेद की चिकित्सा से उन्हें निरोग बना कर आयुर्वेद का प्रचार एवं प्रसार किया।[२]

पृथ्वी पर आयुर्वेद का प्रथम सफल उपचार कायाकल्प के रूप में महर्षि च्यवन के वृद्ध शरीर को युवा बनाकर अश्विनी कुमारों ने प्रस्तुत किया[३]। अश्विनीकुमारों के आश्चर्यजनक उपचारों से प्रभावित इन्द्र ने उनसे आयुर्वेद का अध्ययन किया।[४] धरती से स्वर्ग तक आयुर्वेद की धूम मची थी, इधर मुनीश्वर आत्रेय भवरोग से कल्याणार्थ जीव दया के प्रति उपचार अन्वेषण के लिए व्यग्र हो उठे। आत्रेय का युग भयंकर व्याधियों से आक्रांत, उपचारों के अभाव में चिन्तनीय मिलता है। आत्रेय ने इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इन्द्र लोक से आयुर्वेद का अवतरण धरती पर किया।[५] इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान पाकर आत्रेय मुनि ने आत्रेय संहिता[६] नाम से आयुर्वेद की संहिता का निर्माण किया।

---

१. वज्रिणोऽभूत् भुजस्तम्भः स दस्राभ्यां चिकित्सितः।
सोमान्निपतितश्चन्द्रस्ताभ्यामेव सुखीकृतः।। भा.प्र. १/११

२. विशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च।
शशिनो राजयक्ष्माऽभूदश्विभ्यां ते चिकित्सिताः।। भा.प्र. १/१२

३. भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन्विकृतिं गतः।
वीर्यवर्णस्वरोपेतः कृतोऽश्विभ्यां पुनर्युवा।। भा.प्र. १/१३

४. संदृश्य दस्रयोरिन्द्रः कर्माण्येतानि यत्नवान्।
आयुर्वेदं निरुद्वेगं तौ ययाचे शचीपतिः।।१५।।
नासत्यौ सत्यसन्धेन शक्रेण किल याचितौ।
आयुर्वेदं यथाधीतं ददतुः शतमन्यवे।।१६।। भा.प्र.

५. एकदा जगदालोक्यगदाकुलमितस्ततः।
चिन्तयामास भगवानात्रेयो मुनिपुङ्गवः।।१८।।
किं करोमि क्व गच्छामि कथम् लोकानिरामयाः
भवन्ति सामयानेतान्न शक्नोमि निरीक्षितुम्।।१९।।
आयुर्वेदं पठिष्यामि नैरुज्याय शरीरिणाम्।
इति निश्चित्य गतवान् आत्रेयस्त्रिदशालयम।।२१।।
आयुर्वेदोपदेशं में कुरु कारूण्यतो नृणाम्
तथेत्युक्त्वा सहस्राक्षोताऽध्यापयामास तं मुनिम्।
मुनीन्द्र इन्द्रतः साङ्गमायुर्वेदमधीत्य सः।
आभिनन्द्य तमाशीर्भिराजगाम पुनर्महीम्।।२६।।

६. अथात्रेयो मुनिश्रेष्ठो भगवान् करुणा करः।
स्वनाम्ना संहितांचक्रे नरवर्गानुकम्पया।। भा.प्र. १/२८-३०

आत्रेय-चिकित्सा पर बौद्ध ग्रन्थों में अनेक साक्ष्य मिलते हैं। जो इनके चमत्कारिक उपचार का विवरण देते हैं। अत्रि पुत्र आत्रेय अपनी आत्रेय संहिता का सम्यक् अध्ययन अग्निवेश, भेड, जातूकर्ण, पराशर, क्षारपणि, और हारीत इन छः ऋषिमुनियों को कराया[1]।

श्रुत्वा च तानि तंत्राणि हृष्टोऽ भूदत्रिनंदनः।। १-३३. भा.प्र.। इन छः ऋषियों में से प्रथम तंत्र (ग्रन्थ) कर्ता अग्निवेश हुए। इसके बाद भेडादिक अन्य शिष्यों ने अपने-अपने नाम से एक-एक तंत्र बनाया और उन्हें आत्रेय जी को सुनाया। जिसे सुनकर बड़ी प्रसन्नता व्यक्त किया। आत्रेय संहिता आत्रेय जी का स्वयं द्वारा प्रशस्त एवं जनहित कारी लक्ष्य में इन्द्र संहिता का रूपान्तरण है।

कालान्तर में यही समस्या पुनः उठ खड़ी हुई। जड़ी-बूटियों के विशाल साम्राज्य, ताप दूर हिमानी भूमि हिमालय की तलहटी में भविष्य में उत्पन्न होने वाले रोगों से जनिष्यमाण पीड़ा की कल्पना से उत्पन्न चीत्कार से आकुल ऋषियों का शीर्ष सम्मेलन हुआ। भावप्रकाश अध्याय एक पूरी मार्मिक झांकी प्रस्तुत करता है।[2] इसमें भारद्वाज जी एक मत में प्रतिनिधि बनाकर देवलोक भेजे गये। इन्द्र संहिता का विशद अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि

---

१. ततोऽग्निवेशं भेडंच जातूकर्णं पराशरम्।
क्षारपाणिंचहारीतमायुर्वेदमपाठयत्।। भा.प्र.१-३१
ततो भेडादयाश्चक्रुः स्वं-स्वं तंत्रं कृतानि च। १-३२-भा.प्र.
श्रावयामासुरात्रेयं मुनिवृन्देन वन्दितम्।
श्रुत्वा च तानि तंत्राणि हृष्टोऽभूदत्रिनन्दनः ।। भा.प्र. २-३३

२. अथ भरद्वाज प्रादुर्भावः-
एकदा हिमवत्पार्श्वे दैवादागत्य सङ्गताः।
मुनयो बहवस्तेषां नामभिः कथयाम्यहम्।।३५।।
भरद्वाजो मुनिवरः प्रथमं समुपागतः
ततोङ्गिरास्ततो गर्गो मरीचिर्भृगुभार्गवौ।।३६।।
पुलस्त्योऽगस्तिरसितौ वसिष्ठः सपरासरः
हारीतो गौतमः सांख्यो मैत्रेयश्च्यवनोऽपि च।।३७।।
जमदग्निश्चगार्ग्यश्च काश्यपः कश्यपोऽपि च।
नारदो वामदेवश्च मार्कण्डेयः कपिञ्जलः।।३८।।
शाण्डिल्यःसहकौण्डिन्यः शाकुनेयश्च शौनकः।
आश्वलायन सांकृत्यौ विश्वामित्रः परीक्षकः।।३९।।
देवलो गालवो धौम्यः काम्यकात्यायनावुभौ।
काकायनौ वैजपेय कुशिको वादरायणः।।४०।।
हिरण्याक्षश्च लौगाक्षिः शरलोमा च गोभिलः। वैखानसा वालखिल्यातथैवान्ये महर्षयः।।४१।।
ब्रह्मज्ञानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च। तपसस्तेजसा दीप्ताहूयमाना इवाग्नयः।। ४२।।
सुखोपविष्टास्ते तत्र सर्वे चक्रुः कथामिमाम्।। ४३।।

आयुर्वेद की प्राप्ति के लिए भूलोक से देवलोक को भरद्वाज तथा आत्रेय गये थे। उन के द्वारा निर्मित यह आत्रेय संहिता एवं भरद्वाज संहिता – दोनों युगल संहितायें है।[१]

इन्द्र से सम्यक अध्ययन कार्य पूर्ण किया भरद्वाज जी ने।[२] भरद्वाज जी के माध्यम से द्रव्य, गुण, और कर्म की दृष्टियों से हेतु, लिंग, एवं औषधि सभी तीन स्कन्धात्मक आयुर्वेद का बृहत् अनुशीलन आरम्भ हुआ।[३]

जिस महर्षि ने चर की भाँति भूलोक आकर अष्टांग आयुर्वेद की व्याख्या कर संहिता में अपेक्षित समयोपयोगी निवेश किया, ये चरक नाम से प्रसिद्ध हुए। आत्रेय के शिष्यों अग्निवेश आदि ने अपने-अपने तंत्रों की संहितायें प्रस्तुत किया था। उनका संग्रह कर अपनी चरक संहिता की प्रस्तुति किया[४]।

इन्द्र ने धन्वन्तरि को शल्य तन्त्र की दीक्षा देकर काशीपुरी का राजा बनाकर आयुर्वेद के प्रसार का निर्देशन दिया।[५] धन्वन्तरि काशिराज दिवोदास रूप में विख्यात हुए। बालयोगी धन्वन्तरि ने राजा के रूप में अपनी सेवा देते हुए धन्वन्तरि संहिता का निर्माण किया।[६]

इसी तरह एक बार विश्वामित्र जी ने दिवोदास को जब ज्ञान दृष्टि से धन्वन्तरि रूप में जाना, तो अपने पुत्र सुश्रुत से कहा कि उनसे जाकर आयुर्वेद की शिक्षा लो। सुश्रुत

---

१. इत्थं स मुनिर्भिर्योग्यैः प्रार्थितो विनयान्वितैः। भरद्वाजो मुनिश्रेष्ठो जगाम त्रिदशालयम्।।
तथेन्द्रभवनं गत्वा सुरर्षिगणमध्यगम्। दृष्टवान् वृत्रहन्तारं दीप्यमानभिवानलम्।।४८
दृष्ट्वैवं स मुनिं प्राह भगवान् मघवा मुदा। धर्मज्ञ स्वागतं तेऽथ मुनिं तं समपूजयत्।।४६।।

२. तमुवाच मुनिं साङ्गमायुर्वेदं शतक्रतुः। जीवेद्वर्षसहस्राणि देही नीरुङ् निशम्य यम्।।५२।।

३. सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामुनिः।
यथावदचिरात्सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः।।५३।।

४. यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः।
तस्माच्चरकनाम्नाऽसौ विख्यातः क्षितिमंडले।६२।।
स भाति चरकाचार्यो वेदाचार्यो यथा दिवि।
सहस्रवदनस्यांशो येन ध्वंसो रुजां कृतः।।६३।।
आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयोऽभवन्। मुनयो बहवस्तैश्च कृतं तत्रं स्वकम् स्वकम्।।६४
तेषां तंत्राणि संस्कृत्य समाहृत्य विपश्चिता।
चरकेणात्मनो नाम्ना ग्रन्थोऽयं चरकः कृतः।।६५।।

५. अधीत्य चायुषो वेदमिन्द्राद्धन्वतरिः पुरा। आगत्य पृथ्वीं काश्यां जातो बाहुजवेश्मनि।।७२।।

६. नाम्ना तु सोऽभवत्ख्यातो दिवोदास इति क्षितौ।
बाल एव विरक्तोऽभूच्चचार सुमहत्तपः।।७३।।
यत्नेन महता ब्रह्मा तं काश्यामकरोन्नृपम्
ततो धन्वन्तरिर्लोकैः काशीराजोऽभिधीयते।।
हिताय देहिनां स्वीया संहिता विहिताऽमुना।
अयं विद्यार्थिनो लोकान् संहितां तामपाठयत्।।

मुनियों के १०० पुत्रों सहित अध्यायनार्थ काशी पधारे।[1] काशीराज दिवोदास धन्वतंरि ने सभी ऋषि पुत्रों को आयुर्वेद का अध्ययन कराया। सुश्रुत एवं प्रत्येक सहपाठी ने अपने-अपने तंत्र से संहिताकरण किया इनमें सुश्रुत संहिता सर्वप्रिय हुई।[2]

जिस शास्त्र में आयुष्य के लिए हितकर और अहितकर पदार्थों का उल्लेख हो और रोगों का प्रधान कारण (निदान) और उनकी अंतिम शांति का उपाय वर्णित हो- ऐसे चिकित्सा तंत्र को आयुर्वेद कहा जाता है।[3] आयु क्या है ? शरीर एवं आत्मा के संयोग की अवधि का नाम आयु है और जीवन है देह और जीव का संयोग।[4]

उपर्युक्त आकार अनुसंधान में भरद्वाज संहिता के सम्बन्ध में एक तथ्य उल्लेखनीय यह है कि चरक संहिता में अन्यत्र भरद्वाज का नाम नहीं मिलता। इन्द्र संहिता से आत्रेय संहिता अविच्छिन्न ज्ञानान्तरण प्रवाह है।[5] इससे प्रतीत होता है भरद्वाज का प्रसंग क्षेपक है। इसी प्रकार सुश्रुत संहिता में ब्रह्म संहिता के मूल से निगमित आयुर्वेद की विकास परंपरा में चरक अनुक्रम ही प्रस्तुत है पर यहां आत्रेय के स्थान पर धन्वन्तरि का नाम उल्लिखित है।

इन्द्र से धन्वन्तरि और धन्वन्तरि से सुश्रुत ने यह ज्ञान प्राप्त किया।[6] काश्यप संहिता में भी ऐसा ही विवेचन है। यहां भी दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र की यह ज्ञान परंपरा

---

१. विश्वामित्रो मुनिस्तेपु पुत्रं सुश्रुत मुक्तवान्।
वत्स वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम्।।
तत्र नाम्ना दिवोदासः काशीराजोऽस्ति बाहुजः।
स हि धन्वंतरिः साक्षादायुर्वेदविदांवरः।। ७८।।
आयुर्वेदं पठस्व त्वम् लोकोपकृति हेतवे।
सर्वप्राणिदयातीर्थमुपकारो महामरवात्।।
पितुर्वचनमाकर्ण्य सुश्रुतः काशिकां गतः।
तेन सार्द्धं समध्येतुं मुनिसुनुशतंययौ। ८०।।

२. काशिराजं जनाशीर्भिरभिनद्य मुदान्विता। सुश्रुताद्याः सुसिद्धार्थाः जग्मुर्गेहं स्वकं-स्वकं।।८६।।
प्रथमं सुश्रुतस्तेपु स्वतंत्रं कृतवानस्फुटम। सुश्रुतस्य सरवायोऽपिपृथक्तन्त्राणि तेनिरे।८८।।
सुश्रुतेन कृतं तत्रं सुश्रुतं बहुभिर्यतः। तस्मात्तत्सुश्रुत नाम्ना विख्यातं क्षितिमण्डले।।८६।।

३. आयुर्हितमहितं व्याधिर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते।। भा.प्र. १-३।।

४. शरीरजीवयोर्योगो जीवनं, तेनावच्छिन्नः काल आयुः, आयुर्वेदद्वारा
आयुष्यानायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि ज्ञात्वा तेषाम् सेवनत्यागाभ्यामारोगेणायुर्विन्दति।
तैव हेतुना परस्याप्याआयु वेंत्ति च।।४।।

५. हिमवन्तममराधिपातिगुप्तं जग्मुर्भूग्वगिरोऽत्रिवशिष्ठकाश्यपागस्त्य
पुलस्त्यवामदेवासितगोतमप्रभृतयोमहर्षयः।। च.चि. १/४/३।।

६. अत्र खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोंदासं धन्वन्तरि
मौपधेनववैतरणौभ्र पौष्कलावतकरवीर्यगोपररक्षित सुश्रुत प्रभृतयऊचुः
प्रभृतिग्रहणान्निमिकांऽकायनगार्ग्यगालवाः। सू.सू. १/३-डल्हण
ब्रम्हाप्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे तस्मादश्विनवश्विभ्यामिन्द्रः इन्द्रादहं मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः
प्रजाहितहेतोः"-सु.सू. १/२०।

काश्यप, वशिष्ठ, आत्रेय और भृगु ऋषि मनुष्य द्वारा यह इन्द्रायणी ज्ञान धारा प्रवाहमय हुई। अष्टांग संग्रह के सू. १/८-६ में भरद्वाज का उल्लेख होते हुए ऐसी ही परंपरा आयुर्वेद के विकास क्रम को मिलती है। यहां आत्रेय पुनर्वसु के नेतृत्व में धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप आदि महर्षियों ने इन्द्र के पास जाकर आयुर्वेद का ज्ञान पाया। अष्टांग हृदय सूत्र १/३-४ के अन्तर्गत ब्रह्मधारा दक्ष प्रजापति अश्विनी, इन्द्र, आत्रेय, अग्निवेश की सोपान परंपरा में तंत्र रचना में गतिशील रही। भास्कराचार्य की संहिता का भी उल्लेख है।[1] भाव प्रकाश में आत्रेय-इन्द्र समागम एवं भरद्वाज इन्द्र गोष्ठी दोनों ही (आत्रेय भरद्वाज) का उल्लेख है। धनुवन्तरि एवं सुश्रुत का भी विवरण है। यह समन्वयमूलक विवेचन है भावप्रकाश का।

चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता ने जो सोपान परंपरा विवेचित किया है, उसमें आत्रेय संप्रदाय का स्पष्ट उल्लेख हो जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण अध्याय १६ में एक अन्य संप्रदाय - भास्कर संप्रदाय का भी साक्ष्य मिलता है। इसके अनुसार प्रजापति ने आयुर्वेद को पंचम वेद के रूप में समाहित कर भास्कर को प्रदान किया। भास्कर ने भास्कर संहिता का निर्माण किया और अपने षोडश शिष्यों में इसे वितरित किया। इन शिष्यों और इनकी रचनाओं के विवरण हैं -

धन्वन्तरि	चिकित्सा तत्व विज्ञान
दिवोदास	चिकित्सा दर्पण
काशिराज	चिकित्सा कौमुदी
अश्विनीकुमार	चिकित्सा सार तंत्र
नकुल	वैद्यकसर्वस्वं
सहदेव	व्याधिसिन्धुविमर्दन
यम	ज्ञानार्णव
च्यवन	जीवदान
जनक	वैधसन्देहभंजन
बुद्ध	सर्वसार
जवाल	तंत्रसार
पेल	निदान
कवध	सर्वसार
अगस्त्य	द्वैध निर्णय

१. ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः विचिन्त्य तेषांमर्थमेकायुर्वेदं चकार सः।
कृत्वा तु पंचम वेदं भास्कराय ददौ विभुः। स्वतंत्र संहितां तस्माद् भास्करश्च चकारसः।।

वेदजात यह आयुर्वेद ज्ञान परंपराओं में तरंगित पुराणों तक उपवृंहित होकर वायुपुराण में इसी आशय का उल्लेख मिलता है[१]। अथर्ववेद आयुर्वेद की आधार शिला है। अथर्ववेद वस्तुतः चिकित्सा शास्त्र की खोज है। इसकी ६ शाखायें हैं-पैप्पलाद, तोर, मोद शोनकीय, जाजल, जलद, व्रह्मवद, देवदर्श और चारण वैद्य। पतंजलि काल दूसरी शती ई. पू.-इनमें अनेक शाखायें विद्यमान मिलती हैं। महाभाष्यकार के कथन ऐसा साक्ष्य देते हैं।[२] मार्कण्डेय[३] विष्णु[४] वायु[५] पुराण में आयुर्वेद के अष्टांग विभाग के विवरण मिलने लगते हैं इसका तात्पर्य यह अष्टांग विभाग वेदोत्तर कालीन है।

चिकित्सा प्रधान अथर्ववेद भृग्वङ्गिरस एवं अथर्वाङ्गिरस के रूप में प्रख्यात रहा है, जिसमें भेपज से अमृत तत्व प्राप्ति का उल्लेख है, जो ब्रह्मपद ही है।[६]

फिजिशियन एवं सर्जन, कायचिकित्सा एवं शल्यचिकित्सा को अपने आदि रूप में अश्विनीकुमारों तक विभाजित नहीं मानते हैं। अश्विनीकुमार महान शल्य एवं कायचिकित्सक दोनों थे। अथर्ववेद चिकित्सा देव व्यपाश्रयी चिकित्सा के रूप में मिलती है। आङ्गिरस अङ्गों के रस से सम्बद्ध युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के विशेषज्ञ रहे। कुछ के मत में अथर्वण शांति पुष्टि जैसे सौम्य चिकित्सा से सम्बद्ध हैं और आङ्गिरस घोर कर्मो से सम्बद्ध थे। आग्नेय संप्रदाय कायचिकित्सा एवं शल्य चिकित्सा के प्रवर्तक बने। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ धनुर्वेद, स्थापत्य वेद, गन्धर्ववेद, और आयुर्वेद ये चारों उपवेद रूप में निगमित हुए।

आयुर्वेद को कुछ लोग ऋग्वेद से तो अधिकांश अथर्ववेद के उपवेद रूप में विकसित मानते हैं। आयुर्वेद का नाम छान्दोग्य उपनिषद में निर्दिष्ट विद्याओं में नहीं मिलता। चरणव्यूह (३८) एवं प्रस्थान भेद में आयुर्वेद शब्द का प्रयोग मिलता है। यहां यह ऋग्वेद के उपवेद रूप में उल्लिखित है। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता तथा काश्यप संहिता आदि आयुर्वेद को अथर्ववेद से सम्बद्ध करती है।

---

१. आयुर्वेद विकल्पश्च अंगानि ज्योतिषस्य च।
अर्थशास्त्र विकासश्च हेतुशासनविकल्पनम्।।
स्मृतं शास्त्रप्रभेदाश्च प्रस्थानानि पृथक्-पृथक्।
द्वापरेष्वभिवर्तन्ते मतिभेदास्तथानृणाम्।। वायु ४०/२३

२. उद्गान मौदपैप्पल्यादम-पातंजलि महाभाष्य २/४/३ ४/१/१ ४/२/६६

३. आयुर्वेदश्च सकलस्त्वष्टांगो यो मया ततः-मार्कण्डेय-५५/५३

४. काशीराज गोत्रेऽवतीर्य त्वमष्टधा सम्यगायुर्वेदं करिष्यसि-विष्णु पुराण ४/८/७/११

५. आयुर्वेदं भरद्वाजश्चकार सभिषमक्रियम्।
तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्।। वायुपुराण

६. यदभेषजं तद् अमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म। गोपथ ब्राह्मण १/३/४
एतद् वै भूमिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः रसः, येऽथङ्गिरसः येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्। यद् भेषजं तद् अमृतम्। यद अमृतं तद् ब्रह्म। गोपथ ब्राह्मण १/३/४

अथर्ववेद के कालांकन पर एकमान्यता नहीं है। कुछ के मत में अथर्ववेद अंतिम संहिता है। तो कुछ इसे प्राचीनतम मानते हैं। ऋगुवेद में अथर्वा अग्नि के आविष्कारक रूप में मिलते हैं।[1] अथर्ववेद अथर्वाङ्गिरस रूप में अतिप्राचीन काल से प्रख्यात रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद में मधुविद्या प्रकरण का दध्यङ्ग अथर्वण से अश्विनी कुमार ज्ञान पाते हैं। ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों की चमत्कारपूर्ण चिकित्सा जगमगाती मिलती है। अथर्वण संप्रदाय ऋग्वैदिक युगीन सिद्ध इन से होती है। चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से अथर्ववेद की सामग्री ऋग्वेद के समकालीन इस प्रकार प्रमाणित होती है। कश्यप आयुर्वेद को अथर्ववेद से समुद्भूत मानते हुए भी पंचम वेद के रूप में इसे सभी वेदों का उपजीव्य घोषित करते हैं।[2]

वैदिक कालीन आयुर्वेद

रुद्र, अग्नि, वरुण, मारूत, इन्द्र, ''देवभिषक्'' के रूप में प्रसिद्ध ही हैं, पर सर्वाधिक यश अश्विनी कुमारों को ''देवानां भिषजौ'' के रूप में प्राप्त है।

आरोग्य, दीर्घायुष्य, शक्ति, सम्पन्नता एवं समृद्धि के प्रचारक है अश्विनीकुमार बन्धु। अथर्वण दधीचि से मधुविद्या एवं प्रवर्ज्ञा विद्या का अध्ययन किया है इन्होंने।[3] सुन्दर एवं शक्ति स्फूर्ति मय अश्विनी युगल चक्र के रथ पर सूर्यपुत्री उषा धर्मपत्नी के साथ आरूढ़ हैं।[4] मघुघट भी रथ पर हैं।[5] एकचक्र भूलोक में एवं दूसरा द्युलोक में इनके रथ का गतिशील है।[6] इनके मधुवाहन रथ में तीन चक्र आलम्बन हेतु, तीन कोण, तीन शिखर हैं, रात्रि में तीन बार एवं दिन में तीन बार यात्रा करते हुए[7] तीन बार यज्ञ में आकर बल वर्धक अन्न तीन बार देते हैं।[8] इनका रथ त्रिधातुमय है।[9] ये ओजदायक[10] दिव्य पार्थिव

---

१. त्वामग्ने पुष्करादध्यर्थवा निरमन्थतः।
मूधर्नो विश्वस्य बाघतः।। ऋ. ६/१६/१३

२. कं च वेदं श्रयति? अथर्ववेदमित्याह-सर्वान् वेदानित्येके, पद्यगद्यकथ्यं गेयविद्याश्रयादिति। न चैतदेवं आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः। तद्यथा दक्षिणे पाणी चतसृणामगुलीनामङ्गुष्ठ अधिपत्यं कुरुते, न च नाम ताभिः सह समतां गच्छति। एकस्मिश्च पाणौ भवति एवमेवायमृऋगवेदयजुर्वेदसामवेदथर्ववेदेभ्यः पंचमो भवत्यायुर्वेद इति। च०वि० १/१०।

३. वृहदारण्यक उपनिषद २/५/१६-१७

४. ऋग्वेद १/१८२/२

५. ऋग्वेद १/३०/१६

६. ऋग्वेद १/३४/२, १/१५७/३

७. ऋग्वेद १/३४/३

८. ऋग्वेद १/१८३/१, १/३४/१-१२

९. ऋग्वेद १/३४/६

१०. ऋग्वेद १/३४/११

और आप्य औषधियां तीन बार देने[1] त्रिधातु की समस्थिति लाने की याचना है। अश्विनी में अश्व, शब्द वल एवं बाजीकरण का बोधक है। रथके तीन चक्र आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक निरन्तर सेवा के द्योतक हैं। साथ ही तीन चक्र त्रिदोष, त्रिस्कन्ध एवं त्रिताप शमन के भी संकेतक हैं। ये दो भाई हैं। युगल काय चिकित्सा एवं शल्य चिकित्सा का सिद्धान्त एवं प्रयोग की युगल प्रगल्भ अभिव्यंजना प्रस्तुत करते हैं।

मधुघट जीवन शब्द माधुर्य रस का प्रतिनिधि है। इनकी सामाजिक सेवायें जनहित कारी उपचारों की कार्यसूची में शताधिक प्रकारों के कार्यक्रम वेदों में भरे पड़े हैं। ये अश्विनीकुमारवन्धु, अष्टांग आयुर्वेद में मिलते हैं। अपाला के चर्मरोग एवं उसके पिता के खालित्यरोग के निदान, परातृज के दृष्टि उपचार, पंगु गति का इलाज इन्द्र के चमत्कार हैं। राजयक्ष्मा, ग्राही, पृष्ट्यामय, हृदयरोग, प्रसूतिचिकित्सा के साक्ष्य ऋगवेद में मिलते हैं। औषृधि सूक्त में ऋगवेद में औषधियों का स्वरूप, स्थान, वर्ग, क्रम एवं प्रयोग के विवरण मिलते हैं। इसमें युक्ति व्यापाश्रय एवं देवव्यपाश्रय के विवरण भी मिलते हैं।[2] रोग में समवायिकारण (दोषजनक) एवं निमित्तकारण (क्रिमिजन्य) दोषप्रत्यनीक एवं व्याधि प्रत्यनीक उपचार के साक्ष्य मिलते हैं[3]। त्रिदोष सिद्धान्त भी संकेतित है। सूर्य की किरण चिकित्सा प्रणाली, जल चिकित्सा, अग्निचिकित्सा, वायु चिकित्सा के साथ पशुचिकित्सा के भी विवरण ऋग्वेद में मिलते है।[4] इसी प्रकार आयुर्वेद में त्रिदोष सिद्धान्त के अन्तर्गत पित्तादि के विवरण मिलते हैं।[5] शुक्ल आयुर्वेद में औषधियों की प्रशंसायें उपलब्ध हैं अर्श, बलास, श्वयथु, श्लीपद, हृदयरोग एवं कुष्ठ रोग के उपचार भी मिलते हैं। पशुओं एवं मनुष्यों के देहांगों के विवरण उपलब्ध होते हैं। शुक्ल यजुर्वेद में। तैत्तरीय संहिता में दृष्टिदान एवं यक्ष्मा ही नहीं, उन्माद के उपचारक मंत्र भी मिलते हैं। यहां दैवव्यपाश्रयी चिकित्सा की वरीयता मिलती दीखती है।

---

१. ऋग्वेद १/१२०/१०

२ यत्रोषधीः समगृमत राजानः समिताविव।।
विप्रः स उच्यते भिषगूरक्षोहामीव चातनः।। ऋगवेद १०/९७/६

३. साकं यक्ष्म प्रपत चषेंण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया।। ऋगवेद १०/९७-१३

४. त्रिधुतु शम वहां शुभस्यतीत्रैरावेद तदैव १/३४/६
इन्द्र त्रिधांतुशरणम् -ऋगवेद ४/६/२८

५. यकृत क्लोमानं वरुणो भिषज्यनू मतस्तै वायव्यैर्न मिनासि पित्तम् १९/८५ यजुर्वेद
चाषान् पित्ते-२५/७ यजुर्वेद।

अथर्ववेद में ऋगवेद के सूत्रों में संकेतित आयुर्वेद के तथ्य विशद रूप में विवेचित हुए हैं। त्रिदोष (कफ, वात, पित्त का सिद्धान्त) सूक्ष्मतः ऋग्वेद में उल्लिखित है एवं अथर्ववेद में विकसित विवरण है[1]।

एक मंत्र में हरित (स्वर्ण हिरण्य) रजत एवं अयस द्वारा पित्त कफ एवं वात का संकेत मिलता है। इनके प्राकृतिक रहने पर मानव शतायु होता है।[2] इन दोषों के अलग-अलग तीन विभागों का संकेत मिलता है। जो बाद में पांचपांच हो जाते मिले हैं।[3] सुश्रुत सहिता २१/६ में सोम, सूर्य एवं वायु का प्रतिनिधित्व देह के कफ, पित, वात करके कहे गये हैं। ऐसा ही मंत्र का मन्त्रक भी है। जिसमें "आद्यचन्द्रका" के स्थान पर जल-कफ का संकेत है।[4] १२ अन्य मंत्रों में तो कफ पित वात स्पष्टता से मिलते हैं।[5] अथर्ववेद में त्रिदोषों का अलग-अलग उल्लेख भी मिलता है।[6] पांच प्रकार वात के नामांकित हैं पित्तरूप में ही पित्तमायुः शब्द से निर्दिष्ट है[7]। परावर्ती कफ बोधक पूर्व व्युत्पन्न 'बलास' वेदों के अंतर्गत प्रमाणित कफ विकार का बोधक मिलता है। "वातिकृत" अथवा "वार्तिकार" शब्द वायु विकार के लिए प्रयुक्त मिलते हैं। विषाणका एवं पिप्पली वातीकृत नाशनी एवं वातीकृत भेषजी के रूप में विज्ञापित है। श्लेष्मा शब्द कफ के स्थान पर प्रयुक्त है।[8]

वेदों में आयुर्वेद की दैहिकी, पाचन एवं धातु आदि की देहांगों के निरूपण विभिन्न सन्दर्भों में मिलते हैं। अक्षि, नासिका, कर्ण, चुबुक, शीर्षन, मस्तिष्क जिस्वा, ग्रीवा, उस्थिहा, बाहु, हृदय, पार्ध्व, प्लीहा, आंत्र, गुदा, उदर, नाभि, उरू, श्रोणि, अस्थि, मज्जा, स्राव,

---

१. य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे-१/२४/१ यजुर्वेद।
सायण ने त्रेधा के संबंध में कहा है "वातपित्तश्लेष्मलक्षणदोषत्रयकारिदेवतात्मना-त्रिदोष त्रिधातु सिद्धान्त ऋगवेद में संकेतित है। इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं भस्वस्तिमत्।
छर्दियच्छं मघवद्भ्यश्च मह्य च यावया दिद्युमेभ्यः। ऋगवेद २०/८३/१
त्रिधातु वात पित्तकफ ऋगवेद में स्पष्ट है।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मोंवनस्यतीन। १/१२/३
अभ्र से (जल एवं कफ) शुष्म से पित्त एवं वातजा से वात के अर्थ निकलते हैं।

२. नवप्राणान् नवभिः संमिमीते दीर्घायुत्वायशतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसा वेष्टितानि।।

३. त्रयः पोषास्त्रिवृत्ति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन। ५/२८/३

४. तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्य वर्षन्त्वमृतान्याय।
सूर्यस्ते तन्वे शं तपति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्रमेष्ठा।। ८

५. पंचाग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातः। १०/७/१२

६. तस्य त्वं पित्तमासिथः। १/२४/१

७. अग्नेपततमपामसि। १८/३/५

८. अश्रेष्माणो अधारयन्-३/६/२ सायणभाष्य में इसका तात्पर्य है-श्लेष्मोपलक्षितत्रिदोषं दूषित शरीरहिताः।

धमनी, पाणि, अंगुलि, नख, लोम, पर्व त्वचा, गुल्फ, जानु, जंघा, कफोड, पेशनी, एवं स्रोतों के भी विवरण मिलते हैं। धमनियां एवं शिरायें स्पष्टतः वर्णित हैं।[1] हृदय निरूपण भी उल्लिखित है।[2] मूत्र विषयक अंगों के निरूपण में भी ''वेद भारती'' के मंत्र स्पष्ट विश्लेषण कर रखते हैं।[3] पाचन अग्नि पर भी प्रकाश मिलता है। जड़ चेतन समस्त पदार्थों में अग्नि संस्थित कहीं गयी है।[4] देह में अवस्थित अग्नि का नाम ''वैश्वानर'' ''विश्वशंभू'' ''विश्वम्भर'' आदि व्यक्त किया गया है। सायण मत से यह वैश्वानर पोषक, भोक्ता परमात्म ज्योति है।[5] यह प्राणिमात्र को धारण करने वाली जठराग्नि है। अग्नि, इन्द्र, एवं मरूत् संरक्षक हैं।[6] वैश्वानर कल्याणकारी माधुर्य एवं अन्न पोषक तेज है।[7] पुरुष में शुक्र की जानकारी वैदिक चिकित्सा को थी, जो अंतिम धातु रेतस के रूप में स्पष्ट है। अंतिम धातु रेतस की भी भूमिका संतानोत्पत्ति में अनिवार्य है। इसका ज्ञान मिलता है। देह में शक्ति कारक सार भाग ओजस वैसे ही है जैसे पुष्पो का सार मधु है, जो जीवन धारक तत्व है।[8] ज्ञान की वह धारा सांख्यदर्शन से होती हुई श्रीमद्भगवद्गीता तक प्रवहमाण है।[9]

---

1. अमूर्या यन्ति हिरा लोहितवाससः।
   अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हुतवचसः।।
   शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।
   अस्थरिनमध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत।। १/१६/१-३
   इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरूत।
   तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ७/३६/२
2. पुडिरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
   तस्मिन यद् यक्ष्ममात्मन्वतद् वै ब्रह्मविदो विदुः।। १८/८/४३
3. यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद वस्तावधि संश्रुतम्।
   एवा ते मूत्रं मुच्यतां वाहिर्वालिति सर्वकम्।। १/३/६
4. अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो विभ्रत्यग्निरश्मसु।
   अग्निरन्तः पुरूषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः।।
5. एषः परमात्मा अग्निः ननु वैश्वानरात्मनता पोषको भोक्ताखलु विश्वान्,
   जन्तून् अरः प्रतिगतः प्रविष्ट इति विश्वानरः तेज जन्यमानः अग्निः
   वैष्वानरः, विश्वं सर्व प्राणिजातं विभर्ति अनुप्रविश्यअशितपीतादिकपचनेन पोषयतीति विश्वंभरो जठराग्निः।
6. अग्नि पचन्, रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरूत्वाद्। १२/३/२४
7. यदन्नमद्म्यमृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
   वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वनम्।। ६/७१/३
8. पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते।
   तद् वै पुत्रस्य वेदनम्। - ६/११/२
9. ओजः प्रथमजं ह्येतत्। १/१२/२
   याथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मघावधि।
   एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्
   यथा मक्षा इदं 'मधु' न्यंजन्ति मघावधि।
   एवा में अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम्।। ६/१/१६

वृहदारण्यक उपनिषद भी इसी मत का है।[1] चरक संहिता भी यही मत रखता है।[2] पाचन क्रिया द्वारा समुत्पन्न अन्न रस ही रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र रूप में परिणत होता ओज का रूप धारण कर शरीर की पुष्टि करता है। जिसमें सप्तधातु सप्तसिन्धु बनकर प्रस्तुत हुई है[3] शिरागत रक्त[4] तथा रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, का अलग-अलग विवेचन भी मिलता है।

अथर्ववेद में रोगों के विवरण-शपथ्य और वरुण्य में दो प्रकार के रोगों अथर्ववेद में परिगणित है।[5] इसमें एक आहार-विहार जन्य है तो दूसरा शापादि जन्य है। केशवपद्धति भी दो प्रकार की व्याधियां प्रस्तुत करती है। आहार निमित्तक एवं पापनिमित्तक। रोग एवं आस्रम्ब-शब्द से निज एवं आगन्तुक रोगों की पहचान मिलती है। रोग दोषजन्य एवं आश्लाव (रक्तस्राव आदि) धातु पात से समुत्पन्न होता है। रोगों एवं आश्लाव शब्दों का सहप्रयोग विशेष उल्लेखनीय है।[6] हृदय रोग, कुष्ठ, गंडमाला, मूत्राघात, उन्माद, राजयक्ष्मा, मदार्श एवं क्लीवता आदि रोगों के उल्लेख हैं। विषमज्वर (तक्मन) का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह रोग बाह्लीक, गंधार मुंजकन, महावृष, अंग एवं मगध देशों में अधिक संक्रामक होता था। तक्मन का भाई बलास एवं बहन कालिका कही जाती रही। कफ एवं आम तथा इनसे उद्भूत रोगों में बलास बाधक होता था। शीताभिप्राय-उष्णाभिप्राय, ग्रैष्मिक, वार्षिक, शारद, आदि ऋतु परक रोगों के विवरण भी मिलते हैं।

अथर्ववेद में दृष्ट, अदृष्ट, वर्ण भेद, आकृतिभेद एवं अधिष्ठान भेद से क्रिमियों के विवरण मिलते हैं। बीज रूप सूक्ष्म एवं दुर्लक्षित क्रिमियों का नाम क्षुल्लक मिलता है। ककुद्, शीर्ष, मृग, कुषुम्भ, आदि ३४१२ प्रकार के बताये गये हैं। क्रिमीरोग बालकों में बहुतायत से मिलता है। "कुमार कृमि" इसी से विशेषतः उल्लिखित है।[7] सूर्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि दृष्ट एवं अदृष्ट कृमियों का नाश करते हैं। अग्नि भी कृमिनाशक (कृमिघ्न)

---

१. अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्ताः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।। १५/१४
२. वैश्वानर उदरस्थः अग्नि भूत्वा अयं अग्निर्वेश्वानरो
योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते"। वृह. उ. ५/२/१
इत्यादिश्रुते :- शांकरभाष्य वृहदारण्कोपनिषद्।
३. भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संभ्रियते मधु।
एवभोजः स्वकर्मभ्यो गुणैः संभ्रियते नृणाम्।। च०सू० १७।७६
४. सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः २०/६२/६
५. मुंचन्तु मां शपथ्यादयो वरुण्यादुत। अथर्ववेद, शौनकीय शाखा।
६. एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुंज इत् शौनकीय शाखा अथर्ववेद १/२/४
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्। शौनकीय शाखा, अथर्व वेद २/३/४
७. कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि। अथर्ववेद - ५/२३/२

है। क्रिमि चिकित्सा की प्राचीन परंपरा विभिन्न मंत्रों में मिलती है।[1] अदृष्ट सूक्ष्म क्रिमियों के संदर्भ में पिशाच, राक्षस, आदि शब्द प्रयुक्त हैं। रक्षोघ्न अग्नि को कहा जाता हैं अग्नि से स्त्रियों की श्रोणी में शूल जनक राक्षसों के विनाश की प्रार्थना की गयी मिलती है[2] यह सूतिका रोगोत्पादक जीवाणुओं के लिए ही संभवतः प्रार्थना की गयी है। अजश्रृंगी, गुग्गुल, औक्षगंधि, प्रमन्दनी, अश्वत्थ, मंहावृक्ष आदि क्रिमिघ्न औषधियां बताई गयी हैं। अर्थववेद में चिकित्सा में जादू-टोने के अंधविश्वास का जो भ्रम आधुनिक चिकित्सा विशेषज्ञ पाते हैं। वह है दैवव्यपाश्रयी चिकित्सा के चलते, युक्ति व्यपाश्रय में औषधियों की भूमिका प्रचलित थी। औषधिभूत लतादि के पुष्पादि अंगों का वाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग अथर्ववेद में पाया जाता है। आहार जन्य रोगों में युक्ति व्यपाश्रय चिकित्सा एवं अन्यजन्म के पापजन्य रोगों में देव व्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग मिलता हैं। केशवपद्धति के विवरण यही तथ्य प्रस्तुत करते हैं।[3] कौशिक सूत्र व्याधि के उपचार के अनेक उपाय प्रस्तुत करता है। वातपित्तज रोगों में तेलपान, श्लेष्मा जन्य रोगों में मधुपान, वात रोगों में धृत नस्य, वातिक रोगों में मांस भेद, कामला एवं हृदयरोग में हरिद्रा भात सेवन, श्वेत कुष्ट में कण्डे में रगड़ कर भृङ्गराज हरिद्रा-इन्द्रवारूणी एवं नीलिका के फूल पीस कर लेपन, शास्त्राघात में लाक्षाघृत, दुग्धपान, गण्डमाला में शंख पीस कर लेप, मूत्रपुरीष अवरोध के रोग में हरीतिकी जैसे भेदन द्रव्यों के प्रयोग मिलते हैं।

यंत्र प्रयोग के भी उदाहरण प्राचीन वैदिक चिकित्सा में मिलते हैं। मूत्रावरोध में शलाका का प्रयोग मिलता है।[4] प्रसव विकृति में योनिभेदन[5] का उल्लेख है। हृदय रोग, जलचिकित्सा सूर्य चिकित्सा, वायु चिकित्सा के विवरण मिलते हैं। मनोबल की वृद्धि से मनोरोग निवारण के भी साक्ष्य हैं[6] इन मंत्रों का संदेश है-तुम डरो मत, नहीं मरोगे। निरोगी

---

1. त्वया पूर्वमयर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्तः।।
अथर्ववेद ४/३०/१

अत्रिवदक्रिमयो हन्मि कण्ववज्वमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनदम्यहं क्रिमीन्।। अथर्ववेद ५/२३/१०

2. स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसिनाशय। अथर्ववेद ८/६/१३
3. तस्य द्विविधाव्याधयः आहारनिमित्ता अन्यजन्म पापनिमित्ताश्च।
तत्राहारनिमित्तेषु चरकवाग्भटसुश्रुतेषु-व्याध्युपशमनं भवति। अशुभनिमितेषु अथर्ववेदविहितेषु शान्तिकेषु व्याध्युपशमनं भवति।
4. अथर्ववेद १/३/१-६
5. अथर्ववेद १/११/१२६
6. मा विभेर्नमरिष्यसि जरदष्टिं कृण्गोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्मनङ्गेभ्यो अङ्गज्वर तव।। अथर्ववेद ५/३०/८
य क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीताएव।
तमाहरामि निर्ऋतेरूपस्थादस्पार्शमेम शतशारदाय।। २०/९६

कर देंगे तुम्हें हम। रोगी को मृत्यु भय से दूर रहकर रोगों के शमन योग्य मनोबल वृद्धि के अनेक मंत्र मिलते हैं।[१]

गर्भाशयी डिम्बनलिकाओं के लिए "गवीनिके" प्रजनांगों में योनि शब्द मिलते हैं।[२] गवीनी शब्द मूत्रवह नलिकाओं के भी अर्थ में प्रयुक्त है।[३] सरल प्रसव के लिए भी मंत्र मिलते हैं।[४] गर्भदोष के निवारण गर्भपात एवं गर्भाक्रान्ता जीवाणुओं के उपचार में भी अनेक मंत्र मिलते हैं।

वैदिक युगीन विषोपचार चिकित्साः-क्रिमि एवं दोषजन्य रोगों की भांति विषजन्य रोगों के भी विवरण अथर्ववेद में मिलते हैं। विषविद्या की प्राचीनता के भी साक्ष्य अथर्ववेद देता है।[५]

वैदिक शल्य-शालाक्य तंत्र-गर्भाशय भेदन, विद्रधि, आधीवेधन, व्रणचिकित्सा रक्तस्राव-चिकित्सा अथर्ववेद में उपलब्ध है। पर शल्य चिकित्सा के स्थान पर औषधि चिकित्सा को वरीयता मिली है। वृष्णा प्रत्यारोपण की ध्वनि इन्द्र के सम्बन्ध में मिलती है[६]। अन्धत्व निवारण का उल्लेख[७] तथा अन्जन प्रयोग से नेत्र मधुवत् स्वच्ध होता है ऐसा निर्देशन भी मिलता है।[८]

अथर्ववेद भूत विद्या का आकर ग्रन्थ है। अथर्ववेद में भूत, पिशाच राक्षसों के वर्णन एवं उपचार की पद्धतियां उपलब्ध हैं। कृत्या एवं उसके नाश के उपाय मिलते हैं। औषधियों का धारण भी उल्लिखित है। अग्नि एवं सूर्य रक्षोघ्न हैं।

वेदों में रसायन-स्रष्टा का काव्य यह जगत् अजर अमर है।[९] पर, मानव मरणशील

---

१. सोरिष्टन् मरिष्यसि न मरिष्यसि मा विभेः।८/२/२४

२. धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्याः नार्याः गवीन्योः।
पुमांसं प्रथमाधेहि दशमे मासि सूतवे।। अथर्ववेद ६/३/६

३. यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावाधिसंश्रितम्। ५/२५/१०

४. वि ते भिनध्दि मेहनं वियोनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रचविकुमारं जरायुष्याणावजरायु पद्यताम। अथर्ववेद १/११/५

५. यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं हरी अन्नमविषं कृणोमि।। अथर्ववेद ८/२/१६

६. यदब्रह्माभिर्यद् ऋषिभिर्यद् देवैः विदितं पुरा।
यद भूतं भव्यमासयत् तेना ते वारये विषम्।। अथर्ववेद ६/६१/२/२

७. वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि। अथर्ववेद २६/३६/६

८. यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरूषम्।
सर्व शीर्षण्यं तं रोगं बहिर्निमन्त्रयायमहे।। अथर्ववेद ६/८/४

९. स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकारयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत।। अथर्ववेद ७/३०/१
अणक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नो समजनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नो सहासति।। अथर्ववेद ७/३६/१

होकर भी कैसे अजर, निरोग एवं दीर्घायुष्य हो, रसायन का यही लक्ष्य है।[१]

वैदिक युगीन वाजीकरण-शेषहर्णिषी औषधि का प्रयोग अथर्ववेद में बताया गया है शिश्न वर्द्धन के भी उपाय बताये गये हैं।[२] ब्राह्मण मंत्रों एवं उपनिषदों में भी उपचार की प्रचुरता मिलती है। आयुर्वेद की दृष्टि से वरुण कोप से जलोदर की उत्पत्ति हरिश्चन्द्रोपाख्यानम् में मिलती है। शतपथ ब्राह्मण एवं गोपथ ब्राह्मण में भी बहुत से विवरण मिलते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में मधुविद्या, हृदय नाड़ी विवेचन तथा रस मल वर्णन, वृहदारण्यक में देहांगों हृदय, नेत्र आदि के वर्णन मिलते हैं। औषधियों की संख्या ऋगवेद में ६७ यजुर्वेद में ८१ और अथर्ववेद में २८६ मिलती हैं।[३]

ऋग्वेद में औषधियों की संख्या तुलनात्मक दृष्टि से अथर्ववेद की अपेक्षा कम पाई जाती है। दीर्घ परम्परा एवं अनुभूतियों एवं प्रयोगों के परिणामों पर खड़ा अथर्ववेद का ओषधि विज्ञान उन्नत मिलता है। यही कारण है कि परवर्ती संहिताकारों की अथर्ववेद में आस्था अधिक प्रकट हुई।[४]

आयुर्वेद का अवतरण काल वस्तुतः ब्रह्मा से इन्द्र तक विस्तृत वैदिक काल ही हैं आयुर्वेद अनादि एवं शाश्वत होकर सृष्टि समारम्भ से ही सहचर रूप में गतिशील संरक्षक भूमिका निभाता चला आ रहा है।[५] ऋग्वेद से अथर्ववेद तक में इसका विस्तृत सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विकास इतना उन्नत था कि परवर्ती संहिताओं में इन्हीं वैदिक आधारों पर पुनर्गठित, परिवर्धित एवं परिष्कृत होती मिलती हैं।

---

१. देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अथर्ववेद १०/६/३१

२. रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधि नाशनम्
वि देवा जरसा वृतन वि त्वग्ने अरात्या।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा।। अथर्ववेद ३/६/३१

३. आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वांगंते चक्षु सर्वमायुश्च तेऽविदम्।। अथर्ववेद २०/६६/१०

४. अपलिता केशा अशोष्णा दन्ता बहुवाह्वोर्बलम्। ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मनि भृष्ट।। अथर्ववेद १९/६०/२
अश्वस्याश्वतरस्याजस्यपेत्वस्य च। अथऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवाशिन्। ४४/८
यावदं गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभम्चयत्। यावदश्वस्य च वाजि नस्तावते वर्द्धतां पसः।६/७, २/३

५. वैदिक वाङ्मय की वनस्पतियों के सम्बन्ध विस्तृत वर्णन के लिए आचार्य प्रियव्रत शर्मा कृत द्रव्यगुण विज्ञान भाग ४ तथा "अथर्वचिकित्सा विज्ञान" डा. हीरालाल विश्वकर्मा एवं डा. उपेन्द्रनाथ द्विवेदी कृत चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी अवलोकनीय है।

६. चतुर्णा ऋक्यजुसामाथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदेभक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणो.....चिकित्सां प्राह। च.सू. ३०/१९

द्वितीय अध्याय

वेदों में आयुर्वेद विज्ञान

वैदिक युग का परिचय

वेदों के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। इस युग का प्रारम्भ कब हुआ इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता है, परन्तु कुछ विद्वानों ने इस युग का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है, जो इस प्रकार है:-

लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष के आधार पर इस युग का प्रारम्भ छः हजार ईसवी पूर्व माना है। कविराज सूरमचन्द जी ने विविध प्रमाणों के आधार पर सत्रह हजार वर्ष पूर्व ब्रह्मा की उत्पत्ति माना है। ज्योतिष पंचांग में प्रत्येक वर्ष का जो कालप्रमाण माना गया है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि विक्रम सम्बत २०२२ के प्रारम्भ होने के समय से पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ से १,९५,५८,८५,०६६ वर्ष बीत चुके हैं, क्योंकि कलियुग के प्रारम्भ में अब तक ५०६६ वर्ष बीत चुके हैं। कलियुग से पूर्व द्वापर युग के ८,६४,००० वर्ष, त्रेतायुग के १२,९५,००० वर्ष और सतयुग के १७,२८,००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इसलिये हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि इस युग का अन्त महाभारत काल के प्रारम्भ के समय हुआ होगा, क्योंकि वैदिक युग के अन्त होने के पश्चात् ही महाभारत का समय प्रारम्भ होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी वैदिक युग के प्रारम्भ होने के समय के विषय में विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने लिखा है कि वैदिक काल ३,००० ई. पूर्व से पहले ही समाप्त हो गया। विंटरनिट्ज और अन्य परवर्ती विद्वानों के विचारानुसार इस युग को १,२०० से १००० ई.पू. के मध्य मानना चाहिये। मैक्समूलर ने इस काल को ऋग्वेद के उप निबन्धन का काल माना है, परन्तु बहुत से भाषा-शास्त्री यह मानते हैं कि ऋग्वेद और अवेस्ता की लिपि में सादृश्य है, जिससे यह सिद्ध होता है कि दोनों एक दूसरे के समकालीन हैं। इसलिये वे १००० ई.पू. ही मानते हैं। श्री जैकोबी के विचारानुसार वैदिक सभ्यता का प्रचार-प्रसार ४५०० से २५०० ई.पू. तक ही था और संहिताओं की रचना इस काल के उत्तरार्द्ध में हुई। श्री विंटरनिट्ज ने वैदिक युग की परिसमाप्ति ८०० ई. पू. माना है।

आयुर्वेदोत्पत्ति कालः-आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ब्रह्मा ने मानव-सृजन के पूर्व ही आयुर्वेद का सृजन किया। इस मत की पुष्टि प्राचीन आयुर्वेद के आचार्य द्वारा हो जाती है, जो इस प्रकार है-महर्षि सुश्रुत ने लिखा है

कि आयुर्वेद का सृजन ब्रह्मा ने समस्त प्राणियों के सृजन से पूर्व किया था, जिसमें एक लाख श्लोक थे और उसे एक हजार अध्यायों में विभक्त किया गया था[१]। महर्षि चरक ने लिखा है कि ऐसा कोई भी समय न था जबकि जीवन का अस्तित्व न रहा हो या बुद्धिमान मनुष्यों की सत्ता न रही हो। इसलिए ऐसे लोग सदा प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे, जो जीवन के विषय में ज्ञान रखते थे और सर्वदा ऐसी औषधियां विद्यमान थीं जो मानव शरीर पर आयुर्वेद में निरूपित सिद्धान्तों के अनुसार अपना कार्य करती थीं। कभी भी ऐसा नहीं था, जबकि आयुर्वेद की सृष्टि शून्य सी हुई हो, वल्कि आयुर्वेद का शाश्वत एक क्रम बना रहा[२]। "महर्षि कश्यप ने भी यह स्वीकार किया है कि आयुर्वेद का सृजन मानव सृजन से पूर्व ही ब्रह्मा ने किया था[३]।

वेदों में आयुर्वेद : वेदों के विषय में विद्वानों के प्रमुख दो मत मिलते हैं:-

प्रथम प्राचीन मीमांसकों का सिद्धान्त है कि वैदिक पद्धति में श्रवण-परम्परा द्वारा वर्तमान प्राचीन आचार्यों द्वारा भी कर्ता का ज्ञान न होने से "यो वै ब्रह्माणं विद्धाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इस श्वेताश्वनरोपनिषद् के वचन द्वारा पूर्व सिद्धेश्वर ज्ञानात्मक इस वेद के जगत् द्रष्टा के मन में प्रतिभा (Revelation) के रूप में उदित होने तथा ऋषियों के भी केवल मन्त्रद्रष्टा होने से, पद तथा पद के अर्थ में नित्य सम्वन्ध होने से, यह वेद अनादि तथा नित्य है। परन्तु इसके विपरीत तार्किकों (नैयायिकों) का सिद्धान्त है कि उस परमेश्वर से ऋक् साम और यजुष् के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलने से वेद रूपी शब्द के प्रत्येक उच्चारण की नई उत्पत्ति के कारण शब्दों के समुदाय रूप वेदों का भी यद्यपि नित्यत्व सम्भव नहीं है, अपितु वे सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा बनाकर उपदेश करने से पौरुषेय है, तथापि सभी दोषों से रहित परम आप्त परमात्मा की कृति रूप होने से इसे प्रामाणिक तो मानना ही चाहिये।

यह निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन ऋषियों द्वारा भी सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से ही वेद सम्मानित माना गया है। आज प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान् भी इसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। पुरातत्वानुसंधान की दृष्टि से वैदिक साहित्य की आलोचना करने वाले विद्वानों को यदि हम देखें तो किसी-किसी के मत में यह वारह हजार वर्ष पूर्व का है और किसी-किसी के विचार से यह चार हजार वर्ष पूर्व का है। इस प्रकार अपने-अपने विचारों के अनुसार बहुत से पक्ष हमें दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु

---

१. "इह खलु आयुर्वेदमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोक-शतसहस्त्रमध्यायसहस्त्रं च कृतवान् स्वयम्भूः। सु.सं. १/१/५

२. "ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
जग्राह निखिलेनाद् अश्विनी तु पुनस्तत।।" च.सं. १/१/४-५

३. "स्वयंब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुःप्रजानां परिपालनार्थं आयुर्वेदमेवाऽसृजत्।।" का. सं. वि. पृ. ६१

संसार में जितने भी प्राचीन साहित्य उपलब्ध हैं, उनमें सबसे प्राचीन वेद हैं, इसमें किसी का विरोध नही है। इस प्रकार इस वैदिक विज्ञान का तथा उसके अन्तर्गत आयुर्वेद विज्ञान का भी समय प्राचीन ही सिद्ध होता है। इस वैदिक विज्ञान रूप भण्डार में अन्य विज्ञानों की भांति आयुर्वेद विज्ञान भी बहुत प्रकार से ओत-प्रोत दिखलाई पड़ता है। इसका विस्तृत वर्णन ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व आदि में क्रमशः निम्न है :-

ऋग्वेद में आयुर्वेदः-यह वेदों में प्रथम वेद माना गया है। इसमें आयुर्वेद का सूत्र रूप में प्रचुर वर्णन मिलता है, जो निम्न है:-

(क) काय चिकित्सा

१. अश्विनीकुमारों द्वारा जल में डूबे रेभ को बाहर निकाल कर पुनः उसे स्वस्थ करना।
२. वन्दन को कैद से छुड़ा कर अश्विनीकुमारों द्वारा पुनर्युवा बनाना।
३. अन्तक को गढ़े से निकाल कर उसे स्वस्थ करना।
४. वज्रकुलोत्पन्न कक्षीवान को पुनर्युवा बनाना।
५. वृद्ध कलि को पुनर्युवा कर उसको सुन्दर स्त्री के योग्य बनाना।
६. वर्म ऋषि को मदात्यय से बचाना।
७. राजा पथर्व को शक्तिशाली और विजयी बनाना।
८. वृद्ध च्यवन को युवा तथा दीर्घायु बनाना।
९. वधिमती का वन्ध्यात्व दूर कर हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्रदान करना।
१०. जह्नु की प्रजा को शक्तिमान्, दीर्घायु तथा सन्ततिवान् बनाना।
११. राजा कक्षीवान की कन्या घोषा, जो कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर जर्जर एवं विकृतांगों वाली हो गयी थी, उसे स्वस्थ कर सुन्दर और रूपवती बनाना।
१२. श्राव का कुष्ठ दूर कर उसे पुनर्युवा बनाना।
१३. राजवान् को पुत्रवान् बनाना।
१४. उतथ्य के पुत्र दीर्घतमा के दौर्बल्य एवं अन्धत्व को दूर कर दीर्घायुष्य प्रदान करना।
१५. सहदेव के पुत्र सामक को दीर्घायु एवं स्वस्थ करना।
१६. भरद्वाज की रक्षा अश्विनी द्वारा किया जाना।
१७. वामदेव को माता के गर्भ से बाहर निकालना।
१८. बृहस्पति के पुत्र संधु की परिचर्या करना।
१९. चन्द्रमा को राजयक्ष्मा हो गया था, उसे चिकित्सा करके स्वस्थ एवं दीर्घायु बनाना।
२०. गर्भ का पोषण और गर्भ की रक्षा करना तथा कष्ट प्रसव को सुख पूर्वक प्रसव कराना।

(ख) शल्य चिकित्सा

अश्विनीकुमार काय चिकित्सा के अतिरिक्त शल्य चिकित्सा भी बहुत चमत्कारिक ढंग से करते थे। इनके द्वारा किये गये कुछ शल्य चिकित्सा के चमत्कार निम्न हैं:-

१. अश्विनीकुमारों ने अग्नि के कठिन अग्निदग्ध की चिकित्सा कर उन्हें पुनः युवा बनाया।
२. अन्धे कण्व को आंखें प्रदान कर पुनः ज्योति प्रदान की।
३. परावृक ऋषि अन्धे और लंगड़े हो गये थे, उनके रोगों का निवारण किया।
४. राजा रवेल की कन्या विशाला की टांग युद्ध में टूट गई थी, उसे लोहे की टांग लगाकर युद्ध के योग्य बनाया।
५. शम्वर के साथ युद्ध में अतिथिग्त, कशोजुव तथा महादिवोदास की रक्षा किया।
६. वेन के पुत्र पृथु घोड़े पर से गिर गया था, उसे वचाया।
७. युन्द्ध में शर्याति की रक्षा की गई।
८. युन्द्ध में कृशानु को वचाया।
६. दधीचि के शिर को हटाकर वहां घोड़े का शिर प्रत्यारोपित किया तथा पुनः उसे हटाकर उनका शिर जोड़ दिया।
१०. ऋजाश्व अन्धे हो गये थे, उन्हें आंखें प्रदान किया।
१२. श्याव घायल हो गया था, उसे ठीक कर दीर्घायु बनाया।
१३. सोमरि की युद्ध में रक्षा किया।
१४. शरीर के टूटे अंगों का संधान किया।
१५. ऋषि श्रोण के जानुसंधिगत दौर्वल्य का निवारण किया।
१६. कक्षीवान के अन्धत्व तथा वाधिर्य को दूर किया।
१७. यज्ञ के कटे शिर को पुनः जोड़ दिया।
१८. पूषन के टूटे दांतों को ठीक किया।
१६. भग के विदीर्ण नेत्रों को ठीक किया।
२०. इन्द्र को स्तम्भ रोग हो गया था, उसकी चिकित्सा करके ठीक किया।

अश्विनीकुमारों के उपुर्यक्त चमत्कार ऋग्वेद में उल्लिखित हैं। इन्हें "देवानां भिषजौ" कहा गया है। ये दैव चिकित्सक या दिव्य भिषक् थे। इतना ही नहीं, इन्हें दीर्घायुष्य, आरोग्यप्रद, वनस्पतियों प्रजा और समृद्धि प्रदायक भी कहा गया है। इन्होंने मधु विद्या तथा प्रवर्ग्य विद्या आथर्वण दधीचि से सीखा था। इन्हें मधु विद्या विशारद भी कहा गया है।

ये अंगप्रत्यारोपण तथा संजीवनी विद्या में भी कुशल थे। देवताओं और मानवों की चिकित्सा के अतिरिक्त पशु चिकित्सा भी दक्षतापूर्वक करते थे। इन्होंने वन्ध्यत्व दूर कर उसे ससन्तान किया और प्रभूत स्तन्य प्रदान किया।

अश्विनीकुमारों के अतिरिक्त इन्द्र के भी चिकित्सा-चमत्कारों का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। अपाला के चर्म रोग एवं उसके पिता के खालित्य रोग का निवारण, अन्धे परावृज को दृष्टि दान आदि। राजयक्ष्मा, ग्राहि पृष्ठ्यामय, हृद्रोग आदि रोगों के उल्लेख के साथ-साथ शरीर के अंगों का भी निर्देश किया गया है। इतना ही नहीं शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों में उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करने के लिये प्रार्थना की गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय लोगों को शरीर रचना विज्ञान तथा शारीर क्रिया विज्ञान का भी सम्यक् ज्ञान था। इतना ही नहीं प्रसूति सम्बन्धी ज्ञान भी विकसित हो चुका था।

ऋग्वेद में औषधि विज्ञान और द्रव्यगुण विज्ञान का विशद वर्णन किया गया है। इसमें स्वतन्त्र रूप से "ओषधिसूक्त" का वर्णन किया गया है, जिसमें औषधियों के स्वरूप, स्थान, वर्गीकरण, कर्मों एवं प्रयोगों का वर्णन विशद रूप से किया गया है। औषधियां लेने के पश्चात् अंग-अंग तथा पर्व-पर्व में फैलकर किस तरह कार्य करती है, इसका भी सम्यक् ज्ञान उस समय के चिकित्सकों को था।

आभ्यन्तर प्रयोगों के साथ-साथ औषधियों को मणिवत् धारण किया जाता था। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि उस समय औषधियों के प्रभावों का भी ज्ञान चिकित्सकों को हो चुका था। औषधियों के प्रयोग में युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय दोनों तथ्य संनिहित थे। भिषक् औषधियों का ज्ञाता होता था, जिसके द्वारा वह राक्षसों का नाश करता तथा रोगों का निवारण करता था। इसलिए वह रक्षोह-अमीव चातन दोनों कहा जाता था। रोगों के समवायिकारण (दोष) और निमित्त कारण (क्रिमि) तथा दोष प्रत्यनीक और व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा का सुस्पष्ट संकेत मिलता है। त्रिदोष विज्ञान वात-पित्त-कफ का भी स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक चिकित्सा, यथा सूर्यरश्मि-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, अग्नि चिकित्सा, वायु चिकित्सा और मन्त्र चिकित्सा आदि का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है[1]।

ऋग्वेद में वनस्पतियां :- ऋग्वेद में वनस्पति विज्ञान, औषधि विज्ञान एवं द्रव्यगुण-विज्ञान का विशद विवेचन किया गया है, जो निम्न हैः-

अक्ष, अलसी, अवघ्नती, अरदु, अश्वत्थ, अश्वावती, आञ्जन, आयसी, आलक, उत्तानपर्णा, उदोजस, उर्वारुक, उलप, ऊवैयन्ती, काकम्बी, किंशुक, कुपार, कथाम्बू,

1. आ.वै. इ., आ.वृ.इ., अ.चि.वि., ऋ १/११८/१०, १/११/१३, १/११६/७, १/१५८/४-६, १/११६/१५, १/११७/१६, १/११७/२४, १/११६/१२, १/११७/२२, १/११६/१६, १/११७/१७, १/११२/६, १/११३/१३, १/११३/२३, १/११७/७, १/११७/८, १/८६/४, का.स. उपो.

खादिर, घृताची, जलाज-भेषज, सेजन, त्रायमाणा, दर्भ, गूर्वा, नड, परायती, पर्ण, पाकदूर्वा, पाकवलि, पाठा, पिप्पली, पिषती, पुष्कर, बल्वाज, विभीतक, बिल्व, भंगा, मधुला, मुञ्च, यव, यदस, रोपणका, लाक्षा, लिक्षुजा, लोध, वंश, विश्वभेषज, वीरण, वेणु, वेतस, शर, शाल्मति, शाल्वलि, शात, शिशु, शिंशपा, शिलावी, शीतिका, शैपाल, सौर्य, क्षोम, सोमावती, स्पंदन, एताधचि, हिरण्यपर्ण, इलादिका आदि[1]।

यजुर्वेद

१. शुक्ल यजुर्वेद :- इस वेद के बारहवें अध्याय में औषधियों की प्रशस्ति का वर्णन किया गया है। औषधियों के रोग नाशकत्व, औषधियों को खोदने वाले तथा जिनके लिये औषधियां खोदी गई हैं, उन दोनों के लिए उपकारी होने के लिये प्रार्थना की गई हैं। औषधियों के द्वारा श्लेष्मा रोग, अर्श, बलास (कैंसर) श्वयथु, गण्डु, श्लीपद, यक्ष्मा, हृद्रोग, कुष्ठरोग, मुखपाक, क्षत, पाकारू, विषूचिका, अर्ग, चर्मरोग, अंगभेद, आदि रोगों को नष्ट किया जाता था। इसके अतिरिक्त अश्व एवं मानव के शरीरांगों का भी वर्णन मिलता है[2]।

तैत्तिरीय सहिताः- इस संहिता में भी रोगों एवं उसे नष्ट करने के लिये औषधियों का उल्लेख किया गया है। इसमें दृष्टिप्राप्ति, यक्ष्मा और उन्मादके निराकरण के लिये मन्त्र आये हैं। राजयक्ष्मा और जायान्य (फिरंग) आदि संक्रामक एवं मैथुनजन्य (V.D.) व्याधियों का भी वर्णन मिलता है। इतना ही नहीं आयुर्वेद के त्रिदोषवाद का भी सुस्पष्ट संकेत मिलता है[3]।

यजुर्वेद में वनस्पतियां एवं द्रव्यगुण विज्ञानः- इसमें वनस्पति-विज्ञान एवं द्रव्यगुण शास्त्र का सम्यक् विवेचन किया गया है, जो क्रमशः दिया जा रहा है :-

अपामार्ग, अर्क, अर्जुन, अलाबू, अवका, अश्वत्थ, अश्ववार, अश्वावती, आञ्जन, आम्ब, इक्षु, काष्मर्य, कुवल, कुषा, कृष्णाल, क्रमुक, खादिर, खर्जुर, खल्व, गर्भु, गवेधुका, गुग्गुल, गोधूम, धृताची, चणक, चतुष्कोण, वनस्पति, जम्बीर, तिल, तिल्वक, दर्भ, दूर्वा, नितन्नी, नीवार, न्यग्रोध, पर्ण, पीतुदारू, पुष्कर, पूतद्र, पूतीक, प्रियंग, प्लक्ष, वदर, बल्वज, विभीतक, विल्व, भूर्ज, मधुला, मध्वष्ठीला, मधुक, ममूर, माष, यव, यवस, यवाण, रोहितक, वंश, वरण, वर्षाह, विकगंद, वृष, वेणु; वेतस, ब्रीही, शर्मा, शर शाल्मलि, श्यामाक, साहमाना, सुगन्धि, तेजन, सोम, सोमावती, स्त्रेकपर्ण, हिरण्यपर्ण आदि[4]।

---

१. वै. प्ला., वा. सं.उपो., आ.वै. इ.

२. शु.य.-१२/७५/०६, १२/६०/१०१, १६/३१, ६/२०, ५/६/२५, १/६/२१, १०/१३/१०, ८/१०, आ. वै.इ., अ. चि. वि., का. सं.-८३ उपो.

३. तै.सं. - २/१/१, १/२/४, १४, १५, अ. वै.इ.अ.चि. वि. का. सं. उपो., १६/८५, २५/७

४. वै. प्ला., आ.वै.इ., अ.चि.वि., वै.को.का.स. "उपो.।

सामवेद में आयुर्वेदः ऋग्वेद की भांति सामवेद में भी आयुर्वेद सम्बन्धी मंत्रों का उल्लेख मिलता है। इसमें अधिकतर मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। इसमें जल, वायु अग्नि आदि द्वारा प्राकृतिक चिकित्सा, यक्षा, जल-चिकित्सा, वायु-चिकित्सा, अग्नि चिकित्सा आदि करने का निर्देश किया गया है। इतना ही नहीं उस समय के चिकित्सकों को सूर्यरश्मि चिकित्सा तथा औषधियों द्वारा औषधि चिकित्सा का भी सम्यक ज्ञान था[१]।

अथर्ववेद में आयुर्वेदः-यह चतुर्थ वेद का अन्तिम वेद माना गया है। इस समय तक आयुर्वेद का पूर्ण विकास हो चुका था। इसलिए आचार्यों ने इसे आयुर्वेद का उपांग[२], उपवेद[३] आदि नामों से सम्बोधित किया है। इस वेद को ब्रह्मवेद नाम से भी जाना जाता था[४]। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि इस वेद की रचना प्राचीनतम ऋग्वैदिक रचनाओं के भी बाद हुई, क्योंकि सम्भवतः भारत के इतिहास में कभी भी ऐसा समय नहीं आया, जब लोगों ने व्याधियों का उपचार करने या विपत्तियों को दूर करने और शत्रुओं को क्लेश पहुंचाने के लिए जादू-टोने का आश्रय नहीं लिया हो। स्वयं ऋग्वेद को भी अधिकांश में ऐसी आभिचारिक क्रियाओं का एक विशिष्ट विकसित रूप माना जा सकता है। मनुष्यों के मस्तिष्क पर आथवर्ण जादुओं का आधिपत्य सम्भवतः अत्यन्त शक्तिशाली था, क्योंकि वे उन्हें अपने सारे दैनिक कृत्यों में प्रयोग करते थे। आज भी इस ऋग्वेदीय यक्ष, अत्यन्त विरल हो गये हैं, आथर्वण जादू-टोने और उनसे प्रादुर्भूत अपेक्षाकृत परवर्तीकाल के तान्त्रिक जादू-टोनों का प्रयोग हिन्दुओं के समस्त वर्गों में बहुत सामान्य है। पुजारी वर्ग की आय का एक बहुत बड़ा भाग पुरानी एवं गम्भीर बीमारियों की चिकित्सा करने, कष्ट निवारण करने, परिवार में पुत्र प्राप्ति आदि के लिए किये गये स्वस्तययनों, प्रायश्चितों और होम से प्राप्त होता है। रक्षा-कवच का भी प्रयोग लगभग उतने ही मुक्त रूप से हो रहा है, जितना कि तीन या चार हजार वर्ष पहले होता था और सर्प के मन्त्र और कुत्ते आदि काटने के मन्त्र आज भी ऐसी बातें हैं, जिनका विरोध करना चिकित्सकों को कठिन प्रतीत होता है। जादू-टोने की अदृश्य शक्तियों में विश्वास सामान्य हिन्दू गृहस्थ में प्रायः धर्म का स्थान लेता है। अतः यह मान लिया जा सकता है कि जब अधिकांश ऋग्वेदीय ऋचाओं की रचना भी नहीं हुई थी, उस समय आर्थवण मन्त्रों की अच्छी खासी संख्या प्रचलित थी। पूर्वजन्म कृत पापों के फलस्वरूप असाध्य विभिन्न व्याधियों का उपचार प्राप्त करना, सम्पूर्ण रोगों एवं सामान्य ज्वर, हैजा, एवं प्रमेह की चिकित्सा करना, शस्त्राघातजनित घावों से रूधिर प्रवाह रोकना, अपस्मारजन्य मूर्च्छा और भूत पिशाच,

---

१. आ.वै.इ., का.सं. "उपो." अ.चि.वि., सा. वै.
२. सु. सं. १/१/५
३. अ.सं. १/१/८
४. वृ. आ. २/४/१० गो. ब्रा. २/१८

ब्रह्मराक्षस इत्यादि दुष्टात्माओं के वशीभूत होने से रोकना, वात-पित्त-कफ, हृद्रोग, पाण्डुरोग, श्वेत-कुण्ठ विभिन्न प्रकार के ज्वर, जलोदर, राजयक्ष्मा, अज्ञान-यक्ष्मा, धनुर्वात, फिरंग, कैंसर आदि रोगों की चिकित्सा करना, गायों और घोड़ों की चिकित्सा करना, सभी विषों की शान्ति, मस्तक, नेत्र कर्ण, जिह्वा, ग्रीवा के रोगों और ग्रीवा प्रदाह की औषधियों की कल्पना करना, ब्राह्मण के शाप के दुष्प्रभावों का निवारण करना, पुत्र प्राप्ति सुख प्रसूति और भ्रूण के कल्याणार्थ स्त्री संस्कारों की व्यवस्था करना, समृद्धि प्राप्त करना, दीर्घायुष्य की प्राप्ति, यक्ष-राक्षस आदि के आविर्भाव आदि विपदाओं से रक्षा करना। चारण वैद्य शाखा की विद्यमानता हमें उसकी विशिष्ट शाखा को प्रदर्शित करती है। जिससे उस आत्रेय चरक शाखा का प्राचीन "आयुर्वेद" निर्मित था, जिसने अथर्ववेद का आयुर्वेद से एकात्मकता स्थापित की थी[1]। इस वेद के अन्तर्गत अष्टांग आयुर्वेद का सम्यक् विवेचन दिया गया है, जो क्रमशः आगे दिया जा रहा है :-

प्रथम खण्ड मौलिक सिद्धान्त खण्ड है। इसे पांच अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अथर्ववेद और आयुर्वेद का सम्बन्ध, अष्टांगायुर्वेद, मणि शब्द का विवेचन रोग, यक्ष्म, भेषज या भैषज्य भिषक और भैषज्य कल्पना, सद्वृत्त, दीर्घायुष्य, स्वस्थवृत्त, रोगी-परिचर्या, आतुरालय आदि[2]।

द्वितीय अध्याय शारीर रचना विज्ञान है। इसमें शरीरोत्पत्ति, शरीर का आधार स्तम्भ, शरीरावयव, भितियाँ वित्ति, अस्थि संख्या, सप्तधातुओं आदि का विवेचन किया गया है[3]।

तृतीय अध्याय में शरीर-क्रिया-विज्ञान का वर्णन किया गया है इसके अन्तर्गत जीव का स्वरूप, त्रिदोष और त्रिधातु, पंच प्राण, (प्राण वायु, अपान वायु, व्यान वायु, समान वायु और उदान वायु आदि) जाठराग्नि, शरीर की नाडियां, रक्तसंचार, शरीर की चेष्टायें और अन्तःकरण का धर्म, गर्भाधान, वीर्यपुष्टि, पुंसवन-संस्कार, सुख-प्रसूति आदि विषयों पर युक्ति-युक्त विवेचन किया गया है[4]।

चतुर्थ अध्याय में भेषज-वर्गीकरण का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत वैदिक काल की प्रयोगशाला, वनस्पतियों का वर्गीकरण, वनस्पति, वानस्पत्य, ओषधि, वीरूध, वनस्पतियों का नामकरण, स्वरूप वाचक, अवयव-वाचक, उद्भव-वाचक, गुणवाचक, कर्मवाचक, प्रशस्तिवाचक, वनस्पति के अवयव, वनस्पतियों का उद्भव एवं विकास, वनस्पतियों का उपयोग औषधीय प्रयोग, चार प्रकार की औषधियां आथर्वणी आंगिरसी, दैवी और मनुष्यजा आदि का वर्णन किया गया है[5]।

---

१. अ.चि. वि. पृष्ठ १-१२
२. अ. चि. वि. पृ. ३-३८
३. अ. चि.वि. ३९-५१
४. अ.चि.वि. पृ. ५२-६८
५. अ.चि.वि. पृ. ६९-६८

पञ्चम अध्याय में रोगों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत रोगोत्पत्ति के कारण, देवकोप जन्य रोगोत्पत्ति, आनुवंशिक रोग, संक्रमणशील व्याधि, ऋतु परिवर्तन से रोगोत्पत्ति, जनपदोध्वंस रोग, रोगोत्पादक कृमियों के नाम, राक्षस, पिशाच, यातुधान, वासु, असुर, किमीदी, गन्धर्व, अप्सरा, कृत्या, कृत्या का सामान्य स्वरूप एवं विशेष स्वरूप तथा उसके आधार, प्रयोग स्थान एवं उसका प्रत्यावर्तन करना, अभिचार, अरिष्ट विज्ञान आदि विषयों का उल्लेख किया गया है[1]।

द्वितीय खण्ड भेषज खण्ड नाम से लिखा गया है। इसे पांच अध्यायों में विभक्त किया गया है। जिसमें पहला अध्याय अक्षाघ नाम से है। इसमें एक सौ खण्ड वनस्पतियों के गुण-धर्म एवं प्रयोगों का वर्णन किया गया है[2]। इन औषधि द्रव्यों का नाम क्रमशः दिया जा रहा है।

अक्ष, अघ दिष्टा, अजश्रुगी, अंग, अजिर, अतसी, अतिविश्भेषजी, अतिवला, अदृष्टदहनी, अपराजिता, अन्धपुष्पिका, अपस्कम्भ, अपामार्ग, अपाष्ठ, अभिरोरूद, अभिवर्त, अभिजाता, अभया, अमुत, अमूला, अग्नि, अयस्, अरटु, अराटकी, अरून्धती, अश्वत्थ, अश्वतार, अश्वावती, असिक्नी, अस्वृत, आयाट, आञ्जन, आण्हीक, आल (कऋ, आवय (यू), आसुरी, अस्रात भेषज, इट, इन्द्र, इन्द्राणी, इषीका, ईर्ष्याभेषज, उग्रोषधि उच्छृखला, उत्तानपर्णा, उक्सक्भेषज, उदुम्बर, उपजीका, उदोजत, उन्यन्ती, उर्वारूक, उर्वारू, उलप, उशीर, ऊर्ववन्ती, एला, ऋतजातता, ऋत्तावरी, ऋषन, एनी, कटन्जु, औक्ष, औक्षमन्थि, कुकुन, ककांगतदन्ती, कनक्नक, कन्या, कपित्थक, कब्रू, कमल, कम्बला, कम्बू, करम्भ, कर्करश, कर्कन्धु, कल्याणी, कर्करी (कर्करिका), दर्शक, कल्मलि, कवल, कान्दाविष, काम्पील, किलासनाशन, किलासभेषज, कुन्द, कुमारिका कुमुद, कुवल, कृष्ठ, कूदी, कृतव्यधनी, कृमुक, कुलत्थ, कृष्णा, केशवृंहणी, केशवर्धनी, केशी इत्यादि[3]।

द्वितीय अध्याय कोशविलाय नाम से है, इसके अन्तर्गत निम्न द्रव्यों का वर्णन किया गया है :-

कोशविला, कोल, क्याम्बू, क्रकोष्मा, क्रमुल, कवल, क्लीतकरणी, क्षिप्त भेषजी, क्षुम्पा, क्षेत्रियनाशिनी, खदिर, खल्व, गुग्गुलु (गुल्गुलु), गन्धारि, गुडूची, गोधूम, घृताची, चणक, चतुरंगल, चिति (त्ति), चीप्रद्रु, (शीपुद्र), चेतन्ती, च्युकाकणी, जलाषभेषज, माल्य, जीवन्त, जीवन्ती, जीवला, तरुणक, तारका, तला (ल) शा (श), तस्तुव, ताजद्मंङ, ताष्ठुव, तार्ष्टाष तिल, तिलपिञ्जी, तीक्ष्णवल्श, तिलक, तीक्ष्णश्रृंगी, तुलसी, तृष्टा (ष्टिका), तृष्टाव (घ्न)

---

१. अ.चि.वि. पृ. ६६-११६

२. अ.चि.वि. पृ. ११६

३. अ.चि.वि. पृ. ११६-२१५

वेजन, तौदी, तौवीलिका, त्रपृ, त्रायमाणा, त्रिवृत (त्रिवृता) त्रुटि, दण्डन, दर्भ, भूरिभूल, दशतृक्ष, दासी, दारूपत्रा, दिप्तौषधि, दुश्च्यवन, दूर्वा, देवमुनि, (मुनिदेव) देवी, द्रुधण (द्रुष्टनी), धन्वन, धन, नधरिषा, नड (ल), नमः नक्तंजाता, नध नधमार, नधरिष, नराचि (च) नरिष्टा, नसद, नसदी, नागकेशर, नानारमेगभेषज, नितत्नी नीलागलसाला, नीली, नीलोत्पल, नीविभार्य, न्यग्रोध, न्यास्तिका, पर्यन्त, परुषवार, परुषाह, पर्ण, पर्णाधि, पर्णा, पला, पलाश, पाकदूर्वा, पाडा, पिंड, पिप्पली, पीता, पीलु, पीलुमति, पुण्डरीक, पुनर्नवा, पुन्नाग, पुरुषभेषज, पुष्कर, पुष्कला, पुष्पा आदि[1]।

तृतीय अध्याय पुतद्रु आदि नाम से लिखा गया है जिसके अन्तर्गत निम्न औषधि द्रव्यों का उल्लेख है :-

पुतद्रु, पूतिरज्जु, पृश्निपर्णी, पृषातक, पैद्व, प्रतिसर, प्रतिचीनफल, प्रवन्धिनी, प्रमन्द (नि), प्रक्नी (भ्रक्री) प्रेणी, प्लक्ष, फालमणि, वज, वभ्रु, वला, वलासनाशिनी, बलासभेषज, वल्वज, वाण (णा), पर्णी वाहिल्का, वि वि भीद (त) ल, ब्राह्मी, विस्व (वी) बिल्व, हिस, भंग, भगवती, भद्र (द्रा), भू, भृंगराज, मण्डूकी, मदावती, महुव, मधुक, मधुवाता, मधुगुत, मधुमती, मधु, मधुला, मधुलक, मधू, मशकवम्भनी, मगध, महावृक्ष, मातृनाम्नी (ना) औषधि, माष, माषपर्णी, मित्र, मुच्चु, मुज्जवान, मुलाली, यक्ष्मनाशिनी, यव, यवपलाली, रजत, रजनी, रथवन्धुर रामा, पोषणका, रोहिणी, रोहितक, लवण, लक्ष्मणा, लाक्षा, लाडली, लिबुजा, लोहितवृक्ष, वचा आदि[2]।

चतुर्थ अध्याय वटाध नाम से लिखा गया है। जिसके अन्तर्गत निम्न औषधि द्रव्यों का उल्लेख है :-

वट, वधक, वन्दना, वंश, वरण, वरणावती, वात, वातीकृत भेषजी, वातीकृतनाशिनी, व्रस्मणा (व्रह्म), वालदुच्छ, वकृ, विक (तिका), वितन्त्री, दिवाध, विशक, विश्वभेषज (जी), विश्लिष्टभेषज, विश्वरूपा, विजदूषण (णी) विक्षा, विषा, विषाणका, विषाण (णा) विषातकी, विष्कन्धदूषण, विडल्ड, विहंगल, वीर (रि) ण, वीरोदीत, वृश्चिक, जम्मन, वृष (षा) तृष्ण्यावती, वेणु, वेणुदार्भूष वेतल, वैकवृण, वेष्ठन, व्यतकशा, व्याधी, व्यालक, शङ्ख, शङ्खपुष्पी, क्षण, शतकाण्ड, शतपर्वा, शतवार, शतशाख, क्षफल, शमल (का) शर्मा, शांप (पा), शर, शलाञ्जाला, शाण्डदूर्वा, शाडूक, शिखण्डी, शूद्रा, शेपहर्षणी, शैव (वा) त, श्येनी इत्यादि[3]।

---

१. अ.चि.वि. पृ. २१६-२६७
२. अ.चि.वि. पृ. २६८-३४८
३. अ.चि.वि. पृ. ३४६-३८

पञ्चम अध्याय शैवालाय नाम से उल्लिखित है। इसके अन्तर्गत निम्न औषधि द्रव्यों का वर्णन किया गया है :-

शैवा, शोचि, श्यामा, श्यामाल, श्वेत(ता), सचीन, सर्वपूष्पा मर्कफल, समक्तभेषज, समुप्पला, संवननी, संस्कन्दा, सरूपंकरणी, सह (हा), सहदेवी, सहमाना (न), सहस्रकाण्ड, सहरत्रचक्षु, सहस्त्रपर्ण, सहस्त्रपर्णी, सहस्वती, साल, सिंही, सुभगा, सीसम, सुभंगकरिर्णा, सोम, सोमावती, स्त्राक्त्य, स्वधा, हरितभेषज, हारव्रत, हिरण्य, हिरण्यपुष्पी, हदिका, हरिद्रा आदि।

तृतीय खण्ड रोगविनिश्चय खण्ड है। इसमें रोगों के निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशम एवं सम्प्राप्ति आदि विषयों पर विचार किया गया है। इसे सोलह अध्यायों में विभक्त किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रोगों का निदान लिखा गया है, जो निम्न है :-

ज्वर रोग, विजू (सू) चिका, दुर्णाम (अर्श) राजयक्ष्मा, स्वप्नदोष, उन्माद, जावान्य (फिरंग) वलास (कैंसर) विशल्पक (विसर्प) अपची, शल्य, आघातजन्यरोग, क्षिप्तरोग (धनुर्वात) क्षेत्रीय रोग, किलास एवं पलितरोग, शिर रोग, अलजी आदि[1]।

चतुर्थ खण्ड प्राकृतिक चिकित्सा का है। इसके अन्तर्गत प्राकृतिक चिकित्सा विधियों का वर्णन किया गया है, जो निम्न है :-

हस्तस्पर्श चिकित्सा, सूर्यरश्मि चिकित्सा, वायु-चिकित्सा, अग्नि-चिकित्सा, जलोपचार, मन्त्र चिकित्सा, हवनोपचार, आश्वासन एवं उपचार चिकित्सा आदि प्रमुख चिकित्सा विधियां हैं[2]।

पञ्चम खण्ड रोगोपचार नामक है। इसे छः अध्यायों मं विभक्त किया गया है। इसमें प्रथम अध्याय मद चिकित्सा नाम से लिखा गया है। जिसके अन्तर्गत रोगों की चिकित्सा निर्दिष्ट की गई है :-

तक्मन् (ज्वर रोग) चिकित्सा, विशर रोग, विसू (सूचिका, दुर्णाम (अर्श) तीक्ष्णाग्नि रोग (भस्मक रोग), क्षुधागार (मन्दाग्नि), राजयक्ष्मा रोग, अज्ञातयक्ष्मा, जन्य रोग (फिरंग) जम्भ रोग, तृष्णारोग, हरिमाया हरिमन रोग, बलास (कैंसर) रोग, कास-रोग, विसल्पक रोग, हृदयामव, हृद्योतरोग, अपची रोग, सद्योव्रण या आशुपात रोग, व्रणपाक, अप्वारोग (जलोदर) अश्मरी, मूत्रावात, आशरीक, रूधिरस्राव, अरुरव्राव (व्रणव्राव) अस्रादरोग, वितोहिन रोग, अभिघात व्रण, क्षिप्त रोग (धनुर्वात) अनपत्यता, अगोतारोग, अक्षयराघव (शीघ्रपतन) अस्थि भंग, अहिरोग, वृष्किा, उदरदार, केशवर्धन, केशबृंहण, महुन्तरोग, ग्लौरोग, पामन रोग, किलास एवं पालित रोग, पाद रोग, पृष्ठवामय रोग, मूढ़ गर्भ,

१. अ.चि.वि. पृ. ४१८-४६३
२. अ.चि.वि. पृ. ४६७-४८१

वन्ध्याकरण चिकित्सा, संक्रामक रोग, शीर्षामय, शीर्षक्ति, क्षेत्रीयरोग, व्राहि रोग, कुनख, आदि रोगों का औषधि चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा, मन्त्र चिकित्सा और शल्य चिकित्सा, विधियों द्वारा चिकित्सा करने का विधान निर्दिष्ट है[१]।

द्वितीय अध्याय में मानस रोग चिकित्सा का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत मनोव्याधियों से पीड़ित व्यक्तियों की चिकित्सा करने की विधियों का निर्देश है यथा- क्रोध, मोह, शोक, ईर्ष्या द्वेष दुःस्वप्न उन्माद आदि।[२]

तृतीय ध्याय में कृमिजन्य व्याधियों की चिकित्सा वतलायी गई है[३]।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत रसायन एवं वाजीकरण चिकित्सा का निर्देश किया गया है[४]।

पञ्चम अध्याय में विष चिकित्सा का उल्लेख किया गया है। इसमें स्थावर जंगम और गर आदि विषों का लक्षण एवं उसे दूर करने के उपायों का निर्देश किया गया है[५]।

षष्ठ अध्याय में पशु रोग एवं उसकी चिकित्सा का उल्लेख किया गया है[६]।

सप्तम अध्याय में यक्ष्मारोग का निदान, लक्षण एवं नष्ट करने के उपायों का उल्लेख है[७]।

अन्तिम खण्ड "परिशिष्ट खण्ड" है। इसके अन्तर्गत अर्थवेद में निर्दिष्ट विविध विषयों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है जो क्रमशः दिया जा रहा है :-

आहार-विहार एवं पंच वैदिक भिषक्, तीन प्रकार के भिषक्-१. प्राकृतिक भिषक् २. दैव भिषक्, मानुप भिषक्। प्राकृतिक भिषक् के अन्तर्गत अग्नि, मेष, मरूत और जल आदि आते हैं। दैव भिषक् के अन्तर्गत ब्रह्मा, रूद्र, वरुण, इन्द्र, वृहस्पति, अश्विनीकुमार सरस्वती आदि हैं। मानुष भिषक् (मानव चिकित्सक) मानव कृत औषधियों एवं अन्य उपायों से चिकित्सा करता है। इस वेद में दो प्रकार की शाखाओं का वर्णन मिलता है :- १. स्थिर शाखायें और २. चल शाखायें। इन शाखाओं को किस स्थान पर वनाना चाहिये, वताते समय किस चीज का विशेष ध्यान रखना चाहिये, आकृति किस प्रकार होनी चाहिये और इनके महत्व आदि विषयों पर विचार कियां गया है। इतना ही नहीं आतुरालय कैसा होना चाहिये और उसके अन्तर्गत किन-किन चीजों की व्यवस्था करनी चाहिये। उस समय एक

---

१. अ.चि.वि. पृ. ५१५-५६
२. अ.चि.वि. पृ. ५६०-६२
३. अ.चि.वि. पृ. ५६३-६६
४. अ.चि.वि. पृ. ५६७-५७६
५. अ.चि.वि. पृ. ५७१-५८५
६. अ.चि.वि. पृ. ५८६-५६२
७. अ.चि.वि. पृ. ५६३-५६४

यामिनी-नियमिका सभा) होती थी, जो पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सालयों का नियन्त्रण करती थी। आधुनिक युग में स्वास्थ्य निदेशालय वैदिक यामिनी का सुपरिष्कृत स्वरूप है[1]।

उपसंहारः-वेदों का पाश्चात्य जगत एवं भारत में अपूर्व सम्मान है। इसमें सभी विद्याओं का समावेश है। यथा-ज्योतिष, साहित्य, व्याकरण, छन्द और आयुर्वेद आदि। इन्हें ज्ञान-विज्ञान का निधान कहा गया है। आरम्भिक आयुर्विद्या की स्रोतस्विनी यहीं से प्रवाहित हुई थी। महर्षि भरद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ, धन्वन्तरि आदि चिकित्सा विज्ञान के शाखाओं ने यहीं से शिक्षा लेकर बड़ी से बड़ी संहिताओं का निर्माण किया था। सहस्त्रों की संख्या में चिकित्सा की संहितायें पाई जाती हैं, जो इसमें क्या ज्ञान है, उसी का विकसित रूप है। महर्षि आत्रेय, अग्निवेश, धन्वन्तरि काश्यप आदिप्रतिपादित संहिताओं में जो संस्कृत संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें वहीं उल्लेख मिलता है कि यह अथर्ववेद और ऋग्वेद की उपलब्धि है। इस प्रकार हम निःसंकोच भाव से यह कह सकते हैं कि वैदिक युग में चिकित्सा विज्ञान आधुनिक युग के चिकित्सा विज्ञान से कहीं अधिक विकसित था।

इस प्रकार वैदिक युग को चिकित्सा विज्ञान का स्वर्ण युग यदि कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।।। इति।।

संकेतिक ग्रन्थानुक्रमणिका

अ.चि.वि. = अथर्व चिकित्सा विज्ञान
आ. वृ. इ. = आयुर्वेद का बृहत् इतिहास
आ.वै. इ. = आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास
अ.वे. = अथर्ववेद संहिता
ऋ. = ऋग्वेद संहिता
का.सं. उपो. = काश्यप संहिता "उपोद्घात"
च.सं. = चरक संहिता
य.वे.सं. = यजुर्वेद संहिता
वे.आ. = वेदों में आयुर्वेद
सुं. सं. = सुश्रुत संहिता
सा. वे. = सामवेद संहिता

१. अथर्व चिकित्सा विज्ञान = डा. हीरा लाल विश्वकर्मा, चौखम्भा, वाराणसी
२. आयुर्वेद का बृहत् इतिहास = अत्रिदेव विद्यालंकार, लखनऊ १९६०

---

१. अ.चि.वि. पृ. ५६५-६०७, विस्तृत अध्ययन के लिए डा. हीरालाल विश्वकर्मा कृत "अथर्व चिकित्सा विज्ञान एवं दिव्योपधि सोम" देखें

३. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास = आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखम्भा, वाराणसी - १६७५
४. काश्यप संहिता = काश्यप चौखम्भा, वाराणसी १६५३
५. सुश्रुत संहिता = सुश्रुत चौखम्भा, वाराणसी
६. चरक संहिता = चरक चौखम्भा, वाराणसी
७. वेदों में आयुर्वेद = वैद्य राम गोपाल शास्त्री, दिल्ली-१६५६
८. वैदिक प्लान्ट = जी.पी. मजुमदार, वी.नि.ता.भा। पृ. ६४५-५६ सन् १६०४
६. ऋग्वेद संहिता = भा. १-५, पूना - १६३३-५१
१०. अथर्ववेद संहिता = १-४, होशियारपुर १६६०-६२
११. यजुर्वेद संहिता = हिन्दी टीका, सातवलेकर
१२. सामवेद संहिता = वही. वही.
१३. दिव्योषधि - सोम = डा. हीरालाल विश्वकर्मा

तृतीय अध्याय
वैदिक वाङ्मय में आयुर्वेद

वेद परमेश्वर के निश्वसित रूप हैं, जिनको जनकल्याणार्थ परमात्मा ने प्रकाशित किया। इसी कारण वेद का त्रिकालज्ञत्व सर्वज्ञत्व, नित्यत्व; अनादित्व है।

ऋषियों ने अपने तपोबल से उनका साक्षात्कार किया तथा मुनियों ने मनन किया।

वेद की अपौरुषेयता

आचार्य शंकरकृत वेदान्त-दर्शन सूत्र ३ की व्याख्या में निर्दिष्ट "महतः ऋग्वेदादे, शास्त्रस्य अनेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्था वद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं व्रह्म। नहिईदृशस्ये" ऋग्वेद आदि लक्षणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यत सम्भवोऽस्ति। अर्थात् महान् ऋग्वेदादि शास्त्र, जो अनेक विद्या, विज्ञानादि से ओत-प्रोत है, जो समस्त अर्थों को प्रदीप के तुल्य प्रकाशित करता है। सर्वज्ञ के तुल्य है; उस सवका मूलभूत कारण व्रह्म ही है। ऐसे ज्ञानभंडार ऋग्वेदादि स्वरूप का प्रकाशन सर्वज्ञ पर व्रह्म से अतिरिक्त नहीं हो सकता। अन्यच्च तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानिजज्ञिरे।

छन्दांसिजज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। ऋग्वेद (१०/९०/९) यजु (३१/७) अथर्व (१९/६/१३) ते.आ. (३/१२/४) तथा च "सतपोऽतप्यत तस्मात्तपस्तेपनात् त्रयोवेदा अजायन्त।। शत. व्रा. ११/५/-८/३.

"अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" वृ.आ. २/४/१० पुनः यजु ३१/१८ "वेदाहमेतंपुरुषं महान्तम्"

इस प्रकार वेद का अपौरुषेयत्व निर्विवाद सिद्ध है।

वेद की रचना

ईश्वरीय रचना, नामात्मक तथा रूपात्मक है। "सनामरूपेव्याकरोत्" विश्व की रचना दो वर्गों में वर्णित है। "नाम"-वेदराशि शब्दात्मक "रूपं" अन्य समस्त विश्ववस्त्वात्मक अर्थ जगत्। एक पद, दूसरा अर्थ; यही अखिल विश्व है। वेद केवल शब्दराशि की नहीं है, अपितु-उस विशिष्ट आनुपूर्वीयुक्त शब्द समूह से जो अन्तर्हित ज्ञान अभिव्यक्त होता है, वेद का वास्तविक यही स्वरूप है। यही ईश्वरीय नित्य ज्ञान, ईश्वरीय प्रेरणा से अभिव्यंजक नित्य शब्दब्रह्म स्वरूप है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जो किन्हीं नियत शब्दों द्वारा नियतकाल में भगवान की प्रेरणा से जीवात्माओं के सतत कल्याणार्थ अभिव्यक्त होता है।

वेदराशि अनन्त है "अनन्ता वै वेदाः" ऐसी श्रुति है। यह वेदराशि पूर्व (प्रारम्भ) काल में एक ही थी। भगवान वेदव्यास जी ने प्राणियों की मन्दमति का अनुभव कर, उस पूर्ण वेदराशि को ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के रूप में चतुर्धा विभक्त किया है।

जिसको सर्वप्रथम क्रमशः (१) पैल (२) वैशम्पायन (३) जैमिनि और (४) सुमन्तु ने ग्रहण किया। इसीसे (वेदानविन्यास) वेद व्यास जी कहलाये। "चत्वारोवा इमेवेदा, ऋग्वेदो, यजुर्वेद, सामवेदो, ब्रह्मवेद।" ये वेद विभाग संहिता शब्द से ख्यात हैं। इस संहिता का प्रचलन त्रेतायुग में हुआ। "ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति" महा.शा.प. १३०८ श्लो. गो. ग्रा. २/१६ ऋग्वेद पठनकाल में पैल के वाष्कल और शाकल दो शिष्य थे। जिन्होंने यथाक्रम रववेद को चार, पांच भागों में विभक्त किया। गृहीत यजुर्वेद को वैशम्पायन जी ने अनेक शिष्यों को पढ़ाया; जिनमें एक याज्ञवल्क्य भी थे। किसी प्रकार गुरु-शिष्य विवाद के कारण याज्ञवल्क्यजी ने पढ़े हुए वेद का परित्याग कर दिया। उस समय वैशम्पायन जी एक अन्य शिष्यों ने तित्तिर (पक्षि) रूप धारण कर उसे धारण किया। यह वेदभाग कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता हुई। याज्ञवल्क्य जी ने सूर्योपदेश से वेद का अधिग्रहण किया वह शुक्लयजुर्वेद नाम से ख्यात है। जैमिनि गृहीत सामवेद पाठनान्त सहस्र नाम से विभक्त हुआ। उनमें पौष्य जी प्रभृति सहस्त्रों शिष्य हुए। वे औदीच्या कहलाए। गृहीत अथर्ववेद को सुमन्तु ने कवन्ध को उपदिष्ट किया। उनके वेददर्श और पत्य दो शिष्य हुए। उपर्युक्त वेद की चारों शाखाएं वेदत्रयी पद या त्रयी पद से वर्णित हैं। इन वेदों का यज्ञार्थ कर्म में साक्षात्संवन्ध है। ये चारों वेदभाग ही मंत्रसंहिता रूप हैं। वस्तुतः वेदराशि मंत्र ब्राह्मणात्मक "वेदनामधेय" है। महर्षि पतञ्जलि के मत से एक शतमध्वर्युशाखा सहस्त्रवर्त्मासामवेदः एक विंशतिधा ऋग्वेद; नवधा आथर्वणोवेदः। ऋक् की २१ शाखाओं में से एक शाकल शाखा ही उपलब्ध है। यही ऋग्वेद के रूप में परिगणित है। यह १० मण्डल १०२८ सूक्तों में वर्णित है।

यजुर्वेद की १०१ शाखायें हैं। चरण व्यूह ग्रंथ में केवल ८६ का ही उल्लेख है। इसकी आजकल ६ शाखा ही उपलब्ध हैं। यजुर्वेद के शुक्ल कृष्ण दो भेद हैं। कृष्णयजुर्वेद की काठक संहिता; कापिष्ठल संहिता; मैत्रायणी तथा तैत्तिरीय संहिता ये ४ प्राप्य हैं। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनी संहिता, काण्वसंहिता ये दो उपलब्ध हैं। यज्ञ प्रक्रिया प्रतिपादन परक गद्यरूप वेदभाग यजुर्वेद में है। कृष्ण यजुर्वेद में तैत्तिरीय संहिता में अग्न्याधान प्रभृति; अग्निष्टोम; वाजपेयादि विविध यज्ञों की प्रक्रियायें हैं। ये सभी असाधारण ज्ञान कौशलपूर्ण हैं। जो साङ्गोपाङ्ग विस्तारपूर्ण पठन-पाठन से विस्मय में डाल देने वाली हैं।

शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा के ४० अध्याय हैं। इनके प्रथम २५ अध्यायों में महत्वपूर्ण यज्ञ विधियां हैं, २६ से ३५ तक अखिल संज्ञक हैं जिनको पूर्णकाध्याय प्राचीन परम्परा में कहा है। ३६ से ३९ में प्रवर्ग्य भाग हैं। ४०वां ईशोपनिषद हैं। इन दोनों संहिताओं में कर्म और ज्ञान दोनों ही का विवरण है। यज्ञ-प्रसंग में अध्वर्यु यजुर्वेद का ही उपयुक्त माना गया। सामवेद की १००० शाखाओं में से एक ही शाखा है। उसके २ भाग हैं। (१) आर्चिक (२) उत्तरार्चिक। दोनों में ऋग्वेद की ही ऋचायें हैं। ऋक् संख्या १८०० में से १५४९ ऋग्वेद में से हैं।

वेद और आयुर्वेद

वेद विश्व-संस्कृति के आधार-स्तम्भ है। आदिकाल से ही वेद मानवजाति के लिए प्रकाश-स्तम्भ रहे हैं। वेदों में ज्ञान और विज्ञान का अनन्त भण्डार विद्यमान है। अतएव मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है, अर्थात् वेंदों में सभी प्रकार का ज्ञान और विज्ञान निहित है।[1] आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चारों वेदों में आयुर्वेद के विभिन्न अंगों और उपांगों का यथास्थान विशद वर्णन हुआ है।

ऋग्वेद और आयुर्वेद-ऋग्वेद में आयुर्वेद के महत्वपूर्ण तथ्यों का यथास्थान विवेचन प्राप्त होता है। इसमें आयुर्वेद का उद्देश्य वैद्य के गुण-कर्म, विविध औषधियों के लाभ आदि, शरीर के विभिन्न अंग, विविध चिकित्साएँ, अग्नि-चिकित्सा, जलचिकित्सा, वायुचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, हस्तस्पर्श-चिकित्सा, यज्ञचिकित्सा, कुस्वप्न-नाशन आदि का विशिष्ट वर्णन प्राप्त होता है[2]।

यजुर्वेद और आयुर्वेद-यजुर्वेद में आयुर्वेद से सम्बद्ध निम्नलिखित विषयों की सामग्री प्राप्त होती है :- वैद्य के गुण-कर्म विभिन्न औषधियों के नाम आदि शरीर के विभिन्न अंग, चिकित्सा, दीर्घायुष्य नीरोगता, तेज, वर्चस्, बल, अग्नि और जल के गुण-कर्म आदि[3]।

सामवेद और आयुर्वेद-सामवेद में आयुर्वेद-विषयक सामग्री अत्यन्त न्यून है। इसमें आयुर्वेद से सम्बद्ध कुछ मंत्र निम्नलिखित विषयों के प्रतिपादक हैं:-वैद्य, चिकित्सा, दीर्घायुष्य, तेज, ज्योति, बल, शक्ति आदि[4]।

अथर्ववेद और आयुर्वेद-आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद अत्यन्त महनीय ग्रन्थ है। इसमें आयुर्वेद के प्रायः सभी अंगों और उपांगों का विस्तृत वर्णन मिलता है। अथर्ववेद, आयुर्वेद का मूल आधार है। इसमें आयुर्वेद से सम्बद्ध निम्नलिखित विषयों का वर्णन प्राप्त होता है-भिषज् या वैद्य के गुण-कर्म, भैषज्य, शरीरांग, दीर्घायुष्य नीरोगता, तेज, वर्चस्, वशीकरण, वाजीकरण, रोगनाशक विभिन्न मणियाँ, विविध औषधियों के नाम और गुण-धर्म रोगनाम एवं चिकित्सा, कृमिनाशन, सूर्यचिकित्सा, जलचिकित्सा, विषचिकित्सा, पशुचिकित्सा, प्राण-चिकित्सा शल्य-चिकित्सा आदि[5]।

अथर्ववेद में भी इस वेद को भेषजं या भिषग्वेदनाम से पुकारा गया है[6]। गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद के मंत्रों को आयुर्वेद से सम्बद्ध बताया गया है[7] और अथर्वा का अर्थ भेषज

---

१. सर्वज्ञानमयो हि सः। मनुस्मृति २.७
२. देखो, वेदामृतम् भाग १२, ऋग्वेद सुभाषितावली, पृष्ठ ३३० से ३५८
३. देखो, वेदामृतम् भाग ८, यजुर्वेद सुभाषितावली, पृष्ठ १७६ से १८३
४. वेदामृतम् भाग ११, अथर्ववेद सुभाषितावली, पृष्ठ २२६ - ३०३
५.
६. ऋचः सामानि भेषजा, यजूंषि। अथर्व. ११, ६, १४
७. येऽथर्वाणः, तद् भेषजम्। गोपथ ब्रा. १, ३, ४

किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के एक मंत्र की व्याख्या में प्राण को अथर्वा कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्राणविद्या या जीवन-विद्या आथर्वण विद्या है[1]।

अथर्ववेद का एक नाम ब्रह्मवेद भी है[2]। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म शब्द भी भेषज और भिषग्वेद का बोधक है जो अथर्वा है, वह भेषज है, जो भेषज है, वह अमृत है, जो अमृत है, वह ब्रह्म है। अर्थात् भेषज और ब्रह्म शब्द समानार्थक है[3]। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार अंगिरस का सम्बन्ध आयुर्वेद और शरीर विज्ञान से है। अंगों के रसों अर्थात तत्वों का जिसमें वर्णन किया जाता है वह अंगिरस है। अंगों से जो रस निकलता है, वह अंगरस है, उसी को अंगिरस् कहा जाता है[4]। गोपथ में अन्यत्र वर्णन है कि रस या रसायन-विज्ञान को अंगिरस् कहते हैं[5]।

वेदों में आयुर्वेद के उद्देश्य-वेदों में आयुर्वेद के उद्देश्यों का यत्र-तत्र उल्लेख और संकेत है।

(क) मृत्यु या रोग के कारणों का निवारण-ऋग्वेद और अथर्ववेद में कहा गया है कि -मृत्यु के कारणों को दूर करें[6]। (ख) दीर्घायु की प्राप्ति-हम दीर्घायु प्राप्त करें[7]। (ग) आचार-विचार की शुद्धि-दीर्घायु का साधन बताया गया है-आचार और विचार की शुद्धता[8]। पवित्र आचार और विचार से रोगों को नष्ट करके दीर्घायु हों। (घ) रोग के कारणों का उन्मूलन-तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि जिन कारणों से रोग होता है, उन्हें दूर किया जाऐ[9]। (ङ) जीवन का काल शतायु-जीवन की सीमा सौ वर्ष या इससे अधिक होने का उल्लेख है[10]। वेदों में अनेक स्थानों पर दीर्घायु शतायु और पूर्णायु या सर्वायु का उल्लेख है[11]। (च) आत्मा और शरीर की पुष्टता -अथर्ववेद में शरीर के अंगों की नीरोगता और आत्मा की अजेयता की प्रार्थना की गई है[12]। (छ) रोग के कीटाणुओं का नाशन-अथर्ववेद में सभी रोगों का कारण विष बताया गया है और उस विष को रोगकृमि को नष्ट करने का उल्लेख है[13]।

---

१. यजु. ११.३३। प्राणो वा अथर्वा। शतपथ ब्रा. ६.४.२.२
२. यजूंषि च ब्रह्म च.। अथर्व. १५.६.८
३. यद् भेषजं तदमृतम्, यदमृतं तद् ब्रह्म। गोपथ ब्रा. १.३.४
४. एतम् अङ्गरसं सन्तम् अङ्गिरा इत्याचक्षते। गो.ब्रा. १.१.७
५. येऽङ्गिरसः स रसः। गोपथ ब्रा. १.३.४
६. मृत्योः पदं योपयन्तः। ऋग्. १०.१८.२, अथर्व. १२.२.३०
७. द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः। ऋग् १०.१८.२, अथर्व. १२.२.३०
८. शुद्धाः पूता भवन यज्ञियासः। ऋग १०.१८.२
९. यदामयति निष्कृत। तैत्ति. सं. ४.२.६.२
१०. शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीः। ऋग्. १०.१८.४
११. अथर्व. १९.६७. से ८; १९.६९, १ से ४
१२. अरिष्टानि मे सर्वात्मानिमृष्टः। अ. १९.६०.२
१३. यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्। अ. ६.८.१२

इस प्रकार आयुर्वेद में मूलभूत तत्वों में रोगनाशन, पूर्ण स्वस्थता, शतायु होना, रोगकृमिनाशन और आचार-विचार की शुद्धि का उल्लेख मिलता है।

वैदिक साहित्य में आयुर्वेदज्ञ ऋषिगण

सृष्टि के आरम्भ से शरीर की रक्षा का प्रयोग शुरू हो गया था। रोगों को रोकने एवं दूर करने हेतु आरम्भ हो गया था। नीरोग रहकर दीर्घ-कालीन जीवन मिलने के अहम लक्ष्य में ही 'आयुर्वेद-शास्त्र' बन गया। त्रिकाल-संध्या करने के बाद सविता देवता की प्रार्थना-'तच्चक्षुर्देव-हितं पुरस्ताचूछुक्रमुच्चरत, पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, श्रृणुयाम शरदः शतं, प्रबुवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।' इस मंत्र से करता हुआ प्राचीन वैदिक ऋषि नेत्र, कर्ण, वाणी आदि को नीरोगता से युक्त १०० वर्ष का वयोमान चाहता था। वह शरीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा करता हुआ मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा करता था। वेदों में सर्वत्र आयुर्वेद की इन भावनाओं से प्रेरित मंत्र से प्रेरित मंत्र प्राप्त होते हैं, परन्तु रोगों, औषधियों एवं रोग-प्रतिकारक आयुष्य-कर विविध विषयों के विवेचन का अधिकृत वर्णन अर्थववेद में समुपलब्ध होता है। आयुर्वेद के लगभग ७५ ऋषियों के आयुर्वेदज्ञ होने के कारण वैदिक संहिताओं के समग्र मंत्रों को 'देवत संहिता' के नाम से बसंत श्रीपाद सातवलेकर ने स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सात् (गुजरात) से सन् १९५८ में प्रकाशित किया था। यद्यपि यहां मंत्रों का क्रम विषयानुसार निर्दिष्ट है :-

१. अथर्वा, २. ब्रह्मा, ३. यम, ४. भृगु, ५. भुग्वंगिरा, ६. शुक्रः, ७. यजुः ८. गरुत्मान, ९. शन्तातिः, १०. वातनः, ११. मृगारः, १२. विश्वामित्र (गाथिनः), १३. वसिष्ठ मैत्रावरुणि, १४. मातृणामा, १५. वृहस्पति, १६. प्रस्कण्वः (का.व.), १७. प्रत्यांडिणः, १८. अथर्वाङ्गिरा, १९. अगस्त्य (मैत्रावरुणि), २०. भिषक् (आथर्वणः), २१. देवश्रवा (यामायन), त्रिशिरा (माथितश्च) त्वाष्ट्र सिन्धु-द्वीप (आंबशीर्षः), २३. उन्मोचन, २४. कवष (ऐलुषः), २५. ऋभुः, २६. भरद्वाजो (वार्हस्पत्यः), २७. सविता, २८. अंगिरा (प्रचेताः), २९. सर्प (काद्रवेय आर्वादिः), ३०. शंखो (यामायनः), ३१. यमो यमी च, ३२. विवृहा (काश्यपः), ३३. बादरायणिः, ३४. शौनक, ३५. अत्रि (भौम), ३६. शनुःशेप, ३७. सप्तवध्रिः (आत्रेयाः), ३८. भिक्षुः (आंगिरसः), ३९. मेधातिथिः (काण्वः), ४०. संकुसुको (यामायनः), ४१. सर्प (ऐरावतो जरत्कर्णः) ४२. भगः, ४३. वामदेव, ४४. कुमारो (यामायनः), ४५. प्रजापति, ४६. अंगिरा, ४८. वीत-हव्यः, ४९. हविधानः (आंगि.), ५०. यक्ष्म-नाशनः, ५१. शम्भु, ५२. ऋषभो (वैराजः), ५३. सूर्या (सावित्री), ५४. द्रविणोदा, ५५. मनः (वैवस्वतः), ५६. ऊर्ध्वग्रावा (आर्कद्रिः), ५७. मृत्समद (आंगिरसः), ५८. कवंध, ५९. भागलिः, ६०. जाटिकायन, ६१. वभ्रुपिंगल, ६२. वरुण, ६३. कौशिक, ६४. गौतमी (राहगण), ६५. मधुच्छंदा (वैश्वामित्रः), ६६. उपरिवभ्रवः, ६७. शिरिविमिः,

६८. इन्द्राणी, ६६. प्रजावान् (प्राजापत्य), ७०. कौरुपथिः, ७१. कण्वोर (घारः), ७२. कूर्मो (गार्त्समदः), ५३. दीर्घतमा (औतथ्यः), ७४. वसुकः (रेण्डः), ७५. गार्ग्यः।

उपरोक्त ७५ ऐसे ऋषि हैं जिन्हें आयुर्वेद का ज्ञान था, जो आयुर्वेद-विद्या के ऋषि थे। इनसे सम्बद्ध सूक्त और मंत्र भी प्राप्त होते हैं। आयुर्वेद सम्बन्धित ज्ञान के विवेचक कुल मंत्र २, ३३५ हैं।

आयुर्वेद सिद्धान्त प्रयोजन एवं परिभाषाः–आयुर्वेद में 'विद्' धातु हैं, जिसके अनेक अर्थ होने से आयुर्वेद की निरुक्तियाँ भी कई प्रकार की हो जाती हैंः-

सतायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तो श्यन्लृक्श्नम् शाष्विद्-क्रमात्।।
(सिद्धान्त कौमुदी)

१. आयुर्वेद इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें आयु प्रतिपाद्य विषय है-**"आयुरस्मिन् विद्यते इत्यायुर्वेदः।"**
२. आयु का ज्ञान प्राप्त होने से आयुर्वेद कहते हैं :-
(अ) **"आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति आयुर्वेदः।"**
(ब) **"वेदयति इति वेदः, आयुर्वेद यतो इत्यायुर्वेदः।"**
३. दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन इससे मिलता है। अस्तु, आयुर्वेद है-**"अनेन वाऽऽयुर्विन्दति इत्यायुर्वेदः।**
४. इससे आयु का विचार होता है। अस्तु, आयुर्वेद है-**"आयुर्विद्यते विचार्यतेऽऽनेन वा इत्यायुर्वेदः।**
५. **"आयुजोर्वितमुच्यते विद्ज्ञाने धातुः विद् लाभे च, आयुरनेन ज्ञातेन विद्यते ज्ञायते विन्दते लभते नरिष्यतीत्यायुर्वेदः।**

काश्यप संहिता के इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है-"आयु का अर्थ है जीवित, उसके साथ विद् ज्ञाने धातु से या विद् लाभे धातु से 'आयुर्वेद' शब्द बनता है अर्थात् इसके द्वारा आयु का ज्ञान होता है या आयु की प्राप्ति होती है, इसलिए इसे आयुर्वेद कहते हैं।' इस प्रकार दीर्घ जीवन के बतलाने वाले तथा उपायों के द्वारा उसे प्राप्त करने वाले अविनाशी शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं।

आचार्य चरक के अनुसार-

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते[1]।।

---

१. चरक संहिता-सूत्र-स्थान १/४११

आयुर्वेद शास्त्र उसे कहते हैं, जिसमें हित, अहित, सुख और दुःख आयु के लिए हित और अहित (पथ्यापथ्य), उस आयु का मान (प्रमाण और अप्रमाण) तथा आयु का स्वरूप बताया गया है। इसका विशद् विवेचन अर्थेदशमहामूलीयाध्याय में मिलता है। 'तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः'[१] अर्थात् जो आयु का ज्ञान कराता हो, यही आयुर्वेद है। यह आयुर्वेद अपने लक्षणों द्वारा सुख-दुःख, हित-अहित, प्रमाण-अप्रमाण द्वारा आयु का उपदेश करता है, क्योंकि इस आयुर्वेद के द्वारा ही आयुष्य (आयु के लिए हितकारी), अनायुष्य (आयु के लिए हानिकारक) द्रव्य, गुण, कर्म का ज्ञान होता है, इसी से इसे आयुर्वेद कहा जाता है[२]।

आयुर्वेद का प्रयोजन

आयुर्वेद के महार्षियों द्वारा दो ही प्रयोजन बताये गए हैं:-

(१) स्वस्थ्य व्यक्ति के स्वास्थ की रक्षा;

(२) अस्वस्थ के विकारों का प्रशमन

'प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्य-रक्षणमातुरस्य विकार-प्रशमनं च।' आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के प्रयोजन दो हैं। विहार तथा औषधीय उपचारों का उपदेश, जिनके अवलम्बन से स्वस्थ पुरुष अपने स्वास्थ्य को स्थिर रख सके और आयु की वृद्धि कर सके। दूसरे अहिताहार-विहार के कारण पुरुष रोगी हो गया हो तो जिस उपचार से वह रोगमुक्त हो, उसका उपदेश।

आरोग्य को बनाए रखना तथा रोगों से मुक्ति करना - इन दो उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश किया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों के लिए निरोग रहना परमावश्यक है। यदि कभी रोग हो जाय, तो उस रोग का दूरीकरण भी एकान्ततः लक्ष्य चिकित्सा-विज्ञान का है -

धर्मार्थ-काम-मोक्षाणामारोग्यं मृतमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।। च.सू. १

उल्वण ने इसकी व्याख्या में रसायनादायुरुत्कर्षस्तु स्वस्थ रक्षयैव गृह्यते लिखा है। इस प्रकार का प्रयोजन किसी एक वर्गवाद के भीतर सीमित चिकित्सा विज्ञान का नहीं, अपितु एक सार्वभौम सिद्धान्त है।

१. चरक सूत्र ३०/२३
२. चरक सूत्र ३०/२३

आयुर्वेद का दूसारा प्रयोजन समग्र आयुर्वेद के अष्टांगों में व्याप्त है। रोगों के उपशमन के लिए रुग्णावस्था के लक्षणों (विकृति-लक्षणों) का ज्ञान सर्व-प्रथम आवश्यक है[1]। इसका कारण यह है कि उन्हें जानकर ही रोग का निदान तथा तद्नुरूप चिकित्सा का निर्णय हो सकेगा। स्वस्थ-वृत्त के नियमों के अनुष्ठान करने में भी विकृति लक्षणों[2] का ज्ञान उपयोगी है। इससे इन लक्षणों के प्रादुर्भाव के साथ ही जाना जा सकता है कि स्वस्थवृत्त के आचरण में शिथिलता करने से ही यह दशा उत्पन्न हुई है। यह ज्ञान पुरुष को पुनः स्वस्थवृत्त के मार्ग पर लाकर स्वास्थ्य की रक्षा में सहायक होता है। आचार्य सुश्रुत ने भी यही प्रयोजन स्वीकार किया है -

इह खल्वायुर्वेद-प्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानौं।
व्याधि-परिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणंच[3]।
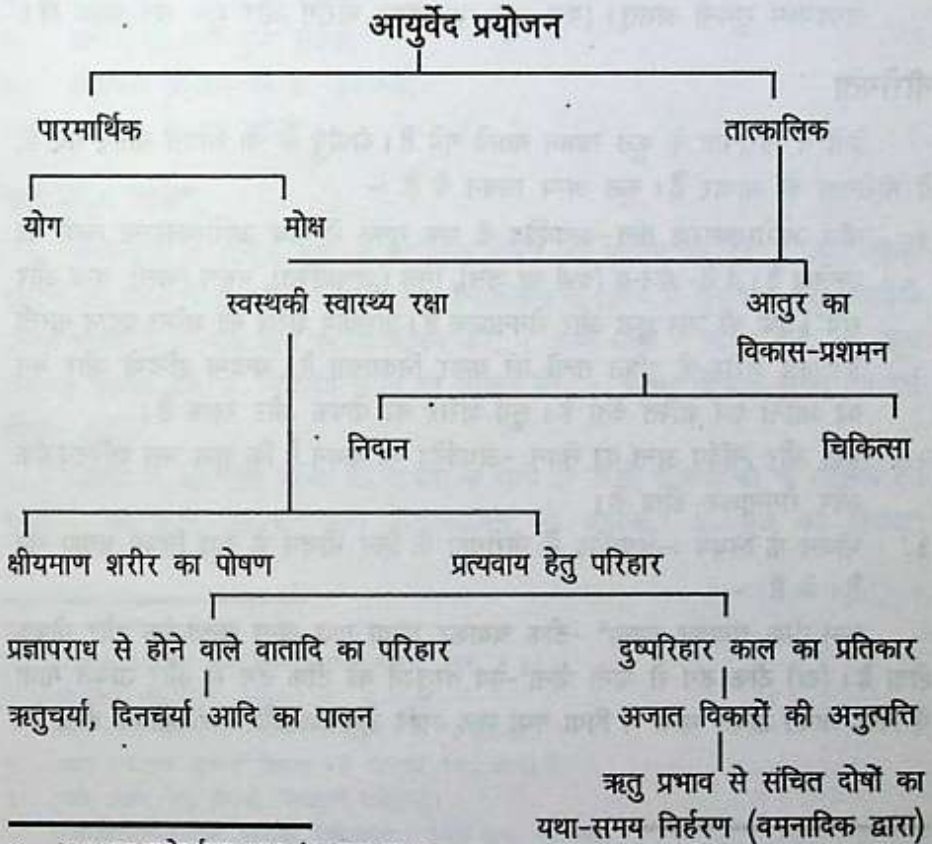
१. काय-बाल-ग्रहोर्ध्वाङ्ग-शल्य-दंष्ट्रा-जरा-वृषान्

२. चरक सूत्र ३०/२५

३. सुश्रुत सूत्र १/२२

सद्वृत्त प्रकरणम्

वेद (सद्-वृत्त) सद्-आचार से भरा पड़ा है। उसकी कुछ सूक्तियों यहां उद्धृत की गई हैं। वैसे तो सदाचार सर्वत्र ही सफलता का आधार है; परन्तु वैद्य के व्यवसाय में तो सद्वृत्त परम आवश्यक है। आशा है वैद्यवर्ग सद्वृत्तान्तर्गत मंत्रों को, ध्यान से पढ़कर मनन और आचरण करेंगे। सदाचार पर आरूढ़ होने से, भिषक् का जहां आत्मा उन्नत होता है वहां उसे धर्म, कीर्ति और धन भी प्राप्त होता है। मनुष्य को कर्मज व्याधियां होने की सम्भावना नहीं होती है।

ओ३म् क्रतोस्मर। (यजुः. ४०/१५) हे जीव ! ओम् का स्मरण कर।

अग्नेनय सुपथा। (यजुः, ४०/१६) हे ईश्वर ! सन्मार्ग से ले चल।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम (ऋ ५/११/७) कल्याण के पथ पर चलें।

जगदयक्ष्मं सुमना असत्। (यजु. १६/४) जगत् नीरोग और शुभ मन वाला हो।

नीरोगता

वेदों में नीरोगता के कुछ साधन बताये गये हैं। दीर्घायु के जो साधन बताए गए हैं, वे नीरोगता के आधार हैं। कुछ अन्य साधन ये हैं :-

१. पाँच आरोग्यकारक तत्व–अथर्ववेद के एक सूक्त में पांच आरोग्यकारक तत्वों का उल्लेख है। ये हैं- पर्जन्य (वर्षा का जल), मित्र (प्राणशक्ति), वरुण (जल), चन्द्र और सूर्य[1]। वर्षा का जल शुद्ध और रोगनाशक है। प्राणवायु शरीर को शक्ति प्रदान करती है। ज़ल शरीर के दूषित तत्वों को बाहर निकालता है। चन्द्रमा इन्द्रियों और मन को शान्ति एवं शक्ति देता है। सूर्य शरीर का पोषक और रक्षक है।

२. शुद्ध और निर्विष अन्न का सेवनः–अथर्ववेद का कथन है कि शुद्ध जल शक्तिवर्द्धक और रोगनाशक होता है।

३. भोजन के नियम :-अथर्ववेद में नीरोगता के लिए भोजन के कुछ नियम बताए गए हैं। ये हैं :-

(क) ठीक चबाकर खाना[2] -ठीक चबाकर खाया गया अन्न बलवर्द्धक और पोषक होता है। (ख) ठीक ढंग से पानी पीना[3]–पेय वस्तुओं को ठीक ढंग से और उचित मात्रा में पिया जाय। उचित मात्रा में पिया गया जल आदि रोगनाश और शरीरशोधक होता है।

---

१. अथर्व. १.३. १-५

२. यदश्नामि बलं कुर्वे.। अ. ६.१३५.१

३. यत् पिबामि सं पिबामि.। अ. ६. १३५.२

(ग) ठीक ढंग से निगलना[1] -भोजन जितनी शांति से किया जाता है और मुख की राल के साथ निगला जाता है, वह उतना ही पौष्टिक और सुपाच्य होता है। शीघ्रता से खाया हुआ भोजन अपाच्य होता है और अजीर्ण करता है। आयुर्वेद अल्प या संतुलित मात्रा में भोजन करना तथा (घ) ऋतुभुक् -सात्विक एवं ईमानदारी से कमाया गया अन्न ही खाना निर्दिष्ट।

४. मल-मूत्र के वेग को न रोकना:-मल और मूत्र के वेग को रोकने से नाना प्रकार की व्याधियां होती हैं। अतः उन्हें न रोकें।

५. त्रिदोषज विकारों को रोकना :- वात, पित्त और कफ के विकार से समस्त रोग होते हैं और इनको सम रखने से निरोगता होती है[2]।

६. प्रसन्नचित्त रहना,[3]

७. पापों और दुर्गुणों से बचना,[4]

८. शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखना,

९. सात्विक विचारों को ही अपनाना,

१०. सूर्योदय से पूर्व उठना[5]।

बल और शक्ति

चारों वेदों में अनेक मंत्रों में शारीरिक शक्ति की प्रार्थना की गई है और उसके साधनों का ग्रन्थों में सुव्यवस्थित किया गया है। भोजन के विषय में सुश्रुत ने कुछ उपयोगी नियम बताये है-१. भूख होने पर ही भोजन करें, २. ठीक मात्रा में भोजन करें, ३. खूब चवाकर भोजन करें, ४. निश्चित समय पर भोजन करें, ५. हल्का पौष्टिक सरस एवं गर्म भोजन करें[6]।

ऋग्वेद में बल और शक्ति की प्रार्थना के साथ ही उसके साधनों का भी उल्लेख है। यथा-१. प्रातःकाल उठना,[7] प्राण अपानशक्ति को बढ़ाना,[8] ३. घृत का सेवन,[9]

---

१. यद् गिरामि सं गिरामि.। अ. ६. १३५.३
२. रोगस्तु दोषवैषम्यं दोपसाम्यमरोगता। अष्टांग. सूत्र. १.२०
३. अनमीवो मोदिपीष्ठाः सुवर्चाः। अ. २.२९.६
४. व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा। अ. ३.३१.१
५. उद्यन् सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे। अ. ७.१३.२
६. काले सात्म्यं लघु स्निग्धं, क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम्।
बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयाद् मात्रावद् विदितागमः। सुश्रुत सूत्र. ४६:४७१
७. ऋग्. १.४८.१२
८. ऋग्. ८.३५.१०
९. ऋग्. १०५९.५

४. तेजस्विता के लिए शक्तिवृद्धि[1] ५. जल और दूध का सेवन,[2] ।

यजुर्वेद में अनेक मंत्रों में शक्ति की प्रार्थना है और कुछ उपायों का भी वर्णन है। १. शुद्ध अन्न से शक्ति,[3] २. गोदुग्धादि से ऊर्जा,[4] ३. घृत-सेवन-घी से शरीर पुष्ट करें,[5] ४. संयम और वीर्यरक्षा[6] - वीर्य अमृत है। वीर्य रक्षा से शक्ति बढ़ायें, ५. ज्ञानपूर्वक कर्म करना - वाग्देवी प्राणशक्ति के द्वारा शक्ति देती है[7]।

सामवेद में कुछ मंत्रों में बल और शक्ति की प्रार्थना है। १. आस्तिकता और उपासना,[8] २. अग्नि (जाठराग्नि) को प्रदीप्त करना, ३. प्राण और अपान से शक्ति, ४. सोमपान, ५. उत्तम पुरुषार्थ[9]।

अथर्ववेद में अनेक मंत्रों में बल और शक्ति की प्रार्थना की गई है। कुछ उपाय ये बताए गए हैं- १. सूर्य किरणों से शक्ति, २. प्राणायाम से शक्ति,[10] ३. सूर्य से नेत्रशक्ति, ४. ईश-प्रार्थना, ५. अग्नि से दिव्यशक्ति, ६. यज्ञोपवीत से त्रिविध शक्ति, ७. ज्ञान से वाक्शक्ति, ८. श्रम से बल,[11] ९. पुरुषार्थ।

ओज, तेज, वर्चस् और ज्योति

चारों वेदों में ओज, तेज, वर्चस् और ज्योति का सैकड़ों मंत्रों में वर्णन हुआ है और इनकी प्राप्ति के लिए देवों से प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद में अक्षय ओज की,[12] यजुर्वेद में अनेक मंत्रों में ओज, तेज आदि की सामवेद में अनेक मंत्रों में ओज और तेज की तथा अथर्ववेद में अनेक मंत्रों में तेज और वर्चस् की प्रार्थना की गई है।

दीर्घायुष्य

चारों वेदों में दीर्घायु से सम्बद्ध सैकड़ों मंत्र हैं। इन मंत्रों में विभिन्न देवों से दीर्घायु की प्रार्थना की गई है। कुछ मंत्रों में दीर्घायु के उपायों का भी उल्लेख है। अनेक मंत्रों में

---

१. ऋग्. ९.१०६.४
२. ऋग्. १.९१.१८
३. यजु. ३.२०
४. यजु. ३.२०
५. यजु. १२.४४
६. यजु. १९.७६, २१.५५
७. यजु. २०.८०
८. साम. १३१२
९. साम. २३८
१०. अथर्व. ५.१०.८
११. अ. ९.४.२०
१२. ऋग्. ३.६२.५

प्रार्थना की गई है कि हम नीरोग रहते हुए सौ वर्ष या उससे भी अधिक समय तक देखें, सुनें, बोले, जीवित रहें, प्रवुद्ध हों और उन्नति करते रहे[1]। दीर्घायु की कामना को सौ वर्ष तक की सीमित न रखकर ३०० वर्ष तक की आयु की कामना की गई है और कहा गया है कि जमदग्नि और कश्यप ऋषि ३०० वर्ष जीवित रहे। देवों और ऋषियों की आयु ३०० वर्ष तक की होती है, वह ३०० वर्ष की आयु हमें भी प्राप्त हो[2]। अथर्ववेद में एक मंत्र में इससे भी आगे वढ़कर सहस्त्र वर्ष की आयु की कामना की गई है। साथ ही इन मंत्रों में दीर्घायु और सहस्त्रायु के कुछ उपाय भी बताये गए हैं।

(१) सुकृत-सत्कर्मों को करना, (२) आवृतो ब्रह्मण वर्मणा- ज्ञानरूपी कवच का आश्रय लेना, (३) ज्योतिषा वर्चसा च-जीवन तेजस्वी और वर्चस्वी हो, (४) ऋतेन गुप्तः- सत्य भाषण और सत्य व्यवहार का आश्रय लेना, (५) ऋतुभिश्च सर्वैः गुप्तः-ऋतु के अनुसार जीवनचर्या, (६) मा मा प्रापत् माप्मा मोत मृत्युः - मृत्यु या अल्पायु के कारण पाप या दुष्कर्म हैं, इनका परित्याग करना, (७) अग्निर्मा गोप्ता - अग्नि रक्षक है। शारीरिक अग्नि को सदा प्रज्वलित रखना, उसे मन्द न होने देना, (८) उद्यन् सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् - उदय होता हुआ सूर्य मृत्यु के कारणों को नष्ट कर देता है, अतः उदय होते हुए सूर्य की किरणों को अपने शरीर पर पड़ने देना, (९) व्युच्छन्तीः उषसः -उषाकाल या ब्राह्म मुहूर्त में उठना, धारणा, ध्यान आदि कार्य करना, (१०) पर्वता ध्रुवाः-पर्वतों का आश्रय लेना, पर्वतों पर जाना और रहना तथा पर्वतों की स्वच्छ वायु का सेवन करना, (११) सहस्त्रं प्राणा मयि आ यतन्ताम् - उपर्युक्त साधन मनुष्य को सौगुनी या हजारगुनी प्राणशक्ति देकर सहस्त्रायु बनाते हैं[3]।

दीर्घायु के उपाय

उपर्युक्त सहस्त्रायु के साधनों के अतिरिक्त अन्य उपाय भी दीर्घायु के बताए गए हैं जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं :- (१) रजोगुण और तमोगुण से वचना, (२) सत्य को अपनाना,[4] (३) प्राण और अपान शक्ति का संयम, (४) चिन्ता का त्याग, (५) सूर्य और वायु से शक्ति प्राप्त करना,५७ (६) अग्नि से प्राणशक्ति, (७) दुर्व्यसनों और दुर्गुणों का परित्याग, (८) औषधि सेवन, (९) सूर्य, चन्द्रमा और औषधियां, (१०) अज्ञान का त्याग और ज्योति का मार्ग अपनाना, (११) इच्छाशक्ति और आत्मिक बल, (१२) शुद्ध जल का उपयोग, (१३) मणि और रत्नधारण।

---

१. अथर्व. १६.६७ १ से ८, यजु. ३६.१६.२४
२. त्र्यायुषं जमदग्नेः अश्यपस्य त्र्यायुषम्।। यजु. ३.६३
३. अथर्व. १७.१ २७ से ३०
४. सत्यस्य हरताभ्याम् उदमुञ्चद्। अ. ३.११.८

वैदिक वाङ्मय में वैद्य और उनके कर्तव्य (भिषक् प्रकरण)

वेदों में वैद्य और उसके कर्तव्यों का अनेक स्थानों पर वर्णन है। वैद्य के मुख्य कर्तव्य निम्नलिखित हैं :-

१. रक्षोहा-राक्षसों अर्थात् रोग-कृमियों का नाशक हो[1]। २. अमीवचातन-रोगों को नष्ट करें। ३. विप्र - अपने विषय का विशेषज्ञ हो। ४. समस्त औषधियों का संग्रह करें। ५. चिकित्सा का कार्य करना। ६. रोग के कारणों को नष्ट करना। ७. औषधियों के द्वारा शरीर के सभी दोषों को बाहर निकालना। ८. शरीर को नीरोग बनाना। ९. दीर्घायु प्रदान करना। १०. शल्य चिकित्सा के द्वारा भग्न अस्थियों आदि को जोड़ना[2]।

अथर्ववेद का कथन है कि वैद्य रोगों के विस्तार को रोककर उसकी सीमा घटाये। वह औषधि निर्माण के द्वारा मनुष्यों और पशुओं आदि को नीरोग रखें[3]। यह सहस्त्रों औषधियों का ज्ञान प्राप्त करें। वैद्य के लिए कहां गया है कि वह निरन्तर अपना अभ्यास बढ़ाता रहे, चिकित्सा कार्य करता रहे और पवित्र जीवन बितावे, तभी वह उच्चकोटि का वैद्य बन सकता है। वैद्य ऐसी शक्तिवर्धक औषधियें का निर्माण करें, जिससे वुढ़ापे का प्रभाव न होने पावे और मनुष्य सौ वर्ष तक तेजस्वी होकर जीवित रहे।

चरक, सुश्रुत और अष्टांग हृदय में वैद्य के गुणों और कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन है। उपर्युक्त सभी तत्वों का उनमें समावेश पाया जाता है। चरक ने योग्य वैद्य के प्रमुख चार गुण बताए हैं - (१) शास्त्र का अच्छे प्रकार से ज्ञान रखना, (२) अनेक बार रोगी, औषध-निर्माण और औषध-प्रयोग का प्रत्यक्ष-दृष्टा होना, (३) दक्ष या चतुर होना, अर्थात समयानुसार ठीक औषध का निर्णय करना और उसका प्रयोग करना, (४)पवित्रता, अर्थात् आन्तरिक और बाह्य शुद्धि। आन्तरिक शुद्धि से अभिप्राय है - संयमी एवं पवित्र जीवन बिताना। बाह्य शुद्धि से अभिप्राय है शरीर और वस्त्रादि को स्वच्छ रखना। अष्टांगहृदय में भी वैद्य के ये चार गुण बताए हैं - दक्षता, गुरु से शास्त्र का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना, औषध-प्रयोग आदि कर्मों को स्वयं देखकर ज्ञान प्राप्त करना तथा बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता[4]।

---

१. वातात ते प्राणमविदं सूर्यात् चक्षुरहं बत। अ. ८.२.३, १४

२. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः।। ऋग. १०.९७.६

३. निष्कर्ता विहृवतं पुनः। साम. २४४

४. दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्। अष्टांग सूत्र. १.२८

सुश्रुत ने उच्चकोटि के वैद्य को 'भिषक्पाद' कहा है और उसके गुण तथा कर्तव्य वताए हैं कि वह शास्त्र का ज्ञाता हो, औषध-निर्माण आदि को स्वयं देखा हो, स्वयं औषध-निर्माण और चिकित्सा का कार्य करता हो, सिद्धहस्त हो, पवित्र और वीर हो, सब साधन तैयार रखता हो, प्रत्युत्पन्नमति और विद्वान् हो, कठिन परिस्थिति में भी धैर्य न छोड़ता हो, सव क्रियाओं में दक्ष हो, सत्यनिष्ठ और धार्मिक वृत्तिवाला हो[1]।

सुश्रुत ने इस वात की पुष्टि हेतु वल दिया है कि केवल शास्त्रज्ञाता ही योग्य वैद्य नहीं हो सकता है, अपितु उसे क्रियात्मक ज्ञान भी होना आवश्यक है, अन्यथा वह कठिन रोगों आदि में भयभीत हो जाएगा। अतः सिद्धान्त और क्रियात्मक दोनों पक्षों का जानने वाला ही उत्तम वैद्य होता है। सुश्रुत ने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि योग्य वैद्य होने के लिए आवश्यक है कि उसे अपने शास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का भी ज्ञान हों और वह वहुश्रुत हो[2]।

रोग-निदान और रोगोत्पत्ति के तीन कारणों का अध्ययन

वैदिक साहित्य में सभी रोगों की उत्पत्ति के तीन प्रमुख कारणों का उल्लेख मिलता है:-

(१) आन्तरिक विष-संचय-पहला कारण शरीर के अन्तर्गत विष का संचित होना है। 'यक्ष्माणां विषं निरवोचलह्य[3]' में रोगी के शरीर से सभी रोगों के विष को वाहर निकालने का उल्लेख किया गया है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि जव शरीर में कभी किसी प्रकार का भी मल-रूप-विष-संचित हो जाता है, वही आगे चलकर रोग वन जाता है।

(२) जीवाणु या कृमिः-कृमि द्वारा रोगोत्पत्ति का वेदों में विस्तृत विवेचन मिलता है। ये जल, स्थल, अन्तरिक्ष और द्युलोक-सभी जगहों पर व्याप्त है। जो कृमि अन्तरिक्ष में रहते हैं[4] उनके दो भेद हैं-(१) दृष्ट, (२) अदृष्ट कृमि।

यास्काचार्य ने कृमि का निर्वचन इस प्रकार किया है- 'क्रव्ये मेद्यति या स्नातृ सरण-कर्म्मणः कामतेर्वा।'

---

१. तत्त्वाधिगताशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती।
लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः।।

२. तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सक। सुश्रुत सूत्र. ४.७

३. अथर्व-वेद ६/८/१०

४. ये अन्तः क्रिमयो गावे-अ., २/२३/१

५. निरुक्त, ६/१२

क्रव्य अर्थात् कच्चे मांस में भेदन अर्थात् पुष्ट होने से कृमि कहे जाते हैं। अथवा 'सरण' अर्थवाली 'क्रम' धातु से 'कृमि' बनता है। अथवा कामना या कान्ति के अर्थवाली 'कम' धातु से यह पद बनता है। वैदिक साहित्य में विविध कृमियों का उल्लेख किया गया है।

अपक्व, अध-पक्व, सुपक्व तथा विपक्व भोजन में प्रवेश करके शरीर को हानि पहुंचाने वाले कृमियों का उल्लेख किया गया है। जल, दूध और मट्ठे में प्रवेश कर शरीर को हानि पहुंचाने वाले कृमि हैं। गर्भाशय में पहुंचकर योनि को चाटकर रोगी करने वाले, गर्भ-स्राव, गर्भ-पात करने वाले, गर्भस्थ बच्चे को मारने वाले, स्त्रियों को मृत-वत्सा और बन्ध्या बनाने वाले जीवाणु[1]। पुरुष का रूधिर चूसने वाले कृमि। मानसिक विघातक कृमि (मनमोहनम्)

वेदों में अनेक कृमियों के वर्णनों में उनके नाम पहले विशेषण दिए गए हैं, जिनका निरुक्तकार के अनुसार अर्थ समझना आवश्यक है। विशेषण के नाम निम्न हैं:-

(१) राक्षस, (२) पिशाच (३) यातः, (४) यातु-धान, (५) असुर, (६) किमिदी, (७) गांधर्व, (८) अप्सरा।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रोगोत्पादक हेतुओं में जीवाणु-वाद का सिद्धान्त, जो आज के पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत है, वैदिक काल में भी माना जाता था तथा वेदार्थ-शैली अभिधेयात्मक नहीं थी। वेदार्थ प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्त होता है। कृमि का वेदों, भाष्यों और निरुक्त में जो अर्थ किया गया है, वह अर्थ आज के विद्वानों द्वारा भी मान्य किया गया है। ऐसे अदृश्य कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न होने वाले अनेक रोग वेदों के कृमि-सिद्धान्त के अन्तर्गत है। इस प्रकार आंग्ल-चिकित्सा-पद्धति में स्वीकृत जीवाणु-वाद का सिद्धान्त वेद-सम्मत व वेद-प्रसूत ही है।

त्रिदोष

वेदों के अनुसार रोगों की उत्पत्ति का तीसरा कारण त्रिदोष माना गया है। ये वात, पित्त और कफ हैं। दोषों की अधिकता या न्यूनतम रोगोत्पत्ति का कारण बनती है।

अन्त में इतना स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक भिषक् ने रोगों की उत्पत्ति में हेतु तीन ही माने हैं :-

(१) शरीर में संचित मल-मूत्र विष, (२) कृमि-जीवाणु या अन्य कृमि, (३) वात, पित्त और कफ अर्थात् त्रिदोष।

---

१. ऋग्वेद, १०/१६२/२, ४ तथा अथर्व., ८/६/६

वैदिक वाङ्मय में चिकित्सा के चार प्रकार

अथर्ववेद में चार प्रकार की औषधियों और चिकित्सा-विधियों का उल्लेख मिलता है[1]। ये हैं :-

१. आथर्वणी चिकित्सा:-इस चिकित्सा-विधि का सम्बन्ध अथर्वन् या अथर्व ऋषि से है। इस चिकित्सा-विधि के विषय में मतैक्य नहीं है, परन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि वह शान्तिमुक्त विधि से की जाने वाली चिकित्सा है। अथर्व का अर्थ योगी है। इसमें ध्यान, मनन, चिन्तन और मनोयोग से होने वाली चिकित्सा का समावेश है। अतएव इसे मानस चिकित्सा-विधि (Phycho-Therapy) कह सकते हैं। इसमें मंत्रशक्ति, जप, पूजा-पाठ, आश्वासन-प्रक्रिया आदि के द्वारा प्राणशक्ति की बृद्धि और रोगनाशन किया जाता है[2]। इसमें मनोवल को प्रदीप्त करने इच्छाशक्ति से रोगों को नष्ट या क्षीण प्राय किया जाता है। अतः Auto-Suggestion की विधि भी इसके अन्तर्गत आती है।

२. आंगिरसी चिकित्सा :- इसका सम्वन्ध अंगिरस् या अंगिरा ऋषि से है। इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं -

(क) अंगिरस की व्याख्या गोपथ और शतपथ ब्राह्मण में अंग-रस की गई है[3]। अंगों के रस से होने वाली चिकित्सा आंगिरसी है। इसमें अंगों का रस अर्थात् रक्त आदि दूसरों को चढ़ाना, शरीर में वाह्य रसों को पहुंचाना, शरीर के अन्य कार्यशील तत्वों को पहुंचाना, वृक्ष-वनस्पति आदि के पोषक तत्वों को शरीर में पहुंचाना, रोगी के शरीर में अन्य शक्ति-प्रेरक तत्वों को पहुंचाना आदि का समावेश होगा। अतः यह पद्धति कुछ अंशों तक आधुनिक चिकित्सा (Allopathic) पद्धति से साम्य रखती है।

(ख) आंगिरस की दूसरी व्याख्या घोर कृत्यों से सम्वन्ध है। कोपीतकि ब्राह्मण, शांखायन श्रोतसूत्र, आश्वलायन श्रोतसूत्र और छान्दोग्य उपनिषद् में आंगिरस को घोर आंगिरस नाम से सम्वोधित किया गया है[4]। अंगिरा ऋषि द्वारा दृष्ट मंत्रों में व्रण-चिकित्सा, शत्रुनाशन, शत्रुसेनानाशन, मणि द्वारा समस्त रोगों शत्रुओं और राक्षसों के नाशन आदि का वर्णन है। यह भी वर्णन किया गया है कि ऋषि घोर

---

१. आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत
ओपधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि। अथर्व. ११.४.१६

२. प्राणो वा अथर्वा। शतपथ ब्रा. ६.४.२.१

३. सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोक्षरत्तुसोऽङ्गरसोभवत्, तं वा एतम् अंगरसं सन्तम् अङ्गिरा इत्याचक्षते, गोपथ पूर्व. १.७। आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः। शत. ब्रा. १४.४.१.८

४. घोर आंगिरसोऽध्वर्युः। कौषीतकि ब्रा. ३०-६। आश्व. श्रोत. १०.७.४, शांखा. श्रोत. १६.२.१२, छान्दोग्य उप. ३.१७.६

होते हैं। इनकी दृष्टि और इनका चिन्तन सत्य है अर्थात् ये सूक्ष्मदृष्टि हैं[१]। आंगिरस विधि से शल्यक्रिया या चीर-फाड़ (Surgery) की विधि ली जा सकती है। इसमें सूक्ष्म दृष्टि, क्रूर-कृत्य अंग-छेदन आदि की क्षमता और रोगों के ठीक कारणों आदि का ज्ञान अनिवार्य है।

३. **दैवी चिकित्सा:**-पृथ्वी आदि पंचतत्वों को देव कहते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि भी देव हैं। अतः मृत्-चिकित्सा, जलचिकित्सा, अग्नि-चिकित्सा, सूर्य-चिकित्सा, प्राणायाम चिकित्सा आदि चिकित्साएँ दैवी चिकित्सा के अन्तर्गत आती हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसे प्राकृतिक चिकित्सा (Naturopathy) कह सकते हैं।

४. **मनुष्यजा या मानवी चिकित्सा:**-यह मानवों द्वारा बनाई गई चिकित्सा है। इसमें मानवों द्वारा निर्मित चूर्ण, अवलेह,. भस्म, कल्प, आसव, वटी, आदि सम्मिलित है। यह चिकित्सा औषधि-चिकित्सा (Drug Therapy) कह सकते हैं।

रोग और चिकित्सा प्रकरण

(१) **यक्ष्मा:**-वेदों में क्षय रोग के लिए राजयक्ष्मा (टी.बी.) पापयक्ष्मा, जायान्यः, जायेन्य, क्षय और पाप्मा शब्दों का प्रयोग किया गया है[२]। जायेन्य या जायान्य की व्युत्पत्ति करते हुए तैत्तिरीय संहिता में लिखा गया है कि

'अज्जायेभ्योऽविन्दत् तज्जायेन्यास्य।'

उपचार:-इसकी चिकित्सा हेतु आंजन, भक्षण और सुगन्धि-मय द्रव्यों या होम करना लिखा गया है।

यो हरिमा जायान्योऽगड भेदो विसल्यकः।
सर्वे ते यद्मगंधेभ्यो बहिनिहन्त्विवा जनम्[३]।।

आचार्य चरक ने चिकित्सा-स्थान के अन्वे (आठवें) अध्याय में चन्द्रमा के क्षय-रोगी होने का उल्लेख किया है। यह कथा काष्क-संहिता, ११/३ और अथर्ववेद में ३८ नक्षत्रों (कन्या-रूपी) से विवाहित होने पर भी रोहिणी पर अन्धासक्त रहने वाले चन्द्र का क्षय रोग हो गया था। वेदों में प्रजापति के नाम से हिरण्य-गर्भ को मान्य किया गया है तथा प्रजाओं के उत्पादक व पालक होने से सूर्य को भी प्रजापति कहा गया है[४]।

---

१. अथर्व. २.३, ७.७७, ७.९०, १६.३४, ३५

२. राज-यक्ष्मा-तैत्ति. सं., २/३/५/२ पाप-यक्ष्मा, तै.सं. २/३/५/२ जायान्य-अथर्व., ७/७६/५, जायेन्य-तै.सं. २/३/५/२ क्षय-श.ब्रा., ७/१०, पाप्मा अ., ५/२३/१२

३. १६/४४/२, ७/७६/५

४. शत. ब्रा., १२/३/५/१, तैत्ति. ब्रा., १/६/४/१, तैत्ति.आर. ५/१२/१, ५/११/६

(२) ज्वर-रोगः-वैदिक साहित्य में ज्वर के लिए 'तक्मा' पद का प्रयोग किया गया है। तक्मा-पद का निर्माण 'तकि कृच्छ्र जीवने' धातु से बना है। इसका अर्थ होता है जीवन को कष्ट और दुख देने वाला। ज्वर का कारण है आमाशय में स्थित अग्नि की विकृति[1]। ज्वर के अनेक नामों का उल्लेख वेदों में मिलता है :-

१. शीर्षलोक, २. सहस्त्राक्ष, अर्चिः, ३. अर्चः, ४. तपुः, ५. शुष्मी, ६. तक्मा, ७. ग्रहीता, ८. शोचिः, ६. हुडूः, १०. शोकः, ११. अभिशोकः, १२. वरुणस्य पुत्रः, १३. व्यालः, १४. विगदः, १५. व्यंगः, १६. अमर्त्यः, १७. पाप्मा, १८. अभिशोत्रयिष्णुः, १६. रुद्रः, २०. हरितस्य देवः, २१. तक्मा (ज्वर) के भेद - १. अभ्रजा, २. वातजा, ३. शुष्मः, ४. परुषः, ५. अंग-भेद, ७. शीतः, ८. रूरः, ६. तृतीयक, १०. वितृतीय, ११. सददिंः, १२. शारद, १३. वार्षिक, १४. ग्रैष्मः, १५. विश्वशारदः, १६. अन्येद्युः, १७. उभयद्युः, १८. अरुण, १६. वभ्रुः, २०. वन्यः, २१. च्यवनः, २२. मोदनः, २३. अद्रतः, २४. धृष्णुः, २५. हावनः,

उपचार :- ज्वर की वैदिक औषधियाँ तीन ही कही गयी है :- (१) अंगिड, (२) कुष्ठ, (३) आजनै[2]।

(३) बलासः-वेदों में बलास का प्रयोग कफ या श्लेष्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह बल को नष्ट करने से बलास (बल अस्ततीति) कहा जाता है। ज्वर का भाई बलास कहा गया है तथा ज्वर को कास का साथ न करने को कहा गया है[3]।

उपचारः-बलास का विनाशक आंचन अ. (४/६/८/०), चीपु-द्रुम (६/१२७/१), बलास-नाशिनी (८/४/१०), जांगिड (१६/३४/१०)। इसमें जांगिड और चीपु नामक पेड़ का वर्णन निघण्टुओं में नहीं मिलता। इसी प्रकार श्लेष्मा का स्थान मुष्क है और श्लेष्मा भी आयुर्वेद में नहीं कहा गया है।

(४) अपर्चित (अपयी):-'आपक चीयमाना आपचितः'-जो गले से लेकर नीचे कक्षा, वंक्षणादि में गण्ड फैलता है, उसे 'अपचित' कहते हैं। इसे बाद में 'अपची' या 'गण्ड-माला' कहा जाने लगा। अथवा 'अपचिन्वान्तं पुरुषस्य वीर्यम्'-जो पुरुष का वीर्य अपचिन्वन् कर डालती है, उसे 'अपचित्' कहते हैं।

चिकित्साः-सूर्य और चन्द्रमा द्वारा इसकी चिकित्सा का उल्लेख वेदों में मिलता है। सूर्य की धूप में नग्न शरीर रहने से अपचियों को लाभ मिलता है, चन्द्र की चांदनी भी

---

१. शकल्येपि यदि वा ते जनित्रम्-अथर्व. १/२५/२ (शकलानां समूहः शकल्यं इच्छति इति शकल्ये ट्र (आमाशयाग्नि) तस्मिन् शकल्ये वि-भोजन के टुकड़ों को इच्छा करने वाली आमाशयाग्नि।

२. अथर्व-वेद-४/६/८

३. अथर्व-वेद, ५/२२/११ - १२

इस पर प्रभाव डालती है[1]। मुनि वृक्ष की जड़ से बांधने पर भी अपची ठीक हो जाती है।

(५) **हरिमा कामलाः**-पाण्डु रोग के लिए वेद में 'हरिमा या हरित नाम का प्रयोग किया गया है-'हरिमाणं व नाशय'-ऋग्वेद (१/५०/११)। वेदों के अनुसार शरीर में रक्त की कमी से त्वचा मे पाण्डुता उत्पन्न हो जाती है। रक्त-वर्ण को सूर्य की किरणों द्वारा शरीर में लेने से इसके रोगी को लाभ होना लिखा है। - गौ रो हितस्य वर्णन तेज त्वा परिदम्भसि।

चिकित्सा :- (१) सूर्य-स्नान :-हरिमा या पीलिया का नाश करने के लिए ऋग्वेद १०/५०/११ में प्रार्थना की गई है। अथर्व-वेद में भी लाल रंग की सूर्य-किरणों से पाण्डु-रोगी को आच्छादित करने का विधान वर्णित है। - 'या रोहिणी देवत्या गावैः[2]। इससे यही प्रकट होता है कि कामला-रोगी को नंगे शरीर करके रश्मि-स्नान कराया जाता था। (२) गोदुग्ध :- लाल रंग की गाय का दूध भी हरिमा-रोगी की हरितता को दूर कर रक्त-वर्ण उत्पन्न कर देता है। (३) हरिमा-रोगी को अंचल खिलाने से भी लाभ होता है। (४) हरिमा-रोग को शुक्र और रोपणाका पक्षियों में स्थापित करने और हरे रंग वाले वृक्षों में भी स्थापित करने का विधान मिलता है।

(६) **मूत्र-रोगः**-अथर्व-वेद के पहले काण्ड में द्वितीय और तृतीय सूक्त का अध्ययन करने से मूत्र-रोग में मूत्र-रोध और मूत्र-कृच्छ का पता चलता है। आंत्र, गवीनी तथा वस्ति में निरुद्ध मूत्र को खोजने का अथर्व-वेद में वर्णन मिलता है।

औषधि - सर - मूत्र-रोग और मूत्र-कृच्छ की औषधि शरका या शर-काण्ड लिखी गई है। इसकी जड़ का काढ़ा पिलाने से मूत्र-कृच्छ का नाश हो जाता है। यही कारण 'भावप्रकाश-निघण्टु' में भी 'मूत्र-कृच्छादि रोग-नुते' से प्रकट किया गया है।

(७) **क्षेत्रीय रोग**-इसका अर्थ है क्षेत्र से होने वाला रोग।

१. 'क्षेत्रे चिकित्स्यः'-५/२/९२, पाणिनि के सूत्र से क्षेयिथच पर 'क्षेत्रिय' शब्द बनता है। अर्थ है; जो पर अर्थात दूसरे जन्म के (क्षेत्र) शरीर में चिकित्सा के योग्य हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस रोग की चिकित्सा इस जन्म में असाध्य होने से न होकर दूसरे जन्म में होती है। २. दूसरा अर्थ है, (पर) पुत्र-पौत्रादिके (क्षेत्र) शरीर में जिसकी चिकित्सा हो अर्थात वंश-रम्परागत रोग[3]। ३. क्षेत्र (गर्भ) में उत्पन्न होने वाले रोग[4]।

---

१. सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु-७/८३/१

२. अथर्व., १/२२/३

३. सायण-भाष्य

३. भट्ट भास्कर-कृत भाष्य।

भाष्यकारों ने क्षेत्रिय रोग से क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि पारम्परिक रोगों को स्वीकार किया है, परन्तु प्राप्त मंत्रों के अध्ययन से ऐसा नहीं लगता।

उत्पत्तिः-अथर्व वेद के अनुसार किसी वनस्पति-विशेष के स्व-रस निकालने के समय यह रोग शरीर में प्रवेश करता है।

(८) **किलास (श्वेत-कुष्ठ-वर्णन)**:-अथर्ववेद में श्वेत कुष्ठ के अर्थ-बोधक दो पदों का प्रयोग किया गया है-'किलास पलितं च यत्' (१/२३/५१)। इन दोनों में त्वचा पर चिन्ह हो जाते हैं परन्तु स्त्राव नहीं होता। 'किलास' के चिन्ह कुछ अरुण (लाल) और रुक्ष होते हैं। 'पलित' सफेद होता है। वर्तमान में इन्हें क्रमशः 'किलास', और पलित श्वित्र' कहा जाता है। पंच-विंश ब्राह्मण (१२/११/११) में 'श्वित्र' तथा 'किलास' का प्रयोग, अथर्व-वेद (१/२३/३), वाजसनेयी संहिता ३०/२१, पंचविंश ब्राह्मण, १४/३/७ में हुआ है।

औषधि-इसकी दो औषधियों का उल्लेख मिलता है:-(१) असिविन,[1] (२) श्यामा[2]। सायण ने असिवन का अर्थ नीली नामक औषधि से किया है। 'श्यामा' का 'सरूपकरणी' पर्याय है। इसे भृङ्गराज का वाचक माना गया है।

(६) **विषूची (विषूचिका)**:-विषूची रोग के लिए वेद में दो मंत्र आए हैं[3]। यह रोग हमारे अपने खान-पान की अज्ञानता-रूप से होता है[4]।

चिकित्साः-इस रोग को दूर करने के लिए अग्नि से प्रार्थना की गई है-(I) इमं मे अग्ने, पुरुष मुकुन्ध अ. ६/III/२ (२) अग्निष्टं निशमयतु यदि ते मन उद्युतम् अ. ६/III/२। औषधि का नाम तो ज्ञात नहीं है परन्तु कृमिघ्न औषधियां ही प्रयोग की जाती है क्योंकि कृमिज न्य उन्माद की चिकित्सा में ही औषधोपयोग लिखा है।

आयुर्वेद में बवासीर के लिए अर्शस् नाम आया है[5]। अथर्ववेद में अर्शरोग के लिए दर्शाया, दुर्णानी और दुर्वाच नाम आये हैं। यह गुप्त रोग है, इसका नाम लेना अनुचित है, इसलिए 'बुरा नाम' वाचक शब्द 'दुर्णाम' और दुर्णाम्नी' रखे गए हैं। आयुर्वेद में गुदा में होने वाले बवासीर को दुर्णाम कहते हैं। मुख, नाक आदि पर होने वाले मस्सों के लिए 'दुर्वाच' शब्द है।

---

१. अथर्व-वेद, १/२३/१/३
२. अथर्व-वेद, १/२४/४
३. अथर्व-वेद ७/४२/१ व २
४. कृतं चिदेनः प्र-मुमुक्तमस्मद्-अथर्व-वेद ७/४/१
५. अथोहरिद्रवेषु ते हरिमाणं निदहमसि अ. १.२२.४

अथर्ववेद में अर्श की दो प्रकार की चिकित्सा का उल्लेख है - औषधिचिकित्सा और शल्यचिकित्सा। औषधिचिकित्सा में पृश्निपर्णी (माषपर्णी, चित्रपर्णी, पिठवन) और अपामार्ग का उल्लेख है। पृश्निपर्णी को बवासीर की चिकित्सा बताया गया है। निघण्टु में इसे बवासीर का नाशक नहीं बताया है, परन्तु चरक में अर्श चिकित्सा में अवाकपुष्पी, बला, दार्वी और त्रिकण्टक के साथ पृश्निपर्णी का नाम दिया गया है[1]।

अथर्ववेद के तीन सूक्तों (४, १७ से १९) में अपामार्ग (चिरचिटा) का गुणगान है। इसमें अपामार्ग को अर्श रोग की चिकित्सा बताया गया है।

मानस रोग

मानस रोग-सुश्रुत ने रोगों को चार भागों में बांटा है-आगन्तुक शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक।

शस्त्रप्रहार आदि से होने वाले आघात आगन्तुक है। अन्न-पान आदि की विषमता से उत्पन्न रोग शारीरिक है। क्रोध, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, काम, लोभ आदि से उत्पन्न रोग मानस रोग हैं। भूख, प्यास, निद्रा, बुढ़ापा आदि स्वाभाविक रोग है। इन सब रोगों के आधार शरीर और मन हैं। शारीरिक रोगों को व्याधि और मानस रोगों को आधि कहते हैं। इस प्रकार आधि और व्याधि में सभी रोगों का संग्रह हो जाता है[2]।

चरक ने इस विषय पर विस्तृत विचार किया है। चरक का मत है कि मानस रोग प्रज्ञापराध (बुद्धि के आदेशों की उपेक्षा) से उत्पन्न होते हैं। ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, अहंकार और द्वेष आदि मन के विकार अर्थात मानसिक रोग प्रज्ञापराध से उत्पन्न होते हैं[3]।

प्रज्ञापराध की परिभाषा चरक ने दी है कि धी (बुद्धि) धृति (धैर्य) और स्मृति (स्मरणशक्ति) के भ्रष्ट हो जाने पर मनुष्य जब अशुभ कर्म करता है, तब सभी शारीरिक और मानसिक रोगों को प्रकुपित करने वाले कारणों को प्रज्ञापराध कहते हैं।

प्रज्ञापराध का स्वरूप है - बुद्धि से उचित रूप से ज्ञान का न होना, विषम अर्थात अनुचित रूप से कर्मों के प्रवृत्त होना, यह प्रज्ञापराध है। यह विपरीत ज्ञान और विपरीत प्रवृत्ति मन के विषय हैं[4]।

---

१. जङ्गिडो जम्भाद् विशराद्। २.४-२
२. सुश्रुत. सूत्रस्थान १.३२ से ३४
३. ईर्ष्या-शोक-भय-क्रोध-मान-द्वेषादयश्च ये।
४. बुद्ध्या विषमविज्ञानं, विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयात्, मनो गोचरं हि तत्।

मानस रोगों के तीन कारण माने गए हैं :-

१. कुजल :- ये वंशपरंपरागत रोग होते हैं जो अनुकूल परिस्थिति मिलने पर रोग की उत्पत्ति करते हैं। २. मानसिक :- मन के विभिन्न संघटकों का सामंजस्य या अनुकूलता से न चलने से ये मानस रोग होते हैं। ३. शारीरिक :- शरीर में कतिपय रासायनिक परिवर्तन से या धातु -विकार से मस्तिष्क के कार्य में गड़बड़ी होने से ये मानस रोग होते हैं।

सुश्रुत का कथन है कि वही व्यक्ति स्वस्थ कहा जा सकता है, जिसमें वात-पित्त-कफ दोष साम्यावस्था में हों, जठराग्नि आदि अग्नियां सम हों, रस-रक्त आदि धातुएं तथा मल-मूत्रादि का निस्कास व्यवस्थित हो तथा जिसकी आत्म इन्द्रियां और मन प्रसन्न हो[1]।

चरक ने इस विषय में उपदेश दिया है कि जो सदा सुखी और स्वस्थ रहना चाहता है वह अपने आहार (भोजन), आचार (आचरण) और अपनी चेष्टाओं पर पूर्ण नियंत्रण रखें। साथ ही एक सामान्य आदेश दिया है कि मल (शौच) और मूत्र के वेग को न रोके, क्योंकि इनके रोकने से अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं। मल-मूत्र के वेग को अधारणीय वेग कहा गया है।

मन की प्रसन्नता और स्वस्थता मनुष्य को नीरोग रखती है और उसका दूषित होना रोगों का कारण है। अतएव मैत्रायणी उपनिषद् में कहा गया है - मन ही मनुष्य के बन्धन (व्याधियुक्त होना) और मोक्ष (रोगरहित होने) का कारण है। ऋग्वेद और यजुर्वेद का कथन है कि यदि वृत्र (पाप, रोग व्याधि) को नष्ट करना है तो मन को शुद्ध रखो।

यजुर्वेद के ६ मंत्रों में 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' अर्थात् मेरामन शुभ विचारों वाला हो, यह प्रार्थना की गयी है और कहा गया है कि मन ही मनुष्य की समस्त क्रियाओं और चेष्टाओं को नियंत्रित करता है। संयमशील मन योग्य सारथी के तुल्य मनुष्य को ठीक मार्ग पर ले चलता है। यदि मन दूषित है तो शरीर भी दूषित और रोगग्रस्त हाता है।

मन को ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों आदि में ब्रह्म, संम्राट, ब्रह्म, प्रजापति आदि कहा गया है। मन की शक्ति अपार है। मन की शक्ति से केवल हस्तस्पर्श के द्वारा रोगी को नीरोग करने का ऋग्वेद में उल्लेख है[2]। मनोबल में इतनी बड़ी शक्ति होती है कि वह बड़े से बड़े रोगों को भस्मसात् करके मनुष्य को पूर्ण नीरोग बना सकता है। इसी पद्धति का आश्रय लेकर स्वसंकल्प-शक्ति नामक चिकित्सा पद्धति का आविष्कार हुआ है।

---

१. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सुश्रुत, सूत्र. १५.४८

२. हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां त्वा, ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि।। ऋग्. १०.१३७.७

क्रोध-अथर्ववेद में क्रोध की चिकित्सा का वर्णन है[१]। इसमें दर्भ और भूरिमूल औषधियों का उल्लेख है। दर्भ कुश को कहते हैं। भावप्रकाश में इसे शीतल कहा गया है। जल में कुश को डालकर रखें और फिर छ़ना हुआ पानी पीयें। इससे क्रोध शांत होता है। अथर्ववेद में दूसरी औषधि भूरिमूल बतायी गई है। भूरिमूल का अर्थ है - बहुत जड़ों वाला। कैथदेव निघण्ट में खस को बहुमूल कहा गया है[२]। खस का प्रयोग शीतलता के लिए किया जाता है। खस में दाह, मद, थकान आदि दूर करने का गुण है। खस का छना हुआ जल या खस को पीस कर छानकर उसका जल सेवन करें।

स्त्री एवं प्रसूति रोग

सुख-प्रसूति - ऋग्वेद में वर्ण न है कि अश्विनीकुमारों ने वध्निमती की व्यथा सुनी और उन्होंने सुख-प्रसव कराया[३]। अथर्ववेद में एक सूक्त में नारी-सुख-प्रसूति का ही वर्णन है। किस प्रकार दसवें मास में शिशु का सुखपूर्वक जन्म हो तथा आवश्यकतानुसार शल्यक्रिया के द्वारा शिशु को गर्भाशय से निकाला जाए[४]।

प्रसूति-ज्ञानः-ऋग्वेद और अथर्ववेद में कुछ मंत्रों में गर्भाशय और योनि के रोगों को दूर करने के लिए अग्नि तथा अन्य साधनों के उपयोग की आवश्यकता बताई गई है[५]। मंत्र का कथन है कि गर्भाशय और योनि में जो दुर्णामन् कृमि (दुष्ट कृमि) प्रवेश कर गए हैं, उनको अग्नि के द्वारा नष्ट करता हूँ। इस प्रकार गर्भाशय और योनि में सभी हानिकारक कृमियों के नाश का उल्लेख है। आचार्य चरक और सुश्रुत में गर्भाधान से लेकर शिशु-जन्म तक भ्रूण की स्थिति का विस्तृत विवरण दिया गया है और गर्भनाशक भावों को दूर करने की विधि बताई है[६]।

स्त्रीरोगः-अथर्ववेद आदि में स्त्रीरोगों में उपयोगी कतिपय औषधियों का उल्लेख है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में अपामार्ग (चिरचिटा, लटजीरा चिंचीड़ा) का अनेक बार उल्लेख है[७]। इसको सबसे अधिक प्रभावशाली औषधि कहा गया है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यह अत्यधिक रजःस्त्राव रोग में विशेष लाभप्रद है[८]।

---

१. अयं दर्भो विमन्युकः .. मन्युशमन उच्यते। अ. ६.४३.१
२. उशीरं वीरणं... बहुमूलम्.। कैयदेव निघण्टु।
३. युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः। ऋग् १०.३९.७
४. वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके। अ. १.११.५
५. ऋग्वेद १०.१६२.१ से ४, अथर्व. २०.९६. ११ से १६
६. चरक, शारीर. अध्याय ४। सुश्रुत, शारीरं अ. ३
७. अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी। अ. ४ सूक्त १७ से १९
८. भाव. गुडू २१७-२२१। पृष्ठ २३७-२३९

यजुर्वेद और अथर्ववेद में उदुम्बर (गूलर) का उल्लेख है। पाश्चात्य मत है कि यह पाचक, वायुनाशक और आध्मानहर (अफारा दूर करने वाला) है। यह रक्तप्रदर, रक्त पित्त और रक्तवमन आदि में हितकर है। गूलर की मूल (जड़) श्वेत प्रदर में लाभ करता है।

योनिरोग-अथर्ववेद आदि में योनिरोगों को दूर करने वाली कतिपय औषधियों का उल्लेख है। ऋग्वेद आदि में वेतस (वेत) का उल्लेख है[1]। यह योनिरोग, मूत्रकृच्छ, रक्तपित्त और पथरी में लाभप्रद है। अथर्ववेद में वट (वड़) का उल्लेख है। यह योनिरोग, शुक्रक्षीणता, सूजाक मधुमेह और मूर्च्छा को दूर करता है। अथर्ववेद में साल या शाल (साखू) वृक्ष का उल्लेख है। यह योनिरोग, कर्णरोग, बहरापन और चर्मरोगों को नष्ट करता है[2]।

हस्त-पाद के दोष

हाथ पैर फटना-यजुर्वेद और अथर्ववेद में न्यग्रोध (वट या वड़, शब्द १२९) का उल्लेख है। हाथ-पैर फटने में इसके दूध का प्रलेप हितकर है।

कुनख रोग-कुनख का अर्थ है - कुत्सित या विकृत नाखून और कुनखिन् का अर्थ है विकृत नाखून वाला। इनके पास बैठने का निषेध है, अतः यह संक्रामक रोग ज्ञात होता है। यह कुष्ठ या महाकुष्ठ रोग है, इसमें नाखून विकृत हो जाते हैं या गल जाते हैं। माधवनिदान, चरक और सुश्रुत में भी इसका उल्लेख है।

पादरोग-अथर्ववेद में इस पादरोग का उल्लेख है। मंत्र का कथन है कि मेरी आंखों, दोनों ऐड़ियों और दोनो पंजों में जो दर्द या शूल है उसको औषधियों में श्रेष्ठ माना गया जल दूर करें[१०४]। इस मंत्र में जल-चिकित्सा को पादरोगों के लिए सर्वोत्तम बताया गया है। घुटना, पैर, पैर के पंजे आदि के शूल या अन्य रोगों के लिए रोगग्रस्त अंश पर धार से पानी डालें। यह कार्य ५-७ मिनट करें। बाल्टी में शीतल जल में पैर डालकर ५ या १० मिनट बैठें। तुरन्त की चोट, क्षत आदि में गर्म पानी में नमक डाल कर पैर को सेंके। इससे सूजन, मोच आदि ठीक हो जाती है।

मोह, शोक-अथर्ववेद में मोह, शोक आदि दोषों को दूर करने के लिए सोम आदि औषधियों का उल्लेख किया गया है[3]। इन दोषों में शपथ्य (क्रोधजन्य दोष), वरुण्य (जलीय दोष और मानसिक दोष, मोह आदि), आंख वाणी आदि के दुरुपयोग से जन्य दोष एवं मानसिक दोष हैं। इन सभी की चिकित्सा सोम औषधि है[4]।

---

१. हिरण्ययो वेतसः। ऋग् ४.५८.५

२. भाव. वटादि. १९ से २१। पृष्ठ ३४२

३. या ओषधयः सोमराज्ञी ..... ते नो मुंचन्त्वंहसः। अ. ६.९६.१

४. मुंचन्तु मा शपथ्यादयो वरुण्यादुत। अ. ६.९६.२

ईर्ष्या – ईर्ष्या रोग की भी औषधि अथर्ववेद में वर्णित है। यह औषधि समुद्र के समीप से लायी जाती है[१]। अथर्ववेद में ईर्ष्याजन्यं हानि का उल्लेख किया गया है कि यह मनुष्य को अन्दर ही अन्दर आग की तरह जलाती रहती है । जिस प्रकार दावाग्नि वृक्षों को जला देती है, उसी प्रकार ईर्ष्या मनुष्य की जीवन शक्ति को भस्मसात कर देती है। जिस प्रकार शीतल जल से अग्नि को शान्ति करते हैं, उसी प्रकार सद्विचाररूपी जल से ईर्ष्या को शान्त करना चाहिए[२]।

वेदों में निर्दिष्ट वनस्पतियां

वैदिक वाङ्मय में लगभग १५०० औषधियों का उल्लेख मिलताहै, जिनमें से कुछ का नाम निम्नलिखित है :-

१. अजशृंगी[३], २. अतस, असतसी, ३. अक्ष, ४. अपराजिता, ५. अपामार्ग, ६. अभ्रिखाता, ७. अमूला, ८. अर्क, ९. अर्जुन, १०. अलाबू, ११. अशोक, १२. अलसाला, १३. अवध्नती, १४. इन्द्राणी[४], १५. उग्रौषधि १६. उदुम्बर[५], १७. कंकदन्ती, १८. करीर, १९. कुमुद[६], २०. कुष्ठ, २१. खदिर, २२. खर्जूर, २३. खल्व[७], २४. कूदी, २५. गुल्गुलु, गुग्गुल, २६. जीवन्ती, २७. तिल, २८. तीक्ष्णशृंगी[८], २९. दूर्वा, ३०. दिव्यौषधि, ३१. पलाश[९], ३२. पिप्पल, ३३. पुनर्नवा, पुनर्णवा, ३४. पुण्डरीक, ३५. प्रियंगु, ३६. वेज ११६, ३७. बला, ३८. विभीतक, बिभीदक, विभीदक, विभीतक, ३९. बिल्व, ४०. मसूर, ४१. रामा, ४२. लाक्षा[१०], ४३. वचा, ४४. बट, ४५. विषा[११], ४६. वेतस, ४७. शंखपुष्पी, न्यस्तिका, ४८. शतावर[१२], ४९. शण[१३], ५०. अश्वस्त।

---

१. सिन्धुतस्पर्याभृतम्.. ईर्ष्याया नाम भेषजम्। अ. ७.९६.१
२. अग्नेरिवास्य दहतो ..... ईर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय। अ. ७.४५.२
३. अजशृंगी अराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषतु। अथर्व. ४.३७.६
४. पैप्प. ९.१०.९। भाव. गुडू १९६-१९९। पृष्ठ २२८-२३०
५. औदुम्बरीम् आदधाति, ऊर्ग् वा उदुम्बरः। तैत्ति. ५.१.१०.१
६. भेषजम्.... अभिरोरुदम्। अथर्व. ७.३८.१
७. आम्वानां चरुम्। तैत्ति. सं. १.८.१०.१, काठक सं. १५.५
८. भावप्रकाश. हरीतक्यादि. ५३ से ५८। पृष्ठ १४ से १६
९. आंजनगन्धि सुरभिम्। ऋग्. १०.१४६.६
आंजनं त्रैक्कुमम् आङ्क्ते। मैत्रीयणी. ३.६.३
१०. शतदंष्ट्रां जयन्तीम् अपराजिताम्। पै. २०.२०.६
११. इर्पीकामिव १३. ७.५६.४
१२. शतपथ. ६.६.२.११
१३. अश्वावतीं सोमावतीम्। ऋग् १०.९७.७। यजु. १२.८१ पैप्प. सं. ११.६.१०

आयुर्वेद के अन्य अंग विष प्रकरण

वेद में विष के तीन नाम मिलते हैं :-

(१) विष :- विष्ट् व्याप्तौ' से बनता है। जो खाते ही शरीर में व्याप्त हो जाता है, विष है[1]।

(२) मक्षवती :- जिसके खाने से मद उत्पन्न होता है। (३) दुष्टनुः :- यह खाने से शरीर को दूषित करता है[2] जो दो प्रकार का होता है - (१) स्थावर और (२) जंगम।

(१) **स्थावर विष**-यह पृथ्वी, पर्वत, औषधि और कन्दों से निकाला जाता है।

(२) **जंगम विष** - यह सर्प, वृश्चिक, मशक कीट-पतंग कृमि जलचर विषैले जीव तथा जीवाणुओं में मिलता है। कुछ प्राणियों में यह सींग और मल-मूत्र में भी मिलता है। (१) सर्प-विष-अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वां विषम्[3] (हे सांप ! तू मर जा, मत जीवित रह, तेरा विष वापस तुझे ही पहुंचे), (२) वृश्चिक-विष- 'अरसं वृश्चिक ! ते विषम् (हे बिच्छू ! तेरा विष निर्वीर्य कर दिया गया है) (३) मशक-विष - यह मच्छरों के काटने से होता है-'अर्भस्य त प्रक्षशिनो मशकस्यारसं विषम्[4]'। छोटे-छोटे तीन स्थानों पर उड़ने वाले मशक का विष निर्विष कर दिया गया है। (४) कीट-विष :- 'शरासः कुशरासो दर्भाः सैर्यया उत। मौञ्जा अदृष्टा वैरिणा सर्वे साकं व्यलिप्सत।। सर, कुशर, दर्भ सीयूर्य, मुज्ज तथा वीरिण नामक तृणों में अदृष्ट अर्थात छिपे हुए कीट जो इनके साथ चिपके हुए हैं। (५) जीवाणु विष :- 'यो मा पिशाची अशने ददम्भ[5]' - जिस पिशाच जीवाणु ने भोजन में प्रवेशकर मुझे हानि पहुंचाई है। 'क्षीरे मा मन्ये यतमो ददम्भ[6]' - क्षीर और मन्य-भोजन में जिसने हानि पहुंचाई है। 'ये अन्नेषु विविध्यान्ति पात्रेषु पिवतो जनान्[7]' - उच्छिष्ट (जूठे) बर्तनों में लगे हुए जीवाणु जो खाने-पीने वाले पदार्थों को विषैला करके कष्ट देते हैं। (६) जल-चारी विष - 'अथो सतीन-कंकतः[8] -सतीन अर्थात जल में रहने वाले विषैले जीव। (७) श्रृंग तथामल-मूत्रादि का विष :- 'श्रृंगात् कुल्मलन्निरबोधमहं विषम्-श्रृंग तथा कुत्सित मल-मूत्र आदि से उत्पन्न विष को मैं दूर करता हूं।[9]

---

१. अथर्व., १०/४/२२

२. अथर्व., ४/७/६

३. १०/४/२२ कन्दा-विषं कनवनकं निरैत्वैतु ते विषम्।

४. अथर्व वेद - ७/५८/३

५. ऋग्वेद - १/१६१/३

६. अथर्व-वेद-५/२६/६

७. अथर्व-वेद-५/२६/६

८. ऋग्वेद - १/१६/१

९. अथर्व-वेद, ४/६/५

सर्पों के भेद अथर्ववेद में ३५ प्रकार के सर्पों का निरूपण हुआ है।

गर्भाधान प्रकरण

वेद में गर्भाधान को बड़ी विशेषता दी गई है। इसका उद्देश्य- दीर्घजीवी, तथा वीर सन्तान की उत्पत्ति है। नर और नारी को इस प्रकार के साधनों का प्रयोग करना चाहिए; जिससे पूरे दशमें मास में, वीर सन्तान पूर्णाक उत्पन्न हो। आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः। इस मंत्र में यह निर्देश किया गया है; कि दम्पती स्वयं पुष्ट हो; जिससे वीर सन्तति उत्पन्न हो।

वाजीकरण प्रकरण

वाजी (अश्व) की भांति दीर्घ, स्थूल, सवीर्य तथा दृढ़ शिश्न द्वारा गर्भाधान सामर्थ्य क्रिया का नाम वाजीकरण है। वेद में कृश तथा निवीर्य पुरुषों के लिए चिकित्सा का वर्णन है। येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्। जिस चिकित्सा कर्म में कृश को वाजी और रोगी को पुष्ट बनाया जाता है वह बाजीकरण कर्म है। जिन पुरुषों में क्लीवता है उनक लिए वे में मृतभ्रज पद का प्रयोग किया है। मृतभ्रंज का अर्थ है जिसकी भ्रज (गर्मी) मर चुकी है। वाजी करने के लिए शेष हर्षणी औषधि का प्रयोग लिखा है। यह औषधि क्लीबता को दूर कर पुरुष को शुष्मवत्तर कर देती है। ध्वज भंग रोगी को, भिषम् औषध देकर वीर्यवान् तथा भोग सामर्थ्य बनाता है। आहं तनोमि ते पसः। वेद में भिषक् का नाम तनूवशी है; अर्थात् जो शीर को वश में कर लेता है। नपुसंक के शिश्न को अश्व, अश्वतर, अज, पेतु (मेढा), ऋषभ, तायावर परस्वत् (मृग विशेष) हस्ती, गर्दभ के शिश्नों की भांति वाजीवान् बनाने का वर्णन आता है।

ऋग्वेद-संहिता में वृद्धावस्था से जीर्ण हुए च्यवन तथा वन्दन ऋषि के, अश्विनी-कुमारों द्वारा रसायन-प्रयोग से, पुनः यौवन की प्राप्ति का वर्णन मिलता है। अश्विनी-कुमारों ने नपुंसक पतिवाली वध्रिमती के भी पुत्रोत्पादन कराया था।

ग्रह-विद्या प्रकरण

वेद में कृत्या, अभिचार और अलग-अलग पद प्रायः आते हैं। कई लोग इनसे जादू-टोने का अर्थ ग्रहण करते हैं तो कुछ शत्रु-वधार्य प्रयुक्त घातक द्रव्यों से अर्थ ग्रहण करते हैं। 'कृत्या' मारने के लिए किए जाने वाले कर्म को कहते हैं। 'वलग्' भी एक घातक प्रयोग है, जो शत्रुओं के वधार्थ बाहु-प्रदेश मात्र भूमि खोद कर नीचे गाड़ दिया जाता है। 'कृत्या' की आकृति बनाकर प्रयोग किया जाता था। इसके सिर, नाक, कान तथा पैर होने का उल्लेख मिलता है। **शिति-पदी संद्यतु शख्ये ये चतुष्पदा अ.११/६/१०। शीर्षष्वती**

नस्वती कर्णिनो १०/१/२। कृत्या का प्रयोग विद्वान्, साधारण पुरुष, ब्राह्मण, राजा, शूद्र और स्त्री करते हैं। इसके प्रयोजकों की निन्दा की गई है। वेदों में वन-ग्रहों की कल्पना की जा चुकी थी। सूंर्यादि नौ ग्रहों की प्रकृति के अनुसार रोगों का निर्धारण ज्योतिष-शास्त्र में किया गया है। उनके लिए ग्रह-पूजा व शान्ति की जाती थी।

शल्य प्रकरण

वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में शल्य चिकित्सा से सम्बद्ध महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं इनमें भी विशेष सामग्री ऋग्वेद और अथर्ववेद में ही प्राप्त होती है। शल्य चिकित्सा से सम्बद्ध जितने मंत्र हैं, वे प्रायः अश्विनी और इन्द्र से सम्बद्ध है। अश्विनी देवाताओं के वैद्य हैं और कायचिकित्सा और शल्य-चिकित्सा में प्रवीण हैं[1]। असंभव से असंभव कार्यो को भी अश्विनी सद्यः कर देते हैं। अतः ऋग्वेद में अनेक सूक्तों में उनके महत्वपूर्ण कार्यो का उल्लेख है[2]। शल्य चिकित्सा से विशेष उल्लेखनीय चमत्कार ये हैं :- दृष्टिदान-अश्विनी कुमारों ने अन्धे राजर्षि ऋज्राश्व को नेत्रज्योति प्रदान की। उन्होंने ऋषि कण्व को नेत्रज्योति देकर चलने-फिरने के योग्य बनाया[3]। अश्विनी कुमारों ने अंधे और पंगु परावृज ऋषि को देखने के लिए नेत्र और चलने के लिए पैर दिए। अश्विनी कुमारों के लिए कहा गया कि वे अन्धे, निर्बलों और घायलों की चिकित्सा के विशेषज्ञ हैं। श्रवणशक्ति दान-अश्विनी कुमारों की प्रशंसा में ही लिखा गया है कि उन्होंने नृषद् के पुत्र बहरे नार्षद ऋषि को श्रवणशक्ति प्रदान की[4]। छिन्न अंगों को जोड़ना-असुरों ने श्याव ऋषि के शरीर को तीन टुकड़ों में काट दिया था। अश्विनी कुमारों ने उसके कटे तीनों भागों को जोड़कर उसे स्वस्थ और निरोग बनाया[5]। असुरों ने रेभ ऋषि को काटकर कूप में डाल दिया था। अश्विनी कुमारों ने उसे कूप से निकाला और उसके छिन्न-छिन्न अंगों को फिर चिकित्सा के द्वारा जोड़ दिया। ऋग्वेद और सामदेव में अश्विनी के अतिरिक्त इन्द्र को भी महान् चिकित्सक बताया गया है। वह किसी प्लास्टर की सहायता लिए बिना गर्दन आदि की टूटी हड्डियों को जोड़ देता है और सभी अंग-भंग को ठीक करके जोड़ों को मिला देता है। अथर्ववेद में शल्य-चिकित्सा से सम्बद्ध कुछ औषधियों का भी उल्लेख है। रोहणि औषधि के विषय

---

१. देवानां भिषजौ। यजु. २१.५३
२. ऋग्वेद १.११२. १ से २५; १.११६ १ से २५; १.११७. १ से २५ आदि
३. महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय। ऋग्. १.११७.८
४. नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम्। ऋग्. १.११७.८
५. त्रिधा ह श्यावामश्विना विकस्तम्।
उज्जीवस ऐरयतं सुदानू।। ऋग्. १.११७.२४

में कहा है कि यह घाव, चोट, हड्डी टूटने आदि की चिकित्सा है[1]। इस सूक्त में भद्रर औषधि का भी उल्लेख है। रोहिणी को अरुन्धती कहा गया है। क्षत एवं मर्मस्थलों को अरुस कहते हैं, उनके घावों को ठीक करने के कारण रोहिणी को अरुन्धती कहा है।

उपरोक्त व्याख्या एवं विषय वस्तु से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकवाङ्मय या वैदिक साहित्य में विखरे हुए मंत्रों में आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक रोगों को परिचय एवं उनकी चिकित्सा का निरुपण मिलता है। इन रोगों के लक्षण हेतु व चिकित्सा के विषय में समय के साथ-साथ परिवर्द्धन आवश्यक हुआ है; परन्तु आयुर्वेद का मूल सन्दर्भ वेदों में ही था। यह वात दृढ़तापूर्वक एवं तर्क सहित सिद्ध हो जाती है।

---

१. रोहण्यति रोहणी - अस्थूनश्छिन्नस्य रोहणी।
रोहयेमरुन्धति। अथर्व ४.१२.१

चतुर्थ अध्याय

आयुर्वेद के आचार्य

परिचय-आयुर्वेद की दो परम्पराओं में वेद की परम्परा में रुद्र (शिव) को प्रथम भिषक् तथा आयुर्वेदिक संहिताओं की परम्परा में ब्रह्मा को आयुर्वेद का प्रथम उपेष्टा माना गया है। आयुर्वेद के एक अंग रसशास्त्र के लिए भगवान् आशुतोष शिव को प्रथम उपदेष्टा माना गया है। वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम है तथा इसका काल ई.पू. ४००० या ६००० माना जाता है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में आयुर्वेद का वर्णन आया है, जो यत्र-तत्र एवं संक्षिप्त सूत्रों के रूप में है। यजुर्वेद एवं सामवेद में ऋग्वेद के ही मन्त्र ज्यों के त्यों आए हैं। इन तीनों वेदों में आए आयुर्वेद विषयों का एकत्र एवं क्रमबद्ध वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है। आयुर्वेद का सम्बन्ध मुख्यतः अथर्ववेद से ही है तथा आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपाङ्ग माना गया है। काश्यप-संहिता में वेदों के साथ आयुर्वेद को भी पाँचवा वेद माना गया है। आयुर्वेद की परम्परा में ब्रह्मा ने आयुर्वेद को प्रजा के उत्पन्न करने से पूर्व ही स्मरण किया तथा उपनिवद्ध किया। उस समय यह उपनिवन्ध एक लाख श्लोकों में और एक हजार अध्यायों में था। ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण आयुर्वेद अनादि कहा जाता है। आयुर्वेदावतरण के आख्यान में ब्रह्मा से इन्द्र तक का काल वस्तुतः वैदिक काल ही है, फिर उसके बाद संहिताओं का काल प्रारम्भ होता है।

वैदिक परम्परा के आचार्य -वैदिक साहित्य में दो प्रकार के भिषक् का उल्लेख आया है-१. दैवभिषक् और २. मानुषभिषक्। दैवभिषक् अग्नि, रुद्र, वरुण, इन्द्र, अश्विनौ, मरुत एवं सरस्वती को माना गया है, जिनमें सरस्वती स्त्रीवाची है। परमात्मा को देवों में सबसे बड़ा वैद्य बताया गया है। आयुर्वेद के मन्त्रों का वर्णन सभी वेदों में यत्र-तत्र अवश्य आया है। सर्वानुक्रमणिका नामक ग्रन्थ में वेद मन्त्रों में आए आयुर्वेदिक मन्त्रों के दृष्टा ऋषियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें-अथर्वा, अत्रि, अथर्वाङ्गिरा, अंगिरा, वृहस्पति, विश्वामित्र, मनु, गौतम, शौनक, सविता आदि ७६ की गणना की गई है।

ब्रह्मा-ब्रह्मा को आयुर्वेद का आदि प्रवर्तक और प्रथम उपदेष्टा कहा गया है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताया है तथा यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद की एक लाख श्लोकों वाली एवं एक हजार अध्यायों वाली "ब्रह्मसंहिता" का निर्माण किया था। यह सृष्टिकाल से ही आयुर्वेद के अस्तित्व की सूचना देता है। कोई वस्तु जब अनादि काल से परम्परा के द्वारा प्रवाहित होती रहती है, तो उसे शाश्वत कहते हैं अतः आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है। इस सृष्टि में ज्ञानका प्रथम प्रकाश ब्रह्मा के द्वारा ही होने के कारण ब्रह्मा को सृष्टि में ज्ञान का प्रसार करने वाला कहा गया है। जल प्लावन

के बाद पृथ्वी पर पुनः औषधियों एवं अन्न उत्पन्न हुए। इन्हीं औषधियों के रस से परमशक्ति संपन्न परमात्मा द्वारा ब्रह्मा जी का सातवाँ जन्म हुआ और उन्हीं के साथ अन्य परम् सप्तऋषि भी प्रकट हुए हरिवंश-पुराण में इसका उल्लेख प्राप्त होता है-**यदिदं सप्तंम जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृपः।**

शब्दकोषों एवं पुराणों में ब्रह्मा जी के अनेक पर्याय नाम भी आए है जैसे-स्वयंभू, विरंचि, पितामह, हिरण्यगर्भादि। मुण्डकोपनिषद् में अथर्वा को ब्रह्मा जी का ज्येष्ठ पुत्र बताया गया है। अन्य अनेक ऋषि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र थे, परन्तु इनकी मूलसंहिता प्राप्त नहीं होती है। चरक के अनुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया था। सुश्रुत-संहिता, काश्यपसंहिता, अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, भावप्रकाश आदि सभी ग्रन्थों ने भी ब्रह्मा द्वारा आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति को दिया गया था, यह स्वीकार किया है।

दक्ष प्रजापति-महाभारत में उल्लेख आता है कि ब्रह्माजी के मानस पुत्र दक्ष ही दूसरे जन्म में प्रचेतस् दक्ष हुए हैं। इनका काल त्रेता के प्रारम्भ में माना गया है। ज्ञान का प्रसार पूर्व में ब्रह्मा जी ने किया, किन्तु सृष्टि (प्रजा) की उत्पत्ति प्रजापति द्वारा हुई। अष्टांगसंग्रह निदान स्थान में ज्वरोत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचेतस् दक्ष का उल्लेख मिलता है। यद्यपि भारतीय इतिहास में २१ प्रजापतियों का उल्लेख मिलता है, परन्तु आयुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले प्रचेतस् दक्ष ही माने गए हैं। दक्ष प्रजापति ने ब्रह्मा जी से आयुर्वेद का अध्ययन किया एवं अश्विनीकुमारों को इसका उपेदश किया। चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता में वर्णित आयुर्वेदावतरण के क्रम क्रमशः आत्रेय सम्प्रदाय तथा धान्वन्तर सम्प्रदाय कहलाते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ-१६) में एक और सम्प्रदाय का उल्लेख आया है जिसे भास्कर सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रजापति ने चारों वेदों का अध्ययन करके आयुर्वेद को पञ्चम वेद बनाया और उसे भास्कर को दिया। भास्कर ने उसके आधार पर अपनी स्वतन्त्र संहिता "भास्करसंहिता" का निर्माण किया और आयुर्वेद का ज्ञान अपने १६ शिष्यों में वितरित किया, जिन्होंने पुनः अपनी-अपनी संहिताएँ बनाईं। भास्कर के शिष्यों तथा उनकी रचनाओं का विवरण इस प्रकार है -

१.	धन्वन्तरि	-	चिकित्सा तत्त्वविज्ञान
२.	दिवोदास	-	चिकित्सादर्पण
३.	काशिराज	-	चिकित्सा कौमुदी
४.	अश्विनीकुमार	-	चिकित्सासारतन्त्र
५.	नकुल	-	वैद्यकसर्वस्व
६.	सहदेव	-	व्याधिसिंधुविमर्दन
७.	यम (अर्कि)	-	ज्ञानार्णव
८.	च्यवन	-	जीवदान तन्त्र

९.	जनक	-	वैद्यसन्देह भंजन
१०.	चन्द्रसुत बुद्ध	-	सर्वसार
११.	जावाल	-	तन्त्रसारक
१२.	जाजलि	-	वेदांगसार
१३.	पैल	-	निदान
१४.	करथ	-	सर्वधर
१५.	अगस्त्य	-	द्वैवनिर्णय
१६.	दस्र	-	भ्रमध्न

अश्विनीकुमार-(आश्विनीकुमारद्वय)

भारतीय वैदिक वाङ्मय एवं पाश्चात्य इतिहासकारों के विवरण से ज्ञात होता है कि कश्यप प्रजापति परम् श्रेष्ठ ऋषि थे। ये अनेक वेद-मन्त्रों के दृष्टा तथा दैत्यों, दानवों तथा देवों आदि के पिता थे। अदिति, दनु और दिति नामक तीन दक्ष प्रजापति की प्रसिद्ध कन्याएँ थी। दैत्य दिति से, दानव दनु से तथा देव अदिति से उत्पन्न माने गए है। अदिति सन्तान आदित्य अथवा देव संख्या में बारह थे। इन बारह में से प्रसिद्ध देव विवस्वान् के चार पुत्र थे। वे विवस्वान के चार पुत्रों में मनु, यम और अश्विनीद्वय थे। अश्विनीद्वय देवभिषग् बन गए तथा मनु भारतवर्ष के और यम इरान के राजा बने (यास्क के अनुसार) अश्विनीद्वय ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था तथा इन्हें कुछ प्रमुख नाम नासत्य एवं दस्त, देवभिषक्, यज्ञवाह आदि नामों से भी जाना जाता था। ये युगल थे तथा कायचिकित्सा एवं शल्य-चिकित्सा के संयुक्त प्रतीक थे। वेदों में इनके द्वारा किए गए चमत्कारी कार्यों का वर्णन है। ये अद्‌भुत चिकित्सक थे जिन्होंने देवताओं, मनुष्यों और पशुओं तक की भी सफल चिकित्सा की थी। इनकी लिखी हुई "आश्विन् संहिता" का भी कई प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख आया है। गद निग्रह में हिंग्वादि चूर्ण के अन्त में "अश्विनसंहितायाम्" पाठ आया है। नावनीतक में भी आश्विन् संहिता का उल्लेख आया है। विशेष रूप से इनकी ख्याति देवताओं के वैद्य के रूप में है। इनका वर्णन लोकवैद्यों में भी महाभारत के आदि पर्व में आया है - उपमन्यु के द्वारा आक के पत्ते खाए जाने पर वह अन्धा हो गया था, तब आचार्य ने भी अश्विनीकुमारों की स्तुति करने को ही कहा था और अश्विनीकुमारों ने उसे स्वस्थ किया था। इससे ज्ञात होता है कि ये पृथ्वी पर भी आकर चिकित्सा किया करते थे। हठयोग के अनुसार वाम और दक्षिण नासा पुटों को ही अश्विनीकुमार कहा जाता है। इन्हीं को इडा पिंगला भी कहा जाता है। महाभारत शान्ति पर्व में इन्हें शूद्र बताया गया है। इन्हें यज्ञ का भाग नहीं मिलने का उल्लेख हुआ है। बाद में च्यवन ऋषि ने युवा होने पर इन्हें यज्ञ का भाग दिलवाया था। अश्विनीकुमारों का काल देव युग माना गया है। ये

अमृतपान करने के कारण दीर्घजीवी थे। ऋग्वेद के अनुसार सरण्यु की सन्तान हैं। इनसे विवस्वान् एवं सक्षयु से उत्पन्न दो पुत्रों नासत्य और दस्र को अश्विनीद्वय भी कहा जाता है।

आयुर्वेदावतरण के प्रसंग में अश्विनीकुमारों ने समस्त आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति से प्राप्त करने के पश्चात् पुनः इन्द्र को दिया अर्थात् इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान अश्विनीकुमारों से प्राप्त किया।

इन्द्र - यद्यपि अनेक इन्द्रों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है किन्तु आयुर्वेद से सम्बन्धित देवराज इन्द्र प्रजापति कश्यप और अदिति के १२ पुत्रों में से एक थे। श्रेष्ठ गुणयुक्त होने के कारण इन्होंने देवराज नामक पद को ग्रहण किया था। महाभारत शान्तिपर्व में १२ आदित्यों के नाम आए है, जो इस प्रकार हैं - भृगु, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, पूषा, त्वष्टा, इन्द्र, विष्णु। इन्द्र के लिए शचीपति, सर्वेश्वर, अमराधिपति आदि अनेक नाम आयुर्वेदीय संहिताओं में मिलते हैं। इनका काल वैदिक गणना के अनुसार विक्रम संवत् से लगभग ८५०० वर्ष पूर्व माना जाता है क्योंकि इन्द्र ने त्रेतायुग के अन्त में विभिन्न ऋषियों को आयुर्वेद का उपदेश दिया था, अतः उपरोक्त काल युक्ति युक्त है। इन्द्र को बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता माना गया था, जिन्होंने अनेक गुरुओं से अनेक विद्याएं ग्रहण की थीं। जैसे प्रजापति से दर्शन, वृहस्पति से शब्द शास्त्र, यम से पुराणों का ज्ञान एवं अश्विनीकुमारों से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। अपने ज्ञान को इन्द्र ने अपने १० शिष्यों को दिया, जिनमें भृगु, अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, पुलस्त्य, वामदेव, असित एवं गौतम आदि प्रमुख हैं। इनमें से बहुत कुछ ऋषियों के नाम चरक एवं कश्यप-संहिता आदि में भी आए है। देवासुर संग्राम में इन्द्र ने भाग लिया था तथा विजय प्राप्त की थी। देवराज इन्द्र के जीवनवृत्तान्तविषयक पुराण एवं उपनिषदों मे और भी अन्य कथाएँ प्राप्त होती है। इन्द्र का आयुर्वेद विषय में कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है, परन्तु फिर भी कुछ योग इन्द्र के नाम के साथ जुड़े हुए प्राप्त होते हैं, यथा-ऐन्द्र-रसायन का नाम चरक-संहिता में दो स्थानों पर मिलता है।

चरक-संहिता के अनुसार आत्रेय के समय में आयोजित ऋषि परिषद् में से भारद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था तथा सुश्रुतसंहिता के अनुसार धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। अनेक संहिताओं के साररूप वाग्भट्ट ने पुनर्वसु आत्रेय, धन्वन्तरि, भारद्वाज, निमि, कश्यप आदि महर्षियों द्वारा संसार के रोग पीड़ित होने पर इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख किया है। इस प्रकार इन्द्र की परम्परा तक आयुर्वेद देवलोक तक ही सीमित था, उसका रूप प्रागैतिहासिक था। इन्द्र के द्वारा इस ज्ञान का प्रसार जब भूमण्डल में हुआ, तब से इतिहास की श्रृंखला का प्रारम्भ माना जा सकता हैं।

त्रेता युग से पूर्व संसार की अवस्था रोग रहित थी। मनु की भृगुप्रोक्त-संहिता में सतयुग में आयुमान ४०० वर्ष माना जाता था। आदि काल में शक्तिसम्पन्न, कान्ति, वीर्य, धर्म, सत्त्व तथा तेजयुक्त पुरुष हुआ करते थे। प्रजा धर्म कर्म से युक्त हुआ करती थी। सतयुग के अन्त में एवं त्रेता के प्रारम्भ में धर्म का एक पाद नष्ट हो गया। इस काल में धर्म का चरण समाप्त हो जाने से गुण, स्नेह स्वच्छता आदि का भी एक चरण नष्ट हो गया। दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस होने से ज्वरों की उत्पत्ति हुई। ऐसी अवस्था में भृगु, अंगिरा अत्रि आदि ऋषि इन्द्र के साथ हिमालय पर एकत्र हुए। इन्द्र ने उनकी शारीरिक अवस्था की मन्दता को देखकर कहा कि है महर्षियों ! आयुर्वेद के ज्ञान का समय अब आ गया है तथा आप मुझसे यह उपदेश सुनने के योग्य हैं। इस प्रकार महार्षियों ने इन्द्र से आयुर्वेद का उपदेश सुना एवं चिकित्सा कार्य के लिए प्रवृत्त हुए। इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान निम्न १० महार्षियों ने प्राप्त किया, जिनका सामान्य परिचय इस प्रकार है -

१. **महर्षि भृगु** - भृगु ब्रह्मा जी के मानसपुत्र थे। इतिहासकारों के मतानुसार भृगु अनेक अथर्ववेदीय सूक्तों के दृष्टा थे। इसीलिए अथर्ववेद का एक नाम भृगुअंगिरावेद भी है। ये धर्मशास्त्र के उपदेशक भी थे। ज्योतिपशास्त्र में भी भृगुसंहिता के नाम से एक वृहद् ग्रन्थ प्रचलित है। अष्टांगहृदय हेमाद्रि टीका में वर्णित **"भृगूपदिष्टं हि रसायनं स्यात्"** से ज्ञात होता है कि भृगु आयुर्वेद विषय के ज्ञाता अवश्य ही थे। भृगु के चिकित्साशास्त्र में प्रवीण होने का एक प्रमाण तीसटाचार्या की चिकित्सा से भी प्राप्त होता है। २१ प्रजापतियों की गणना में भृगु को प्रथम प्रजापति माना गया है। वंशक्रम के अनुसार इनकी दिव्या नामक पत्नी से शुक्र या कवि की उत्पत्ति हुई है तथा पौलोमी से च्यवन की उत्पत्ति हुई है।

२. **अंगिरा** - बृहत् सर्वानुक्रमणी के अनुसार अथर्ववेदीय कुछ सूक्तों के दृष्टा भृगु एवं अंगिरा संयुक्त रूप में माने गए हैं। अंगिरा को भी ब्रह्मा जी का मानसपुत्र माना जाता है। अंगिरा कुल वहुत विस्तृत था। इस वंश में भी क्रमशः आयुर्वेद का ज्ञान प्रचार चलता रहा था। भरद्वाज, नर भरद्वाज, गर्गभरद्वाज एवं द्रोण भरद्वाज का इसी वंश में वृत्तान्त प्राप्त होता है, परन्तु फिर भी आयुर्वेद सम्बन्धी इनका कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है।

३. **अत्रि** - मत्स्यपुराण के अनुसार अत्रि का प्रारम्भिक स्थान हिमालय के पश्चिम में था। रामायण काल में इनका स्थान चित्रकूट माना गया था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार अत्रि की धर्मपत्नी का नाम अनुसूया था तथा अनुसूया ने सीता जी को माला आदि भेंट करते समय अंगराग (पाउडर जैसा एक सुगन्धित चूर्ण) भी दिया था। आयुर्वेदज्ञ की पत्नी होने के कारण ही माता अनुसूया अनेक अंगराग के योग जानती थीं, ऐसा माना गया है। ब्रह्मा के मानसपुत्रों में इनकी भी गणना की जाती

है। इस वंश में भी अनेक व्यक्ति इतिहास प्रसिद्ध हुए है जिनमें आयुर्वेद के गणमान्य पुनर्वसु आत्रेय का नाम प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित कोई संहिता का उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता, फिर भी बड़ौदा के पुस्तकायलय में 'आत्रेय-संहिता' का एक पत्र प्राप्त होता है। इनको धर्म, वास्तुविद्या तथा ज्योतिष आदि का भी ज्ञाता माना गया है।

४. वसिष्ठ – वसिष्ठ सप्त ऋषियों में से एक माने गए हैं। ये ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। मैत्रावारुर्णी वसिष्ठ का उल्लेख उत्तरकाल में आया है, जो दशरथ के पुरोहित थे तथा रामायणकाल में इनका स्थान अयोध्या माना गया है। चरकसंहिता में वर्णित दीर्घ जीवन प्राप्ति के रसायन के सेवन से पूर्व समय में वसिष्ठ, कश्यप, अंगिरा, जमदग्नि, भरद्वाज तथा अन्य ऋषि जरा श्रम एवं क्लम से मुक्त हुए थे। हेमाद्रि के लक्षण प्रकाश में उद्धृत शालिहोत्र के वचन से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद उपदेशक ऋषियों में वसिष्ठ भी एक थे। इसके अतिरिक्त त्रिमल्लभट्ट की योगतंरगिणी में वसिष्ठसंहिता का उल्लेख आया है। अष्टांगहृदय के कास प्रकरण में वसिष्ठ हरीतकी का उल्लेख एवं गद निग्रह में वसिष्ठ हरीतक्यवलेह का वर्णन आया है, जो इनके उत्तम चिकित्सक होने का उचित प्रमाण प्रस्तुत करता है।

५. कश्यप – महाभारत में कश्यप को मरीची का मानस पुत्र बताया गया है। ये ब्रह्मा जी के मानस पुत्र भी माने जाते हैं। संहिताओं के अनुसार इन्हें अनेक शास्त्रों का ज्ञाता बताया गया है। इन्होंने अपने पुत्र इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था तथा उसका उपदेश कौमारभृत्य तन्त्र के रूप में अपने शिष्य वृद्धजीवक को दिया था, जो आगे चलकर काश्यप-संहिता या वृद्धजीवक तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिद्ध योग का उल्लेख भी काश्यप-संहिता के अष्टज्वर चिकित्साध्याय में मिलता है। जिन-जिन महीनों में दाँत मांस को चीरकर बाहर निकलते है, उन-उन वर्षों में गिरकर पुनः आ भी जाते है, इस प्रकार का विवरण भी प्राप्त होता है, जो दन्तोत्पत्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त वैज्ञानिक है। बालकों में आठवाँ माह दन्तोत्पत्ति के लिए बताया गया है। काश्यपकृत निघण्टु ग्रन्थ का भी विवरण महाभारत में प्राप्त होता है। कश्यप को शिल्प, मन्त्र एवं औषध इन तीनों का ज्ञाता माना गया है।

६. अगस्त्य – अगस्त्य त्रेता के प्रारम्भ में हुए थे तथा श्रीराम का इनके साथ साक्षात्कार भी माना जाता है। रामायण के विवरण के अनुसार इनके पास दीर्घायुप्रद रसायन था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार इनका आश्रम दक्षिण दिशा में माना गया था। इनकी पत्नी लोपाद्रुमा तथा भाई दोनों ही ने दीर्घायु प्राप्त की थी। इनके आश्रम में राक्षसों का आतंक नहीं था क्योंकि ये धनुर्वेद के ज्ञाता भी थे। इन्द्र से इन्होंने आयुर्वेद के विशेष योग प्राप्त किए थे। भास्कर से ही इन्होंने आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का ज्ञान प्राप्त किया था। 'द्वैधनिर्णय तन्त्र' इनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था। ये व्याकरण, धर्मशास्त्र, कल्पसूत्र, तर्कशास्त्र, नाट्य और ज्योतिष के भी ज्ञाता थे।

७. **पुलस्त्य** - सप्तऋषियों में इनकी गणना की जाती थी तथा ये ब्रह्मा जी के मानसपुत्र भी माने गए हैं। इनके पुत्र का नाम विश्वा एवं पौत्र का नाम रावण था। सात हजार श्लोकों वाली लोकतन्त्र धर्म की संहिता के रचनाकार ये सात चित्रशिखण्डी ऋषियों में से एक थे। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद विषयक ग्रन्थ अथवा योग प्राप्त नहीं होता है। रावण के आयुर्वेद ज्ञाता की पैत्रिक प्रवृत्ति के कारण इनको भी आयुर्वेद का ज्ञाता होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

८. **वामदेव** - ये ऋग्वेद के दृष्टा तथा दीर्घजीवी थे, इनका जन्म अंगिराकुल में माना जाता है। इन्हें आयुर्वेद विषय का ज्ञाता भी माना जाता है जिसका प्रमाण शालिहोत्र में मिलता है। गद निग्रह में प्रमेह के लिए पठित एक योग है **"प्रमेहे वामदेवेन कथिता गुटिका"**। राजा दशरथ के वसिष्ठ एवं वामदेव मन्त्री थे, जिन्हें ज्योतिष एवं आयुर्वेद दोनों का ही ज्ञाता माना गया था।

९. **असित** - वायुपुराण के अनुसार कश्यप ने गोत्र की कामना से परम तप किया था, तव असित की उत्पत्ति हुई थी। असित की पत्नी एकपर्णा थी जिससे देवल की उत्पत्ति हुई थी। असित और देवल दोनों ही आयुर्वेद के ज्ञाता थे जिसका विवरण काश्यप संहिता उपोद्घात में आया है।

१०. **गौतम** - यह नाम अनेक स्थानों पर आया है शालिहोत्र में कई उद्धरणों में आयुर्वेदकर्ता गौतम का विवरण प्राप्त होता है। ये अंगिराकुल में उत्पन्न होने वाले महर्षि भी माने गये हैं। अष्टांगसंग्रह निदान स्थान ज्वर की विवेचना में गौतम का नाम इस प्रकार आया है - 'चतुरात्रेऽष्टरात्रे वा क्षेममित्याह गोतमः।' अर्शनिदान व्याख्या में विजयरक्षित जी ने भी गोतम के वचन दिए है। ये धर्म, शिक्षा, व्याकरण के साथ पशुपालन शास्त्र के भी ज्ञाता थे। चरक सिद्धि स्थान में फलवस्ति निर्णय हेतु आत्रेय के पास आने वाले ऋषियों में गौतम का भी नाम आया है।

उपनिषद एवं पुराणों के अनुसार कुछ अन्य आयुर्वेद के ज्ञाता महापुरुष एवं आचार्य-

शिव - 'सौभाग्य भास्कर' के अनुसार कुल पार्वती को कहते है, क्योंकि उनके कुल माता-पिता आदि का विस्तृत वर्णन शास्त्रों में मिलता है, परन्तु अकुल शिव को कहते हैं, क्योंकि वे अजन्मा माने गए हैं। इनके माता-पिता की कोई चर्चा शास्त्रों में नहीं है और न ही किसी को ज्ञान भी है। अतः सृष्टि की रचना से पहले ये विद्यमान माने गए हैं, कैलाश पर्वत इनके तप का स्थान था। ब्रह्मा की तरह ही इनकी भी आदि देवों में गणना की जाती है। इनके अनेक शिष्य एवं गण हुए हैं। आयुर्वेद में दक्ष प्रजापति के यज्ञ के विध्वंस से ज्वर की उत्पत्ति का विवरण संहिताओं में आया है। इनके ताण्डव नृत्य का वर्णन भी प्रसिद्ध है जिसके द्वारा व्याकरण शास्त्र के १४ माहेश्वर सूत्र प्राप्त हुए थे। आयुर्वेद के एक अंग रसशास्त्र के लिए इन्हें ही प्रथम उपदेष्टा माना गया है। रसार्णव-तन्त्र में पारद का विवरण

प्राप्त होता है, जो शिव जी के शुद्ध शुक्र से उत्पन्न माना गया है। चक्रदत्त के रसायनाधिकार में शिवागुटिका का वर्णन शैवसिद्धान्त की पुष्टि करता है।

भास्कर – सुश्रुत ने सवितासंहिता का उल्लेख किया है। सम्भवतः वह भास्कर का ही ग्रन्थ हो, क्योंकि सविता भास्कर का भी पर्याय नाम है। सविता नाम के अनुसार ही इनके पिता कश्यप प्रजापति तथा माता अदिति हैं। ये १२ आदित्यों (देवों) में से एक हैं। भास्कर को सूर्य भी कहा जाता है तथा चिकित्सा में इनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। (इनके ग्रन्थों का वर्णन पूर्व में हो चुका है।)

विष्णु – १२ आदित्यों में विष्णु को सबसे छोटा आदित्य माना गया है, परन्तु विशिष्ट गुणों के कारण देवों में श्रेष्ठ माना गया है। देवस्थान मेरू नामक पर्वत इनका प्रधान निवास स्थान और सागर (कैसपियन) में इनकी शेषनाग की शय्या का उल्लेख मिलता है। इनके द्वारा रचित आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ का उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता हैं। इनके स्मरण मात्र से ही ज्वर आदि व्याधियों के दूर होने का वृत्तान्त मिलता है।

वृहस्पति – ये अंगिरा के पुत्र होने के कारण अंगिरस वृहस्पति भी कहे जाते हैं। आयुर्वेद की लौकिक परम्परा के आचार्य भारद्वाज को वृहस्पति का पुत्र माना जाता है। इन्हें देवताओं के पुरोहित का स्थान प्राप्त था **"वृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीत्"** (जैमिनीय ब्राह्मण)। ये सम्पूर्ण वेद और वेदांग ज्ञान से परिपूर्ण थे। वाल्मीकीय रामायण में इनके आयुर्वेद विषयक ज्ञान का विवरण मिलता है। देवासुर संग्राम में ये अपनी मन्त्रविद्या एवं औपधियों द्वारा अति संज्ञाहीन, मृत देवताओं की चिकित्सा करते थे। अष्टांग संग्रह में भी इनका नाम इस प्रकार आया है – **"अथ योगाः प्रवक्ष्यन्ते वृहस्पतिकृताः शिवाः"**। हेमाद्रि के लक्षणप्रकाश में वृहस्पति की गणना ३६ आयुर्वेदकर्त्ता ऋषियों के नामों के साथ आयी है।

शुक्र (कवि उशना) – ये अथर्ववेद के ज्ञाता माने गए हैं। इन्हें अनेक चमत्कारी रसायनों का ज्ञान था। अपने पिता भृगु से संजीवनी विद्या का अध्ययन किया था। इन्हें कवि, काव्य उसना तथा भार्गव (भृगुपुत्र होने के कारण) कहा जाता है। इन्हें असुरों के दूत शुक्राचार्य के नाम से भी जाना जाता है – 'अग्निर्देवानां दूत आसीत्। उशना काव्योऽसुराणाम्।" ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार संजीवनी विद्या से जमदग्नि को पुनः इन्होंने जीवित कर दिया था। यह विद्या इन्होंने महेश्वर से प्राप्त की थी ऐसा वर्णन मत्स्यपुराण में मिलता है। ययाति के पुत्र ने उशना (शुक्राचार्य) की कृपा से अपने वृद्ध पिता का जरापन (बुढ़ापा) स्वयं ले लिया था। वृहस्पति के पुत्र कच ने इसी संजीवनी विद्या को इनसे ही सीखा था।

वरुण – १२ आदित्यों के साथ ही वरुण का उल्लेख मिलता है, जो कश्यप प्रजापति तथा अदिति की सन्तान माने जाते हैं। ये जल के देवता माने जाते हैं तथा अन्य देवों के समान ही शास्त्रपारंगत थे। अष्टांग संग्रह के चिकित्सा अध्याय २१ में जो निम्न उल्लेख

प्राप्त होता है, वह इनके आयुर्वेद में पारंगत होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है-यथा-
"निम्बारिष्ट इति ख्यातो वरुणेनैष निर्मितः।

विद्वानों का मत है कि योग एवं उद्धरण को देखते हुए इनका भी कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा, जो आज अब उपलब्ध नहीं है।

नारद - नारद को ब्रह्मर्षि तथा ब्रह्मा जी का मानस पुत्र माना जाता है। ये दीर्घजीवी थे। इन्होंने सनत्कुमार से रोगविषयक अनेक कल्प सुने थे। भावप्रकाश के अनुसार नारद जी ने शिवजी से अर्शो रोगहरयोग प्राप्त किया था। ये अनेक विद्याओ में विशारद थे तथा घूम-घूम कर सभी विशेषज्ञों से ज्ञान प्राप्त किया करते थे। आयुर्वेद के दो अंग भूत विद्या एवं विष विज्ञान का इन्हें विशेष ज्ञान था। आयुर्वेद में नारदीयलक्ष्मीविलास रस नाम से एक प्रसिद्ध योग है। शालिहोत्र ने भी चिकित्सक के रूप में इनके नाम का वर्णन किया है।

सनत्कुमार - सनत्कुमार को ब्रह्मा जी का मानस पुत्र माना जाता है। इनकी उत्पत्ति गंगा तथा अग्नि से कुमार नाम से मानी गई है, जो सर्वदा ही कुमार रहने के कारण सनत् (सदा) कुमार कहलाए। कुछ विद्वानों के अनुसार सनत्कुमार एवं स्कन्द को एक ही माना गया है। उपनिषद् एवं पुराणों के अनुसार भी दोनों एक ही माने गए हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार - **"स्कन्दः सनत्कुमारश्च सृष्टः पादेन तेजसा।"** इस विवरण में भी दोनों को एक ही माना गया है। पाञ्चरात्रोपनिषद् के अन्तर्गत सनत्कुमार संहिता ने इनका स्थान सिद्धाश्रम माना था। इनके तीन हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। मद्रास की राजकीय लाइब्रेरी में इनके हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची है। इसी लाइब्रेरी में एक ग्रन्थ की पुस्तिका में लिखा है कि - **"इति श्रीगौरीपुत्रकार्तिकेयविरचिते वाहटग्रन्थे निदानयोगो नाम प्रथमः परिच्छेदः।"** जिसके अनुसार ज्ञात होता है कि स्कन्द का वाहट ग्रन्थ था। तंजोर की लाइब्रेरी में 'अनुभोगकम्पक' नामक आयुर्वेद ग्रन्थ का उल्लेख आया है तथा इसके अतिरिक्त सांख्य, छन्द तथा वास्तुशास्त्र आदि के ये ज्ञाता भी थे।

राजपुत्र या बुध - मत्स्य पुराण के अनुसार- "राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रो बुधः स्मृतः।" सोम को अत्रि ऋषि का पुत्र माना गया है तथा बुध को सोम का पुत्र माना गया है। बुध की माता का नाम तारा तथा इनके पुत्र का नाम पुरुरवा था। तन्त्रवार्तिक में कुमारिलभट्ट ले पालकाप्य के साथ राजपुत्र का वर्णन किया है। अतः मत्स्यपुराण के अनुसार इन्हें हस्तिशास्त्र (गजविद्या) का प्रवर्तक (गजवैद्य) माना जाता है। इतिहासकारों के अनुसार ईरान से सिन्धु तक सोम तथा बुध का राज्य था तथा बुध को भास्कर का शिष्य माना गया था।

गर्ग - यह शालिहोत्र की शिष्य परम्परा में थे तथा भूमन्यु के पुत्र थे। युक्तिकल्पतरु में गर्ग के हस्तिशास्त्र नामक ग्रन्थ का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त वारिशास्त्र, वायसशास्त्र, ज्योतिष आदि के ज्ञाता भी माने जाते थे।

च्यवन - चरक संहिता में इनका उल्लेख आया है -

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्या महर्षयः।
रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः ।। (च.चि. २०)

च्यवन को महर्षि भृगु का पुत्र माना गया है तथा रसायन के बल से ये दीर्घजीवी बने रहे थे। अश्विनीकुमारों ने भी इन्हें पुनः युवा बनाया था। शर्याति की पुत्री सुकन्या इनकी पत्नी थीं तथा भरद्वाज से इन्होंने व्याधिहर-विद्या पढ़ी थी। अतः भास्कर के शिष्यों में इनकी गणना तथा जीवदान नामक ग्रन्थ के रचयिता होने के कारण इन्हें आयुर्वेदकर्त्ता माना जा सकता है। च्यवनप्राश अवलेह जो आयुर्वेद संहिताओं में वर्णित है, वह च्यवन ऋषि के नाम ही सम्बन्धित रसायन है।

विश्वामित्र - रामायण एवं महाभारत में विशेष रूप से गाधिसुत विश्वमित्र का नामोल्लेख आया है, जो मन्त्रदृष्टा एवं धनुर्विद्या के ज्ञाता थे। इन्हीं के पुत्र का नाम सुश्रुत माना जाता है, जो सुश्रुत-संहिता के रचयिता हैं। इन्होंने भरद्वाज से आयुर्वेद का अध्ययन किया था। हारीत-संहिता के अनुसार अश्विनीकुमारों ने विश्वमित्र को अश्वि रसायन का उपदेश कियां था। अष्टांगहृदय की टीका में हेमाद्रि ने इनके योग इस प्रकार उद्घृत किए हैं-**"उक्तं हि विश्वामित्रेण"**। इसी प्रकार सुश्रुत संहिता निदान-स्थान में भी डल्हण ने इनके वचन को उद्घृत करते हुए लिखा है कि-**"तथा च विश्वामित्रः"**।

जमदग्नि - शालिहोत्र के अनुसार जमदग्नि आयुर्वेद के ज्ञाता एवं उत्तम चिकित्सक थे। साथ ही मन्त्रदृष्टा धनुर्वेद एवं अथर्ववेद के भी ज्ञाता थे। ये च्यवन के पौत्र थे एवं ऋचीक के पुत्र थे। जीवक इनके भाई का नाम था। इनकी एक वार मृत्यु हो जाने पर इन्हें उशना द्वारा संजीवनी विद्या से पुनः जीवित कर दिया गया था।

जीवक - ऋचीक के पुत्र का नाम जीवक था। वही वाद में 'वृद्ध जीवक' ऐसा नाम धारण किया। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि जीवक अल्पवयस्क था। अल्प वय में ही उसने ग्रन्थ की रचना की थी, क्योंकि अल्पवयस्क होने पर भी वह ज्ञान में वृद्ध था। बालक होने के कारण उसकी उक्तियों पर जब अन्य ऋषियों को विश्वास नहीं हुआ, तब उस लगभग पाँच वर्ष के बालक 'जीवक' ने उन सभी ऋषियों के समक्ष कनखल (हरिद्वार) की गंगा में डुवकी लगाई और जब वह बाहर निकला, तो वह वलीपलितयुक्त वृद्ध बन चुका था। इसी विस्मयकारी घटना के बाद शिशु होते हुए भी उसका नाम 'वृद्धजीवक' रखा गया था। महर्षि कश्यप द्वारा उपदिष्ट काश्यपसंहिता के उपदेशों को वृद्धजीवक ने ही ग्रन्थ के रूप में निवद्ध किया था। भगवान् बुद्ध के काल में एक ख्यातनामी जीवक हुए थे, जो शल्यशास्त्री थे, उसी के समकालीन यह वृद्धजीवक भी हुए।

लौकिक परम्परा के आचार्य-इन्द्र तक की वैदिक परम्परा का सभी संहिताओं में समान रूप से विवरण प्राप्त हुआ है, उसके पश्चात् अन्य संहिताओं में वर्णनक्रम की भिन्नता देखने को मिलती है लोककल्याण की भावना से ही आयुर्वेद का ज्ञान जो मृत्युलोक में आया, वह लौकिक परम्परा के अन्तर्गत है तथा उससे सम्बन्धित निम्न आचार्यों संहिताकारों एवं टीकाकारों का वर्णन विभिन्न संहिताओं में प्राप्त होता है -

भरद्वाज-भूतल (पृथ्वी) पर आयुर्वेद के ज्ञान को लाने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य भरद्वाज को है। चरकसंहिता में इनका विशेष उल्लेख मिलता है, जिसमें भरद्वाज को प्रथम चिकित्सा शास्त्री वताया गया है। इन्हीं के शिष्य पुनर्वसु आत्रेय माने जाते हैं। भरद्वाज इन्द्र के पास गए थे, क्योंकि ऋषि गोष्ठी के पश्चात् इन्हें ही सर्वसम्मति से ज्ञान-विज्ञान में योग्य मानकर आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नियुक्त किया गया था। अतः इन्द्र ने इन्हें हेतु, लिंग एवं औषध के रूप में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन थोड़े ही समय में कर दिया था। भरद्वाज को ऋषि आंगिरस का वंशज वताया गया है। चरकसंहिता के सूत्र व शारीर स्थान में भरद्वाज एवं कुमारशिरा भरद्वाज का भी नाम आया है। साथ ही इनके नाम का उल्लेख व्याकरण शास्त्र में भी हुआ है तथा इन्हें वृहस्पति का पुत्र माना गया है। भारत के इतिहास में अनेक भरद्वाजों का वर्णनं है। इसमें प्रथम भरद्वाज आयुर्वेद के उपदेष्टा प्रतीत होते हैं। कुमारशिरा भरद्वाज चैत्ररथ वन में होने वाले ऋषि परिषद में उपस्थित थे। अतः इनका वास्तविक नाम कुमारशिरा है और भरद्वाज सम्भवतः उपनाम है। इनका इसी नाम से अन्य परिषदों में भी कई बार उल्लेख आया है। वष्कल के पुत्र भरद्वाज वाष्कलि भरद्वाज नाम से हैं। एक अन्य प्रमाण के अनुसार धन्वन्तरि द्वितीय ने अपने पिता के पुरोहित इन्हीं भरद्वाज से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र ने तीन बार रसायन का सेवन कराकर भरद्वाज को दीर्घजीवी बनाया था। मद्रास पुस्तक भण्डार के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में इनके द्वारा लिखित 'भैषजकल्प' नामक ग्रन्थ का उल्लेख आया है।

आत्रेय-आत्रेय के साथ अनेक विशेषणों का प्रयोग होने के कारण इनकी समानता या भिन्नता का वोध होता है, जैसे पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय तथा भिक्षु आत्रेय ये तीन नाम सहिताओं में मिलते हैं। चरकसंहिता में अनेक स्थानों पर अत्रिसुनु, अत्रिसुत, अत्रिनन्दन, अत्रिज, अत्र्यात्मज आदि शब्दों का प्रयोग आचार्य पुनर्वसु आत्रेय के लिये आया है। पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, भेल के गुरु थे, भरद्वाज के शिष्य थे तथा ब्रह्मा के मानस पुत्र महर्षि अत्रि के पुत्र थे। अत्रि ने इन्द्र से विद्या का ग्रहण किया था तथा अपने पुत्र आत्रेय को प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त भरद्वाज के पास विशेष अध्ययन (आयुर्वेद) के लिए भेजा था। यही आत्रेय पुनर्वसु नक्षत्र में जन्म लेने के कारण भी पुनर्वसु आत्रेय कहलाए। पुनर्वसु के लिए महर्षि, ब्रह्मर्षि तथा भगवान् विशेषण आए हैं। ब्रह्मर्षि पद से इनके ब्राह्मण होने का

संकेत प्राप्त होता है। इन्हें अग्निहोत्री भी कहा गया है तथा ये आयुर्वेदविदों में श्रेष्ठ एवं भिषग्विद्या प्रवर्तक थे। कुछ लोगों का मत है कि चन्द्रभागा नदी के आसपास इनका निवास होने के कारण एक विशेषण 'चान्द्रभगि' है। हिमाचल प्रदेश में स्थित चम्बा नामक स्थान इनका निवास स्थान माना जा सकता है। इनकी माता का नाम 'चन्द्रभागा' था, जिसके कारण भी इन्हें 'चान्द्रभागि' तथा 'चान्द्रभाग' विशेषण दिए गए हैं।

चरक-संहिता में एक भिक्षुरात्रेय नाम भी आया है जो कोई दूसरे महर्षि माने गए हैं, क्योंकि हिमालय प्रदेश में रोगों के नाश हेतु विचार करने के लिए जब महर्षियों का सम्मेलन हुआ था, उसमें जितने महर्षि एकत्रित हुए थे, उनमें आत्रेय और भिक्षुरात्रेय दोनों नाम पृथक्-पृथक् आए हैं। इसी प्रकार वोधायन मुनि ने अनेक आत्रेयों का उल्लेख किया है, जिसे कृष्णात्रेय, श्यामात्रेय आदि। कृष्णात्रेय का उल्लेख भेल-संहिता में आया है। महाभारत में भी काय-चिकित्सा के आचार्य कृष्णात्रेय का उल्लेख 'कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्' कहकर किया गया है। यह माना जा सकता है कि सम्प्रदाय विशेष में पुनर्वसु आत्रेय भी कृष्णात्रेय के नाम से प्रसिद्ध रहे हों, परन्तु इतना निश्चित है कि चक्रपाणि इन्दु आदि की व्याख्याओं में निर्दिष्ट कृष्णात्रेय भिन्न आचार्य हैं। इसी प्रकार श्रीकण्ठदत्त, शिवदाससेन आदि की व्याख्याओं में भी कृष्णात्रेय का उल्लेख मिलता है, जो शालाक्य के आचार्य है जो इनसे भिन्न हैं। पुनः पुनर्वसु आत्रेय ने अपने छः शिष्यों-अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि को आयुर्वेद का उपदेश दिया था।

१. अग्निवेश – सर्वप्रथम महर्षि अग्निवेश ने ही अपने नाम की संहिता रचित कर पूज्य गुरुदेव महर्षि पुनर्वसु आत्रेय को सुनाया और जिसे पुनर्वसु आत्रेय ने उस पर पूर्ण प्रसन्नता अभिव्यक्त की। यह ग्रन्थ 'अग्निवेश तन्त्र' के नाम से प्रारम्भ में प्रसिद्ध था, जो बाद में 'चरक-संहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ। अग्निवेश का काल उपनिषत्काल १००० ई. पूर्व माना गया है। अतः अग्निवेश-तन्त्र में अनेक ऐसे विषयों का उल्लेख हुआ है, जो उपनिषदों में भी पाये जाते है। भाषा एवं शैली भी उपनिषदों जैसी प्रतीत होती है। इति स्माह, सौम्य, स्कन्ध आदि शब्द, पक्षी की छाया की तरह रोगों के साथ दोषों के सम्बन्ध की उपमा तथा अन्य अनेक उपमाएँ उपनिषदों की अनुकृति पर हैं। देशों के नाम, चतुष्पाद सिद्धान्त आदि उपनिषद् की छाया पर अग्निवेशतन्त्र के विषयों की योजना होने के प्रमाण हैं त्रिदोष सिद्धान्त, इन्द्रिय, हृदय, प्राणायतन, भूतविद्या, एषणा, परलोक-एषणा तथा सम्भाषण-परिषद् आदि शब्द यह प्रकट करते हैं कि अग्निवेश तन्त्र उपनिषत्कलीन रचना है।

२. भेल – आत्रेय के छः शिष्यों में भेल का द्वितीय स्थान माना जाता है। भेल ने भेल-संहिता की रचना की थी। भेल संहिता का पहला प्रकाशन तन्जोर लाइब्रेरी की पाण्डुलिपि के आधार पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने किया था। दूसरा प्रकाशन

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी ने सन् १९५९ में किया था। भेल का समय १००० ई. पू. अग्निवेश काल ही है तथा ये अग्निवेश के सहपाठी थे। अनेक प्रमाणों के आधार पर वर्तमान में प्रचलित भेलसंहिता के असली होने में सन्देह होता है क्योंकि उस समय की भाषा, दार्शनिकता का पुट, गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तर, संहिता की शैली, भाषा की प्राञ्जलता आदि का इस ग्रन्थ में सर्वथा अभाव है। वर्तमान में उपलब्ध भेल-संहिता में बुद्ध का लक्षण लिखा होने के कारण तथा गुप्तकालीन तन्त्र सम्बन्धी विषयों का उल्लेख होने के कारण इस ग्रन्थ को कुछ इतिहासकार सातवीं शताब्दी का लिखा हुआ मानते हैं। यदि यह भेल-संहिता पहले से रही हो, तब भी उन अंशों का बाद में प्रतिसंस्कर्ता ने समावेश कर दिया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

३. **जतूकर्ण** - ये अग्निवेश के सहपाठी तथा पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य थे। पाणिनिअष्टाध्यायी के गर्गादिगण में अग्निवेश और पराशर के साथ जतूकर्ण का नाम आता है। इनका काल भी अग्निवेश का ही काल (१००० ई. पू.) माना जाता है। इनकी रचना जतूकर्णतन्त्र या जतूकर्णसंहिता भी प्राचीन-काल में विद्वत्समाज में आदर प्राप्त थी। इसके उद्धरण जेज्जट, चक्रपाणि डल्हण, अरुणदत्त, विजयरक्षित आदि की व्याख्याओं में उपलब्ध होते हैं, जिनके द्वारा इसे जतूकर्ण-संहिता के अस्तित्व एवं प्रचार का ज्ञान प्रमाणित होता है।

४. **पराशर** - अग्निवेश के सहपाठी होने के कारण इनका भी काल अग्निवेश का काल ही माना जाता है। इस नाम के अनेक आचार्य विभिन्न शास्त्रों के रचयिता हुए हैं, किन्तु पुनर्वसु आत्रेय के छः प्रमुख शिष्यों में परिगणित तथा पराशरतन्त्र या पराशरसंहिता के रचयिता यही आयुर्वेद के आचार्य पराशर ही थे। इसके उद्धहरण जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण, अरुणदत्त, हेमाद्रि तथा शिवदास सेन आदि की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं।

५. **हारीत** - पुनर्वसु आत्रेय के छः प्रमुख शिष्यों में एक शिष्य हारीत द्वारा रचित ग्रन्थ 'हारीत संहिता' है, जो वाग्भट तथा परवर्ती व्याख्याकारों द्वारा उद्धृत की गई है। वर्तमान उपलब्ध हारीत संहिता का ग्रन्थ भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि अन्यत्र उद्धृत इसके वचन इसमें नहीं मिलते। हारीत का काल भी अग्निवेश का काल (उपनिषत्काल) माना गया है। अतः वर्तमान उपलब्ध हारीत-संहिता का काल शार्ङ्गधर-संहिता से पहले अर्थात् १२वीं शती रख सकते हैं।

६. **क्षारपाणि** - ये पुनर्वसु आत्रेय के छः प्रमुख शिष्यों में थे तथा काल उपनिषत्काल (१००० ई. पू.) माना जाता है। इनकी रचना क्षारपाणितन्त्र या क्षारपाणि-संहिता था। इसके उद्धरण जेज्जट, चक्रपाणि, डल्हण आदि की अपनी व्याख्याओं में उपलब्ध होते हैं।

धन्वन्तरि -धन्वन्तरि विष्णु के अवतार माने जाते हैं। भगवान् विष्णु को संसार का पालन करने वाला बताया गया है तथा धन्वन्तरि को रोग से रक्षा करने वाला होने से स्वास्थ्य का पालक माना गया है। अतः धन्वन्तरि को न केवल शल्यशास्त्री ही माना गया है अपितु सम्पूर्ण आयुर्वेद के सफल ज्ञाता प्रतीत होने के कारण उनको आयुर्वेद प्रवर्तक भी माना गया है। वैदिककाल में जो महत्त्व अश्विनीकुमारों को दिया गया था, वही महत्त्व आगे चलकर लोक में धन्वन्तरि को मिला। धन्वन्तरि के हाथों में अमृतकलश दिखाया गया है जबकि अश्विनीकुमारों के हाथ में जीवन प्रतीक मधुकलश था।

धन्वन्तरि नाम से तीन आचार्यों के नाम पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में मिलते हैं जो निम्न हैं-

धन्वन्तरि (प्रथम) - इनका जन्म अमृतोत्पत्ति के समय हुआ। हरिवंश पुराण तथा वायु पुराण के अनुसार समुद्रमन्थन के पश्चात् धन्वन्तरि का प्रादुर्भाव हुआ, अतः इनका काल समुद्र-मन्थन काल है। मत्स्यपुराण के अनुसार अमृत आदि के साथ उपलब्ध चौदह रत्नों में से धन्वन्तरि को भास्कर ने ग्रहण किया, जो इनके गुरु कहलाए। आदिदेव, अमरवर, अमृतयोनि, अब्ज आदि विशेषणों का प्रयोग धन्वन्तरि के लिए ही सुश्रुतसंहिता में किया गया है। श्री नन्दूलाल दे ने मध्य एशिया के "वंक्षु" (औक्सस- ग्गने) नदी की पश्चिम दिशा में वर्तमान कैस्पियन (Caspian) समुद्र को ही "क्षीरसागर" माना है। क्षीरसांगर के मन्थन से अमृत कलश लिए हुए धन्वन्तरि के प्रकट होने की कथा पुराणों तथा महाभारत में वर्णित है किन्तु वेद के संहिता भाग में इनका उल्लेख नहीं मिलता है। 'धन्वन्तरि' आयुर्वेद रत्नाकर के सर्वोत्कृष्ट प्रथम रत्न हैं। मन्थन का सन्देश लेकर इनका अवतार हुआ है। सतत् गतिशीलता और सुनियोजन से लक्ष्य प्राप्ति पर्यन्त प्रयत्न के आद्य देवता धन्वन्तरि हैं, जिन्होंने आयुर्वेद के प्रथम अंग शल्यतन्त्र में पारङ्गत ज्ञान अर्जित किया था।

धन्वन्तरि (द्वितीय) - त्रेता-द्वापर का सन्धिकाल ३०० वर्ष का था, जिसमें दाशरथि राम हुए जिनके मित्र प्रतर्दन थे, जो उनके राज्याभिषेक में उपस्थित थे। (राम. उ. ३८।१५) अतः प्रतर्दन से चार पीढ़ी ऊपर (त्रेता के अन्त में) विक्रम से लगभग ५०४४ वर्ष पूर्व धन्वन्तरि द्वितीय का काल माना जा सकता है। इन्होंने काशी के चन्द्रवंशी राजकुल में सुनहोत्र की वंशावलि में चौथी या पाँचवी पीढ़ी में जन्मग्रहण किया था। हरिवंश तथा अन्य पुराणों के अनुसार किसी ने दीर्घतपा के पुत्र को धन्व और धन्व के पुत्र को धन्वन्तरि माना है, परन्तु किसी ने तो धन्वन्तरि को सीधे दीर्घतपा का पुत्र माना है। इस धन्वन्तरि के लिए हरिवंश पुराण में विद्वान् विशेषण लगाया गया है तथा भागवत पुराण में सर्वरोगप्रणाशन (सभी रोगों को नष्ट करने वाला) और आयुर्वेद प्रवर्त्तक कहा गया है। धन्वन्तरि (द्वितीय) चिकित्सा निपुण सिद्धहस्त वैद्य और विविध विद्याओं के ज्ञाता माने गए हैं।

धन्वन्तरि (तृतीय)-शल्य-प्रधान आयुर्वेद परम्परा के जनक के रूप में काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि का नाम लिया जाता है। चरकसंहिता में अनेक स्थलों पर धन्वन्तरि का मत उद्धृत है, परन्तु सुश्रुतसंहिता में आत्रेय का कोई उल्लेख न होने के कारण दिवोदास, आत्रेय एवं अग्निवेश से कुछ समय पूर्व के माने जाते हैं। चूँकि अग्निवेश का काल १००० ईस्वी पूर्व माना जाता है अतः दिवोदास का काल १००० से १५०० ईस्वी पूर्व माना जा सकता है।

दिवोदास वाराणसी नगर के संस्थापक थे। महाभारत के अनुसार दिवोदास सुदेव या भीमसेन और ययातिकन्या माधवी के पुत्र थे। इन्द्र की आज्ञा से दिवोदास ने वाराणसी नगर बसाया था। एक बार यह अपने प्रबल शत्रु हैहय राजकुमारों से युद्ध में पराजित होकर भाग निकले थे और भरद्वाज ऋषि की शरण में चले गए थे, जहाँ इन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा प्रतर्दन नामक पुत्र प्राप्त किया था।

सुश्रुत-संहिता में उपदेष्टा के रूप में जिन धन्वन्तरि का वर्णन है वे आयुर्वेद के आदि देव भगवान् धन्वन्तरि न होकर काशीराज दिवोदास धन्वन्तरि ही हैं। काशी की वंश परम्परा में आयुर्वेद की शिक्षा एक विशेष गुण रहा है। दिवोदास ने इस कार्य को विशेष रूप से संचालित किया। ये अष्टाङ्ग के ज्ञाता थे, परन्तु शल्य-शास्त्र में उन्हें विशेष दक्षता प्राप्त थी। इनसे शिक्षा प्राप्त करने वाले सुश्रुत, औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित आदि प्रमुख थे। दिवोदास धन्वन्तरि के 'सुश्रुत प्रभृति' शिष्यों में पाँच शिष्यों का नाम ग्रहण किया जाता है, जो डल्हण, निमि, काङ्कायन, गार्ग्य और गालव हैं। इस प्रकार दिवोदास के कुल बारह शिष्य माने गए है।

दिवोदास धन्वन्तरि ने चिकित्सादर्शन और चिकित्साकौमुदी की रचना की, जिसका उल्लेख ब्रह्मवैवर्त खण्ड अ. १६ में है। अन्य ग्रन्थों में - योगचिन्तामणि, सन्निपात कलिका, धातुकल्प, अजीर्णामृतमञ्जरी, धन्वन्तरिनिघण्टु, रोगनिदान, वैद्यचिन्तामणि, वैद्यकभास्करोदय, चिकित्सासारसंग्रह आदि का नाम प्रमुख है।

१. **सुश्रुत**-सुश्रुत दो कहे जाते हैं एक वृद्धसुश्रुत (आद्यसुश्रुत) और दूसरे सुश्रुत। दिवोदास के शिष्यों में आद्य या वृद्धसुश्रुत की सर्वप्रथम गणना है जिन्होंने मूल सौश्रुत-तन्त्र की रचना की थी। यह सम्भवतः अग्निवेशतन्त्र से पूर्व की रचना थी। उसके बाद सुश्रुत द्वितीय या सुश्रुत ने उसका प्रतिसंस्कार कर नवीन रूप प्रदान किया। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। विश्वामित्र नामक अनेक आचार्य हुए हैं, उनमें से एक का सम्बन्ध आयुर्वेद से है। शालिहोत्र के पुत्र के रूप में भी सुश्रुत का उल्लेख मिलता है तथा गवायुर्वेद, अश्वायुर्वेद से भी सुश्रुत का सम्बन्ध बतलाया गया है। सम्भवतः इसी कारण से प्रख्यात सुश्रुत के नाम को शालिहोत्र से संबद्ध कर दिया गया हो अथवा अश्वशास्त्रविद् शालिहोत्रपुत्र कोई भिन्न सुश्रुत हों जिन्होंने वाजिशास्त्र

पर कोई ग्रन्थ लिखा हो, जिसका निर्देश दुर्लभगणकृत सिद्धोपदेश संग्रह नामक अश्ववैद्यक के ग्रन्थ में हुआ है। आद्य या वृद्धसुश्रुत का काल उपनिषत्काल ही है, जो काशिराज दिवोदास का ही काल १०००-१५०० ई. पूर्व के मध्य में माना गया है किन्तु सुश्रुत का कालनिर्णय अभी विचारर्णीय है। अन्य तथ्यों के आधार पर सुश्रुत का काल दूसरी शती माना जा सकता है जो सातवाहन साम्राज्य के काल में हुए थे। सातवाहन राजा ब्राह्मण थे तथा ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान उनके ही द्वारा हुआ था।

२. औपधेनव-यह सुश्रुत के सहपाठी एवं दिवोदास के शिष्यों में थे। अतः इनका काल भी सुश्रुत का काल ही मानना चाहिए। सुश्रुत-संहिता सुत्रस्थान (४/६) में औपधेनव शल्यतन्त्र का उल्लेख आया है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'औपधेनव' अपने समय में शल्यतन्त्र का प्रधान ग्रन्थ था जो अब उपलव्ध नहीं है।

३. वैतरण-यह भी दिवोदास के शिष्य एवं सुश्रुत के सहपाठी थे। यह शल्यशास्त्री तथा सर्जन थे, जिनके द्वारा रचित ग्रन्थ जो वैतरण तन्त्र के नाम से रहा है, वह सुश्रुतसंहिता से भी वड़ा ग्रन्थ रहा होगा। व्याख्या कुसुमावली में वैतरण तन्त्र का एक वचन आया है। गणनाथ सेन के प्रत्यक्षशरीरम में लिखा है कि टीकाकारों ने व्रणवन्ध प्रकार तथा विशिष्ट शस्त्रकर्म की विधियों जो सुश्रुतसंहिता में नहीं है उन्हें वैतरणतन्त्र से उद्धृत किया है। वैतरणतन्त्र के तीन वचनों को निवन्ध संग्रह, तत्त्वचन्द्रिका और चक्रदत्त में उद्धृत किया गया है, जिन्हें गिरीन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय ने उद्धृत किया है।

४. औरभ्र-यह धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत के सहपाठी तथा समकालीन थे। यह नाम व्यक्तिवाचक एवं तन्त्रवाचक दोनों ही रूपों में सुश्रुतसंहिता अष्टांग-संग्रह इन्दु की टीका में औरभ्र के नाम से १० श्लोक आए हैं। सम्भवतः उरभ्र के तन्त्र को औरभ्रतन्त्र कहा गया है। सुश्रुत संहिता (सुत्र ४/८) में औरभ्र शव्द तन्त्रवाचक है और प्रधान चार तन्त्रों में औरभ्र तन्त्र की गणना की गई है। गणनाथ-सेन ने प्रत्यक्षशरिरम् के उपोद्घात में औरभ्रतन्त्र को नाममात्रावशेप कहा है। हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन में श्री गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने भी इस तन्त्र को अप्राप्य वताया है और इनका कोई भी उद्धरण नहीं लिखा है। औरभ्र नाम किसी देश या व्यक्ति के नाम (उरभ्र) से वना है। उरभ्र का पुत्र अथवा उरभ्र देश में उत्पन्न हुआ व्यक्ति औरभ्र कहा जाता है। वेद में उरभ्र और उरण शव्दों का प्रयोग भेड़ के अर्थ में है।

५. पौष्कलावत - इनके गुरु धन्वन्तरि थे तथा सुश्रुत के सहपाठी एवं समकालीन थे। इनके नाम से भी यही ज्ञात होता है कि यह किसी व्यक्ति या देश के नाम से प्रसिद्ध

आचार्य हैं। चिकित्साकलिका में चन्द्रट ने पौष्कलावत के स्थान पर पुष्कलावत् नाम दिया है। इसी प्रकार तत्त्वचन्द्रिका, आयुर्वेददीपिका तथा अष्टाङ्गसंग्रह में भी पुष्कलावत् के नाम से कुछ वचन उद्धृत हैं। गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय जी ने पौष्कलावत् के तीन वचन उद्धृत किए हैं। पौष्कलावत नाम विष्णु पुराण में भी आया है। यह शब्द देशविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो भरत के पुत्र पुष्कल द्वारा बसाया गया था। 'वाल्मीकि रामायण में भी इसका उल्लेख मिलता है। वेदों में आए हुए आसन्दीवत्, पस्त्यावत्, शर्वणावत् इत्यादि तथा महाभारत के वारणावत् आदि नामों के सदृश होने के कारण यह पौष्कलावत भी भारत के पश्चिमी भाग में स्थित कोई प्राचीन देश प्रतीत होता है। यहाँ गान्धार राज्य की प्राचीन राजधानी थी। अलेक्जेन्डर (सिकन्दर) के आने से पूर्व भी गान्धार में इस नगरी की प्रधानता थी। यह ग्रीक लोगों की परिचित नगरी थी, एरयन-स्ट्रैबो तथा टालेमी आदि अनेक ग्रीक विद्वानों ने सिन्धु के समीपस्थ महानगरी के रूप में पौष्कलावत का उल्लेख किया है। अतः यह पौष्कलावत नामक आचार्य उसी नगर के प्रतीत होते हैं। सुश्रुत ने शल्यतन्त्रकर्ताओं के नाम के साथ इनके नाम का उल्लेख किया है।

६. करवीर्य - यह करवीर्यतन्त्र के रचयिता, दिवोदास धन्वन्तरि के शिष्य, सुश्रुत के समकालीन एवं सहपाठी थे। सुश्रुतसंहिता (सूत्रस्थान ४/८) में औपधेनव, औरभ्र, सौश्रुत तथा पौष्कलावत के तन्त्रों को शल्यतन्त्रों का आधार बतलाया गया है। 'माधवनिदान' के अतिसारनिदान में मधुकोष टीका में विजयरक्षित ने करवीर्य के एक श्लोक का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार करवीर्यतन्त्र का अस्तित्व सिद्ध होता है। करवीर्य शब्द का अर्थ है - "करवीर देश में होने वाला" इससे यह करवीर देश के रहने वाले प्रतीत होते हैं। जिसके हाथ में वीर्य (बल या सिद्धि) हो, ऐसे सिद्धहस्त क्रियाकुशल, अभ्यासी शल्य चिकित्सक के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त हो सकता है। सम्भव है शल्यकर्म में हस्तलाघव गुण होने के कारण इनका नाम 'करवीर्य' पड़ गया हो।

७. गोपुररक्षित - यह सुश्रुत के सहपाठी तथा समकालीन थे। इनके गुरु दिवोदास धन्वन्तरि थे तथा इन्होंने (गोपुररक्षित) शल्यतन्त्र ग्रन्थ की रचना की थी। 'तत्त्वचन्द्रिका' में इनके नाम के दो श्लोक उद्धृत हैं। सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान (१/३) की निबन्ध संग्रह व्याख्या में डल्हण ने लिखा है कि कुछ आचार्य गोपुर और रक्षित दो अलग शब्द मानकर गोपररक्षित से दो आचार्यों को मानते हैं किन्तु 'तत्त्वचन्द्रिका' में गोपुररक्षित शब्द का एक वचन में प्रयोग हुआ है। अतः यह एक व्यक्ति का ही नाम माना जाना चाहिए।

दक्षिण भारत के शिल्प ग्रन्थों में गोपुर का निर्देश होने से तथा वर्तमान समय में भी दाक्षिणात्य देशों में 'गोपुर' की विशेष प्रसिद्धि होने से गोपुर नाम धारी आचार्य संभवतः दाक्षिणात्य रहे हों, किन्तु रामायण, महाभारत आदि में भी पुरद्वार के अर्थ में गोपुर शब्द का प्रयोग मिलता है, इसलिए मात्र इस आधार पर देश का निर्धारण करना उचित प्रतीत नहीं होता है एवं इनके स्थान के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं मिलता है।

I आयुर्वेद के आचार्य वैदिक परम्परा के आचार्य

१. ब्रह्मा
२. दक्ष प्रजापति
३. अश्विनी कुमार द्वय
४. इन्द्र
५. महर्षि भृगु
६. अंगिरा
७. अत्रि
८. वसिष्ठ
९. कश्यप
१०. अगस्त्य
११. पुलस्त्य
१२. वामदेव
१३. असित
१४. गौतम
१५. शिव
१६. भास्कर
१७. विष्णु
१८. वृहस्पति
१९. शुक्र (कवि उशना)
२०. वरुण
२१. नारद
२२. सनत्कुमार
२३. राजपुत्र (बुध)
२४. गर्ग
२५. च्यवन
२६. विश्वामित्र
२७. जमदग्नि
२८. जीवनक/वृद्ध जीवक

II लौकिक परम्परा के आचार्य, संहिताकार एवं प्रतिसंस्कर्ता

१. भरद्वाज
२. आत्रेय
३. अग्निवेश
४. भेल
५. जतूकर्ण
६. पराशर
७. हारीत
८. क्षारपाणि
९. धन्वन्तरि
१०. सुश्रुत/वृद्ध सुश्रुत
११. औपधेनव
१२. वैतरण
१३. औरभ्र
१४. पौष्कलावत
१५. करवीर्य
१६. गोपुररक्षित

१७. निमि-विदेह
१८. चरक
१६. नागार्जुन
२०. वात्स्य
२१. दृढबल
२२. वृद्ध वाग्भट/वाग्भट
२३. वराह मिहिर
२४. भट्टार हरिश्चन्द्र
२५. स्वामिकुमार (स्वामिदास)
२६. माधवकर
२७. आषाढ़वर्मा
२८. पतञ्जलि
२६. नन्दी (नन्दिकेश्वर)

III मध्यकालीन आचार्य (६वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक)

१. जेज्जट
२. वृन्द
३. चन्द्रट
४. चन्द्रनन्दन
५. तीसटाचार्य
६. भैरवानन्द योगी
७. भगवद् गोविन्दपादाचार्य
८. राजा भोज
६. गयदास
१०. नरदत्त
११. चक्रपाणिदत्त
१२. विजयरक्षित
१३. श्रीकण्ठ दत्त
१४. डल्हण
१५. अरुणदत्त
१६. सोढल
१७. सोमदेव
१८. यशोधर भट्ट
१६. गोरखनाथ
२०. इन्दु
२१. वंगसेन
२२. निश्चलकर
२३. वोपदेव
२४. हेमाद्रि
२५. शार्ङ्गधर
२६. नित्यनाथ
२७. आढमल्ल
२८. वाचस्पति
२६. मदनपाल
३०. कैयदेव पंडित
३१. वसवराज
३२. शालिनाथ
३३. गोविन्दाचार्य
३४. श्रीनाथ पण्डित
३५. शिवदास सेन
३६. भावमिश्र

IV आधुनिक कालीन आचार्य (१७वीं शताब्दी के बाद)

१. नरहरि पण्डित
२. त्रिमल्लभट्ट
३. लोलिम्वराज
४. जैन हर्षकीर्त्ति

५. काशीराम वैद्य
६. नरसिंह कविराज
७. रुद्रभट्ट
८. रामसेन
९. गंगाधर राय
१०. शालिग्राम वैश्य
११. हाराणचन्द्र चक्रवर्ती
१२. योगीन्द्रनाथ सेन
१३. जयदेव विद्यालंकार
१४. अत्रिदेव विद्यालंकार
१५. ज्योतिपचन्द्र सरस्वती
१६. दत्तराम चौवे
१७. पं. राम प्रसाद शर्मा
१८. गणनाथ सेन
१९. पं. रामरक्ष पाठक
२०. आचार्य प्रियव्रत शर्मा
२१. पं. सत्यनारायण शास्त्री
२२. भास्कर गोविन्द घाणेकर
२३. दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी
२४. लालचन्द्र वैद्य
२५. काशीनाथ शास्त्री
२६. आचार्य गोविन्ददास सेन
२७. पं. राजेश्वर दत्त शास्त्री
२८. वैद्य भास्कर विश्वनाथ गोखले
२९. वैद्य हरीदास श्रीधर कस्तुरे
३०. वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य
३१. कविराज विरजाचरण गुप्त
३२. जयकृष्ण इन्द्रजी ठाकुर
३३. वामन गणेश देसाई
३४. वैद्य बापालाल
३५. आचार्य सुरेन्द्र मोहन
३६. रूपलाल वैश्य
३७. पं. भगीरथ स्वामी
३८. कविराज विश्वनाथ द्विवेदी
३९. ठाकुर बलवन्त सिंह
४०. ठाकुर दलजीत सिंह
४१. कविराज महेन्द्र कुमार शास्त्री
४२. सदानन्द शर्मा घिल्डियाल
४३. पं. हरिप्रपन्न शर्मा
४४. कविराज श्यामादास वाचस्पति
४५. कविराज द्वारकानाथ सेन
४६. पं. शिवशर्मा
४७. कविराज यामिनीभूषण राय
४८. ब्रजविहारी चतुर्वेदी
४९. कविराज धर्मदास
५०. पं. अर्जुन मिश्र
५१. डा. बालकृष्णजी अमरजी पाठक
५२. गोवर्धन शर्मा छांगाणी
५३. शंकरदाजी शास्त्री पदे
५४. पं. हरिदत्त शास्त्री
५५. वैद्य अमृतलाल प्राणशंकर पट्टणी
५६. वैद्य जीवराम कालिदास शास्त्री
५७. डी गोपालाचार्लु
५८. जी. श्रीनिवासमूर्त्ति
५९. पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल
६०. पं. रामावतार मिश्र वैद्यभूषण
६१. कविराज आशुतोष मजुमदार

निमि-विदेह

शालाक्य-तन्त्र के आद्यभिषक को निमि कहा गया है यथा "भिषाग्भिरादौः कृमिकर्णको गदः"। अतः शालाक्य-तन्त्र के प्रवर्तक महर्षियों में निमि का नाम आदर से लिया जाता है। कहा भी गया है– "शालाक्य चिकित्साविस्तारकः निमिः"। अष्टांग-संग्रह के अनुसार पुनर्वसु आदि महर्षियों के साथ निमि ने भी इन्द्र के पास जाकर आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था। रामायण एवं पुराणों की वंशावलियों के अनुसार महाराज निमि को विदेह राज्य का संस्थापक माना गया है। इनकी वंशावली विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार भिन्न होने पर भी पुराण वंशावली में निमि, मिथि एवं जनक नामक क्रमशः राजा हुए थे। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में निमि विदेह एक ही व्यक्ति के पर्याय रूप में भी आए हैं परन्तु कहीं-कहीं पर दो विभिन्न व्यक्ति भी प्रतीत होते हैं।

विदेह शब्द अनेक राजाओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। काश्यप एवं चरक-संहिता में निमि के लिए विदेह शब्द आया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह विदेह शब्द विशेषण का प्रतीक है। भावप्रकाश ने नेत्ररोगाधिकार में विदेह का एक श्लोकार्थ दिया है– "एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात्पटलान्तरम् विदेहवचनात्" यही श्लोकार्थ अनेक श्लोकों के साथ अष्टांग संग्रह में 'निमिनाप्युक्तम्' से आया है। अतः विदेह शब्द आयुर्वेद ग्रन्थों में निमि के विशेषण के रूप में आया है। सुश्रुत ने भी उत्तर-तन्त्र में लिखा है कि –"शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः। डल्हण के अनुसार–"इतिनिमिप्रणीता षट्सप्ततिनेत्ररोगाः"। चक्रपाणि ने भी इसे विदेह निमि ही माना है, क्योंकि चरकसंहिता में निमि को स्पष्ट रूप से विदेह कहा गया है यथा- "निमिश्च राजा वैदेहः"। राजा जनक को भी विदेह विशेषण से सम्बोधित किया जाता है। इसी कारण अष्टांग-संग्रह में विदेहाधिपतिः जनकः" एवं "विदेहपतिना जनकेन" वाक्यों से योग उद्धृत किए गए हैं।

निमि तथा जनक दो अलग व्यक्ति हैं। विदेह इनके साथ विशेषण आया है। शालिहोत्र-संहिता के एक श्लोक से ही दोनों की पृथकता सिद्ध होती है -

हारीतः क्षारणिश्च निमिश्च वदतां वरः।
जनकश्चैव राजर्षिः तथैव हि विनग्नजित्।।

यहाँ पर यह अन्तर समझा जा सकता है कि विदेह निमि के लिए तथा वैदेह जनक के लिए प्रयुक्त हुआ है। चैत्ररथवन के ऋषि परिषद् में राजा विदेह निमि भी उपस्थित थे। यहाँ आने वाले सभी ऋषियों को श्रुतवयोवृद्धाः महर्षयः कहा गया है। निमि के गुरु इन्द्र थे। सुश्रुत की निबन्धसंग्रह व्याख्या में निमि के गुरु धनवन्तरि दिवोदास माने गए हैं। जनक के गुरु भास्कर थे। निमि के शिष्य का नाम कासल था। निमि द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में निमितन्त्र प्रसिद्ध है। शालाक्य-तन्त्र में इसी ग्रन्थ को प्रमाण माना जाता है। सुश्रुत ने

भी संभवतः निमितन्त्र से ही विशेष स्थल दिए। यह तन्त्र अभी नहीं मिलता है, किन्तु इनके वचन ही अन्य ग्रन्थों मे आए हैं। विदेहजनक के नाम से भी ग्रन्थ था, ऐसा पूर्व प्रमाणों से ज्ञात होता है। भास्कर के शिष्य एवं उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में जनक का ग्रन्थ वैद्य सन्देहभञ्जन लिखा है। व्याख्या कुसुमावली, निवन्ध संग्रह, मधुकोश व्याख्या, तत्त्वचन्द्रिका, भावप्रकाश, नावनीतक तथा गदनिग्रह में विदेह, महाविदेह जनक तथा निमि के ११६ वचन एवं सात योग आए हैं। चिकित्साकलिका में भी इनके योग आए हैं।

चरक

चरक-संहिता के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रतिसंस्कर्ता आचार्य चरक कौन थे ? यह निश्चिय कर पाना आज तक अत्यधिक जटिल है। चरक के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर कोई भी विद्वान तार्किक-बुद्धि से किसी भी चरक नाम के उद्धृत व्यक्ति को आयुर्वेद से सम्बद्ध कर सकता है। अपनी-अपनी तार्किक बुद्धि से विद्वानों ने पृथक्-पृथक् चरक नाम के व्यक्तियों को आयुर्वेद से सम्बन्धित बताने के कारण यहा यह निश्चित नहीं हो पाया है कि चरक वास्तव में कौन थे ? चरक से सम्बन्धित निम्न उद्धरण प्राप्त होते हैं –

१. कृष्णयजुर्वेद की शाखा चरक – चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्सम्बन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते। (काशिका ४/३/१०२) अर्थात कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा भी चरक नाम से जानी जाती थी तथा उस शाखा को मानने वाले भी चरक कहलाते थे, ऐसा शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उल्लेख है।
२. शेषनाग के अवतार चरक –भावप्रकाश के अनुसार शेषनाग ने भूमण्डल का वृतान्त जानने के लिए वेद तथा वेदांगों के ज्ञाता किसी मुनि के यहाँ पुत्र रूप में जन्म लिया था। चूँकि ये चर (गुप्तचर) के रूप में आए थे, अतः कोई भी इस बात को जान नहीं सका, जिससे चरक कहलाए। इन्होंने अग्निवेश-तन्त्र का प्रतिसंस्कार करके अपने नाम से उस संहिता ग्रन्थ को प्रचलित किया।
३. योगी चरक-वराह मिहिर में उल्लिखित - "शाक्या जीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशनाः" की व्याख्या में भट्टोत्पल ने लिखा है कि योगाभ्यास में कुशल तथा मुद्रा (योगासन की विशेष अवस्था) को धारण करने वाले चिकित्सा कार्य में निपुण व्यक्ति को चरक कहते हैं। जो एक सम्प्रदाय विशेष है।
४. यायावर चरक - ऋषियों के दो भेद बताए गए हैं - शालीन (कुटी बनाकर रहने वाले) और यायावर (घूमने फिरने वाले)। चरक चायावर कोटि के महर्षि थे, जो किसी एक स्थान में स्थिर नहीं रहते थे। ललित-विस्तर नामक बौद्ध-ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में ऐसे तपस्वियों का उल्लेख आया है, जो विद्वान होते थे तथा घूम-घूम कर

ही अपने ज्ञान का उपदेश दिया करते थे। इन व्यक्तियों को अपने-अपने विषय के अनुरूप ही श्रमण, ब्राह्मण चरक और परिव्राजक कहा जाता था।

५. **पतञ्जलि ही चरक थे**–चूँकि पतञ्जलि को भी शेषनाग का अवतार माना जाता था, जिसके कारण ही कुछ लोग चरक का सम्बन्ध पतञ्जलि के साथ जोड़ते हैं। इसके अतिरिक्त चरक तथा पतञ्जलि दोनों ही भाष्यकार हैं। एक आयुर्वेद के तो दूसरे व्याकरण के भाष्यकार हैं। चरक ने स्वयं भी 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग किया है यथा 'ससंग्रहव्याकरणस्य' (च.सू. २६)। इन्हीं कारणों से योगसूत्र, चरक संहिता तथा महाभाष्य के रचयिता को एक ही माना गया था, जो पतञ्जलि थे तथा यही चरक थे। इन तीनों कृतियों की साम्यता के कारण ही ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है किन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने पर इसमें साम्य उचित प्रतीत नहीं होता है। पतञ्जलि और चरक में भिन्नता के लिए निम्न प्रमाण निर्दिष्ट हैं –

(अ) नेपाल राजगुरु हेमराज शर्मा ने तो चक्रपाणि के 'पातञ्जलमहाभाष्य........' इस श्लोक के अर्थ से ही यह मत प्रकट किया है कि-चरक नाम से पूर्व प्रसिद्ध किसी ग्रन्थ विशेष के प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलि हैं, यह प्रतीत होता है परन्तु चरक ही पतञ्जलि हैं ऐसा स्पष्ट नहीं होता।

(ब) योग सूत्र और व्याकरण महाभाष्य में पतञ्जलि का नाम व्यवहृत करने वाला व्यक्ति वैद्यक-ग्रन्थ में चरक नाम क्यों देता ? यदि देता भी तो पूरे ग्रन्थ में कहीं न कहीं तो अपना वास्तविक नाम पतञ्जलि अवश्य लिखता। जबकि चरक संहिता में यह नाम कहीं प्राप्त नहीं होता है।

(स) चरक संहिता संभाषा या उपदेश के रूप में है, जबकि योगसूत्र सूत्ररूप में है। भाषा एवं शैली भी भिन्न है। चरक में यद्यपि अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का पृथक उल्लेख है किन्तु योगसूत्र के समान यम, नियम आदि योग के आठ अंगों का निर्देश नहीं मिलता है।

(द) महाभाष्य में "गोनर्दीयस्त्वाह" ऐसा कहकर पतञ्जलि अपने आपको गोनर्द देशवासी प्रकट करते हैं, जबकि चरक संहिता में कहीं भी गोनर्द देश का उल्लेख नहीं आया है। यदि पतञ्जलि और चरक एक ही होते, तो पांचाल, पंचनद, काम्पिल्य आदि देशों के साथ कहीं न कहीं गोनर्द का भी अवश्य उल्लेख किया गया होता।

६. **कनिष्क के राजवैद्य चरक** – बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ त्रिपिटक के चीनी अनुवाद के अनुसार चरक की कनिष्क के राजवैद्य के रूप में मान्यता थी। चरक ने कनिष्क की रानी की किसी भयंकर रोग की चिकित्सा की थी। कनिष्क बौद्ध धर्मानुयायी था। यदि चरक को कनिष्क का समकालीन माना जाए, तो उनके लेखों में कहीं न कहीं तो बौद्ध सम्प्रदाय की झलक मिलनी चाहिए थी, परन्तु इसके विपरीत चरकसंहिता में वैदिक मंत्रों के द्वारा चिकित्सा का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त उपाय-

हृदय में भी चरक का नाम नहीं है जबकि उपाय हृदय के कर्ता नागार्जुन को कनिष्क के समकालीन माना जाता है।

आचार्य प्रियव्रत शर्मा के अनुसार अश्वघोष कनिष्क के राजकवि थे। इनकी दो प्रसिद्ध रचनाएं हैं बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द। दोनों ही रचनाओं में पर्याप्त आयुर्वेदीय सामग्री है। ऐसा प्रतीत होता है कि अश्वघोष स्वयं आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता थे। उस काल में आयुर्वेद का उपजीव्य ग्रन्थ अग्निवेशतन्त्र था या चरकसंहिता, यह विचारणीय है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि चरकसंहिता की रचना के बाद भी अग्निवेशतन्त्र चलता रहा और उसके प्रभुत्व को हटाने में चरकसंहिता को पर्याप्त समय लगा। अश्वघोष के वर्णनों से लगता है कि उसने चरकसंहिता का उपयोग किया है, किन्तु चरक का उल्लेख न कर उसने मूल उपदेष्टा का उल्लेख किया है -

> "वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यत्र च्यवनो महर्षिः।
> चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद।।
>
> *(बुद्ध चरित १/४३)*

इससे प्रतीत होता है कि चरक अश्वघोष के पूर्व हुए थे।

चरक का काल

१. राजा कनिष्क का समय ईस्वी की पहली शताब्दी माना जाता है। कनिष्क के राजकवि अश्वघोष के ग्रन्थों में भी चरक का नाम मिलने से इनका काल उससे कुछ पूर्व का मानना उचित है।

२. चरक को स्पष्टतः उद्धृत करने वाले प्रथम व्यक्ति वाग्भट ही हैं। इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट (छठी शताब्दी) तक चरक की प्रसिद्धि एवं मान्यता संहिताकार के रूप में हो चुकी थी, अतः चरक का काल इससे पूर्व होना चाहिए।

३. याज्ञवल्क्यस्मृति (तीसरी शती) ने चरक के अनेक विषयों को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है अतः चरक को उसके भी पूर्व होना चाहिए।

४. महाभाष्यकार पतंजलि से अनेक साम्य रखने, वेद को आप्तप्रमाण मानने तथा देवता, गौ, ब्राह्मण आदि की पूजा का बहुशः विधान होने के कारण चरक का काल शुङ्गकाल (ई.पू. द्वितीय शताब्दी) होना चाहिए। शुङ्गकाल में बौद्ध धर्म रहते हुए भी वैदिक एवं ब्राह्मण धर्म एक बार पूरे जोर पर आ गया था। मनुस्मृति की रचना भी इसी काल में हुई थी, जब वर्णाश्रम-व्यवस्था निर्धारित हुई। तत्कालीन मनु के सदृश अनेक विचार चरक में मिलते हैं, यथा चतुष्पाद् धर्म तथा आयु का युगों में क्रमशः ह्रास।

५. नावनीतक में चरक का उल्लेख नहीं है, यद्यपि अग्निवेश आदि आचार्यों के नाम हैं। इससे प्रतीत होता है कि या तो चरक का आविर्भाव ही उस समय तक न हुआ हो और यदि हुआ भी हो तो कुछ ही पूर्व जिससे उनकी प्रसिद्धि न हुई हो। नावनीतक का काल लगभग ईस्वी सन् के वाद दूसरी शताब्दी माना जाता है।
६. मिलिन्दपन्हों (ई.पू. दूसरी शताब्दी) में भी चरक का उल्लेख न होने से माना जा सकता है कि चरक संहिता वनने के बाद भी वहुत वर्षों तक मूल रचयिता अग्निवेश के नाम पर जानी जाती थी।
७. गुप्तकाल में चरक का नाम प्रसिद्ध हुआ तथा उसके बाद से चरक का नाम स्पष्टतः मिलने लगा। सुश्रुत संहता के साथ ऐसी स्थिति नहीं थी। आद्य सुश्रुत तथा सुश्रुत दोनों का नाम एक ही होने के कारण सुश्रुत की प्रसिद्ध अग्निवेशकाल से ही थी।
८. डा. सी. कुन्हन राजा की मान्यता है कि 'चरक' शब्द संस्कृत का न होकर पहलवी भाषा का प्रतीत होता है। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में चरक संहिता का पहलवी भाषा में अनुवाद भी हुआ है। अतः इस आधार पर चरक का काल दूसरी शताब्दी ई.पू. रखने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

अतः सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के जो संकेत चरक संहिता में उपलब्ध हैं, उनके अनुसार चरक को शुङ्गकाल (ई.पू. दूसरी शताब्दी) या मौर्य शुङ्गकाल की सन्धिरेखा पर (ई. पूर्व तीसरी शताब्दी) रखना चाहिए।

नागार्जुन

सुश्रुत के प्रसिद्ध व्याख्याकार डल्हण ने नागार्जुन का सुश्रुत के प्रतिसंस्कर्ता के रूप में उल्लेख किया है किन्तु नागार्जुन के परिचय को अपूर्ण ही छोड़ दिया है। नागार्जुन नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। हर्षचरित में उल्लिखित नागार्जुन तथा सरहपा के शिष्य सिद्ध नागार्जुन एवं रस वैशेषिक के रचयिता भदन्त नागार्जुन आदि अनेक नागार्जुन हुए हैं। आचार्य प्रियव्रत शर्मा के अनुसार पांचवी शताब्दी में हुए नागार्जुन (जो सम्भवतः गुप्तकालीन थे) ने ही सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार किया था। सरहपा के शिष्य सिद्ध नागार्जुन आठवीं शताब्दी के तथा नारोपा के गुरु नागार्जुन दसवीं शताब्दी के थे। नागार्जुन के नाम से प्रचलित रचनाएँ इन्हीं दो में से किसी की हो सकती हैं। रसरत्नाकर और कक्षपुटतन्त्र इनके प्रमुख ग्रन्थ माने जाते हैं। नागार्जुन ने कोई लोहशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखा था, जिसका उद्धरण चक्रपाणि (ग्यारहवीं शती) के द्वारा होने के कारण यह निश्चित ही दसवीं शती में रहे होंगे।

वात्स्य

काश्यप-संहिता का प्रतिसंस्कार वात्स्य ने किया था। यह वात्स्य वृद्धजीवक के वंश में ही उत्पन्न हुए थे तथा इन्होंने अनायास नामक यक्ष से इस महान तन्त्र को प्राप्त किया

जो कि कलियुग में नष्ट हो गया था। काश्यपसंहिता में उद्धृत इन वचनों से यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ नष्ट हो गया था, किन्तु अनायास नामक यक्ष के पास से इस तन्त्र को धारण करने का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि यक्ष ने इस ग्रन्थ की मात्र रूपरेखा ही वात्स्य को दी हो तथा यह भी हो सकता है कि अष्टस्थान पर्यन्त उपदेश दिया हो तथा खिलस्थान को वात्स्य ने ही अपनी बुद्धि से पूर्ण किया हो। आठवें स्थान की समाप्ति पर वात्स्य के द्वारा कहे गए 'इन आठस्थानों में जो विषय नहीं कहा गया है, उसको मैं खिलस्थान में कहूँगा' इन वचनों से यह स्पष्ट होता है कि यक्ष के द्वारा वात्स्य को पूर्व स्थान का ही ज्ञान एवं तन्त्र प्राप्त हुआ था तथा वह भी अपूर्ण था, जिससे उन्हें यह कहना पड़ा कि "जो विषय नहीं कहे गए हैं उन्हें मैं कहूँगा। मारीच काश्यप के उपदेशोपरान्त निर्मित काश्यपसंहिता तथा उसक बाद में वृद्धजीवक द्वारा संक्षिप्तीकृत वृद्धजीवकीय तन्त्र में इन विषयों का उपदेश नहीं दिया गया हो, यह सम्भव नहीं है। विषयों का उपदेश इन ग्रन्थों में अवश्य रहा होगा। किन्तु वात्स्य को ये अपूर्ण प्राप्त हुए होंगे, जिससे उन्होंने कश्यप के वचन इधर-उधर से संगृहीत करके तथा कुछ विषयों की गम्भीरता का अनुमान करके पूर्वभाग की शैली में ही खिलभाग का निर्माण किया, यथा-

'कश्यपं सर्वशास्त्रज्ञं सर्वलोक गुरुं गुरुम्।
भार्गवः परिपप्रच्छ संशयं संश्रितव्रतः।।

यहाँ उपदेष्टा काश्यप ही हैं तथा प्रश्नकर्ता भी वही भार्गव (वृद्धजीवक) हैं। यह वात्स्य शिवभक्त थे। सम्भवतः वत्स-गोत्र में उत्पन्न होने या वत्स नामक किसी व्यक्ति का पुत्र होने के कारण इनका नाम वात्स्य पड़ा। यह वत्सदेश (जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी) के निवासी होने के कारण भी वात्स्य माने गए। बुद्धकाल में यक्षों की पूजा प्रचलित थी। "पञ्चरक्षा" नामक बौद्ध तन्त्र में अनायास नामक यक्ष को कौशाम्बी का निवासी बताया गया है। कौशाम्बी की प्रसिद्धि बुद्ध के पहले से ही है। बौद्ध तन्त्र में अनायास नामक यक्ष को कौशाम्बी का निवासी बताया गया है। कौशाम्बी की प्रसिद्धि बुद्ध के पहले से ही है। बौद्धतन्त्र में अनायास को कौशाम्बी का निवासी बताना भी महत्त्वपूर्ण है। अतः ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि वात्स्य का काल बुद्ध से पहले का है। इस सम्बन्ध में कुछ तथ्य और भी हैं -काश्यप संहिता में बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन की छाया नहीं है। वैदिक धर्म के अनुरूप ही ईश्वर और जीव का निर्देश है। इस ग्रन्थ में मगध देश का उल्लेख है किन्तु पाटलिपुत्र का नहीं। ऐसे ही अन्य बहुत से उदाहरण हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि काश्यप संहिता का निर्माण बुद्ध से भी पहले हुआ था।

दृढ़बल

आयुर्वेदिक चिकित्सा शास्त्र के महान ग्रन्थ चरकसंहिता के प्रतिसंस्कर्ता के रूप में दृढ़वल का नाम विख्यात है। चरकसंहिता का एक तिहाई भाग उस समय प्राप्त नहीं था जिसे दृढ़वल ने अन्य तन्त्रों के आधार पर सूत्र एकत्र करके परिपूरित किया था। इस प्रकार चिकित्सा स्थान के १७ अध्याय, कल्पस्थान के सम्पूर्ण १२ अध्याय एवं सिद्धि स्थान के भी सम्पूर्ण १२ अध्याय इनके द्वारा ही सम्पूरित किए गए थे, जो कुल ४१ अध्याय होते हैं। संस्कर्ता की परिभाषा भी इन्हीं की देन है। दृढ़वल काश्मीर के रहने वाले थे तथा इनके पिता का नाम कपिलवल था। ये पंचनन्दपुर के मूल निवासी थे, (च.सि. १२/३६) जिसे ही आजकल पिंजौर कहते हैं। यह स्थान श्रीनगर से उत्तर में स्थित था। कुछ विद्वानों का मत है कि दृढबल काशी के पंचगंगा घाट पर रहते थे। परम शिवभक्त थे एवं यहीं पर ही चरकसंहिता की खण्डित प्रति को पूरति किया था।

दृढबल का काल गुप्तकालीन चौथी शताब्दी माना जाता है। हार्नले के अनुसार माधव, दृढबल एवं द्वितीय वाग्भट सातवीं से नौवीं शताब्दी में हुए हैं।

वृद्धवाग्भट/वाग्भट

भारतीय वाङ्मय में अनेक वाग्भट अनेक विषयों के विशेषज्ञ के रूप में उल्लिखित हैं। आयुर्वेद में चार वाग्भट के नाम आए हैं, जो क्रमशः निम्न हैं –

वृद्ध वाग्भट, मध्य वाग्भट, लघु वाग्भट, रस वाग्भट।

वाग्भट प्रथम का काल पांचवीं और छठी शताब्दी के मध्य हैं। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने इनका काल ५५० ई. के लगभग माना है। वाग्भट द्वितीय, वाग्भट प्रथम (वृद्ध वाग्भट) के पौत्र थे तथा इन्होंने अष्टांग-हृदय की रचना की। अष्टांगहृदय में मात्र पद्य ही हैं, अतः यह अधिक रोचक और लालित्यमय है। सम्भवतः इसीलिए इसका प्रचलन अष्टांग-संग्रह की अपेक्षा अधिक तेजी से हुआ। दक्षिण भारत का आज भी यह सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ है। वाग्भट द्वितीय का काल छठी शताब्दी है।

आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने इनकी कल्पित वंशावली दी है। इस वंशावली का आधार अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में ग्रन्थकार द्वारा दिए गए वचन हैं।

वाग्भट
|
सिंहगुप्त
|

वाग्भट (प्रथम)
|
सिंहगुप्त
|
वाग्भट (द्वितीय)

इस मत को मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टांग संग्रह के रचयिता वृद्ध-वाग्भट या वाग्भट प्रथम हैं तथा अष्टांगहृदय के रचयिता लघु वाग्भट (वाग्भट) या वाग्भट द्वितीय हैं।

रसरत्न समुच्चय। १३वीं शताब्दी में सिंहगुप्त पुत्र वाग्भट द्वारा लिखा गया ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ दो खण्डों तथ ३० अध्यायों में पूर्ण है।

प्रथम खण्ड में १ से ११ अध्यायों तक रसशास्त्र के सभी द्रव्यों का विस्तार से विवेचन है तथा दूसरे खण्ड में १२ से ३० अध्याय तक चिकित्सा विषयक योगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसी ग्रन्थ के रचनाकार रस वाग्भट के नाम से भी जाने जाते हैं।

वराहमिहिर

यद्यपि आचार्य वराह मिहिर ज्योतिष के विद्वान थे, तथापि उन्होंने आयुर्वेद का सम्यग्तया सूक्ष्म अध्ययन किया था। इन्होंने वृक्षायुर्वेद हस्त्यायुर्वेद, अश्वायुर्वेद आदि सभी विभागों का बहुत ही सूक्ष्म अध्ययन एवं वर्णन किया है। वराहमिहिर विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। ज्योतिष शास्त्र एवं धर्मविषयक इनके ग्रन्थों में ''वृहत्संहिता'' इनकी रचना है। वृहज्जातक के उपसंहाराध्याय में लिखा है कि वराहमिहिर अवन्ति के रहने वाले थे एवं भगवान् सूर्य के आशीर्वाद से कापित्यक द्वारा ज्ञान प्राप्त किया था। ये मागध ब्राह्मण कहलाते थे। ऐसा समझा जाता है कि ये मगध में उत्पन्न हुए एवं अपने ज्योतिष ज्ञान के अध्ययन के बाद अवन्ति आ गए एवं वहीं स्थायी रूप में रहने लगे थे। वैसे ये शाकद्विपी ब्राह्मण थे। वराहमिहिर ने वाग्भट के एक श्लोक का उदाहरण दिया है, अतः इनका काल वाग्भट के बाद लगभग पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। ज्योतिष की तीनों शाखाओं में इनकी कृतियाँ हैं। गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष (कुण्डलियाँ) एवं संहिता। अन्य योगदान में श्रृंगारतरंगिणी, देवाञ्जनवल्लभ, प्रश्न चूड़ामणि, प्रश्नचन्द्रिका, अंग चूड़ामणि, जातकाभरण, सूतिकाध्याय आदि १६ कृतियाँ हैं।

भट्टार हरिचन्द्र

'विश्व प्रकाशकोश' के रचयिता महेश्वर ने इन्हें अपना वंशज कहा है और इन्हें ''साहसाङ्क'' राजा का वैद्य माना है। साहसाङ्क विशेषण विक्रमादित्य के लिए प्रयुक्त होता

है, इससे यह विक्रमादित्य के राजवैद्य सिद्ध होते हैं। संभवतः यह उज्जयिनी के निवासी थे। वाणभट्ट की रचनाओं से यह प्रतीत होता है कि उज्जयिनी में सूर्यमन्दिरों की अधिकता थी और वहाँ सूर्यपूजा की प्रथा बहुत प्रचलित थी। भट्टार हरिचन्द्र ने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में सूर्य की वन्दना की है, जिससे उनका सूर्यउपासक होना सिद्ध होता है। अतः इनके उज्जयिनी निवासी होने की बात और अधिक पुष्ट होती है। भट्टार हरिचन्द्र चरकसंहिता की "चरकन्यास" नामक व्याख्या के रचयिता हैं। यह व्याख्या चरक सूत्र स्थान के तृतीय अध्याय तक मिलती है। इन्होंने "खरनाद संहिता" का प्रतिसंस्कार किया था, जिसका उल्लेख अष्टांग संग्रह (कल्प.) में इन्दु ने अपनी टीका शशिलेखा में किया है। इनकी लिखी "भट्टार संहिता" का भी निर्देश उपलब्ध होता है।

आचार्य यादवजी ने "साहसाङ्क" शब्द से चन्द्रगुप्त द्वितीय को ग्रहण किया है और इन्हें उनका राजवैद्य मानते हैं। अन्य विद्वान् "साहसाङ्क" से यशोधर्मन का ग्रहण कर इन्हें उनका दरवारी वैद्य मानते हैं, जिसका काल छठी शताब्दी है। अतः भट्टार हरिचन्द्र का काल भी छठी शताव्दी मानना ही उचित है।

स्वामिकुमार (स्वामिदास)

इन्होंने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में भगवान् शंकर की वन्दना की है, जिससे संभवतः यह शैवमतानुयायी थे। इन्होंने चरक को भी शैव माना है। यह चरक और पतञ्जलि को एक ही मानते थे। 'शृङ्गारहाट' के एक सन्दर्भ में आवन्तिकः स्कन्दस्वामी के उल्लेख से यह अवन्ती के निवासी प्रतीत होते हैं।

"जेज्जट" ने इनका उद्धरण दिया है, इसलिए ये जेज्जट के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने चरकसंहिता पर "चरकपञ्जिका" नामक टीका लिखी है। इस टीका का आधार भट्टार हरिचन्द्र की टीका "चरकन्यास" है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह हरिचन्द्र के परवर्ती है। अर्थात् इनका काल सातवीं शताब्दी है।

माधवकर

माधव नाम के अनेक आचार्य और ग्रन्थकर्ता हुए हैं, किन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि "रोग विनिश्चय" या "माधव निदान" के कर्ता माधव का पूरा नाम माधवकर है। विद्वानों की मान्यता है कि ये इन्दुकर के पुत्र थे। आचार्य प्रियव्रत शर्मा का मानना है कि "माधव-चिकित्सित" चिकित्सा का ग्रन्थ है, जिसके लिए यह माना जा सकता है कि माधवकर ने निदान के लिए "माधव-निदान" तथा चिकित्सा के लिए "माधव-चिकित्सत" नामक ग्रन्थों की रचना की थी। माधव-चिकित्सत के कर्ता माधवकर चन्द्रकर के पुत्र थे इन्दुकर के नहीं। अतः माधवकर को दोनों ही ग्रन्थों का कर्ता स्वीकार करते हुए उनका

यह मानना है कि माधवकर के पिता चन्द्रकर ही थे। इनका काल सातवीं शताब्दी है।

आषाढवर्मा

इन्हें जेज्जट, चक्रपाणि और निश्चलकर ने उद्धृत किया है। इन्होंने चरकसंहिता पर ''परिहार-वार्त्तिक'' नामक टीका लिखी। इनका काल आठवीं शताब्दी माना जाता है।

पतञ्जलि

पतञ्जलि-प्रणीत ''चरकवार्त्तिक'' का निर्देश मिलता है। सिद्धान्तसारावली भी इनकी रचना है। आषाढवर्मा ने अपने परिहारवार्त्तिक में पतञ्जलिकृत वार्त्तिक के दोष दिखाए है अतः यह आषाढवर्मा से किंचित् पूर्ववर्ती होंगे।

नन्दी (नन्दिकेश्वर)

जेज्जट के पूर्ववर्त्ती व्याख्याओं में इनका नाम आता है। इन्होंने चरक और सुश्रुत पर टीका लिखी थी। नन्दिगुरु की लिखी 'योगसारसंग्रह' रचना भी है, जिस पर पूर्णानन्द ने टीका की है। श्रीनन्दी को उग्रादित्याचार्य का गुरु भी माना जाता है। रसरत्नसमुच्चय, रसप्रकाशसुधाकर तथा रसेन्द्रचूड़ामणि द्वारा इनका नाम उद्धृत है। इन्होंने संभवतः नन्दीतन्त्र की रचना की थी, जिसका उल्लेख कवीन्द्राचार्य-सूची में है। काव्य-मीमांसा में राजशेखर (९वीं शताब्दी) ने 'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः' कहा है। इन सभी का काल ८वीं शताब्दी माना जाता है, परन्तु यह कहना कठिन है कि ये सभी व्यक्ति एक ही थे।

मध्यकालीन आचार्य
(नवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक)

जेज्जट

ये परम विद्वान थे तथा इन्होंने चरक, सुश्रुत, वाग्भट पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखीं। चरक संहिता पर इनकी निरन्तर-पद-व्याख्या नामक टीका है, जिसे पं. हरिदत्त शास्त्री ने लाहौर से १९४० में प्रकाशित कराया था, परन्तु यह पूर्ण नहीं है। सुश्रुत संहिता पर लिखी गई इनकी टीका वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होती है, परन्तु विजयरक्षित, हेमाद्रि और डल्हण ने इस टीका को उद्धृत किया है। इन्होंने भट्टार हरिचन्द्र को उद्धृत किया है तथा इन्हें चन्द्रट (१०वीं शताब्दी) और वृन्द (९वीं शताब्दी) ने उद्धृत किया है। अतः इनका काल आठवीं शताब्दी का अन्त अथवा ९वीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिए।

वृन्द

माधव निदान (रोग विनिश्चय) की पद्यति पर लिखा गया ग्रन्थ "सिद्ध योग" है जिसके रचनाकार वृन्द हैं। इसे "वृन्दसंग्रह या वृन्दमाधव" भी कहा जाता है। सातवीं शताब्दी के ग्रन्थ माधव-निदान के अनुसार ही इस ग्रन्थ का वर्णन है। चक्रपाणिदत्त ने अपने ग्रन्थ में वृन्द का अनुकरण किया है, जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। अतः इन दोनों के मध्य नौवीं शताब्दी में वृन्द को को मानना चाहिए। इस ग्रन्थ पर "कुसुमावली" नामक व्याख्या श्रीकण्ठदत्त द्वारा लिखी गई है। इस ग्रन्थ में स्नायुक एवं वर्ध्म रोगों का सर्वप्रथम उल्लेख आया है तथा इन रोगों की चिकित्सा के लिए पारसीकयवानी आदि नए द्रव्य का भी वर्णन आया है।

चन्द्रट

ये तीसटाचार्य के पुत्र थे। सुश्रुतसंहिता की अन्तिम पाठशुद्धि में इन्हीं का विशेष योगदान है। इन्होंने सुश्रुत-संहिता को अन्य ग्रन्थों एवं टीकाओं के आधार पर पूरा किया एवं प्रतिसंस्कर्ता के रूप में युगानुरूप बनाया। चक्रपाणिदत्त ने भानुमति व्याख्या में लिखा है कि चन्द्रट ने जेज्जट टीका के आधार पर सुश्रुत की पाठशुद्धि की थी। योगरत्नसमुच्चय, चिकित्साकलिका की व्याख्या एवं सुश्रुत की पाठशुद्धि आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। इनका काल दसवीं शताब्दी माना जाता है।

चन्द्रनन्दन

ये कश्मीर के निवासी थे तथा इनके पिता का नाम रविनन्दन था। अष्टांगहृदय पर इनकी 'पदार्थचन्द्रिका' नामक व्याख्या है। गणनिघण्टु भी इनकी रचना है। पूरी पदार्थचन्द्रिका व्याख्या का अनुवाद तिब्बती भाषा में १०३३-१०५५ ई. के बीच हुआ है। इनका काल दसवीं शताब्दी मानना चाहिए।

तीसटाचार्य

चन्द्रट के पिता का नाम तीसटाचार्य था। कुछ पाण्डुलिपियों के अन्त में पुष्पिका (वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन) के आधार पर कुछ विद्वान तीसटाचार्य को वाग्भट का पुत्र मानते हैं किन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं है। अतः तीसटाचार्य के पिता वाग्भट नहीं थे और यदि उनके पिता का ऐसा नाम रहा भी होगा तो भी वह बृहत्त्रयी के वाग्भट से भिन्न व्यक्ति थे। तीसटाचार्य नाम के आधार पर सम्भवतः कश्मीरी थे। इन्होंने 'चिकित्साकलिका' नामक चिकित्सा-ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें अनेक उपयोगी औषधयोगों का संग्रह किया गया है। पूरा ग्रन्थ चार सौ श्लोकों में है। इसमें दोषदूष्यादि भावों का सर्वप्रथम वर्णन किया गया है। इनका काल दसवीं शताब्दी है।

भैरवानन्द योगी

आजकल उपलब्ध रस-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'रसार्णव' है। इस ग्रन्थ के लेखक के विषय में यह धारणा है कि इसका लेखक कोई 'कापालिक योगी' है जिसके अनुसार "भैरवानन्द योगी" ही इस ग्रन्थ के रचनाकार हैं जिनका काल दसवीं शताब्दी है।

भगवद् गोविन्द पादाचार्य

ये आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य के गुरु थे। इनकी रचना "रसहृदयतन्त्र" है। इस ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार द्वारा दिए गए अपने परिचय के अनुसार इस ग्रन्थ का काल दसवीं शताब्दी माना जाता है।

राजा भोज

यह राजा भोज सम्भवतः धारा के परमारवंशीय हैं। अतः इनका काल ११वीं शताब्दी है। इनकी रचना "राजमार्त्तण्ड" है, जो "योगसारसंग्रह" नाम से भी जानी जाती है।

गयदास

ये चक्रपाणि के समकालीन हैं, अतः इनका काल ११वीं शताब्दी माना जाता है। आचार्य प्रवर गयदास गौड़ाधिपति महीपाल प्रथम (९८८-१०३८ ई.) के राजवैद्य थे। यह सूचना आर.सी. मजूमदार के "हिस्ट्री आफ बंगाल" नामक ग्रन्थ से मिलती है। गयदास कृत न्यायचन्द्रिका टीका सुश्रुतसंहिता की प्रसिद्ध टीका है। इस टीका का डल्हणकृत "निवन्ध संग्रह" के साथ यादव जी ने सम्पादन किया है, जो निर्णयसार बम्बई से मुद्रित है। इस टीका को "वृहत् पञ्जिका" भी कहा जाता है।

नरदत्त

चक्रपाणि के गुरु का नाम नरदत्त था। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'बृहत्तन्त्रप्रदीप' है जो चरकसंहिता की व्याख्या के रूप में है। इनका काल ११वीं शताब्दी है।

चक्रपाणि

इन्होंने अपनी आयुर्वेद-दीपिका व्याख्या तथा चक्रदत्त के अन्त में अपना परिचय स्वयं दिया है। यह वीरभूमि जिला (बंगाल) में लोध्रवली कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम नारायणदत्त था, जो गौड़ाधिपति (बंगाल के नरेश) नयपाल के मन्त्री और महानसाध्यक्ष (भोजनालय के निरीक्षक) थे। चक्रपाणि के ज्येष्ठ भ्राता का नाम भानुदत्त था, जो राजा के अन्तरंग एवं राजवैद्य थे। नरदत्त इनके गुरु थे। नयपाल का काल

१०३८-१०५५ ई. माना गया है। अतः चक्रपाणि का काल भी लगभग यही अर्थात लगभग १०७५ ई. मानना लगभग निश्चित है।

चक्रपाणि ने चरक पर ''आयुर्वेददीपिका'' नामक व्याख्या लिखी है, जो विद्वत्तापूर्ण है तथा संस्कृत टीकाओं में इसका सर्वोच्च स्थान हैं। चरकसंहिता की इस व्याख्या के लेखक के कारण इन्हें विद्वत्समाज ने ''चरक-चतुरानन'' उपाधि से और सुश्रुत संहिता पर ''भानुमति'' टीका लिखने के कारण ''सुश्रुत-सहस्त्रनयन'' उपाधि से अलंकृत किया था। भानुमति व्याख्या सूत्र स्थान तक छपी थी, जिसे पहले कलकत्ते से गंगाप्रसाद सेन ने छपवाया था और बाद में जयपुर से प्रकाशित हुई। इनके द्वारा लिखे गए आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में ''चक्रदत्त'' चिकित्सा विषयक प्रसिद्ध एवं व्यावहारिक ग्रन्थ है, जिसे 'चक्रसंग्रह' या 'चिकित्सा संग्रह' भी कहते हैं। यह वृन्दकृत सिद्धयोग का आधार लेकर लिखा गया है। ''द्रव्यगुणसंग्रह'' भी इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अन्य विषयों के भी ग्रन्थ इन्होंने लिखे हैं जैसे शब्द चन्द्रिका, व्याकरण तत्त्वचन्द्रिका, व्यग्रदरिद्रशुभंकर तथा सर्वसारसंग्रह आदि।

विजयरक्षित

इन्होंने माधवकृत रुग्विनिश्चय की व्याख्या ''मधुकोष'' नाम से की है। इन्होंने जेज्जट, गदाधर आदि द्वारा रचित पूर्ववर्त्ती टीकाओ का उपयोग कर इस व्याख्या में अपने स्वतन्त्र विचार दिए हैं। इनकी किसी अन्य रचना का पता नहीं चलता है। श्रीकण्ठदत्त इनके योग्य शिष्य हुए। १२वीं शताब्दी में बकुलकर आदि को उद्धृत करने के कारण इनका काल १२०० ई. रखना अधिक उचित है।

श्रीकण्ठदत्त

ये विजयरक्षित के शिष्य थे तथा उनके द्वारा छोड़ी गई अधूरी मधुकोष व्याख्या को उसी शैली में विद्वतापूर्ण ढंग से पूर्ण की। इनके द्वारा 'वृन्द माधव' पर भी 'कुसुमावली' नामक व्याख्या लिखी गई है। इनका काल भी विजयरक्षित का काल अर्थात् १२वीं शताब्दी ही है।

डल्हण

यह भादानक देश में मथुरा के समीप अंकोला नामक स्थान के निवासी थे। वहाँ सौर वंशज ब्राह्मणों का निवास था, जो अपनी चिकित्सा कुशलता के लिए प्रसिद्ध थे तथा उन्हें पूर्ण राजकीय सम्मान प्राप्त था। उसी वंश में गोविन्द के पुत्र जयपाल, जयपाल के पुत्र भरतपाल और फिर भरतपाल के पुत्र श्री डल्हण हुए। यह सहजपाल देव राजा के कृपापात्र थे। इन्होंने मंगलाचरण के पद्य में सूर्य, गणेश, गुरु, सरस्वती, माता और पिता की वन्दना की है। सौर ब्राह्मण होने के कारण आदि में सूर्य की वन्दना करना स्वाभाविक है।

सुश्रुतसंहिता पर डल्हण की 'निबन्धसंग्रह' नामक व्याख्या प्रसिद्ध है। इन्होंने तत्कालीन बहुविधि ग्रन्थों एवं टीकाओं का उपयोग किया है, जिससे उस काल के वाङ्मय के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इन्होंने अपनी टीका में चक्रपाणि को उद्धृत किया है तथा हेमाद्रि (१३वीं शताब्दी) ने इन्हें उद्धृत किया है, अतः इनका काल बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग (लगभग १२०० ई.) माना जाता है।

अरुणदत्त

ये मृगांकदत्त के पुत्र थे, जिसका उल्लेख इन्होंने स्वयं प्रारम्भिक पद्य तथा अध्यायान्त पुष्पिकाओं में किया है। इन्होंने अष्टांग हृदय पर सर्वाङ्गसुन्दरा नामक टीका की रचना की थी। आफ्रेक्ट के अनुसार सुश्रुतसंहिता पर भी इनकी कोई व्याख्या थी। ऑफ्रेक्ट ने निम्नांकित तीन अरुणदत्तों का उल्लेख अपनी ग्रन्थ सूची में किया है –

१. अरुणदत्त – कोशकार एवं वैयाकरण - उज्ज्वलदत्त, राममुकुट द्वारा उद्धृत।
२. अरुणदत्त – मनुष्यालयचन्द्रिका के कर्त्ता।
३. अरुणदत्त – अष्टांगहृदय तथा सुश्रुतसंहिता के व्याख्याता।

अरुणदत्त के निश्चित एवं संशयरहित परिचय में बाधा है, फिर भी इतना निश्चित है कि हेमाद्रि (१३वीं शताब्दी) ने अरुणदत्त (तृतीय) को उद्धृत किया है, जबकि चक्रपाणि एवं डल्हण ने इनका उल्लेख नहीं किया है। अतः इनका काल हेमाद्रि के पहले और डल्हण के बाद रखना चाहिए, जो १२वीं और १३वीं शताब्दी के मध्य में है। डा. हार्नले ने इनका काल १२४० ई. में रखा है तथा आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने इन्हें १२२५ ई. में माना है।

सोढल

वैद्य सोढल वत्सगोत्रीय, रायकवालवंशज, वैद्यसमाज के प्रिय, शिष्यों के हितैषी तथा भानु के चरणसेवक थे। भानु ने यदि 'भास्कर' का ग्रहण करें, तो यह उनके पिता का नाम हो सकता है। इनका सम्पर्क देवगिरि के यादव राजाओं-भिल्लम, जैत्र और सिंघण इन तीनों से बतलाया गया है, सिंघण के नाम से दो योग भी इन्होंने अपनी रचना 'गदनिग्रह' में दिए हैं। संभव है, लेखक ने स्वयं बनाकर राजा के सम्मान में उसका नाम रख दिया हो। सिंघण एक उदार विद्याप्रेमी और आयुर्वेदभक्त थे तथा उनके पास चिकित्सकों का एक विशाल वर्ग विद्यमान था। सोढल सम्भवतः इस समाज के शिरोमणि थे। इस प्रकार सोढल के जीवन का अधिकांश भाग १२वीं शताब्दी में बीता और सिंघण के राज्यकाल (१२१०-१२४७ ई.) में इनका देहावसान हुआ। इन्होंने सोढलनिघण्टु की रचना गदनिग्रह के पहले की थी। अतः सोढल का काल ११७५-१२१५ ई. मानना चाहिए। सोढलकृत ''गदनिग्रह'' चिकित्सा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसके दो खण्ड हैं प्रयोगखण्ड और

कायचिकित्सा खण्ड। प्रयोगखण्ड में कल्पानुसार योगों का संग्रह है और कायचिकित्साखण्ड में रोगानुसार अष्टाङ्गचिकित्सा का वर्णन है। सोढल द्वारा रचित अन्य रचना सोढल निघण्टु है, जो गुणसंग्रह के नाम से भी जानी जाती है। लेखक ने इसी में अपना उपरोक्त परिचय दिया है।

सोमदेव

ये करवाल भैरवपुर के अधिपति तथा महावीर के वंशज थे, ऐसा इनके ग्रन्थ रसेन्द्रचूड़ामणि की पुष्पिका एवं द्वितीय अध्याय की अवतारणा से पता चलता है। यह ग्रन्थ १६ अध्याय में पूर्ण है तथा सोलहवें अध्याय की पुष्पिका में इन्हें 'नारायणसूनु' लिखा गया है। रसरत्नसमुच्चयकार ने इनको उद्धृत किया है तथा इन्होंने नागार्जुन, नन्दी, गोविन्द भगवत्पाद, भास्कर आदि को उद्धृत किया है। इनका काल १२वीं शताब्दी है।

यशोधर भट्ट

ये सौराष्ट्र (जूनागढ़) के निवासी और गौड़ब्राह्मण पद्मनाभ के पुत्र थे। इनकी प्रसिद्ध रचना रसप्रकाश सुधाकर है, जो १२वीं शताब्दी में लिखा गया था। यह ग्रन्थ १३ अध्यायों में पूर्ण किया गया है।

गोरखनाथ

आचार्य गोरखनाथ ने रसशास्त्र पर बहुत कार्य किया था। इनके द्वारा १२वीं शताब्दी के अन्त में रचित ग्रन्थ 'गोरक्ष-संहिता' है। इनकी गणना ८४ सिद्धों में की जाती है। इन्होंने अपने नाम से "गोरक्षसंहिता" लिखी, जो १ लाख श्लोकों से पूर्ण थी। यह ग्रन्थ दो भागों में पूर्ण है - १. कादिप्रकरण तथा २. भूतिप्रकरण, कादिप्रकरण मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र से सम्बन्धित वृहत् भाग है और भूति प्रकरण रस रसायन से सम्बन्धित नव पटल में पूर्ण है। यह ग्रन्थ मध्य में बहुत दिनों तक दुर्लभ था, किन्तु (सरस्वती भवन) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के द्वारा १९७७ ई. में प्रकाशित किया गया है, जो आजकल उपलब्ध है।

इन्दु

इन्होंने अष्टांगसंग्रह पर शशिलेखा नामक व्याख्या लिखी। डॉ. पी. के. गोडे ने इन्दु के काल पर विस्तार से विचार किया है। उनके द्वारा इन्दु का काल १०५० ई. माना गया है। किन्तु एक स्थल (सू.२/१७) पर मेदिनीकोष (१२वीं शताब्दी) का उद्धरण इन्दु की व्याख्या में किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि यह व्याख्याकार इन्दु इन्दुनिघण्टु के कर्त्ता से भिन्न है और १२वीं शताब्दी के बाद (१३वीं शताब्दी में) स्थित है। हेमाद्रि ने

सर्वप्रथम इन्हें उद्धृत किया है और अरुणदत्त के बाद इनको स्थान दिया है। अतः यदि अरुणदत्त को १२२५ ई. के लगभग रखा जाए, तो इन्दु का काल १२५० ई. रख सकते हैं। कश्मीर के क्षेत्रीय नामों का उल्लेख होने के कारण इन्दु काश्मीरवासी प्रतीत होते हैं।

वंगसेन

ये वैद्य गदाधर के पुत्र थे तथा इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'चिकित्सासारसंग्रह' कर्ता के नाम पर ही 'वंगसेन' के नाम से भी प्रचलित है। वंगसेन कान्तिका के निवासी थे, जो वंगप्रदेश में है। वंगसेन ने वृन्दमाधव और मुख्यतः चक्रदत्त का अनुसरण किया है किन्तु कालक्रम से प्रचलित कुछ नवीन योगों का भी समावेश किया है। निश्चलकर (१३वीं शताब्दी) द्वारा उद्धृत होने के कारण इनका काल १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

निश्चलकर

इन्होंने वंगसेन को उद्धृत किया है। हेमाद्रि के पूर्व निश्चलकर को किसी ने उद्धृत भी नहीं किया है। अतः इस आधार पर निश्चलकर का काल १३वीं शताब्दी माना जा सकता है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने इनका काल लगभग १२७५ ई. रखा है। इन्होंने चक्रदत्त पर विस्तृत व्याख्या 'रत्नप्रभा' नाम से की है, जो आज अप्रकाशित है।

वोपदेव

यह वरदा नदी के तट पर स्थित वेदपुर नामक स्थान के निवासी थे, जो सिंहराज नामक राजा की राजधानी थी। इनके गुरु का नाम 'धनेश्वर' था तथा पिता का नाम केशव था, जो वैद्याचार्य थे। वोपदेव हेमाद्रि के अन्तरंग मित्रों में थे तथा महादेव के राजपण्डित थे। इन्होंने शार्ङ्गधर संहिता पर तथा अपने पिता केशव की रचना 'सिद्धमन्त्र' पर प्रकाशव्याख्या और अपने द्वारा रचित 'शतश्लोकी' नामक ग्रन्थ पर 'चन्द्रकला' नामक व्याख्या लिखी। इसी रचना शतश्लोकी को वोपदेवशतक नाम से भी जाना जाता है। वोपदेव द्वारा रचित निघण्टुग्रन्थ 'हृदयदीपक' है, जो आचार्य प्रियव्रत शर्मा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित हुआ है। इनका काल शार्ङ्गधर के बाद १३वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है।

हेमाद्रि

इनके पिता का नाम कामदेव था। ये देवगिरि के राजा महादेव (१२६०-१२७१) तथा रामचन्द्र के प्रधानमन्त्री थे। इनका काल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। अष्टांगहृदय पर इनकी "आयुर्वेद रसायन" व्याख्या प्रसिद्ध है। वोपदेवकृत

'मुक्ताफल' तथा 'हरिलीला' पर भी इनकी 'आयुर्वेद टीका' है। चतुर्वर्ग-चिन्तामणि इनका मौलिक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त धर्मशास्त्र पर भी इनके अनेक ग्रन्थ हैं।

शार्ङ्गधर

शार्ङ्गधर नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, कोई दार्शनिक, कोई ज्योतिर्विद कोई नाटककार और कोई आयुर्वेदज्ञ हैं। इनमें दामोदर पुत्र शार्ङ्गधर ही वैद्य थे और उन्होंने सोढल (१२वीं शताब्दी) की शैली पर "शार्ङ्गधर संहिता" की रचना की। बत्तीस अध्यायों और छब्बीस सौ श्लोकों में निहित यह संहिता तीन खण्डों में विभक्त है यथा पूर्व, मध्यम और उत्तर खण्ड। नाड़ी परीक्षा का सर्वप्रथम उल्लेख इसी ग्रन्थ में मिलता है। कुछ विद्वान् शार्ङ्गधर-संहिता एवं शार्ङ्गधर पद्धति दोनों के रचयिता को एक ही मानते हैं तथा आफ्रेक्ट सूचीकार ने भी दोनों का कर्ता एक ही माना है। शाकम्भरी देश के चौहानवंशीय हमीर नरेश के गुरु राघवदेव थे। उन्हीं के पुत्र दामोदर एवं पौत्र शार्ङ्गधर हैं। इनके दादा रणथम्भौर के राजा हमीर के समय में हुए थे। अतः इनका काल आसानी से १३वीं तथा १४वीं शताब्दी के मध्यम माना जा सकता है।

नित्यनाथ

इन्हें पार्वती का पुत्र माना गया है तथा इनके द्वारा रचित ग्रन्थ रसरत्नाकर है, जो १३वीं शताब्दी में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड, वादिखण्ड, रसायनखण्ड और मन्त्रखण्ड नामक पाँच खण्ड हैं। इसमें पारद के सभी क्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है।

आढमल्ल

यह हम्मीरपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम भावसिंह तथा पितामह का नाम चक्रपाणि था तथा दोनों ही विद्वान वैद्य थे। इन्होंने 'शार्ङ्गधर संहिता' पर 'दीपिका' नामक टीका लिखी थी। इन्होंने रसरत्नसमुच्चय को बहुशः उद्धृत किया है तथा १३वीं शताब्दी के रत्नप्रभाकर निश्चलकर को भी उद्धृत किया है। इन्होंने 'जसद' शव्द का प्रयोग किया है, जो १४वीं शताब्दी के पहले नहीं मिलता। अतः आढमल्ल का काल १४वीं शताब्दी माना जाता है।

वाचस्पति

इनके पिता का नाम प्रमोद था, जो हम्मीर नरेश के राजवैद्य थे तथा इनके बड़े भाई रामशर्मा मुहम्मद के सभासद थे। वाचस्पति स्वयं चरक, सुश्रुत, सांख्य, वेदान्त और वैशेषिक इन पांच शास्त्रों के विद्वान थे और इन्होंने मधुकोष व्याख्या को देखकर अपनी

व्याख्या की रचना की। यह माधवनिदान पर आतंकदर्पण व्याख्या के रचयिता हैं। आचार्य प्रियव्रत शर्मा के अनुसार वाचस्पति का काल १३४० ई. के आसपास माना जाता है। इनके पुत्र गुणाकार कवीश्वर ने मदनपालनिघण्टु (१३७४ ई.) की रचना में सहायता की, जिसके कारण भी यह काल समर्थित होता है। संभवतः डल्हण को उद्धृत करने वाले यह प्रथम निवन्धकार हैं।

मदनपाल

ये काष्ठा नगर के टाकावंश के राजा थे। माधवनिदान की आतंकदर्पण टीका के प्रणेता वाचस्पति के पुत्र गुणाकार कवीश्वर ने मदनविनोद की रचना में सहायता की थी। यही मदन विनोद ही मदनपालनिघण्टु के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः राजा के नाम पर ही यह ग्रन्थ गुणाकर कवीश्वर द्वारा लिखा गया हो। इस ग्रन्थ के अन्त में दिए गए काल के अनुसार यह १३७४ ई. में पूर्ण हुआ था।

कैयदेव

ये भारद्वाजगोत्रीय पद्मनाभ के पौत्र तथा सारंग के पुत्र थे। ये कैयदेव निघण्टु के रचयिता थे जिसका नाम 'पथ्यापथ्यविबोधक' भी है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'नामरत्नाकर' नामक ग्रन्थ इन्होंने लिखा था, जिसमें सम्भवत वस्तुओं के पर्यायमात्र थे तथा उन्हीं के गुणकर्म के विस्तृत विवरण के लिए पुनः इस ग्रन्थ कैयदेवनिघण्टु की रचना की थी। गोडे ने इनका काल १४५० ई. के पूर्व निर्धारित किया है। इसे मदनपालनिघण्टु के बाद लगभग १५वीं शताब्दी में माना जाता है, जो लगभग १४२५ ई. माना जा सकता है। ये गुजरात के निवासी प्रतीत होते हैं क्योंकि इन्होंने झूले (आन्दोलिका श्रमहरा) का वर्णन लिखा है।

वसवराज

नीलकण्ठ कोट्टुरू वसवराज आन्ध्रनिवासी, आराध्य रामदेशिक के शिष्य तथा नमः शिवाय के सुपुत्र थे। वैद्यजनशिरोभूषण के साथ-साथ वह कविता चातुरीधुरीण भी थे। कर्णाटक में लिंगायत (वीरशैव) मत के संस्थापक-प्रचारक वसवराज ने 'वसवराजीयम्' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ २५ प्रकरणों में समाप्त हुआ था। यह ग्रन्थ १६वीं शताब्दी से पूर्व लगभग १५वीं शताब्दी का प्रतीत होता है, जिसे श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी नागपुर ने १९३० में प्रकाशित किया था।

शालिनाथ

ये 'रसमञ्जरी' नामक ग्रन्थ के रचयिता है जो १५वीं शताब्दी में लिखा गया था। इस ग्रन्थ में अनेक रसौषधियों का वर्णन मिलता है।

गोविन्दाचार्य

ये कापालिक परम्परा में दीक्षित थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'रससार' है, जो केवल पारद पर ही अनेक तथ्यों की प्रकाशित करने में सफल रहा है। यह ग्रन्थ १५वीं शताब्दी में लिखा गया था जो आज उपलब्ध नहीं है।

श्रीनाथ पण्डित

ये आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ "परहितसंहिता" सम्पूर्ण आयुर्वेद को उपस्थित करती है। इनका काल १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निर्धारित किया गया है।

शिवदाससेन

"चक्रदत्त" की तत्त्वचन्द्रिका व्याख्या के अन्त में दिए इनके परिचय के अनुसार इनके पूर्वज साहिसेन, शिखरेश्वर की राजसभा में थे। द्रव्यगुण की व्याख्या के एक श्लोक के अनुसार इनके पिता को गोडाधिपति बार्बकशाह ने "अन्तरंग" पदवी प्रदान की थी। विद्याकुल-संपन्न वैद्य को अन्तरंग की पदवी दी जाती थी। बार्बक शाह का काल १४५७ ई. होने के कारण शिवदास सेन का काल १५वीं शताब्दी का अन्तिम समय होना चाहिए। इनकी माता का नाम भैरवी था।

कृतित्व

१. चरकसंहिता की तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या
२. चक्रदत्त की तत्त्वचन्द्रिका व्याख्या
३. अष्टांगहृदय की तत्त्वबोध-व्याख्या (केवल उत्तर तन्त्र उपलब्ध)
४. चक्रपाणिकृत द्रव्यगुणसंग्रह की व्याख्या
५. भव्यदत्तकृत योगरत्नाकर की टीका

भावमिश्र

ये आयुर्वेदीय इतिहास में मध्यकाल तथा आधुनिक काल की देहलीज पर स्थित है, ठीक उसी प्रकार जैसे वाग्भट प्राचीन तथा मध्यकाल की सीमारेखा पर अवस्थित हैं। इन्होंने प्राचीन संहिताओं का अनुसरण करते हुए भी अनेक मौलिक विचारों एवं नवीन द्रव्यों का समावेश अपने ग्रन्थ में किया है। भावप्रकाश नामक ग्रन्थ इनकी प्रसिद्ध रचना है, जो लघुत्रयी का अन्तिम तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा शताब्दियों से वैद्यसमुदाय में लोकप्रिय रहा है। भावमिश्र के पिता का नाम लटकन (मिश्र) था। ये शैव थे, जिसका इन्होंने अनेक स्थलों

पर संकेत किया है। प्रारम्भिक पद्यों में गणेश की वन्दना की गई है तथा विष्णु का उल्लेख "श्रीपति" और "मधुसूदन" शब्दों से हुआ है। त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और हनुमान् का भी उल्लेख ग्रन्थ में है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा के अनुसार भावमिश्र का काल १५वीं और १७वीं शताब्दी के मध्य अर्थात् १६वीं शताब्दी में सिद्ध होता है। इनकी एक अन्य रचना 'गुणरत्नमाला' है, जिस पर संभवतः भावप्रकाश का निघण्टुभाग आधारित है। भावप्रकाशनिघण्टु का काल १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित किया गया है, क्योंकि भावमिश्र मुगल-सम्राट अकबर के समकालीन या कुछ बाद हुए होंगे। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्होंने विष्णुपद की बन्दना की है, इससे प्रतीत होता है कि वह मगध में गया के निवासी थे, जहाँ विष्णुपद का मन्दिर अभी तक विख्यात है। कदली के चम्पक, स्वर्ण आदि जो भेद उन्होंने किए हैं, वह बिहार में हाजीपुर के क्षेत्र में होते हैं। इससे भी उनका बिहार प्रान्त में निवास सूचित होता है।

आधुनिककालीन आचार्य–(१७वीं शताब्दी तथा उसके बाद)

नरहरि पण्डित

ये काश्मीर की आद्यवंशीय आचार्य परम्परा में प्रसूत श्री ईश्वरसूरि के पुत्र थे। ये शैव तथा सभी शास्त्रों में पारंगत थे। इनकी प्रसिद्ध रचना का नाम राजनिघण्टु (निघण्टुराज) या अभिधानचूड़ामणि भी हैं। आचार्य प्रियव्रत शर्मा के अनुसार इनका काल भावप्रकाश के बाद ही होगा। इस प्रकार राजनिघण्टु का काल १७वीं शताब्दी माना जा सकता है।

त्रिमल्लभट्ट

यह तैलङ्ग् ब्राह्मण थे, कोडपल्ली ग्राम के मूल निवासी तथा सम्प्रति काशीवासी थे। इनकी प्रसिद्ध रचना योगतरंगिणी तथा बृहद् योगतरंगिणी है, जिसे स्वयं इन्होंने 'संहिता' कहा है, जिसमें आयुर्वेद के सभी अंगों का वर्णन है। योगतरंगिणी अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। पूरा ग्रन्थ ८१ तरंगों में पूर्ण हुआ है। इसमें मूलतः चिकित्सा का वर्णन है। बृहद्योगतरंगिणी में १४८ तरंग है। यह दो खण्डों में आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित (१६१३-१४ ई.) है। इसमें आयुर्वेद के आठों अंगों का वर्णन है। इनका काल लोलिम्बराज (१७वीं शताब्दी का प्रारम्भ) और योगरत्नाकर (१७वीं शताब्दी का अन्त) के बीच (१७वीं शताब्दी का मध्य) मानना चाहिए।

लोलिम्बराज

ये महाराज हरिहर के आश्रित थे तथा उनकी आज्ञा से हरिविलास नामक काव्य बनाया। इन्हें त्रिमल्लभट्ट ने योगतरंगिणी में उद्धृत किया है। इनका काल भावमिश्र तथा

त्रिमल्ल भट्ट के बीच में अर्थात् १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में १६२५ ई. के लगभग माना जाता है। लोलिम्बराज दिवाकर भट्ट के पुत्र पूना जिले में जुन्नार नामक स्थान के निवासी थे। किसी सूबेदार की कन्या मुरासा से इनका विवाह हुआ था। सम्भवतः रत्नकला उसी का दूसरा नाम हो या इस नाम को कोई अन्य प्रेयसी या पत्नी हो, जिसे संबोधित कर पद्यों की रचना हुई थी। यह महाराष्ट्र की सप्तश्रृंगस्थ देवी के आराधक थे। हरिविलास नामक काव्य के अतिरिक्त इनकी वैद्यजीवन, वैद्यावतंस, चमत्कारचिन्तामणि आदि रचनाएं हैं।

जैन हर्षकीर्ति

ये नागपुर के तापगच्छ स्थान रहने वाले थे। इनका पूरा नाम हर्षकीर्ति उपध्याय है। इनके द्वारा रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम योगचिन्तामणि है, जिसमें वैद्यक के सार का संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ का 'सारसंग्रह' नाम भी है, जिसमें सात अध्याय है। इनका काल १७वीं शताब्दी (लगभग १५७५-१६२५ ई.) है।

काशीराम वैद्य

पुष्पिका में कहीं-कहीं इनका नाम काशीराम मिश्र मिलता है। इन्होंने शर्ङ्गधर-संहिता पर "गूढार्थदीपिका" नामक व्याख्या लिखी थी। पथ्यापथ्यनियण्टु (१५वीं शताब्दी) तथा भावप्रकाश (१६वीं शताब्दी) को इन्होंने उद्धृत किया है। अतः इनका काल १७वीं शताब्दी माना जाता है।

नरसिंह कविराज

यह रामकृष्ण भट्ट के शिष्य थे तथा इनके पिता का नाम नीलकण्ठभट्ट था। इनके द्वारा रचित "रोगविनिश्चयविन्थरणसिद्धान्तचिन्तामणि" नामक व्याख्या मधुकोष के आधार पर माधवनिदान की एक विद्धत्तापूर्ण रचना है। "चरकतत्त्वप्रकाश-कौस्तुम" नामक इनकी चरक संहिता पर भी टीका हैं। एक अन्य चिकित्साग्रन्थ या निबन्ध की भी इन्होंने रचना की है, जिसका नाम "मधुमती" है। इनका काल १७वी शताब्दी है।

रुद्रभट्ट

यह अब्दुल रहीम खानखाना के राजवैद्य थे। शर्ङ्गधर-संहिता पर आयुर्वेददीपिका या गूढान्तदीपिका नामक टीका तथा लोलिम्बराजकृत वैद्यजीवन पर भी दीपिका टीका इन्होंने लिखी। इनका काल १७वीं शताब्दी है।

रामसेन

यह मीरजाफर के राजवैद्य, "कवीन्द्रमणि" के रूप में प्रसिद्ध थे। रसेन्द्र-सारसंग्रह तथा रसेन्द्रचिन्तामणि पर इन्होंने टीका लिखी। इनका काल १८वीं शताब्दी है।

गंगाधर राय

कविराज गंगाधर राय का कार्यक्षेत्र मुर्शिदाबाद था। इनका जन्म १७६६ ई. तथा देहावसान १८५५ ई.में हुआ था। चरकसंहिता पर इनकी विद्वत्तापूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण व्याख्या "जल्पकल्पतरु" नाम से है, जिसमें विशेषतः दार्शनिक विषयों की गंभीर मीमांसा की गई है। उपर्युक्त व्याख्या के अतिरिक्त आयुर्वेद के क्षेत्र में इनके द्वारा रचित निम्न रचनाए और भी हैं-

१.	परिभाषा	२.	भैषज्यचरामायण
३.	भास्करोदय	४.	मृत्युञ्जयसंहिता
५.	आग्नेयायुर्वेदव्याख्या	६.	नाड़ी-परीक्षा
७.	आरोग्यस्तोत्र	८.	प्रयोगचन्द्रोदय
९.	आयुर्वेद संग्रह	१०.	राजवल्लभीय द्रव्यगुणविवृति

आयुर्वेद के अतिरिक्त, तन्त्र, व्याकरण, साहित्य दर्शन, उपनिषद् धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों पर भी इनके ग्रन्थ हैं। इनकी कृतियों की कुल संख्या ७६ मानी जाती है।

शालिग्राम वैश्य

यह मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। इनके द्वारा रचित शालिग्राम-निघण्टु खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई द्वारा प्रकाशित बृहन्निघण्टुरत्नाकर का ७-८ वॉं भाग है। यह ग्रन्थ (शालिग्रामनिघण्टु) १८९६ ई. में पूर्ण हुआ था। यह १९ वीं शती का अन्तिम निघण्टु है।

हाराणचन्द्र चक्रवर्ती

यह कविराज गंगाधर के प्रमुख शिष्यों में थे। इन्होंने सौश्रुतपद्धति से शब्दकर्म का अभ्यास किया था और उसका प्रयोंग भी करते थे। इनके द्वारा सुश्रुतसंहिता पर भी "सुश्रुतार्थसंदीपन" नामक भाष्य लिखा गया, जो सन् १९०८ में कलकत्ता से छपा था। इनकी मृत्यु सन् १९३५ ई. में हुई थी।

योगीन्द्रनाथ सेन

यह कविराज द्वारकानाथ सेन के पुत्र थे तथा कविराज गंगाधर राय के शिष्य थे। इनका जन्म कलकत्ता में १८७१ ई. में हुआ था तथा देहावसान १९१८ ई. में हुआ था। चरकसंहिता पर इनके द्वारा रचित सुबोध व्याख्या "चरकोपस्कार" है। यह व्याख्या १९२० ई. में अपूर्ण प्रकाशित हुई थी।

जयदेव विद्यालंकार

यह गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार की परम्परा के सुयोग्य विद्वान् लेखक हैं। चरकसंहिता पर इनकी लिखी हिन्दी टीका बहुत लोकप्रिय हुई। वर्षों तक एकछत्र साम्राज्य रहा, जिसका ८वां संस्करण १६७० ई. में प्रकाशित हुआ। इन्होंने चिकित्साकलिका तथा भैषज्यरत्नावली की भी हिन्दी टीका की थी, जो बहुत प्रचलित है। इनका काल बीसवीं शताब्दी है।

ज्योतिषचन्द्र सरस्वती

ये स्वतन्त्र विचार के उच्चकोटि के विद्वान तथा वंगाल के निवासी थे। इन्होंने चरकसंहिता पर "चरकप्रदीपिका" नामक टीका लिखी थी, जो केवल सूत्र स्थान तक ही प्रकाशित हुई थी। इनका काल बीसवीं शताब्दी है। यह गणनाथ सेन के आधुनिक विचारों का समर्थन नहीं करते थे तथा अवसर मिलने पर उनका खण्डन करते थे।

दत्तराम चौबे

ये मथुरा के निवासी थे। इनका काल बीसवीं शताब्दी है। ये वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित होने वाले अनेक ग्रन्थों का अनुवाद करते थे। इन्होंने निघण्टुरत्नाकर जैसे बृहत् ग्रन्थ की भी रचना की थी।

पं. रामप्रसाद शर्मा

यह पटियाला के राजवैद्य थे तथा इनका जन्म १६३६ में हुआ था। इन्होंने चरकसंहिता, अष्टांगहृदय आदि ग्रन्थों पर हिन्दी टीका लिखी थी। इनके पुत्र का नाम पं शिवशर्मा था।

वैद्य हरीदास श्रीधर कस्तुरे

इन्होंने "आयुर्वेदीय पञ्चकर्मविज्ञान" नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा.लि. ने १६७० में प्रकाशित किया। इनका काल भी बीसवीं शताब्दी है।

कविराज विरजाचरण गुप्त

यह कूचविहार के राजा द्वारा सम्मानित थे तथा उनके ही संरक्षण में इनके द्वारा "वनौषधिदर्पण" नामक ग्रन्थ की रचना की गई थी। इन ग्रन्थ का प्रथम भाग १६०८ ई. तथा द्वितीय भाग १६०६ ई. में प्रकाशित हुआ था।

बामन गणेश देसाई

इनका जन्म १८७४ ई. तथा स्वर्गवास मई १६२७ ई. को हुआ था। इनका प्रसिद्ध

ग्रन्थ "ओषधिसंग्रह" यद्यपि इनके जीवनकाल में ही तैयार हो गया था परन्तु इनके निधन के बाद ही नवम्बर १९२७ में प्रकाशित हुआ था। द्रव्यगुणवाङ्मय के क्षेत्र में यह ग्रन्थ "ओषधिसंग्रह" एक महत्त्वपूर्ण दिग्दर्शक साबित हुआ था, जिसका अनुसरण अनेक परवर्ती लेखकों ने किया। इस ग्रन्थ में वानस्पतिक कुलों के क्रमानुसार औद्भिद द्रव्यों का विवरण है। पार्थिव द्रव्यों पर इनका ग्रन्थ "भारतीय रसशास्त्र" १९२८ में आचार्य यादवजी द्वारा ही प्रकाशित किया गया था।

कविराज महेन्द्र कुमार शास्त्री

यह मुरादाबाद जिले (उत्तर प्रदेश) के सदरपुर नामक ग्राम में एक जमींदार श्री चौधरी रूपचन्द्र जी के घर ४ अप्रैल सन् १९१४ ई. को उत्पन्न हुए थे तथा इनकी माता का नाम लेखा देवी था। इन्होंने १९३१ में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद अपने भाई पं. विमल देव जी शास्त्री के परामर्श से दयानन्द आयुर्वेद विद्यालय, लाहौर में प्रविष्ट होकर वहाँ से "वैद्य वाचस्पति" प्रथम श्रेणी में प्रथम पद प्राप्त कर उत्तीर्ण किया। १९३६ में निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ से "आयुर्वेदाचार्य" प्रथम श्रेणी में समग्र भारत में प्रथम पद प्राप्त कर स्वर्ण पदक तथा प्रथम पारितोषिक प्राप्त किया। दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज लाहौर में अध्यापन करने के पश्चात् श्री रामविलास पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुण विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर वर्षों तक कार्य कर १९७१ में सेवानिवृत्त हुए तथा उस संस्था के प्राचार्य भी रह चुके हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ निम्न हैं- हिन्दी में-

१. आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास
२. सचित्र लघु द्रव्यगुणादर्श (द्वि.सं. १९५७)
३. सचित्र उद्भिद् शास्त्र (आधुनिक वनस्पति विज्ञान)
४. त्रायमाण-विनिश्चय
५. मूर्वानिर्णय
६. बृहद द्रव्यगुणादर्श (आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी लखनऊ १९७८)

सदानन्द शर्मा घिल्डियाल

इनके पिता का नाम जीवानन्द शर्मा तथा माता का नाम सरस्वती था। इनके द्वारा रचित २०वीं शताब्दी का ग्रन्थ "रसतरंगिणी" है, जिसमें अनेक नव्य योगों का संस्कृतीकरण करके ग्रहण किया गया है। यह ग्रन्थ उनके गुरु नरेन्द्रनाथ मिश्र द्वारा लाहौर से प्रकाशित है (द्वि.सं. १९३५)। इन्होंने रसकौमुदी की व्याख्या तथा पारदयोग शास्त्र आदि अनेक रस ग्रन्थों का सम्पादन किया है।

पं. हरिप्रपन्न शर्मा

यह आरा (विहार) के निवासी थे तथा इन्होंने १६२७-१६३० ई. में "रसयोग सागर" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ दो भागों में पूर्ण किया गया था। इसे बम्बई के निर्णय सागर प्रेस से छापकर लेखक ने स्वयं प्रकाशित किया है। प्रथम भाग में तवर्ग तक और द्वितीय भाग में अवशिष्ट रसयोगों का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ आजकल अनुपलब्ध है।

कविराज श्यामादास वाचस्पति

इनका जन्म १८७६ ई. में बंगाल में नदिया के निकट चूपी ग्राम में हुआ था। इनके पिता जगन्नाथ प्रसाद प्रख्यात चिकित्सक थे। इन्होंने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् काशी के प्रसिद्ध कविराज परेशनाथ जी से आयुर्वेद का अध्ययन १६२४ में प्राप्त किया था। इनके नाम पर वैद्य शास्त्र पीठ कलकत्ता में स्थापित है, जिसे अव राज्य सरकार ने अपने हाथों में लेकर उसमें काय चिकित्सा का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू कर दिया है। ये चिकित्सा के व्यवसाय के लिएं कलकत्ता चले गए थे तथा कविराज द्वारकानाथ सेन के सम्पर्क में रहे। वहाँ यह पुनः स्वतन्त्र कार्य करने लगे तथा चिकित्सा के साथ-साथ अध्यापन भी करते थे। इनका स्वर्गवास १६४१ में हुआ।

गणनाथ सेन

इनका जन्म आश्विन कृष्ण सप्तमी, सं. १६३४ (१८७७ ई.) को काशी में हुआ था। इनके पिता कविराज विश्वनाथ सेन आयुर्वेद के चिकित्सक एवं अध्यापक थे। यह मेडिकल कालेज के स्नातक बने तथा संस्कृत में एम.एम. भी किया। "प्रत्यक्षशारीरम्" इनकी प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त निदान (कलकत्ता, १६२६), संज्ञा पञ्चक विमर्श (कलकत्ता, १६३१), शारीर परिभाषा (कलकत्ता, १६३६) आदि इनकी रचनाएँ है। इनका स्वर्गवास १६४५ ई. में हुआ था। यह नि.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन के तीन बार (१६११, १६२०, १६३१) अध्यक्ष हुए। १६१६ में यह महामहोपाध्याय की पदवी से विभूषित हुए। कलकत्ता में अपने पिता के नाम पर स्थापित विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय के अध्यक्ष थे तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद-संकाय में यह १६२७ से १६३८ तक अध्यक्ष रहे।

कविराज द्वारकानाथ सेन

इनका जन्म बंगाल में फरीदपुर जिले के एक गाँव में १६४३ ई. में हुआ था। यह आचार्य गंगाधर राय के प्रमुख शिष्यों में थे। इन्होंने १८७५ में कलकत्ता में चिकित्सा प्रारम्भ

करके अल्पकाल में ही देश के मूर्धन्य चिकित्सकों में अपना स्थान बना लिया था। इनके अनेक शिष्य थे, जिनमें काशी के उमाचरण कविराज, जयपुर के स्वामी लक्ष्मीराम और इनके ज्येष्ठ पुत्र योगीन्द्रनाथ सेन आदि प्रमुख थे। १६०६ में यह सरकार द्वारा महामहोपाध्याय पदवी से विभूषित किए गए। यह पदवी सर्वप्रथम इन्हीं को प्राप्त हुई थी। ११ फरवरी १६०६ को इनका स्वर्गवास हुआ।

पं. शिवशर्मा

इनका जन्म १२ मार्च १६०६ को पटियाला में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामप्रसाद शर्मा था, जो पटियाला में राजवैद्य थे। आयुर्वेद की शिक्षा इन्होंने वहीं से प्राप्त की थी। १६२७-२८ में दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, लाहौर में प्रोफेसर नियुक्त हुए। पाकिस्तान बनने के बाद यह भारत में ही बम्बई आ गए। शुद्ध आयुर्वेद को अग्रसर करने में इनका बड़ा योगदान रहा है। सरकार ने इनको वैद्यरत्न और पद्मभूषण की उपाधियों से सम्मानित किया है। नि.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन के आठ बार अध्यक्ष रह चुके हैं (१६५१ से लगातार १६५६ तक)। यह लोकसभा के भी सदस्य रह चुके हैं। आयुर्वेद सम्बन्धी विधेयकों को लोकसभा से पारित कराने में इनका सक्रिय योगदान रहा है। यह केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के अध्यक्ष तथा केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान परिषद् की वैज्ञानिक सलाहकार समिति के भी अध्यक्ष थे। इन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी हैं जिन्में "सिस्टम ऑफ आयुर्वेद", "भावप्रकाश निघण्टु टीका" आदि प्रमुख हैं। इनका स्वर्गवास बम्बई में २० मई १६८० को हुआ था।

कविराज यामिनीभूषण राय

इनका जन्म खुलना जिला (बंगाल) के पयो ग्राम स्थान में १८७६ ई. में हुआ था। इनके पिता कविराज पञ्चानन राय संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान और यशस्वी चिकित्सक थे जो भवानीपुर, कलकत्ता में निवास करते थे। इन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद का अध्ययन किया और पुनः कविराज विजयरत्न सेन के साथ रहकर शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने १६१६ में अष्टांग आयुर्वेद कालेज की स्थापना करके अपने गुरु की आकांक्षा की पूर्ति की, जिसके यह प्रथम प्राचार्य भी थे। महात्मा गाँधी ने ५ मई, १६२५ को कालेज एवं अस्पताल के भवन का शिलान्यास किया था। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी जिसमें शालाक्यतन्त्र, विषतन्त्र आदि प्रमुख हैं। नि.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन के मद्रास अधिवेशन (१६१६) के यह अध्यक्ष थे। इनका स्वर्गवास मात्र ४७ वर्ष की आयु में ११ अगस्त १६२५ को हो गया था तथा वसीयत में इन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अष्टांग आयुर्वेद कालेज को दे दी थी।

गोवर्धन शर्मा छांगाणी

इनका जन्म विजयादशमी सं. १९३३ को जोधपुर के पास पोकरण नगर में हुआ था। नागपुर में वैद्यक महाविद्यालय के यह प्रथम प्राचार्य थे। पुनः श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना की और उसे विद्यापीठ से सम्बद्ध कराया। नि.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन (अहमदाबाद, १९३५) के अध्यक्ष भी थे। वसवराजीयम् का सम्पादन प्रकाशन इन्होंने किया तथा अष्टांग संग्रह सूत्र स्थान की टीका की है (चौखम्बा, १९५४)।

शंकरदाजी शास्त्री पदे

इनका जन्म ३० मार्च १८६७ ई. को बम्बई में हुआ था। इन्होंने संस्कृत, व्याकरण, दर्शन आदि की शिक्षा ग्रहण करने के बाद भानुवैद्य कुलकर्णी से आयुर्वेद का अध्ययन तथा कर्माभ्यास किया। १९०७ में इन्होंने नि.भा. वैद्य सम्मेलन की स्थापना नासिक में की। सं. १९६६ रामनवमी को इनका स्वर्गवास हुआ। बम्बई में वैद्य प्रभुराम जी के सहयोग से एक आयुर्वेद विद्यालय की स्थापना की। पुनः नासिक में एक विद्यालय स्थापित करके उसका संचालन का भार पं. लक्ष्मणराव फणशीकर को सौपा। आयुर्वेद के प्रचार के लिए राजवैद्य, आर्यभिषक्, सद्वैद्यकौस्तुभ आदि पत्र इन्होंने चलाए।

पं. हरिदत्त शास्त्री

इनका जन्म जालंधर जिले के जदाला नामक स्थान पर २६ दिसम्बर, १९०३ को हुआ था। इन्होंने लाहौर में शास्त्री परीक्षा पास कर विद्यापीठ से आयुर्वेदाचार्य किया था। यह सनातन धर्म प्रेमगिरि आयुर्वेद कालेज, लाहौर में अध्यापक रहे। यह महाराष्ट्र में आयुर्वेद निदेशक १९५५ में हुए तथा १९६१ तक इस पद पर कार्य किया। १९६७ में यह दिल्ली के मूलचन्द खैरातीराम अस्पताल के निदेशक बने। इन्होंने अपने ग्रन्थों का पुनरुद्धार किया तथा चरक को जेज्जट व्याख्या का सम्पादन किया है।

वैद्य अमृतलाल प्राणशंकर पट्टणी

यह पाटन आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रथम प्राचार्य थे। वैद्य वापालाल इन्हीं के शिष्य है। गुजरात में आयुर्वेदीय शिक्षा को बढ़ाने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वैद्य जीवराम कालिदास शास्त्री

यह गोंडल (सौराष्ट्र) के निवासी हैं। इनका जन्म माघ शुक्ल दशमी सं. १९३९ हुआ था। गिरनाट में इन्होंने श्री अच्युतानन्द ब्रह्मचारी से संस्कृत, आयुर्वेद, मन्त्रशास्त्र, योग आदि विशेषतः रसशास्त्र का अध्ययन किया। सं. १९६६ में इन्होंने रसशाला औषधाश्रम

की स्थापना की थी। यह सं. १९७२ में गोंडल नरेश के राजवैद्य हुए। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी जिसमें रसोद्धारतन्त्र नामक ग्रन्थ का खूब प्रचार हुआ था। इनके ग्रन्थों का संग्रह बहुत विशाल था, जो आजकल जामनगर आयुर्वेद विश्वविद्यालय में है। इन्होंने आयुर्वेद रहस्यार्क और पारद नामक मासिक पत्रों का भी प्रकाशन किया था।

डी. गोपालाचार्लु

इनका जन्म मद्रास प्रान्त के मसलीपट्टन में हुआ था। इनके पिता का नाम वैद्यराज रामकृष्णमाचार्लु था। इन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद की शिक्षा लेने के उपरान्त मैसूर राजकीय आयुर्वेद कलाशाला में प्रविष्ट होकर वहाँ के अध्यापक श्री पुट्टस्वामी शास्त्री के पास अध्ययन किया। इन्होंने स्वयं मद्रास आयुर्वेद कलाशाला की स्थापना कर उसका संचालन किया। भारत सरकार की ओर से १९१३ में इनको वैद्यरत्न पदवी से सम्मानित किया गया था। नि.भा वैद्य सम्मेलन (लाहौर, १९१८) को यह अध्यक्ष थे। आन्ध्र भाषा में आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ लिखे तथा प्राचीन ग्रन्थों से आन्ध्र टीका की। इनका स्वर्गवास २८ सितम्बर १९२० को हुआ।

जी. श्रीनिवासमूर्त्ति

इनका जन्म १८८७ ई. में मैसूर प्रान्त के गोरूट ग्राम में हुआ था। बी.ए. पास करके मद्रास मेडिकल कालेज से स्नातक हुए। शिक्षा समाप्त कर मद्रास मेडिकल सर्विस में प्रविष्ट हुए और तंजारे मेडिकल स्कूल के लेक्चरर बने। १९१७ में विश्वयुद्ध के दौरान सेना में डाक्टर नियुक्त हुए और कैप्टन बने। पुनः रायपुरम मेडिकल स्कूल में सर्जरी के लेक्चरर नियुक्त हुए। इसी समय मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त उसमान कमेटी के सचिव का भी कार्य किया। इस अवसर का उपयोग कर इन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया और "साइन्स ऐण्ड आर्ट ऑफ इन्डियन मेडिसिन" नामक ग्रन्थ लिखा। ६ जनवरी १९२५ में मद्रास में स्कूल ऑफ इन्डियन मेडिसिन खुलने पर यह उसके प्रथम प्राचार्य हुए। सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ इन्डियन मेडिसिन मद्रास के १९३२ में प्रथम अध्यक्ष हुए। भारतीय चिकित्सा के राजकीय परामर्शदाता और विभागाध्यक्ष भी थे। नि.भा. वैद्य सम्मेलन (नासिक, १९२६) के यह अध्यक्ष थे। १९३२ में इन्हें सरकार द्वारा वैद्यरत्न की उपाधि से सम्मानित किया गया था।

पञ्चम अध्याय

संस्कृत आयुर्वेद साहित्य में जैनाचार्यों का योगदान

आयुर्वेद जीवन विज्ञान है, जिसका अस्तित्व जीव के अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है। चूंकि जीव का अस्तित्व अनादिकाल से है, इसलिये तत्सम्बन्धी समूचा विज्ञान जीवन तत्व विश्लेषण भी स्वतः अनादि सिद्ध होता है। इतना ही क्यों जीव का प्रतिपक्षी अजीव तत्व भी उसका समकालीन है। मौलिक दृष्टि से जीव और अजीव ये दोनों तत्व ही जड़ और चेतन के नाम से व्यवहृत किये जाते है एवं सारे ब्राह्माण्ड के मूल में है। इस मान्यता में प्रायः सभी दार्शनिक एक मत है। भले ही उन्होंने अपने दर्शन में पृथक-पृथक नाम दिये हैं। सारे संसार में दृष्टि गोचर होने वाला स्वर्ग-नरक सुख-दुःख, जीवन-मरण, संसार मोक्ष का यह वैचित्र्य और भेद इन्हीं दो तत्वों का खेल है।

जीव जगत् से संवंध रखने वाले सुख-दुःख और उसके प्रमुख कारण स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य की सत्ता भी जीव अजीव के सुयोग, कुयोग पर निर्भर है। जीव और अजीव की इस मिश्रित दशा का अविरल अविच्छिल रूप से मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त परिर्वर्तित होते रहने का नाम आयु है। आयु का यह लक्षण आयुर्वेद की अग्निवेश संहिता (चरक संहिता) में शब्दान्तरों द्वारा इसी रूप में कहा गया है। तथा हि

[1]शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगोधारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबंधश्च पर्यायैरायुरुच्यते।।

शरीर, इन्द्रियां, मन और आत्मा इनके सम्बन्ध का नाम आयु है। धारि-नियत समय तक शरीर को धारण करने वाला, जीवित प्राणी को धारण करने वाला, आश्रय देने वाला, नित्य, शरीर के क्षणिक होने से स्वयं तद्रूप होकर उसके साथ अविच्छिन्नरुप से चलने वाला, जो अन्य शरीरों के साथ संयोग बनाये रखता है, उसे अनुबंध कहते है। अर्थात् यह जीव जिस-जिस पर्याय (गति) में जाता है, आयु (जीवन अवधि) उसके साथ चलती है। ये सब आयु के नामान्तर हैं। जैनागम में भी आयु का लक्षण यही कहा गया है।[2] एत्यनेननरकादि भवमित्यायुः अर्थात जिसके द्वारा (कारण) यह जीव नरक, मनुष्य आदि पर्यायों में जाता है, इन भवों को प्राप्त होता है, उसे आयु कहते हैं। इस आयु के वेद का नाम ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद शब्द का व्युत्पत्यर्थ भी यही है। तथाहि-आयुषों वेदः आयुर्वेद इति वेद शब्द विद्लृ धातु से बना है। जिसके वाच्यार्थ जानना, प्राप्त करना, सत्ता में होना होता है। इन

---

१. चरक सूत्र अ. १।४२।२ सर्वार्थसिद्धि
२. सर्वार्थसिद्धि

वाच्यार्थो में आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है। आयुरस्मिन्विद्यते अनेनर्वा आयुर्विन्दति इत्यायुर्वेदः। आयुः शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगः तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः। अथवा आयुर्वेद्यते ज्ञाप्यते अनेनेत्यायुर्वेदः। आयुर्वेद्यते विचार्यतेऽनेनवेत्यायुर्वेदः। आयुरनेन विन्दति प्राप्नोतीति वा आयुर्वेदः। आयुरनेन विन्दति प्राप्नोतीति वा आयुर्वेदः। (सुश्रुत सू.अ. ४।१५।)

अर्थात् जिसमें आयु रहती हो, अर्थात आयु जिसका आधार हो, जिसके द्वारा आयु जानी जाय, उसका ज्ञान हो, आयु के विषय में हिताहितात्मक विचार जिसके द्वारा किया जाय, आयु जिसके द्वारा प्राप्त की जाय, उसे आयुर्वेद कहते है। आयुर्वेदशास्त्र के दूसरे प्रमुख आचार्य चरक भी आयुर्वेद का यही व्युत्पत्यर्थ करते है। तथाहि–आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। कथमितिचेत्, उच्यते। स्वलक्षणतः, सुखासुखतो, हिताहिततः, प्रमाणाप्रमाणतश्च। यतश्चायुष्याण्यनायुंष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणिवेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः। (चरक, सू.अ. २३।३०।)

अर्थात् जो आयु का ज्ञान करावे, वह आयुर्वेद है। जिससे किसी प्रकार की मानसिक शारीरिक व्याधि न हो, बलवीर्य पौरूष पराक्रम से सम्पन्न हो, धन सम्पन्न हो, ज्ञानवान् हो, उसे सुखायु कहा गया है। इसके विपरीत विविध प्रकार के रोगों से ग्रस्त, अर्थहीन, बलहीन, पौरूष पराक्रम से रहित, ज्ञानहीन व्यक्ति असुखायु माना गया है। सत्यवादी, परोपकाररत, परस्परविरोध रहित धर्म, अर्थ काम पुरूषार्थ का सेवन करने वाले विवेकवान पुरुष को हितायु माना गया है। इसके विपरीत लक्षण युक्त व्यक्ति को अहितायु माना गया है। किस व्यक्ति की कितनी आयु है, इसका स्वाभाविक मरण कब होगा, इसे प्रमाण आयु कहा है। अरिष्ट लक्षणों (मरण सूचक चिन्ह) के उत्पन्न होने पर प्रमाण से पूर्व मरण वाले व्यक्ति को अप्रमाणायु माना गया है। अमुकद्रव्य आयु (जीवन) के लिये हितकर है अमुक अहितकर है। इत्यादि बातों के बोध कराने वाले शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं।

जीवन अनादि है। अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः। (चरक) अतः उसका गमक (ज्ञापक) वेदशास्त्र भी अनादि है। महर्षि चरक और आचार्य सुश्रुत दोनों ही आयुर्वेद की अनादिकता को स्वीकार करते है। तर्क एवं प्रमाण से प्रमाणित करते है तथाहि–सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वादाभावस्वभाव नित्यत्वाच्च (चरक सू. अ.) आयुर्वेद शाश्वत नित्य है। क्योंकि इसके कर्त्ता का कोई पता नहीं मिलता। आयुर्वेद की परम्परा भी विच्छिन नहीं हुई है। जैसे–जीव कब से है और इसका अस्तित्व अमुक समय नहीं रहा, यह कोई नहीं प्रमाणित कर सकता। यही स्थिति आयुर्वेद की है। जीव के सुख दुःख, उनके कारण, द्रव्य, लक्षण तथा निराकरणात्मक चिकित्सा द्रव्यों का भी सदा सद्भाव रहता है। सामान्य पदार्थों के सेवन से सामान्य समग्र गुणों की वृद्धि, विपरीत गुण वाले पदार्थों के सेवन से उनके गुणों का ह्रास होता है, यह वस्तु स्वभाव भी नित्य है। जो जीवों के सुख दुःख में कारण है। इस भाव स्वभाव के नित्य होने से भी आयुर्वेद नित्य शाश्वत है।

शल्यतंत्र के आदिम प्रणेता आचार्य सुश्रुत भी आयुर्वेद की अनादिता नित्यता को निरूपित करते हुए कहते है-इह खल्वायुर्वेदं नामोपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोक शतसहस्रमध्यायसहस्रंचकृतवान् स्वयंभूः। ततोऽल्पायुष्टमल्पमेधस्त्वं चालोक्यनराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। (सु. सू.अ. १।६।)

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग (हिस्सा) है। ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण करने के पूर्व ही एक हजार अध्याय प्रमाण, जिसमें एक लाख श्लोक है, आयुर्वेदागम का सृजन किया। मनुष्यों की अल्पायु और बुद्धि की मन्दता को लक्ष्य में रख इसे पुनः आठ अंगों में विभाजित किया, इसी कारण इसकी अष्टांग आयुर्वेद संज्ञा है।

जहां तक आयुर्वेद के उद्देश्य का प्रश्न है, आयुर्वेद संहिताओं में स्पष्ट किया है कि व्याधिग्रस्त जीवों को रोग से मुक्त करना तथा स्वस्थ पुरुषो के स्वास्थ्य की रक्षा करना, उनमें रोग उत्पन्न नहीं होने देना, आयुर्वेद का लक्ष्य है। तथाहि-

व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणंच। (सुश्रुत सू.अ.१) जैनायुर्वेद जिसका तुलनात्मक विवेचन आगे किया जायगा-में भी जैनाचार्यों ने यही बताया है तथाहि-

लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं, शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत्।
स्वस्थस्यरक्षणमथामय मोक्षणं च, संक्षेपतः सकलमेव निरुप्यतेऽत्र।।

कल्याणकारक स्वास्थरक्षण। २४

आयुर्वेद शास्त्र की रचना लोकोपकार के लिये है। स्वस्थ पुरुष की रक्षा (रोगानुत्पति) और रोगियों को रोग से मुक्त कराने के सम्पूर्ण विधान का निरूपण इसमें है। उपर्युक्त विश्लेषण से आयुर्वेद शास्त्र अनादि प्रमाणित होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी आयुर्वेद की प्राचीनता प्रमाणित होती है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग (लघु अंग) माना गया है। यह ऊपर बता आये हैं। वेदों को अपौरूषेय माना गया है, अतः किसी व्यक्ति के द्वारा इनकी रचना का प्रश्न नहीं उठता। फिर भी मनुष्यों के अल्पायु और अल्पबुद्धि होने एवं उन्हें उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुख जानकर इसे शब्दों में गूंथकर लिपिबद्ध किया गया। सरलता से बुद्धिसात् करने के हेतु इसे प्रमुख आठ भागों में विभाजित किया गया। इसी लिये इसे अष्टांग आयुर्वेद कहा जाता है। इन कायचिकित्सा आदि आठों अंगों का विशद विवेचन आगे किया जाएगा।

वेदों का रचनाकाल ईस्वी पूर्व डेढ़ हजार वर्ष पूर्व माना है। इस दृष्टि से प्रवर्तमान आयुर्वेदागम साढ़े तीन हजार ३५०० वर्ष पुराना तो प्रमाणित होता ही है। वर्तमान साहित्य संसार में वेद प्राचीनतम माने जाते है और इनका रचनाकाल न्यूनतम पांच हजार वर्ष पुराना माना जाता है। चूंकि अयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग हिस्सा है। इसलिये आयुर्वेद भी

पांच हजार वर्ष से है। आयुर्वेद का मूल स्रोत एवं आचार्य परम्परा आयुर्वेद शास्त्र प्रणेता आचार्यों के मतानुसार निम्नप्रकार है:-

ब्रह्मा स्मृत्वायुषोवेदं प्रजापतिमजिग्रहत।
सोऽश्विनौतौ सहस्ताक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्।।
तेऽग्निवेशादिकांस्तेतु पृथक् तंत्राणि तोनिरे।।

अष्टांग सं. १।३

ब्रह्मा ने आयुर्वेद का उपदेश दक्ष प्रजापति को दिया। दक्ष प्रजापति से आयुर्वेद का ज्ञान अश्विनीकुमारों ने, उनसे इन्द्र ने और इन्द्र से आत्रेय-पुनर्वसु ने प्राप्त किया। इनके बाद अग्निवेशादि महर्षियों ने इस शास्त्र को प्राप्त कर जगत के हितार्थ प्रचारित, प्रसारित किया। वर्तमान आयुर्वेद इसी परम्परा वृक्ष का फल है।

जहाँ तक जैनायुर्वेद का प्रश्न है, वह भी अनादि है क्योंकि जीव का अस्तित्व अनादिकाल होने से उसके रोग तथा उनके प्रतिकार विधि विधान भी तभी से है। परम्परा के परिप्रेक्ष्य में प्रवर्तमान आयुर्वेद का उद्‌गम ब्राह्मा से होने की भांति, इसका मूल स्रोत केवली, तीर्थंकर की दिव्यध्वनि (दिव्यवाणी) है। इस दिव्यध्वनि में वर्णित वस्तुतत्व को गणधर (आद्य प्रवक्ता) ने भी भाषाओं में जनसाधारण तक पहुंचाया। ज्ञान कराया। इस परम्परा में गणधर के पश्चात् प्रतिगणधर व धरसेनाचार्य, कुंदकुंदाचार्य जैसे-प्रथम पंक्ति के आचार्यों ने भगवान की दिव्यध्वनि (श्रुत) को लिपिबद्धकर आगम का रूप प्रदान किया। जैनदर्शन में सम्पूर्ण जैनागम बारह भागों में विभक्त है। जिसे द्वादशांग के रूप में व्यवहृत किया गया है। इनमें अन्तिम बाहरवां अंग दृष्टिवाद है। इसके पांच भेदों में एक पूर्व नाम का भेद है। इसके भी पुनः चौदह भेद है। इनमें जो प्राण वायु नाम का पूर्व शास्त्र है, उसमें अष्टांग आयुर्वेद का अविकल (परिपूर्ण) वर्णन है। यही जैनायुर्वेद का मूल शास्त्र या मूल वेद है। इसी वेद के अनुसार उत्तरवर्ती सभी जैनाचार्यों ने आयुर्वेद शास्त्र की रचना की। वर्तमान में उपलब्ध जैनायुर्वेद के एक मात्र ग्रंथ कल्याणकारक में यही बताया गया है। तथाहि-

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातम्, साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चाद्‌गणाधिपप्रसपिंतवाक प्रपंचमष्टार्थ निर्मलधियों मुनयोऽधिजग्मुः।।

कल्याणकारक स्वास्थ्यरक्षण-९

तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा प्रकटित आयुर्वेदिक अंगों को गणधर ने जाना, गणधरों द्वारा निरूपित तत्व स्वरूप को निर्मल ज्ञानधारी मुनियों ने प्राप्त किया। इस प्रकार यह निरवशेष आयुर्वेद परम्परा प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त अविच्छिन्न

रूप से चली आई है। यह वर्णन दिव्य ज्ञानधारी तीर्थंकरों के मुखरविंद से उत्पन्न होने के कारण स्वयंभू है। वीजांकुर न्याय से उपरिलिखित क्रम से अनादि काल से चले आने के कारण सनातन है। मंद्रवाहु आदि श्रुत केवलियों के मुख से अल्पांग ज्ञानी या अंगांग ज्ञानी मुनियों द्वारा साक्षात् सुना हुआ है। इस प्रकार केवल ज्ञानी श्रुत केवलियों व अन्य (सम्पूर्ण जैन शास्त्र के पारंगत आचार्य) विशिष्ट ज्ञान के धारी मुनियों द्वारा ग्रंथित प्रचारित होने के कारण यह प्रमाण है।

धार्मिक, दार्शनिक, काव्य, ज्योतिष समस्त जैन साहित्य का लिपिबद्ध स्वरूप का प्रादुर्भाव भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण होने के ६८३ वर्ष बाद हुआ है। अर्थात् ईसा पूर्व १०० वर्ष पहले हुआ है। अन्य सभी प्रकार का जैन साहित्य प्रचुर परिमाण में आज भी उपलब्ध होता है तथा प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़, अपभ्रंश, अप्रकाशित अपार साहित्य भंडार अभी भी जगह-जगह विशेषकर दक्षिण प्रांत में पड़ा हुआ है। निश्चित ही इसमें आयुर्वेद शास्त्र भी होंगे। खेद है कि वर्तमान में उग्रादित्याचार्य लिखित कल्याणकारक के अलावा कोई प्रमाणिक आयुर्वेदग्रंथ नहीं मिलता। अन्य सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद ग्रंथों का उल्लेख अनेक शास्त्रों विशेषकर जैनेतर आयुर्वेद निर्माताओं के ग्रंथों में उद्धरण स्वरूप मिलता है। आयुर्वेद के सभी अष्टांगों पर जैनाचार्यों ने अपनी रचनायें की है। विदेशी विशेषकर मुगलों के आक्रमण और शासन में सभी प्रकार के भारतीय साहित्य का विनाश किया गया। इसकी होलियां जलाई गई, उसमें जैन शास्त्र भी नष्ट हुए। जैन ज्योतिष व जैनायुर्वेद साहित्य का तो मूलोच्छेद ही हो गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि इस साहित्य का निर्माण ही नहीं हुआ। आयुर्वेद शास्त्रों के अभाव होने पर भी उनके निर्माता इतिहास प्रसिद्ध आचार्यों का इतिहास व उनके द्वारा निर्मित दर्शन, धर्म, न्याय, व्याकरण आदि विभिन्न प्रकार का जैन साहित्य आज उपलब्ध है। जिन सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों ने आयुर्वेद शास्त्र के सृजन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उनमें से कतिपय आचार्यों का संक्षिप्त परिचय, उनके द्वारा निर्मित आयुर्वेद शास्त्रों के नामोल्लेख पूर्वक नीचे दिया जाता है।

जिन ग्रंथों के आधार से उग्रादित्याचार्य ने प्रकृत सुन्दर ग्रंथ कल्याणकारक का निर्माण किया है, उसके मूलाधार न मालूम कितने ग्रन्थ होंगे। जिन आचार्यों ने जिन ग्रन्थों की रचना की है, उनका संकेत उग्रादित्याचार्य के निम्न श्लोक से मिलता है।

शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिक शल्यतंत्रं च पात्र स्वामिप्रोक्तं विषग्रहशमनविधि सिद्ध सेनैः प्रसिद्धैः। काये या सा चिकित्सादशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनाम् वृष्यं च दिव्याभृमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः।

अर्थात् पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्य-शिराभेदन नामक ग्रन्थ वनाया है। पात्र स्वामी ने शल्यतंत्र, सिद्धसेना आचार्य ने विष और उग्र ग्रहों की शमन विधि का निरूपण किया है। दशरथ गुरू व मेघनाथ आचार्य ने बाल रोगों की चिकित्सा का ग्रन्थ बनाया है।

सिंहनादाचार्य ने शरीर-वर्धक प्रयोगों का निरूपण किया है। इनमें से कुछेक विशिष्ट आचार्यों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है-

[1]समन्तभद्र

समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था, इनके जन्म काल के विषय में इतिहास में मतभेद है। कुछेक विद्वान इन्हें छटी शताब्दी का तथा कुछ दूसरी सदी (ईस्वी) का मानते है। जो भी हो समन्तभद्र अपने काल के अप्रतिम दार्शनिक, सर्वोच्च तार्किक तथा प्रकाण्ड पंडित थे। इनकी दार्शनिक रचनाओं पर अकलंक और विद्यानन्दि जैसे-उदभट विद्वानों ने टीका और विवृतियां लिखकर मौलिक ग्रन्थकारों में स्वयं को गिनाने का यश व गौरव प्राप्त किया है। जैनागम में समन्तभद्र पूर्ण तेजस्वी विद्वान प्रभावशाली दार्शनिक, महावादि विजेता के रूप में स्मरण किये गये है। जैन धर्म और जैन सिद्धांत के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ यह तर्क व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष अलंकार आदि विषयों में पूर्णतया निष्णात थे। इनके गृहस्थ जीवन का नाम शान्ति वर्मा बताया जाता है। इनके जीवन में एक विशिष्ट चमत्कारिक घटना घटी, जिसने इन्हे विशेष ख्याति दिलाई है।

मुनिपद धारण करने के पश्चात् इन्हें ''भस्मकव्याधि'' नामक भयानक बीमारी हुई। इसकी क्षुधावेदना को सहनकर पाने में अपने को असमर्थ अनुभवकर इन्होंने अपने गुरू से समाधिमरण (शान्ति व धर्माराधन पूर्वक देह त्याग) लेने की अनुमति चाही। किन्तु आचार्य ने इनकी दार्शनिक प्रतिभा व भविष्य में इनसे होने वाली धार्मिक साहित्य सेवा को जानकर इन्हें दिगम्बर वेष छोड़ वस्त्र धारणकर अपना रोग दूर करने की सलाह व स्वीकृति दी। आज्ञानुसार यह मुनिपद छोड़ सन्यासी बन परिभ्रमण करने लगे।

बनारस में राजा शिवकोटी से मिले और उनसे उनके शिवालय में शिवजी को अर्पण की जाने वाली नैवेद्य को पूरी शिवजी को खिलाने की अपनी भक्ति की चामत्कारिक बात कहीं। राजा ने तथास्तु कहकर इन्हें पुजारी नियुक्त किया। समन्दभद्र शिवालय के किवाड़ बंदकर स्वयं ही सारे निषेध को भक्षण करने लगे। कुछ दिनों बाद इनकी क्षुधाशांत होने लगी और अधिक नैवेध बचने लगा, तो लोगों ने इसकी शिकायत राजा से की। राजा को सन्देह होने पर इसकी गुप्तरूप से जांच कराई। जांच द्वारा समन्तंभद्र स्वयं नैवेद्य का भक्षण करते हुए पकड़े गए। राजा शिवकोटि ने सत्य जान समन्तभद्र को प्रताड़ित किया। डराया धमकाया और प्रतिकार स्वरूप शिव को नमस्कार करने को कहा। समन्तभद्र ने इसे उपसर्ग समझा और उत्तर दिया कि रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कार को सहन नहीं कर सकता। तब उन्होंने सच्ची भक्ति व श्रद्धा से चतुर्विंशति तीर्थंकरों कि स्तुति (स्वयं भू स्तोत्र) प्रारम्भ की।

---

१. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा खण्ड २ पृ. ५७

स्तुति जारी रखते हुए उन्होंने जव अष्टांग तीर्थंकर चन्द्र प्रभु भगवान की स्तुति करते हुए तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं यह अंश पढ़ा, तभी शिवलिंग खण्ड-खण्ड हो गया और उसके स्थान पर चन्द्रप्रभ भगवान की चतुमुर्खी प्रतिभा प्रगट हुई। राजा शिवकोटि ने समनुतभद्र की जिन भक्ति तथा महत्व को देखकर आश्चर्य किया और उनसे उनका परिचय पूछा। समन्तभद्र ने उत्तर देते हुए स्वपरिचयात्मक निम्न पद्य उन्हें सुनाया-

[1]कांच्यांनग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लेविंशो पाण्डुपिण्डः।
पुण्डेयङ्गेशाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरेमिष्ट भोजीपरिव्राट्।
वाराणस्यामभूवम् शकरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजनूयस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रंथवादी।।

मैं कांची में नग्नदिगम्बर के रूप में रहा। रोग ग्रस्त होने पर पुण्ड्र नगरी में बौद्ध भिक्षुक वनकर निवास किया। तदनन्तर दशपुर नगर में मिष्ठान्न भोगी परिव्राजक बनकर रहा। पश्चात् वाराणसी में आकर शैव तपस्वी बना। हेराजन् मैं जैन निर्ग्रथवादी स्याद्वादी हूं। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करने की हो, मेरे से आकर वाद करें। इस संदर्भ में आगे कहा-

[2]पूर्वंपाटलिपुत्रमध्यनगरेभेरीमयाताडिता।
पश्चान्मालव सिन्धु ढक्क विषयेकांची पुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽक्रूरटाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटम्,
वादार्थी विचराम्यहंनरपते शार्दूल बिक्रीडितम्।।

मैंने पहिले पाटलिपुत्र (पटना) नगर में वाद भेरी बनाई। पुनः मालवा सिन्धु देश, ढक्क (ढांका) बंगाल, कान्चीपुर और विदिशा के क्षेत्र में भेरी बजाई। इस प्रकार हे राजन मैं वाद करने के लिये इतस्ततः पर्ययटनात्मक क्रीडा करता फिरता हूँ।

शिवकोटि को समन्दभद्र का चमत्कारिक आख्यान सुनकर बैराग्य हो गया और वह अपने पुत्र श्री कण्ठ को शासन सौंपकर परिव्राजक बन गया। समन्तभद्र भी राग मुक्त होने के पश्चात् गुरू के पास जाकर प्रायश्चित ले पुनः दीक्षा ग्रहण की।

उपरिलिखित दोनों आख्यानों में पूर्णतया सामंजस्य नहीं बैठता। किन्तु यह बात तो सर्वसम्मत स्वीकार्य है कि स्पष्ट है कि समन्दभद्र को भस्मक व्याधि हुई थी और उसकी शान्ति शिवकोटि राजा के शिवालय में जाने पर हुई थी। यद्यपि समन्तभद्रचार्य लिखित कोई आयुर्वेद ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, किन्तु उन्हें भस्मक व्याधि महारोग होना और उसके प्रतिकारार्थ गरिष्टतम आहार का ढूंढना, उसका सेवन करना फलस्वरूप उनका रोग मुक्त

१. तीर्थंकर महावीर और हेमाचाय परंपरा खण्ड २ पू.
२. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परंपरा।

होना, उनके आयुर्वेदज्ञ होने का प्रमाण है।

आयुर्वेद क्षेत्र में भी इनका गंभीर प्रवेश था। **सिद्धान्त रसायनकल्प** नामक वैद्यक ग्रन्थ इनकी इस क्षेत्र में प्रमुख रचना है, जो अठारह हजार श्लोक प्रमाण हुई थी। किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं। कीटों, दीमक का भक्ष्य बन गया है। अंहिसा प्रेमी आचार्य ने अपने औषधप्रयोगों में अहिंसा धर्म का पूर्णतया पालन किया है। कहीं भी मद्य, मांस, मधु जैसे हिंसाजन्य पदार्थों का समावेश ही नहीं किया।

आपके ग्रन्थों में जैनपारिभाषित शब्दों का प्रयोग एवं संकेत भी तदनुकूल दिये गये हैं। अतः ग्रन्थ का अर्थ करते समय जैन मतकी प्रक्रियाओं मान्यताओं को ध्यान में रखना पढ़ता है। उदाहरणार्थ-रत्नत्रयोषध औषध का उल्लेख ग्रन्थों में आया है। सर्व साधारण के ज्ञान में रत्न का अर्थ हीरा, माणिकपन्ना आदि, जिन्हें रत्न शब्द से कहा जाता है। उनसे निर्मित औषधि ऐसा होता है। पर यहां इस ग्रन्थ में यह अर्थ नहीं है। जैन धर्म शास्त्रों में रत्नत्रय से सम्यग्दर्शन (समीचीन तत्व श्रद्धान) सम्यग्ज्ञान (समीचीन तत्व ज्ञान) और सम्यक चारित्र (समीचीन चारित्र) होता है। ये जिस प्रकार मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र रूपी त्रिदोषों को नाश करते है। उसी प्रकार रस (पारद) गंध (गंधक) व पाषाण (रत्न) इन त्रिधातुओं का अमृतीकरण (इन्हें निर्दोष बनाना-शुद्ध करना) कर इनसे तैयार होने वाला रसायन वातपित कफ रूपी त्रिदोषों को नाश करता है। अतएव इसका नाम रत्नत्रयोषध रखा गया है।

इसी प्रकार औषधि निर्माण में औषधियों का परिमाण बताने के लिये जैनमत में अपनाई गई प्रक्रिया के अनुसार संकेत संख्याओं का विधान अपनाया गया है। जैसे-रस सिन्दूर को तैयार करने के हेतु औषधि प्रमाण निम्न प्रकार बताया है। **सूत केसरि गंधकं मृगनवसार दुमं**। जैन तीर्थकरों के भिन्न-भिन्न चिन्ह हुआ करते है। तदनुसार जिस तीर्थंकर के चिन्ह का उल्लेख हो, उस तीर्थंकर की संख्या प्रमाण औषधि लेना चाहिए। जैसे उक्त योग में सूत केसरि संकेत में केसरि अर्थात् सिंह २४वें तीर्थंकर महावीर का चिन्ह है, अतः सूत अर्थात् पारद को २४ भाग, गंधकमृग इस पदांश में मृग-हिरण सोलह वें तीर्थंकर का चिन्ह है, अतः गंधक को १६ भाग लेना चाहिए। नवसार दुमं इस पदांश में दुम अर्थात् वृक्ष (कल्पवृक्ष) दशवें तीर्थंकर शीतलनाथ का चिन्ह है। अतः नवसार (नवसादर) १० भाग लिया जाना चाहिए। इत्यादि समन्त भद्र के ग्रन्थ में सर्वत्र इसी प्रकार के सांकेतिक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इन ग्रन्थों के पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करने के लिये उसी प्रकार के कोशों का निर्माण भी जैनाचार्यों ने किया है। उसमें इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ किया गया है। उपलब्ध कोशों में श्री आचार्य अमृतनन्दि का कोश यह महत्वपूर्ण होने पर भी अपूर्ण है।

ग्रन्थ में वनस्पतियों के नाम जैन पारिभाषिक के रूप में आये है। जैसे अभव्य = हंसपदी। अंहिसा = वृश्चिकाली, अनन्त = सुवर्ण, ऋषभ = पावटे की लता, ऋषभा = आंवला, मुनिखर्जूरीका = राजखर्जूर, वर्धमाना = मधुरमातुलंग, वर्धमान श्वेत एरण्ड,

वीतराग आम्र इत्यादि। अद्‌भुत ऐसे कोश ग्रन्थों का उद्धार हो जाये, तो जैनायुर्वेद की अनूठी छाप वैद्यजगत् पर लगेगी।

आचार्य समन्तभद्र के पूर्व भी कुछ वैद्यक ग्रन्थकर्त्ता उपलब्ध होते है। महर्षि समन्तभद्र अपने सिद्धान्त रसायनकल्प में स्वयं उल्लेख किया है कि-श्रीमद्‌भल्लकाद्रौवसति जिनमुनिः सूतवादे रसाब्जम्।

अपने ग्रन्थ में कई जगह पूर्वाचार्यों की परंपरा को भी रसेन्द्र जैनागम सूत्रबद्धं इत्यादि शब्दों से उल्लेख किया है।

[1]आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दि)

आचार्य पूज्यपाद अपने समय के प्रमुख कवि, दार्शनिक, वैयाकरण और आयुर्वेद शास्त्र के प्रमुख रचयिता थे। जैनधर्म और जैनेन्द्र व्याकरण के अप्रतिम विद्वान होने के नाते पाणिनि के स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात् उनके अपूर्ण व्याकरण की पूर्ति इन्होंने की थी। तत्वार्थसूत्र के ऊपर तत्वार्थ वृत्ति नामक सर्वार्थसिद्धि महाग्रन्थ लिखे हैं। समाधितंत्र, इष्टोपदेश, जैनेन्द्र व्याकरण, इनके सर्वमान्य ग्रन्थ है। इनके जीवन वृत्त के विषय में चन्द्रय्य कवि विरचित पूज्यपाद चरिते नामक ग्रन्थ में लिखा है कि इनका मूल नाम देवनन्दि था। इनकी वुद्धि की प्रखरता के कारण इन्हें जिनेन्द्र बुद्धि और देवों द्वारा पूज्य होने के कारण पूज्यपाद कहते है।

इनके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्री देवी था। यह कर्नाटक प्रान्त में कोले नामक ग्राम के निवासी थे। और ब्राह्मण कुल के भूषण थे। कहते है कि बचपन में नाग द्वारा निगले मेढक की तडपन देखकर इन्हें वैराग्य हो गया तथा इन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। इतिहासकारों के मत से इन्हें नन्दिसंघ का आचार्य माना जाता है। इनका काल विक्रम् सम्वत की ७वीं सदी कहा जाता है।

भगवान पूज्यपाद विदेह क्षेत्र में जाकर तीर्थंकर के दर्शन कर स्वयं को धन्य मानते थे। ऐसा शिलालेखों से प्रगट होता है। श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्धिर्जीयाद् विदेह जिन दर्शनपूज्यमात्रः यत्पाद धौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किलकनकीचकार।

पूज्यपाद ने धर्म, व्याकरण, न्याय आदि के महान ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण आयुर्वेद के ग्रन्थ लिखे, यह निर्विवाद, अनेक महान् आचार्यों द्वारा महान सत्य है। रस विद्या के यह पारंगत विद्वान थे। इन्हें विभिन्न जड़ी-बूटियों से स्वर्ण बनाने का अद्‌भुत ज्ञान था। अपने भांजे नागार्जुन को भी इन्होंने यह विद्या सिखाई थी।

---

१. भगवान महावीर की आचार्य परंपरा खण्ड २ पृष्ठ २।

इनके द्वारा रचित आयुर्वेदीय ग्रन्थों के कई योगों का अनेक महान् आचार्यों ने अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है। इसके अलावा अनेक शिलालेखों में उल्लेख मिलता है।

न्यासं जैनेन्द्र संज्ञं सकलवुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो न्यासं शब्दावतारं मनुजतातेहित वैद्यशास्त्रं च कृत्वा यस्तत्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह तां भात्यसौपूज्यपादः स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचाः पूर्णदृग्वोधवृतः।

अर्थात् जैनेन्द्र व्याकरण, पाणिनि के पाणिनीय व्याकरण की पूर्ति, मनुष्यों का कल्याण करने वाले वैद्यशास्त्र और तत्वार्थ सूत्र के ऊपर तत्वार्थ वृत्ति नाम की टीका लिखी एवं भूपाल नृपवंध, रतनत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र) के धनी स्वामी पूज्यपाद है। इसी प्रकार अन्य आयुर्वेदिक ग्रन्थों में प्रमाणिकता के रूप पूज्यपाद स्वामी की आयुर्वेदिक कृतियों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वासवराज ने अपने वैद्यक ग्रन्थ में पूज्यपाद के अनेक योगों को ग्रहण किया है, उनमें शामिल किया है। उनमें से कुछेक योगों का उल्लेख मात्र यहां किया जाता है -

सिन्दूर दर्पणं तद्वत्पूज्यपादीय मेव
देवीशास्त्रंचन्द्रकल्पं ब्रह्मगारुड़मेव च।।
चिन्तामणि ज्योतिषं च काशीखण्डं तथैव च रगरदं तथैव च
शरीर मूत्रं तद्वच्च नित्यनाथीयमेव च।।

पूज्यपादरचित इन योगों का उल्लेख प्रसिद्धवासवराजीय ग्रन्थों से लिया गया है। माधव निदान में पूज्यपाद निर्मित ज्वरगजांकुश रस का उल्लेख आता है।

ज्वरगजांकुश

रसाम्लसारगंधं च जैपालबीज टंकणम।
दन्तीक्वाथैर्विमृद्याथ मुद्गमात्रावटीकृता।
चणमात्राथवाज्ञेया नागवल्लीदलान्विता।
देया सर्वज्वरान्तहन्ति सततं तरुणज्वरम्।।
शर्कराक्षीर दधिभिः पथ्यं चैव प्रदापयेत्।
पूज्य पादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वरगजांकुशः।।

भा. निदान प्र. १ म. ३०

रसरत्नसमुच्चयकारने पूज्यपाद द्वारा लिखित शोफमुद्गर रस का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। तथाहि-

शोफमुद्गररस

> रसं गंधं सूतंताम्रं पथ्यावालुक गुग्गुलुं।
> सममाज्येन संयुक्तं गुलिकां कारयेतु सः।।
> एकैकां सेवयेद्वैद्यः शोफपाण्डुवापनुत्तये।
> शीतलं च जलं देयं तक्रं चाम्लं विवर्जयेत्।।
> शोफ मुद्गरनाम्नायं पूज्यपादेन निर्मितः।।

इनके अतिरिक्त वसवराजीय मे अस्सी वात रोगों पर चलने वाले कालाग्नि रुद्र रस, गन्धक रसायन आदि अनेक योगों का उल्लेख मिलता है। यहां संकेत मात्र किया है।

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य शुभचन्दजी स्वयं आयुर्वेदशास्त्र विशेषकर रस विद्या के ख्यातनामा सिद्ध हस्त विद्वान् थे, ने स्वरचित ज्ञानार्णव ग्रन्थ में पूज्यपाद स्वामी की विद्वत्ता एवं प्रशंसा में भिन्न उद्गार प्रगट किये है-

> अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्त संभवम्।
> कलंकमागलां सोऽयंदेवनन्दी नमस्यते।।

अर्थात् जिनकी पवित्र वाणी से प्राणियों के मन, वचन और काय सम्बन्धी समस्त प्रकार के कलंक (दोष, मैल रोग) घुल जाते है, नष्ट हो जाते हैं, उन पूज्य पाद स्वामी को मेरा नमस्कार है। इन उद्धरणों और उनकी धार्मिक दार्शनिक आयुर्वेदिक रचनाओं से पता चलता है कि पूज्यपाद स्वामी संस्कृत जैन वाङ्मय के प्रतिभावान् उद्भट विद्वान थे।

[1]नागार्जुन

इनके पिता का नाम गुणभट्ट था। यह पूज्यपाद स्वामी के भांजे थे। अपने पिता गुणभट्ट के निधन के बाद ये अत्यंत निर्धन हो गये। इन्होंने अपने मामा पूज्यपाद से पद्मावती ग्रन्थ प्राप्त कर पूज्यपाद स्वामी द्वारा बताये गये विधिविधान से उसे सिद्ध किया। मंत्र सिद्धि से वशीभूत पद्मावती देवी से सिद्ध रस संघनी औषधि को प्राप्त कर स्वर्ण निर्माण करने लगे। अपनी विद्या का जब बहुत अभिमान इन्हें हो गया, तो इनका मानमर्दक करने हेतु पूज्यपाद स्वामी ने सामान्य सी बनौषधि द्वारा अटूट स्वर्ण का निर्माण कर दिखाया। इतना ही नहीं पूज्यपाद ने ऐसी औषधि का अविष्कार किया कि जिससे पैर में लगाकर व्यक्ति आकाश गमन कर सकता है। इस विद्या के बल पर इन्होंने विदेह क्षेत्र जाकर श्रीमंदर तीर्थंकर के दर्शन किये थे।

---

१. तीर्थंकर महावीर की आचार्य परम्परा।

नागार्जुन अपने समकालीन रस विद्या विशारद आचार्यों में उच्च स्थान रखते थे। इन्होंने नागार्जुन कल्प, नागार्जुन कक्षपुट .आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। इतिहासकारों का कथन है कि इन्होंने वज्रखेचरगुटिका नामक स्वर्ण बनाने की गुटिका तैयार की थी। धनाभाव के कारण किसी राजा से इन्होंने अर्थ याचना की। राजा ने इनसे प्रश्न किया कि आप के कथनानुसार इस गुटिका के गुण नहीं निकले, तब आपका क्या होगा। इन्होंने वचन दिया कि गुटिका के सही प्रमाणित न होने पर मेरी आँखे निकाल ली जाये। इस शर्त पर राजा ने उन्हें सहायता दी। उन्होंने एक वर्ष में यह औषधि तैयार कर ली। उसकी तीन मणियां गोलियां बनाकर उन पर अपना नाम खोद दिया। अनन्तर जब वे मणियों को नदी में धो रहे थे, तब मणियां हाथ से छूटकर नदी में गिर गई। मछली ने निगल ली, प्रतिज्ञा के अनुसार राजा ने नागार्जुन की दोनों आंखे निकलवा ली। नागार्जुन अंधे होकर इधर-उधर घूमते फिरे। एक वेश्या स्त्री ने उस मछली को पकड़कर उसे चीरा, तो पेट से वे दोनों मणियां इसे प्राप्त हुई। वेश्या ने मणियों को ले जाकर झूले पर रखा, तो झूले की सांकल सोने की हो गई। रोज सोना बनाकर वह वेश्या प्रचुर सम्पत्ति की मालिक बन गई। विपुल धन धान्य कमाकर एक अन्नसत्र का निर्माण किया और उसका नाम नागार्जुन सत्र रखा। नागार्जुन परिभ्रमण करते हुए वहां आये, तो उन्होंने अपने नाम पर सत्र का नामकरण का कारण पूछा। मालूम होने पर उस वेश्या से उन मणियों को पुनः प्राप्त कर इनके बल पर इन्होंने अपनी खोई हुई दृष्टि पुनः प्राप्त की। राज्यसभा में जाकर उन्होंने राजा को सारा वृतान्त सुनाया एवं आयुर्वेदीय औषधियों की अद्‌भुत क्षमता व महत्व प्रमाणित किया।

कर्नाटक में और भी अनेक आयुर्वेद ग्रन्थकार हुए है, जिनके रचे ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। उनमें कीर्तिवर्मा का गौवैद्य, अभिनवचन्द्र का अश्वशास्त्र, देवेन्द्र मुनि का बाल ग्रहचिकित्सा, अमृतनन्दिका वैद्यक निघंटु, श्रीधर देव का २४ अधिकारों से युक्त वैद्यामृत, विशेष उल्लेखनीय है।

[1]शुभचन्द्राचार्य

शुभ.चन्द्र नाम के कई आचार्य हुए है। उन सबका वर्णन यहां अभीष्ट नहीं है। न ही इनकी गुरूपरम्परा का सही पता चलता है। आयुर्वेद शास्त्र, विशेषकर रसायन विद्या में जिन्हें नैपुण्य और वैशिष्ट्य हासिल था, उन शुभचन्द्राचार्य के परिचय में इतिहास कार जो कुछ बताते है, वे इस प्रकार है:-आचार्य शुभचन्द्र और भर्तृहरि उज्जयिनी के राजा सिंघल के पुत्र थे। दोनों भाई प्रखर बुद्धि तत्वज्ञान में रूचि रखने वाले प्रतापशाली थे। इनके

---

१. तीर्थंकर महावीर की आचार्य परम्परा खण्ड-३

पिता सिंहल के बड़े भाई उज्जयिनी के राजा सिंह ने इन दोनों भाईयों के पराक्रम, शौर्य से, स्वयं का सिंहासन छीन जाने की आशंका से अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। इनमें से महामति शुभचन्द्र ने वन में जाकर किसी मुनिराज से दीक्षा ले ली। यह तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करते हुए घोर तपश्चरण करते रहे।

इनके भाई भतृहरि एक कौल तपस्वी के पास जाकर जटाजूटधारी चमीटा बन तन में भस्म लगाकर कमण्डलु लेकर तपस्वी वन जीवन यापन करने लगे। उस तपस्वी से इन्होंने अनेक विद्यायें सीखी। भतृहरि ने तपस्वी से शतविद्या और रसतुंवी विद्या प्राप्त की। इस रस के सम्पर्क से तांवा सोना हो जाता था। भर्तृहरि ने रसतुंवी के प्रभाव से सब पर अपना महत्व प्रकट किया।

एक दिन भतृहरि को अपने भाई शुभचन्द्र की चिंता हुई। उसने अपने एक शिष्य को उनका पता लगाने के लिये भेजा। शिष्य ने उन्हें दिगम्वर अवस्था में पाकर तपश्चरण करते देखा। उन्होंने वापस आकर भर्तृहरि को वताया कि उनके पास तो दो अंगुल कपड़ा भी नहीं। भर्तृहरि ने अपने भाई की दरिद्रता पर तरस खाकर अपनी तुंबी का आधा रस भतृहरि के पास भेजा। जिससे उसकी दरिद्रता दूर हो जाय। सुख से जीवन यापन कर सके। जब शिष्य रस तुंबी को लेकर शुभचन्द्र के पास गया और उनसे भतृहरि का सन्देश कहा, तो आचार्य शुभचन्द्र ने उस रस को भी शिला पर डलवा दिया।

शिष्य ने वापस लौटकर रस तुंबी की घटना सुनाई, तो वे ममता वश बचे रसतुंबी को लेकर उनके निकट आये। शुभचन्द्र ने शेष रस को पत्थर पर डलवा दिया। जिससे भतृहरि को महान् दुःख हुआ।

शुभचन्द्र ने भतृहरि को समझाया, भाई यदि सोना बनाना ही अभीष्ट था तो घर क्यों छोड़ा। घर में क्या कमी थी। अतः संसार के जाल में फंसना व्यर्थ है। शुभचन्द्र के उपदेश से भर्तृहरि ने भी जिनदीक्षा ले जी। भतृहरि को मुनिमार्ग में दृढ़ करने और सच्चे योग का ज्ञान कराने के लिये शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव और योग प्रदीप की रचना की। इन्होंने ज्ञानार्णव के प्रारंभ में समन्तत्र भद्र देवनन्दि भट्टाकलंकदेव और जिनसेन का स्मरण किया है। इनका काल ९वीं शताब्दी का है।

[1] "उग्रादित्याचार्य"

उग्रादित्याचार्यकृत कल्याण कारक मात्र एक जैनायुर्वेद ग्रन्थ समग्र रूप से उपलब्ध होता है, जो इस बात का प्रमाण है कि जैनाचार्य जैन धर्म के महान सिद्धान्त "अहिंसा" का निर्वाह पालन करते हुए सब प्रकार के रोगों के निराकरण रूप चिकित्सा, और स्वस्थ पुरुष के यावज्जीवन के लिये उपादेय हितावह आचार विचार का विशद वर्णन कर आयुर्वेद के दोनों प्रकार के (रोग मुक्ति और स्वस्थ संरक्षण) उद्देश्यों को प्राप्त करने के अपने

---

१. तीर्थंकर मराजीर की आचार्य परम्परा खण्ड ३ पृ. २५।

प्रयास में सफल हुए है। दोनों प्रकार की उद्देश्य पूर्ति के मार्ग में उग्रादित्य ने कहीं भी मद्य मांस मधु के सेवन का योग कां प्रतिवादन नहीं किया। जैनेतर अन्य धुरंधर आयुर्वेदाचार्य इस मानवीय सिद्धान्त का पालन नहीं कर सके। जियों और जीने दो "आत्मवत्सर्व भूतेषु" तथा आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् अर्थात् समस्त प्राणियों में स्वयं जैसी कल्पना करो। जो व्यवहार तुम्हारे प्रतिकूल हो, तुम्हें न रूचता हो, जिससे तुम्हे कष्ट होता हो, वह दूसरों के प्रति मत करो। भगवान् महावीर ने इन सिद्धांतों को अपने जीवन में उतारा था, दूसरों को भी यही उपदेश दिया। उग्रादित्याचार्य ने इन प्रमुख सिद्धान्तों का अनुसरण किया है। अन्य जैन आयुर्वेदशास्त्र प्रणेता आचार्य भी अहिंसा की परिधि के वाहर नहीं गये।

यह महान् आचार्य कब हुए ? यह जानने के लिये इनके प्रकृत ग्रन्थ पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि इन्होंने इसमें पूज्यपाद, समन्तभद्र, पात्रस्वामी, सिद्धसेन, दसरथगुरू, मेघनाथ सेन इन आचार्यों के वैद्यक ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उग्रादित्याचार्य इनसे अर्वाचीन है। ये सब आचार्य छटवी शताब्दी के पहले के होना चाहिए। ऐसा अनुमान किया जाता है।

ग्रन्थकार ने ग्रंथ के अन्त में एक वाक्य लिखा है, जिससे उनके समय का निर्णय करने में बहुत अनुकूलता हो गई है। वे लिखते हैं-"इत्यशेष विशेष विशिष्ट दुष्ट पिशिताशिवैद्धशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्या चार्येनृपतुंगवल्लमेन्द्रसभायांमुद्धोषितं अकरणम्"।

"इससे स्पष्ट होता है कि औषध में मांस की निरुपयोगिता को सिद्ध करने के लिये स्वयं आचार्य ने श्रीनृपतुंग वल्लभेन्द्र की सभा में इस प्रकार प्रतिपादन किया। ग्रन्थ के अन्त में दिये हुए इस पद्य से भी यह अवगत होता है कि नृयतुंग अमोघवर्ष प्रथम की राज्यसभा में औषधि में मांस सेवन का निराकरण करने के लिये इस ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की गई।

रव्यातश्रीनृपतुंगवल्लभमहाराजाधिराजस्थितः
प्रोशद्भूरि समान्तरे बहुविधप्रख्यात विद्धज्जने।
मांसाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो
मांसे निष्फल तां निरूप्य नितरां जैनेन्द्र वैद्या स्थितम्।।

अर्थात् प्रसिद्ध नृप तुंग वल्लभ महाराजाधिराज की सभा में जहां अनेक प्रकार के उद्भट विद्वान् थे एवं मांसाशन की प्रधानता को पोषण करने वाले बहुत से आयुर्वेद के विद्वांन् थे, उनके समक्ष मांसाशन की निष्फलता को सिद्ध करके विजय प्राप्त की। इतिहासकारों ने अमोघवर्ष प्रथम को नृपतुंगवल्लभ और महाराजाधिराज की उपाधियां प्राप्त थीं, ऐसा लिखा है। इतिहास के मत से अमोघ वर्ष के राज्यारोहण का समय विक्रम संवत्

८७१ ईस्वी सन् ८१५ है। गुणभद्र सूरीकृत उत्तर पुराण से भी ज्ञात होता है कि अमोघ वर्ष प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन का शिष्य था।

जिनसेन ने अपने पार्श्वाभ्युदय में भी अमोघवर्ष को परमेश्वर की उपाधि से विभूषित किया है। कल्याणकारक के पच्चीसवें कल्पाधिकार के अन्त में जो प्रशस्ति दी है, उसमें विष्णुराज का उल्लेख आया है।

श्रीविष्णुराजपरमेश्वर मौलिमाला
संलालिताङ्घ्रियुगलः सकलामयज्ञः
आलापनीय गुण सोन्नतसन्मुनीन्द्रः।
श्रीनन्दिनन्दितगुरुर्गुरुरुर्जितोऽहम्।।

महाराज विष्णुराज के मुकुट मणि माला से जिनके चरण युगल शोभित है। जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता है, प्रशंसनीय गुणों के धारी यशस्वी, श्रेष्ठ मुनियों के स्वामी हैं, ऐसे श्रीनन्दि नाम के प्रसिद्ध आचार्य हुए है। ये आचार्य ही उग्रादित्याचार्य के गुरु है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि विष्णुराज परमेश्वर कौन है। इनके परिचय के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। प्रतीत होता है, यह कि विष्णुराज अमोघवर्ष के पिता गोविन्दराज तृतीय का ही अपर नाम है। जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय में अमोघवर्ष की परमेश्वर उपाधि बताई है। पुरातत्व वेत्ता नरसिंहाचार्य ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है कि कल्याणकार की रचना अमोघवर्ष प्रथम काल में की गई है।

इन्होंने अपने स्थान, गुरू आदि के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। उनकी विद्वत्ता वस्तु विवेचन की सामर्थ्य शैली एवं तदनुरूप निर्मित यह महान ग्रन्थ ही उनका परिचय है। उनके गुरू श्री नन्दि और ग्रन्थ निर्माण स्थल रामगिरि है। अनुमानित तौर पर रामगिरि पर्वत वेगी में था, जो इस समय उत्कल या उड़ीसा प्रान्त में है। इसी क्षेत्र में सुन्दर रामगिरि के जिनालय में बैठकर आचार्य श्री ने कल्याणकारकम् की रचना की। उग्रादित्याचार्य आठवीं शताब्दी के एक प्रौढ़ आयुर्वेद विद्वान् थे। यह निर्विवाद है। इस ग्रन्थ की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। इनमें निजी स्वार्थ (स्वास्थ्य) के लिये मूक दूसरे प्राणियों के प्राण नाश करने के रूप हिंसा का तत्समर्थक अनेक तर्क व युक्तियों का प्रबल विरोध कर जैनधर्म के प्राणभूत अहिंसा सिद्धांत का समर्थन किया है। हिंसा मूलक मद्य मांस मधु के प्रयोग को स्पर्श नहीं किया है। वर्तमान में अनेक पाश्चात्य व भारतीय वैज्ञानिक विद्वान् भी चिकित्सार्थ आहारार्थ मांस के प्रयोग का निषेध कर रहे है।

आशाधर

पंडित प्रवर आशाधर माण्डलगढ़ (मेवाड़) के मूल निवासी थे। मेवाड़ पर सहाबुद्दीन

के आक्रमण होने पर त्रस्त होकर यह मालवा की राजधानी धार के पास नालछा ग्राम में रहने लगे थे। आशाधर जी बघेरवाल जाति के जैन श्रावक थे। इनके पिता का नाम सल्लक्षण था। तभी उनसे स्वरचित जैनगृहस्थाचार के सर्वमान्य ग्रन्थ सागर धर्मामत के अन्त में अपना परिचय निम्नाकार लिखा है:-

व्याघ्रेरबालवरवंशसरोजहंसः,
काव्यामृतौघ रसपान सुतृप्त गात्रः
सत्लरवणस्य तनयो नयविश्वचक्षु-
राशाधरो विजयतां कलिकालिदासः।।

इनके विद्या गुरू प्रसिद्ध विद्वान् पंडित महावीर थे। उस समय मालवा में अर्जुनदेव का शासन था। अर्जुन देव के राज्यकाल का समय १२६५ विक्रम संवत् माना जाता है। आशाधरजी ने १२९६ में सागर धर्मामृत की टीका लिखी। उस समय इनकी आयु ६५-७० वर्ष के लगभग रही होगी। इस प्रकार इनका जन्म विक्रम संवत १२३० के लगभग आता है। इस प्रकार आशाधरजी का समय १३वीं सदी माना जाता है। ये जैनाचार अध्यात्मदर्शन, काव्य, साहित्य, कोष, राजनीति, कामशास्त्र, आयुर्वेद सभी विषयों के प्रकाण्ड पंडित थे। दिगम्बर परम्परा में उन जैसा बहुश्रुत गृहस्थ विद्वान् ग्रन्थकार दूसरा दिखलाई नहीं पड़ता। उनके द्वारा लिखे ग्रन्थों में तीन ग्रन्थ मुख्य है-सागरधर्मामृत, अनगार धर्मामृत, जिनयज्ञकल्प। जो भी प्रमेयरत्नाकर, ज्ञानदीपिका अध्यात्मरहस्य इष्टोपदेश टीका, अष्टांग हृदय योगिनी टीका आदि ग्रन्थों की रचना का उल्लेख मिलता है। इससे आयुर्वेद शास्त्र में प्रकाण्ड पाण्डित्य होने का संकेत मिलता है।

आयुर्वेद की अनादिता, मौलिक उत्पत्ति इसकी पारंपरिक ऐतिहासिक प्रादुर्भूति, प्रामाणिकता, उद्देश्य का निर्देश ऊपर किया। इस क्षेत्र में जैनाचार्यों का योगदान जैनायुर्वेद का वैशिष्ट्य तथा तत्सबंधी रचनाओं का संकेत भी किया। आयुर्वेद के प्रमुख दो लक्ष्य है। स्वस्थ संरक्षण (स्वस्थ वृत्त) और व्याधि प्रतिकार या चिकित्सा दोनों का विश्लेषण करने के लिये स्वस्थ अस्वस्थ्य का ज्ञान प्राथमिक आवश्यकता है। अतः स्वस्थ कौन है। वह अस्वस्थ कैसे होता है ? अस्वथ होने से कैसे बचा जा सकता है ? रोगों का प्रतिकार क्या है ? इसका संक्षिप्त विवेचन सामयिक है। स्वस्थ पुरुष का लक्षण विभिन्न संहिताओं में निम्नप्रकार स्वीकार किया गया है:-तथाहि-

'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः
'प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

समग्रधातुत्वमदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रिय सुप्रसन्नः।
मनः प्रसादश्चनरस्य सर्वदा तदेव मूक्तंव्यवहारजं खलुं।
अथेह भव्यस्य नरस्य साम्प्रतं द्विधैव तत्स्वास्थ्यमुदाहृतं जनैः
प्रधानमाद्यं परमार्थमित्यतोद्वितीयमन्यद् व्यवहारजं खलु।।

अर्थात् जिसके वात, पित्त, कफ ये तीनों दोष समान हो, जठराग्नि सुव्यवस्थित हो, शरीर के आधारभूत रस, रक्त, मांस, भेदा (चर्वी) अस्थि (हड्डी) मज्जा और शुक्र (वीर्य) इन सात धातुओं का निर्माण यथोचित मात्रा में होता हो, मल-मूत्र विर्सजन समुचित मात्रा में होता हो और जिसकी आत्मा, मन, तथा इन्द्रियां प्रसन्न हों (निराकुल हो), उसे स्वस्थ कहा है। अर्थात् स्वास्थ्य न केवल शरीर के सौष्ठव पर निर्भर है अपितु इन्द्रियाँ आत्मा, मन, की प्रसन्नता अपने-अपने विषयों को ग्रहण करना, शान्त गंभीर रहना भी स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य है। इस तथ्य की जैनाचार्य उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक ग्रन्थ में परमार्थ और व्यवहार स्वास्थ्य के रूप में स्वास्थ्य के दो भेद वताकर उजागर किया है। लौकिक अभ्युदय प्राप्त कराने वाला व्यवहार स्वास्थ्य और परमार्थ सिद्धि आध्यात्मिक सिद्धि (मोक्ष) कराने वाले स्वास्थ्य को परमार्थ स्वास्थ्य कहा है। दोनों के लक्षणों में कोई भेद नहीं।

स्वस्थ एवं स्वास्थ्य के इस स्वरूप के साथ इनके प्रतिपक्षी अस्वस्थ और स्वाथ्य के ज्ञान का प्रश्न सहज ही उठता है। क्योंकि स्वास्थ्य का संरक्षण और अस्वास्थ्य (रोग) का निर्हरण करने के लिये ही तो आयुर्वेद का प्रादुर्भाव हुआ है। उत्तर है दोषों की समता का नाम स्वास्थ्य है, तो इनकी विषमता का नाम अस्वास्थ्य या रोग है। आयुर्वेद के प्रवर्तक प्राचीनतम आचार्यो चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ने यही परिभाषा अस्वास्थ्य की है। तथाहि-रोगरतुदोषवैषम्यं दोषसाम्यम् रोगिता वात, पित और कफ इन तीनों दोषों की विषम (असमान) स्थिति का नाम रोग और समान स्थिति का नाम स्वास्थ्य है। आचार्य सुश्रुत भी इसी आशय को निम्न शब्दों में प्रगट करते है-तद्दुख संयोगो व्याधयः। प्राणियों के साथ दुःख का संयोग होना व्याधि (रोग) है। महर्षि चरक इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

स्वधातुवैषम्य निमित्तजा ये विकार संघाबहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्यः आगन्तवस्त्वेवततो विशिष्टाः।।

अर्थात् शरीरस्थ रस रक्तादि सातों धातुओं और वातादि तीनों दोषों की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोग समूह (ज्वर, अतिसार, रक्तपितादि) तथा आगन्तुक (बाह्य) कारणों (आघात, विषभक्षण, सर्पदंशादि) कारणों से पैदा होने वाले रोग शरीर के स्तंभ भूत वात

१. सुश्रुत सूत्र
२. कल्याणकारकम्

पित्त कफ के बाहर नहीं जा सकते। उनके बिना नहीं हो सकते। वाह्य कारणों से जनित रोगों का संबंध कालान्तर में वातादि दोषों से हो जाता है। अर्थात् रोगों के प्राथमिक या द्वितीय (Primary or Secondary) कारण वातादि दोष ही बनते है।

जैनायुर्वेद का अतिरिक्त वैशिष्ट्य यह है कि वह जैन दर्शन के तीन प्रमुख सिद्धान्तों अहिंसा, स्याद्वाद और कर्मवाद का अनुगमन अनुसरण करता है। इन तीनों के बाहर कोई चिकित्सा पद्धति नहीं जा सकती। चिकित्सा में सफलता इन्हीं तीन सिद्धान्तों के आधार पर मिलेगी। आयुर्वेद के स्वास्थ्यकर (सद्व्रत स्वस्थ रक्षण) और रोगोच्छेदकर चिकित्सा इन दोनों अंगों के नियमों का प्रतिपादन इन्हीं के दायरे में किया है। जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद हैं। जिसके अनुसार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्म एक साथ रहते हैं। ऐकान्तिक दृष्टि का संबंध निषेध और समर्थन नहीं किया जा सकता।

इस परिप्रेक्ष्य में जैनेतर आयुर्वेद शास्त्रों में स्वस्थवृत्त (स्वास्थ्य संरक्षण) में ऐकान्तिक रूप से हितकर तथा अहितकार द्रव्यों का निरूपण किया गया है। जैन आयुर्वेद इसका निषेध करता है। उसका कहना है कि ऐकान्तिक रूप में कोई भी वस्तु सर्वथा हितकर या अहितकर नहीं होती। अनेकाचार्य जल, घृत, दूध व अन्न इन्हें सर्वथा हितकर मानते हैं किन्तु विविध रोगों और विभिन्न प्रकृति वालों के लिए ये हानिकर होते हैं। जैस दूध, घृत, वात, पित्त प्रकृति वालों के लिये हितकर,. किन्तु कफ प्रकृति वालों के लिये अहितकर होते हैं। क्षार, अग्नि, विष इन्हें नितान्त अहितकर माना है। किन्तु शल्य चिकित्सा में इनका प्रयोग हितावह, उपादेय माना हैं। जांगम (प्राणि) विष सर्प विष आदि और पार्थिव विष, संखिया, अफीम आदि प्राण हरण कर लेते है, किन्तु वहीं शुद्ध होने के बाद या शास्त्रोक्त विधि से विषस्य विषमोषधम् वाले सिद्धान्त के अनुसार प्राण रक्षक बन जाते है। इक्षु दंड को सर्प से दंश कराकर सेवन करने से भयानक रोगों का नाश होता है। इसी प्रकार अन्य विष के रोगी विष का सेवन करें, तो वो भी अविषात्मक होकर रोग निर्मूलन का कारण बनता हैं। इसी प्रकार संयोग विरुद्ध घृत-शहद, दूध-दही, शीत-उष्ण पदार्थ खाने से हानि होती है, किन्तु वहीं साधु सन्यासियों, भिक्षुक आदि के लिये पुष्टिकारण बन जाते है, अतएव जैन शास्त्र में अनेकान्त मूलक आयुर्वेद ही श्रेयस्कर हैं।

इसी प्रकार अन्य कोई ऐकान्तवादी द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक को पृथकत्व रूप से स्वादु, अम्ल, कटुक रूप से स्वीकार करते है। प्रश्न होता है कि ये सभी भिन्न हैं या अभिन्न। यदि भिन्न है तो गोविषाणवत्, पृथक-पृथक दिखना चाहिये, सो दिखते नहीं। यदि अभिन्न है, तो ये सब इन्द्र, शक्र, पुरन्दरवत् परस्पर पयार्यवाची होना चाहिये। सो भी नहीं हैं। इनका लक्षण कार्य पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु तत्त्व, द्रव्य, रस, वीर्य, विपाकात्मक ही है। उनका द्रव्य से कथंचित् भेदाभेदात्मक संबंध है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण से अविरुद्ध रूप से रहने वाले द्रव्य, क्षेत्र,

काल, भाव के सानिध्य से पदार्थों में अस्तित्व नास्तित्व; नित्यत्व, अनित्यत्व, एकात्वानेकत्व, आदि परस्पर विरूद्ध अनन्त धर्म रहते है। उसी प्रकार द्रव्य में रस, गुण, वीर्य विपाकादि गुण भी अविरोध रूप से रहते है और अपना-अपना काम करते हैं।

वस्तु तत्व के इस अनेकान्त स्वरूप को सापेक्ष दृष्टिकोण से निरूपण करने वाले स्याद्वाद का आश्रय आयुर्वेद शास्त्र के महापंडित आचार्य सुश्रुत भी लेते है और द्रव्याश्रित रस, गुण, वीर्य, विपकादि की निरपेक्ष एकान्ति प्रधानता के विवाद का समाधान करते हैं, वे कहते है ये सव गुण द्रव्य में रहते हैं। द्रव्य के माध्यम से अपना-अपना कार्य करते हैं। अतः द्रव्य ही प्रधान है। चरक संहिंता में भी गर्भोत्पत्ति के विषय में उसके मातृज, पितृज, रसज, सात्म्यज आदि होने के प्रश्न पर ऐकान्तिक पक्ष का आश्रय लेकर उपजे विवाद का समाधान आत्रेय, पुनर्वसु सापेक्ष दृष्टिकोण से, ''गर्भोत्पत्ति सवके सानिध्य से होने की वात कहकर करते है।'' यहां भी अनेकान्तवाद पर आधारित आयुर्विज्ञान का प्रतिपादित करने वाले जैनायुर्वेद का वैशिष्ट्य प्रमाणित होता है।

षष्टम्-अध्याय

बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद

बौद्ध धर्म मलीन चित्त और रूग्ण मन के दैहिक उपचार में मुक्त हृदय का अर्हन्त अनुसंधान है। तथागत ऐश्वर्य के बोधिसत्व ने चित्त और मन की आधि-व्याधि के चार आर्य सत्य वाले वेदना प्रवाह की रूग्ण ''तण्हा'' जो जन्मान्तरों में लहराती देखा, उस अघोषित समाधि की ''निव्वानं'' (निर्वात मय निर्वाणं) दशा के स्वसंचित स्वास्थ्य में आधि-व्याधि-समाधि तीनों से मुक्त रसायन का परिपाक निहित है। आधि-व्याधि जन्म, दुःखमय चार आर्य सत्य का महापद निर्वाण स्वास्थ्य की ही स्वात्तः संस्थित संज्ञा है।

आधि-व्याधि से मुक्ति का क्रान्ति स्वर ''बुद्धं शरणं गच्छामि'', ''धम्मं शरणं गच्छामि'' एवं ''संघं शरणं गच्छामि'' का समूहगान बनकर ''रत'' में संस्थित स्वास्थ्यवर्ती निर्वाण की ओर बढ़ता, मरता का अप्रतिम इतिहास खड़ा करता है। आयुर्वेद की आर्य-भारती का भी तो यही अभिमंत्रित स्वर है। आधि-व्याधि के प्राकृतिक आर्य सत्य की खोज और अष्टांग संस्कृति में स्वास्थ्य के निरवयव की सावयव सम्प्राप्ति यही तो आयुर्वेद का परम लक्ष्य है। आयुर्वेद का स्वास्थ्यप्रद और बौद्ध-धर्म का निर्वाण-प्रद दोनों ही समवर्ती ज्योति है।

आयुर्वेद संहिता-मंत्रों में लयात्मकता है, तो बौद्ध धर्म पिटकों की लयात्मक मंजूषा में सुरक्षित संहिता सहितता (सह-भाव सहयोग) लोकमंगलमयता की संहति साहचर्य, सह-बोध, सह-गति, सह ज्ञान की छन्द पेटिका है, जिसमें आयुर्वेद का स्वास्थ्य सत्य संहीकृत किया गया है, तो बौद्ध धर्म के पिटक वे लयात्मक-संहिताओं की पिटारी हैं, जिसमें आधि-व्याधि की मुक्तिमयी निर्वाण-दशा का सत्य सन्निहित किया गया है। कहने का तात्पर्य है, आयुर्वेद की संहिता और बौद्ध धर्म का पिटक लक्ष्य, भाव, पद्धति सेवा परिचर्या और मानव चिकित्सा के सार्वभौम सिद्धान्तों के प्रायोगिक क्षेत्र में सहचर है। अग्निवेश-चरक, सुश्रुत आदि की संहिताओं का मौलिक आधार लेकर आयुर्वेद की चिकित्सा सेवा लोकार्पित होती है। वैसे त्रिपिटक विनयपिटक सुत्तपिटक और अभिपिटक मानव निर्वाण की चिकित्सकीय सेवायें आधारभूत के करूणार्णव में निदान ही निर्वाण है। पिटक का तात्पर्य है पेटी, पेटिका पंक्ति में पिटक है। इस प्रकार आयुर्वेद की चिकित्सकीय भाषा में ये बौद्ध पिटक है, आधि व्याधि का निदान निर्वाण और बौद्ध धर्म की सुदर्शन भाषा में आयुर्वेद है। चार आर्य सत्यों के निर्वाण निदान की ''आत्मदीपो मय'' का संबोधित पिटक।

मगध सम्राट् बिम्बसार एवं उनके उत्तराधिकारी आजात शत्रु ५६७-५८७ विक्रम पूर्व (६२४ से ५४४ ई. पूर्व) के राजकीय चिकित्सक आर्य जीवक भगवान बुद्ध की भी चिकित्सा

सेवा में रत "हीन यान" के "विनयपिटक में महावग्गा के अन्तर्गत वर्णित और "महायान" में मूल सर्वास्तिवाद विनय वस्तु में चित्रित है। आर्य जीवक की चिकित्सा दक्षता सच्चरित्रता विषयक अनेक आख्यान आयुर्वेद की विलक्षणता पर प्रभावशाली आख्यान देते हैं। इस सन्दर्भ में आर्य जीवक और भगवान बुद्ध के मध्य का समागम प्रेरक तो है ही, साथ ही सिद्ध करता है कि भगवान बुद्ध भी आयुर्वेदीय औषधि ज्ञान की गहनता और भैषज्य के अभिज्ञान में आर्य जीवक से भी बहुत आगे थे। आर्य जीवक को मद हो गया कि यदि भगवान बुद्ध चित्त की चिकित्सा के विशेषज्ञ हैं, तो जीवक काय चिकित्सा में निष्णांत हैं। ऐसे दर्प में वे भगवान बुद्ध के निकट गये। भगवान बुद्ध ने करुणावश विचार किया, "आर्य जीवक के मद का शमन करणीय है। अर्हन्त तथागत ने आर्य जीवक को लक्ष्य कर कहा, भदन्त ! आपने हिमवन्त पर्वत मलिकाओं का गहन पर्यटन और अवलोकन किया है। हमें भी उसे दिखायें। चीवर कर्णक देकर इसके बाद भगवान आर्य जीवक के साथ हिमालय के लिये प्रयाण किये। हिमालय की गोद में नाना प्रकार की औषधियां जगमगा रही थीं। काय चिकित्सा मर्मज्ञ आर्य जीवक को लक्ष्य कर अर्हन्त तथागत ने कहा, भदन्त ! स्वेच्छित औषधियां ग्रहण करें। पर आचार्य जीवक ने औषधि ग्रहण करने में असमर्थता प्रस्तुत किया। भगवान बुद्ध ने वज्रपाणि यक्ष का आहवान किया और उसे आर्य जीवक के संग औषधि ले जाने के लिए प्रेषित किया। आर्य जीवक ने वज्रपाणि के सहयोग से औषधियां ग्रहण किया और बोधिसत्व के समक्ष ले आया।

भगवान ने आर्य जीवक द्वारा प्रस्तुत उन औषधियों के आयुर्वेदिक गुण, धर्म नाम आदि पूछा। आर्य जीवक ने सब तो बताया, पर एक औषधि का गुण नहीं बता सके। भगवान बुद्ध वैद्यक भी जानते थे। उन्होंने उस औषधि का नाम, गुण एवं धर्म बताया। भगवान बुद्ध ने आर्य जीवक से कहा कि चारों प्रकार के जीवों के अंगों में समन्वयात्मक भिषक् शल्यहर्ता, राजा सुदृढ़ अनुशासक होता है। इस राज योग से राजाओं की संख्या प्राप्त करता है। आर्य जीवक ने जिज्ञासा की भन्ते! कौन से चार भिषक शल्य हर्ता हैं। भगवान बुद्ध ने कहा ये चार हैं :-

१. आबाध कुशल।
२. आबाध समुत्थान कुशल।
३. उत्पन्न आबाध प्रहाण कुशल एवम्
४. प्रहाण अनुत्पाद कुशल।

१. आबाध कुशलः-आबाध कुशल का तात्पर्य है दक्षता पूर्वक व्याधि का उपशमन कर्ता। जो भिषक देखते ही व्याधि की प्रकृति-संस्कृति जान ले, आबाध कुशल शल्य हर्ता चिकित्सक है।

२. आबाध समुत्थान कुशलः-व्याधि के कारण, वात, पित्त एवं कफ के निजी विभाजित सेवा में या मात्र वात पित्त, कफ के उपक्रम में या आगन्तुक व्याधि (दुर्घटना) या

सन्निपात में या ऋतु प्रकोप में अपना बीज रखते हैं, इनका संज्ञान रखने वाला आवाध समुत्थान कुशल शल्यहर्ता हैं।

३. **उत्पन्न आवाध प्रहाण कुशलः**-जिसे यह विधिवत ज्ञात है कि रोगों का शमन के अज्जन, प्रत्यञ्जन, वमन, विरेचन ऊर्ध्व शिरोविरेचन, अधोविरेचन, नस्य कर्म एवं स्वेदन से ही हो सकता है, उत्पन्न आवाध प्रहाण कुशल चिकित्सक होता है।

४. **प्रहाण अनुत्पाद कुशलः**-जो व्याधि ज्ञान, उपशमन प्रक्रिया ज्ञान एवं व्याधि को जड़ से पूर्ण निदान ज्ञान रखता है, प्रहाण अनुत्पाद कुशल शल्यहर्ता होता है।

इन चारों का ज्ञाता भिषक् शल्य हर्ता है जो राजयोग प्राप्त करता है और राज्य के मंत्रिपरिषद में इतना सम्माननीय स्थान प्राप्त करता है। इन्हीं चारों अंगों के परिज्ञाता तथागत अर्हन्त सम्यक् सम्बुद्धि के वाद भिषक शल्यहर्ता नाम से प्रख्यात दुःख, दुःख-समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा के चार आर्य सत्य शोधित करते हैं और तव आर्य जीवक को जरा, व्याधि, मरण, शोक, आदि से मुक्तिगामी उपायों का उपदेश करते हैं।

इस प्रकार बौद्ध धर्म के निर्वाण-प्रवर्तक भगवान बुद्ध का स्वयं आयुर्वेदिक भिषक् ज्ञान, एवं काय चिकित्सा के गूढ़ रहस्यों के तत्व वोध इस आख्यान में ''महायान'' और ''हीनयान'' साक्ष्यों में परिसंज्ञात हैं।

भगवान बुद्ध की दोषाभिष्यन्द चिकित्सा:-भगवान बुद्ध आर्य जीवक के साथ हिमालय प्रवास में हिमानी वातावरण के प्रभाव से शीत-ग्रस्त हो गये। उन्हें दोषाभिष्यन्द नामक रोग हो गया। भगवान का रोग परीक्षण कर आर्य जीवक ने उपचार का प्रस्ताव रखा। आज्ञा पाने पर आर्य जीवक ने ३२ उत्पलों से संस्नीय भेंट कर तथागत को सूंघने के लिये उन्हें दिया। भगवान को ३२ बार उठना पड़ा और लघु मृदु विरेचन हुआ। भगवान् से जीवक ने पूछा-भगवान विरेचन हुआ भगवान् ने कहा ''कुछ च्युत हुये पर सुत नहीं, कुछ सुत हुये पर च्युत नहीं और कुछ च्युत भी सुत भी हुये।'' अर्थात् कुछ हटे, पर निकले नहीं, कुछ निकले पर हटे नहीं और कुछ निकले भी हटे भी।

भगवान बुद्ध का समुत्तर आयुर्वेदिक तकनीकी ज्ञान से ओत-प्रोत मिलता है। आर्य जीवक ने फिर गुड़ हरित की एवं मण्ड सेवन का प्रस्ताव रखा, भगवान ने वैसा ही किया और निरोग हो गये।

इस आख्यायिका से पता चलता है, बौद्ध धर्म में आयुर्वेद का स्थान स्वयं प्रवर्तक भगवान बुद्ध की दृष्टि में, व्यवहार में, समुपदेश में कितना गहन तात्विक एवं सम्यक् था।

बौद्ध धर्म के विश्रुत महाकवि अश्वघोष की संहिता में आयुर्वेद की सूत्रात्मक झांकी:-प्रथम शती के कुषाण वंशी सम्राट् कनिष्क के दरबार में सम्मानित महाकवि अश्वघोष कवि ''महायान'' साहित्य के सृष्टा व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य के महाकवि रहे हैं। ''महायान''

साहित्य बौद्ध धर्म की महत्ता में पालि और त्रिपिटक से अधिक समृद्ध है। अश्वघोष का करूण ग्रन्थ है -"बुद्धचरितम्" एवं करूणात्मक महाकाव्य है-"सौन्दर्यानन्द"। बुद्ध चरितम् एवं सौन्दर्यानन्द दोनों ही बौद्ध साहित्य के सम्मानित ग्रन्थ हैं, जिनमें आयुर्वेदिक प्रक्रियाओं की झांकी यत्र-तत्र मिलती है। अश्वघोष के बुद्ध चरितम् में:-

बाल्मीकिरादौ च ससर्ग पद्यं ससर्ज यन्न च्यवनो महर्षिः।
"चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदा ऽऽत्रेय ऋषिर्जगाद।

बुद्ध चरितम्। ४२

च्यवन ऋषि की आयुर्वेद चिकित्सा की ओर अश्वघोष मात्र इंगित ही नहीं करते, उपर्युक्त श्लोक में, अपितु आयुर्वेद शाश्वत चक्र की सेवाओं की ओर भी पूरी तरह प्रकाश डाल रहे हैं। आयुर्वेद संस्कृत साहित्य के आदि कवि की प्रथम आर्या की भांति आनन्द स्रोती गर्भ से वेदना के निदान का पावन छान्दस प्रवाह है, जो समय के वृहत्तर क्षेत्रों में अपनी समर्पित सेवाओं के साथ नित्य गतिमय हैं। इसी बुद्ध चरितम् में आयुर्वेद की भाषा का काव्यात्मक विलास दर्शनीय है:-

एवं विनिन्ये स जुगोय सप्त सप्तैव तत्याज जुगोप पञ्च।
प्राय त्रिवर्ग बुबुधे त्रिवर्ग जसे द्विवर्ग प्रजहौ द्विवर्गम्।।

बुद्ध चरितम् ३/४।
............धाणु प्रकोप प्रभवः प्रबृद्धः।
रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि येनैष कृतोऽस्वतंत्रः।
बुद्ध चरितम ३/४२

इसी प्रकार "सौन्दर्यानन्द" में आयुर्वेद की लय और धातु गति काव्य सौन्दर्य के साथ सौन्दर्यानंदित हैं।

स्नेहेन कश्चिन्न समोस्ति पाशः
स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि।
रागाग्निा नास्ति समस्तथाग्निः
तच्वेत् भयं नास्ति सुखं च तेऽस्ति।।
सौन्दर्यानन्द ५/२८

इसी प्रकार "सौन्दर्यानन्द" में आयुर्वेद का धातु बोध आकर्षक लय में निबद्ध है।

प्रयान्ति मन्त्रैः प्रशमं भुजंगमा।
न मन्त्र साध्यास्तु भवन्ति धातवः।
कूपिचद्र कंचिदव दशन्ति पन्नगाः
सदा च सर्वं चतुदन्ति धातवः।। *सौन्दर्यानन्द ९/१३*

महायान बौद्ध वृक्षों के बिहार में आयुर्वेद का भैषज्योद्यान

बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक मोड़-''महायान'' प्रसार में महायान शाखा के ''दिव्यावदान'' में आयुर्वेद पद स्पष्टतः उल्लिखित है। इस सम्भावना का कोई विरोधक तथ्य नहीं है कि यह आयुर्वेद पद प्रथम बार बौद्ध साहित्य में ''दिव्यावदान'' ने प्रयुक्त करने का श्रेय प्रत्यक्षतः लिया है। इक्कीसवीं (२१वीं सदी) के द्वार पर खड़ी इस सम्भावना का यह तात्पर्य नहीं है कि ''दिव्यावदान'' के पूर्व का बौद्ध भारत ''आयुर्वेद'' पद से अपरिचित रहा है। तथागत बुद्ध एवं आर्य जीवक का परस्पर संवाद आयुर्वेद के साक्ष्य को उजागर करता ही है। सुत्तपिटक के ''दिघ्य निकाय'' में सुवर्ण प्रभा सूत्र सुदृढ़ आयुर्वेद के अष्टांग का नामांकन और निर्देशन है, हां आयुर्वेद पद वाच्यवोधक साक्ष्य में उपस्थित नहीं है।

इसी प्रकार अर्थ विनिश्चय सूत्र में पंच महाभूतों के विशिष्ट लक्षण चरक की ही भांति प्रस्तुत मिलते हैं, बुद्ध चरितम् एवं सौन्दर्यानन्द में अश्वघोष भारती के अन्तर्गत ''महायान'' साहित्य में दोष (त्रिदोष, वात, पित्त, कफ) के लिये धातु पद प्रयुक्त हुआ है। यह प्रयोग ''बुद्ध चरितम्'' १०/२०, १२/३ में दर्शनीय है। इसी प्रकार वातादि के गुण, कर्म एतदर्थ प्रकोप समुत्पन्न लक्षणों की चिकित्सा एवं उसकी दार्शनिक विवेचना सौन्दर्यानन्द में निरूपायित १६/५९-६४ में पूरी तरह निखरी हैं। इसी प्रकार रसादि सप्तधातु भी ''अर्थ निश्चय'' सूत्र में उल्लिखित हैं। वसादि उपधातु और पूरीष में मल मूत्रादि की उत्पत्ति का ''बोधिपर्यावतार'' में निर्देशन हैं। ''सुवर्ण प्रभासूत्र'' में आयुर्वेद के अष्टांग चिकित्सक का चिकित्सा चातुर्य दर्शनीय है। ''महायान सूत्र'' संग्रह में वाग्भट के अष्टांग संग्रह की इन्दुटीका के अन्तर्गत सौगताभिमत अकाल मृत्यु आदि के विवरण आयुर्वेद का स्पर्श करते हैं। अर्थ विनिश्चय सूत्र दैहिक अंगोपांग कोष्ठांगों सहित ही मात्र वर्णित नहीं है, अपितु भोजन रसायन से सप्तधातु के निर्माण प्रक्रिया का भी सम्यक् विश्लेषण मिलता है। अस्थि, संधि, शिरा, त्वचा, मर्म, मांसपेशियों की संख्या स्पष्टतः उल्लिखित है। इस अर्थ विनिश्चय सूत्र में रक्त, पुरीष, कफ, पित्त, वसा, भेद, मस्तिष्क, मज्जा का पद्म पुराणवत् आढक, प्रस्थ एवं कुडव के मान बोध में परिवर्णित हैं। स्वास्थ्य वर्धक आवश्यक खान-पान के विवरण ''महायान'' ग्रन्थों में विपुलता के साथ मिलते हैं। मांसाहार और शाकाहार के वर्गीकरण हैं। ''दिव्यावदान'' बौद्ध ग्रन्थ में वृक्षों एवं फलों के वर्गीकरण हैं। ''जातक माला'' में मद्यपान के दुष्परिणामों की चर्चा करते हुये उसको गर्हित घोषित किया गया है। नक्षत्र

आयुर्वेद की वृहत् सम्पदा ''दिव्यावदान'' की तुलना में अन्य बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं।

भेषज्य के रूप में वनस्पतियों की चर्चा ''सद्धर्म पुण्डरीक'', ''दिव्यावदान'' ''मूलसर्वास्तिवाद'', विनयवस्तु, ''सुवर्णप्रभासूत्र'', एवं ''मंजूपीकल्प'', में विधिवत् आती है। वनस्पतियों की उत्पत्ति, वर्गीकरण एवं चिकित्सकीय प्रयोग की प्रक्रियाओं का विश्लेषण ''सद्धर्म पुण्डरीक'' का औषधि परिवर्त प्रस्तुत करता है। ''मूलसर्वास्तिवाद'' में काय चिकित्सा की पृष्ठभूमि में यहां भेषज्य के कालिक, मासिक, साप्ताहिक एवं जीवनव्यापी विभागों में विभाजित करते हुये उनकी सेवन विधि का प्रतिपादन किया गया है। चरकसंहिता में उपलब्ध चिकित्सक को मैत्री, करुणा, प्रसन्नता एवं उपेक्षा ''महायान'' ग्रन्थों में चार ब्रह्म विहार के नामांकन में निरूपित है। शिरावरोध का रूधिर के साथ यवागूपान का विधान भी विस्तार पूर्वक मिलता है। ''दिव्यावदान'' में उदर विपाटन के साथ रोग की परिचर्या आयी है। दिव्यावदान में ही एक विवरण सम्राट् अशोक की रोग परिचर्या का मिलता है, जिसमें देवाना प्रिय लाजा धम्म विद्वान् सम्राट अशोक की ऊर्ध्वगुद रोग ग्रस्तता पर उसके हेतु भूत निदान आत्रगत कृमि नाशार्थ पिप्पली मरिच एवं पलाण्डु रस के मिश्रण का प्रयोग किया गया और पलाण्डु रस की उत्तम कार्मुकता का संज्ञान किया गया। ''मूलसंर्वास्तिवाद'' के विनयवस्तु में शल्य विद्या के रूप में आचार्य जीवक का योगदान का महत्वपूर्ण प्रकाश विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह जीवक की कल्पना आधुनिक ''अल्ट्रासोनोग्राफी'' से मिलती जुलती शरीरगत अंगों के अवलोकन में भूत प्रसादन मणि जैसी उपलब्धि रखते दीखते हैं। आचार्य जीवक उच्च मेधा के राष्ट्रीय स्तर के महान् शल्यक के रूप में प्रतिष्ठित बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं।

बौद्ध देवी तारा एवं देवता के आधार पर ''तारामण्डूर'' एवं सिंहनाद गुगुल का चिकित्सकीय नामकरण ''महायान'' वाङ्मय मिलता है। ''दिव्यावदान'' के ''शाइल कर्णावदान'' में अन्य वेदों की ही भांति आयुर्वेद के अध्ययन की शुभ कामना की जाती हुयी मिलती है। इसी प्रकार सुवर्ण प्रभासूत्र चिकित्सक को अष्टांग आयुर्वेद की विशेज्ञता की योग्यता लेने के लिये, निर्देशित किया गया है। इसी प्रकार ''मूल सर्वास्तिवाद'' में जीवक के गुरु आत्रेय का शुभ नाम वर्णित किया गया है। त्रिपिटक में उनके गुरु का उल्लेख नहीं मिलता। ''मूल सर्वास्तिवाद'', भेषज्य वस्तु के शीर्षक से एक स्वतंत्र अध्याय ही प्रकीर्णित किया गया है।

अश्वघोष के बुद्ध चरितम् में धातु साम्य को आरोग्य का पर्यायवाची घोषित किया गया है। बुद्ध चरितम् में चिकित्सा शास्त्र के प्रथम उन्मेष में आर्य के पुत्र आत्रेय प्रवर्तक महत्ता प्रदान की गयी है।

इस प्रकार ''महायान'' बौद्ध वाङ्मय पर ''चरकसंहिता'' का प्रभाव प्रमाणित है। सप्तम सदी के कुछ ग्रन्थों पर अष्टांग संग्रह का प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस प्रकार मानवता को आरोग्य सुख प्रदान करने में मानव मनीषा का आयुर्वेदिक संस्करण वेदना से जूझने वाले बौद्ध कालीन भारत के शाश्वत आनन्द की निर्वाण प्रस्तावना को अक्षत समर्पित सेवा में प्रस्तुत किया है। आधि-व्याधि के आघातों की सम्यक् क्षति पूर्ति आयुर्वेदिक भैषज्य प्रणाली ने आलोच्य कालखण्ड में उच्चतर दक्षताओं के साथ सम्पन्न किया। बौद्ध कालीन भारत में आयुर्वेद की सेवा का न आदि है, न अन्त। बौद्ध भारत के पूर्व जैसे आयुर्वेद की आरोग्य वाहिनी अपने अनादि स्रोत से निकलती बहती आ रही थी, क्षणमय का विश्राम लिये बिना, पूर्ण जागृति एवं अभिनव दक्षता दीप्ति में बौद्धकालीन भारत में भी स्वास्थ्य सेवा में गतिशील रखा।

कुछ इतिहास कारों को भगवान बुद्ध के अवतरण काल वि. ५६७ व. पू. (मसीह के पूर्व ६२४ से ईस्वी सन् प्रथम) तक में विस्तृत पूरा कालखण्ड आयुर्वेद का अंधकार पूर्ण युग लगता है। अपनी अभिव्यक्ति के समर्थन में इनका कहना है, इस युग में कोई योग्य कर्तित्व आयुर्वेद में निर्मित नहीं हुआ। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता आदि बुद्ध अवतरण के पूर्व कालीन भारत में प्रभावपूर्ण शैली में मानवता की सेवा परायण बनी रही। भारत और पाश्चात्य इतिहास वेत्ताओं ने बौद्ध साहित्य का चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से सम्यक् अनुसन्धान एवं अध्ययन गम्भीरतापूर्वक उतना नहीं किया। इस समस्या के समाधान के लिए युगीन आवश्यकता है। आयुर्वेद, संस्कृत पालि और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का सम्यक् ज्ञान।

त्रिपिटक युगीन बौद्ध भारत में आयुर्वेदिक रस-चिकित्सा के स्थान पर शल्य-चिकित्सा पर विशेष झुकाव मिलता है। जातक कथाओं में नेत्र गोलक के प्रत्यारोपण एवं कनीनिका-संसर्जन के सन्दर्भ मिलते हैं। आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी की प्राचीन दक्षता पर जातक रोचक विवरण देता है। जातक के विवरण से पता चलता है भगवान बुद्ध ने अनेक कठिन एवं खतरों से भरी शल्य चिकित्सा का निषेध किया, किसी शल्य चिकित्सा पर असहमति सूचक मौन रखा। पर बौद्ध धर्म और जीव दया के सिद्धान्त को शल्य क्रिया के दक्षता के ह्रास और शल्य चिकित्सा विज्ञान के अवरोहण के लिये उत्तर दायी नहीं कहा जा सकता। जातक कथाओं में ''धन्वन्तरि'' दिवोदास के रूप में मिलते हैं। हां आत्रेय परमपरा की चिकित्सा के साक्ष्य जातकों में उतना नहीं मिलते। चरक संहिता का लघु बोधक ''खुड्डाक'' पालि का उसी अर्थ में ''खुद्दक'' हैं।

आयुर्वेद के आधार तत्व और बौद्ध वाङ्मय

पंच महाभूत सिद्धान्त के आधार पर आयुर्वेद में त्रिदोष सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त एवं

गर्भ विकास के वृहत्तर सिद्धान्त विस्तृत हुये हैं। चरक संहिता के सूत्र स्थान २६/१० के अनुसार पंच महाभूत ही शरीर एवं संसार का आश्रय हैं। पंच महाभूत के भूत लक्षण को "वहिरिन्द्रिय ग्राह्य विशेष गुणत्वं भूतत्वं" की दार्शनिक शैली में वाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहणीय तद्गत विशेष गुण के द्रव्य को भूत-संज्ञा दी गयी है। इस परिपेक्ष्य में बौद्ध साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो "महायान" के "अर्थ निश्चय सूत्र में भूत को धातु संज्ञा दी गयी है। "महायान" के इस "अर्थ विनिश्चय सूत्र" में धातु के चार प्रकार ही स्वीकृत किये गये हैं। ये हैं:-१. पृथ्वी, २.अप्, ३. तेजस् और, ४. वायु

इस अर्थ विनिश्चय सूत्र में हर धातु के विशिष्ट गुणों का भी अनुसंधान किया गया है। गुरुता, कर्कशता के गुण में धातु पृथ्वी, उष्णता, पाचकता के गुण में तेजस् धातु है। ऐसे विवरण व्यापकता के साथ "महायान सूत्र संग्रह" एवं "अर्थ विनिश्चय सूत्र" में प्रतिपादित है। चरक संहिता शरीर स्थान में खर, द्रव, उष्णता चल और अप्रतिघात ये महत्वपूर्ण लक्षण भूत विवेचन में संदर्भित किया है।

बौद्ध साहित्य में "कल्पद्रुम अवदान माला" में "सुभूत्यवदान एवं अवदान शतकम् के अन्तर्गत पंच महाभूतों के गुण विवेचन का विवरण मिलता है। यह प्रतिपादन आयुर्वेद में भूतों के अन्योऽन्यानु प्रविष्ट को भी पारस्परिक आत्यन्तिक लय विवेचन में इस प्रकार संस्थित है:-

आकाश	-	शब्द
वायु	-	शब्द एवं स्पर्श
अग्नि	-	शब्द, स्पर्श एवं रूप
जल	-	शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस
पृथ्वी	-	शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध

दोष, धातु और मल-बौद्ध साहित्य और आयुर्वेद

सुश्रुत सूत्र स्थान की दृष्टि में शरीर के मूल हेतु हैं- दोष, धातु और मल। वात पित्त कफ की त्रयी जब विकृत होती है, तत्व धातुओं उपधातुओं एवं मलों को दूषित करती हैं। अतः इनकी विकृति को आयुर्वेद में दोष कहा गया और इनकी साम्यावस्था को शरीर धारक "धातु" के रूप में परिलक्षित किया गया है। शरीर के लिये अनुपयुक्त होकर ये "मल" हो जाते हैं। एक ही तत्व अवस्था भेद से आयुर्वेद में दोष धातु और मल की संज्ञा पाता रहा है।

पर "महायान" बौद्ध साहित्य में वात, पित्त, कफ, दोष, बोधक कहीं नहीं रहा है। वात पित्त, कफ सर्वत्र धातु संज्ञक ही रहे है, महायान में। बुद्ध चरितम् दर्शनीय है। जहां रोगों को धातु को प्रकुपित होने से उत्पन्न कहा गया है। धातु साम्यता, आरोग्य बोधक रहा है। अश्वघोष के बुद्ध चरितम् में भगवान बुद्ध एवं श्रेणीय विम्बसार की सांस्कृतिक

भेट जब होती है, तो परस्परिक मंगल कामनाओं धातु साम्य की जिज्ञासा एक दूसरे को शिष्टाचार में समर्पित करते हैं।

त न्यायतो न्याय विदां वरिष्ठं समेत्य
प्रपच्छ च धातु साम्यम्।
तानुभौ न्यायतः पृष्ट्वा धातु साम्यं परस्परम्।
बुद्ध चरितम १०-२०, १२-३

चरक संहिता सूत्र स्थान ९/४ में धातु की विषमयता को विकृति और धातु साम्य को प्रकृति निरूपित करते हुये प्रकृति को ही आरोग्य का पर्याय घोषित किया है। अश्वघोष के 'सौन्दर्यानन्द'' में वात, पित्त, कफ विषयक प्रकोप से उत्पन्न रोगों का दार्शनिक विवेचन मिलता है।

रागोद्धव व्याकुलतेऽपि चित्ते, मैत्रोपसंहार विधिर्न कार्यः।
रागात्मको मुह्यति मैत्र्या हि, स्नेहं कफ क्षोभ इवोपयुज्य।।
रागोद्धते चेतसि धैर्यमेत्य, निषेवितव्यं त्व शुभं निमित्तम्।
रागात्मको ह्येवमुपैति शर्म, कफात्मकों रूक्ष मिवोपयुज्य।।

सौन्दर्यानन्द १५/५९-६०

रागोत्तेजित व्याकुल चित्त की दशा में मैत्री भाव पद्धति से उपशमन करने के दुष्परिणाम रोगी के मूढ़ता की जड़ता वैसे ही प्रदान करते हैं, जैसे कफ-प्रकोप से तैलादि स्निग्ध पदार्थों से परिचर्या पर रोगी मूर्च्छित हो जाता है। चित्त के रागोद्धत होने पर धैर्य के साथ आशुभनिमित्त का सुसेवन करना चाहिये, इससे रागोद्वत वैसे ही शान्ति पाता है, जैसे कफात्मक प्रकृति का मनुष्य रूक्ष पदार्थों का समायोजनात्मक उपयोग करके शान्ति पाता है।

''सौन्दर्यानन्द'' में अश्वघोष ''दोष'' की विवेचना करते हैं, पित्त प्रकुपित के लिये तीक्ष्ण उपचारक परिचर्या निदान की आरोग्यमूलक रोशनी में :-

व्यापाद दोषेण मनस्युदीर्णे, न सेवितव्यं त्वशुभं निमित्तम्।
दोषात्मकस्यह्यशुभा बधाय, पित्तात्मन स्तीक्ष्ण इवोपचारः।।
व्यापाद दोषैः क्षुभिते तु चित्ते, सेव्या स्वपक्षोपनयेन मैत्री।
द्वेषात्मनो हि प्रशमाय मैत्री, पित्तात्मनः शीत इवोपचारः।।
मोहानुवद्धे मनसः प्रचारे, मैत्री शुभा चैव भवत्य रोगः।
ताभ्यां हि संमोह मुपैति भूयो, वाम्यात्मको रूक्षमिवोपनीय।।
मोहात्मिकायां मनसः प्रवृत्तौ, सेव्यास्त्वियं प्रत्ययता निहारः।
मूढे मनस्येष हि शान्ति मार्गो, वाय्वात्मके स्निग्ध इवोपचारः।।

सौन्दर्यानन्द, १६/६१-६४

व्यापाद दोष से विक्षुब्ध को अशुभ निमित्त का सेवन निषद्ध है। दोषात्मक रोगी के लिये अशुभ के सेवन वैसे ही विघातक हैं, जैसे पित्तात्मक में शमन के लिए तीक्ष्ण का उपचार। चित्त और पित्त के बीच मैत्री शीत की उपमा और वात रूक्ष की तुलना के साथ कार्य कारण सिद्धान्त के अनुसन्धान को ही उपर्युक्त उद्धरण में उपशमन का सिद्धान्त घोषित किया गया है।

सप्तधातु आयुर्वेद और बौद्ध साहित्यः-आयुर्वेद रस, रक्त, मांस मेदस, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र को सप्तधातु के रूप में निरूपित करता है। "महायान सूत्र संग्रह" के "अर्थ विनिश्चय सूत्र" इन धातुओं की संख्या प्रस्तुत करता है।

साराच्छोणितं परिणमति शोणितान्मांसं मांसान्भेदः
भेदसोऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्ज मज्जातः शुक्रम् -

"बुद्ध चरितम्" में अश्वघोष सप्तधातुओं की रक्षा एवं मलों के विसर्जन की उपादेयता निरूपित करते हैं।

व्याधि उत्पत्ति में कारक ऋतु : आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

आयुर्वेद में वर्षा में पित्त, हेमन्त में कफ और ग्रीष्म में वायु के संचरण की शैली निरूपित है, जबकि "सुवर्ण प्रभासूत्र" में वर्षा में वात, शरद में पित्त और ग्रीष्म में कफ कहा गया है। इस प्रकार "सुवर्ण प्रभासूत्र" और आयुर्वेद कुछ अंशों तक एक ही सिद्धान्त के समर्थक हैं, पर कुछ में भेद स्पष्ट हो जाता है।

"सुवर्ण प्रभासूत्र" के अनुसार

वाताविकाराः प्रभवंति वर्षे पित्त प्रकोपः शरदि प्रसन्ने
हेमन्त काले स्वथ सन्निपातः कफविकाराश्च भवन्ति ग्रीष्मे।

सुवर्ण प्रभासूत्र १७, ७, ८५

शारीरिकी : आयुर्वेद और बौद्ध साहित्य : शरीर रचना के विषय में अंग भेद और संख्या की दृष्टि से चरक, सुश्रुत, वाग्भट, "अर्थ विनिश्चयं" और विशुद्धिमगा" की तालिका नीचे दी जाती है, जो बड़ी ही रोचक हैं। चरक ने चेतनाधिष्ठान भूत, पंचमहाभूत विकार के समुदाय को शरीर घोषित किया हैं। सुश्रुत ने धातु एवं मल के समुदाय को स्थूलतः शरीर माना है। चरक सुश्रुत, अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदय में शरीर के ६ अंग षडंग निर्धारित किया। वृद्ध वाग्भट ने नाभि, पाणि, पाद को प्रत्यंग माना है। बौद्ध साहित्य की "महायान" शाखा में शरीर का ऐसा कोई षडंग विभाग नहीं मिलता, बौद्ध साहित्य में शरीर के स्थान पर "काय" एवं देह शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस "काय" को भिक्षुगण

अपवित्र मानते हैं। अशुचिकाय है- "मानव शरीर"। "अर्थ विनिश्चय सूत्र" में माता पिता के शुक्र शोणित को आद्य कारण और आहार परिमाण को उत्तर कारण माना गया है।

> मातापितृ शुक्र रूधिर समुत्थमिह शरीरस्य आद्यकारणम्।
> उत्तरमाहार परिमाणादिकम्।। महायान सूत्र संग्रह।। १/१६(१२)

शरीर की स्नायविक प्रणाली आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य में "महायान सूत्र संग्रह" को देखने से एक ही प्रकार निरूपित की गयी है। धातु के कार्य की भी दृष्टि से आयुर्वेद और "महायान" ग्रन्थों में एक रूपता मिलती है।

शारीरिकी के अंग संख्या की एक रोचक तालिका नीचे दी जा रही है, जिसमें आयुर्वेद और बौद्ध साहित्य का तुलनात्मक विश्लेषण सरलता के साथ द्रष्टव्य है :-

	आयुर्वेद			बौद्ध साहित्य	
अंग	चरक	सुश्रुत	वाग्भट	अर्थविनिश्चय	विशुद्धिमग्ग
अस्थि	३६०	३००	३६०	६०६	३००
अस्थिसंधि	-	-	२१०	३६०	१८०
आशय	-	७	७	७	-
शिरा जाल·	-	-	-	४००	-
शिरा	७००	७००	५००	७००	-
स्नायु	६००	६००	६००	६००	६००
त्वचा	६	७	६	७	-
मर्म	१०७	१०७	१०७	१०७	-
मांसपेशी	५०७	५००	५००	५००	६००

शरीर संस्थित कुछ घटकों का अञ्जलि परिमाण :- "अग्निवेश तंत्र" सर्वप्रथम रसादि धातुओं का मान गणित मिलता है। "अर्थ विनिश्चय" सूत्र में भी मस्तिष्क, वसा, भेद, श्लेष्मा, पित्त, रक्त, पुरीष आदि का निरूपण किया गया है। सुश्रुत संहिता इस प्रकार का उल्लेख नहीं करती। हां चरकसंहिता उपर्युक्त धातु उपधातु परिमाणों का निरूपण करती है। पद्मपुराण में इन परिमाणों का विवेचन जल, कुडव और आढक में प्रस्तुत किया गया है।

"अञ्जलि" परिमाण का उल्लेख यथा स्थान पर चरक संहिता में हुआ है। इस संहिता में "कल्प स्थान" में ४ पल (चार पल) का एक अञ्जलि है, जिसे कुडव भी कहा जा सकता है। एक अञ्जलि का आदर्श मान २.५ छटाक या १२.५ तोला (लगभग १५० ग्राम) परिमापित किया गया। पर यह मात्रा संदेह वर्धक ही रही, क्योंकि आयु और आकार

के भेद से अञ्जलि वायु दीर्घ परिमाण में विभाजित है। त्रिपिटक अञ्जलि परिमाण से अपरिचित हैं।

आढ़क-चरक संहिता और कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में "आढ़क की मात्रा उल्लिखित है। प्रो. श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनिकालीन भारत वर्ष में अधोलिखित तालिका दिया है।

चरक संहिता उल्लिखित तालिका

४ कर्ष = १ पल, २ पल = १ प्र = २ तोला : लगभग २४ ग्राम।

२ प्र = १ अञ्जलि = १६ तोला लगभग १८० ग्राम।

४ कुडव = १ प्रस्थ = २५६ तोला, लगभग ३ कि. ७२ ग्राम।

४ प्रस्थ = १ आढ़क ४ आढ़क = १ द्रोण = लगभग ४६ किलो १५२ ग्राम।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की तालिका

१ कुडव = १२.५ तोला = २ छटाक = लगभग १५० ग्राम।

४ कुडव = १ प्रस्थ = ५० तोला = २.५ पाव = लगभग ६०० ग्राम।

४ प्रस्थ = १ आढ़क = ५० पल = २०० तोला = २.५ सेर : लगभग २ किलो ४०० ग्राम।

४ आढ़क = १ द्रोण = २०० पल = ८०० तोला = १० सेर : लगभग ६ किलो ६०० ग्राम।

प्रस्थः-चरक संहिता में प्रस्थ का प्रयोग है। पाणिनी के अष्टाध्यायी में नहीं। कौटिल्य काल में "प्रस्थ" शब्द प्रचलित था। १२.५ पल या ५० तोला या २.५ पाव (लगभग ५०० ग्राम) का एक प्रस्थ होता रहा है।

"कुडव":-चरक संहिता में ४ पल की एक "अञ्जलि" होती रही, जिसे कुडव कहा जाता था। सामान्य शैली में। कुडव। अञ्जलि के परिमाण में होता रहा है।

शरीरवर्ती कुछ घटकों के अञ्जलि परिमाण की आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य की तालिका :

नाम	आयुर्वेद चरकसंहिता शारीरस्थान	संग्रह शारीर	पद्मपुराण २/६६/६३/६४	बौद्ध साहित्य अर्थविनिश्चय सूत्र १२
१	२	३	४	५
स्वेदोदक	१० अञ्जलि	-	-	-
रस	९ "	९ अञ्जलि	-	-
शोणित	८"	८".	१० पल	१ आढ़क
पुरीष	७"	७"	-	६ प्रस्थ
श्लेष्मा	६"	६"	१/२ आढ़क	६ अंजलि
पित्त	५"	५"	१ कुडव (चरक में ४ पल की १ अंजलि के बराबर	६ अंजलि
मूत्र	४"	४"	-	-
वसा	३"	३"	३० पल	३ अंजलि
मेदस	२"	३"	१०"	१ अंजलि
मस्तिष्क	१/२"	१/२"	-	१ अंजलि
मज्जा	१"	१"	-	-
शुक्र	१/२"	१/२"	१/२ कुडव	-
मांस	-	-	१ सहस्त्र पल	-
दुग्ध	-	२ अंजलि	-	-
आर्तव	-	४"	-	-
कलल	-	-	१५ पल	-
वात्तार्बुद	-	-	१ पल	-
महारक्त	-	-	३ पल	-
मज्जारक्त	-	-	१२ पल	-
ओजस	१/२ अंजलि	१/२ अंजलि	-	-

अंग विश्लेषण आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य :- अष्टांग संग्रह में निरूपित विभिन्न आंगिक नामों की सामग्री बौद्ध साहित्य में कुछ तो आयुर्वेदवत् ही प्रचलित रही हैं, पर कुछ नाम बौद्ध साहित्य के "अर्थ विनिश्चय सूत्र" "मूल सर्वास्ति वाङ", "विनय", शिक्षासमुच्चय", "विसुद्धिमगा" में परिवर्तित दशा में भी मिलते हैं। इस दिशा में रोचक तथ्य यह है कि

''महायान ग्रंथ'', शिक्षा समुच्चय, ''वोधिवर्यावतार'', ''मूलसर्वारित वाद'', विनय वस्तु, एवं ''अर्थ विनिश्चय सूत्र'' में ३६-३७ अंगों का विवेचन किया गया है। पालि भाषा के ''विसुद्धिमग्ग'' में अशुचि अंगों की संख्या ३२ है। आयुर्वेद और बौद्ध साहित्य के अंगों के नाम-परिवर्तन एवं अपरिवर्तनीयता के ताने बाने में प्रवहमाण तालिका रोचक विवरणों के साथ दी जा रही है।

अष्टांग संग्रह	अर्थ विनिश्यि सूत्र	मूलसर्वास्ति विनय सुत्त	शिक्षा समुच्चय	विसुद्धिमग्ग
१	२	३	४	५
लसीका	लसीका	लसीका	लसीका	लसीका
वसा	वसा	वसा	वसा	वसा
सिंघाणक	सिंघाणक	सिंघाणक	सिंघाणक	सिंघाणिक
खेट	खेल	खेट	खेट	खेलो
स्वेद	स्वेद	स्वेद	स्वेद	सेदो
अश्रु	अश्रु	अश्रु	अश्रु	अस्सु
पुरीष	पुरीष	पुरीष	पुरीष	करीष
यकृत	यकृत	यकृत	यकृत	यक्त
हृदर्या	औदरीयक	औदर्यक	औदरीयक	उदरियक
अंत्रगुण	अंत्रगुण	अंत्रगुण	अन्त्रगुण	अन्तगुण
अंत्र	अंत्राणि	अन्त्र	अन्त्राणि	अन्तम्
पक्वाशय	पक्वाशय	पक्वाशय	पक्वाशय	-
आमाशय	आमाशय	आमाशय	आमाशय	-
क्लोम	क्लोम	क्लोमक	क्लोमक	किलोमक
प्लीहा	प्लीहा	प्लीहा	प्लीहक	पिहिक
हृदय	हृदय	हृदय	हृदय	हृदयम्
वृक्को	वृक्का	वृक्का	वृक्का	वक्कम्
शिरा	शिरा	शिरा	शिरा	-
स्नायु	स्नायु	स्नायु	स्नायु	नहारू
अस्थि	अस्थि	अस्थि	अस्थि	अट्ठि
मांस	मांस	मांस	मांस	मंसम्
त्वक्	त्वक्	त्वक	त्वक्	त्वचो

१	२	३	४	५
मल	मल	मल	मल	-
रज	रजो	रजो	रजो	-
दन्त	दन्त	दन्त	दन्त	दन्ता
नख	नख	नख	नख	नखा
रोम	रोम	रोम	रोम	लोम
केश	केश	केश	केश	केसा
मज्जा	मज्जा	मज्जा	मज्जा	अटिमज्ज
मेद	मेदस्	मेद	मेद	मेदों
पित्त	पित्त	पित्त	पित्त	पित्तस्
श्लेष्मा	श्लेष्मा	श्लेष्मा	श्लेष्मा	सेमम्
पूय	पूय	पूय	पूय	प्रब्वो
लोहित	शोणित	शोणित	शोणित	लोहितम्
मस्तलुंग	मस्तकलुंग	-	मरचक लुंग	मत्थलुंग
उच्चार	उच्चार	-	-	-
मूत्र	प्रसाव	मूत्र	प्रसाव	मुत्त
-	-	-	-	फुप्फुस

रोम संख्या-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

विष्णु धर्मोत्तर पुराण ने रोमावली संख्या ७२ करोड़ निरूपित किया है। चरक संहिता में यह संख्या २९,९५६ निर्धारित किया गया हैं। ''अर्थ विनिश्चय सूत्र'' में रोमों की संख्या सुनिश्चित नहीं है। ''कोटि रोम'' शब्दों से इनकी अगणित संख्या वोध को बौद्ध साहित्य में वरीयता दी गयी है।

मांस एवं मांसपेशिया-आयुर्वेद बौद्ध साहित्य

शरीर की मांसपेशियों की संख्या ''महायान'' ग्रंथ के ''अर्थ विनिश्चय सूत्र'' ५०० माना है। यही संख्या आयुर्वेद भी मानता है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट ने ५०० संख्या में मांसपेशियों को निरूपित किया है। हां ''विष्णु धर्मोत्तर पुराण'' में इन्हें ५२० माना गया है, जबकि ''हीनयान'' के ''विसुद्धिमग्न'' में यह संख्या ९०० मिलती है।

स्नायु जात-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

९०० स्नायुओं में यह शरीर आवद्ध होता है। आयुर्वेद के सभी ग्रंथों में इनकी यह संख्या ९०० है। "विसुद्धिमग्न" में भी यही संख्या मिलती है।

त्वक् संख्या-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

आचार्य चरक त्वक् की संख्या ५ माना है, तो सुश्रुत ने ७ की प्रस्तावना की है। अष्टांग संग्रह में ६ त्वचा के साथ ७ त्वचाओं का भी उल्लेख है। "अर्थ विनिश्चय सूत्र में इनकी संख्या ७ है। "महायान" सूत्र संग्रह में त्वक की संख्या ७ है, पर विशेष विवेचन नहीं है। इसका विशेष तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद की त्वक् विवेचना को मौन समर्थन बौद्ध साहित्य देता हुआ इस वार पुनः विश्लेषण प्रस्तुत करना समय का अपव्यय ही मानता रहा है।

दन्त संख्या-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

पौराणिक साक्ष्यों एवं आयुर्वेद के ग्रंथों में दांतों की संख्या स्वस्थ व्यक्ति में ३२ मानी गयी है। "ललित विस्तर" जो एक महायान ग्रंथ है, एवं "अर्थ विनिश्चय सूत्र" में इनकी संख्या ४० है। भगवान बुद्ध की दन्त पंक्तियां आपस में सटीक थीं। अविरक्त दन्तः भगवान बुद्ध थे, जिनके दांतों की ज्योति श्वेत मुक्ताभ थी। ये दांत समकृत तीक्ष्ण, अनुपूर्ण एवं शुक्तक थे।

तीक्ष्णदन्तः अनुपूर्ण दष्ट्र, वृत्त द्रंष्ट्र, शुक्ल दंष्ट्र, समदंष्ट्र
महायान सूत्र संग्रह १/१९

अस्थि संख्या-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

आयुर्वेद में चरक और वाग्भट ने अस्थियों की संख्या ३६०, सुश्रुत ने ३००, काश्यप ने ३६३ घोषित किया है, पर "टर्थ विनिश्चय सूत्र में यह संख्या ९०६ है।

अस्थि संघात-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

आयुर्वेद के अष्टांग संग्रह में १४ अस्थि संघात निरूपित हैं। ये हैं-१. गुल्फ, २. जानु ३. वक्षण, ४. कोहनी ५. मणिबंध एवं ६. कुक्षि। इनके १-१ दोनों पार्श्ववर्ती विन्यास को मिला देने से १२ हो जाती है। संख्या त्रिक एवं शिर की संधि से १४ अस्थि संघात है। अष्टांग संग्रह में इनके अतिरिक्त २१० अस्थिसंधियों की संख्या निरूपित है। बौद्ध साहित्य "अर्थ विनिश्चय सूत्र" अस्थियों की संख्या ९०६ मानता है और अस्थि

संघात की संख्या ३६० घोषित करता है। अस्थियों की संख्या ही तो अस्थि संघात की संख्या "अर्थ विनिश्चय" ने नहीं माना हैं।

शिरा जाल संख्या-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

आयुर्वेद में चरक एवं सुश्रुत ने शिराओं की संख्या ७०० घोषित किया है। अष्टांग संग्रह में यह संख्या ५०० हैं "विष्णु धर्मोत्तर पुराण" में १०५५ है। "अर्थ विनिश्चय सूत्र" बौद्ध साहित्य ग्रंथ ने यह संख्या चरक एवं सुश्रुत संहिताओं की ही भांति ७०० माना है। हीनयान ग्रंथों में शिरा का विवेचन नहीं है। शिरा जाल संख्या "अर्थ विनिश्चय सूत्र" में ४०० दिया है।

पंच महाभूत के विशिष्ट गुण-आयुर्वेद बौद्ध साहित्य

चरक ने पंच महाभूतों के गुण और इनके विशेष लक्षणों का एकनिष्ठ निरूपण किया गया है। इस विश्लेषण में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में विपरीत अनुक्रम से खर, द्रव, चक्र, उष्णता, अप्रतिघात गुण की सत्ता निहित है। अर्थ विनिश्चय में चरक की ही भांति महाभूतों का विनिश्चय किया गया है। महाभूतों के विशेष गुण सहित विश्लेषण आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य में देखते ही बनता है। इसे तुलनात्मक सारिणी में दिया जा रहा है।

पंच महाभूतों के विशेष गुण

महाभूत	चरक शारीर स्थान १/२९	अर्थ विनिश्चय सूत्र महायान सूत्र संग्रह १/१९
पृथ्वी	खर	गुरुता कक्षता
अप	द्रव	द्रवत्व, अभिष्यन्दनत्व
तेजस	उष्णत्व	उष्णता, परिपाचनता
वायु	चल	कुंचन, प्रसारण
		लघुता, समुदीरण
आकाश	अप्रतिघात	-

उपर्युक्त सारिणी में दो विशेषता बौद्ध साहित्य में है। अर्थ विनिश्चय सूत्र में (१) वायु के गुण चतुष्टयी निरूपित और (२) आकाश में विशेष गुण का उल्लेख नहीं है, अन्य महाभूतों का विशेष गुण चरक की ही भांति अर्थ विनिश्चय सूत्र में निरूपित है।

अर्थ विनिश्चय सूत्र में उपर्युक्त चार महाभूतों को धातु की संज्ञा से अभिहित किया गया है। सुभृत्यावदान में पंचमहाभूतों का निरूपण मिलता है, जो चरक संहिता के साथ संगति रखता है।

आकाशस्य गुणश्चैकः शब्दः एव न चापरः।
शब्दाः स्पर्शो च वायाः द्वौ गुणौ परिकीर्तितौ।।
आग्नेः शब्दश्च स्पर्शश्च रूपमेव त्रयोगुणाः।
शब्द स्पर्श रूप रसाश्च चत्वार्येवि समीरणे।।
स्पर्शः शब्दरसो रूपं गन्धश्च पृथिवी गुणाः।
एवं मिलित योगैश्च ब्रह्मणोत्पत्ति रूच्यते।।

सुभृत्वदान - १०२, १०४

''अवदान शतकम्'' और ''कल्प द्रुमावदान माला'' भी ऐसी ही दृष्टि पद्धति रखती है। सुभृत्यावदान एवं कल्पद्रुमावदान माला महाभूतों के गुणों को क्रमिक वृद्धि के साथ निरूपित किया गया है। तालिका में द्रष्टव्य हैं।

महाभूत	गुण विश्लेषण	गुण संख्या
आकाश	शब्द	१
वायु	शब्द स्पर्श,	२
अग्नि	शब्द, स्पर्श रूप	३
जल	शब्द, स्पर्श, रूप, रस	४
पृथ्वी	शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध।	५

इस प्रकार प्रत्येक महाभूत परस्पर गुणों में अन्तर्निहित हैं। पृथ्वी में सभी महाभूतों के विशेष गुण निरूपित हैं।

मद्य भूमिका-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

चरक संहिता ने विधि पूर्वक मद्यपान का समर्थन किया है, इन्द्र को भी तो सोमपान प्रिय रहा है। सौत्रामणि के नाम से प्रख्यात यज्ञ में सोम की आहुति दी गयी। सोमयापी इन्द्र की निर्वलता कान्तिहीनता का उपचार मद्यसेवन से हुआ, ऐसा तक उल्लेख मिलता है। मद्य का गुणानुवाद देव, दैत्य, मानव, ऋषि तक में यथेष्ट सम्मान प्राचीन काल से ही प्राप्त किया है। अष्टांग संग्रह में युक्तिपीत मद्य सुधासम और युक्तिहीन विष तुल्य कहा गया है। वाग्भट ने मद्य को रोचक, अग्निदीपनं में सहायक, उष्ण, स्वादमय, तिक्त, कटु, अम्ल, विरेचक, पित्तरक्त वर्धक, पित्त कफ नाशक पाया है। सुश्रुत सूत्र में शल्य क्रिया के समय प्राचीन

काल में रोगी को वेदना निरोध में मद्यपान कराते थे। बौद्ध साहित्य में मद्यपान निषिद्ध है। ''कुंभ जातक'' में एक कुंभ का अनावरण अनोखा है।

यह कुंभ बादलों की वर्षा के जल से भरा नहीं है, न तीर्थ जल से ही आपूरित है। न सुमन मकरन्द मधु रस से यह परिपूर्ण है, न घृत से ही आभारित। यह सोम किरणों की शुभ्रता की भांति स्वच्छ दूध से भी परिपूर्ण नहीं है। यह पाप रस से ओत प्रोत है, सुन लें।

नायं तोयद विच्युतस्य पयसः पूर्णो न तीर्थाम्भसः।
कैन्जल्कस्य सुगंधिनो न मधुनः सर्पि विशेषस्यवा
न क्षीरस्य विजृम्भमाण कुमुद व्यभ्रेन्दु पादच्छद्वैः।
पूर्ण पापमद्यस्य तस्य तु घटस्थस्य प्रभावं श्रुणु।।

कुंभ जातक, जातक माला

मद्य की रासायनिक एवं मानसिक भूमिकाओं कुंभ जातक चरक एंव सुश्रुत की आसत्व दृष्टि को अस्वीकृत करते हुये स्पष्ट अध्ययन प्रस्तुत करते हुये निरूपित करते हैं:-

यां पीतवन्तो मद लुप्त संज्ञा तृष्यमन्धका विस्मृत बन्धुभावाः।
परस्परं निष्पिपिषुर्गदाभि रून्मादनी सा निहितेह कुम्भे।।

''कुम्भ जातक'' जातकमाला

जिसके पीने पर नसे से धुत्त द्वापर में भगवान के साथ रहने वालों ने भी बांधवों की मूर्धाओं पर प्रहार करने से स्वयं को रोक नहीं सके, वहीं उन्मादनी सुरा यहां इस कुंभ में निहित है, सुन लें :-

उन्मादनिकां व्यसन प्रतिष्ठां साक्षादलक्ष्मी जननीमद्यानाम्।
अद्वैतसिद्धां कलि द्रुति तां क्रीणीत घोरां मनसस्तमिस्राम्।।

''जातकमाला''

सत को असत, असत को सत की स्वयं सिद्ध विद्या उन्मादवाहिनी विपन्नता का साक्षात्कार कराने वाली पाप प्रसवनी कलियुगी शैली में सृष्टि मात्र की विषाक्त अद्वैत दृष्टि यह मन की घोर तमिस्रा सुरा है। ले लो, खरीद लो।

स्वप्न दर्शन आयुर्वेद एवं बौद्ध दर्शन

आयुर्वेदिक ग्रंथों में अरिष्ट प्रकरण में स्वप्न निरूपण हुआ है। भयास्पद, व्याधिकारक, मरणान्तक, व्यसनपरक, स्वप्न चरक, सुश्रुत, अष्टांग संग्रह में दिया गया है। कफ के नेतृत्व वाले स्वप्न, पित्त, प्रधान स्वप्न एवं वातज स्वप्नों आधि व्याधि बोधक स्वप्नों

का विशद विवेचन आयुर्वेद में है। त्रिदोष बोधक स्वप्नों, कफज स्वप्न, रागी पित्तज स्वप्न द्रष्टा द्वेषी एवं वातज स्व प्रदर्शी मोही प्रकृति का निरूपण हुआ है। ये मनोविकार के स्वप्न हैं। स्वस्थ के नहीं। विकार बोधक रूग्ण स्वप्नों की परिचर्या के पूर्व स्वप्न की परिभाषा आयुर्वेद और बौद्ध ग्रंथों में मिलती है। चरक सूत्र में स्वप्न की परिभाषा (२१/३५) मनोभूमि की सुषुप्ति को प्रत्यक्ष कारक तत्व के रूप में दी गई है।

> यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
> विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते तदा स्वपिति मानवः।। चरकसूत्र २१/३५

हीनयानी ग्रंथ "मिलिन्दपन्हो" ४/८/३३ में स्वप्न परिभाषित किया गया है। प्रकृति की दृष्टि से "मिलिन्दपन्हो" ने स्वप्न के पांच वर्ग किये हैं। ये हैं - कल्याणक, पापक (दृष्ट पूर्व, अदृष्ट पूर्व, कृत पूर्व, अकृत पूर्व) क्षेम कारक, शान्तिक दूरवर्ती। चरक ने स्वप्न सप्तकी के वर्ग की विवेचना की है।

दिव्यावदान में भयकारक स्वप्न, व्यांधिकारक स्वप्न, मरणकारक स्वप्न, व्यसन कारक स्वप्न, प्रशस्त एवं अप्रशस्त के विशद विवेचन किये हैं। स्थानाभाव से प्रत्येक के साक्ष्य देने में उत्सुकता होने के पश्चात् भी कठिनाई है।

आयुर्वेद के अरिष्ट प्रकरण में उपलब्ध स्वप्न विवेचन चरक, सुश्रुत, अष्टांग संग्रह में भय कारक, व्याधि कारक, मरण एवं व्यसनकारक स्वप्नों के इन्द्र धनुष दीखते हैं, जो महायान ग्रंथों में कुटुम्ब वृद्धिकारक ऐश्वर्यकारक, स्वप्न का गंधर्व नगर प्रकृत तत्वों के विकार-संस्कार में अनुच्छन्दित है। स्वप्न द्रष्टा का बौद्ध साहित्य में जो विवेचन है, प्रकृति भेद, इसका मानस रोग की दिशा, में एक क्रान्ति है। त्रिदोष परक के आधार पर श्लेष्मा प्रधान व्यक्तियों के स्वप्न जगत में पित्त की पूर्व पीठिका एवं वात प्रधान व्यक्तियों के स्वप्न क्षितिज में पहुंचती वात प्रकृति के योगदान विषय वस्तु को इतनी उच्च वैज्ञानिक महत्ता प्रदान करते हैं कि फ्रायड का मनोविज्ञान एवं मनो विश्लेषण हतप्रभ दिखायी पड़ता है, बौद्ध साहित्य के मनो संश्लिष्ट जीवन-जगत की आरोग्य मूलक व्याख्या में।

शकुन आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

मानव एवं प्रकृति के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति के तत्वों का इतना भूखा है, मानव की तत्व विशेष की कमी से आरोग्य और स्वास्थ्य के आत्मिक सौन्दर्य से च्युत से वेचैन हो उठता है। प्रकृति का वह वियोगी तत्व बिना पाये वह आरोग्यवान नहीं हो पाता। प्रकृति भी मनुष्य के विना निर्विकार ही है। मानव कल्याण के लिये प्रकृति संदेश वाहिनी साहित्य में पूर्व-पश्चिम का बिना भेद किये मिलती है। कालिदास, शैक्सपियर, तुलसीदास, सव ने प्रकृति की संसूचनाओं का मनोदैहिकी माध्यम शकुन माना है। आधुनिक विज्ञान

शकुन को एक प्रकार की सिग्नल भूमिका में सेवारत पाया है। आंकड़ों में होना ''सकना'' भाव में शक धातु से उनन् प्रत्यय के सहयोग से शकुन शब्द बनता है। सुश्रुत ने दूत परीक्षा के सन्दर्भ में (२९/१-५३) शकुन का वर्णन किया है।

वृहद् वाचस्पत्यं कोषकार ने शुभ, अशुभ सूचक वाह्य प्रकृति एवं उसके नैसर्गिक संसाधन के दर्शन से होने वाली घटना को शकुन कहा है। वृहद् वाचस्पत्यं कोष में शुभ अशुभ का साधक शकुन को माना है। शकुन का सम्बन्ध आधि व्याधि ही नहीं, आरोग्य से भी प्रकृति और इसके रसायन की अन्तरंग घनिष्ठता में वैज्ञानिक सूत्र में प्रायोजित करता है।

''हीनयान'' के खुद्दक (५/७) में एवं बहुत से जातकों में शकुन का वर्णन मिलता है। महामंगल जातक (४५३) शकुन की परिभाषा मिलता है, जो वृहद् वाचस्पत्यं कोषवत् ही मिलता है। ''खुद्दक'' शकुनो के १२ प्रकार प्रस्तुत करता है। ''सुवर्ण प्रभा सूत्र'' भी शकुन के मनोरंजक विवरण देता है। खन्जरीट अश्व, धेनु, उष्ट्र, श्वान, गर्दभ, कलश गज, वायसध्वनि, गीदड़स्वर, आदि के आधि-व्याधि परक सांकेतिक प्रभावों का विवरण दिव्यावदान, महायान सूत्र संग्रह में भरा पड़ा है।

ज्योतिर्विज्ञान, समय सारिणी-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

''अष्टांग संग्रह'' काल के १२ विभाजन करता है। ये हैं-मात्रा, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त, याम, अहोरात्र, पक्ष, मांस, ऋतु, अयन एवं वर्ष।

''दिव्यावदान'' के शार्दूल कर्णावदान'' एवं ''आर्य मन्जुश्री'', ''मूलकल्प'', में समय सारिणी वर्णित है। हीनयान ग्रन्थों में यह विवेचन नहीं मिलता। समय-सारिणी रोकीरोचक तुलना अष्टांग संग्रह, चरक सूत्र दिव्यावदांन एवं महायान सूत्र संग्रह में देखा जा सकता है।

चरक सूत्र	अष्टांग संग्रह	महायान सूत्र संग्रह	दिव्यावदान
क्षण	१ अक्ष निमेष-१ मात्रा	८ उन्मेष निमिष १ अच्छता	स्त्री कर्तिनी सूत्रो-व्याम तात्क्षाण
मुहूर्त	५ मात्रा-१ काष्ठा	१० अच्छत-१ नाडिका	१२० तत्क्षण-१ क्षण
दिवस	३० काष्ठा-	४ नाडिका-१ घटी	६० क्षण-१ लव
	६० कला-१ पल	४ घटी-१ प्रहर	८ लव-१ काष्ठा
पन्चाह	३० कला-१ नाडिका	१० उन्मेष-निमेष-	१६ काष्ठा-१ कला
	३ काष्ठा	१० क्षण	
सप्ताह	२ नाडिका-१ मुहूर्त	१० ताल प्रमाण-१ क्षण	३० कला-१ नाडिका

दशाह	४ जाम- १ दिन	४ मुहूर्त- १ प्रहर	२ नाडिका- १ मुहूर्त
पक्ष	३ मुहूर्त- १ याम	१५ दिवस- १ पक्ष	३० मुहूर्त- १ अहोरात्र
मास	१ दिन रात्रि = १ अहोरात्र	२ पक्ष- १ मास	३० अहोरात्र- १ मास
षष्ठमास	१५ अहोरात्र- १ पक्ष	२ मास- १ ऋतु	१२ मास-१ वर्ष
संवत्सर	२ पक्ष-१ मास	१२ मास- १ ऋतु	१२ वर्ष-१ संवत्सर
	२ मास- १ ऋतु	१२ वर्ष - १ महापर्व	
		६ मास- १ अयन	
		२ अयन - १ वर्ष	

मुहूर्त भेद-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

एक अहोरात्र ३० मुहूर्त के बराबर है। एक मुहूर्त में २ घटी (४८ मिनट) होते हैं। अमर कोष सिद्धान्त शिरोमणि ने इसे पूरी तरह से स्पष्ट किया है। "दिव्यावदान" में दिन रात्रि में विभाजित ३० मुहूर्तों में से प्रत्येक का पृथक् नामकरण तक किया गया है।

भेषज्य भेद-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

चरक ने भेषज्य का जो वर्गीकरण किया है, बौद्ध साहित्य में लघु भेद-भेदान्तर के साथ लगभग वैसा ही निरूपित है। भैषज्य वनस्पतियों का वर्णन "सद्धर्म पुण्डरीक", "दिव्यावदान", मूलसर्वास्तिवाद, विनय वस्तु, "सुवर्ण प्रभा सूत्र", मंजुश्री मूलकल्प" आदि में बहुलता से मिलता है। "सद्धर्म में "औषधि परिवर्तन" में वनस्पतियों के समुद्भव एवं भेद सहित इनके प्रयोग का भी निरूपण किया है।

"सद धर्म पुण्डरीक" निर्देशित करता है, हिमालय पर चार प्रकार की औषधियां हैं:-

१. सर्व वर्ण रस।
२. सर्व व्याधि प्रमोन्विनी।
३. सर्व विष विनाशिनी।
४. यथा स्थान संस्थित सुखदायिनी।

इनके योग की विधियों का निरूपण भी "सद्धर्म पुण्डरीक" में किया गया है, जो इस प्रकार है :-

- पीस कर प्रदानीय

- दन्त चर्वण द्वारा ।
- अन्य के साथ मिश्रण द्वारा
- शलाका द्वारा देह-स्थान में अंग विद्धि द्वारा
- अग्नि में भस्म कर
- भोजन जल में अनुपात द्वारा

''मुक्त सर्वास्तिवाद विनय वस्तु'' के अनुसार जोतिवन में स्वयं भगवान बुद्ध ने जब भिक्षु शारीरिक रोग से उत्पीड़ित हो गये थे, तो उन्हें कालिक, यामिक, साप्ताहिक तथा यावज्जीवक-इन चतुर्विधि भेषज्य सेवन का निर्देश किया। ज्ञातव्य है कालिक वर्ग में मण्ड, ओदन, कुल्लास, मांस एवं पूया सेवन का निर्देशन है। इसी प्रकार यामिक में चोच, मोच, कोल, अश्वत्थ, उदुम्बर, पासनिक, मृद्धिका, खर्जूर नाम से अष्ट-पान का विवेचन है। साप्ताहिक भेषज्य में घृत, तेल, फणित, मधु, शर्करा आदि का विधान है। इसी प्रकार यावज्जीवक भेषज्य में मूल, गण्ड पत्र, पुष्प, फल, पंचविध लाक्षा, पञ्चसार, पञ्चलवण एवं पञ्चकषाय वर्णित है।

काय चिकित्सा एवं इसके आयाम-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

चरक ने काय चिकित्सा को अष्टांग में शीर्षस्थ स्थान दिया है। परिभाषा ''काय चिकित्सा'' की चरक नहीं देते। सुश्रुत ने विशद विश्लेषण किया है। अष्टांग संग्रह में ''काय'' पद आता है। सुश्रुत के मत में ज्वर, रक्तपित्त, शोथ, उन्माद, उपस्कार कुष्ठ, प्रमेह एवं अतिसार का उपचार काय चिकित्सा की परिधि में आता है। ''काय'' का दैहिक तात्पर्य आयुर्वेद की तात्वीकता में माना दैहिक नहीं है। ''काय-अग्नि वोधक है। चरक में परिवर्ती भाष्यों में। अग्नि की यथावतता आरोग्यसूचक प्रशान्ति भरण वोधक और विक्रांति रोग वोधक है। अग्नि चिकित्सा ही काय चिकित्सा है। सुश्रुत का प्रवचन है। ''जाठरोभगवानग्नि,'' ईश्वरोन्नस्य पाचकः।

आयुर्वेद में रोगी परिचर्या के ४ आयाम हैं-

१. भिषक् २. द्रव्य, ३. उपस्थाता या परिचारक (अटेण्डेण्ट) और ४. आतुर (रोगी) आयुर्वेद की ही भांति ''महायान'' बौद्ध साहित्य में चिकित्सा के इन चार अंगों का पर्याप्त विवेचन किया गया है।

शल्य तंत्र, शालाक्य तंत्र-आयुर्वेद एवं बौद्ध साहित्य

''सर्जरी'' का पूर्वज शल्य है। ''शल हिंसायाम्'' या शल् श्वल् आशु गगने तस्य शल्यमिति रूपम् के रूप में चिकित्सा की क्षिप्रता तीक्ष्णता की अनिवार्य पद्धति माना गया है। शल्यकों की यह गर्वोक्ति तक है। समस्त चिकित्सालय एक ओर और शल्य विभाग

एक ओर। भैषज्यवादी फिजीशियंस कटुक्ति करते मिलते हैं। सर्जन (शल्यक) एक बढ़ई मात्र होता है। काट, छाट, ठोक पीट यही तो शल्य है। दार्शनिक भूमि के शल्य चिकित्सा प्रकृति राज्य में अनुचित हस्तक्षेप है। प्रत्येक रोग के शमनकारी मूलतत्व, देह प्रकृति एवं वाह्य प्रकृति में विद्यमान है। इनके समन्वय की परिचर्या ही चिकित्सा है। सुश्रुत के मत में जिस अंग में अनेक प्रकार काष्ठ, पाषाण, पांशु, लोह, अस्थि, वाल, नख, पथ, आश्राव दृष्ट, व्रण, अन्तःशल्य, गर्भ शल्य आदि निकालने के लिये यंत्र, शस्त्र, क्षार एवं अग्नि प्रणिध ान एवं और व्रण का विनिश्चय किया जाता है, शल्य तंत्र है। सुश्रुत सूत्र १/६

महायान बौद्ध साहित्य में कोई निश्चित शल्य तंत्र की परिभाषा नहीं मिलती। बिना चीर, फाड़ के भी भगवान् बुद्ध भिषक् शल्यहर्ता कहे गये हैं।

शालाक्य शब्द शलाका से सम्वन्धित है। नेत्र, नासिका, कर्ण, शिरो रोग और मुख रोग में परीक्षणार्थ शलाका का उपयोग होने से चिकित्सा पद्धति को शालाक्य तंत्र कहा गया है। शालाक्य तंत्र को ऊर्ध्वांग चिकित्सा भी कहा जाता है।

इस दिशा में कापालि व्याधि की शल्य चिकित्सा आर्य जीवक द्वारा तत्कालीन विश्रुत वरिष्ठ सर्जन शल्य कला का महान् आचार्य आत्रेय के निर्देशन में गोमय गर्त में चिपके कृमि को तप्त चिमटी (संदेश) के स्पर्श में मार कर निकालने की दिशा में प्रत्युत्पन्न मति का एक सुन्दर उदाहरण "मूल सर्वास्तिवाद" में रोचक विवरण सहित मिलता है। इसी मूल सर्वास्तिवाद में इन्हीं सर्वभूत प्रसादन मणि जिसका आधुनिक वंशज एक्सरे प्रणाली है, द्वारा शीर्ष गत शतपदी कीट देखकर कपाणकोत्थिनी द्वारा कृमि निष्कासन का एक अन्य उदाहरण मिलता है।

"मूल सर्वास्ति वाद" में ही राजा विम्बसार की मूर्धा में पिटक का उपचार इनकी पत्नी वैदेहि के गुदा प्रदेश में हुये पिटक की परिचर्या का प्रत्युत्पन्न मतित्व दर्शनीय है, आर्य जीवक का। पत्नी वैदेहि का गुप्तांग बिना देखे, सत्तु पिण्ड पर उन्हें बैठवा कर सक्तु-पिण्ड पर उतरे चित्र से अनुमानित, उस व्रण को पका तक जानकर दूसरे सक्तु पिण्ड में शल्य छिपाकर पुनः उसी पर बैठवाया और बिना स्पर्श किये शल्य क्रिया का सफल समापन किया। धन्य है आर्य जीवक की शल्य-साधना।

आधुनिक हृदय प्रत्यारोपण की ही भांति अंग स्थापना शंकर एवं बुद्ध का उदाहरण :

हृदय प्रत्यारोपण के अनेक उदाहरण इधर चिकित्सा जगत ने सफल किये हैं। पर मस्तिष्क का प्रत्यारोपण सहस्रादियों-पूर्व ही नहीं, इतना पूर्व की जहां से इतिहास का जन्म होता है, उससे भी पूर्व या यों कहें कि मानवीय इतिहास-चेतना दिक् काल के उस प्रथम अनावरण पर जो इतना पूर्वतम है कि साक्ष्य अपनी क्षमता को खो देने को विवश है, मनुष्य

तो क्या इसके इतिहास के गर्भकाल से भी पूर्व थी। शल्य-चिकित्सा का उच्चतम कीर्तिमान सदाशिव ने स्वयं अपने ही प्रिय पुत्र का शीर्ष प्रत्यारोपण के रूप में स्थापित किया है। पुराण इस साक्ष्य से जगमग है। आदि शल्यक स्वयं शिव हैं और आदि गणेश ही शल्य क्रिया का श्री गणेश अपने ही शीर्ष पर करवाते मिलते हैं। पिता पुत्र की यह अनोखी क्रान्ति है, जिसका उदाहरण आज तक कहीं नहीं मिला। नभूतो न भविष्यति, बौद्ध साहित्य के दिव्यावदान में कोसल नरेश द्वारा हाथ-पैर कटवाने का एक दण्ड मुक्त आर्त्त विलाप पर भगवान बुद्ध ने स्वयं अपने हाथों उसके छिन्न हस्तपाद को पुनः यथा स्थान पर पूर्ववत् स्थापित किया। इस उपक्रम में शल्य बिना यंत्र के हुआ। क्रान्तिकारी उदाहरण ही तो है। यह भिषक् शल्यहर्ता भगवान बुद्ध का चिकित्सा और शल्य तंत्र के वृहत्तर इतिहास में।

इसी प्रकार ''महायान सूत्र संग्रह'' में दनत् शूल, अक्षि शूल, ''मूल सर्वास्ति वाद'' में अन्धत्व निवारण का उदाहरण प्रज्ञा पारिमिता में मिलते हैं। ये उदाहरण प्रायोगिक विवरण ही है। ''आमाशय शोथ'' द्वारा भगन्दर के उपचार में शल्य कर्म को भगवान बुद्ध ने निषिद्ध किया, मात्र इस एक उदाहरण से बौद्ध काल को शल्य-दक्षता का ह्रास युग मानना प्रभावशाली भूल है। भगवान बुद्ध के समय शल्य तंत्र, शालाक्य तंत्र के उच्च्य कीर्तिमान मिलते हैं। ''कौमार मृत्य'' चिकित्सा सुश्रुत सूत्र में, ''दिव्यावदान'' में ''महायान सूत्र संग्रह'' में 'ललित विस्तर' में मिलते है। स्त्री रोग में प्रदर बन्ध्या के उपचार ''महायान सूत्र संग्रह'' में निरूपित हुये हैं। बाल रोग के उपचार में सहस्राब्दियों पूर्व के उन नवजात शिशुओं की परिचर्या ''मूल सर्वास्ति वाद'' ''महायान सूत्र संग्रह'' दिव्यावदान ऐसी रोचकता से देते है। कि पाठक को लगता है, जैसे वह बौद्ध साहित्य के सहस्राब्दियों पूर्व के बंधन से मुक्त होकर आधुनिक किसी चिकित्सालय ''आउटडोर'' में बैठा इन प्राचीनता में बिदा हुये वच्चों को आंखों से देख सुन रहा है।

''आमानुषोपसर्ग'' के रूप में भूत विद्या, झाड़ना फूंकना की शैलियां भी मानसिक उपचार की लौकिक पद्धति ही नहीं, छान्दोग्योपनिषद, सहित आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में ''युक्तिव्यपाश्रय'' चिकित्सा, दैवव्यपाश्रय चिकित्सा द्वारा निरूपित हैं। ''महायान'' ग्रन्थों में ''मंजूश्रीकल्प'' में बौद्ध तांत्रिकों ने तो भूतों की जनगणना तक कर डाला है। ''महायान सूत्र संग्रह'' ने भूतों की सूची तक दे डाला है। इनके परिवारों का भी परिचय देता है। बड़ी ओझाई की गयी है ''मंजूश्री कल्प'' में। तंत्रों-मंत्रों से भनभनाता ''मंजूश्री कल्प'' ''महामयूरी मंत्र विद्या'' में कितना हमुआते उदाहरण आज भी देखे पढ़े जा सकते हैं।

''मारक मंत्रों'' वशीकरण मंत्रों में बौद्ध साहित्य का कौन सामना कर सकता है। विषोपचार में सुश्रुत ने ''अंगदतंत्र'' चरक ने विषगर बैराधिक प्रशमन'' एवं वाग्भट ने द्रष्ट चिकित्सा के शीर्षक में किया हैं। अंगदतंत्र महायान ग्रंथों में स्पष्टतः तो नहीं है, पर नाव नीतकम् ''मूल सर्वास्तिवाद विनय वस्तु'' ''महामायूरी विद्या'' में विषोपचार के वर्णन मिलते

हैं। विषधरों के माध्यम से दंशित विष उपचार के अनेक रोमांचक उपचारों की भीड़ इन ग्रंथों में आतुर खड़े दीख पड़ती है, आज भी। शंख नाभि, महाकरिन, अमोघा, सम्मोहिनी, प्रभास्वर, कौशिकी, सामथी, सुधा, वत्सनाम आदि औषधियों के नाम एवं परिचर्या पद्धति तक उपलब्ध होती है। चिकित्सा शुल्क ५०० कार्षापण निर्दिष्ट है। बौद्ध महायान साहित्य में तो हीनयान बढ़-चढ़ कर १६०० कार्षापण चिकित्सकों को देता मिलने वाले उदाहरणों का प्रस्तावक है। आज कल की फीस कितनी कम है।

आयुर्वेदिक वनस्पति बौद्ध साहित्य

कुछ वनस्पतियां जो आयुर्वेद में उपचारक गुण रखती हैं, बौद्ध साहित्य में रोगों की परिचर्या में मिलती है, इनमें से कुछ के नाम नीचे दिये जा रहे हैं।

अर्जुन	-	महायान सूत्र संग्रह, जातक
अतिनिशा	-	(हरिद्रा) - जातक
अश्वगंधा	-	महायान सूत्र संग्रह
अमृत (कदली)	-	बोधिचर्यावतार, सद्घर्म पुण्डरीक
आम्र	-	महायान सूत्र संग्रह, मूल सर्वास्तिवाद विनयवस्तु
इंगुदी	-	महायान सूत्र संग्रह
इक्षु	-	महायान सूत्र संग्रह, मूल सर्वास्तिवाद विनय वस्तु
उदुम्बर	-	(गूलर) - महायान सूत्र संग्रह
कदली	-	महायान सूत्र संग्रह, सद्धर्म पुण्डरीक, सद्धर्म पुण्डरीक, प्रज्ञा पारमिता, मूल सर्वास्तिवाद, विनय वस्तु।
कदम्ब	-	महायान सूत्र संग्रह
कंदमूल	-	सद्धर्म पुण्डरीक
कपित्थ	-	महायान सूत्र संग्रह, मूल सर्वास्तिवाद विनयवस्तु दिव्यावदान।
केतकी (केवड़ा)	-	जातक
केशर (नाग पुष्प या नागकेसर)	-	महायान सूत्र संग्रह बोधि चर्यावतार, मूल सर्वास्तिवाद
खर्जूर	-	सुवर्ण प्रभासूत्र
गुग्गुलु	-	महायान सूत्र संग्रह, सुवर्ण प्रभा सूत्र
गुडूची	-	महायान सूत्र संग्रह
ताम्बूल	-	महायान सूत्र संग्रह, जातक
दूर्वा	-	महायान सूत्र संग्रह, ललित विस्तर
धत्तूर	-	महायान सूत्र संग्रह

निम्ब	-	महायान सूत्र संग्रह, मूल सर्वास्ति वाद
वंशरोचन (वंश)	-	महायान सूत्र संग्रह
भृंगराज	-	प्रज्ञा पारमिता
	-	महायान सूत्र संग्रह
लवंग	-	महायान सूत्र संग्रह
शंखपुष्पी	-	(दानकुनी) - महायान सूत्र संग्रह
हरीतकी	-	महायान सूत्र संग्रह, दिव्यावदान, मूल सर्वास्ति वाद विनय वस्तु

आयुर्वेदिक धातूपधात बौद्ध साहित्य

चन्द्रप्रभास मणि	-	महायान सूत्र संग्रह
लौह	-	महायान सूत्र संग्रह, बोधिचर्यावतार
स्वर्ण	-	महायान सूत्र संग्रह, दिव्यावदान

सप्तम्-अध्याय

भूतविद्या

परिचय-आयुर्वेदशास्त्र में रोगों की. दो तरह की प्रकृति बतलायी गयी है[1] (१) कुछ रोग वात-पित्त-कफ के प्रकोप से होते हैं और (२) दूसरे रज तथा तम, इन दो मानस दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं। ये दोनों प्रकार के रोग निज रोग कहे जाते है। इन दोनों के अतिरिक्त कुछ अन्य रोग ऐसे होते हैं, जिनमें निश्चय रूप से दोप-दूष्य-हेतु-पूर्वरूप-रूप-उपशय और सम्प्राप्ति का विवेचन नहीं किया जा सकता। ऐसे रोगों को आगन्तुक कहते हैं।

जिन आगन्तुक रोगाक्रान्त रोगियों में, हैरत में डाल देने वाले विस्मयजनक लक्षण परिलक्षित होते हैं, रोगी के कार्यकलाप, आकृति, गति, चेष्टा, वाणी और ज्ञान में अद्‌भुत परिवर्तन देखा जाता है। सर्वथा अशिक्षित रोगी, वेदमंत्रों या श्लोकों का पाठ करने लगता है, अंग्रेजी-फारसी-बंगला आदि भाषाओं में प्रवचन करने लगता है। उसका शील स्वाभाव विपरीत हो जाता है। उसका आहार-विहार, संलाप वैचित्र्य और विविधतापूर्ण होता है। अमद्यप और शाकाहारी व्यक्ति, मद्य-मांस भोजी वन जाता है अथवा मद्यप तथा मांसादि व्यक्ति, अमद्यप और शाकाहारी हो जाता है। उसकी इच्छाएं बदल जाती हैं, उसकी प्रज्ञा, पराक्रम, पौरुष, ज्ञान, बल और चेष्टाओं का प्रस्फुरण और उत्कर्ष मानवीय सीमा को अतिक्रान्त कर जाता है। उसकी आश्चर्य और चमत्कारणूर्ण गतिविधियों को देख कर घोर नास्तिक व्यक्ति भी यह मानने को विवश हो जाता है कि यह व्यक्ति किसी व्यन्तर देव (भूत-प्रेत-पिशाच-यक्ष-राक्षस आदि) द्वारा अभिनिविष्ट हैं। आक्रान्त व्यक्ति की समस्त चेष्टायें, समाविष्ट भूत द्वारा परिचालित होती प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार के कलह, कोलाहल, कौतूहल, हो-हल्ला और संघर्ष से पूर्ण तथा नृत्य, गीत, हास्य, रोदन एवं भाग-दौड़ की जिन्दगी जीने वाले रोगी का अध्ययन, निदान उपचार जिस चिकित्सा-व्यवस्था में किया जाता है, उसे भूतविधा कहते हैं। यह आयुर्वेद का अन्यतम अंग हैं। भूतविद्या से सम्बद्ध रोगों में स्वतन्त्र रूप से रोगों के निदान आदि का आकलन किया जाता है। इन रोगो के विशिष्ट लक्षणों को देखकर उनके उद्‌भावक कारणों में, देव-असुर-गन्धर्व-पितर-पिशाच-यक्ष-राक्षस-डाकिनी-शाकिनी आदि के अभिनिदेश का कारण माना गया है। आयुर्वेदीय संहिताओं में, शल्यतन्त्र, कौमारभृत्य, सूतिका के प्रसंग में तथा शून्यागार, वधागार, चैत्य, श्मशान आदि के निवासियों में राक्षस, पिशाच आदि के

---

१. (क) निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा मताः। अ.ह.सू.।
(ख) स्वधातुवैपम्यनिमित्तजाये विकारसङ्घा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पितकफानिलेम्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः।। च.सू. ११

आक्रमण, की वात कही गयी है। तन्जन्य विकारों के सम्यग्ज्ञान विनिश्चय और उपचार के लिये **भूतविद्या** को आयुर्वेद के एक अंग के रूप में माना गया हैं।

इस विधा का सामञ्जस्य उपनिषद् की **अपरा विद्या** के साथ स्थापित किया जा सकता है। उपनिषद् में (१) परा और (२) अपरा, इन दो विधाओं का प्रतिपादन किया गया है, जिनमे **परा विधा** सत्त्वगुण का उद्रेक कर कैवल्य पथ पर ले जाती है। दूसरी **अपरा विद्या** महामोहमयी, इच्छाद्वेषात्मिका, तमोगुण प्रधान होने के कारण जन्म-मृत्यु के बन्धन में आवद्ध करने वाली और सर्वविध आपदाओं की मूल हैं।

अपरा विधा के उपासक व्यक्ति, भौतिक विषयों में आकण्ठ-मग्न, अभिमानी, दम्भी, अधर्मी, क्रूर, अनाचारी, स्वच्छन्द और अविनीत होते हैं। उनका मन, क्रोध-शोक-भय-हर्ष-विषाद-ईर्ष्या-असूया-दैन्य-मात्सर्य-काम-लोभ आदि से अभिव्याप्त रहता है। ऐसे ही व्यक्ति भूतविधा संवंधी रोगों के पात्र होते हैं[1]।

देवादिकों का अभिनिवेश-ये अदृश्य होते हैं। जिस प्रकार दर्पण आदि चमकीली वस्तुओं में प्रतिविम्ब चला जाता है एवं जिस प्रकार प्राणियों में शीत या उष्ण का प्रवेश हो जाता है, वैसे ही ग्रह, भूत, पिशाच आदि शरीर में समाविष्ट होकर, व्यक्ति के शरीर और मन को अपने वश में कर आधिपत्य जमा लेते हैं।[2] आक्रान्त व्यक्ति, आक्रान्ता ग्रह से अभिभूत होकर सर्वधा उसके ही प्रभाव में रहता है और उसकी इच्छानुसार चेष्टा करने के लिये विवश हो जाता हैं। जिस प्रकार धातु के तन्तुओं में प्रवाहित होने वाली विद्युत् अपने कार्य से जानी जाती हैं, उसी प्रकार देव आदि ग्रह, आक्रान्त व्यक्ति में अपने अभिव्यञ्जक लक्षणों को जव प्रकट करते हैं, तव उनकी जाति और प्रभाव को जाना जाता है। फिर उस ग्रह के अनुसार पूजा, वलि, उपहार या अन्य उपचार करने से ग्रह-वाधा का निराकरण होता हैं।

पिशाच, प्रेत आदि निम्नकोटि के भूतों का आक्रमण, हीन मनोवल वाले, भयासुर पुरुषों और अवलाओं में अधिकांश देखा जाता हैं। अवरसत्त्व के व्यक्ति, दीन-हीन और दुर्वलचित्त के होते हैं। वे स्वल्प रक्त की बूंद या मांस खण्ड या किसी तरह के वीभत्स दृश्य को देखकर विषादग्रस्त और विवर्ण होकर मूर्च्छित हो जाते हैं अथवा व्याकुल हो उठते हैं। आज के ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष युग में भी वनवासी-ग्रामवासी या नगरवासियों की आवादी की पचीस प्रतिशत जनता भूत-प्रेत-पिशाच की आगोस में संत्रास और घुटन की जिन्दगी जी रही हैं। ऐसे अवरसत्त्व प्राणियों का वाहुल्य हैं, जो किसी हठी और दुराग्रही

---

१. (क) अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।।
ईशा.उप. ३/१२

(ख) आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ! पतन्ति वरेक अशुची।।
गीता १६/२०

२. दर्पणादीन् यथाच्छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा। स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक्।।
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः। प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम्।।
मा. नि. उन्माद.

रोग का मूल कारण किसी ब्रह्म, प्रेत या पिशाच आदि को मानते हैं और उन ग्रहों की शान्ति के लिये पूजा, बलि, उपहार, जप, होम आदि करते हैं। पढ़े-लिखे, अनुभवी, सिद्धहस्त चिकित्सक, ऐसे रोगियों की चिकित्सा में भले ही असफल हो, किन्तु तान्त्रिक, मान्त्रिक, झाड़-फूँक की विद्या में प्रवीण भूतविधाविद्, वाह्य कर्मकाण्ड के ताम-झाम, हवन, पूजन, तोरण, पताका, स्तुति, मंगलपाठ आदि प्रक्रिया से रोगी के मन आवर्जित कर, उसकी प्रेतबाधा को दूर करने में सफल देखे जाते हैं।

इस प्रकार भूतविद्या का संवंध मनोविज्ञान, कर्मजरोग, आगन्तुक कारणजन्य रोग और अंशतः शल्यतन्त्र से है।[1]

भूतविद्या का निर्वचन-"भू" धातु से "क्त" प्रत्यय होकर भूत शब्द बनता है। शब्दकोषों के अनुसार **भूत के अर्थ** हैं-सृष्ट पदार्थ, न्याय उचित, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (पंच महाभूत) सत्य, यथार्थ, वास्तविक, भूतकाल, अतीत, गत, स्वरूप, वस्तुतत्त्व, देवयोनिविशेष और प्राणी।

भूतविद्या के सन्दर्भ में -भूत एक योनिविशेष है, जो देव गण की अवस्था को प्राप्त करके भी हिंसा की इच्छा रखते हैं[2]। एवञ्च जिस पुरुष में पुरुष की शक्ति के बढ़-चढ़कर (अपौरूषेय) ज्ञान लक्षित हो, वहाँ भूतग्रह का आक्रमण कहना चाहिये[3]।

विद्या-ज्ञानार्थक "विद्" धातु से "क्यप्" होने पर विद्या शब्द बनता है। विद्या ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। विद्या का अर्थ है-ज्ञान, तत्त्व साक्षात्कार। विद्या शक्ति है, मुक्तिदायिनी है, चैतन्य स्वरूपा हैं, देशकाल की सीमा में अनावद्ध ज्ञानराशि हैं, सनातनी है, सर्वज्ञा है और समस्त शक्तियों की शक्ति है।[4]

दश महाविद्या-१. काली २. तारा ३. षोडशी ४. भुवनेश्वरी ५. भैरवी ६. च्छिन्नमस्ता ७. धूमावती ८. मातङ्गी ९. सिद्धविद्या और १०. बगलामुखी, ये दश महाविद्यायें कही गयी हैं।[5]

---

१. महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितमयशोकलोममोहमाना, रौद्र भैरवद्विष्ट-वीभत्स-विकृत-संङ्कथास्वापिच पशुपुरुषमांसशोणितादीनि चावेक्ष्य विषाद वैवर्ण्य मूर्च्छोन्माद भ्रम प्रपतनानामन्यतममापन्नुवन्त्यथवा मरणमिति। च.वि. ८/११

२. हिंसाविहारा ये केचिद्देवभावमुपाश्रिताः। भूतानीतिकृता संज्ञा तेषां संज्ञाप्रवक्तृभिः। सु.उ. ६०/२६

३. लक्षयेज् ज्ञानविज्ञानवाक् चेष्टाबलपौरूषम्। पुरूषेऽपौरूषं यत्र तत्र भूतग्रहं वदेत्।। अ.हृ.उ. ४/१

४. क-विद्यते देशकालानवच्छिन्नत्वेन वर्तते सा विद्या।
ख- सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
ग-सा विद्या या विमुक्तये।
घ- विद्या शक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते। (प्रकीर्ण)
च-ओं सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यांच धीमहि। बुद्धिंयो नः प्रयोदयात् .... (देवी भागवत)

५. काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी। भैरवी च्छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा।।
मातङ्गी सिद्धविद्या य कथिता बगलामुखी।
एताः दश महाविद्याः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः।।

भूतविद्या की परिभाषा

१. देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, नाग, पिशाच और ग्रहात्मक भूतों का जिससे ज्ञान हो, उसे भूतविद्या कहते हैं[१]।

२. भूतों के आवेश के निराकरण के प्रकार का जिससे ज्ञान हो उसे भूतविद्या कहते हैं।[२]

३. आयुर्वेद के जिस अंग में देव, दैंत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि ग्रहों से पीड़ित चित्त वाले रोगियों की चिकित्सा के लिये शान्तिपाठ, बलिप्रदान, हवन आदि ग्रह दोपशामक क्रियाओं का वर्णन किया गया हो, उसे भूतविद्या कहते हैं[३]।

४. ग्रह संज्ञक भूतों की पहचान कराने वाली विद्या को भूतविद्या कहते है[४]।

५. ग्रह, भूत, पिशच, डाकिनी, शाकिनी आदि के निग्रह के उपाय को भूतविद्या कहते है[५]।

६. उन्माद प्रतिषेध, अपस्मार चिकित्सा और अमानुष (मनुष्य से भिन्न देवयोनि विशेष-विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत) की बाधा के प्रतिषेध को भूतविद्या कहते है[६]।

देव आदि शब्दों का निर्वचन

१. देव-दिवु "क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु, धातु से "अ" प्रत्यय करने पर देव शव्द बनता हैं। "दिवु" धातु के अर्थ-१. क्रीडा (To sport) २. विजिगीषा (To conquer) ३. व्यवहार (To traffic) ४. द्युति (To shine) ५. स्तुति (To praise) ६. मोद (To beglad) ७. मद (To gratify) ८. स्वप्न (To sleep) ६. कान्ति (To desire) १०. गति (To move) ११. दान (to give) अर्थात् क्रीडा प्रवृत्ति, विजयेच्छा, व्यवहार-चातुर्य, तेजस्विता, प्रशंसायोग्यता, प्रसन्नता, सन्तुष्टि आदि गुण देव में होने चाहिये।

मनुष्य देह में देव-मानव शरीर में देवताओं का निवास है। देव होने का लक्षण है-किन्हीं विषयों में चरमोत्कर्ष, सर्वोच्च योग्यता, सर्वोच्च ज्ञान या सर्वोच्च शक्ति अर्जित

---

१. भूतविद्या नाम-देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृनागपिशाचग्रहात्मकानि भूतानि वेत्ति अनया, इति भूतविद्या। च.सू.३०/२८ चक्र

२. भूतावेश निराकरणार्थ विद्येतिवा भूतविद्या। च.सू.३०/२८ चक्र

३. भूतविद्या नाम, देवासुरगन्धर्व यक्षरक्षः पितृपिशाच नाग ग्रहाद्युप-सृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम। सुश्रुत. सूत्र १/१२

४. ग्रहसंज्ञानि भूतानि यस्माद् वेत्त्यनया भिषक। विद्ययाभूतविद्यात्यमत एव निरुच्यते।। सु.उ.६०/२

५. ग्रहभूतपिशाचाद्याः डाकिनी शाकिनी तथा। ऐतेषां निग्रहोपायो भूतविद्या निरुच्यते।। भेलसंहिता

६. उन्मादप्रतिषेधश्च तथापस्मारिको गदः। अमानुषनिषेधश्च भूतविद्या निगद्यते।। सू.सू. ३/४१

करना। शतपथ ब्रह्मण में ज्ञान प्राप्ति को देव लक्षण कहा गया है।[1] उत्कृष्ट मनुष्यों के लिये व्यवहार में "देव" शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे-भूदेव, नरदेव, धनदेव आदि।

मानव जीवन एक यज्ञ है और इस यज्ञ में सभी इन्द्रियां प्रत्यक्षतः देव हैं, जिनकी पूजा और सन्तुष्टि आजीवन की जाती हैं। इन्द्रियों में देवों के गुण सन्निहित हैं, एतावता इन्द्रियां देव कही जाती हैं और जिस प्रकार देव "इन्द्र" के अधीन रहते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियां "आत्मा" के अधीन रहती हैं तथा "आत्मा" को इन्द्र कहते है। इन्द्र (आत्मा) का अभिव्यंजक होने के कारण "इन्द्रिय" संज्ञा अन्वर्थक हैं।[2]

सुश्रुताचार्य ने, इन्द्रियों को स्वयं आध्यात्मिक कहा है और उनमें देवों का निवास बतलाया है। जैसे बुद्धि का ब्रह्म, अहंकार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, रसना का जल (वरूण), घ्राण की पृथिवी, वाणी की अग्नि, हाथों का इन्द्र, पादों का विष्णु, गुद का मित्र और जननेन्द्रिय का प्रजापति अधिदैवता है।[3]

इसी प्रकार चरकाचार्य ने, लोक और पुरुष के साम्य का विस्तार से वर्णन किया है[4] एवं कहा है कि "पुरुष" और लोक समान है। जो लोक में ब्राह्मी विभूति है वह पुरुष में आत्मिक है इत्यादि जो व्यक्ति, लोक में फैली हुई आत्मिक विभूति को और अपने शरीर में व्याप्त लोक की विभूति को देखता है, उस आत्म-विभूति द्रष्टा एवं प्रकृति आदि के द्रष्टा व्यक्ति को शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है।[5] जब विषयों से व्यावृत्त हुआ मन आत्मा में समाहित होता है तो वह योग की स्थिति होती है और तब व्यक्ति की सत्या बुद्धि जागृत हो जाती है।

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि अथर्वा का शिर एक संरक्षित देवकोश है।[6] प्राण, मन और अन्न उस शिर की रक्षा करते हैं।[7] अथर्वा का अर्थ है-समाहित चित्तवृत्ति योगी। उसके शिर में दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका और एक जिह्वा ये सात इन्द्रिय देव प्रतिबद्ध हैं जो आत्माधिष्ठित होकर अपनी चेष्टायें करते हैं।

असुर[8]-देवद्वेषी, दुर्धर्ष, मायावी, भयङ्कर, महापराक्रमी और प्राण-हर होते हैं।

---

१. विद्वांसो हि देवाः। शत. ब्रा. ३/७/३/१०।।
२. इन्द्र आत्मा स इयते लिंङ्गयतेऽ नुमीयते येन तदिन्द्रियम्।। च.इ.१/२ चक्र
३. सुश्रुत.शा. १/७/४।।
४. चरक. शरीर. अ. ५ सम्पूर्ण द्रष्टव्य।।
५. लोके विततमात्मानं लोकं चात्ममनि पश्यतः। परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति।। च.शा. ५/२०
६. तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समाहितः। तत् प्राणों अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः।
अ.वे. १०/२/२७
७. अपगतः थर्वा मनसः चाञ्चल्यं यस्मात् सः अथर्वा।
८. अस्यन्ति (असुक्षेपणे) क्षिपन्ति देवान् इति असुराः। यद्वा न सुराः असुराः, सुरद्वेषिणः यद्वा असुषु रमन्ते, यद्वा असून् प्राणान् रान्ति आददते इति असुराः।

गन्धर्व[१]-गन्धर्व, नृत्य, गीत, वादित्र और स्त्री लम्पट होते हैं।

अप्सरा[२]- जलपरी हैं, जो जल में विहार करती है, ये स्वर्वेश्या-हैं। अप्-जल में रहने वाली विद्युत् भी अप्सरा है, जो पुरुरवा-भंयकर गर्जन करने वाले मेघ से सम्बद्ध है। उर्वशी अप्सरा का पुरुरवा पति है। इनके अकाल में चमक-दमक और गर्जन-तर्जन-नर्तन करते समय अध्ययन का निषेध किया गया है। ये अशुभ हैं।

यक्ष[३]-पूजा चाहने वाले देवयोनिविशेष है। इनका अधिपति कुबेर है।

राक्षस- इनसे जीवन को सुरक्षित बचाया जाता है। ये घातक है।

पितर- ये दिव्यपितर, ऋतुपितर और प्रेतपितर इन तीन रूपों में कहे गये हैं। इनकी जाति के अनुसार पूजा की जाती है।

पिशाच[४]- ये दुरात्मा, महाक्रोधी और आममांस भोजी होते हैं।

नाग[५]-ये पाताल (भूमिविवर) में, खण्डहर में एवं वृक्षकोट में रहते हैं।

ग्रह[६]-अपौरुषेय पराक्रम, पौरुष, ज्ञान-विज्ञान संपन्न होते हैं। ये देव आदि अवसर पाकर अवरसत्त्व मनुष्य को आक्रान्त और पीड़ित करते हैं। इनके प्रकोप को शान्त करने के लिये बलि, होम, उपहार, यज्ञ, नमस्कांर, प्रणिपात, देवदर्शन आदि उपचार दैवव्यपाश्रय चिकित्सा से एवं आवश्कयकतानुसार युक्ति व्यपाश्रय तथा सत्त्वावजय चिकित्सा की प्रक्रिया से किया जाता है एवं च आयुर्वेद के जिस अंग में देव आदि के प्रकोप जन्य रोगों का अध्ययन और निराकरण किया जाता है, उस आयुर्वेदाङ्ग को भूतविद्या कहते हैं।

भूतविद्या के क्षेत्र

सामान्य ग्रह देव आदि बालग्रह, सूर्यादिग्रह, अभिचार, अभिशाप, अभिषङ्ग से होने वाले रोग, विषमज्वर, पूर्व जन्मकृत कर्म, ऋषि आदि का तिरस्कार, भूतोत्थ उन्माद, अपस्मार, अपतन्त्रक, मद, मूर्च्छा, संन्यास आदि भूतविद्या के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। जिन लक्षणों को देखकर त्रिदोष या रज-तम के साथ सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता, उसके कारण इन्द्रियातीत भूत-प्रेत आदि माने जाते हैं।

---

१. गन्धं सौरभमर्वन्ति गच्छन्ति, इति गन्धर्वाः, "अर्वगतौ" धातु।

२. अप्सु सरन्तीति अप्सरसः।

३. यक्ष्यते पूज्यते इति यक्षः यद्वा इःकामःतस्यैवाक्षिणी अस्येति वा यक्षः।

४. पिशितमाचामन्ति ये ते पिशाचाः।

५. नगे भवाः नागाः, यद्वा न गच्छन्तीति अगाः न अगाः नागाः।

६. (क) लक्षयेज् ज्ञानविज्ञानवाक्चेष्टाबल पौरुषम्। पुरुषेऽपौरुषं यत्र तत्र भूतग्रहं वदेत्।। अ.हृ.

(ख) गुह्यानागत विज्ञानमनवस्था सहिष्णुता। क्रिया वा मानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते।।

सु. उ. ६०/४

कुछ विद्वज्जन, भूत, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, राक्षस आदि नामों से विभिन्न रोगोत्पादक जीवाणुओं का ग्रहण करते हैं, उनकी यह अवधारणा युक्तिसंगत कही जा सकती हैं, क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र में भूतोत्थ रोगों की चिकित्सा में, बलि, उपहार, नियम, प्रायश्चित्त आदि के साथ धूपन और होम का भी विधान बतलाया गया है। जिसमें गुगुल, लोहबान, राल, निम्बपत्र आदि कतिपय कृमिघ्न द्रव्यों का प्रयोग होता है। अथ च शिरोवेध, रक्तावसेच, लेप, नस्य, अञ्जन आदि का भी प्रयोग होता है, इस दृष्टि से शल्यतंत्र से भूतविद्या के निकट संबंध को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी भूतविद्या का क्षेत्र स्वतन्त्र है, जो इन्द्रजाल की तरह विविधता, विचित्रता और विलक्षणता से भरपूर है।

सामान्यतः किसी व्यक्ति में गुप्त बात का ज्ञान, गुप्त वस्तु का ज्ञान, भविष्य का ज्ञान, मन की चञ्चलता, हर्षा-तिरेक होने पर वरदान देना अथवा मनुष्य की शक्ति की सीमा से अधिक सामर्थ्य का कोई कार्य कर देना आदि चमत्कारपूर्ण परिस्थितियों को देखकर, विवश होकर भूत-प्रेत आदि का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार पूर्वोक्त विषय भूतविद्या के क्षेत्र में आते है, जिनका निदान और निराकरण करने की प्रक्रिया भूतविद्या के अन्तर्गत की जाती है। भूतविद्या का क्षेत्र अति विस्तृत है, फिर भी त्रिकालदर्शी महर्षियों ने विशेष मन-श्चिकित्सा के विशाल आयाम को भूतविद्या का क्षेत्र माना है।

युगीन सन्दर्भ में भूतविद्या का प्रयोजन

वीसवीं सदी के इस वर्तमान अन्तिम दशक में विश्व मानव, जिस कोलाहलपूर्ण अशान्त वातावरण में जी रहा है, वह न तो केवल उद्वेजक और क्षोभजनक है, अपितु जीवन की मूलभूत समस्याओं की सीमा को सुरसा के मुख की तरह फैलाता चला जा रहा है। यह स्वाभाविक है, कि निजी या सामाजिक किंवा राष्ट्रीय अथवा विश्वजनीन समस्याओं के जाल में आवद्ध मानव-मन इस त्रास और घुटन की जिन्दगी के संत्रास से मुक्ति पाने के लिये, आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये यत्नशील हो। समस्त संसार का मानव, एक आडम्बरपूर्ण, कृत्रिम चकाचौंध, अफरा-तफरी की जीवनशैली की ओर द्रुतगति से बढ़ रहा है। प्रमाद, विजयाभिलाष, लोभ, मोह, असहिष्णुता आदि की विभीषिका का, अपनी आसुरी शक्ति से मानव मन को उद्वेलित कर रही है।

दुर्भाग्यवश परार्थ में स्वार्थ का सन्दर्शन करने वाला, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' का उपदेष्टा भारतवर्ष भी संसार के अन्य विकसित देशों की तरह बड़ी तेजी से अपनी संस्कृति की वीणा की झंकार सुनने से विरत हो गया है और अपनी गौरवपूर्ण सांस्कृतिक विरासत की अवहेलना कर, आधुनिकता के फैशन में अग्रणी बनने का प्रयास कर रहा है। जीवन के शाश्वत मूल्य उपेक्षित हो रहे हैं। परिवार विच्छिन्न हो

रहे हैं, भाई-चारा बनावटी दिखावा मात्र है, सहानुभूति और हमदर्दी शब्दों तक सीमित हैं। चौर्य, परोपघात, छद्म, प्रवञ्चन, पण्योपघात (Black marketing) विश्वासघात और धोखाधड़ी की पटुता बुद्धिमत्ता के परिचायक हो गये हैं। किसी भी प्रकार निम्नतम श्रेणी के उपाय से भी धन-ऐश्वर्य, सुख-सुविधा का अम्बार खड़ा करना ही जीवन का लक्ष्य बन गया है। भ्रष्टाचार ने शिष्टाचार की जगह छीन ली है, शराब कुटीर-उद्योग बन गया है। जो लोग उजाले में छिपे रहते थे, आज समाज में उनकी खासी अहमियत और दबदबा है। वाञ्छनीय शिष्टजन किंकर्तव्यविमूढ हो गये हैं, उनकी अकर्मण्यता और अवाञ्छनीय तत्त्वों की सक्रियता से देश को गहरा आघात लग रहा है। यदि यही स्थिति रही तो सारा देश और शासन अराजक तत्वों का चारागाह बन जायेगा।

अस्तु, राष्ट्रीयता, एकता, अखण्डता और जन-जन के मन में अपनी संस्कृति के प्रति लगाव तथा उकसाव के लिये मानसिक धरातल को उदात्त और परिष्कृत बनाने के लिये, सत्त्वगुण की अभिवृद्धि के लिये, भूतविद्या-मानस शास्त्र की आलोकशिखा को प्रदीप्त कर, आचार रसायन, स्वस्थवृत्त, दैवव्यपाश्रय, धर्मानुस्यूत मानसोपचार-प्रक्रिया का विकास करना नितरां अपेक्षित है। नागरिकता की गंगा को, भारत के हिमगिरि से पुनः उच्छरित करने के लिये, अभिनव भगीरथ-अभियान चलाकर, भूतविद्या को ऊर्जा देना मानवीय संवेदना की सामयिक आवश्यकता है।

भूतविद्या के सामान्य कारण

(१) मुख्यतः रज और तम, ये मानव दोष और उनके विकार-काम-क्रोध, भय-लोभ-ईर्ष्या-शोक-चिन्ता आदि तथा राजस एवं तामस प्रकृतियां मूल कारण हैं। (२) देव, असुर, गन्धर्व आदि (३) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिमाण (४) हीनसत्त्वता (५) चित्तवृत्ति का अनियन्त्रण (६) आहार-विहार-आचार की अशुचिता (७) परिग्रह-काम-क्रोध-अंहकार आदि मानसभाव (८) सुखात्मक या दुःखात्मक भावना का अतिरेक (९) मन की अव्यवस्थितता (१०) आनुवंशिकता (११) वातावरण (१२) प्रेम में असफल होना (१३) अत्यधिक संवेदनशीलता (Excessive Sensitivity) (१४) प्रसवकाल (१५) अन्तः स्रावी ग्रन्थियों की विकृति (१६) सामाजिक और सांस्कृतिक आचार एवं परम्परा के निर्वाह की अक्षमता (१७) व्यक्तिगत कारण-जैसे स्त्रियों में युवावस्था में विवाह न होना, पति का अस्नेह या नपुंसकता, पारिवारिक कलह आदि शरीर या मन का अभिघात आदि और (१८) शारीरिक रोग भूतविद्या संबंधी रोगों को जन्म देते है।

भूतविद्या सम्बद्ध रोगों के सामान्य लक्षण

(१) भय-संत्रास-असहिष्णुता (२) मनोविभ्रंश-बुद्धिभ्रंश-संज्ञाविभ्रंश (३) इच्छा-स्मृति-शील-चेष्टा आदि का विभ्रंश (४) व्यामोह (५) विभ्रम (६) कृत्रिम मानस

कष्ट होना (७) बालकों में स्कन्दादिग्रहों के लक्षण (८) भूतोन्माद देव-असुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पितृ-पिशाच-नाग के लक्षणों का आवेशानुसार लक्षण (६) अपस्मार (१०) अतत्त्वाभिनिवेश के लक्षण (११) योषापस्मार लक्षण (१२) गदोद्वेग (१३) मद-मूर्च्छा-संन्यास आदि (१४) अकारण प्राण नाशका भय आदि लक्षण होते हैं।

भूतोन्माद के विशिष्ट लक्षण

(१) देवजुष्ट, पराक्रम-वाणी-चेष्टा-ज्ञान-पवित्रता आदि की दृष्टि से मानवोत्तर आचरण करता है, तेजस्वी एवं वरदाता होता है। (२) असुरजुष्ट, असन्तुष्ट, सर्वत्र, दोषदर्शी, नास्तिक और दुष्ट स्वभाव का होता है। (३) गन्धर्वजुष्ट, प्रहृष्ट, शोभन आचारशील, सङ्गीत-गन्ध-माल्यप्रिय होता है। (४) यक्षजुष्ट, रक्तनेत्र, रक्तवस्त्रधारी, तेजस्वी और वरप्रदाता होता है। (५) पितृजुष्ट, शान्त, मांस, तिल-गुड़ या खीर पसन्द करने वाला होता है। (६) नागजुष्ट, भूमि पर सर्पवत् रेंगता है, महाक्रोधी और गुड़-मधु या पायस चाहता है। (७) राक्षसजुष्ट, मांसाभिलाषी, निष्ठुर, क्रोधी, बलशाली और निशा भ्रमणशील होता है। (८) पिशाचजुष्ट, अतिचपल, बहुमोक्ता, उद्विग्न, निर्जनप्रिय और निशा विहारी होता है।[1]

चिकित्सा सूत्र

(१) सर्वविध ग्रहबाधा में, परिषेक, अभ्यङ्ग, घृतप्रयोग, खीर-प्रयोग, धूपन, प्रदेह औषधिधारण, मणिबन्धन, बलिनिर्हरणं, रक्षामंत्र प्रयोग, स्नानादि तथा उत्सादन, पूजा, होम और दान, उन ग्रहों के अनुसार करने चाहिये। (२) आगन्तुक उन्माद में, आवश्यकतानुसार संशोधन या संशमन उपचार करें। (३) अत्युद्धत आचरण में तीक्ष्ण नस्य और अञ्जन का प्रयोग करे। (४) मन-बुद्धि और शरीर का संतर्जन तथा ताडन करना चाहिये। (५) अधिक अविनयपूर्ण आचरण की स्थिति में, रुग्ण को पट्टे से बाधकर, हथियार आदि घातक वस्तुएं हटाकर, किसी अन्धकारपूर्ण घर में बंद करे। उसे वाणी से धमकी दे, त्रास दे या सान्त्वना दे या प्रसन्न करे अथवा आश्चर्यजनक वार्ता करे। मन-बुद्धि-संज्ञा एवं स्मृति के प्रलोभन के लिये प्रदेह, अभ्यङ्ग स्नान और दुग्धपान करावे। (६) काम-शोक-भय-क्रोध-हर्ष-ईर्ष्या या लोभजन्य विकार में, इन भावों के विपरीत भावों को उदीप्तकर, परस्परप्रतिद्वन्दिता उत्पन्न कर उपचार करें। (७) रोग के कारण के विपरीत उपचार करें। (८) निरावरण वातजविकार में, स्नेहपान करावे और आवृत्त मार्ग में स्नेह मृदु शोधन दे। (६) पित्तज में स्नेहन और विरेचन तथा कफज में स्नेहन स्वेदन और वमन का प्रयोग करे।

---

१. अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः। उन्मादकालो नियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्माद मुदाहरेत्तम्।। च.चि. ६/१७

दोषाधिक्य में वमन, विरेचन, निरुह, अनुवासन और नस्य का बार-बार प्रयोग करे। (१०) सुझाव, सम्मोहन, प्रोत्साहन, पर्यावरण परिवर्तन और विश्राम करावे। (११) दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और मुख्य रूप से सत्वावजय चिकित्सा करे। (१२) उपायाभिप्लुता चिकित्सा में भय-हर्ष-बन्धन या संवाहन आदि करावे। (१३) मान्त्रिकी चिकित्सा में प्रेतबाधा निवारणार्थ मंत्रजप आदि करावें। (१४) ग्रहबाधा निवारणार्थ वलि, उपहार, होम आदि करे और (१५) रोगी के शरीरिक-मानसिक दोष तथा आगन्तुक कारण के अनुसार वाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग करें।

औषध चिकित्सा

एकल औषधों में, शंखपुष्पी, ज्योतिष्मती, मण्डूकपर्णी, वचा, पारसीक यवानी, तगर, दुरालभा, शतावर, आमलकी, शतपुष्पा, पिप्पली, जातीफल, ब्राह्मी, दालचीनी, कर्पूर, विधारा, अनार, हरीतकी, रक्तचन्दन, द्राक्षा, सारिवा, रुद्राक्ष, असगन्ध आदि प्रमुख है।

सिद्ध प्रयोग

सारस्वत चूर्ण, कल्याण चूंर्ण, वचा चूर्ण, अश्वगन्धाचूर्ण, सर्पगन्धा घनवटी, इन्द्रब्रह्मवटी, उन्मादमार्जनीवटी, भूतभैरव रस, उन्माद गज केशरी, ब्राह्मीवटी, स्मृतिसागर रस, वातकुलान्तक, चतुर्भुज, वृहद्वातचिन्तामणि, अश्वगन्धारिष्ट, सारस्वतारिष्ट, दशमूलारिष्ट, ब्राह्मी स्वरस, कल्याणघृत, महापंचगव्यघृत, ब्राह्मीघृत, माहेश्वर धूप, गन्धराज तेल, कृष्णाघंजन, कट् कलादिनस्य, सिद्धार्थ अगद आदि का वैध के निर्देशानुसार प्रयोग करें।

अष्टम्-अध्याय

रस-शास्त्र का इतिहास

रसशास्त्र आयुर्वेद का महत्वपूर्ण अंग है। इसका अपना इतिहास है। जिसे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ:-

रस-शास्त्र का स्वरूप रसतंत्र के रूप में विकसित हुआ। इसके उपदेशक प्रथम भिषक् शिव या रूद्र थे। वैदिक काल में यह तंत्र के रूप में ही प्रचरिंत हुआ।

वैदिकं साहित्य में "रूद्रश्च प्रथमोभिषक" ऐसा पाते है। इसका उपदेश महादेव ने पार्वती को दिया। पार्वती ने सम्प्रदाय क्रम से यह ज्ञान उपदेश गणेश, कार्तिकेय, भरत, मंयान, भैरव, वीरभद्र, वृहस्पति, शुक्राचार्य व वशिष्ठ आदि को दिया। कुछ विद्वान् सिद्ध योगी परम्परा क्रम से चौरासी सिद्धों को मानते है। रसशास्त्र साहित्य में इसकी चर्चा की गयी है। रसरत्न समुच्चय में २७ सिद्धों का नामोल्लेख है, इसके बाद मानव रस सिद्धों का नाम भी आता है। इनके कई आधार ग्रन्थ हैं। कई सम्प्रदाय के योगियों ने भी इसके विकास में हाथ बढ़ाया है। बौद्ध सम्प्रदाय के विकास में शैव का अधिक हाथ रहा है।

रस-साहित्य में शिव, महेश, शंकर आदि नामों से शिव का एवं भगवती, महादेवी, देवेशि, सुरशानी, उमा, पार्वती नामों से उमा का उल्लेख है।

अन्य रस-सिद्ध-शिव सम्प्रदाय के मतानुसार २७ रससिद्ध ८४ रससिद्धों को रस का ज्ञान हुआ और उन्होंने पृथक्-पृथक् रसग्रन्थों को लिखा है:-

रसायन सिद्धान्त

२७ रस-सिद्धों द्वारा लिखित साहित्य रसरत्न समुच्चय में २७ रस-सिद्धों का नामोल्लेख है। रसरत्नाकर के वादिखंड में इन २७ रस-सिद्धों का उल्लेख है। २७ रस-सिद्धों के नाम-(१) आनन्दकन्द, (२) रसेश्वर दर्शन, (३) हठयोग प्रदीपिका, (४) रसेन्द्र मंगल, (५) वर्ण रत्नाकर, (६) राजतरंगिणी, (७) रस-रत्न प्रदीप,-इन सात ग्रंथों में है। इनके अतिरिक्त इन ग्रंथों में ८४ रस-सिद्ध योगियों का भी वर्णन मिलता है।

नाथ सम्प्रदाय

गोरक्षनाथ, आदिनाथ, नित्यनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ को रस-प्रवर्तक सिद्ध मानते हैं। इसका पूर्ण वर्णन गोरक्षसंहिता में है। इसके अतिरिक्त इसमें कई रसतन्त्र लेखक रससिद्धों का भी विवरण है। जैसे-

(१) नृपति सोमदेव-रसेन्द्र चूड़ामणि
(२) श्री गोविन्दचार्य-रससार
(३) श्री यशोधर-रसप्रकाश
(४) श्री सुधाकर वाग्भट, रसवाग्भट-रसरत्नसमुच्चय
(५) श्री ढुंढिनाथ-रसेन्द्र चिन्तामणि
(६) श्री शालिनाथ-रस मंजरी
(७) श्री सुरेश्वर-लौह सर्वस्व
(८) श्री गोपालकृष्ण-रसेन्द्रसार संग्रह
(९) श्री विन्दु-रसपद्धति
(१०) श्री कायस्थ चामुण्ड-रस संकेत कलिका
(११) श्री माधव उपाध्याय-आयुर्वेद प्रकाश
(१२) श्री चूड़ामणि वैद्य-रस कामधेनु।

२७ रस सिद्ध के ये वे लेखक है, जिनके ग्रंथ उपलब्ध है और जो अपने से पूर्व के रस-ग्रंथों को देखकर लिखे गये है। (१) आदिम, (२) चन्द्रसेन, (३) लंकेश, (४) विशारद, (५) कपाली, (६) मत्त, (७) मांडव्य, (८) भास्कर, (९) सूरसेन, (१०) रत्नकोण, (११) शम्भु, (१२) तात्विक, (१३) नरवाहन, (१४) इन्द्रद, (१५) गोमुल, (१६) कपिल, (१७) योनि, (१८) नागार्जुन, (१९) सुरानन्द, (२०) नागवोधि, (२१) यधोधन, (२२) खण्ड, (२३) कापालिक, (२४) ब्रह्म, (२५) गोविन्दाचार्य, (२६) लम्पट, (२७) हरि।

इनके अतिरिक्त ८४ रस-सिद्धों के नाम और उनके तंत्र रस-शास्त्र के आधार पर हैं।

काल के आधार

इन रस सिद्धों के अवतरण के काल पर विचार करते समय निम्न बातें मिलती हैं। कालक्रमानुसार रस-सिद्धों के चार भेद कर सकते हैं। (१) देवरस सिद्ध (२) ऋषिरस सिद्ध (३) दानव रससिद्ध (४) मानव रससिद्ध।

देवरस सिद्ध

यद्यपि देवरस सिद्ध में शिव, महेश, माहेश्वर, गणेश, कार्तिकेय, उमा, नन्दी, भैरव, मंथान भैरव का नाम आता हैं, किन्तु रस के योगों में अश्विनी कुमार, ब्रह्मा, विष्णु, गिरिजा, रूद्र एवं हर का भी नाम आता है। इससे ज्ञात होता है कि केवल शिव सम्प्रदाय ही नहीं प्रत्युत देवगण भी रस विद्या का ज्ञान रखते तथा रस-चिकित्सा करते थे। चरक संहितानुसार त्रेता युग में महेश्वर ने दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस किया था और उसी से

ज्वर का उदभव हुआ था। कलियुग का प्रारम्भ महाभारत के युद्ध के वाद हुआ हैं। अतः महाभारत से यह पांच सहस्र वर्ष पूर्व और इस्वी सन् से कई सहस्र वर्ष पूर्व का हैं।

दुंदुकनाथ कृत रसेन्द्र चिन्तामणि व अन्य रस ग्रंथानुसार रस सिद्धों के योग निम्नलिखित है।

(१) अश्विनी कुमार - गुड़ पिप्पली (व. ३०६) रसेन्द्रसार संग्रह।

(२) महादेव योगेश्वर रस (६-२०३) रसेन्द्र २-३३ व ३७ रसरत्न समुच्चय व भेषज्य रत्नावली।

(३) ब्रह्मा - सूतिकाघ्न रस - र.चि. मणिक - ३५५, ३.३-१३।

(४) विष्णु - बृहत् श्रृंगाराभ्ररास - २-१२-६७।

(५) रूद्र - रूद्ररस-ग्रहणी - २.५-४७।

(६) हर - शूलराज लौह-शूल - २-२६-२८।

(७) चतुर्भज ब्रह्मा - चतुर्भज रस - वातव्याधि।

(८) नारायण - अग्नि कुमार रस।

(९) गिरिजा -

(१०) भानु - परहित रस (कुष्ठ में)

(११) पिनाकी - ब्रजक्षार ६-३१४, रसेन्द्र में २०-४०-८३।

(१२) चन्द्रमा - चन्द्रप्रभागुटिका ६३२५।

(१३) धन्वन्तरि - सदयोरसः वारिशोषण रस ६३२८, मृत्युंजय लौह- ६.३७७, रसेन्द्र में रसेन्द्र रस - २-४०-१०४।

(१४) नारद - लक्ष्मीविलास रस ८-४५, रसेन्द्र सा.सं.- २-२५, महालक्ष्मी विलास रसेन्द्र २४-२६।

उपरोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता हैं कि अधिकांश देवकुल रसशास्त्र का ज्ञाता था। यह ईस्वी सन् से कई हजार वर्ष पूर्व का विषय हैं।

दैत्य रस सिद्ध

शुक्राचार्य व वाणासुर दो इसके ज्ञाता हैं। वाणासुर का वर्णन त्रेतायुग में आया हैं। वाणासुर रस सिद्ध था। राजा ययाति का विवाह शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से हुआ था। शुक्राचार्य ने 'रसावलोक' छह हजार श्लोक का ग्रन्थ लिखा था। इसका उल्लेख गोरक्ष संहिता और आनन्दकन्द में हैं। वाणासुर सिद्धान्त- वाणासुर ने लिखा था जिसका वर्णन सर्वस्व व रसरत्न प्रदीप में हैं।

मुनि रससिद्ध

इसमें वशिष्ठ व व्याडि रससिद्ध थे। चरक के ऋषि मंडली प्रकरण में वशिष्ठ का नाम है। किन्तु, वह वशिष्ठ रस सिद्ध वशिष्ठ हैं या नहीं, कहना कठिन है। यह वशिष्ठ सिद्ध नागार्जुन के गुरु थे। इसका वर्णन कक्षपुट में स्वयं नागार्जुन ने किया है।

शास्त्रं वशिष्ठ माण्डव्यं गुरुपार्श्वे मयाश्रुतम्।

माण्डव्य-इन्होंने माण्डव्य सिद्धान्त लिखा था। नागार्जुन ने इसे स्पष्ट रूप से लिखा है।

पुनरन्यद प्रवक्ष्यामि माण्डव्येन यथा कृतम।

यह आप्त वचन कवीन्द्रांचार्य द्वारा बड़ौदा की प्रकाशित सूची पृष्ठ-१७ क्रमांक ९८० पर है।

मानव रससिद्धों में भिन्न-भिन्न काल में हुये योगियों, सिद्धो, नृपों एवं आज के उपलब्ध रसायनाचार्यो का विवरण है। ये रसायनाचार्य इस्वी सन् से कई सौ वर्ष पूर्व से लेकर ७०० से १००० वर्ष पूर्व से १३ वीं शताब्दी तक के हैं और इनका अस्तित्व वर्तमान काल में भी है। इस्वी सन् से पूर्व ५०० वर्ष की अवधि में चन्द्रगुप्त के राज्य में जितने भी मंत्री थे। उनमें रसविद्, स्वर्ण भण्डार का अध्यक्ष भी एक था। रसविद्ध स्वर्ण बनाने, रस-ज्ञान करने तथा विभिन्न संस्कार करने में रसायनाचार्यो को ५०० से लेकर एक सहस्र वर्ष तक का समय लगा होगा। जिस समय किमियागिरी का प्रकाश किसी भी देश में नहीं हुआ था, उस समय भारत में चन्द्रगुप्त के राज्य में रस-विद्ध स्वर्ण का भण्डार था, ऐसा चाणक्य का कथन है।

रसशास्त्र का लब्ध साहित्य व काल

रस साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीन साहित्यावलोकन आवश्यक है। संस्कृत वाङ्मय को निम्न रूप में विभाजित करके विचार करने पर हम कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। रसतंत्र एक पृथक तंत्र है। यह एक ऐसा सुश्रृंखल तंत्र है कि इसके प्रभाव एवं आकर्षण में सामान्य से लेकर विशिष्ट साहित्य तक आ गये थे।

१. वैदिक काल, २. संहिता काल, ३. दार्शनिक काल, ४. पौराणिक काल, ५. संग्रह काल, ६. प्राचीन काल, ७. मध्य काल, ८. वर्तमान काल।

वैदिक काल

इस काल के उपलब्ध साहित्य में वेद-उपनिषद, ब्राह्मण आरण्यक एवं गृह्य सूत्रादि का समावेश है। इनमें रसशास्त्रीय विवरण यत्र-तत्र मिलते हैं। वैदिक साहित्य में रसविद्या

में प्रयुक्त होने वाले स्वर्ण, रजत, ताम्र, वंग-नाग व उपधातुओं में अंजन, ताल-शिला, मणि-माणिक्य, शंख, प्रवाल एवं मुक्ता का विवरण मिलता है। इनका प्रयोग वाह्य एवं आभ्यंतर दोनों ही रूपों में होता है। इस काल के साहित्य में लोह-कुश निर्माण-विधि, कृत्रिम लौह पाद या अंग बनाने में तथा दाक्षियणी निर्माण व हिरण्य प्रयोग विधि का वर्णन हैं।

अथर्ववेद काण्ड[1] एक सूक्त ३५ में हिरण्य की विशेषता का विवरण है। इसे रसशास्त्री वनाते थे और इनका धारण व सेवन किया जाता था। यजुर्वेद[2] ३४-५० के अनुसार स्वर्ण खानों से निकलता था और यह आयुवर्धक कान्तिवर्धक, शक्तिवर्धक तथा विजयप्रद माना जाता था। इस काल में स्वर्ण खानों में निकलता था। अतः स्पष्ट है कि यह इस्वी सन् से कई हजार वर्ष पूर्व की वात है कि वैदिक काल में विज्ञान अपनी चरम सीमा पर था। इस काल में हुए युद्ध में हम त्रिस्कंधवज्र का प्रयोग पाते हैं। अथर्व का. ११, सूक्त ३ मंत्र ४ से ८ में अन्न के विवरण में हम उनमें प्राप्त धात्वंश का भी वर्णन पाते हैं।

> **श्यातमयोऽस्य मांसानि लोहितं अस्य लोहितम्।**
> **त्रपु भस्म हरितं वर्ण पुष्करमस्य गंधः।।** अथ. ११-३-४

शरीरधारक विराठ अन्न के मांसल भाग में लोह का अंश है। इसके रक्तांश में लोह विद्यमान है। हरीतिमा त्रपुष (वंग) की हैं। इनसे वने धान्य का स्वरूप सुन्दर, हरा और सुगन्धमय है। अंजन का वर्णन ज्वर चिकित्सा में है। ऋग्वेद में 'अयस' लोह का नाम है। युद्ध में विश्पला के पैर कटने पर अश्विनीकुमारों ने आयसी जांघ लगाई थी। यजुर्वेद में अश्म (पत्थर) मृत्तिका, सिकता, वनस्पति, हिरण्य, लोह, त्रपु आदि का वर्णन है। (वा.यजु. अ. १८-३) ब्राह्मण साहित्य में स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह एवं शीशे का वर्णन है। उपनिषदों में कठोपनिषद तथा छान्दोग्योपनिषद में हिरण्य व अयस का प्रसंग आया है। क. १-१-१३। छां. ६-१-५

स्मृति

मनुस्मृति-याज्ञवक्य स्मृति में वच्चा पैदा होने पर स्वर्ण भस्म व मधु चटाने का विधान है। मनु.अ. ६-७० पुत्र के जातक कर्म में स्वर्ण के साथ मणि-मुक्ता प्रयोग करने की चर्चा है। मनुस्मृति में चोरी करने पर दण्ड देने का भी प्रावधान है।

---

१. यदावध्नान्दाक्षायणं हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्य माना। तत्ते तध्वाम्यायुषे वर्चसे वत्वायदीर्घयुत्वायशत शारदायी।

२. आयुष्यं वर्चस्यं रायस्यपि मोम्दिदम्। इदं हिरण्यं वर्चस्वंण जैत्रा या विशताद्धुमान्।। वा.यु.जु. ३२ ५०

मानव-सभ्यता के प्रसारक तथा संस्कार व संस्कृति के उदघोषक अनेकों गुह्य सूत्रों (अश्वलायन, पारस्कर, गोभिल, शौनक, लोमाक्षि, खादिर व दाक्षायण सूत्रों में) सर्वत्र जातकर्म में बच्चा पैदा होते ही स्वर्ण व मधु चटाने का विधान है। अस्तु, बिना स्वर्ण भस्म बनाये चटाना सम्भव नहीं है।

पुराणो में-प्रत्येक पुराण में स्वर्ण, मणि एवं रत्न का प्रसंग आया है। इसमें उनके धारण व पहचान की विधि भी बतलाई गयी है। गरुड़ पुराण के अ. ६८ श्लोक ९-१० में तथा अग्नि पुराण व भविष्य पुराण में रस-शास्त्र के अन्तर्गत रत्न-मणि का सुन्दर वर्णन किया गया है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र व रसायन विज्ञान

इनमें इस्वी सन् से ४०० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त के काल में नीति शास्त्र के अंतर्गत रसविद्ध स्वर्ण भण्डार का विवरण मिलता है। स्वर्ण, रजत, ताम्रादि किस तरह की भूमि में मिलते हैं, इसका चाणक्य ने विस्तार से वर्णन किया है। जब सारा पाश्चात्य जगत् कीमियागिरी की खोज में लगा हुआ था, उस समय भी भारत में रसविद्ध स्वर्ण भण्डार था। (को.अ.शा. २-१२) (१३-१४), (२१३ ३१) । खान्यध्यक्षः शंख वज्रमणि मुक्ता प्रवाल वार-कर्मा-न्नान् कारयेत्। (२-१२-३४ ३४ से ३७)

स्पष्ट हैं कि रसशास्त्र का प्रखर प्रकाश इस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व भारतीय गगन में भासमान था।

संहिता काल

चरक व सुश्रुत संहिताओं में हम धातु, उपधातु[1] रस-उपरस तथा महारसों का प्रयोग करते हैं। इन शास्त्रों में विष-उपविष रत्नादि के प्रयोगों का भी वर्णन है। यद्यपि इस काल में वानस्पतिक चिकित्सा का प्राधान्य था। फिर भी रस-शास्त्रीय द्रव्यों का प्रयोग काफी प्रचालित था। सुश्रुत लोह विज्ञान के ज्ञाता थे। इसका लौह सर्वस्व में वर्णन हैं।

चरक व सुश्रुत ने पाण्डुरोग में नवायस लोह का प्रयोग लिखा हैं। इसका विस्तृत विवरण भारतीय रस-शास्त्र में हमें मिलता हैं।

वेदों, संहिताओं, पुराणों व इतिहास के काल इस्वी सन् से कई हजार वर्ष पूर्व का हैं। इस काल को रसशास्त्र का काल कह सकते हैं। रस विद्या के प्रसार व प्रचार में सैकड़ों वर्ष लगे होगें।

---

१. रसोत्तम-च.चि. ७-७। च.चि २५-१७७, सुश्रुत-चि. २५-२६। अष्टांग संग्रह- उत्तर स्थान अ. ४९-२४५ व अ. अ. ३९-१६२ पर पारद का विवरण हैं। स्वर्ण, रजत, ताम्र, ताल, शिला, गन्धक आदि का प्रयोग च.सू.अ. ३ में व अन्य स्थानो पर दर्शाया गया हैं।

चरक ने सूत्र स्थान के तीसरे अध्याय में कुष्ठ, पामा रक्तदोष आदि पर चर्चा की है और इनके उपचारार्थ गन्धक, हरताल, मेनशिल आदि के प्रयोग का निर्देश दिया है। रसचिकित्सा का उस काल में काफी प्रभाव था और यही कारण है। कि चरक ने सूत्र स्थान यत्र-तत्र इसकी चर्चा की है। नेत्र रोग में प्रवाल मणि-मुक्ता का अंजन रूप में प्रयोग लिखा हैं। इसी प्रकार पाण्डुरोग में लोहराज या (स्वरज भस्म) का व्यवहार श्रेयस्कर माना गया है।

रस-साहित्य

रस-तंत्र में जो साहित्य मिलते हैं वे बहुत विशाल हैं, परन्तु उपलब्ध साहित्यों की संख्या ३०० से कुछ अधिक है। इसका कारण यह है कि आततातियों ने हमारे बहुत-से-साहित्यों को नष्ट कर दिया। यवनों के आक्रमण और साम्राज्य बनने के काल में इनके द्वारा बहुत सी पुस्तके जला डालीं गयीं। बचे-खुचे का अंग्रेजों ने संग्रह किया और इन्हें इण्डिया लाइब्रेरी-लन्दन में जमा दिया। उपलब्ध प्राचीन साहित्यों में इस्वी सन् से ३०० वर्ष पूर्व से १३वीं शताब्दी के बीच के ही ग्रन्थ उपलब्ध ग्रंन्थों के नाम व काल हम नीचे दे रहे हैं।

प्राचीनकालीन ग्रंथ - १. शिवागम तंत्र, २. शोभनतंत्र, ३. शैव तंत्र, ४. यामलतंत्र, ५. शक्रतंत्र, ६. मोलतंत्र, ७. डामरतंत्र, ८. स्वच्छन्दतंत्र, ६. नाकुल तंत्र, १०. वाकुल तंत्र, ११. कोल तंत्र, १२. काकचण्डीश्वर तंत्र, १३. हरमेखला तंत्र।

प्राचीनकाल- देवरस सिद्ध प्रधानकाल है। इसके प्रचारक व प्रसारक देवरस सिद्ध, दानव रस सिद्ध व मानवरस सिद्ध है। इनके रचित विपुल साहित्यों में उपलब्ध साहित्य निम्न है-१. रसार्णव, २. रसहृदय, ३. रसोपनिषद, ४. कक्षपुट, ५. आनन्दकन्द, ६. गोरक्षा संहिता, ७. रत्नाकर, ८. रससार।

मध्यकालीन- इस काल में रामराण नृप से लेकर १६वीं शताब्दी तक ग्रंथ उपलब्ध है और उनके नाम इस प्रकार है -

१. रसरत्न प्रदीप, २. रसेन्द्र चूड़ामणि, ३. रसरत्न-समुच्चय, ४. रसेन्द्र-चिन्तामणि, ५. रस प्रकाश सुधाकर, ६. रस मंजरी, ७. रसेन्द्रसार संग्रह, ८. रस संग्रह कलिका, ६. रस पद्धति, १०. आयुर्वेद प्रकाश, ११. रस कौमुदी, १२. रस-कामधेनु।

संग्रहकालीन- इनमें बीसवीं शताब्दी से वर्तमान समय तक के ग्रन्थ हैं। मौलिक ग्रन्थ होते हुए भी उपर्युक्त ग्रन्थों से ये ग्रन्थ संग्रहीत किये गये हैं।

१. रसराज सुन्दर - श्री दत्तराम, २. रसायनसार-श्री श्यामसुन्दराचार्य, ३. पारद संहिता-श्री निरंजन प्रसाद, ४. रसाभृत - श्री यादवजी त्रिकमणी, ५. रसतरंगिणी-

श्री सदानन्द, ६. रसजल निधि-श्री भूदेव मुखोपाध्याय, ७. रसरत्न दीपिका-श्री वागीश्वर भट्टाचार्य, ८. रसयोग सागर -श्री हरिप्रपन्न शास्त्री, ९. रसचिकित्सा-श्री प्रभाकर चटर्जी, १०. रसोद्धारतंत्र-श्री जीवराम कालिदास, ११. रसमित्र-श्री त्रयम्बक नाथजी, १२. रससिद्ध विमर्श-श्री सोमदेव सारस्वत, १३. रसशास्त्र विज्ञान -श्री सोमदेव सारस्वत, १४. क्रियात्मक औषधि निर्माण-श्री विश्वनाथ द्विवेदी, १५. भारतीय रसशास्त्र-श्री विश्वनाथ द्विवेदी, १६. रसशास्त्र-श्री बद्रीनाथ पाण्डेय।

कुछ कालबद्ध साहित्य

इस्वी सन् से पूर्व के साहित्य

१. शिवागमतंत्र - शिवरचित, २. रसोपनिषद-उमारचित, ३. महादेव रसतंत्र ४. महादमुत रसतंत्र वीरभद्र, ५. रसचन्द्रतंत्र-बृहस्पति, ६. रसोदयतंत्र-श्री विनायक, ७. रसाकुशतंत्र - चन्द्ररचित, ८. रसावलोकन-श्री शुक्राचार्य।

तीसरी शताब्दी के साहित्य

१. नागार्जुन द्वितीय का साहित्य।
२. कुंणिका तंत्र - नागार्जुन।

नोटः बीच के समय का साहित्य अप्राप्य हैं।

आठवीं शताब्दी के साहित्य

१. रस रत्नाकर - नागार्जुन द्वितीय।
२. कक्षपुट - नागार्जुन द्वितीय।
३. रसेन्द्रमगंल - नागार्जुन द्वितीय।

नवीं शताब्दी के साहित्य

१. आयुर्वेद रसायन - भोज राज।
२. दत्तात्रेय तंत्र - दत्तात्रेय।
३. रससिद्धि शास्त्र - व्याडी।

दसवीं शताब्दी के साहित्य

१. रसोपनिषद - सोमनाथ।
२. रसहृदयतंत्र - गोविन्द मिश्र।

ग्यारहवीं शताब्दी के साहित्य

१. चक्रदत्त - चक्रपाणिदत्त।
२. वासवराजीय - वसवराज।
३. चर्पटी सिद्धान्त - चर्पटीनाथ।

बारहवीं शताब्दी के साहित्य

१. रसेन्द्र चूड़ामणि - सोमदेव।
२. लौहसर्वस्व - सुरेश्वर।
३. रसार्णव - भैरवानन्द योगी।
४. रसचिन्तामणि - अनन्तदेव सूर।
५. आनन्दकर - महाभरैव।
६. काकचण्डीश्वर - काकचण्डीश्वरी।
७. गोरक्ष संहिता - गोरक्षनाथ।
८. रसचिन्तामणि - अनन्तदेव सूरि।

तेरहवीं शताब्दी के साहित्य

१. योगतरंगिणी - त्रिमल्ल भटट
२. रसपद्धति - विन्दुमाधव
३. रसराजलक्ष्मी - रामेश्वर भट्ट
४. रसेन्द्र चिन्तामणि - दुंदकनाथ
५. रसयोग मुक्तावली - नरहरिभट्ट
६. रसाध्याय - कंकाली शिष्य

चौदहवीं शताब्दी के साहित्य

१. धातुरत्नमाला - देवदत्त
२. रसेन्द्र चिन्तामणि - भगवद्देव सूरि
३. रसप्रकाश सुधाकर - यशोधर
४. रसरत्न समुच्चय - रसवाग्भट्ट
५. रसराजलक्ष्मी - विष्णुदत्त
६. रसालंकार - रामेश्वरभट्ट
७. रसेन्द्रचिन्ताभणि दुंढुंढुकनाथ
८. रसेन्द्र सार संग्रह - गोपालकृष्ण

पन्द्रहवीं शताब्दी के साहित्य

१. रसकल्पलता - नारायण मिश्र
२. रस कौमुदी - ज्ञानचन्द्र
३. रस कौमुदी - माधव
४. रसमंजरी - शालिनाथ
५. रसरत्नाकर - नित्यनाथ
६. रसराज शंकर - रामकृष्ण

७. रससार - गोविन्दाचार्य

८. रसावहार - माणिकचन्द्र जैन

सोलहवीं शताब्दी के साहित्य

१. पारदयोग शास्त्र - शिवराम

२. रसकल्पलता - मंगनीराम

३. रसकल्पलता - काशीराम

४. रससंकेत कलिका - चामुण्ड कायस्थ

५. रुद्रयामलतंत्र - भैरवानन्द

६. गौरी का. तंत्र - श्री भैरव

सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य

१. रसकामधेनु - श्री चूड़ामणि

२. रसचण्डांशु - दत्तराम वैद्य

३. रसप्रदीप - प्राणनाथ

४. रसरत्न प्रदीप - रामराज

५. आयुर्वेद प्रकाश - श्री माधव

अठारहवीं शताब्दी के साहित्य

१. रसायन संग्रह - कृष्ण शास्त्री

२. वैद्यदर्पण - प्राणनाथ

३. सिद्ध भैषज्यमणिमाला - रामकृष्ण भट्ट

उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य

१. रसरत्न मणिमाला - बाबू भाई

२. रस संग्रह सिद्धान्त - गोविन्द

३. दिव्य रसेन्द्र सार - धनपति

भाव व भाषा : रस शास्त्र का साहित्य

उत्कृष्ट संस्कृत वाङमय में है। यह गद्य-पद्य दोनों में हैं। इसकी लिपि प्राकृत-पाली व ब्राह्मी है। आधुनिक लेखन हिन्दी, इंगलिश व प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग करते हैं। परन्तु विचारणीय साहित्य संस्कृत साहित्य ही हैं।

रसशास्त्र की विशेषता व रस द्रव्य

रस शास्त्र, अन्य संहिताओं की तरह एक निगूढ़ शास्त्र हैं। जैसे अन्य संहिताओं में वेद-विधि से गुरुचयन, शिष्यचयन एवं शास्त्रचयन का विधान है, रस शास्त्र में भी वही विधि अपनायी गयी हैं।

गुरुपूजन

शुभ मुहूर्त में शिष्योपनयनीय विधान के साथ रसशाला प्रयोगार्ह भवन, यंत्र, पुट, भ्राष्टी, भूषादि का निर्माण करके अघोर मंत्र का उच्चारण करते हुए रस-कर्म प्रारंभ किया जाता हैं। रस-कर्म प्रारम्भ करने के पूर्व रस, उपरस, धातु, उपधातु, रत्नमणि, मुक्ता, प्रवाल, विष, उपविष आदि का अध्ययन करना पड़ता हैं। वैदिक विधि प्रयोग करने के कारण ही यह रस-तंत्र कहलाता हैं। रस वेद तथा आयुर्वेद दोनों हैं।

पारद का ज्ञान

प्रकृति में पारद किस प्रकार प्राप्त होता हैं इसका विवरण रसरत्न समुच्चय में बहुत सुन्दरता के साथ दिया गया हैं। पारद की उत्पत्ति शिव-पार्वती के संयोग से हुई हैं। प्रकृति में भूचाल होकर ज्वालामुखी में धूम का निकलना, अग्नि की लपट निकलना, लावा के साथ धातु, उपधातु, खनिज द्रव्यों का वहिर्गमन, पारद का वहिर्गमन इत्यादि विषयों का वर्णन एक रुपक में हैं। पारद भारतवर्ष में पाया जाता हैं या तिव्वत के आसपास हिंगुल-प्राप्ति की बात भी आई हैं। जो लोग पोर्तुगीज से पारद के आने एवं यवनों के संपर्क से पारद के विषय में ज्ञान प्राप्ति की चर्चा करते हैं, उन्हें अपने साहित्य का ज्ञान नहीं है, ऐसा कह सकते है। ऐसे लोगों को बाहरी साहित्य की जानकारी मात्र होती है। यदि इन देशों को रस ज्ञान था तो पारद के १८ संस्कार, भस्मविधि, रस सिन्दूर, मकरध्वज, धातुभस्म, मणि मुक्तादिभस्म का ज्ञान और उनके प्रयोग की चर्चा उनकी पैथी में होनी चाहिए। परन्तु इस बात का अन्य पैथिकों में अभाव है। वस्तु स्थिति यह है कि भारतीयों के सम्पर्क में आने पर उन्हें इन सब का ज्ञान प्राप्त हुआ। यद्यपि उनका वह ज्ञान अभी भी अधूरा हैं।

विकास युग

आर्यो ने पारद के ज्ञान के साथ गन्धक व अभ्रक का भी ज्ञान प्राप्त किया था। पारद को शक्तिशाली बनाने के लिये गन्धक व अभ्रक दोनों परम शक्तिशाली द्रव्य है। भारतीयों ने इसका अध्ययन, अन्वेषण व प्रयोग अपनी शास्त्रीय विध के अनुसार करके चिकित्सा जगत में तहलका मचा दिया। चरक, सुश्रुत, वाणभट्ट आदि ने भी संहिताकाल में इस चिकित्सा का प्रयोग विशेषरूप में किया। पारद को शक्तिशाली वनाने के लिये रसशास्त्रियों ने आठ द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त किया और इसका नाम महारस रखा।

अभ्रवैकान्त माक्षीक विमलाद्रिज शस्यकम्।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाष्टो संग्रहेद्रसान्।।

जब उन्होंने इनसे भी काम पूरा होते न पाया, तो पुनः अन्वेषण एवं उपरसान्वेषण में जुट गये और अन्य आठ द्रव्यों को खोज निकाला। देखिये -

गंधाश्म गैरिकाशीश कांक्षीताल शिलांजनम्।
कंकुष्ठ चेत्युप रसाश्चाष्टी पारद कर्मणि।।

इन आठों को पारद कर्म में विशेष सहायक पाकर उन्होंने इसका नाम उपरस रखा। इन्होंने कार्यकारिणी भक्ति के आधार पर कंकुष्ट एवं कांक्षी-फिटकारी को उपरस की संज्ञा दी। आगे चलकर इन्हें पुनः कठिनाई हुई और ये पुनः अन्वेषण में जुट गये और उन्होंने साधारण रस का वर्ग बनाया। देखिये-

कमिल्लश्चापरो गौरी पाजाना नवसादरः।
कपर्दोवह्नि जारश्च गिरि सिंदूर हिंगुलौ।।
मृद्दार श्रृंगीचेत्यष्ठौ साधारण रसास्मृताः।
रससिद्ध कराः प्रोक्ता नागार्जुन पुरस्सरैः।।

रसशास्त्रियों ने वनस्पतियों एवं अन्य भूगर्भक वस्तुओं से रस बंधकर द्रव्य खोज निकाला। वनस्पति से उन्हें कम्पिल्लक, नवसादर, वह्नि जार (भंबर) एवं जैव कपर्दक को लिया और कर्मसिद्ध तथा श्रीवृद्धि में सहायक होने से इसका नाम साधरण रस रखा। उन्होंने यह भी देखा कि पारद जैसे अस्थिर द्रव धातु का संमिश्रण रसेन्द्र जारण में सहायक है। जैसे -

रसेन्द्र जारणे शस्तः विडद्रव्येषु गस्यते।
बंधनो रसवीर्यस्य दीपनो जारणस्तया।।
रसेन्द्र जारणं लौह द्रावणं जटराग्नि कृत्।
त्रिदोष शमनं भेदि रसवंधन्मग्रिमम्।।
दीपनो पाचनो वृष्यो राजावर्तः रसायनः।

पारद के ऊपर कार्यकर विड निर्माण करके स्वच्छ बनाने की सिद्धि प्राप्त करने के वाद रसशास्त्रियों का ध्यान चिकित्सा को सुलभ व गुणशाली बनाने की ओर गया। उन्होंने स्वर्णादिधातु-उपधातु का तथा रत्नों पर रत्न-विष-उपविष का प्रयोग व संमिश्रण करके गुणशाली औषधि बनाई। इतना ही नहीं, उन्होंने शोधन, मारण भस्मीकरण, अमृतीकरण द्रुति एवं सत्व पातन तक की क्रियायें की। रस कर्म में सहस्त्रों कर्म लगे होगें।

७ वर्ष से १३वीं ईस्वी की अवधि में अधिक ग्रंथ क्यों मिलते हैं ? कारण यह हैं कि पहले नागार्जुन आदि का ध्यान कीमती धातु स्वर्ण निर्माण पर लगा हुआ था। उन्होंने कहा था।

रसे सिद्धे करिष्यामि निर्द्रारिद्रय मिदं जगत्।

इस प्रकार ये रसशास्त्री सारे संसार की दरिद्रता को मिटाने में जुटे हुए थे।

औषधि की तरफ ध्यान जाते ही वहुत से कर्मठ रसवैद्य लाभप्रद साहित्यों में रस चिकित्सा का सार संग्रह करने लगे। साहित्यों का यह संग्रहकाल ७वीं से १३वीं ईस्वी माना गया है। रससिद्धि का ज्ञान गोपनीय होता था और इसका ज्ञान गुरु परम्परा से ही प्राप्त होता था और यही कारण हुआ कि यह वहुत कम प्रकाश में आया।

रस-चिकित्सा की विशेषता

१. पारद का संस्कार करके रसवंधन व स्वर्ण-रजत निर्माण।
२. शरीर को अमर-अजर बनाने वाले देह सिद्धिकर रसायन प्राप्त करना।
३. त्रस्त रोगीजनों के उद्धारार्थ रस-चिकित्सा का ज्ञान।
४. वनस्पति की अधिक मात्रा को अल्प मात्रा में करना।
५. अल्पकाल में असाध्य रोगों के साधन का निर्माण पारद को शरीर के रोगों को दूर करने के लिए रस-संभार के अतिरिक्त निम्न द्रव्यों का संयोग कर उसे उपयोगी बनाना।

नवम्–अध्याय

रसेश्वर परिचय

उमासहायं परमेश्वरेश्वरं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छिति भूतियोनिं समस्त साक्षिं परतः परस्तात्।।

भगवान शिव स्वयं भगवती से कहते है :-

त्वं माता सर्व भूतनाम् पिता चाहं सनातनः।
द्वयोश्च यो रसोदेवि महामैथुन सम्भवः।।

स्वैरतः सम्भवाद्देवि पारदः कीर्तितो महः।
पारदो गदितो यश्च परार्थं साधकोत्तमः।।

सूतो अयम् मत्समोदेवि मम प्रत्यङ्ग्ग सम्भवः।
ममदेहरसोयस्मात् रसस्तेनाय मुच्यते।।

हे देवि तुम सभी प्राणियों की माता हो तथा मैं सनातन पिता हूँ। हम दोनों के विशिष्ट संयोग से (अर्थात् मूलभूत दो तत्वों के संयोग से) जो उत्पन्न हुआ है, उसे रस कहते है। हे देवि अपनी इच्छा से उत्पन्न होने के कारण तेजस्वी पारद कहा जाता है। जो दूसरों का उपकार करता है, उसे उत्तम साधक पारद कहते हैं। हे देवि यह सूत (पारद) मेरे शरीर से उत्पन्न होने के कारण मेरे समान पूज्य है, यह मेरा शरीर रस है, अतः इसे रस कहते हैं।

शिव–बीजं सूत राजः पारदच रसेन्द्रकः।
एतानि रस नामानि तथान्यानि शिवे तथा।।

शिव बीज, सूतराज, पारद, रसेन्द्र, रस ये पारद के नाम है तथा जितने नाम शिव जी के है वे सभी नाम पारद अर्थात् रस के है।

रोग पंकाब्धि मग्नानाम पारदो नाम च पारदः।।

रोग रूपी कीचड़ में फसे हुए मनुष्यों को जो उस कीचड़ से पार कर देता है, इसलिये पारे को पारद कहते हैं।

पारद (रस) से निर्मित शिवलिंङ्ग को ही रसेश्वर संज्ञा दी गई है।

रसेश्वर निर्माण में विभिन्न मत देखने को मिलते है।

पारद संहिता में स्वर्ण, रसार्णव में (१) अभ्रक (२) विड (३) मंत्र तथा दिव्य औषधि (४) रस उपरस महा रसो के संयोग करने के संकेत मिलते है। रस राज लक्ष्मी ग्रन्थकार के मत में "सूते गुणानाम् शतकोटि, वज्रे, चाभ्रे सह सहस्रं, कनके शतै कम्, तारे गुणाशीति तदर्धकान्ते बंगेचतुष्पष्टि रवौ तदर्धम्।" अर्थात्, पारद में सबसे अधिक गुण पाये जाते हैं, ऐसी स्थिति में पारद में किसी भी रस, उपरस, महारस आदि का मिश्रण कर रस लिंग बनाना पारद के वास्तविक गुणों को कम करना है। यदि मंत्र बल व दिव्य औषधियों का अभाव हो, तो कम से कम धातुओं व अभ्रक रस, उपरसों आदि का रसलिंग निर्माण में मिश्रण करना चाहिये। जब सूर्य उत्तरायण हो, तब शुभ मुहूर्त, शुभ नक्षत्र में गुरु तथा चन्द्रमा के बल में रसाकुंशी देवी, गणेश तथा भैरव का पूजन कर रसेश्वर निर्माण में प्रवृत्त होना चाहिये। पारद में नैसर्गिक आठ तथा सप्त कंचुकी दोष पाये जाते है, उन्हें दूर करने के लिए दिव्य तथा नियामकगंण की तथा गुरु परम्परा से ज्ञात औषधियों का प्रयोग मर्दन तथा स्वेदन में रसेश्वर मंत्र (ॐ ह्रीं क्रीं रसेश्वराय महा कलाय महाबलायाघोर भैरवाय वज्रवीर क्रोध कंकाल क्ष्लौः क्ष्लः) तथा अघोर मंत्र (अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोर घोर तरेभ्यः। सर्वतः सर्व सर्वेभ्यो नमस्ते रुद्र रुपेभ्यः।।) का जप करते हुये करना चाहिये। पारद जब दोष तथा चंचलता रहित हो जावे, तब निश्चित परिमाण में निश्चल श्वेत लिंगाकार रसेश्वर (पारद शिव लिंग) का निर्माण करना चाहिये।

लिंग रहस्य के अनुसार पारद शब्द में ....

प- विष्णु, अ-कलिका, र-शिव, द-ब्रह्म। इस तरह सभी मौजूद है। उससे बने लिंग की पूजा जो जीवन में एक बार भी की जाय तो धन, ज्ञान, सिद्धि और ऐश्वर्य मिलते हैं।

योगशिखो पनिषद के अनुसार ....

रसलिंगम् महालिंगं शिव शक्ति निकेतनम्।
लिंगं शिवालयं प्रोक्त सिद्धिं च सर्व देहिनाम्।।

शिव शक्ति के केन्द्र पारद के शिव लिंग ही रस लिंग है, महालिंग है, देव दुर्लभ है इनके प्राप्त होते ही सम्पूर्ण सिद्धिया प्राप्त होती हैं।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा में रसेश्वर (पारद के महादेव) का सर्वाधिक महत्व हे सर्वदर्शन संग्रह में उल्लिखित है ....

अभ्रकं तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
बद्धो पारदो लिंगोऽयं मृत्यु दारिद्रयं नाशकम्।।

भगवान शिव स्वयं भागवती से कहते है कि जो मेरा बीज पारद है, उसको स्थिर कर लिंगाकार स्वरूप देकर जो पूजन करता है, उसके घर में कभी दारिद्रता नहीं आती और न ही जीवन में मृत्यु भय होता है।

विधाय रस लिंगं यो भक्ति युक्तः समर्चयेत्।
जगत्रितय लिंगानां पूजा फलमावाप्नुयात्।।
स्वयंभू लिंग साहस्त्रैर्यत्फलं संम्यगर्चनात्।
तत्फलं कोटिगुर्णितं रस लिंगार्चनाद् भवेत्।।

जो मनुष्य भक्ति भाव से रसलिंग अर्थात् पारद के महादेव का पूजन करता है, वह तीनों लोको में जितने शिवलिंग है उनके पूजा के फल को प्राप्त करता है। सहस्रों शिव लिंगों की पूजा से जो फल प्राप्त होता है उस फल से कोटि गुना फल रस लिंग अर्थात् रसेश्वर के पूजन से प्राप्त होता हैं।

व्रह्म पुराण में कहा गया है कि रसेश्वर भगवान का पूजन जो भक्ति भाव से करते है पुरुष, स्त्री, व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्त्यज कोई भी हो, जीवन में पूर्ण सुख प्राप्त कर परमगति को प्राप्त करते हैं।

व्रह्मवैवर्त पुराण में भी रसेश्वर की महिमा विस्तार से वर्णन है, कहा गया है विधि विधान पूर्वक पारद शिव लिंग (रसेश्वर) का पूजन अर्चन करने से जीवन में यश, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, पुत्र-पौत्र, विद्या आदि में पूर्णता प्राप्त करते हुए अन्त में मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

निर्णय सिन्धु में उद्धृत हैः-
लिंगो स्वयम्भुवे वामे रत्न रस निर्मिते।
सिद्धे प्रतिष्ठिते चैव न चण्डाधिकृतिर्भवेत।।

स्वयंभूलिंग के समान रत्न तथा पारद (रस) निर्मित शिव लिंग (रसेश्वर) के शिव निर्माल्य तथा नैवेध सप्रेम ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ये चण्ड के अधिकार से परे हैं। इसी प्रकार शिव निर्णय रत्नाकर, रस मार्तण्ड वायवीय संहिता शिवपुराण आदि शिव रहस्य द्योतक महनीय ग्रन्थों में रसेश्वर (पारद शिल लिंग) की महिमा वर्णित है।

वेल-पत्र और पीले कनेर के फलों से रस लिंग की पूजा करना चाहिए और अन्त में इस ध्यान को स्मरण करते रहना चाहिए।

ॐ अष्टादशभुजं शुभ्रं पंच वक्रं त्रिलोचनं।
प्रेता रूढं नील कंठ ध्यायेद वामे चपार्वतीम्।।
चतुर्भुजा मेकवक्रा मक्षमालांकुशे तथा
वामे पाशाभये चैव दधर्ती तप्त हेम भाम्।
पीत वस्त्रां महादेवीं नाना भूषण भूषिताम्।
एपं ध्यात्वा पुष्प पुंजं दद्याद् कुंशया नरः।

अट्ठारह भुजा वाले जिनका श्वेत शरीर है, पाँच जिनके मुख है, तीन जिनके नेत्र, वैल की सवारी वाले नील कंठ श्री महादेव जी का ध्यान करें और श्री शिव जी के वामभाग (वाई तरफ) में स्थित चार भुजा वाली जिनके एक मुख है और रूद्राक्ष की माला धारण किये हुए है, वायें हाथ में पाश और अभय के धारण करने वाली है, तप्त सुवर्ण के तुल्य और गौर वर्ण वाली पीताम्बर वस्त्र धारण किये हुये अनेक आभूषणों से सजी हुई श्री महादेवी का ध्यान करें। उपर्युक्त प्रकार के तथ्यों से निर्मित रत्नलिंग का आयुर्वेद में महत्व कम नहीं है, रसेश्वर के स्पर्श किये रहने से ज्वर की उष्मा शीघ्र शान्त होती है तथा रोगी शीघ्र स्वस्थ होता है। मधुमेह तथा प्रदर के रोगी रसेश्वर के स्पर्श से दुग्ध पान करने से लाभान्वित होते है। उच्च रक्त चाप ठीक होता है। अनुभव के आधार पर यह भी पाया गया है कि शरीर पर रसेश्वर का स्पर्शिति जल तेल की भांति लगाने से असमय में शरीर में होने वाली झुर्रियाँ ठीक हो जाती है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विधान रहने पर भी बिना भगवान शंकर की कृपा के रस लिंग का निर्माण सम्भव नहीं है।

दशम्-अध्याय

द्रव्यगुण विज्ञान का इतिहास

द्रव्यगुण विज्ञान आयुर्वेद की वह शाखा है, जिसकी गणना अष्टांग आयुर्वेद में नहीं की गई है, मगर यह अष्टांग आयुर्वेद में व्याप्त है। अष्टांग आयुर्वेद के आठों अंगों में कोई भी ऐसा नहीं है जहाँ द्रव्य के बिना काम चल सके। द्रव्यों की पहचान, परीक्षा, गुण-कर्म के ज्ञान के बिना चिकित्सक आयुर्वेद के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। अतः त्रिसूत्र आयुर्वेद में इसका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

अध्ययन में सुगमता को ध्यान में रखते हुए द्रव्यगुण विज्ञान के इतिहास को हम संक्षिप्त रूप में इस प्रकार देख सकते हैं :-

१. वैदिक काल

वैदिक-काल में द्रव्यगुण का उच्चस्तरीय ज्ञान महर्षियों को प्राप्त था। वे वनस्पतियों के औषधीय गुण-कर्मों तथा उनके परिचयात्मक ज्ञान से परिपूर्ण थे। इसकी पुष्टि कुछ उद्धरणों से होती है। आयुर्वेद का सम्बन्ध अन्य वेदों की अपेक्षा ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से अधिक है। इन वेदों में भी वनस्पतियों की एवं उनके गुण-कर्मों की महत्ता सर्वोपरि समझी जाती थी तथा उन्हें सर्वोपरि समझते हुए इनकी पूजा की जाती थी। ऋग्वेद में यह उल्लेख मिलता है :

'याः फलिनीर्याऽफलाऽपुष्पा याश्च पुष्पिणी।
बृहस्पतिप्रसूतास्ताः नो मुञ्चन्त्वहंसः।।' - ऋग्वेद १५

अर्थात् जो वनस्पतियां फलवाली हैं या फलहीन हैं, पुष्पवाली हैं या पुष्पहीन हैं, वे बृहस्पति से उत्पन्न हुई औषधियाँ हमें पाप से मुक्त करें। इस प्रकार औषधियों की प्रार्थना की गयी है।

इतना ही नहीं इन वनस्पतियों के गुण-कर्मों का भी अध्ययन किया जाता था तथा उन वनस्पतियों को, जिनका औषधीय प्रयोग होता था, वरीयता दी जाती थी :

'त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपास्तयः।' - ऋग्वेद २३

अर्थात् हे औषधि तुम उत्तम हो, अन्य वृक्ष तुमसे उप हैं अर्थात् छोटे हैं।

अथर्ववेद में अन्तरिक्ष को वनस्पतियों का पिता, पृथ्वी को माता तथा मूल का स्थान समुद्र कहा गया है :

'यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरूधां बभूव।' -शौ. ८/७/२

हम कह सकते हैं कि यह वर्णन सांकेतिक है और उस काल में अन्तरिक्ष में उत्पन्न अर्थात् पर्वतीय ऊँचे स्थानों पर उत्पन्न वनौषधियों, पृथ्वी की वनस्पतियों तथा समुद्रीय वनस्पतियों तथा उनके गुण-कर्मों का भी ज्ञान आचार्यों को था। इससे स्पष्ट होता है कि वनस्पतियों का वैभव उस समय व्यापक तथा समुन्नत था एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान विशद था।

द्रव्यों के गुण-कर्मों से सम्बन्धित विज्ञान की आवश्यकता को देखते हुए द्रव्यगुण विषय से सम्बन्धित वैदिक-निघण्टु भी बना था, जो आज अप्राप्य है।

इस प्रकार द्रव्यगुण की विषय-वस्तु वैदिक-काल में भी एक महत्त्वपूर्ण विषय-वस्तु थी।

२. संहिता-काल

आज 'द्रव्यगुण' नामक विषय की जो एक पृथक् सत्ता परिलक्षित होती है, ऐसा स्वरूप वैदिक या संहिता-काल में नहीं था। अर्थात् आयुर्वेद के आठ अंगों या आठ विषयों में इसकी गणना नहीं थी। यद्यपि ऐसा भी नहीं कि इसे पूर्णतया उपेक्षित कर दिया गया था। चिकित्सा के तीन आधारभूत स्तम्भों में तब भी इसकी गणना थी। चरक-संहिता में यह वर्णित है :

'हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः।। - च.सू. १/२४

यहां 'औषध-ज्ञान' शब्द आज के 'द्रव्यगुण' को ही इंगित करता है। इतना ही नहीं चरकसंहिता के प्रथम चार अध्यायों को 'भेषजचतुष्क' नाम दिया गया है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने भेषजचतुष्के 'अमुक' नाम 'अमुको'ऽध्यायः।' लिखा मिलता है। इस प्रकार प्रथम चार अध्यायों- दीर्घञ्जीवतीयाध्याय, अपामार्गतण्डुलीयाध्याय, आरग्वधीयाध्याय, षड्विरेचनशताश्रितीयाध्याय- का 'भेषज-चतुष्क' नाम से संबोधित किया जाना भी 'द्रव्यगुण' की प्राथमिक महत्ता को ही इंगित करता है। यहाँ 'भेषज' से तात्पर्य औषधि द्रव्यों से है। दैवव्यापाश्रय-चिकित्सा से नहीं; क्योंकि इन अध्यायों में औषधि द्रव्यों का ही वर्णन है, जो कि क्रिया (चिकित्सा) के सम्पादन में कर्ता (वैद्य) की सबसे निकटतम वस्तु (करण) होती है। (करणं पुनः भेषजम्। - च. वि.) द्रव्यगुण का उस समय इतना महत्व आंका गया कि आयुर्वेद की परिभाषा 'द्रव्यगुण' के आधार पर भी की गयी-

'यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽपि आयुर्वेदः।'
- च. सू. ३०/२३

इतना ही नहीं, आचार्य अग्निवेश ने उस वैद्य को ही श्रेष्ठ माना है जो द्रव्यगुण की विषय-वस्तु को अर्थात् द्रव्यों के वाह्य एवं आभ्यन्तर गुण-कर्मों एवं विधि प्रयोगों को भलीभांति जानता हो-

'तेषां कर्मसु वाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च।
संयोगश्च प्रयोगश्च यो वेद स विभषग्वरः।।' - च. सू. ४/२६

अर्थात् उन औषधियों के वाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोगों में भी जो वैद्य उनके योग, संयोग एवं प्रयोग को जानता है, वही श्रेष्ठ वैद्य है।

इस प्रकार संहिता-काल में भी द्रव्यगुण की एक विशिष्ट महत्ता स्वीकार की गयी थी। परन्तु 'द्रव्यगुण' शब्द से अभिहित किसी विषय-विशेष का उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता।

३. संग्रह काल

'द्रव्यगुण' का विषय के रूप में स्थापना का श्रेय सर्वप्रथम चक्रपाणिदत्त को जाता है, जिन्होंने ११वीं शताब्दी में 'द्रव्यगुण' विषय से सम्बन्धित अपनी पुस्तक 'द्रव्यगुणसंग्रह' लिखी। चक्रपाणिदत्त ने यह अनुभव किया कि द्रव्य एवं इसके गुण-कर्मों के ज्ञान से संबधित एक पृथक् विषय होना ही चाहिए।

'प्रायः पृच्छन्ति यत्रेशास्तद्द्रव्यगुणसङ्ग्रहः।
धारणस्मरणोन्मुखो यथा स्याल्लिख्यते तथा।।'

उनके कथन का आशय है कि प्रायः वैद्यगण एवं अन्य व्यक्ति भी विभिन्न औषध-आहार द्रव्यों के गुण-कर्म पूछते हैं। इसलिए इन द्रव्यों के गुण-कर्म एक ही स्थान पर लिखकर इस प्रकार की पुस्तक की रचना मैं कर रहा हूँ, ताकि इनके गुण-कर्मों के ज्ञान को धारण एवं स्मरण करने में सुविधा हो। इस ग्रन्थ में द्रव्यों के गुण-कर्म सम्बन्धी वर्णन अधिक है तथा परिचयात्मक वर्णन अन्यन्त है।

कुछ और गम्भीरता से देखा जाय, तो प्रतीत होता है कि 'द्रव्यगुण-विज्ञान' की महत्ता आरम्भ में ही आचार्यों के मस्तिष्क में रही। फलस्वरूप वैदिक निघण्टु एवं चरक तथा सुश्रुत के काल में इनके भी निघटु लिखे गये। परन्तु वे आज अप्राप्य हैं। आज केवल इतना ही पता है कि वे निघण्टु थे तत्पश्चात् वाग्भट के ग्रन्थों में आये द्रव्यों से सम्बन्धित अष्टांग-निघण्टु की रचना ८वीं शताब्दी में हुई एवं 'धन्वन्तरि-निघण्टु' १०वीं शताब्दी में लिखा गया। 'धन्वन्तरि-निघण्टु' में द्रव्यों के गुण-कर्मों के साथ-साथ द्रव्यों का परिचयात्मक वर्णन भी बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। इस प्रकार 'द्रव्यगुण' की महत्ता तो सबके

मस्तिष्क में रही। परन्तु इसे एक पृथक् विषय के रूप में होना ही चाहिए, यह प्रस्ताव सर्वप्रथम चक्रपाणिदत्त ने ११वीं शताब्दी में रखा तथा 'द्रव्यगुणसंग्रह' की रचना की।

यद्यपि अष्टांग निघण्टु (८वीं शती), धन्वन्तरि निघण्टु (१०वीं-१३वीं शती) आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं फिर भी हम कह सकते हैं कि 'द्रव्यगुण' नामक एक पृथक विषय की सत्ता की परिकल्पना १०वीं शताब्दी से पूर्व नहीं थी। इसके पूर्व द्रव्यगुण आयुर्वेद के आठों अंगों में सर्वाङ्गव्यापी था। प्रत्येक शल्य अथवा काय-चिकित्सक को इसका विधिवत ज्ञान होना आवश्यक था। तत्पश्चात् १०वीं शताब्दी से 'द्रव्यगुण' नामक एक पृथक् विषय की कल्पना आचार्यों के मस्तिष्क में आयी और तब से इस विषय के ग्रन्थों की रचना एवं पठन-पाठन का क्रम आरम्भ हो गया। यथा-राजमार्तण्ड (१२वीं शती), निघण्टुशेष (१२वीं शती), सोढलनि. (१२वीं शती), माधवद्रव्यगुण (१३वीं शती), मदनपालनि. (१४वीं शती), कैयदेवनि. (१५वीं शती), राज नि. (१५वीं शती), राजवल्लभ नि. (१५वीं शती), भावप्रकाश नि. (१६वीं शती), शालिग्राम नि. (१९वीं शती), तथा अनेक निघण्टु लिखे गये और आज तक यह परम्परा बनी हुई है। इन सभी ग्रन्थों में द्रव्यों के नाम-रूप तथा गुण-कर्मों का विशद वर्णन है। विशेषतया 'राजनिघण्टु' में द्रव्यों के नाम-रूप का भी समुचित वर्णन है। राजनिघण्टुकार को ऐसा लगा कि द्रव्यगुण का स्थान अष्टांग-आयुर्वेद में होना ही चाहिए। अतः सर्वप्रथम उन्होंने ही अष्टांग-आयुर्वेद के एक अंग रूप में द्रव्यगुण का उल्लेख किया :

द्रव्याभिधानगदनिश्चयकायसौख्यं शल्यादिभूतविषनिग्रहबालवैद्यम्।
विद्याद् रसायनवरं दृढदेहहेतुमायुः श्रुतद्विचतुरङ्गमिहाह शम्भुः।।
- रा.नि. रोगा. ५

इस प्रकार द्रव्याभिधान, गदनिश्चय, कायसौख्यं, शल्य, भूतविद्या विषनिग्रह एवं बालवैद्यम् इन अष्टागों की गणना में द्रव्यगुण 'द्रव्याभिधान' की गणना सर्वप्रथम की।

४. आधुनिक-काल

वैदिक काल से संहिताकाल, फिर संग्रहकाल तक आते-आते इतनी प्रगति तो अवश्य हुई। फिर भी अभी तक 'द्रव्यगुण' नामक विज्ञान की परिभाषा का सृजन किसी ने नहीं किया था। इसके लक्षणों का वर्णन किसी ने नहीं किया था और यह कमी पूरी हुई २०वीं शताब्दी में आचार्य प्रियव्रत शर्मा के द्वारा। उन्होंने अपनी पुस्तक 'द्रव्यगुणविज्ञान' के प्रथम भाग में यह परिभाषा दी :

'द्रव्याणां गुणकर्माणि प्रयोगाः विविधास्तथा।
सर्वशो यत्र वर्ण्यन्ते शास्त्रं द्रव्यगुणं हि तत्।।'
- द्रव्यगुण विज्ञान (प्रथम भाग)

अर्थात् द्रव्यों के गुण-कर्मों एवं विविध आमयिक प्रयोगों का जहां वर्णन हो वहीं शास्त्र 'द्रव्यगुणशास्त्र' है। यहां द्रव्यों के गुण-कर्म एवं प्रयोग का उल्लेख तो किया गया है, परन्तु इस परिभाषा में 'द्रव्य-परिचय' का उल्लेख नहीं है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या 'द्रव्य-परिचय' का ज्ञान द्रव्यगुण की परिधि में नहीं आता ? इसके दो उत्तर हो सकते हैं -

१. 'द्रव्यगुणां गुणकर्माणि' - यहाँ जो 'गुण' शब्द आया है, वह द्रव्यों में वर्तमान मात्र २० गुर्वादि गुणों को ही नहीं इंगित करता, बल्कि इससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि ५ विशिष्ट गुणों का भी ग्रहण होता है, जो द्रव्यों के परिचय में सहायक होते हैं। जैसे- स्पर्श से बचा (गोलीमी) तथा यवासा का जिससे उसका नाम 'दुःस्पर्श' पड़ा; रूप से हल्दी का जिससे उसका नाम 'पीता' पड़ा; रस से पर्पट का नाम 'वरतिक्त' पड़ा। ये सभी गुण उन-उन द्रव्यों के परिचय में सहायक होते हैं। इस प्रकार 'द्रव्य-परिचय' का बोध 'गुण' के अन्तर्गत हो जाता है।

२. दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि द्रव्यों के परिचय से संबंधित विषयों अर्थात् मार्फालाजी, हिस्टोलाजी, फाइटोकेमिस्ट्री आदि विषयों को आधुनिक विज्ञान के बाटनी, फार्मास्युटिक्स तथा मेडिसिनल केमिस्ट्री आदि शाखाओं ने अपना लिया है। अतः 'द्रव्य-परिचय' का आधुनिक ज्ञान हम उन विषयों से प्राप्त कर सकते हैं तथा गुण, कर्म एवं प्रयोग पक्ष का अध्ययन हम अपने 'द्रव्यगुण' विषय के अन्तर्गत कर सकते हैं। विचारणीय यह है कि क्या द्रव्य-परिचय द्रव्यगुण शास्त्र से पृथक सत्ता की अपेक्षा नहीं रखता ?

२०वीं शताब्दी के आते-आते 'द्रव्यगुण' विज्ञान के नवीन क्षेत्र में चला आया। स्नातक-स्तर पर होने वाले अध्ययन-अध्यापन में 'द्रव्यगुण' को एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में सम्मिलित किया गया। परन्तु स्नातक-स्तर पर इसका अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भिक रूप से ही सीमित रहा, सिद्धान्तों एवं कुछ विशिष्ट द्रव्यों के गुण-कर्मों एवं परिचय के ज्ञान तक ही सीमित रहा। अतः स्नातकोत्तर स्तर पर भी द्रव्यों का सूक्ष्म एवं विशद अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधान करने के लक्ष्य से इसे एक विषय के रूप में स्वीकार किया गया। यह २०वीं शताब्दी की ही देन है।

आधुनिक विज्ञान के अन्तर्गत भी सन् १६४२ में ब्रिटेन में क्लीनिकल फार्माकालोजी का जन्म हुआ और मानव पर औषधियों के सीधे प्रभाव को ज्ञात करने की प्रथा चली। कुछ ऐसी ही स्थिति 'द्रव्यगुण' की भी है। आजकल देश भर में आयुर्वेद की सभी मान्य संस्थाओं में द्रव्यगुण विज्ञान का अध्ययन दो विभागों में किया जा रहा है-१. द्रव्य - परिचय एवं २. द्रव्य-प्रयोग।

'द्रव्य-परिचय' के अन्तर्गत हम द्रव्यों के नाम-रूप आदि का ज्ञान करते हैं तथा 'द्रव्य-प्रयोग' के अन्तर्गत द्रव्यों के गुण-कर्म का ज्ञान एवं आमयिक प्रयोग करते हैं। काशी

हिन्दू विश्वविद्यालय में द्रव्यगुण का स्नातकोत्तर स्तर पर जो पाठ्यक्रम वना, उसमें द्रव्यों के आतुरीय प्रयोग पर पर्याप्त ध्यान देते हुए समुचित चिकित्सालयीय सुविधाएं मिलीं।

द्रव्यों के गुणों की महत्ता के प्रति लोग आकृष्ट हुए। द्रव्यों के निर्दुष्ट-गुण-कर्मों के कारण ही विदेशियों का ध्यान आयुर्वेद की ओर आकर्षित हुआ है। आज विदेशियों का एवं विश्व-स्वास्थ्य-संगठन आदि का ध्यान बड़े जोरों से आयुर्वेद की तरफ आकर्षित है। इसका कारण आयुर्वेद के द्रव्य एवं उनमें निहित उनके आश्चर्यजनक गुण-कर्म प्रभाव ही हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में जो विभिन्न डायग्नोस्टिक टेस्ट है वे केमिस्ट्री या बायोकेमिस्ट्री की देन हैं। जो रेडियोलाजिकल टेस्ट हैं, वे फिजिक्स की देन हैं। कुछ इलेक्ट्रानिक्स की भी देन हैं। इतना ही नहीं, नवीन औषधियाँ जैसे सल्फोनिल यूरिया आदि ड्रग्स जो सल्फा ड्रग्स आदि से बनती हैं, इनके पीछे भी केमिस्ट्री का ही योगदान है। यदि फिजिक्स, केमिस्ट्री एवं इलेक्ट्रानिक्स आदि शाखाएं अपना योगदान वापस ले लें, तो उस स्थिति में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान पंगु बनकर रह जायेगा। ऐसी स्थिति में ये वानस्पतिक द्रव्य ही ऐसे हो सकते हैं जो प्राणियों की रक्षा कर सकें। इसीलिए आधुनिक वैज्ञानिकों ने औषधीय वानस्पतिक द्रव्यों में काफी अभिरूचि प्रदर्शित की है।

प्रसंगवश थोड़ा वर्णन इन वैज्ञानिकों का भी कर देना अनुचित न होगा। सर्वप्रथम वानहीड के द्वारा संकलित सूचनाओं के आधार पर 'हार्ट्स मेलेवेरिका' नामक ग्रन्थ की रचना हालैण्ड में १६८६-१७०३ के बीच में हुई। इसमें ७१४ वनस्पतियों के सुन्दर चित्र हैं एवं ज्ञात कुछ वनस्पतियों के औषधीय गुण-कर्म वर्णित है। इसके निर्माण में मालावार निवासी पं. रंगोजी भट्ट, विनायक पंडित तथा आपा भट्ट की सहायता ली गयी थी। १७६८ में आम्सटर्डस के निकोलस बर्मन ने 'फ्लोरा इण्डिका' प्रकाशित करायी। इसमें १५०० गुणों तथा मानव-शरीर पर पड़ने वाले इनके प्रभाव के आधार पर रखा गया द्रव्यों के नामकरण का आधार शताब्दियों पूर्व आचार्यों ने भी वही रखा था, जो इन आधुनिक वैज्ञानिकों ने रखा; केवल भाषा का अंतर है।

आधुनिक वैज्ञानिकों की विशेषता मात्र इतनी रही कि इन्होंने एक द्रव्य का एक ही नाम रखा, कई पर्याय नहीं रखे।

प्रश्न यह उठता है कि सुदूर देशों में स्थित वैज्ञानिकों का आकर्षण भारत की एक अतुल वानस्पतिक संपदा की ओर क्यों हुआ ? इसका कारण भारत में पायी जाने वाली इन वनस्पतियों के विलक्षण गुण-कर्म ही हैं। आयुर्वेद की शाखा-प्रशाखाओं में मात्र द्रव्यगुण ही वह पहली शाखा है जिस पर वैज्ञानिकों एवं विदेशियों का ध्यान आकृष्ट हुआ।

हजारों ऐसी वनस्पतियाँ भी हैं, जिनका परिचय अभी नहीं हो सका है। जितने द्रव्यों का परिचय हो पाया है, उनमें मात्र ७००-८०० ही ऐसी वनस्पतियाँ हैं, जिनके औषधीय कर्म ज्ञात है तथा जिन वनस्पतियों के औषधीय कर्म ज्ञात हैं, उनमें से मात्र १००-२००

ही ऐसे द्रव्य हैं, जिनका हम चिकित्सा में आजकल दैनिक प्रयोग करते हैं तथा इनकी छोटी-सी परिधि में घूम कर रह जाते हैं। इसका कारण यही है कि अन्य वनस्पतियों पर कार्य नहीं हुए हैं। हम उनके औषधि-गुण-कर्मों के ज्ञान से वंचित हैं एवं प्रयोग नहीं कर पा रहे हैं। अतः द्रव्य के प्रयोग पक्ष में अभी और अधिक कार्य होने चाहिए। द्रव्य-परिचय के क्षेत्र में भी आचार्यों ने काफी कार्य किया है। औषधियों के परिचय की महत्ता की ओर संकेत करते हुए आचार्यों ने कहा है कि वनवासियों तथा चरवाहों से भी उनका परिचय प्राप्त करना चाहिये :

'ओषधीर्नामरुपाभ्यां जानते ह्यजपा वने।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः।।'- च. सू. १। १२०

प्राचीन आचार्यों ने द्रव्यों का नामकरण भी आज की ही तरह वनस्पतियों के वाह्यरूप एवं मानव शरीर पर उनके प्रभाव को देखकर ही किया तथा द्रव्यों के प्राप्ति-स्थान के आधार पर भी किया। द्रव्यों के नामकरण के लिए उन्होंने सात आधार चुने-

नामानि क्वचिदिह रूढितः स्वभावात-देश्योक्त्या क्वचन च आञ्छनोपमाभ्याम्।
वीर्येण क्वचिदितराह्वयादिदेशात् द्रव्याणां ध्रुवमिति सप्तधोदितानि।।
-राजनिघण्टु, प्रस्तावना, पृ. १३

इस प्रकार वनस्पतियों के पुष्प, फल एवं वाह्य स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उन्होंने वर्गीकरण किया एवं द्रव्यगुण के वर्तमान अध्ययन की श्रृंखला में द्रव्य-परिचय को आधुनिक विद्वानों ने फाइटोकेमिस्ट्री, हिस्टोलोजी आदि का समावेश करके इतना विस्तृत कर दिया है कि यह पक्ष आयुर्वेद के स्नातकों के कार्यक्षेत्र के बाहर का जान पड़ता है। परन्तु गुण-कर्म एवं प्रयोग-पक्ष पर अभी इतना अल्प कार्य हुआ है कि इस पक्ष का विस्तार अभी काफी किया जा सकता है। अब तक द्रव्यों के जो भी गुण-कर्म प्रकाश में आये हैं, ब्रिटिश फर्माकोपिया ने उन्हें अपना लिया है। उदाहरणस्वरूप - आलमंड, आयल, एलोय, अमरन्थ, मार्फीन, एपोमॉर्फीन, बेलाडोना, कैसीरिया, कोल्वीसिन, कोरियण्डर आदि अनेक द्रव्यों को ब्रिटिश फार्माकोपिया में अपना लिया है।

इससे ज्ञात होता है कि द्रव्यगुण के परिचय एवं प्रयोग दोनों पक्षों ने वैज्ञानिकों का ध्यान पर्याप्त रूप में आकृष्ट किया और आज द्रव्यगुण एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय के रूप में विश्व के समक्ष है। आज इस स्तर पर औषधीय द्रव्यों को वरीयता प्राप्त होने लगी है, क्योंकि वनस्पतियाँ प्रकृति की प्रयोगशाला में उत्पन्न होने के कारण निर्दुष्ट एवं औषधि के रूप में महज स्वीकार्य होती है। प्रकृति द्वारा प्राकृतिक प्रयोगशाला में उत्पन्न किये जाने के कारण इनमें वे गुण सहज ही पाये जाते हैं, जो शरीर की अप्राकृतिक अवस्था को

प्राकृतिक अवस्था में ला देते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि देश, काल एवं रोगी के वय तथा दोषों की अवस्था को देखते हुए यदि यथोचित मात्रा में इनका प्रयोग न किया जाए, तो शरीर पर हानिकारक प्रभाव डालती है। प्रकृति ने आयुर्वेदीय द्रव्यों में ऐसे गुण-कर्म निहित किये हैं कि ये एक दोष का वर्द्धन करते हैं, तो दूसरे का शमन भी करते हैं एवं अंतिम रूप से समावस्था उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये सर्वथा हानिरहित एवं लाभकारी सिद्ध होते हैं। आवश्यकता ऐसे चिकित्सकों की है जो देश, काल, मात्रा, रोग एवं रोगी की प्रकृति को भली प्रकार समझे, तब इनका प्रयोग करें।

इतनी बातें हाने पर भी व्यापारियों एवं कुछ चिकित्सकों के कारण बहुत-सी औषधियाँ संदिग्धता की श्रेणी में चली गयी हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि चिकित्सक उपयुक्त औषधियों के अभाव में प्रतिनिधि द्रव्यों का प्रयोग करने लगे तथा व्यापारी वर्ग ने धन लोलुपता के कारण जो जी में आया, उसी का क्रय-विक्रय प्रारम्भ कर दिया। चिकित्सक भी इन्हीं व्यापारियों पर निर्भर होने लगे। परिणामतः आयुर्वेद-चिकित्सा में उत्तरोत्तर ह्रास होने लगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। धीरे-धीरे वह समय आ गया और २०वीं शताब्दी से संदिग्ध द्रव्यों पर काफी कार्य हुए तथा अभी भी हो रहे हैं।

आयुर्वेद में द्रव्य-परिचय का भी सुन्दर वर्णन है। कहा गया है कि सर्वप्रथम वनवासियों एवं चरवाहों से परिचय प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि ये देखते हैं कि इनकी गायें या पशु किस वनस्पति को खाते हैं और किसको नहीं खाते। जिस वनस्पति को ये नहीं खाते इसका मतलब कि उनमें अवश्य कुछ विषैले या अन्य प्रकार के ऐसे तत्व हैं, जिसकी वजह से ये नहीं खाते। इतना ही नहीं, राजनिघण्टु ने कहा है :-

> तेभ्यः सकाशादुपलभ्यवैद्यः पश्चाच्च शास्त्रेषु विमृश्य बुद्धया।
> विकल्पयेद् द्रव्यरसप्रभावान् विपाकवीर्याणि तथा प्रयोगात्।।

अर्थात् इन वनवासियों आदि से परिचय प्राप्त करने के बाद शास्त्रोक्त गुण-कर्मों का अध्ययन करना चाहिए, फिर द्रव्य का प्रयोग करके तब इसके गुण-कर्मों का निर्धारण चिकित्सक को अपनी बुद्धि से करना चाहिए।

इस प्रकार द्रव्य-परिचय सम्बन्धी ज्ञान का आरम्भ आचार्यों ने किया। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले मनीषियों में भगीरथ स्वामी, रूपलाल वैश्य, आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी, वैद्य बापालाल, ठाकुर बलवंत सिंह, आचार्य प्रियवत्त शर्मा आदि का नाम उल्लेखनीय है। अभी भी अत्यन्त आवश्यकता इस बात की है कि द्रव्यों के सभी स्वरूप को जाना जाए एवं उनके गुण-कर्मों का सम्यग् ज्ञान प्राप्त किया जाएं। चरक-संहिता के सूत्र-स्थान, अध्याय २५ में अग्रय प्रकरण के अन्तर्गत यह उल्लिखित है कि 'विज्ञानं औषधीनाम्'। अर्थात् औषधियों

में विशिष्ट ज्ञान श्रेष्ठ-ज्ञान की कसौटी है। द्रव्यों से मात्र औषधि-द्रव्यों का ही नहीं वरन् आहार द्रव्यों का भी बोध होता है। आयुर्वेद का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए औषधि-द्रव्य एवं आहार-द्रव्य दोनों के सम्यक् ज्ञान एवं प्रयोग की आवश्यकता है। स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए आहार द्रव्यों तथा आतुर के विकार-प्रशमन के लिए औषधि द्रव्यों का सम्यग् ज्ञान परमावश्यक है।

२०वीं शताब्दी का अन्त या २१वीं शताब्दी के प्रारम्भ का द्रव्यगुण का स्वरूप एवं द्रव्यगुण की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि विशिष्ट रोगों हेतु विशिष्ट औषधियों का सर्वांगीण अध्ययन तथा प्रयोग देश-काल तथा मात्रा का सम्यक् ध्यान रखते हुए अनुसन्धान करना चाहिये। चरक के शब्दों में हम ऐसा कह सकते हैं तभी आयुर्वेदज्ञ चिकित्सकों की सिद्धि मानी जायेगी-

'यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः।
देशकालप्रमाणज्ञः तस्य सिद्धिरसंशयम्।।' - च. सू. २०।२२

२०वीं शताब्दी के मध्य से आज तक समस्त काय-चिकित्सकों ने जो भी कार्य किया है एवं 'द्रव्यगुण' के 'द्रव्य-प्रयोग' पक्ष को समवेत रूप से काफी ऊँचा उठाया है, वह सराहनीय है। उदाहरणस्वरूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सर्पगंधा, पाषाणभेद, विजयसार, गुग्गुल, कुटज, वरुण, शिरीष, सहदेवी, भल्लातक, पुष्करमूल, कलिहरी, शिग्रु, रोहीतक, अपामार्ग, स्नुही, तृणपंचमूल, कुष्ठ, दशमूल, हरिद्रा, कम्पिल्लक, बला, अर्जुन आदि के प्रचुछन्न गुण कर्मों को वैज्ञानिक शोधकार्य के वाद आधुनिक जगत् में रखा गया है, जिससे द्रव्यगुण के कलेवर में वृद्धि तो हुई ही है तथा ये कार्य न केवल भारत में वरन् विदेशों में भी मान्यता प्राप्त कर रह है।

द्रव्यगुण में समुद्री द्रव्यों जैसे - शंख, प्रवाल, मुक्ता, अम्बर, समुद्रफेन आदि पर तो प्राचीनकाल में ही विशेष कार्य हुए हैं। परन्तु आज समुद्रीय वनस्पतियों पर कार्य 'नहीं' के बरावर हुआ है। समुद्री वनस्पतियों पर कार्य करने की योजना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्रव्यगुण-विभाग ने प्रस्तुत की है। इन वनस्पतियों में एल्गी और अल्वा प्रमुख है। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले देशों में आजकल जापान, चीन, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड और दक्षिण अमेरिका प्रमुख है। इन देशों के वैज्ञानिकों ने वृक्क, मूत्राशय तथा उदर के रोगों पर इन वनस्पतियों का प्रयोग किया और लाभ पाया है। एल्गी से एल्गीनेट नामक कैपसूल भी वनाया गया है, जिसका प्रयोग आपरेशन के समय होने वाले अधिक स्राव को रोकने के लिए किया जाता है। भारतवर्ष में समुद्री वनस्पतियों पर बहुत कम कार्य हुआ है। हो सकता है कि इस रत्नाकर में कुछ ऐसे रत्न हमें प्राप्त हो जायें, जो पीडित मानवता के लिए वरदान सिद्ध हों। इसे रत्नाकर इसलिए कहा गया है कि इसमें रत्न, उपरत्न तथा पेट्रोलियम आदि

ऊर्जा के स्रोत तथा अनेक वनस्पतियों के स्थान भी है। वनस्पतियों का मूल समुद्र में है - इसका उल्लेख भी है। अब तक पृथ्वी पर स्थित १/३ खण्ड पर स्थित वनस्पतियों के नाम, रूप, गुण-कर्मों का ही अध्ययन हो पाया है। परन्तु २०वीं शताब्दी के अन्त से यह आशा की जाती है कि समुद्री वनस्पतियों पर विशेष ध्यान दिया जाए।

उपर्युक्त सभी बातों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज २०वीं शताब्दी में -

१. द्रव्यगुण विश्व के समक्ष आयुर्वेद का प्रतिनिधित्व करता है।
२. विज्ञान की शिक्षा में द्रव्यगुण का प्रवेश हुआ और स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर इसका वैज्ञानिक स्वरूप प्रतिदिन निखरता ही जा रहा है।
३. स्तरीय पठन-पाठन एवं अनुसंधान होते रहने के फलस्वरूप 'आल्टरनेटिव मेडिसिन' के रूप में यदि विश्व में कोई चीज मान्य हुई है या होगी, तो उसमें द्रव्यगुण का प्रमुख स्थान है।
४. भविष्य में द्रव्यगुण-विज्ञान के प्रयोग पक्ष को और अधिक विस्तृत करना चाहिए।
५. समुद्री वनस्पतियों पर जो कार्य प्रारम्भ हुए, उस क्षेत्र में द्रव्यगुण को विशेष अभिरूचि प्रदर्शित करते हुए क्रियाशील हो जाना चाहिये।
६. छठां अन्तिम विन्दु हम यह देना चाहते हैं कि प्राचीनकाल की अपेक्षा आज जनसंख्या कई गुनी बढ़ गयी है। अतः अधिक मात्रा में औषधियों की आवश्यकता भी हो गयी है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए द्रव्यगुण विभाग ने यह सोचा है कि वनस्पतियों के उत्पादन की प्रणाली पर भी विशेष बल दिया जाय तथा जो वनस्पतियाँ अपने पंचभौतिक संगठन के अनुसार जंगल या आनूप प्रदेशों में अधिक पायी जाती हैं, वे यदि यहाँ उगायी जाए तो उनके गुण-कर्मों में कुछ अन्तर तो नहीं होंगे ? इसका विवेचन किया जाए। यदि कभी आती हो, तो ऐसी समायोजना वनायी जाए कि उनके गुणों में ह्रास न हो।

आज यह एक विचारणीय प्रश्न है कि आधुनिक औषधियों तथा एण्टीबायटिक्स, कार्टिसोन्स तथा अन्य आशुप्रभावकारी औषधियों का समावेश पंचमहाभूत एवं त्रिदोष-सिद्धान्तों के आधार पर आयुर्वेद चिकित्सा में किया जा सकता है या नहीं ? यदि किया जा सकता है तो द्रव्यगुण का वाङ्मय इससे समृद्ध या विकसित हो सकेगा या नहीं ? १६वीं शताब्दी तक जो भी द्रव्य आयातित हुए, उन्हें उसी रूप में हमने द्रव्यगुण के वाङ्मय में रखा। उनके रासायनिक तत्व पृथक् करके न रखे गये। अतः कहा जा सकता है कि इन एण्टीवायेटिक्स आदि का समावेश हम आयुर्वेद में नहीं कर सकते। दूसरा तर्क यह दिया जा सकता है कि औषधि के जो प्रशस्त गुण बताये गये हैं, यथा-

'बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना।
सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुणमुच्यते।।' - चरक, सूत्रस्थान

इस कसौटी पर भी आधुनिक औषधियां खरी नहीं उतरतीं। अतः इनका समावेश आयुर्वेद में नहीं किया जा सकता। तथापि यह प्रश्न विचारणीय है। अन्त में मैं इतना कहना चाहूँगा कि आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऑल्टरनेटिव मेडिसिन के रूप में इसे मान्यता मिली है तथा आयुर्वेद में द्रव्यगुण के प्रयोग-पक्ष पर कार्य द्रव्यगुण के विद्वानों, काय-चिकित्सकों तथा शल्य-चिकित्सकों ने किया है एवं यह अन्वेषण का क्रम चालू भी है। इसी तरह भविष्य में भी यदि हम द्रव्यगुण की परिभाषा 'द्रव्याणां गुणकर्माणि प्रयोगा विविधास्तथाः' के अनुसार द्रव्यगुण के प्रयोग-पक्ष पर कार्य करने में अधिक अभिरूचि प्रदर्शित करें, तो आयुर्वेद की धवल-कीर्ति पुनः एक बार चिकित्सा के व्योम को आलोकित कर सकती है। चरक-संहिता के अनुसार पूर्व में ही कहा गया है -

तेषां कर्मसु बाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च।
संयोगञ्च प्रयोगञ्च यो वेद स विभषग्वरः।। - च.सू. ४/२६

अतएव प्रयोग-पक्ष पर अभी और कार्य अपेक्षित है। इस प्रकार द्रव्यगुण विज्ञान के इतिहास का अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्तमान के इतिहास को और गरिमामय बनाने हेतु हमें द्रव्य-परिचय एवं द्रव्यप्रयोग इन दोनों क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य करने चाहिए।

एकादश अध्याय

पश्चिमगोलार्धीय पञ्चदश भेषज द्रव्य परिचय

१. अञ्जलिका Angelica

Angelica Archangelica
No. Umbelliferae

अञ्जलिका सदा प्रायः शीतेदेशे प्रजायते।
हिमदेशे हरिद्देशे नार्वे चैव स्वीडने।।
रूसे शिविर क्षेत्रेच बाल्टिकसागरे तटे।।

अंजलिका सदा ठंडे शीतकटिवन्धीय देशो, ग्रीनलैंड, नार्वे, स्वीडन, रूस के साइबेरिया क्षेत्र तथा बाल्टिकसागर के तटीय देशों में उत्पन्न होती हैं।

पञ्चैव मूलं वा पञ्चावाङ्ग तथैव हि।
प्रयुज्यते विशेषेण वनस्पतिविशारदैः।।

अंजलिका के पत्तो, जड़ अथवा पंचाग का प्रयोग हर्वलिष्टों द्वारा विशेषरूप से किया जाता हैं।

अञ्जलिका विबन्ध कामलानाशिनी तथा।
अनिद्रानाशिनी ह्या कफनिस्सारिणी सदा।।
शैत्यानिवारिणी प्रायः धूम्रपाने नियोजिता।।

अंज्जलिका कब्ज दूर करती है, कामला (Jaundice) नष्ट करती है, निद्रा लाती है और कफ को निकालती है।

शरीरगत शैत्य को दूर करने के लिए इसका धूम्रपान भी किया जाता हैं।

२. अतितिक्ता Centaury

Erythrea Centaurium Pers
N.O. Gentiananceae

त्रायमाणाकुले जाता ह्यार्द्रसैकत भूमिजा।
अतितिक्ता वरा ज्ञेया पत्रचक्रान्विता सदा।।

त्रायमाणाकुले में उत्पन्न अतितिक्ता नामक वनस्पति के पत्ते चक्राकार (Rosette of Leaves) होते हैं, जो गीली बालुई भूमि पर उगती है।

निर्गन्धतितिक्ता सा जाठराग्निविवर्धिनी।
लालस्त्रवकरी चैव पित्तस्रावकरी तथा।।

इसमें कोई गन्ध नहीं होती, पर रस में अत्यन्त तिक्त (Intensely bitter) होती है। जाठराग्नि को प्रदीप्त करती है, लार को निकालने वाली तथा मलपित्त (बाइल) का अधिक स्राव करने वाली (Cholagogue) होती है।

अम्लपितं च क्षुन्नाशं प्रसेकं जठरस्य तु।
निवारयत्यशेषं हि फाण्टरुपेण योजिता।।

अम्लपित्त (acidity) क्षुधानाश (Anorexia) और आमाशय के प्रसेक (Catarrh) का निवारण करने के लिए इसके फांट का प्रयोग किया जाता है।

३. अर्णिका Arnica

Arnica Monton
N.O. Com Positae

अर्णिका गिरितम्बाकुः यूरोपस्य निवासिनी।
कणाददेशेऽम्बरीषायां भूमौ समुपलभ्यते।।

अर्णिका को गिरितम्वाकू भी कहते हैं। यह यूरोप, कनाडा और अमरीका की भूमि में पाई जाती हैं।

अस्याः मूलसमीपे हि पत्राणि षट्सप्त वा।
जायन्ते चक्ररूपेण मध्ये दण्डः प्रतिष्ठितः।।
दण्डोपरि च पुष्पंस्यात् सूर्यमुखी समं सदा।।

इसकी जड़ के पास ६-७ पत्तों का चक्र होता है, जिसके बीच से एक डण्डा निकलता है जिसके सिरे पर सूरजमुखी के पुष्प जैसा फूल खिलता है।

मद्यसार प्रयोगस्त्वभिघाते चैव त्वग्व्रणे।
आघाते सूक्ष्मरूपेण दत्तेयं होमपैथिकैः।
बास्यलेपस्तु कर्तव्यः विषताभ्यन्तरे यदा।।

अभिघात और त्वचा के व्रण में इसके मद्यसार का प्रयोग किया जाता है। होम्योपैथ इसे आघात (Trauma) के प्रभाव को दूर करने के लिए सूक्ष्म मात्रा में देते हैं।

इसके मूल, पत्ते व पंचाग का वास्यलेप शरीर के अन्दर की विषता को दूर करता है।

४. अनुरक्ता St. John's Wort

Hypericum perforatum

N.O. Hypericaceae

अनुरक्ता सदा दीप्ता पत्रेषु तैलता स्थितिः।
तिक्ता च तु वरा चैव बहिस्तः व्रणरोपणी।।

स्वर्णवर्ण के रक्तिमायुक्त पुष्पों वाली यूरोप में उत्पन्न होने वाली अनुरक्ता अपने पत्तों में तेल की उपस्थिति से सदा चमकीली दिखाई देती है, जो रस में तिक्त और कषैली होती हैं। इसके पत्तों का लेप व्रणरोपण करने वाला होता हैं।

चतुमषिकफाण्टन्तु ह्यवसादं व्यपोहति।
तस्मिन् काले न कर्तव्यं भास्कररश्मिदर्शनम्।।
अन्यथा सर्वथा भाति दग्धा कापोलिकी प्रभा।
पुष्पानां च वै फाण्टं प्रयोक्तव्यं मनीषिभिः।
शामकेदं नाडीनां वर्द्धनी याकृतिक्रिया।।

मस्तिष्कगत अवसाद (Depression) को दूर करने के लिए इसके पंचांग का ४ ग्राम फाण्ट बना कर देते हैं। यह फाण्ट पीने के पश्चात् पीने वाले को सूरज की धूप से बचना चाहिए, अन्यथा इससे गालों पर जलने जैसे निशान पड़ जाते है, जिन्हें दूर करने के लिए अनुरक्ता के पत्तों का तेल लगाया जाता है। इसके फूलों का फाण्ट नाडियों पर शामक (Sedetive) प्रभाव डालता तथा यकृत की क्रिया की वृद्धि करता हैं।

५. अल्फाफा Alfalfa

N.O.

Medica satwa

अल्फाफा चाम्बरीषायां मूसू चीनस्य देशके।
प्रशंसिता विशेषेण विरूढयं हि सर्वथा।।

अमरीका में जिसे अल्फाफा कहते हैं, वहीं चीन देश में मूसू कही जाती है। सलाद में इसके भिगोकर तैयार किया विरूढरूप (Sprouted Form) ही विशेष प्रशंसित होता हैं।

मधुरा स्वादुपाका च दीपनी सा च पाचकी।
पत्रं तस्याश्च भवति वेदनास्थापनं वरम्।।
बृंहणी जीवनी सा तु अन्तः स्रावानुवर्द्धिनी।
भोजने योगस्तस्याः सदा कल्याण कारकः।।

अल्फाफा विरूढरूप में मधुर रस वाली तथा मधुर ही विपाक वाली होती है। यह दीपन और पाचन भी हैं। इसके पत्ते वेदना हर होते हैं। अल्फाफा में फौस्फोरस, पोटाशियम, लोहा, क्लोरीन सोडियम, सिलिका और मेग्नेशियम धातुओं के सूक्ष्मांश, विटामिन वी ६, ए, ई, के और डी तथा आठ प्रकार के अंजाइम होने से यह बृहंण, जीवनीय और हार्मोनों को नियमित करने वाली होती है, इसलिए भोजन के साथ इसे प्रत्येक अमरीकन खाता है।

आमाशयरूजाहन्त्री जाठरव्रणविनाशनी।।

इसके सेवन से गेस्ट्राइरिस और गैस्ट्रिक अल्सर नष्ट होता हैं। इसके लिए इसे हर घंटे सेवन करना पड़ता है।

६. असिपत्री Iris

Iris Ogermanica

N.O. Iridaceae

असिपत्री दीर्घमूला नीललोहित मूलिनी।
शिशूनां चर्विता साच दन्तोद्‌भेदनकारिणी।।
प्लीहोदरे च तिलके कासे चैव हितावहा।।

असिपत्री की जड़ का रंग नीललोहित या वैगनी वर्ण का होता है और इसकी जड़ लम्बी होती हैं। इसे शिशुओं को चवाने के लिए देने से उनके दांत जल्दी निकलते हैं। यह प्लीहावृद्धि, पैक्रियाज की सूजन और खांसी में दी जाती है। दुष्टव्रण में इसकी जड के चूर्ण का अडवूर्णन किया जाता हैं।

७. आस्यशोधनी Tormentil

P Otentilla erecta

N.O. Rosaceae

आर्द्रक्षेत्रे हि दृष्टा सा पीतपुष्पा ऽऽस्यशोधनी।
यूरोपे चैशियाक्षेत्रे मूलमस्याः दृढं घनम्।।

यूरोप और एशिया के आर्द्र क्षेत्रों में आस्यशोधनी उत्पन्न होती है। इसके पुष्प पीले और मूल दृढ और सघन होती है।

महास्रोतसि रोगे हि तथा रक्तातिसारके।
अन्यपाके प्रसेके वा चास्यपाके तथैव हि।
मूलक्वाथप्रयोगेण गण्डूषेण सुखावहा।।

इसकी जड़ के काढ़े को पिलाने या इसका गण्डूष करते रहने से महास्रोत के विकार, रक्तातीसार, अन्यपाक (Colities) प्रसेक, मुखपाक (Stomatitis) तथा मसूड़ों का शोथ (Gingivitis) नष्ट होता है। चर्मदल (Eczema) में इस क्वाथ से प्रक्षालन भी करते है।

८. ऋक्षफला Bearberry

Arbutus uva-Ursi
N. O. Ericaceae

ऋक्षफला सदाहरिता सुस्मृता किन्निकिन्नकम्।
स्थूलानि च पत्राणि मृदूनि भंगुराणि च।।
नीललोहित बीजानि पुष्पाणां च घटाकृतिम्।।

ऋक्षफला इसका नाम इसलिए पड़ा है कि इसे रीछ मजे से खाते हैं। यह सदा हरित (Ever green) होती हैं। इसे किन्निकिन्नक भी कहते है। इसके बीज बैगनी और फूलों का आकार घड़े जैसा होता है।

तिक्ता ऋक्षफला प्रायः तुवरा चैव शीतल।
वृक्काश्मरीणां हन्त्री च शैयामूत्रावकर्षणी।
अम्बरीभारतीयेश्च खाद्ये धूम्रे नियोजिता।।

अमेरिका के मूल निवासियों (अमरीकीभारतीयो) के द्वारा इसे भोजन में तथा धूम्रपान के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह वृक्काश्मरियों (Renal calculus) को नष्ट करती है तथा बालकों की शैयामूत्रता (Enuresis) को समाप्त करती हैं।

९. कटुपत्री Oregano

Origanum maxicana
N.O. Labiatae

मायादेशप्रसूता सा मायागन्धावहा तथा।
कटुपत्री च विख्याता खाद्यतीक्ष्णा प्रतिष्ठिता।।

मैक्सिको देश में उत्पन्न मैक्सीकोसेज नाम से कटुपत्री विख्यात है। जो एक खाद्यतीक्ष्ण या मसाला (Spices) है अर्थात् इसे दाल या शाक में डालने से इसकी स्वादिष्टता बढ़ जाती है। इसीलिए मैक्सीको एवं स्पेन के आहारों में इसका प्रयोग किया जाता है।

दन्तशूलविनाशोऽस्ति पत्राणां चैव चर्वणात्।
पत्रफाण्टन्तु दातव्यं चाग्निसन्दीपनाय वै।।

इसके चरपरे पत्तों के चबाने से दांतों का दर्द मिटता है। इसके पत्तों के मंजन से मुख की दुर्गन्धि दूर होती और मुखपाक नष्ट होता है। इसके पत्तों की चाय जठराग्नि को प्रदीप्त करती है।

१०. कण्टकी Blessed Thistle

Cnicus benedictus
N.O. Compositae

कण्टकी क्षुपरूपेण कण्टकैरावृता भृशम्।
तस्याः शीर्षे पीतपुष्पं एवैकं दृश्यते सदा।।

कण्टकी के पौधे पर अनगिनत कांटे छाये रहते है तथा इसके ऊपरी भाग पर पीले रंग का एक फूल पाया जाता है।

कण्टकी पिच्छिला स्निग्धा राल युक्ता विशिष्यते।
दीवनी पाचनी चैव श्वासे शान्तिदायिनी।
व्रणं दग्धव्रणं चैव लेपनात्सम्प्रशाम्यति।।
इयं होलीथिसिल या कण्टकी चिपस्वपी।

स्निग्ध, रेजिन युक्त, कुछ खट्टी होती है जो दीपन, पाचन तथा श्वास रोग, श्वास के कष्ट को शान्त करती है। इसके पौधों को पीस कर लेप करने से सामान्य व्रण तथा दग्धव्रण (burns) में आराम देती हैं।

११. काकपदी Columbine

Aquelegia vulgaries
N.O. Ranunculaceae

काकपदीयपुष्पाणि लम्बितानि त्वधोमुखाः।
नीललोहिततः नीलं वरवर्णानि सन्ति ता।।
त्रित्रिपत्रकयुक्तानि पत्राणि लघूनि हि।
दृश्यन्ते चाकचक्यानि शोभनानि सदैव हि।।

काकपदी के सुन्दर फूल लम्बे और धरती की ओर झुके हुए होते है, जिनका रंग बैगनी से लेकर नीला तक होता है। पत्ते ३-३ पत्रकों वाले और छोटे होते और देखने में बहुत शोभन होते हैं।

तिक्ता तीक्ष्णा काकपदी स्निग्धा स्वापदायिनी।
पिच्छिला काकपदिका लेपाद् हन्ति भगन्दरम्।

शोधे च त्वचापिडिकायां कामलायां दकोदरे।
यकृत्प्लीहोदरे चैव पत्रयूषः प्रशस्यते।

काकपदी तिक्त, तीक्ष्ण, स्निग्ध, निद्राकर, पिच्छिल होती है। इसका लेप भगन्दर (Fistula) पर किया जाता है। इसके पत्रों का यूष, शोध, त्वचा की पिडिकाओं, कामला, जलोदर, यकृत प्लीहोदर पर अच्छा काम करता है। उदरशूल में भी इसे देते है। इसमें प्रूसिक एसिड होने से इसका व्यवहार सोच समझ कर ही करना चाहिए।

१२. केशप्रिया Great Burdock

Arctium lappa
N.O. Compositae

केशप्रिया विशेषेण बहुदेशेषु जायते।
जापाने पत्र पुष्पं मूलं खाद्यं हि शस्यते।।

केशप्रिया संसार के अनेक देशों में उत्पन्न होती है। जापान में तो इसके पत्ते, फूल और जड़ का उपयोग भोजन में किया जाता है।

हृदयाकारपत्रेषु सघनेयं हि दृश्यते।
नीललोहितवर्णानि पुष्पाणि बहूनिच।।

इसके पत्र हृदयाकार और इसका पौधा घना होता है, जिस पर बैगनी रंग के सुन्दर अनेक फूल लदे होते हैं।

आमवाते अनिलेरक्ते रक्तदुष्टौ ज्वरेऽपिच।
त्वग्रोगेषु युक्तेयं मूलं तस्याः नियोजितम्।।

इसकी जड़ का उपयोग आमवात (Arthritis) वातरक्त (Gout) रक्त दुष्टि (Impurity of blood) ज्वर तथा चर्मरोगों में किया जाता है।

स्वेदला मूत्रला सा तु लेपात्केशविवर्धिनी।।

यह स्वेदल (Diaphoretic), मूत्रल (Diuretic) मधुर कषाय और स्निग्ध होती है, इसके लेप से बाल बढ़ते हैं।

१३. गन्धावहा Sage

Salvia officinalis
N.O. Labiatae

गन्धावहा हि मधुरा तिक्ता च तुवरा स्मृता।
कण्ठस्यशोषे गण्डूषः शीतकाले हितावहः।।

गन्धावहा मधुर, तिक्त और कषाय रसवाली होती है, जिसके क्वाथ का गण्डूष शीतकाल तथा किसी भी ऋतु में करने से गले और मुख का सूखना दूर होता है।

यक्ष्मायां रात्रिस्वेदस्य नाशिनी सा प्रकीर्तिता।
वक्तृभिः सम्प्रयोगात्तु स्वरे योजयते बलम्।।

राजयाक्ष्मियों के रात्रिस्वेद (Night-sweat) के नष्ट करेने में इसकी प्रसिद्धि है। इसी प्रकार गले में इसके फाण्ट के गलारे करने से स्वरयन्त्र का शोध और तुण्डिकेरी में लाभ मिलता है।

श्वसनिकाशोध (Bronchoiltis) और यकृत के शोध (Hepaltitis) को नष्ट कर रोगी को बल प्रदान करने के लिए इसके पत्तों की चाय (फाण्ट) वार-वार देनी चाहिए।

१४. गर्जरिका Parsley

Petroselinum hortense
N.O. Umbellferae

गर्जररूपिणी चैव गर्जरिका च पार्सली।
वर्षद्वयं वयस्तस्याः सर्वदिशोद्भवा हि सा।।

गाजर की आकृति वाली गर्जरिका यूरोप, अमेरिका में पार्सली कही जाती है। यह द्विवर्ष की आयु वाली और सभी जगह उगती है।

फलमुत्पततैलाढयं तैलं च विषसंयुतम्।
गर्भपातकर ञ्चैव मेहनोत्थापने वरम्।
गोदुग्धे दोलिकायन्त्रे द्वियामं स्वेदनं शुभम्।।

इसके फलों या बीजों में उड़नशील (volatile) और विषैला तेल होता है, जो गर्भपातकारक है तथा तिले की तरह पुरुषेन्द्रीय पर मलने से इसकी उत्थापन क्षमता बढ़ाता है। इसके प्रयोग के पूर्व (हमारे मत से) इसे दोलायन्त्र में १-२ प्रहर तक स्वेदन कर धोकर सुखा कर प्रयोग करना चाहिए।

अष्ठीलाग्रन्थिवृद्धौच क्रिया वृद्धिरवटोस्तथा।
खाद्यतीक्ष्ण प्रयोगेण मूलचूर्णं प्रशस्यते।।

वृद्धों की अष्ठीला (Prostate) ग्रन्थि के बढ़ने या अवटु (थायराइड) ग्रन्थि की क्रियावृद्धि में इसे देते है। इसकी जड़ का चूर्ण मसाले के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

१५. गवोष्ठिका Primrose

Primula officinalis
N.O. Primulaceae

गवोष्ठिका विशेषेण जाता मध्ययूरुपे।
पत्रचक्रान्विता सा तु दण्डे पुष्पसमन्विता।।

गवोष्ठिका या काव स्लिप या प्रिमरोज मध्ययूरूप की भूमि पर पैदा होती है जिसके पत्तों का चक्र (Rosette) वनता है, जिसके मध्य से दण्ड निकलता है, जिस पर फूल आते हैं।

वलियुक्तानि पत्रापि पृष्ठे च मृदुरोमशः।
स्वर्णपीतानि पुष्पाणि रक्ताधाराणि सन्ति च।।

इसके पत्ते, झुर्रीदार जिनके पृष्ठ भाग पर मृदु रोम होते हैं। फूल सुनहरे पीले जिनके आधार लाल रंग के होते हैं।

पत्रं पुष्पं च मूलं फाण्टरूपेण सेवितम्।
निस्सारयति बलासं च शैत्यं चैव नियच्छति।।
आमवातं व्रणं हन्ति मूलक्वाथावगाहनात्।।

इसके पत्ते फूल और जड़ की चाय बना कर पीने से यह कफ को निकालती और शैत्य पर नियन्त्रण करती हैं।

इसकी जड़ के क्वाथ में अवगाहन करने से आमवात का दर्द दूर होता और व्रण का शोधन रोपण हो जाता हैं।

ये पन्द्रह वनस्पति भेषज द्रव्य आचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी द्वारा लिखित आचार्य संहिता (जिसका लेखन अपने चार बार के अमेरिका प्रवास काल में किया गया है) नामक वृहद्ग्रन्थ के द्रव्यविद्याप्रवेशाध्याय से दिये गये हैं। इस अध्याय में देशी, विदेशी ४०० से ऊपर द्रव्यों का वर्णन है। स्वनिर्मित लगभग ६००० अनुष्टुप् छन्दों में यह ग्रन्थ आयुर्वेद के विविध विषयों पर अपने ढंग से प्रकाश डालता है। मात्र संस्कृत में होने से भारतीय प्रकाशक इसे प्रकाशित करने का साहस नहीं जुटा पा रहे। आशा है, 'आचार्य संहिता' अपने मुद्रित कलेवर में शीघ्र उपलब्ध होगी।

उपर्युक्त १५ द्रव्यों से सम्बद्ध श्लोकों की व्याख्या लेखक ने स्वयं की हैं।

आचार्य रघुवीर प्रसाद द्विवेदी–आप हाथरस उ.प्र. के रहने वाले हैं। आप हिन्दू विश्वविद्यालय से ए.एम.एस. किया था।

आपकी वुध्दि बहुत तीक्ष्ण थी। बहुत अच्छे वक्ता, लेखक एवं चिकित्सक रहे हैं। मध्यप्रदेश में आयुर्वेद उपनिदेशक रहे चुके हैं। आपके संपादन में अनेकों वर्ष तक 'सुधानिधि' के अंक प्रकाशित हुए हैं। आप स्व. डा. मुकुन्दीलाल द्विवेदी 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' के सम्पादक रहे हैं तथा अनेकों उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन किया है। त्रिवेदी जी अब हमारे बीच नहीं रहे। आप स्वयं इस रचना को इस ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ प्रेषित किया था।

(सम्पादक)

द्वादश अध्याय

शल्यतंत्र का विकास क्रम

शल्य-तंत्र अति प्राचीन तंत्र है। इस का प्रादुर्भाव वैदिक काल से है। वेदों में यत्र तत्र शल्य तंत्र सम्बन्धित विषयों का वर्णन मिलता है, जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। वृहद्‌त्रयी (चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट) में अष्टांग आयुर्वेद की कल्पना की गयी है, जिसमें शल्य, शालाक्य एक प्रमुख अंग के रूप में वर्णित है। आचार्य सुश्रुत ने अष्टाङ्ग आयुर्वेद में शल्य को प्रथम अंग के रूप में वर्णित कर इसकी प्रधानता को सिद्ध करते हुए, इसकी उपयोगिता को परिलक्षित किया है।

सुश्रुत संहिता में शल्य, शालाक्य विषयक सिद्धान्त आज के आधुनिक युग में भी प्रासंगिक है। शास्त्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में शल्य तन्त्र विषयक ज्ञान अपनी चरम सीमा पर था, परन्तु बार-बार विदेशी आक्रमण, राजनैतिक अस्थिरता तथा बौद्धिक अहिंसा के प्रभाव से एक लम्वे समय तक इसकी उत्तरोत्तर अवनति हुई।

वेदों में वर्णित शल्य सम्बन्धित कई विषय जैसे शिरःस्थापन (Head Transplantation) आदि आज भी काल्पनिक लगते हैं, लेकिन जिस तरह विज्ञान अंगप्रत्यारोपण में दिन प्रतिदिन अपनी उपलब्धता हासिल करता जा रहा है, तो शायद वह दिन दूर नहीं जब आधुनिक वैज्ञानिक भी शिरस्थापन कर वेदों की इस कल्पना को सिद्ध कर देगें।

शल्य की उत्पत्ति

शल्य शब्द का मूल "शल् हिंसायाम" है। अर्थात् जो शरीर में हिंसा करता है। उसे शल्य कहते हैं।

> "शलनं हिंसनं शलः तथा च शल्यस्य हिंसाया
> निमित्तं संयोगो यस्य तत् शल्यम्।" (सु०सू० २६/३ चक्रपाणि टीका)

अर्थात् कोई वस्तु जब शरीर में चुभकर कष्ट दे या शरीर की त्वचा आदि धातुओं को किसी भी रूप में क्षति पहुँचाये, उसे शल्य कहते हैं।

"शल्य हिंसायाम् धातुः तस्य शल्यमितिरूपम्" (सु०सू० २६/३ डल्हण टीका)

आचार्य सुश्रुत ने शल्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि-

> शल खलं आशुगमने धातुतयोराधय्य शल्यमितिरूपम्। (सु०सू० २६/३)

अर्थात् शीघ्रतापूर्वक आंकर जो शरीर और मन को दुःख पहुचाता है, उसे शल्य कहते हैं।

"मनः शरीरबाधाकरणानी शल्यानी।" (सु०सू० ७/४)

अर्थात् जो मन और शरीर के लिए बाधाकर हो या कष्टकारी हो, उसे शल्य कहते हैं।

"यद्किंचिदाबाधाकरं शरीरे तत् सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्"(सु०सू० १/७-डल्हण टीका)

अर्थात् शरीर को कष्ट या दुःख पहुँचाने वाली कोई भी वस्तु को (उदाहरण-प्रकुपित दोष, धातु मल इत्यादि) शल्य कहते हैं।

शल्य तंत्र

तत्र, शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठापाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्ट-व्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चायार्थञ्च।

(सु०सू० १/६)

अर्थात् जिस शास्त्र में विविध प्रकार के तृण (घास), काष्ठ (लकड़ी), पत्थर, धुलि के कण लौह, मिट्टी, हड्डी, केश, नाखून, पूय (मवाद Pus), स्राव (Discharge), दूषित व्रण, अन्तः शल्य तथा गर्भ (मृतगर्भ) शल्य आदि को निकालने का ज्ञान, यन्त्र शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म करने का ज्ञान तथा व्रणों का आम, पच्यमान और पक्व आदि का निश्चय किया जाता है उसे शल्यशास्त्र कहते हैं।

शल्य तंत्र का इतिहास

भारतीय शल्य तंत्र का गाथा प्रागैतिहासिक युग से प्रारम्भ होकर आज तक विभिन्न उतार-चढाव के दौर से गुजरती हुई निरन्तर प्रगतिशील है।

शल्यतंत्र की उत्पत्ति वेदों से है और वेद विश्व के सर्वोच्च एवं अनादि साहित्य हैं। वेदों को चार भागों में बाटा है-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अर्थववेद। इन चारों वेदों में शल्य सम्बन्धित विषय यत्र तत्र मिलते हैं।

ऋग्वेद में शल्य तंत्र

चारों वेदों में ऋग्वेद की उत्पत्ति सर्वप्रथम मानी गयी है। ऋग्वेद का काल ई० पू० २५०० माना जाता है।

ऋग्वेद में देवों के चिकित्सक माने जाने वाले अश्विनी कुमार द्वय का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अश्विनी कुमार के चिकित्सकीय चमत्कारों में शल्य कर्मो का वर्णन मिलता है। जिसका वर्णन निम्नवत् है -

१. ऋग्वेद के १/११७/१७ में दृष्टिदान के वारे में उल्लेख मिलता है।

आक्षीऋज्राश्वे अश्विनावधत्तम्।
ज्योतिरन्धाय चक्रथुः विचक्षे।। (ऋग्वेद १/११७/१७)

२. अश्विनी ने अथर्व के पुत्र दध्यं को घोडे का सिर जोडा, तव उन्होने अश्विनौ को मधु विद्या सिखायी।

आथर्वणायश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्।
स वां मधुं प्रवोचदृऋतायन्, त्वाष्ट्रं यद् दस्त्रावपिकक्ष्यं वाम्।।

(ऋग्वेद १/११७/२२)

३. अश्विनी ने युद्ध में विशाला की कटी टांग के स्थान पर लोहे की टांग स्थापित की।

चरित्रं हि विरिवाच्छेदि पर्णमाजाखिलस्य परितकम्यायाम्।
सद्यो जंधामायसीं विश्पलावे धने हिते सर्तवेप्रत्यधतम्।।

(ऋग्वेद १/११६/१५)

४. अश्विनी द्वारा छिन्न-भिन्न अंगो को भी जोड़ने का उल्लेख मिलता है।

अश्वं न गूलमश्विना दुरेवैऋषिंनरा वृषणारेभमप्सुः।
सं तंरिणीथो विप्रुलतं दंसोभिर्न वां जुर्यन्ति पूर्व्याऔतानि।।

(ऋग्वेद १/११७८४)

५. अश्विनी कुमार ने श्याव के तीन जगह से कटु हुए अंगों को जोड़ा था।

त्रिधाहश्यावं अश्विना विकस्तं उज्जीवसे ऐरयतम् सुदानू।

(ऋग्वेद १/११७/२४)

इसके अतिरिक्त अश्विनौ कुमार के और भी शल्यकर्मो का उल्लेख मिलता है।

(i) कर्णव्यधबंधन (Ear plasty) - ऋग्वेद १/११७/८
(ii) कटे अंगों को जोड़ना . - ऋग्वेद १०/३८/३
(iii) अंधे कण्व को दृष्टि दिए - ऋग्वेद १/११७/८
(iv) वधीर नीशदपुत्र को कर्ण दिए - ऋग्वेद १/११७/८
(v) अंधे की आँख ठीक कर दी - ऋग्वेद १०/३८/३
(vi) टुटे अवयव को जोड़ना - ऋग्वेद १०/३८/३

अश्विनी कुमार के अतिरिक्त ऋग्वेद में इंद्र के शल्यकर्म के कुछ चिकित्सकीय चमत्कार मिलते है।

"व्रण्णे ते हरि वृषणायुर्नाज्म" (ऋग्वेद २८/२७/६)

उपर्युक्त संदर्भ में इंद्र द्वारा वृष के प्रत्यारोपण का प्रसंग परिलक्षित होता है।

"यथानकुलो विच्छिनौ संदधात्याहि पुनः।
एवा कायस्य विछिन्न संधेहि वीर्य वति।।" (ऋग्वेद ६/१३६/५)

इस श्लोक में इद्र के संधान कर्म का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अंध परावृज को दृष्टिदान, पंगुश्रोण को गतिदान आदि कर्म इन्द्र द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है।

यजुर्वेद में शल्य चिकित्सा

यजुर्वेद में मुख्यतः शल्यतंत्र की दृष्टि से मर्म के बारे में उल्लेख मिलता है-

मर्माणि ते वर्मणानाछादयामि सोमस्त्वाराजामृतेनानुवरताम्।

उरोर्वरीयो वरूणस्ते औणोतु जयन्तं त्वानुदेवा मदन्तु।। (यजु० १७/४६)

यजुर्वेद में शल्यप्रधान तथा कायिक प्रधान रोगों के निवारणार्थ प्रार्थना मिलती है।

अश्मा च मेमृत्तिका मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे

वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मे यश्च मे श्यामन्च मे
लोहन्च मे सीसंश्च में त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।। (यजु० १८/१३)

यजुर्वेद में शल्यतंत्र विषयक वर्णन बहुत ही कम मिलता है।

सामवेद में शल्य चिकित्सा

सामवेद में भी शल्य सम्बन्धित बहुत कम विषयों का वर्णन मिलता है। सामवेद में इन्द्र को अश्विनी कुमार के बाद वैद्य संज्ञा प्रदान की गयी है। इसमें इन्द्र के बारे में कहा गया है कि जो इन्द्र, प्रभु, आत्मा, विश्लेषण अर्थात् जोड़ने वाले द्रव्य के बिना ही पूर्व ही जीवों के ग्रीवा आदि जोड़ो को उनके अलग-अलग बिखर जाने के पूर्व ही जोड़ देता है। वह सर्वत्र पूज्य, ऐश्वर्यो का स्वामी तथा शस्त्र से कटे अंगों को भी अच्छी तरह बनाता है।

य ऋते चिदमिश्रिषः पुरा जत्रुभ्यः आतदः।
सन्धातां सन्धिमधवा पुरू वसुर्निष्कर्ता विह्रु तं पुनः।। (सामवेद ३/२/२/३)

अथर्ववेद में शल्य चिकित्सा

अथर्ववेद में आयुर्वेद सम्वन्धी विषय का विस्तार से वर्णन मिलता है। कुछ विद्वान आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानते है। चिकित्सा के विभिन्न विषयों के साथ शल्य चिकित्सा सम्वन्धित आख्यान अथर्ववेद में प्रचुर मात्रा में मिलते हे, जिसका वर्णन निम्नवत् हैं-

१. *मूढ गर्भ चिकित्सा*-मूढगर्भ में गर्भाशय को चीरकर गर्भ बाहर निकालने तथा रूके हुए मूत्र को मूत्राशय से बाहर निकालने का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है-

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनि वा गविनिके।
विमातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्।।

(अथर्व १/११/५)

२. *अश्मरी मूत्रदोष निवारण*-अथर्ववेद में मूत्र से होने वाले रोगों के वर्णन में यह संदर्भ मिलता है कि जब मूत्र अपने पूर्ण. वेग से बाहर आता है, तो उससे बहुत से दोष दूर हो जाते है। शरीर के सभी विष मानों इस मूत्र में इकट्ठा होकर मूत्र के रूप में बाहर निकलते है। अगर मूत्र अंदर रूक गया, तो विष पूरे शरीर में फैल जाता है। ऐसे मूत्राशय में रूके मूत्र को शलाका डालकर बाहर निकालना चाहिए। इस कार्य के लिए शर अथवा मूंज का प्रयोग होता है। (अथर्ववेद - १/३/६/९)

३. *रूधिर स्राव चिकित्सा*-अथर्ववेद में विविध नाड़ियों का वर्णन मिलता है। इन नाड़ियों का रूधिर स्राव रोकने के लिये प्रार्थना के मन्त्र मिलते है।

परिवः सिकतावती धनूर्बृहत्य क्रमीत्।
तिष्ठतेलयता सु कम्।। (अथर्ववेद १/१७/४)

४. *विष में बुझे व्रण की चिकित्सा*

"शल्याद् विषं निरवोचं प्रान्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निर वोचमचं।। (अथर्ववेद ४/६/५)

५. *व्रण की चिकित्सा*-मुखरहित व्रण की चिकित्सा के लिये गोमूत्र से व्रण का मर्दन करे तथा व्रण से दांत के मैल को अभिमन्त्रित कर व्रण पर लेप करें।

"इदमिव वा इत्याच्छिन्नं मूत्रफेनेनोद्भिद्रय प्रलिम्पयानि दन्तमजसा।

(कौ०सु० ७/५)

६. *क्षतव्रण और छिन्न अंगों की चिकित्सा*

रोहिणीत्यवनक्षपे वसिन्चति पृषातकं पाययत्यभ्यनक्ति। (कौ० सु०४/४)

रोहिण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्यरोहिणी।
रोहयेदमरून्धति।। (अथर्ववेद ४/१२/१)

७. *अस्थि भग्न चिकित्सा*

यत्तेरिष्टं यत्ते द्युत्तमस्तिपेष्ट्रंत आत्मनि।
धांता तद् भद्रया पुनः सं दधत पुरूषापरूः। (अथर्ववेद ४/१२/२)

८. *दंड तथा इक्षु से किए व्रण की चिकित्सा*

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारूर्हरसा औतम्।
तस्य त्वमसि निष्औतिः सेमं निष्कृधिपूरूषम्। (अथर्ववेद ५/५/४)

९. *विद्रधि विसर्प की चिकित्सा*

यो अ यो यः फर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधरान्चं सुवामसि।। (अथर्ववेद ६/१२७/३)

ब्राह्मण साहित्य में शल्य चिकित्सा

"ब्राह्मन्" "ब्रह्मान्" के व्याख्यापरक ग्रंथों के नाम है। 'ब्रह्म' शब्द स्वयं अनेक अर्थो में प्रयुक्त होता है। जिसमें से इसका एक अर्थ है मंत्र, वेद निर्दिष्ट मंत्र -**ब्रह्मः वै मन्त्रः**। (शत० ब्रा० ७/१/१/५)

इस प्रकार वैदिक मंत्रों के व्याख्यान करने के कारण ब्राह्मण को यह नामकरण मिलता है। ब्रह्म का दूसरा अर्थ है यज्ञ। यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण को प्रस्तुत करना ब्राह्मणों का मुख्य विषय है। इस प्रकार ब्राह्मण साहित्य में मंत्रों तथा विनियोगों की व्याख्या मिलती है। निम्नलिखित ब्राह्मण साहित्य में शल्य कर्म सम्बन्धित उल्लेख मिलते है -

१. जैमनीय ब्राह्मण-जैमनीय ब्राह्मण में मधुविद्या तथा प्रवर्ग्य विद्या का उल्लेख मिलता है। मधु विद्या शक्ति, संधान और जीवन का शास्त्र है, जिसका उपयोग पुरूष की शक्ति बढ़ाने के लिए मृत अंग को जोड़ने तथा मृत पुरूष को पुनर्जीवित करने के लिए करते हैं।

संधान कर्म

जैमनीय ब्राह्मण का क्षत एवं भग्न अवयवों का संधान कर इन्हें प्राकृतिक रूप में लाना उद्देश्य है।

तद् यथ शीर्ण तत् पर्वणा पर्बसंधाय भिषज्येद एवं एवैवं विदास्तत् सर्व भिषज्यति।

(जै०ब्रा० १/३५८)

प्रवर्ग्य विद्या

मधु विद्या के साथ प्रवर्ग्यविद्या का उपदेश इन्द्र से दधिचि को और उससे अश्विनी

कुमारो को प्राप्त हुआ था। कटे हुए शिर को धड़ से जोड़ने की विद्या को प्रवर्ग्य विद्या कहते हैं। इसका दूसरा नाम अपिकक्ष्य भी था।

आथर्वणायाश्विना दधीचे शव्यं शिरः प्रत्यैरयतम्।
स वां मधु प्रवोचद्रतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपिकक्ष्य वाम्।। (जै० ब्रा० ३६)

प्रवर्ग्य विद्या उस काल में बहुत उन्नत अवस्था में थी। गणेश जी के कटे हुए सिर के स्थान पर हाथी का सिर लगा देना इसी से सम्भव हुआ। दधीचि के उदाहरण में तो इस विद्या का अपूर्व चमत्कार निहित है। दधीचि के सिर को काटकर सुरक्षित रखना, घोड़े के सिर को उनके धड़ से जोड़ना पुनः उनको अपना सिर जोड़ना, यह जटिल शल्य क्रिया अश्विनौ कुमारों द्वारा की गयी। (जै०ब्रा० ३/१०८)

वैदिक साहित्य में वर्णित अन्य अंग प्रत्यारोपण का भी उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि रामायण में भी एक प्रसंग आता है कि अहिल्या के साथ व्याभिचार करने के कारण गौतम के शाप से इंद्र के अण्डकोष गिर गये थे। फिर पितृदेवों ने आकर मेष के अंडकोष इन्द्र को लगा दिए। यह कथा जैमर्नीय ब्राह्मण में भी आई है।

शतपथ ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण में शवच्छेदन सम्बन्धी वर्णन मिलता है।

मनुष्याणां दिक्तमङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन्न काष्ठैर्दारूभिर्वा इतर शवं व्यृषन्ति नेत्तथा करवाम यथेतर शवमिति तस्माद्दङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन्रन काष्ठैर्यदा होता सूक्तवाहमाह।

(श०ब्रा० १/८/३/१८)

शतपथ ब्राह्मण में जल द्वारा व्रण चिकित्सा तथा यज्ञ द्वारा युद्ध में लगे हुए बाण को निकालने का वर्णन मिलता है।

त्वष्टासुदवो विदधातुरायोनुमर्ष्टुितन्वो यद्विलिष्टमितियद्विवृढ तत्सन्दधाति।

(श० ब्रा० १/९/३/६)

महा हविषा हवै देवा वृतं जघ्नुः। तेनो एव व्यजयन्त ये यमेषां विजितिस्तामय यानेवैषां तस्मिनन्तसंग्राम इषवआर्छस्तानेतैरेव शल्यन्निरहन्त तान्व्य वृहन्त यत्त्रयम्बकै रजयन्त।।

(श०ब्रा० २/६/२/१)

शतपथ ब्राह्मण में गर्भशल्य की चिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है।

(श०ब्रा० ४/१५/२/३)

स्मृतिग्रंथों में शल्य तन्त्र

उपनिषद की तरह स्मृतियाँ भी अनेक हैं। इनमें प्रधान मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा नारद स्मृति हैं। स्मृतियों में आयुर्वेद के सद्वृत्त सम्बन्धी, वनस्पति संबंधी वर्णन मिलता है, लेकिन याज्ञवल्क्य स्मृति में शल्य सबन्धी उल्लेख मिलते हैं।

पुराणों में शल्यतंत्र

पुराणों में भी शल्य सम्बन्धित रोगों की औषधि चिकित्सा बतायी है। अग्निपुराण में भी अश्मरी की औषधि चिकित्सा के साथ साथ अर्श, नाड़ी व्रण, व्रणशोथ के लिए अलग-अलग औषधियों का वर्णन मिलता है।

पद्यम् पुराण में भी शल्य संबंधित विषयों का वर्णन मिलता है।

जैन वाङ्मय में शल्य चिकित्सा

जैन वाङ्गमय ने भी शल्य चिकित्सा का व्रर्णन मिलता है। व्रण चिकित्सा भी सफलता पूर्वक की जाती थी। जैन आगम सूत्रों में दो प्रकार के व्रणों का वर्णन मिलता है।
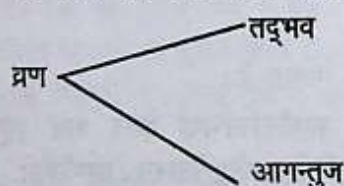
फोड़े तथा पीडिका को धोकर, साफकर, उन पर तैल, घृत का लेप लगाया जाता था। (निशिथ सूत्र ३/२२-२४)

युद्ध में तलवार आदि से घायल होने पर व्रणों का उपचार किया जाता था। युद्ध के समय औषध व्रण पट्ट, मालिश का समान, व्रण संहोरक तैल, व्रण संहोरक चूर्ण, घृत आदि लेकर चलते थे तथा आश्यकता पड़ने पर व्रणों का सीवन भी करते थे। (व्यवहार भाष्य ५/१००-१०३)

बौद्धकालीन शल्यतंत्र

भारतीय चिकित्सा इतिहास में बौद्ध काल का समय शल्य के अवनति का प्रमुख काल माना जाता है विशेषतः बौद्ध के अहिंसा का प्रभाव भारतीय शल्य तंत्र पर पूर्णतः परिलक्षित होंती है। इसके साथ ही साथ इस काल में भी शल्य तंत्र का उत्कर्ष किसी अन्य शाखा उदाहरण काय चिकित्सा आदि से बिल्कुल कम नही था।

मज्झिम निकाय के एक श्लोक में (१११/१०१) शल्यज्ञ के बारे में कहा गया है कि

शल्यज्ञ का काम मुख्यतः शल्य को शरीर से बाहर निकालकर उस स्थान पर औषध लगाना है। शल्य की वजह से होने वाली वेदना का नाश करना है।

विनय पिटक में (वि०पी० ८) श्रेष्ठ शल्य चिकित्सा जीवक और आकाश घोष का उल्लेख मिलता है।

मिलिन्द पन्हों में (मि०प० ६/६) शल्यज्ञ के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। शल्यज्ञ को संस्थाग्रहण (Holding lancets), छेदन, वेधन, आहारण व्रण धावन, व्रणशोषण, भैषज्यानुलेपन का प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करना चाहिए।

शल्यक को प्रधान कर्म से पूर्व योग्या विधि का अभ्यास करना चाहिए। (मि०प० ८ए ५६१६)

शल्य सम्बन्धित १२ रोगों का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है। अंतगंध बंध, अर्बुद, आस्राव, गंड, पडकिल, फडफालित, फोड, भगंदर, मेदोग्रंथी, व्रण, विषगंडक रोग। विनय पिटक में महावग्ग में जीवक के पूरे जीवन चरित्र का वर्णन मिलता है। यह जीवक (बौद्ध कालीन जीवक) एवं वृद्ध जीवक अलग-अलग हैं।

जीवक जब अपना शिक्षण पुरा करके तक्षशिला विद्यापीठ से घर की ओर जा रहे थे, तो रास्ते में साकेत स्थान पर जीर्ण शिरःशूल की चिकित्सा औषधि लेप से की थी। (वि०पी०, महावग्ग ८/२.५)

- जीवक ने एक व्यापारि के पुत्र के सिर में पड़े कीड़ों को शल्य कर्म द्वारा निकाला था। (वि०पी० महावग्ग ८/४.७)
- राजा विम्बिसार का भगन्दर जीवक ने एक ही लेप में ठीक किया था। (वि०पि० महावग्ग ८/३.३)
- भोज एवं निमी नामक शालाक्य तंत्र का उल्लेख मिलता है।
- बाहर निकले नेत्र को पुनः स्थापित किया। (जीवक १५/४६६)

  अंगुज निकाय में शालाक्य सम्बन्धित अनेक व्याधियों का वर्णन मिलता है। उसमें नेत्र, कर्ण, मुख एवं शिरो रोगों का वर्णन मिलता है।
- राजा सिवी का नेत्र गोल निकाल कर एक ब्राह्मण को लगाया था। (जातक १५/४६६)
- नासाबंधन, प्रतिश्याय, शिरःशूल आदि का उल्लेख मिलता है।

रामायण में शल्य तंत्र

अश्विनि कुमारों का उल्लेख रामायण में मिलता है। गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या के साथ दुराचार करने के कारण गौतम ऋषि के श्राप से इंद्र के वृषण शुष्क हो गये थे, उस जगह मेष के वृषण का प्रत्यरोपण किया था।

रावण ने सीता का अपहरण करके अशोक वाटिका में कैद करके रखा था। जब हनुमान अशोक वाटिका जाते है, तब सीता, राम के लिए यह संदेश भेजती है-

"जिस प्रकार शल्य चिकित्सक मूढ गर्भ का एक-एक अवयव काट के उसे बाहर निकलाता है और माँ की रक्षा करता है उस प्रकार तुम रावण के एक-एक अंग काट के निकालो एवं मेरी रक्षा करो। (वाल्मीकि रामायण - सुन्दर कांड)

उपर्युक्त संदर्भ से यह सिद्ध होता है कि रामायण काल में भी शल्य चिकित्सा प्रगति पर थी।

रामायण में शव संरक्षण का भी उल्लेख मिलता है, जब राम वनवास गये थे, उस समय उनके पिता दशरथ का देहान्त हुआ था। भरत यह संदेश देने के लिए राम के पास गये थे, तब तक उनका शव तैल द्रोणी में सुरक्षित रखा गया था। (अयोध्या कांड १४/१६)

रावण की मृत्यु नाभी मर्माघात से हुई थी, इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण काल में मर्म का पूरा ज्ञान था।

महाभारत में शल्य तंत्र

महाभारत में सैन्य चिकित्सा का वर्णन है। युधिष्ठर ने सैन्य चिकित्सा के लिए शस्त्र विशारद वैद्य रखे थे। (महाभारत उद्योग पर्व १०/१२)

महाभारत में अश्विनी कुमार का उल्लेख प्राप्त होता है। उपमन्यु नेत्र प्राप्ति के लिए अश्विनी कुमार की प्रार्थना करता है। (महाभारत आदि पर्व ५/५६)

महाभारत में भीष्म जब शर शय्या पर पड़ गये थे, तब उनकी चिकित्सा के लिए दुर्योधन शल्य निकालने में निपुण वैधों को लेकर पहुचे थे। (महाभारत भीष्म पर्व २०/५५/५६)

संहिताओं में शल्यतंत्र

आयुर्वेदिक संहिताओं में आयुर्वेदावतरण के सन्दर्भ में थोड़ी विभिन्नता देखने को मिलती है। इस आयुर्वेद को सर्वप्रथम ब्रह्मा ने वर्णन किया, ब्रह्मा से दक्षप्रजापति, दक्षप्रजापति से अश्विनी कुमारो तथा अश्विनी कुमार से इन्द्र ने ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र तक की परम्परा प्रायः सभी संहिताओं में समान रूप से मिलती है। इन्द्र के बाद आयुर्वेद के विभाग हो गये उसमें मुख्यतः आत्रेय सम्प्रदाय जो कि कायचिकित्सा प्रधान है, धन्वन्तरी सम्प्रदाय जो कि शल्य प्रधान है में विभाजित हो गये। आत्रेय सम्प्रदाय का प्रमुख चिकित्सा ग्रंथ चरक संहिता एवं धन्वन्तरी सम्प्रदाय का प्रमुख चिकित्सा ग्रंथ सुश्रुत संहिता माना जाता है।

चरकसंहिता कायचिकित्सा प्रधान ग्रंथ है, लेकिन महिंष चरक ने जगह-जगह पर जहाँ जरूरत है वहाँ शल्य चिकित्सा का वर्णन किया है अथवा "धन्वतरीधिकारैः" समझ

के छोड़ दिया है। चरक संहिता में निम्नलिखित शल्य तंत्र के उल्लेख मिलते है -

(१) महर्षि चरक ने गुल्मचिकित्सा में कफज गुल्म में शल्य चिकित्सा का वर्णन किया है।

वमनं वमनार्हाय प्रदद्यात् कफगुल्मिने। स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्य मागते।।
परिवेष्ट्य प्रदीप्तांस्तु बल्वजानथवा कुशान्। भिषक्कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे न्यसेत्।।
संगृहीतो यदागुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्। वस्त्रान्तरं ततः औत्वा भिद्याद् गुल्मं प्रमाणवित्।।
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीड्येत्। मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत।।

(च०चि० ५६१३७.१४०)

आचार्य चरक ने पक्व गुल्म की चिकित्सा ऐसे धन्वन्तरि सम्प्रदाय वाले वैद्य जो व्यधन, शोधन एवं रोपण क्रिया में विशेष योग्यता प्राप्त कर चुके हो, उन्हें ही चिकित्सा करने का अधिकार बताते हैं। अर्थात् ऐसे रोगी को शल्य चिकित्सक के पास भेज दें -

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ।
वैद्यानां क्रतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे।। (च०चि० ५/६४)

चरक ने गुल्म के अतिरिक्त प्रमेह पीडका की चिकित्सा शल्य शास्त्र विशारद चिकित्सक से शस्त्र द्वारा तदन्ततर संशोधन एवं रोपण औषधियों के द्वारा करने को कहा है।

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सप्त।
ताः शल्यविद्भिः कुशलेचिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च।। (च०चि० ६/५८)

श्वयथु चिकित्साध्याय में वर्णित ग्रथि रोगों की चिकित्सा शल्य कर्म द्वारा बतायी है।

संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः साङ्खष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम्।
विपाटय चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्।।

(च०चि० १२/८२)

ग्रंथी रोगों की तरह ही अर्बुद रोगों की चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् अर्बुद रोगी की चिकित्सा भी शल्य कर्म से करनी चाहिए।

ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः।
तत ।कित्सेद्भिषगर्बुदानि विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सतेन।। (च०चि० १२/८७)

चरक ने ब्रघ्न, मूत्रवृद्धि, मेदोजवृद्धि एवं कफजवृद्धि की चिकित्सा शस्त्र क्रिया द्वारा चीरा लगाकर शोधन के पश्चात् सीवन क्रिया द्वारा करनी चाहिए।

विरेचनाभ्य निरूहलेपाः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।
स्यान्मूत्रमेदः कफजं विपाध्य विशोध्य सीव्येद् व्रणवच्च पक्वम्।। (च०चि० १२/९५)

भगन्दर की चिकित्सा में भी शस्त्र कर्म का वर्णन है।

विरेचनं चैषणपाटनं च विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः।
स्यात् क्षारसूत्रेण सुपाचितेन च्छिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा। (च० चि० १२/६७)

उदरदोग चिकित्साध्याय में बद्धगुदोदर एवं छिद्रोदर रोगों की चिकित्सा ऐसे शल्य चिकित्सक द्वारा जो शस्त्र कर्म को प्रत्यक्ष देखे हुए हो, द्वारा करने को बताया है।

इदं तु शल्यहर्तणां कर्म स्वाद् दृष्टकर्मणाम्।।
वामं कुक्षिं मापचित्वा नाभ्यध ातुर ुलम्।
मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक्।।
विपाटयान्त्रं ततः प ाद्वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः।
सर्पिषाऽभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत्।।
मूर्च्छनाद्यश्च संमूढमन्त्रं तच्च विमोक्षयेत्।
छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दशयित्वा पिपीलिकैः।।
बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वाच्छित्वा पिपीलिकान्।
प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रेयैः सीव्येद् व्रणं ततः।। (च०चि० १३/१८४-१८६)

चरक ने जलोदर में शस्त्रकर्म का वर्णन किया है। जलोदर में नाड़ी यन्त्र (Conula) द्वारा जल का निर्हरण (Paracentesis) करने को कहा है।

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद्भिषक्।
वामपार्श्वे त्वधो नाभेर्नाड़ी दत्त्वा च गालयेत्।।
विस्राव्य च विमृद्यैतद्वेष्टयेद्वाससोदरम्। (च०चि० १३/१६०)

द्विव्रणीय चिकित्साध्याय में व्रण से सम्बंधित विस्तृत वर्णन मिलता है। चरक ने व्रण के ८ स्थान, ८ प्रकार की गन्ध, १४ प्रकार के स्राव, १६ प्रकार के उपद्रव, २४ प्रकार के दोष और चिकित्सोपक्रम ३६ प्रकार के बताये हैं।

स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः, परिस्रावा ार्तुदश।
षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा।।
तथा चोपक्रमाः सिद्धा षट्त्रिंशत् समुदाहृताः। (च०चि० २५/१८-१६)

चरक ने अस्थिभग्न (Fractures) एवं संधिच्युत की चिकित्सा द्विव्रणीय चिकित्साध्याय में बतायी है। (च०चि० २५/६८-६६)

चरक ६ प्रकार के शस्त्रकर्म बताये हैं-

पाटनं व्यधनं चैव च्छेदनं लेखनं तथा।
प्रच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्।। (च०चि० २५/५५)

चरक संहिता के त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय में मूत्रकृच्छ्र, मूत्राश्मरी के प्रकार, लक्षण और चिकित्सा एवं औषधी द्रव्यों का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त चरक संहिता में अलग-अलग जगह पर शरीर रचना गर्भावक्रान्ति, मर्मा की संख्या का भी उल्लेख मिलता है।

सुश्रुत संहिता में शल्यतंत्र

शल्य चिकित्सा का वर्णन कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ जैसे चरक संहिता में यत्र-तत्र मिलता है। आचार्य सुश्रुत ने सर्वप्रथम शल्य तंत्र सम्बन्धित विषयों का विषद वर्णन अपनी कृति सुश्रुत संहिता में किया है। सुश्रुत संहिता जो आज उपलब्ध है, वह दो भागों में वटी है। १. पूर्व तंत्र, २. उत्तर तंत्र।

सुश्रुत संहिता का पूर्वतंत्र मुख्य रूप से शल्य प्रधान है। इसमें पांच स्थान है। प्रथम सूत्र स्थान में शल्य सिद्धान्त एवं शल्य जन्य व्यधियों का सामान्य विवरण, द्वितीय निदान स्थान में शल्यजन्य व्यधियों के हेतु निदान, सम्प्राप्ति एवं उनके लक्षणों का विषद वर्णन, तृतीय शारीरस्थान में शरीर रचना सम्वन्धित विषय, चतुर्थ चिकित्सास्थान में शल्यजन्य व्यधियों की चिकित्सा एवं पंचम् कल्पस्थान में विष विज्ञान सम्वन्धित विषयों का वर्णन मिलता है। उत्तर तंत्र में नेत्र, नासा, कर्म, गला, सिर, मुख रोग, वाल रोग, स्त्री प्रसूति रोग, सामान्य कायचिकित्सा रोग मानस रोग का वर्णन मिलता है।

शल्य छात्र के गुण

सुश्रुत ने शल्य तंत्र के अध्ययन हेतु शिष्य की परीक्षा का वर्णन किया है, जो आज के परिपेक्ष में किसी भी संस्थान में प्रवेश हेतु योग्यता परीक्षण के रूप में समझा जा सकता है। सुश्रुतानुसार शिष्य उत्तम कुल, योग्य आयु, सुशील, शौर्य, पवित्र आचार, विनय, शक्ति, बल, मेधा, धृति, स्मृति, मति और प्रतिपत्ति अर्थात् अर्थज्ञान में निपुण आदि गुणों से युक्त हो। उसकी जिह्वा, होठ, दन्ताग्र पतले होने चाहिये, उसके मुख आंखों एवं नासिका सीधी होनी चाहिये। वह प्रसन्नचित, मधुरवाणी वाला एवं सभ्य चेष्टा वाला होना चाहिये, जो क्लेश सहन करने की क्षमता रखता हो, ऐसे शिष्य को अध्ययनार्थ चयन करे। इसके विपरीत गुण वाले का चयन न करें। (सु०सू २६३)

सुश्रुत संहिता में शल्य सम्बन्धित निम्न विषयों पर पूर्ण विवरण मिलता है।

१. **शरीर रचना ज्ञान** – एक अच्छे शल्यज्ञ को शरीर रचना का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। सुश्रुत संहिता में शरीर रचना सम्वन्धित ज्ञान के लिए शवच्छेदन एवं उनके संरक्षण का सर्वप्रथम विशद वर्णन मिलता है। (सु०शा० ५/४६)

शवच्छेदन का लाभ

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः।
षट्श्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः।। (सु० शा० ५/५१)

अर्थात् शास्त्र के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को शरीर पर प्रत्यक्ष देखकर चिकित्सक कार्यो में कुशलता प्राप्त करता है और इस प्रकार का सन्देह का निवारण कर तथा वहुदृष्ट एवं वहुश्रुत होकर ही शस्त्रादि क्रियायें करनी चाहिये।

शल्य कर्म शरीर पर आधारित होने के कारण सुश्रुत के लिए शवच्छेदन का प्रतिवादन आवश्यक था। इस प्रकार सुश्रुत शल्य तंत्र के साथ-साथ शरीर रचना शास्त्र के भी जनक कहे जा सकते है।

२. **यंत्र एवं शस्त्र** -सुश्रुत ने शल्य कर्मो को प्रतिपादित करने के लिए दो प्रकार के Instruments बताये हैं -१. यंत्र, २. शस्त्र

यंत्र जो धार रहित होते है। उनके छः प्रकार तथा कुल संख्या १०१ वताई है (सु०सू० ७/३.५)। यंत्रों की आकृति, प्रमाण, कार्य, गुण, दोष आदि को सुश्रुत ने विस्तृत रूप दिया है।

शस्त्र जो धार युक्त होते है उनकी संख्या २० वताई है शस्त्रों की भी आकृति, प्रमाण, कार्य, गुण, दोष आदि का सुश्रुत ने विस्तृत वर्णन किया है। शस्त्रों की धारा को बनाये रखने के लिए उन्होंने निर्जिविकरण के लिए सुश्रुत ने पायना (Tempering) का वर्णन किया है।

अष्टविध शस्त्रकर्म-छेदन, भेदन, वेधन, लेखन, एषण, आहरण, विस्रावण और सीवन कर्म का वर्णन सुश्रुत की विशेष उपादेयता है। उन्होंने सम्पूर्ण शल्य कर्मो को आठ आंगों में विभाजित कर विभिन्न शल्य जन्य व्याधियों में एक, दो या अधिक शल्य कर्मो का एक साथ प्रतिपादित कर उनकी उपयोगिता का विस्तृत वर्णन किया है।

आचार्य सुश्रुत ने विभिन्न शल्य कर्मो में सिद्धहस्त होने के लिए उन शस्त्रों के कर्माभ्यास हेतु अनेक प्रकार के माडलों का वर्णन योग्या के अन्तर्गत किया हैं।

एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु।। (सु०सू० ७/५)

अर्थात् विधिपूर्वक योग्या (कर्माभ्यास) करने वाला बुद्धिमान चिकित्सक शल्यकर्म करते समय सन्देहग्रस्त नहीं होता है।

३. **शल्यजन्य व्याधियों का वर्णन**-सुश्रुत संहिता में निम्न शल्यजन्य व्याधियों के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन मिलता है।

१.	व्रण	- व्रण का विस्तृत वर्णन यत्र-तत्र सम्पूर्ण संहिता में मिलता है।
२.	अश्मरी	- सु०नि० ३, सु०चि० ७
३.	भग्न	- सु०नि० १५, सु०चि० ३
४.	अर्श रोग	- सु०नि० २, सु०चि० ६
५.	भगन्दर	- सु०नि० ४, सु०चि० ८
६.	विद्रधि	- सु०नि० ६, सु०चि० १६
७.	विसर्प, नाडीव्रण, स्तनरोग	- सु०नि० १०, सु०चि० १७
८.	ग्रंथिरोग, अर्वुद, गलगण्ड, अपची	- सु०नि० ११, सु०चि० १८
९.	वृद्धि रोग, उपदंश, श्लीपद, दग्ध	- सु०नि० १५, सु०चि० १९
१०.	उदररोग	- सु०नि० ७, सु०चि० १४
११.	मूढगर्भ	- सु०नि० ८, सु०चि० १५

नेत्रजन्य रोग, शिरोरोग, कर्ण, नासा आदि शल्य जन्य व्याधियाँ उत्तर तंत्र में है।

४. संधान कर्म (Plastic Surgery) -सुश्रुत को संधान कर्म (Plastic Surgery) का जनक माना है। सुश्रुत संहिता में संधान कर्म के लिए सिद्धान्त के साथ-साथ नासा संधान एवं ओष्ठ संधान का वर्णन मिलता है।

५. अग्निकर्म, क्षारकर्म एवं रक्त विस्रावण -ये शल्य कर्म के समानान्तर चिकित्सा कर्म है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि सुश्रुत संहिता को शल्य तंत्र के मुख्य स्रोत के रूप में माना जाता है।

उपरोक्त तथ्यों से यह विदित होता है कि वैदिक एवं संहिता काल में शल्यतंत्र, पठन-पाठन एवं चिकित्सीय रूप में अपनी चरम सीमा पर था। प्राचीन भारत का इतिहास बहुत ही उथल पुथल एवं विविधताओं से परिपूर्ण रहा है। इस युग में विभिन्न धर्मावलम्बी जैसे-बौद्ध, मुगल, अंग्रेज आदि का शासन था, जिसका प्रभाव परोक्ष या अपरोक्ष रूप से हमारी भारतीय चिकित्सा पर भी पड़ा। बौद्ध धर्म अहिंसा में विश्वास रखने के कारण शल्य चिकित्सा को हिंसात्मक चिकित्सा मानते थे अतः बौद्ध शासकों ने शल्य चिकित्सा को बढ़ावा नहीं दिया जिसके कारण उसका विकास प्रभावित हुआ।

प्राचीन भारत में काशी, तक्षशीला एवं नालन्दा शल्य तंत्र के केंद्र थे। यहाँ शल्य तंत्र के अध्ययन एवं अध्यापन के उत्तम शिक्षण व्यवस्था थी। उस समय के प्रसिद्ध शल्यविद् आचार्य जीवक (५वीं शताब्दी) तक्षशीला के स्नातक थे। जीवक एक महान शल्यज्ञ थे। जीवक को मगध के राजदरबार में राजवैद्य का सम्मान प्राप्त था। वे बुद्ध एवं उनके शिष्यों के भी चिकित्सक थे। महावग्ग नामक बौद्ध ग्रंथ में जीवक द्वारा शिर, आंत्र एवं शरीर के

अन्य अंगों पर सफल चिकित्सा किए जाने का वर्णन मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस काल तक भारतीय शल्यतंत्र अच्छी स्थिति में था। इसी के साथ अन्यत्र ग्रंथो में ऐसा वर्णन भी मिलता है, जिसमें बुद्ध ने स्वयं शल्य कर्म न करने के आदेश दिए है। सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म अपनाने और साथ ही साथ इस धर्म के अहिंसा के विचार को प्रोत्साहन देने से शल्य कर्म को आसुरी चिकित्सा मानी जाने लगी, परिणामतः शल्य तंत्र का उस काल में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया।

मध्यकालीन भारत में विदेशी आक्रमणों के कारण राजनैतिक अस्थिरता आ गयी। इस काल में आक्रमणकारियों ने बड़े बड़े पुस्तक संग्रहालयों को लूट लिया या जला दिया, परिणामतः विज्ञान के साथ-साथ शल्यतंत्र का साहित्य भी लुप्त प्राय हो गया। उत्तर मध्य काल में मुगलों का राज्य हो गया, इस काल में राजनैतिक स्थायित्व हो जाने के कारण पुनः चिकित्सा शास्त्र की उन्नति की ओर ध्यान दिया गया और आयुर्वेद की कई पुस्तकें जैसे चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग हृदय आदि का अनुवाद अरवी एवं फारसी में करवाया गया। इस युग में शल्य चिकित्सकों को अन्य चिकित्सकों के मुकावले में निम्न समझा जाता था। अकवर के दरवार में तीन शल्यविज्ञ चन्द्रसेन, भैरव और बिरजू कार्य करते थे। इन्हें जर्राह कहा जाता था, इन्हें अन्य चिकित्सकों से कम वेतन दिया जाता था।

अंग्रेजों ने भारत पर आक्रमण के दौरान यहाँ की पारम्परिक विज्ञान एवं चिकित्सा पद्धति तथा अन्य विद्याओं को भी बढ़ने से रोका, शल्य तंत्र जो अंग्रेजों के आगमन से पूर्व ही ह्रास की ओर था, उसकी गति और बढ़ गयी। इन सभी घटनाक्रमों के साथ-साथ भारत में शल्यतंत्र कुछ घरानों में यत्र-तत्र वंशानुगत क्रम में व्यवहार रूप में जीवंत था। इसका एक उदाहरण १७७२ ई० में टीपू सुल्तान एवं अंग्रेजों के वीच मैसूर युद्ध में टीपू सुल्तान के सैनिकों ने अंग्रेजो की तरफ से लड़ रहे एक "कोवास जी" नामक गाड़ीववान एवं चार सिपाहियों को पकड़कर उनके नाक काट दिए। इसके पश्चात एक मराठी शल्य चिकित्सक ने सफलता पूर्वक उसके कटे अंगों को संधान किया, जिसे दो अंग्रेज सर्जन ने देखा। जिसका सचित्र प्रकाशन पहले "मद्रास गजेट" में फिर लंदन में अक्टूबर १७६४ ई० में "जेन्टलमैन्स" पत्रिका में हुआ।

इस तरह १६वीं शताब्दी तक आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन, गुरू शिष्य परम्परा द्वारा प्रचलीत था। १६वीं शताब्दी के अंत एवं २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में यत्र-तत्र भारत में आयुर्वेद महाविद्यालयों की स्थापना हुई, जिसमें भारतीय चिकित्सा पद्धति के अध्ययन एवं अध्यापन एवं उसके व्यवहारिक ज्ञान पर जोर दिया गया। इस युग में शल्यतंत्र एक विषय के रूप में प्रचलित था, उसका व्यवहारिक रूप नगण्य था। १६२७ में भारतीय मनीषि पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने काशी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनका यह विचार था कि हम अपनी भारतीय चिकित्सा पद्धति को जब

तक आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी के सानिध्य में नहीं अध्ययन करेगें, तब तक इसका विकास एवं इसका वैश्वीकरण सम्भव नहीं है। अपने इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक महाविद्यालय की स्थापना की, जो उनकी दूरदर्शिता की परिणीति थी। इस महाविद्यालय में शल्य-शालाक्य विभाग की स्थापना हुई। जिसके आद्यप्रवर्तक के रूप में प्रो० के०एन० उडूपा के मार्ग निर्देशन में अध्ययन-अध्यापन कार्य संचालित किया गया। प्रो० पी०जे० देशपाण्डे ने यहाँ शल्यतंत्र को व्यवहारिक रूप में प्रतिपादित किया। उसको इन मनीषियों ने व्यवहारिक रूप में लाकर एक नयी दिशा प्रदान की, जिसका प्रतिपालन एवं संरक्षण प्रो० एल०एम० सिंह, प्रो० जी०सी० प्रसाद, प्रो० के०आर० शर्मा, डा० आर०सी० चौधरी, प्रो० पी०वी० तिवारी, डा० एस०एन० पाठक एवं वर्तमान में प्रतिस्थापित शल्य चिकित्सक प्रो० एम० साहू कर रहे हैं।

उपर्युक्त मनीषियों के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में यत्र-तत्र शल्य-शलाक्य तन्त्र को व्यवहारिक रूप में प्रतिपादित करने में अनेक आचार्यो का भी विशेष योगदान रहा है। जैस-प्रो० कुलवन्त सिंह (जामनगर), प्रो० श्यामसुन्दर शर्मा (जयपुर), डा० अखिलानन्द शर्मा (वाराणसी), डॉ. श्रीधर पाठक वाराणसी, डॉ. जयशंकर शुक्ल वाराणसी, डॉ. वाबूराम त्रिपाठी अतर्रा बांदा, प्रो० के०के० ठकराल (लखनऊ), डा० रत्न प्रकाश गुप्ता (हरिद्वार), डा० धर्मानन्द केसरवानी (हरिद्वार), डा० रामानुज मिश्रा (लखनऊ), प्रो० पी०डी० गुप्ता (नागपुर), प्रो० एस०के० द्विवेदी (नागपुर), प्रो० एस०आई० नागराल (मुम्बई) एवं डॉ. सी. पी. शर्मा, वरेली आदि आचार्य वर्तमान में भी निरन्तर अपना योगदान दे रहे है।

त्रयोदश अध्याय

धन्वन्तरि परम्परा का इतिहास

धनु : शल्य शास्त्रं तस्य अन्तं पारम् इयर्ति गच्छतीति धन्वन्तरि। (डल्हण)

अर्थात शल्य शास्त्र में पारंगत विद्वान को धन्वन्तरि कहते हैं।

आयुर्वेद में जिस धन्वन्तरि का शल्य एवं चिकित्साशास्त्र के निष्णात आचार्य तथा उपदेष्टा के रूप में वर्णन है, वह है दिवोदास काशिराज धन्वन्तरि, जिन्होंने सुश्रुत आदि को शल्य प्रधान आयुर्वेद का उपदेश दिया और उन उपदेशों का संग्रह कर सुश्रुत ने सुश्रुत संहिता की स्थापना की। इस सुश्रुत संहिता को विभिन्न विद्वानों ने पढ़ा, समझा और कुछ ने अभ्यास भी किया। यह एक सम्प्रदाय का रूप अथवा परम्परा वन गया।

दिवोदास के पूर्वजों में इनके प्रपितामह का नाम भी धन्वन्तरि था। अपने पूर्वजों के नाम पर नामकरण करना एक प्राकृतिक स्वभाव है, कहीं गोत्र के नाम पर, कहीं गुणवाचक शब्दों के नाम पर, कहीं किन्हीं उपाधिवाचक शब्दों के नाम पर, धन्वन्तरि भी उपाधि बोधक शब्द प्रतीत होता है। धन्वन्तरि भगवान विष्णु के अंश माने जाते हैं, जो समुद्र मंथन से निर्गत कलश के रूप में उत्पन्न हुए। समुद्र से निकलने पर विष्णु से उन्होंने कहा कि लोक में मेरा स्थान एवं उपयोग क्या होगा, प्रभु मुझे वतायें, भगवन ने बताया कि दूसरे जन्म में तुम्हें सिद्धियां प्राप्त होगीं और लोक में प्रख्यात होगे। उसी शरीर से तुम देवत्व को प्राप्त करोगे और द्विजातिगण आपकी पूजा करेंगे। आप समयानुसार आयुर्वेद का अष्टांग विभाजन करेंगे तथा द्वापर में पुनः जन्म लेंगे। पुत्रकामेच्छुक काशिराज धन्व की तपस्या से सन्तुष्ट होकर अब्ज भगवान ने उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया और धन्वन्तरि नाम धारण किया। ऋषि भारद्वाज से आयुर्वेद ग्रहण कर अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञान अपने शिष्यों को प्रदान किया।

धन्वन्तरि वंशावली इस प्रकार कही जाती है –

- काश
- दीर्घतपा
- धन्व
- धन्वन्तरि
- केतुमान
- भीमरथ
- दिवोदास
- प्रतर्दन

- वत्स
- अलर्क

अब्ज धन्वन्तरि

विष्णु पुराण (अं. १-२), वराह पुराण (४०/२/९), अग्नि पुराण (अं. ३), महाभारत (आ.प.अ.१६), में समुद्र मंथन से अमृत कलश लिए हुए भगवान धन्वन्तरि उत्पन्न हुए, जिन्हें अब्ज धन्वन्तरि की उपाधि से संवोधित किया गया। इसमें कहीं भी अब्ज धन्वन्तरि का स्वरूप चतुर्भुज प्रतीत नहीं होता है। देव कोटि स्थान ग्रहण के रूप में विष्णु के अवतार स्वरूप चतुर्भुज का स्वरूप माना गया है। इनके गुरु भाष्कर थे।

गजेन्द्रं च सहस्राक्षो ह्यरत्नं च भाष्करं।
धन्वन्तरिश्च जग्राह लोकोरोग्य प्रवर्तकम्।।

द्वितीय धन्वन्तरि

यह हरिवंश पुराण में वर्णित है कि क़ाश के पौत्र धन्व राजा ने समुद्र मंथन से उत्पन्न अब्ज धन्वन्तरि की आराधना करके अब्ज (कमल), के अवतार रूप धन्वन्तरि नामक पुत्र को प्राप्त किया। उस धन्वन्तरि ने भारद्वाज से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर आयुर्वेद को आठ अंगों में विभाजित करके शिष्यों को उपदेश दिया। परन्तु सुश्रुत के उपदेशक गुरु के रूप में चतुर्थ पीढ़ी में उत्पन्न दिवोदास का उल्लेख प्राप्त है, जो शल्य ज्ञान के मर्मज्ञ थे। वराह पुराण में इनके प्रकट होने की तिथि के सम्बन्ध में कहा गया है कि पौष शुक्ल दशमी को समुद्र मंथन प्रारम्भ हुआ। दो वर्ष दस महीने बाद कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को धन्वन्तरि का अवतरण हुआ।

तथैन पौषमासे तु अमृतं मथितं सरैः।
पौषमासस्य या शुक्ला दशमीति निगद्यते।। वराहपुराण ४०/२/९

समुद्र मंथन में चौदह रत्न निकले –

श्री, मणि, रम्भा, वारुणी, अमिय, शंख, गजराज।
धनु, धन्वन्तरि, धेनु, शशि, कल्पद्रुम, विष, वाजि।।

भगवान विष्णु के बताने पर कि आप इस रूप में देव नहीं हैं, अगले जन्म देवत्व प्राप्त कर द्विजों द्वारा पूजित होगे, से प्रतीत होता है कि ये धन्वन्तरि आयुर्वेद प्रचारक सुश्रुत को उपदेश देने वाले नहीं हैं।

दिवोदास धन्वन्तरि : (तृतीय धन्वन्तरि)

हरिवंश पुराण एवं महाभारत के अनुसार धन्वन्तरि प्रपौत्र भीमरथ के पुत्र दिवोदास धन्वन्तरि हैं तथा ये ही वाराणसी नगरी के स्थापक प्रतीत होते हैं। दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन था। पूर्व नगरी के शून्य होने पर वाराणसी को पुनः स्थापित करने के लिए प्रतर्दन का पौत्र अलर्क का हरिवंश पुराण में उल्लेख प्राप्त होता है, महाभारत में चार स्थानों पर दिवोदास का नाम आता है। दिवोदास का काशीपंति होना, वाराणसी की स्थापना, दुश्मनों द्वारा पराजित होकर भारद्वाज की शरण में जाना, उसके द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रतर्दन नामक वीर पुत्र की उत्पत्ति आदि विषय मिलते हैं। गरुण पुराण (१३६ अ.), अग्नि (२७८ अ.), में धन्वन्तरि की चतुर्थ संतति में दिवोदास का नाम आता है। हरिवंश पुराण अनुसार काश राजा की सन्तति रूप इनके द्वारा स्थापित काशी नामक देश के राजा होने से काशिराज शब्द से सम्बोधित होना तथा धन्व राजा का पुत्र होने से उसका धन्वन्तरि नाम रखा गया। महाभारत एवं हरिवंश पुराण धन्वन्तरि के प्रपौत्र काशिराज दिवोदास को चिकित्सक रूप में मान्यता नहीं मिला है, परन्तु सुश्रुत संहिता में काशिराज दिवोदास का सुश्रुत आदि शिष्यों के उपदेश के रूप में वर्णन प्राप्त है। धन्वन्तरि के वंश में होने के कारण उस सम्प्रदाय का उत्थान करने के लिए तथा स्थापना करने के लिए धन्वन्तरि का ही अवतार मानकर सुश्रुत संहिता में "धन्वन्तरं दिवोदासं सुश्रुत प्रभृतय ऊचुः" द्वारा धन्वन्तरि तथा दिवोदास में अभेद प्रकट प्रतीत होता है।

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि काशिराज की वंश परम्परा से आयुर्वेद की सुरक्षा तथा प्रचार प्रसार का कार्य होता रहा है। अपनी वंशावली के अनुसार दिवोदास शल्य प्रधान गुरुकुल का संचालन करके दूर-दूर के छात्रों को शिक्षा प्रदान करते थे। उसी गुरुकुल में दिवोदास धन्वन्तरि ने सुश्रुत, औपधेनन, वैतरण, औरभ, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुर रक्षित आदि शिष्यों को शल्य प्रधान आयुर्वेद की शिक्षा प्रदान की। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने निमि, कंकायन, गार्ग्य और गालव आदि का नाम उल्लेख किया है। दिवोदास धन्वन्तरि परम तपस्वी, शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान, धर्मात्मा और उदार मनोवृत्ति के आचार्य थे। वे पूर्व में देववैद्य थे और इन्होंने देवताओं की अनेक पीड़ायें एवं मृत्यु का निवारण किया। इस लोक में शल्य प्रधान आयुर्वेद के लिए इनका मानव रूप में अवतरण हुआ। (सु.सू. १/१७)

दिवोदास धन्वन्तरि का काल

ऋक सर्वानुक्रमणी, कौषीतकी ब्राह्मण तथा कौषीतकी उपनिषद में दिवोदास प्रतर्दन का उल्लेख है। काठक संहिता के ब्राह्मण भाग में आरुणि के समकालीन भीमसेन पुत्र दिवोदास का उल्लेख हुआ है। काठक संहिता में ब्राह्मण भाग में आरुणि के समकालीन भीमसेन पुत्र

दिवोदास का उल्लेख मिलता है। महाभाष्य दूसरी सदी ई. पूर्व, वार्तिक तुर्थ शदी ई. पूर्व) ने जनपद के अर्थ में काशी (४/२/११६) तथा नगरवाचक वाराणसी (४/२/६७) शब्दों का प्रयोग किया। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय तक दिवोदास द्वारा वाराणसी की स्थापना हो चुकी थी। सुश्रुत संहिता में तक्षशिला का उल्लेख नहीं मिलता। अतः प्रतीत होता है कि सुश्रुत तथा उसके उपदेष्टा दिवोदास तक्षशिला की प्रसिद्धि (आठवीं सदी ई. पूर्व) के पहले हुए होंगे। कौषीतकी ब्राह्मण का उल्लेख पाणिनी (५/१/६२, ४१४/१२४) तथा यास्क निरुक्त (१-६) में होने के कारण उसका समय आठवीं सदी के पूर्व का प्रतीत होता है। वेवर ने इसका समय २५०० ई. पूर्व और ज्योतिष गणना के आधार पर शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने २६००-१८०० ई. पूर्व माना है।

चरक संहिता में अनेक स्थलों पर धन्वन्तरि का ससम्मान अधिकार प्रदर्शित किया है इसके विपरीत सुश्रुत संहिता में आत्रेय का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि दिवोदास आत्रेय-अग्निवेश के कुछ पूर्ववर्ती रहे होंगे। अग्निवेश का काल १००० ई. पूर्व माना है। अतः दिवोदास का काल १७००-१५०० ई. पूर्व के वीच होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सुश्रुत संहिता में ५ वर्ष का एक युग माना है। (सु.सू. ६/६) इसको वेदांग ज्योतिषी ने स्वीकार किया है, जिसका काल १५००-५०० ई. पूर्व है। सुश्रुत संहिता में वारगणना नहीं है, भारत में वारगणना का प्रचार १००० ई. पूर्व से पहले हो चुका था। सुश्रुत संहिता में शिशिर से ऋतु गणना प्रारम्भ होती है, जवकि पाणिनी ने बसंत से प्रारम्भ किया है, इससे प्रतीत होता है कि दिवोदास का काल पाणिनी से वहुत पूर्व का है।

सुश्रुत

दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशों को सुश्रुत ने अपनी संहिता में निबद्ध किया है, जो शल्यतंत्र का आद्यग्रंथ बना। विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत भी दो हुए हों, जिसको हम बृद्ध सुश्रुत तथा सुश्रुत कहते हैं। दिवोदास धन्वन्तरि बृद्ध या आद्य सुश्रुत के शिष्य थे, जिन्होंने मूल सुश्रुत तंत्र का सम्पादन किया। यह अग्निवेश के पूर्व की रचना है। द्वितीय सुश्रुत ने इसका प्रतिसंस्कार किया, दूसरा प्रतिसंस्करण दृढवल के वाद हुआ, जो नागार्जुन के द्वारा माना जाता है, जिसमें दृढबल पूरित चरक संहिता के अनेक मतों को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उनका खण्डन किया है। अन्त में दसवीं सदी में पाठ शुद्धि के रूप में चन्द्रट ने किया। अतः वर्तमान सुश्रुत संहिता दशवीं सदी के बाद के है।

सुश्रुत के पिता का नाम विश्वामित्र था (म.भा.अ. ८, ग,पु.अ. १३६/८-११)। शालिहोत्र के पुत्र के रूप में भी सुश्रुत का नाम मिलता है, सम्भवतः गवायुर्वेद, अश्वार्युवेद का सम्पादन करने वाले कोई भिन्न सुश्रुत हुए हैं, जो अश्वशास्त्र में पारंगत हो, जिसका

निर्देश दुर्लभ गणकृत सिद्धदोष संग्रह नामक अश्ववैद्यक के ग्रन्थ में हुआ है। इस प्रकार सुश्रुत का काल दिवोदास धन्वन्तरि का समय १०००-१५०० ई. पूर्व होना चाहिए।

१. नागार्जुन ने उपायहृदय में सुश्रुत का उल्लेख किया है। नागार्जुन कनिष्क सम्राट का समकालीन था।

२. होरा शब्द का प्रयोग सुश्रुत संहिता में है। यह ग्रीक भाषा के होरस से निष्पन्न होकर भारत में आया। यूनान से विशेष सम्पर्क चौथी सदी पूर्व हुआ था। अतः सुश्रुत का काल चौथी सदी के बाद का है।

३. महेन्द्र राम कृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि (सु.चि. ३०/३६) रामकृष्ण का नाम आने से वासुदेव धरम की प्रमुखता सूचित होती है। इसका काल प्रथम शदी से चौथी सदी ईसा पूर्व का है।

४. ग्रहों के नाम उत्पत्ति आदि की जानकारी तथा ग्रह पूजा का उल्लेख है, जो गुप्त कालीन में प्रचलित था। अतः सुश्रुत का काल गुप्त काल से पूर्व का है।

५. कर्णविध संस्कार बाद में प्रचलित हुआ, चरक में उल्लेख नहीं है।

६. सुश्रुत के १०७ मर्म याज्ञवल्क्यस्मृति में उल्लिखित हैं।

७. ऋतुचर्या अध्याय में प्रारम्भ ६ ऋतु - शिशिर, बंसत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद हेमन्त कहा है और बाद में "इह तु" करके वर्षा शरद हेमन्त, बसन्त, ग्रीष्म तथा प्रावृट बताया है। ए.एल. घोष ने गणित के आधार पर इन दो प्रकार के ऋतु विभागों में १५०० वर्ष का अन्तराल बताया है। इस प्रकार प्रथम काशिराज दिवोदास तथा दूसरा प्रतिसंस्कर्ता सुश्रुत का होना, उपरोक्त आधार पर सुश्रुत का काल निर्धारित होता है। इस काल में सुश्रुत ने आद्य संहिता का उपबृहण एवं प्रतिसंस्कार किया। उत्तर तंत्र को नागार्जुन ने जोड़ा है। ऐसा डल्हण टीका में उल्लेख मिलता है। सुश्रुत संहिता का अरबी भाषा में अनुवाद उत्तर तंत्र सम्मिलित है। वाग्भट ने उत्तर तंत्र सहित अनुकरण किया है।

नागार्जुन

नागार्जुन नाम के अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है।

- "उपायहृदय" के रचयिता नागार्जुन (दार्शनिक) प्रथम या द्वितीय सदी ई. पूर्व माना जाता है।
- सातवाहन सम्राट गौतमी पुत्र सातकरणी का मित्र (१७८-२०७ ई. पू.) और गुरु नागार्जुन जिनका उल्लेख हर्षचरित आदि में आता है, इसका समय दूसरी व तीसरी सदी है।

- गुप्त कालीन नागार्जुन का काल चौथी या पांचवी सदी है।
- सरहपा के शिष्य सिद्ध नागार्जुन का समय आठवीं सदी ई.पू. है।
- अलवरूनी (११ सदी ई.पू.) ने लिखा है कि १०० वर्ष पूर्व नागार्जुन हुआ था।
- ग्रहों नक्षत्रों के प्रभाव से जनपदोध्वंस की उत्पत्ति हुई (सु. ६/१७)। नक्षत्र तिथि नाम (सु. २६/१६)
- वागभट ने उत्तर तंत्र सुश्रुत संहिता का उपयोग किया। अतः सम्भवतः ५वीं सदी ई.पू. नागार्जुन ने सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार किया तथा उत्तर तंत्र जोड़ा और यही नागार्जुन रस वैशेपिक का प्रणेता था।
- उत्तर तंत्र को जोड़ने वाले नागार्जुन कहे जाते है। उत्तर तंत्र में शालाक्य तंत्र पर विशेष व्याख्या करते हुए सामान्य चिकित्सा को विभिन्न पहलुओं को विस्तारपूर्वक लिखा है।

चन्द्रट

चन्द्रट तीसटाचार्य के पुत्र थे। इनका काल दसवी सदी ई.पू. है। इन्होंने सुश्रुत संहिता की पाठ शुद्धि जेज्जट की टीका के आधार पर किया, ऐसा वर्णन मिलता है। कुछ औपसर्गिक रोग महामारी के रूप में फैलते थे, सुश्रुत में "मरक" शब्द जो महामारी का द्योतक है, कासश्वास, वमथु, प्रतिश्याय, ज्वर, इसके उपचार में स्थान परित्याग का निर्देश है। यह चन्द्रट कृत प्रतीत होता है। सुश्रुत में एक स्थान पर शोणित चतुर्थे दोप (सु.स. २१/११) के द्वारा रक्त के दोपत्व की ओर इंगित किया है, जो सुश्रुत के अन्य दो स्थलों में प्रतिपादित सिद्धान्त से समान नहीं है। रक्त को चतुर्थ दोप यूनानी में माना है। संभवतः एक स्थान पर निर्देर्शनार्थ चन्द्रट ने किया है। पौषकलावत नाम का कोई व्यक्ति का नहीं मिलता है। किन्तु यह शब्द देश विशेष के बोधक के रूप में मिलता है। विष्णु पुराण में पौषकलावत भरत के पुत्र पुष्कल द्वारा स्थापित देश है। वाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख मिलता है। पौपकलावत गान्धार राज्य की राजधानी का नाम था। यह आचार्य उसी देश के प्रतीत होते है। गान्धारी उसी देश की थी।

गयदास ११वीं सदी (६८८-१०३८) के राजवैद्य थे। सुश्रुत संहिता पर इनकी न्याय चन्द्रिका टीका प्रसिद्ध है।

चक्रपाणि ने सुश्रुत संहिता पर भानुमती व्याख्या सूत्र स्थान पर लिखी, जो जयपुर से प्रकाशित हुई।

भास्कर डल्हण के गुरु थे, डल्हण ने सुश्रुत संहिता पर निवन्ध संग्रह नामक संस्कृत टीका वारहवीं शताब्दी में की। ये भदानक देश में मथुरा के समीप अंकोला नामक स्थान पर निवास करते थे। इनकी वंशावली इस प्रकार है। गोविन्द के पुत्र जयपाल थे, उनके भरत पाल और भरतपाल के डल्हण पैदा हुए, जो कि राजा की कृपा पात्र कहे जाते थे।

गदाधर ने भी सुश्रुत संहिता पर टीका लिखी है।

अरुणदत्त की सुश्रुत संहिता पर टीका का उल्लेख मिलता है।

हाराणचन्द्र चक्रवर्ती सुश्रुतार्थसंदीपन १६०८ में भाष्य लिखा, जो कलकत्ता से प्रकाशित हुआ और हाराणचन्द्र चक्रवर्ती की १६३५ में मृत्यु हुई।

अत्रिदेव विद्यालंकार ने सुश्रुत संहिता पर हिन्दी में टीका की।

भास्कर गोविन्द घाणेकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे तथा सुश्रुत संहिता के सूत्र एवं शारीर स्थान पर हिन्दी में टीका की।

करवीर्यः करवीय देश में होने वाले का सूचक है। (हस्तकुशल) होने से संभवतः यह नाम करण किया होगा।

औरभ्रः उरभ्रस्यापाथम् अथवा उरभ्रे भवः अर्थ के अनुसार व्यक्ति का देश वाचक उरभ्र शब्द से बना हुआ प्रतीत होता है। उस नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता है। गान्धार तथा उससे उत्तर देशों में प्राचीन काल से ही मेषो (भेड़ो) के प्राचुर्य वर्णन मिलते हैं। उरण अर्थात् मेष बेविलोन देश के प्राचीन नगरों में उर नाम का नगर मिलता है।

गोपुरक्षितः दो भिन्न आचार्य कहे जाते है गोपुर एवं रक्षित। कुछ लोग एक ही मानते है। गोपुर नाम अज्ञात नगर के संबंध से भी गोपुर रक्षित नाम का व्यवहार में आता है। यह सुश्रुत का सहपाठी एवं दिवोदास धन्वन्तरि का शिष्य था।

भोज प्राचीन भोज देश के कान्यकुब्ज देश स्थित भागीरथी के दक्षिण तट पर ४०-४२ किलोमीटर के घेरे में फैले होने का वर्णन मिलता है। ये दिवोदास धन्वन्तरि के शिष्य थे।

औपधेनवः उपधेनोरपत्यम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार औपधेनव शब्द मिलता है। विष्णु पुराण में मिथिला के राजा सीरध्वज के भाई काशी राज कुशध्वज के वंश में किसी उपगु का निर्द्रेश मिलता है, उपगु नामक वशिष्ठ गोत्र में उत्पन्न एक ऋषि मिलता है। औपधेनव सुश्रुत के सहपाठी दिवोदास धन्वन्तरि के शिष्य थे।

निमिः शालाक्य तंत्र पर वर्तमान में कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। सुश्रुत संहिता में वर्णित उत्तर तंत्र में शालाक्य तंत्र का प्रचुर मात्रा में उल्लेख है। निमि के आधारभूत ग्रंथ वर्णन निमित तंत्र पर आधारित होकर शालाक्य तंत्र के आदि प्रणेता विदेह नरेश निमि है। इनकी रचना शालाक्य तंत्र पर पुराणों में इनकी चर्चा मिलती है। श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के १३वें अध्याय में इनको राजा इक्ष्वाकु का पुत्र कहा है। राजा निमि के यज्ञ आरम्भ करने पर जब गुरु वशिष्ठ जी से प्रार्थना की, तो उन्होंने पहले से इन्द्र का यज्ञ करने का वचन बताया तथा कहा कि उसके बाद आपका यज्ञ करेंगे। उसके बाद निमि ने बिना गुरु के यज्ञ शुरू कर दिया। बाद में गुरु वशिष्ठ आये, तो देखा यज्ञ चल रहा है, उन्होंने शाप दे दिया और कहा आपका देह नष्ट हो, तो निमि ने भी अधर्म वस गुरु वशिष्ठ को शरीर

नष्ट होने का शाप दे दिया और शरीर त्याग दिया। गुरु वशिष्ठ ने शरीर त्याग कर उर्वशी के गर्भ में मित्रावरूण के वीर्य द्वारा जन्म लिया, शिष्यों ने निमि का पार्थिव शरीर रखकर यज्ञ पूर्ण किया। तब देवता प्रसन्न होकर प्रकट हुए और निमि का शरीर सजीव किया, परन्तु निमि ने अनिच्छा दिखाई, इस पर देवताओं ने वरदान दिया कि राजा निमि सभी शरीरधारियों के नेत्रों की पलक पर निवास करेगें, नेत्रों में स्थिर रहते हुए भी खोलने एवं बन्द करने से लक्षित होगें। राजा निमि के शरीर को मथने से बच्चा उत्पन्न हुआ। वह जन्म से जनक और विदेह से उत्पन्न होने के कारण मिथिल कहलाया और मिथिलापुरी बसायी।

ब्राह्मण ग्रंथों में चक्षुष्य तथा कर्ण श्रवण रोगो का वर्णन है कौशिक सूत्र (३०/१-२)। अश्वनीकुमारो ने शालाक्य संबंधी अनेक चमत्कार किए। नेत्र शारीर का सूक्ष्म अध्ययन कर उसके विभिन्न अवयवों के विकारों और उनके निवारण बताये। लिंगनाश के लिए शस्त्रकर्म, अञ्जन, सेक, वर्ति, पुरण आदि विविध औषध प्रयोग है। कर्ण, नासा, मुख एवं गला आदि के रोगो का वर्णन किया गया है, वैसे तो भारत के विभिन्न प्रान्तों में शल्य कर्म एवं शालाक्य कर्म किए जाते है, निमि और जनक शालाक्य तंत्र के प्रवर्तक कहे गये है। मिथिला शालाक्य तंत्र जन्म भूमि तथा काशी शल्य कर्म केन्द्र रहे है। डा. मुन्जे व डा. विश्वनाथ द्विवेदी ने शालाक्य तंत्र पर नेत्र रोग विज्ञान लिखा है। अभी भी पटना में डा. बी मुखोपाध्याय शालाक्य के कुशल चिकित्सक है। महाराष्ट्र में विशेष नासा संधान होता था तथा शालाक्य विशेष शल्य कर्म पूना में स्थित विभिन्न शल्य व शालाक्य विशेषज्ञ करते है। हरिद्वार में डा. आर.पी. गुप्ता ने नेत्र रोगो की कुशल चिकित्सा की है। डा. आर. सी. चौधरी का शालाक्य तंत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें उर्ध्वजत्रुगत रोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। वाराणसी में डा. श्रीधर पाठक शालाक्य के सफल चिकित्सक है।

दिवोदास धन्वन्तरि व निमि दोनों आचार्यो के साथ मंथन क्रिया का संबंध पाया जाता है। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं है। फिर भी इनका काल २३०० ई. पूर्व माना गया है।

वैतरण दिवोदास धन्वन्तरि के शिष्य एवं सुश्रुत के सहपाठी थे। गणनाथ सेन के अनुसार वैतरण तंत्र सुश्रुत संहिता से बड़ा ग्रंथ रहा होगा, क्योंकि बंध प्रकार एवं विशिष्ट शल्य कर्म सुश्रुत संहिता से उत्तम वर्णितं है।

सुश्रुत संहिता के प्रमुख व्याख्याकार

संस्कृत व्याख्याकारः गयदास- न्यायचन्द्रिका/पंजिका ११वीं सदी

चक्रपाणी-भानुमति १०७४ ई.

डल्हण- निबन्ध संग्रह १२०० ई.

	हाराण चन्द्र-सुश्रुतार्थसंदीपन १६-२०वीं सदी
हिन्दी व्याख्याकारः	भास्कर गोविन्द घाणेकर-सूत्र एवं शारीर स्थान १६००-१६७५
	अम्बिका दत्त शास्त्री, अत्रिदेव विद्यालंकार, अनन्तराम शर्मा
अंग्रेजी व्याख्याकारः	हार्नले, यू.सी. दत्त, ए.सी. चटोपाध्याय, कुंजी लाल भिषग, जी.डी. सिंघल, पी.वी. शर्मा आदि।

धन्वन्तरि सम्प्रदाय का पूर्ण रूपेण अध्ययन कठिन कार्य है। अतः सम्पूर्ण भारत में कुशल शल्य-शालाक्य चिकित्सा अभ्यासियों का पूर्ण विवरण प्राप्त नहीं है। प्राचीन काल में यह सम्प्रदाय बहुत ही प्रचलित रहा है। विशेषतः सुश्रुत एवं दिवोदास धन्वन्तरि के काल में। इसके उपरान्त कुछ काल पश्चात् विभिन्न कारणों से अधिक समय तक इस सम्प्रदाय में विकास कार्य एवं अभ्यास नगण्य रहा। २०वीं शताब्दी में जब काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में स्नातकोत्तर संस्थान प्रारम्भ हुआ, तब इस सम्प्रदाय में पुनः से इसका कार्य प्रगति पर हुआ और प्रो. के. एन. उडुपा के निर्देशन में १९६३ ई. में शल्य शालाक्य विभाग बना तथा प्रो. पी.जे. देशपाण्डे इस विभाग के अध्यक्ष बने और विभाग में कार्यरत थे, विभाग प्रगति किया।

चतुर्दश अध्याय

शारीर का इतिहास

आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन हेतु शारीर प्रमुख विषय है। चिकित्सकों को चिकित्सा-शास्त्र में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए शारीर-शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। मानव शरीर की रचना एव क्रिया के सम्यक् ज्ञान के बिना शरीरस्थ विकृतियों का ज्ञान और उनका परिमार्जन सम्भव नहीं है। आयुर्वेद में पंचमहाभूतों के विकार-समुदाय से उत्पन्न चेतनाधिष्ठित तत्त्व को "शरीर" कहा गया है, जिसमें मन, आत्मा एवं शरीर का त्रिदण्ड के समान आधारभूत है। इस शरीर की रचना से संबंधित ज्ञान को रचनाशारीर एवं क्रिया से सम्बन्धित ज्ञान को क्रियाशारीर कहा जाता है। महर्षि चरक के अनुसार शरीर के रचनात्मक एवं क्रियात्मक ज्ञान की सम्यक् उपलब्धि के बिना चिकित्सक आयुर्वेद में पारंगत नहीं हो सकताः

> शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक् ।
> आयुर्वेदं स कात्स्न्र्येन वेद लोकसुखप्रदम् ।। च०शा० ६/१६

> 'शरीरविचयः शरीरारेपकारार्थमिष्यते, ज्ञात्वाहि शरीरतत्वं
> शरीरोपकारकरेषु भवेषु ज्ञानमुत्पद्यते।
> तस्माच्छ शरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः ।' (च०शा० ६/३)

महर्षि सुश्रुत ने भी शारीर के ज्ञान से सम्बन्धित शास्त्रीय एवं प्रायोगिक ज्ञान-अर्जन को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया है :

> शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः ।
> दृष्ट श्रुताभ्यां संदेहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ।। सु०शा० ५/५१

मनुष्य के ज्ञान के विकास के साथ-साथ चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान के विकास का उपक्रम सर्वप्रथम वैदिक परंपरा में प्राप्त होता है। यद्यपि चारों वेदों में चिकित्सा-संबंधी उपक्रमों का वर्णन किया गया है, जिनमें ऋग्वेद में उनका विवेचन सूक्ष्मरूप से उल्लिखित है, जिनमें प्रमुख निम्न हैं -

ऋग्वेद में शारीर सम्बन्धी उद्धरण

अश्विनी कुमार द्वय अंगप्रत्यारोपण में कुशल थे। टूटे अवयवों को जोड़ना, अन्धे कव्य को दृष्टि प्रदान आदि कार्य ऋग्वेद में वर्णित हैं। अश्विनौं के अतिरिक्त इन्द्र के चिकित्सा चमत्कार ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होते हैं। यथा-अपाता के चर्म रोग एवं इसके पिता

के खालित्य को दूर करना। अंध परावृज को दृष्टिदान, पंगुश्रोण को गतिदान । राजयक्ष्मा हृद्रोग, आदि के प्रसंग में शरीरप्रत्यंगों का निर्देश मिलता है। विभिन्न अंगो के रोगों का नाश करने का भी उल्लेख है। (१०/१६४) यजुर्वेद में पशुओं तथा मनुष्यों के शरीरांगों का उल्लेख है। (२५/१-६) उपरोक्त से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में महर्षियों को शरीर के अंग प्रत्यंगों की रचना एवं क्रिया का पूर्ण रूपेण ज्ञान था। जिससे वे शल्य कर्म एवं चिकित्सा करने में सक्षम हुए।

त्रिदोप वाद का वर्णन का संकेत ऋग्वेद के "त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती" (१/३४/६) तथा "इन्द्र त्रिधातु शरणं" (४/७/२८) इन मंत्रों में है। ऋग्वेद में जल चिकित्सा, अग्नि चिकित्सा, वायु चिकित्सा का भी वर्णन मिलता है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद में पृथक पृथक दोषों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वात के पाँच प्रकारों का नाम आया है। पित्त का पित्ते तथा मायु शब्द से निर्देशित तथा बलास शब्द कफ, आम, दौर्बल्यजनक विकार का बोधक है। वात विकार के लिए वातीकार या वातीकृत, शब्द प्रयुक्त हुये है। शरीरस्थ अग्नि के लिए वैश्वानर, विश्वंभर, विश्वशंभू शब्दों का प्रयोग हुआ है।

पुरूष की अन्तिम धातु शुक्र या रेतस का ज्ञान था, जिसे सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक बताया है। जीवन धारक शरीरस्थ धातुओं के सार ओज का स्पष्ट ज्ञान था। अन्न के पाचन द्वारा उत्पन्न रस तथा अन्तिम धातु शुक्र के बीच की अन्य धातुओं, सिरागत रक्त (१/१७/१) तथा रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि (४/१२/१.७, १०/६/१८, ११/८/११) धातु का निर्देश मिलता है।

अथर्ववेद में शरीर के अंग प्रत्यंगों का उल्लेख रोगों के अधिष्ठान के रूप में अक्षि, नासिका, कर्ण, शीर्ष, मस्तिष्क, जिह्वा, ग्रीवा, अंस, बाहु, हृदय-क्लोम, प्लीहा, आन्त्र, गुदा, नाभि, उदर, उरू, श्रोणि, अस्थि, नाभि उरू, नख, लोम, त्वचा, पाणि, अंगुलि आदि का उल्लेख हैं। (२/३३/१-७) गुल्फ, जानु, जंघा, कृकाटिका, पेशनी, स्रोतों, धमनी तथा सिराओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। (१०/२/१-८)।

उपनिषद्

उपनिषदों में शरीर में अन्न के पाचन को गन्ने के रस से गुड़ बनाने की प्रक्रिया द्वारा बताया है, यही तीन प्रकार का स्थूल, सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म पाक अन्न का होता है।

शतपथ ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण में वर्णित तीन नाभि के स्थान पर तीन दोष वात पित्त कफ है, तीन सौ साठ शंकु के रूप में पुरूष में ३६० अस्थियाँ है।

याज्ञवल्क्य स्मृति

याज्ञवल्क्य में भी मनुष्य की अस्थि गणना ३६०, त्वचा चरक के समान ६ मानी गई है। शिराओं की संख्या ७००, स्नायु ९००, धमनियाँ २००, पेशियाँ ५०० हैं। नाड़ियों को हृदय से निकलती कहा गया है तथा संख्या ७२००० बताई गई हैं।

विष्णु पुराण

विष्णु भगवान की स्तुति करने में निम्नलिखित शारीरिक अंगों के नामों का उल्लेख है-पैर, दांत, मुख, जिह्वा, रोम, नेत्र, मस्तक, गर्दन, प्राण, कर्ण (वि० पु० प्रथम अंश अ० ४/३२, ३४)। शब्द उच्चारण प्रक्रिया जिह्वा, दाँत, ओष्ठ, तालु के सहयोग से बनता है। (वि० पु० द्वितीय अंश, अ० १३/८७)

पद्मपुराण

पद्मपुराण के अनुसार हृदयरूपी पद्म में चारों ओर से सभी नाड़ियाँ प्रतिबद्ध है प्राणवायु उन सम्पूर्ण नाड़ियों के मुख में उस रस को स्थापित करता हैं। इस प्रकार रस से शुक्र की उत्पत्ति तक पोषण प्रक्रिया का वर्णन है। अन्न के पाचन से रस एवं किट्ट भाग बनता है, इसका वर्णन तथा बारह मलों के निस्तारण द्वार - कर्ण, अक्षि, जिह्वा, दन्त, ओष्ठ, प्रजननेन्द्रिय, गुद, स्वेद, विष्ठा एवं मूत्र मार्ग है। शरीर का मूलाधार अस्थि है, जिसमें मांसपेशियाँ एवं स्नायु निबद्ध है (प० पु० २/६६/५९-६०)।

पद्मपुराण में पेशी ५००, स्त्रियों में २० अधिक, ३६० अस्थियाँ, साढ़े तीन करोड़ रोम एवं नाड़ियाँ तथा ५०० पेशियाँ प्राणी के देह में समन्वित है। ३२ दाँत २० नख है (प० पु० २/६६/६१-६२)

गरूड़पुराण

गरूड़पुराण में वात पित्त कफ के प्रकोप के लक्षण वर्णित है। (ग० पु० १/१६८/२-१५)।

शुक्ल यजुः संहिता

शुक्ल यजुः संहिता में घोड़े तथा मनुष्य के शरीर के अंगों का उल्लेख मिलता है।

रामायण

रामायण में मृत एवं जीवित की परीक्षण विधि विशेष रूप से वर्णित है। जीवित के निम्न लक्षण-मुख नहीं बदला, न काला पड़ा न कान्तिरहित हुआ, प्रभायुक्त, प्रसन्न, हथेलियाँ लाल कमल के समान, आँखे निर्मल। रामायण में शवसुरक्षाविधि का ज्ञान तथा दशरथ के शव को औषधसिद्ध तैल से परिपूर्ण द्रोणी में रखा गया था। (अयो० ६६/१६)

महाभारत

महाभारत में शान्तिपर्व में शरीरिक एवं मानसिक दो प्रकार के रोग, शीत, उष्ण तथा वायु तीनों शारीरिक रोंगों के कारण, सत्व रज, तम तीन मन के गुण वर्णित है।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य में पृथ्वी, जल, तेजस और वायु चार धातु माने गये है। अर्थविनिश्चयसूत्र में शारीर विषयक कुछ नामों का उल्लेख किया गया है। जैसे- केश, रोम, नख, दन्त, रज, मल, त्वक, मांस, अस्थि, स्नायु, शिरा, आमाशय, पक्वाशय, अन्न, यकृत, पुरीष अश्रु, स्वेद, वसा, लसीका मज्जा, मेद, पित्त, श्लेष्मा, मस्तुलुङ्ग प्रस्राव आदि से युक्त होने के कारण शरीर को अशुचि कहा गया है। (महायानसूत्रसंग्रह - १/१६ पृ० ३१६)

आहार शरीर निर्माण का कारण होने से निगलने के बाद श्लेष्माशय को जाता हैं एवं श्लेष्माशय में द्रवीभूत होकर आहार पित्ताशय को जाता है, वहाँ पर पाचक रसो से पचाये जाने पर वाताशय में जाकर मल एवं सार भाग में विभाजित हो जाता हैं (म० सू० सं० १/१६ पृ० ३१६)

शुक्र तथा आर्तव के सम्मूर्च्छन से गर्भ धारण होने पर शरीर की उत्पत्ति बताई गई है। (म० सू० सं० १/१६ पृ० ३१६)

यह शरीर ६०६ अस्थियों, ३६० अस्थि संघातों, ४०० शिरा जालों, ५०० मांस पेशियों ७०० शिराओं, ६०० स्नायुओं से निबद्ध, १०७ मर्मो एवं सात आशयों से परिपूर्ण है। (म० सू० सं० १/१६ पृ० ३१८)। विशुद्धि मग्ग में अस्थियों की संख्या ३००, अस्थि संधि १८० स्नायु ६०० मासंपेशी ६०० वर्णित है।

धातु प्रमाण-मस्तिष्क की मात्रा १ अंजलि, मेद-३, वसा-३, श्लेष्मा-६, पित्त-६ अंजलि, रक्त-एक आढक, पुरीष ६ प्रस्थ की मात्रा मानी गई है।

संहिता काल

संहिताओं में चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता मौलिक ग्रंथ हैं, जिनमें इस विषय पर अत्यन्त उपयोगी एवं विस्तृत ज्ञान उपलब्ध है । सुश्रुत संहिता के शारीर सम्बन्धी ज्ञान की उपयोगिता को देखकर आचार्यों ने 'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः' कहकर उसके शारीर स्थान को अन्य संहिताओं के शारीर स्थान से सर्वोच्च स्थान दिया है इसमें त्वचा से लेकर अंग - प्रत्यंगों की रचना का ज्ञान उपलब्ध है।

'त्वक पर्यन्तस्य देहस्ययोऽ विनिश्चयः'

चरक सुश्रुत संहिताओं के अतिरिक्त काश्यप संहिता में दन्त शारीर (Dentistry) का भी ज्ञान उपलब्ध है। संहिताओं के टीकाकार चक्रपाणि, डल्हण, अरूणदत्त एवं इन्दु का भी शारीर के क्षेत्र में मौलिक योगदान है। संहिताकाल में शारीर ज्ञान का और अधिक विकास हुआ और उपलब्ध संहिताओं से यह ज्ञात होता है कि इस काल में शरीर के अंग, प्रत्यंग एवं उनकी क्रियाओं का सम्यक् ज्ञान महर्षियों को था। संहिताओं में पाचन, रक्तसंवहन, मूत्र-निर्माण एवं श्वासोच्छ्वास की क्रियाओं का जो विवेचन उपलब्ध होता है, वह आधुनिक ज्ञान की तुलना में किसी भी प्रकार कम विकसित नहीं है। पाचन के सम्वन्ध में त्रिधाअवस्थापाक-मधुर, अम्ल एवं कटु-का विवेचन मुख, आमाशय एवं क्षुद्रांत्रगत पाचन का दिग्दर्शन कराता है। धातुपाक की क्रिया शरीर में निरंतर काल के समान होती रहती है और जीवितावस्था में कभी बंद नहीं होती, का विवेचन स्पष्ट रूप से किया गया है। चरकसंहिता में सिरा, धमनी एवं स्रोतस् की कार्य की दृष्टि से परिभाषा की गई है, जो सटीक है। रक्तपरिभ्रमण को रस परिभ्रमण के रूप में भेल संहिताकार ने स्पष्ट विवेचन किया है।

हृदयो रसः निरसरति तस्मादेव च सर्वतः सिराभिः हृदयं याति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः (भेल संहिता)।

इससे ज्ञात होता है कि रक्त हृदय से धमनियों के माध्यम से संपूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता है और संपूर्ण शरीरगत सिराओं से पुनः हृदय में वापस आता है। महर्षि सुश्रुत ने शब्दार्चिजल संतान का उदाहरण देकर संपूर्ण शरीर में रसधातु के परिभ्रमण को प्रदर्शित किया है। हृदय के कार्यों का भी विस्तृत विवेचन संहिताकारों ने किया है। पंचमहाभूत, त्रिदोष, सप्तधातु एवं मल-सिद्धान्तों का और भी विकसित रूप संहिताओं में उपलब्ध होता है। परवर्ती ग्रन्थों में क्रियाशारीर के सिद्धान्तों का और भी विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। विभिन्न संहिताओं में शारीर सम्वन्धी ज्ञान निम्नवत है ।

चरक संहिता के शारीर स्थान में वर्णित शारीर सामग्री

चरक संहिता के शारीर स्थान में आठ अध्याय हैं उनमें वर्णित विषयवस्तु व उनके अध्यायों के नाम निम्नवत है-

१. **कतिधापुरूषीय अध्याय**-इस अध्याय में धातु की दृष्टि से पुरूष के भेद, पुरूष को कारण मानने का प्रयोजन, पुरूष की उत्पत्ति, आत्मा के ज्ञानी होने का कारण, पुरूष की नित्यता का कारण, सृष्टि की उत्पतिक्रम, अव्यक्त पुरूष के लक्षण, प्रकृति तथा विकृति का वर्णन, स्वतन्त्र आत्मा का इच्छा के विपरीत परतंत्र योनि में जन्म होने के कारण, निर्विकार आत्मा को सुख-दुख उत्पन्न होने का कारण, वेदनाओं का कारण, वेदना का अधिष्ठान, सर्ववेदना की समाप्ति का स्थान, प्रशान्तभूतात्मा के

लिंग, आत्मा और शरीर में किसकी सर्व प्रथम उत्पत्ति, पर्वतापि विभु आत्मा के देखने में बाधक का कारण, वशी आत्मा दुःखकर भावों से वलात् आक्रामित होने में कारण इन समस्त २३ प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में पुनर्वसु आत्रेय द्वारा दिया गया है। अत्यन्त दुःख के नाश स्वरूप मोक्ष के कारण पुरूष व चिकित्सा के उपयोगी पुरूष के भेद का वर्णन किया है।

२. **अतुल्यगोत्रीय शारीर अध्याय**-षड्धातुज पुरूष कर्मबन्धन से मुक्त होकर बार-बार जन्म लेता उस बार-बार उत्पत्ति में जो कारण उसको इस अध्याय में बताया है, प्रथम शब्द अतुल्यगोत्र के आधार पर इसका नाम अतुल्यगोत्रीय शरीर रखा है। स्त्री पुरूष का विवाह एक गोत्र में न हो, अतः अतुल्यगोत्र कहा है। इसमें शुक्र का चतुष्पाद व षडरज युक्त माना है। गर्भ का सम्पूर्ण देह से युक्त होने का कारण समय पर सुखपूर्वक होने का कारण, स्त्री का विलम्ब से गर्भ धारण करने का कारण, गर्भ होकर नष्ट होने का कारण, नपुसंक का वर्णन, सद्योगृहीत गर्भिणी के लक्षण, स्त्री, पुरूष नपुंसक गर्भ के लक्षण, सन्तान के सहज में होने का कारण, रोग की उत्पत्ति का कारण, हर्ष व शोक का कारण, दुःख निवृत्ति का कारण तथा रोगोत्पत्ति के पूर्व चिकित्सा को महर्षि भगवान आत्रेय ने इस अध्याय में ज्ञान की वृद्धि कें लिए ३६ गूढ़ अर्थ से युक्त प्रश्नों का निर्णय किया।

३. **खुड्डिकागर्भावक्रान्ति**-गर्भ की उत्पत्ति, वृद्धि और जन्म में कारण, ८ महर्षि एवं भगवान आत्रेय का विचार, भरद्वांज का विचार, आत्मा का विशद रूप से निर्णय दिया, सभी बातें स्वल्परूप में खुड्डिकागर्भावाक्रान्ति अध्याय में वर्णित है।

४. **महतीगर्भावक्रान्ति**-गर्भ के उपादान कारणों का विस्तार से वर्णन और गर्भ नाम पड़ने का कारण इसका विस्तार से वर्णन होने के कारण महती शब्द प्रयुक्त है। इस अध्याय में गर्भ के कारण, आत्मा, प्रकृति, गर्भाशय में गर्भ की क्रमशः वृद्धि का कारण ये पाँच शुभ अर्थ माने जाते है। गर्भ के उत्पन्न न होने में कारण, गर्भ विनाश में कारण, गर्भ की विकृति में कारण, गर्भ विनाशक तीन भाव को अशुभ माना जाता है। इन शुभ अशुभ सभी आठ भावों को वैद्य भली प्रकार जानता है वह ही राजा की चिकित्सा कर सकता है। उदार बुद्धि वाला वह वैद्य गर्भ प्राप्ति के उपायों को और गर्भनाशक सभी भावों को बताने में समर्थ होता है।

६. **पुरूषविचयशारीर**-पुरूष लोक के समान है क्योंकि लोक में जितने मूर्तिमान भावों के भेद है उतने ही पुरूष में है। इसे बताने का प्रायोजन उत्पत्ति का कारण, निवृत्ति का मार्ग, शुद्ध सत्त्व का समाधान, मोक्षसाधक सात्म्यबुद्धि और मोक्ष की प्राप्ति के उपाय का वर्णन है।

७. **शरीर विचय शारीर**-शरीर के अंग प्रत्यंगों का विभाग से ज्ञान प्राप्त करने के लिए

इस अध्याय का वर्णन किया है। शरीर की परिभाषा का वर्णन है। समान गुणों वाले आहार विहार से शारीरिक रसादि धातुओं की वृद्धि तथा विपरीत से ह्रास बताया है। शरीर धातुओं के गुण, शरीर वृद्धिकर ४ भाव, बलवृद्धिकर भाव, आहारपरिणामकर ६ भाव तथा उसके कर्म, शरीर धातु के दो भेद मल और सार तथा सम्पूर्ण शरीर को जानने वाला वैद्य लोक में सुख देने वाले आयुर्वेद शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से जानता है। गर्भ में सर्वप्रथम अंगों की उत्पत्ति सम्बन्धित प्रश्न व उसका उत्तर गर्भाशय में गर्भ की स्थिति गर्भ का आहार व पोषण, प्रसव होने का कारण, गर्भ उत्पन्न होकर शीघ्र मरने का कारण, काल और अकाल मृत्यु का वर्णन तथा परमायु प्राप्ति का कारण बताया है।

८. **जातिसूत्रीय अध्याय**-इस अध्याय में बालक की गर्भ में जैसे रचना होती रचना काल में स्त्री की स्थिति, प्रसव, प्रसवोत्तर कर्म आदि सभी बालक की उत्पत्ति सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। ऋतुकाल में कर्त्तव्य, सहवासविधि, उत्तम सन्तान के लिए कर्त्तव्य, पुत्रेष्टि यज्ञ, पंचमहाभूतों की रूपोत्पत्ति में कारण, पुंसवन संस्कार, गर्भस्थापक औषधियों, गर्भोपघातकर भावों का वर्णन, गर्भिणी की चिकित्सा, गर्भिणी में रक्तस्राव की चिकित्सा, उपविष्टक नागोदर व लीनगर्भ की सम्प्राप्ति लक्षण व चिकित्सा गर्भिणी में उदावर्त नाश हेतु निरूह वस्ति, मृतगर्भ, गर्भ शल्य निकालने के उपरान्त चिकित्सा, अष्टम एवं नवम मास में गर्भिणी परिचर्या, सूतिकागार निर्माण व उसके लिए संग्रहणीय वस्तुएं, प्रसूतिगृह में प्रवेश, अनागत प्रसव में कर्तव्य, सद्यः प्रसूत बालक की परिचर्या, नालछेदन, अनुचित नालछेदन से होने वाले रोग व उसकी चिकित्सा, जातकर्म, रक्षाविधान, सूतिका के स्वस्थवृत का वर्णन तथा चिकित्सा सूत्र, बालक का नामकरण, दीर्घायु बालक के लक्षण, धात्री की परीक्षा, स्तन की उत्तमता, स्तन्य की श्रेष्ठता, अशुद्ध स्तन्य के लक्षण, क्षीरदोष की चिकित्सा, दुग्धोत्पादक द्रव्य, धात्री कर्म, कुमारगार, धूपन द्रव्य, धारणीय मणियाँ, बालक के रोगों की चिकित्सा सिद्धान्त, युवावस्था तक पालनीय कर्म नियम पालन का फल का वर्णन किया है।

अन्त में सभी उपायों द्वारा दैव सम्पत व मानुष सम्पत इन दोनों सम्पदो से सभी प्राणीमात्र शरीर की चिन्ता करते है, अतः उसे शारीर स्थान बताया है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त शारीर विषय से सम्बन्धित सामग्री विभिन्न अध्यायों में यत्र तत्र सर्वत्र मिलती है, उनमें प्रमुख निम्न है -

- सूत्र स्थान के प्रथम अध्याय दीर्घजीवितीयाध्याय में दोषों के भेद एवं लक्षण सूत्र रूप में लिखें हैं।
- सूत्र स्थान के पाचवें अध्याय मात्रा शितीयाध्याय में आहार सम्बन्धी ज्ञान का वर्णन है।

- सूत्रस्थान के आठवें अध्याय इन्द्रियोप्रक्रमणीयाध्याय में इन्द्रियपञ्चपञ्चक, मन सम्बन्धी विचार, ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का वर्णन है।
- सूत्रस्थान के १२ वें अध्याय वात कला कलीयाध्याय में वातदोषविषयक तद्विद्य सम्भाषा परिषद् का वर्णन है। साथ ही पित्त एवं वातदोष तद्विद्य सम्भाषा परिषद का भी वर्णन है। विभिन्न महर्षियों के वात पित्त कफ के विषय में मतों का उल्लेख इस अध्याय में है।
- सूत्र स्थान के सत्रहवें अध्याय क्रियन्तः शिरसीयाध्याय में दोषों के क्षीण एवं वृद्ध के लक्षण एवं धातुओं के क्षय में होने वाले लक्षण का उल्लेख है।
- सूत्र स्थान के २० वें अध्याय महारोगाध्याय में वात पित्त कफ के रूप एवं कर्मो का उल्लेख है।
- सूत्रस्थान के २४ वें अध्याय विधि शोणितीयाध्याय में शुद्ध रक्त का महत्व स्वरूप रक्तजन्य रोगों का उल्लेख हैं ।
- सूत्र स्थान के २५ वें अध्याय यज्जः पुरूषीयाध्याय में पुरूषोत्पत्ति एवं रोगोत्पत्ति सम्भाषा परिषद का वर्णन है। सूत्र स्थान के २९ वें अध्याय दश् प्राणायतनीयाध्याय में दशप्राणायतनों का उल्लेख हैं ।
- सूत्र स्थान के ३० वें अध्याय अर्थेदशमहामूलीय अध्याय में हृदय प्रकरण अर्थात् उसके स्वरूप, शरीर में स्थान, ओज, रक्त वाहिनीयों का केन्द्र, धमनी आदि का उल्लेख है।
- विमान स्थान के पाचवें अध्याय स्रोतो विमानाध्याय में स्रोतस सम्बन्धी महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध है । इन्द्रिय स्थान के सातवें अध्याय में छाया प्रति छाया के भेद एवं उनके लक्षण सम्बन्धी विवरण उपलब्ध है ।
- चिकित्सा स्थान के १५ वें अध्याय ग्रहणीदोष चिकित्साध्यायः में अग्नि और ग्रहणी की क्रिया एवं रचना सम्बन्धी ज्ञान उपलब्ध है ।
- चिकित्सा स्थान के २६ वें अध्याय त्रिमर्मीय चिकित्सा में त्रिमर्मो के विषय में वर्णन है।
- चिकित्सा स्थान के २८ वें अध्याय वातव्याधि चिकित्सा में वायु के महत्व एवं भेद का वर्णन है।
- सिद्धि स्थान के नवें अध्याय त्रिमर्मीय सिद्धि में शिर, हृदय एवं वस्ति के चिकित्सकीय महत्व एवं रोगों का वर्णन है ।

सुश्रुत संहिता के शारीर स्थान में वर्णित शारीर सामग्री

सुश्रुत संहिता के शारीर स्थान में शरीर रचना, शरीर क्रिया, भ्रूण विज्ञान एवं प्रसूति का भी वर्णन किया गया है । अतः शरीर के अध्ययनार्थ इस स्थान को १० अध्यायों में विभक्त किया गया है, जो इस प्रकार है

१. **सर्वभूतचिन्ताशारीरोपक्रम**-इस अध्याय में इस चराचर विश्व के सभी पदार्थों की उत्पत्ति का विशेष वर्णन किया गया है । अव्यक्त या प्रकृति का पुरुष के साथ सम्पर्क होने के बाद व्यक्त रूप में आने वाले सभी तत्वों का विशेष वर्णन किया है, अर्थात् आठ प्रकृति, १६ विकार (एकादश इन्द्रिय, पंचमहाभूत) और पुरुष का विस्तृत वर्णन इस अध्याय में है । इसे आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से (Theory of Creation) सृष्टि उत्पत्ति क्रम सिद्धांत कह सकते हैं

२. **शुक्रशोणित शुद्धिशारीरम्**-इस अध्याय में जीवोत्पत्ति के सिद्धांतो का प्रतिपादन किया गया है । शुक्र शोणित के संयोग से मनुष्य की उत्पत्ति होती है । अतः इस अध्याय में शुद्ध शुक्र शोणित के स्वरूप का वर्णन, दोष एवं उनके निराकरण तथा गर्भाधान क्रिया का वर्णन किया गया है । इसे हम (Theory of Reproduction) कह सकते हैं।

३. **गर्भावक्रान्ति शारीम्**-शुक्र शोणित संयोग के पश्चात् उसकी नौ माह तक जो मासानुमासिक वृद्धि होती है, उसका इस अध्याय में वर्णन किया गया है। गर्भावक्रान्ति का अर्थ गर्भ की परिवृद्धि है, अतः इस अध्याय को आधुनिक दृष्टि से भ्रूण विज्ञान कहा जा (Embryology) सकता है।

४. **गर्भव्याकरणोपक्रम शारीरम्**-पिछले अध्याय में गर्भ के वृद्धिक्रम का वर्णन बताकर इस अध्याय में गर्भ के अंगों का विस्तार से वर्णन किया गया है । व्याकरण का अर्थ, विस्तार होता है।

५. **संख्या व्याकरण शारीरम्**-इस अध्याय में गर्भ के अंग-प्रत्यंगों की संख्या का विस्तार से वर्णन किया गया है ।.इसी अध्याय में षडंग शरीर का भी विस्तार से वर्णन हुआ है । इसे Anatomy of the Body कह सकते है। इसी अध्याय में अस्थिसन्धि एवं पेशियों की रचना तथा कार्य का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

६. **मर्म निर्देश शारीरम्**-इस अध्याय में मर्म स्थानों का वर्णन किया गया है। यह अध्याय आयुर्वेदीय शारीर का विशेष भाग है। इसे हम Vital Parts कह सकते हैं अर्थात् इस अध्याय में शरीर के उन स्थनों का निर्देश किया गया है, जहां आघात लगने से शीघ्र अथवा कालान्तर में मृत्यु होने का भय रहता है।

७. **सिरा वर्णन विभक्ति शारीरम्** – इस अध्याय में सिराओं का पूर्ण वर्णन किया गया

है। रचना एवं क्रिया सम्बन्धी सभी प्रकार का विवरण दिया गया है, साथ ही अवेध्य सिराओं का भी वर्णन इसी अध्याय में किया है । इसे Angiology कह सकते हैं।

८. **शिरा व्यध विधि शारीरम्**-जिन रोगों एवं रोगी में रक्त मोक्षण की आवश्यकता होती है, उन सभी का तथा वेध विधि का भी इस अध्याय मे वर्णन किया गया है । रक्त मोक्षण विधि, देश, काल, रोगी और रोग का प्रमाण भी बताया गया है।

६. **धमनी व्याकरण शारीरम्**-इस अध्याय में धमनी उद्गम संख्या एवं रचना का विस्तार से वर्णन किया गया हैं । इसे भी Angilogy में अन्तर्भाव रख सकते हैं।

१०. **गर्भिणी व्याकरण शारीरम्**-इस अध्याय में व्याकरण से व्यवस्थाकरण का अर्थ लेना चाहिए । आहार विहार, प्रसूति इत्यादि गर्भिणी से सम्वन्धित विषय की व्यवस्था जिस अध्याय में दी गई हो, उसे गर्भिणीव्याकरण कहा जात है । इस अध्याय में बाल-विकारों, स्तन्य दोष एवं स्तन्य शुद्धि का वर्णन भी किया गया है ।

अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदय के शारीर स्थान में वर्णित शारीर सामग्री

अष्टांग संग्रह के शारीर स्थान में बारह अध्याय हैं और अष्टांग हृदय के शारीर स्थान में छः अध्याय हैं-

अष्टांग संग्रह के शारीर स्थान में वर्णित अध्यायों की नामावली	आधुनिक मत से वर्णित सामग्री
१. पुत्र कामीयमध्याय	Desire for Begetting a Son
२. गर्भावक्रान्तिं शारीरं अध्याय	Formation of the Foetus
३. गर्भोपचरणीयमध्याय	Care of the Pregnant Woman
४. गर्भव्यापदं अध्याय	Disorders of Pregnancy
५. अङ्ग विभाग शारीरं अध्याय	Human body and its parts
६. सिराविभागमध्याय	Classification of SIRAS
७. मर्म विभागं अध्याय	Classification & description of MARMAS/Vital spots
८. प्रकृति भेदीयं शारीरं अध्याय	Kinds of Human Prakrati / Constitutions
६. विकृति विज्ञानीयमध्यायं	Knowledge of Fatal signs
१०. विकृतेहाविज्ञानीयमध्यायं	Knowledge of Fatal signs
११. विकृतव्याधिविज्ञानीयमध्यायं	Fatal signs in Diseases
१२. दूतादिविज्ञानीयमध्यायं	Knowledge of Messenger etc

अष्टांग संग्रह में वर्णित शारीर विषयक सामग्री की विशेषता-अष्टांग संग्रह का दूसरा स्थान शारीर स्थान है, जिसमें १२ अध्याय हैं । इनमें एक से लेकर ८ वें अध्याय तक शरीर विज्ञान सम्बन्धी समस्त वर्णन है, जिसमें गर्भ से लेकर जन्म तक की स्थिति तथा अङ्ग प्रत्यों के रचना सम्बन्धी वर्णन को दिया गया है, इसमें अधिकांशतः सुश्रुत का अनुकरण प्रतीत है। ६-१२ अध्याय में अरिष्ट विज्ञान सम्बन्धी सम्पूर्ण विवरण दे दिया गया है।

धातुओं की वृद्धि के लक्षणों का सामञ्जस्य दोषलक्षणों के साथ स्थापित किया गया है। यथा रसवृद्धि में श्लेष्म विकार, रक्तवृद्धि में पित्तविकार आदि। इसका कारण यह है कि वाग्भट्ट धातुओं में विशिष्ट दोषों की उपस्थिति मानते हैं। यथा अस्थि में वायु, रक्त और स्वेद में पित्त तथा शेष में श्लेष्मा। वाग्भट्ट के मत में दोषों के क्षय और वृद्धि की उपलब्धि क्रमशः विपरीत गुणों की वृद्धि और क्षय से होती है और मलों की वृद्धि तथा क्षय का परिज्ञान उनके अतिसंग और उत्सर्ग से होता है । उसने यह भी विचार प्रस्तुत किया है कि धात्वाग्नि की मन्दता एवं तीक्ष्णता से क्रमशः धातुओं की वृद्धि एवं क्षय होगा । (सू० १८।१६-१७) जिस प्रकार सुश्रुत ने पित्त के पॉच भेदों का नामकरण किया, उसी प्रकार वाग्भट्ट ने कफ के ५ भेदों के नाम निर्धारित किये।

अष्टांग हृदय में वर्णित शारीर विषयक सामग्री की विशेषता

१. शारीर स्थान में हृदयकार ने ६ प्रकार के मर्मो का उल्लेख किया हैं। विशेष रूप से धमनी मर्म का उल्लेख किया है। धमनी मर्म का उल्लेख अन्यत्र नहीं हैं। वाग्भट्ट ने सुश्रुत के अनुसार ही १०७ मर्म बताये है किन्तु सुश्रुतोक्त पांच प्रकार के मर्मो में से ही संख्या कम करके धमनी नाम से एक नया मर्म का प्रकार बताया है। इनमें भी अस्थि एवं सन्धि के मर्म तो उतने ही बताए है, किन्तु सिरा, स्नायु व मांस में से क्रमशः ४, ४ एवं १ मर्म कम करके ६ मर्मो को धमनी मर्म नाम दिया है। धमनी मर्म इस प्रकार है - गुदा १, अपस्तम्भ २, विधुर २, शृङ्गाटक ४।
२. शरीर क्रिया सम्बन्धी विवेचन भी उत्तम कोटि का किया गया है। धातुओं एवं मलों के एक-एक विशेष कर्मो का वर्णन प्राप्त है। रक्त को केवल दूष्य कहा गया है जबकि संग्रह में रक्त को दोष एवं दूष्य दोनों माना गया है।

अष्टांग हृदय के शारीर स्थान में वर्णित अध्यायों की नामावली	आधुनिक मत से वर्णित सामग्री
१. गर्भावक्रान्तिं शारीरं अध्याय	Formation of the Foetus
२. गर्भव्यापदं अध्याय	Disorders of Pregnancy
३. अङ्ग विभाग शारीरं अध्याय	Human Body and its parts

४. मर्म विभाग अध्याय	Classification & Description of MARMAS/Vital spots
५. विकृत विज्ञानीयमध्यायं	Knowledge of Fatal signs
६. दूतादिविज्ञानीयमध्यायं	Knowledge of Messenger etc

अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदय में वर्णित सामग्री का तुलनात्मक वर्णन

अष्टांग हृदय का प्रथम और संग्रह का द्वितीय अध्याय गर्भावक्रान्ति शारीर नामक है । हृदय में ३० श्लोकों में, संग्रह प्रथमाध्यायोक्त बातों का वर्णन करने के उपरान्त द्वितीय अध्याय के विषयों का वर्णन प्रारम्भ होता है, जो न्यूनाधिक रूप से समान है । इसमें सद्यो गृहीत गर्भ के लक्षण, जरायु की उत्पत्ति, प्रथमादि मासों में गर्भ का स्वरूप, सगर्भा के लक्षणों से स्त्री आदि का अनुमान करना, (नपुसंक) षण्डठ तथा विकृत गर्भोत्पत्ति, गर्भोपघात कर भावों आदि का वर्णन है। संग्रह का तीसरा अध्याय गर्भापचरणीय शारीर और चौथा 'गर्भ व्यापद शारीर' है। हृदय का दूसरा अध्याय गर्भ व्यापद शारीर नामक है, जिसमें पूर्ववत् ३-४ अध्यायों का संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है । इस प्रकरण में गर्भिणी की मासानुमासिक चर्या, सूतिकागार प्रवेश और प्रसवकालिक उपचारों का वर्णन है । इसके बाद विभिन्न अवस्थाओं के गर्भपात की चिकित्सा, उपविष्टक, लीनगर्भ, उपशुष्कक, उदावर्त और मूढगर्भ की चिकित्सा का उल्लेख है ।

इसके आगे का अध्याय दोनों ही ग्रंथों में अङ्ग विभाग शारीर नामक है। इसमें अंग प्रत्यंगों की उत्पत्ति, मातृज पितृजादिभाव, सत्व रजस्तम से मन के प्रभावित होने पर उसमें विभिन्न गुणों की उत्पत्ति, देह के प्रविभाग, त्वचा, कला आदि और उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। अष्टाङ्ग संग्रह में छठवें अध्याय में सिराओं का विभाग बताया गया है । किन्तु हृदय में यह वर्णन तीसरे ही अध्याय में है। इसमें १० मूल सिराओं को हृदय से सम्बद्ध बताया गया है और आगे चलकर अंग प्रत्यंगों में उनके प्रविविभाग बताये गये है। कौन व्यधनीय है और कौन नहीं, इसका भी निर्देश किया गया है। २४ धमनियों को नाभि सम्बद्ध बताया गया है, जो शरीर का पोषण करती है। स्त्रोतों, ग्रहणी, अग्नि और आहारपरक एवं धातुत्पाद का भी इसी में वर्णन मिलता है। अ० हृ० जो अ० सं० के शारीर स्थान के ८ अध्याय से मिलता जुलता है।

अष्टाङ्ग संग्रह का ७ वां अध्याय और अष्टाङ्ग हृदय का चौथा अध्याय मर्म विभाग शारीर नामक है। इसमें १०७ मर्मो का स्थान रचना और प्राण हरत्व आदि दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। संग्रह का ९ वाँ अध्याय विकृतांगविज्ञानीय और हृदय का पाचवाँ अध्याय विकृत विज्ञानीय नामक है। दोनों में अरिष्ट का वर्णन है। संग्रह का दसवाँ अध्याय विकृति विज्ञानीय

और ग्यारहवाँ अध्याय विकृत व्याधि विज्ञानीय है। इन सभी में रोगों से पीड़ित रोगी में उत्पन्न होने वाले विविध असाध्यताख्यापक लक्षणों को देखकर कितने काल के अन्तर से मृत्यु होगी। इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

संग्रह का बारहवाँ अध्याय एवं हृदय का छठवाँ अध्याय दूतादि विज्ञानीय है, जिसमें दूत की चेष्टाओं और मार्ग में मिलने वाले शकुन आदि के आधार पर साध्यासाध्यता के परिज्ञान का वर्णन किया गया है।

प्राचीन संहिताओं में रक्तसंवहन, पाचन, मूत्र निर्माण आदि क्रियाओं का वर्णन मिलता है। पाचन में त्रिविध अवस्थापक, पाचन क्रिया में समान वायु, पाचक पित्त, क्लेदक कफ की भूमिका पूर्णतः वैज्ञानिक है। सन् १६२८ ई० में विलियम हार्वे ने रक्तसंवहन पर अनुसंधान किया तथा उसने रक्त के चक्रवत परिभ्रमण का निरीक्षण कर वर्णन किया कि हृदय के संकोच के द्वारा रक्त धमनियों में प्रविष्ट होता हैं और शरीर की धातुओं में परिभ्रमण करता हुआ सिराओं द्वारा पुनः हृदय में लौट आता है। हार्वे को धमनियों और सिराओं के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं था।

१६६१ ई० में मैलपिजी ने केशिकाओं का अनुसंधान कर बताया कि केशिकाओं के द्वारा धमनियाँ और सिरायें परस्पर संबंध है। १६६८ ई० में ल्यूवेनहुक ने माइक्रोस्कोप की सहायता से रक्तसंवहन प्रदर्शित किया । आयुर्वेद संहिताओं में ऐसा वर्णन मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि उन्हें शरीर में रक्तसंवहन का स्पष्ट ज्ञान था। रक्त संवहन का कार्य विक्षेपकर्मी व्यान वायु के द्वारा संपन्न होता है। (च० चि० १५/३१)

हृदो रसः निःसरति तत एव च सर्वतः ।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद्धृत्प्रभवाः सिराः ।। भेलसंहिता

रक्त हृदय से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में फैलता हैं और फिर शिराओं द्वारा हृदय में लौट आता है। रस शब्द, अग्नि तथा जल के संचार की तरह सम्पूर्ण शरीर में गति करता है। रस रक्त से मिलकर हृदय से महाधमनी में जाता है।

ध्यानं रक्तस्य बलाद् विक्षेपणं स्रवणं स्यन्दनम्,
सरणं मृदुगत्या हृदयाभिमुखं चलनमिति प्राचामभिसन्धिः सुस्पष्टः।
स्रोतःपदं चात्र जालकपरम् ।। प्रत्यक्षशारीरम्, धमनीखण्ड

उपर्युक्त वर्णन के द्वारा केशिकाओं, धमनियों तथा सिराओं का पारस्परिक सम्बन्ध और रक्तसंवहन का वर्णन किया है।

रस गतौ-अहरहर्गच्छतीप्यतो रसः
तस्य च हृदयं स्थानं स हृदयाच्चतुर्विंशतिर्धमनीनुप्रविश्य
द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतााना -सुश्रुतसंहिता सू० १४

शतपथ ब्राह्मण तथा वृहदाण्यक उपनिषद में हृदय शब्द का वर्णन आयुर्वेदज्ञों के हृदय तथा रक्तसंवहन संम्वन्धी ज्ञान को दर्शाता है।

तदेतत् वक्षरं हृदयमिति, हृ-इत्येकमक्षरम,
द-इत्येकमक्षरमू, यमित्येकम्
एवं हरतेर्ददातेरयतेर्हृदयशब्दः निरूक्त (दुर्ग) -शतपथ ब्राह्मण १४/८/४/१

हृदय शब्द में तीन धातु है ह, दा, इण। हृदय शब्द हरण, दान और अयन इन तीन क्रियाओं को वताता है। हृदय रक्त आहरण, सभी धातुओं को रक्त देना और संकोच एवं प्रसारात्मक गतियाँ करता है।

मध्यकाल

१३०० ई० तक यूरोप में भी पशुशवच्छेदन के द्वारा शारीर का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। कौषीतक गृह्यसूत्र ५/३/३ में गाय की पीठ की ओर से दोनों वृक्कों को निकालने का वर्णन तथा वृहज्जातक में शरीर के विभिन्न अवयवों के नाम भी मिलते हैं। सुश्रुत संहिता में शवच्छेद का संक्षिप्त् वर्णन मिलता है (सु० शा० ५/४६)। उस विधि से सूक्ष्म अवयवों के वारे में ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। सुश्रुत के समय में शारीर ज्ञान के लिए शवच्छेदन आवश्यक माना जाता था। विशेषतया शल्यविदों के लिए (सु० शा० ५/४३-४५)। यह शवच्छेद वर्णन अन्य चिकित्सा पद्धतियों की तुलना में प्राचीनतम हैं। तांत्रिकों ने षट्चक्र, नाड़ी, हृदय पर गंभीर विचार किया है। (इण्डियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज-पी० वी० शर्मा) वर्नियर (१६५६-१६६८) ने अपने यात्रा विवरण में वर्णित किया है कि भारतीय वैद्य शारीर का ज्ञान नहीं रखते। वे मनुष्य या पशु का शवच्छेद नहीं करते। जव मैं किसी वकरे का छेदन करता, तो भय से भाग खड़े होते ।

भोजकृत ग्रन्थ तथा भास्करभट्टकृत शरीरपझिनी (१६७९) का नाम शारीर के लिए महत्वपूर्ण है। अरूणदत्त ने अष्टांगहृदय की टीका में शारीर के पद्यो को उदघृत किया है। शार्ङ्गधर की आढमल्लव्याख्या तथा गूढ़ार्थदीपिका में भी शारीर का वर्णन मिलता हैं।

कौषीतकि गृह्यसूत्र (५/६/५-६) में वर्णित है कि यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु अज्ञातवस्था में हो जाये और उसका शव प्राप्त न हो, तब ३६० पलाश के गुच्छो से उसकी पुरूपाकृति वनाकर उसकी अन्त्येष्टि कर देनी चाहिए। ३६० संख्या अस्थियों का प्रतीक है, जो शरीर को धारण करती है।

शार्ङ्गधरकार ने आक्सीजन को प्राण एवं अमृत शब्दों से उल्लेख कर उसके द्वारा संपूर्ण शरीर की जीवित स्थिति को बतलाया है।

"हृदि प्राण" शा० पू० अ० ५/६१
"नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम ।

कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम।।
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहमखिलंज जीवयन् जठरानलम् ।। शा० पू० ५/५१

योगरत्नाकर ने दशविध परीक्षाओं का उल्लेख करते हुए नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, शब्द, स्पर्श आदि के सम्यक् परिज्ञान पर वल दिया है। मूत्र की 'तैल विंदु परीक्षा' का उल्लेख भी इन्होंने ही किया है। उक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिकों एवं महर्षियों में शरीरक्रिया के सिद्धान्त एवं उनकी प्रायोगिक परीक्षाओं में प्रवृत्ति जागृत हो गई थी।

आधुनिक काल

महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने सर्वप्रथम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद को स्थान दिया। उस समय आयुर्वेद की शिक्षा देनेवाला यह अकेला ही विश्वविद्यालय था। यों प्राच्यविद्यासंकाय में आयुर्वेद-शास्त्राचार्य की पढ़ाई पहले से होती थी, किन्तु आयुर्वेदिक कालेज विधिवत् १६२७ में प्रारम्भ हुआ। आधुनिक काल में शारीर में कविराज गणनाथ सेनकृत प्रत्यक्षशारीर का प्रकाशन १६१३ कलकत्ता से हुआ। कविराज गणनाथ सेन का जन्म (१८७७ ई०) को काशी में हुआ। इनके पिता विश्वनाथ कविराज काशी में ही आयुर्वेद का अध्यापन एवं चिकित्सा करते थे। १६०३ में कलकत्ता मेडिकल कालेज से एल० एम० एस० की उपाधि प्राप्त की। १६०८ में एम० ए० संस्कृत में उर्त्तीण हुए, आयुर्वेद का गहन अध्ययन करने के वाद कलकत्ता में इन्होंने चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया और शीघ्र ही आपका यश देशभर में फैल गया। गणनाथसेन निखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन के तीन बार (१६११, १६२०, १६३१) अध्यक्ष बने। आयुर्वेद के शिक्षण में गणनाथसेन जी का महत्वपूर्ण नेतृत्व था, जिससे १६१६ में आप महामहोपाध्याय की पद्वी से विभूषित हुए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद संकाय के १६२७-१६३८ तक अध्यक्ष रहे। १६३५ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित त्रिदोषसंभाषा परिषद् के आप अध्यक्ष थे। प्रत्यक्ष शारीरम् के अतिरिक्त सिद्धान्त निदानम् १६२६ संज्ञापथ्यकविमर्श (१६३१) शारीरपरिभाषा (१६३६) आदि आपकी रचनात्मक कृतियां हैं। गणनाथसेन जी का स्वर्गवास १६४५ में हुआ।

प्रत्यक्षशारीरम् का गुजराती अनुवाद डॉ० वालकृष्ण अमरजी पाठक ने किया, जिसके तीन खण्ड हैं - प्रथम खण्ड (भाग) की भूमिका में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री निहीत है। आयुर्वेद एवं आधुनिक की समन्वयवादी धारा के मूर्धन्य नेता कविराज गणनाथसेन थे। रूढिवादी पंडित इनसे सहमत नहीं थे । बंगाल में इनकी मान्यताओं के विरोधी कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती थे।

पं० दामोदरशर्मा गौड़ का जन्म चैत्र कृष्ण चतुर्दशी सम्वत् १६६५ (२६ मार्च १६०६) को हुआ था। आपकी अध्यक्षता में वैद्यनाथ भवन द्वारा आयोजित तृतीय शास्त्रचर्चापरिषद शारीरशास्त्र पर दिल्ली में (२०-२६ जून, १६५८) और रत्नगढ़ में (६-१० नवम्बर, १६५८) में सम्पन्न हुई। जिसमें शारीर संज्ञाओं के अर्थ निश्चित किये गये, जो "पारिषद्य शब्दार्थशारीरम्" के नाम से प्रकाशित है। आप १६६४ से १६७२ तक मौलिक सिद्धान्त विभाग, आयुर्वेद संकाय,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के विभागाध्यक्ष रहे। आपको २ नवम्बर १६८२ को "वैद्य पंडित रामनारायण शर्मा" प्रथम वार्षिक पारितोषिक के रूप में १००००० रूपये एवं १ किलो चाँदी की भगवान धनवन्तरी की प्रतिमा प्रदान की गई। पं० दामोदर शर्मा गौड़ का निर्वाण ३१ जुलाई १६८४ को हुआ। जिसके उपरान्त आपके पुत्रों ने आपकी समस्त पुस्तकों को मौलिक सिद्धान्त विभाग को दान में दिया।

डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर ने सुश्रुत संहिता के शारीरस्थान पर आयर्वेद रहस्य दीपिका नामक व्याख्या लिखी। डॉ० घाणेकर ने अपने उपर्युक्त ग्रंथ के निवेदन में लिखा है कि प्राचीन काल में सुश्रुतशारीर शारीरविषयक ग्रंथो में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। इसका प्रमाण निम्न लोकक्ति में मिलता है- **निदाने माधवः श्रेष्ठ, सूत्रस्थाने तु वाग्भट्टः। शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः, चरकस्तु चिकित्सिते।।** आधुनिक काल में पाश्चात्य शारीरविषयक ग्रंथों के साथ तुलना होने के कारण सुश्रुतशारीर की सारी श्रेष्ठता जाती रही। इसका प्रमाण म० म० कविराज गणनाथ सेन जी के निम्न वचन में मिलता है- "एवश्च योऽसौ 'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः' इति प्राचीनप्रवादः, स वृद्धसुश्रुतमधिकृत्य प्रचलितो नेदानीन्तने सुश्रुते भग्नप्रक्षिप्तभूयिष्ठे प्रयोक्तव्य इति निःशंङ्ग ब्रूमः। इदानीन्तु हन्त 'शारीरे सुश्रुतो नष्टः' इत्येव युज्यते विलपितुम।।" (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना, चतुर्थपाद)। कविराज जी का यह मत प्रत्यक्षशारीर (Anatomy) लिखते समय प्रकट हुआ है, इस बात को न भूलना चाहिए। प्रत्यक्षशारीर सुश्रुतशारीर का एक अंश है। इसमें प्रत्यक्षशारीर के अतिरिक्त सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, आनुवंशिकता (Heredity), सुप्रजनन (Eugenics), गर्भवृद्धि विज्ञान (Embryology), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology, Psychogeny); स्त्रीरोग और प्रसूतितन्त्र (Gyneology and Midwifery), कौमारभृत्य (Paediatric) इत्यादि गहन विषय सूत्र रूप में गागर में सागर की भाँति भरे हुए है। इसलिए कविराज जी के उपर्युक्त मत की यथार्थता एक अंश के लिए ही सीमित हो जाती है, सम्पूर्ण शारीर के लिए नहीं। मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार पाश्चात्य वैज्ञानिक तुलनात्मक दृष्टि से सुश्रुतशारीरान्तर्गत सम्पूर्ण विषयों की जाँच-पड़ताल करने पर भी उसकी नष्टता की अपेक्षा श्रेष्ठता का ही परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त डॉ. मुकुन्द स्वरूप वर्मा भी शरीर रचना के अच्छे विद्वान् रहे हैं।

डॉ० लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरू ए० एम० एस० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शरीर रचना के मूर्धन्य विद्वान थे। आपने शरीर रचना पढ़ाते समय विद्यार्थियों की कठिनाई का अनुभव करके गर्भस्थ शिशु की कहानी नाम से "भ्रूण विज्ञान" विषय को हिन्दी में लिखा है। लिखने में यद्यपि पाश्चात्य पद्धति को.अपनाया है, परन्तु साथ-साथ आयुर्वेद के वचन भी दिये हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की गौरवशाली परम्परा के रचना शारीर के मुख्य विद्वान के रूप में प्रो० एच० सी० शुक्ला, डॉ० एल० पी० गुप्ता के नाम एवं कार्य उल्लेखनीय है। इस समय मौलिक सिद्धान्त के विभागाध्यक्ष के रूप में डॉ० हरि हृदय अवस्थी, रीडर एवं विभागाध्यक्ष रचना शारीर कार्यरत हैं। मौलिक सिद्धान्त विभाग के चार प्रविभाग है -

१. रचना शारीर,
२. क्रिया शारीर,
३. आयुर्वेद दर्शन एवं सिद्धान्त,
४. स्वस्थवृत्त एवं योग।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शारीर के क्षेत्र में प्रकृति, सार, सहनन, बल, प्रमाण, मर्म, स्रोतस एवं उनपर कार्यकारी आयुर्वेदीय औषधियों पर अनुसंधान कार्य हुये हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्वावधान में स्नातक स्तर का आयुर्वेद विषयक पाठ्यक्रम १६४६ में प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में इसका प्रशिक्षण किंग जार्ज मेडिकल कालेज के अध्यापकों द्वारा उसी संस्था के प्रांगण में चलता रहा। वर्ष १६५४ में राजकीय आयुर्वेद महाविद्यलय, तुलसीदास मार्ग, लखनऊ में इस पाठ्यक्रम का अध्यापन प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में शरीर रचना एवं क्रिया विषयों.को अध्यापन स्वतन्त्र रूप में चलता रहा, परन्तु कुछ ही वर्षो में शारीर विभाग के अंतर्गत आरम्भ किया गया। विभाग के प्रथम विभागाध्यक्ष प्रो० पूर्णचन्द्र जैन नियुक्त किये गये। उनके सुयोग्य मार्गदर्शन में विभाग को वर्ष १६७२ में स्नातकोत्तर शारीर विभाग की श्रेणी प्राप्त हुई। महाविद्यालय के प्रमुख शारीर वेत्ताओं के रूप में प्रो० पूर्णचन्द्र जैन, प्रो० डी० जी० थत्ते, प्रो० यज्ञदत्त शुक्ल एवं स्व. प्रो. जे.एस. पाराशरी के नाम एवं कार्य उल्लेखनीय है। वर्तमान में प्रो० सुरेशचन्द्र स्नातकोत्तर शरीर रचना विभाग के विभागाध्यक्ष है एवं प्रो० जी० पी० तिवारी स्नातकोत्तर शरीर क्रिया विभाग के विभागाध्यक्ष है। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ के शारीर विभाग में मुख्य रूप से प्रकृति, सार एवं मर्म विज्ञान विषयों पर शोध कार्य हुए है।

डॉ० हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ ने बहुत ही उपयोगी ग्रंथ शवच्छेदन विज्ञान की रचना की है, जिसकी दो भाग है। आचार्य निरंजन देव ने शरीर क्रिया के क्षेत्र में तीन प्रमुख ग्रंथ - त्रिदोष तत्त्व विमर्श, प्राकृत दोष विज्ञान एवं प्राकृत अग्नि विज्ञान की रचना की है।

राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर (राजस्थान) के प्रो० एम० दिनकरशर्मा एवं डॉ० एस० पी० तिवारी का शारीर के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है।

गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय जामनगर (गुजरात) के डॉ. त्रिलोक चंद जैन एवं प्रो० रामबाबू द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं।

शारीर का इतिहास लिखते हुए यह भी उल्लेखनीय है कि २० वीं एवं २१ वीं शताब्दी के कुछ एक महापुरूष उत्पन्न हुए, जिसमें गणनाथ सेन, भास्कर गोविन्द घाणेकर, पी० एस० वारियर, पुरषोत्तम हर्लेकर, हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ, दामोदर शर्मा गौड़ एवं डॉ. दिनकर गोविन्द थत्ते के द्वारा शारीर विषयक ज्ञान को उत्कृष्ट बनाया गया।

दक्षिण भारत में डॉ० विजय विश्वनाथ डोइफोड़े, संकाय अध्यक्ष, आयुर्वेद संकाय, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे का गत ३५ वर्ष से अधिक का शारीर के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान में गहन योगदान है। आपने आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों को आधुनिक शास्त्र के मापदण्डों के अनुसार सिद्ध करने का प्रयास किया है। सुश्रुत मतानुसार मानव शरीर का विच्छेदन करने की पद्धति का प्रचलित पद्धति से तुलनात्मक अध्ययन (Comperative Studies) एवं इससे सम्बन्धित अन्य शोधकार्य आपके नेतृत्व में हुए है, जो कि उल्लेखनीय है। देश-विदेश में आपने मर्म शारीर, एक्यूपंक्चर प्रणाली, प्रमाण शारीर, स्रोतस शारीर, यकृत शारीर, गर्भ शारीर, आयुर्वेदीय आनुवंशिक सिद्धान्त, प्रकृति विचार पर किये गये शोध कार्यों का प्रचार एवं प्रसार किया है। आपका शारीर की प्रतिभाषा निश्चिती (शारीर शब्दावली) बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है। कायचिकित्सा, चरकसंहिता भाषान्तर, परिभाषिक शब्दों का शब्दकोष, आयुर्वेद शारीर का इतिहास जैसी पुस्तकों का लेखन किया है।

महाराष्ट्र में ही प्रो० अब्दुल वहीद, निदेशक आयुर्वेद संकाय अध्यक्ष, पोद्दार आयुर्वेद महाविद्यालय, मुम्बई, प्रो० एम० एच० परांजपे, विभागाध्यक्ष, शारीर विभाग एवं सेक्रेटरी, आयुर्वेद महाविद्यालय, पूना, प्रो० एच० एस० महाशब्दे, भूतपूर्व संकाय अध्यक्ष, अमरावती विश्वविद्यालय, अमरावती, प्रो० जे० टी० चोटाई एवं प्रो० संयुक्ता गोखले, आयुर्वेद महाविद्यालय, नागपुर, प्रो० वी० एस० पंडित, भारतीय विद्यापीठ, प्रो० मुकुन्द एरण्डे, प्राचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय, हडपसर के नाम उल्लेखनीय हैं।

मध्य प्रदेश से शारीर के क्षेत्र में प्रो० एम० पी० पाण्डेय, भूतपूर्व प्राचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय, रायपुर, प्रो० विनोद कुमार दीक्षित, संकाय अध्यक्ष एवं विभागा अध्यक्ष, वैद्य खुशीराम शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, भोपाल, प्रो० वी० एन० शर्मा के नाम उल्लेखनीय है।

कर्नाटक से शारीर के क्षेत्र में प्रो० अंजनेय मूर्ति, राजकीय तारानाथ, आयुर्वेद महाविद्यालय, वेलारी, प्रो० गिरधर एम० कण्ठी, प्रो० यू० गोविन्द राजू एवं प्रो० के० बाला कृष्ण भट्ट, प्रो० शिरधर होला, एस० डी० एम० आयुर्वेद महाविद्यालय, उडुप्पी के नाम

उल्लेखनीय है।

गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर एवं राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर में शारीर के क्षेत्र में अनेक शोधकार्य हुए है। दक्षिण भारत में वैद्यरत्न पी० एस० वारियर ने शारीर के क्षेत्र में अष्टांगशारीरम् (१६२५) तथा बृहच्छारीरम् (१६४२) की रचना की। पुरूषोत्तमशास्त्री हिर्लेकर ने १६४२ में 'शारीरं तत्वदर्शनम्' प्रकाशित की।

राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में वैद्य हरिहरनाथ उपाध्याय ने शारीर विभाग को विकसित किया है। आप शारीर के अच्छे विद्वान् हैं। सम्पूर्ण सुश्रुत शारीर आपको कण्ठस्थ है। आप पं सत्यनारायण शास्त्री के प्रिय शिष्यों में रहे। इसके अतिरिक्त वैद्य रामकैलाश पाण्डेय रचना शारीर के अच्छे विद्वान् थे। आप भभुआ विहार के रहने वाले थे। व्याकरणाचार्य एवं दर्शनानन्द के साथ बी.आई.एम.एस. किया था। जनवरी २००६ में आपका देहान्त हो गया।

शरीर रचना एवं शरीर क्रिया के प्रमुख ग्रंथ

प्रत्यक्षशारीरम्	-	डॉ० गणनाथ सेन
बृहच्छारीरम्	-	श्री पी० एस० वारियर
मानवशरीर रचना विज्ञान	-	मुकुन्दस्वरूपवर्मा
मानव शरीर दीपीका	-	मुकुन्दस्वरूपवर्मा
हमारे शरीर की रचना	-	त्रिलोकीनाथ वर्मा
अभिनव शवच्छेद विज्ञान १ व २ भाग	-	हरिस्वरूपकुलश्रेष्ठ
मर्म विज्ञान	-	रामरक्षपाठक
पारिषद्यं शष्दार्थशारीरम्	-	पं० दामोदर शर्मा गौड़
अभिनवशारीरम्	-	पं० दामोदर शर्मा गौड़
शारीरविनिश्चय	-	•ज्योतिषचन्द्र सरस्वती
मानव शारीर	-	डॉ० दिनकर गोविन्द थत्ते
मानव भ्रूण विज्ञान	-	डॉ० दिनकर गोविन्द थत्ते
मानव अंग रेखांकन एवं शरीर विकीर्ण रचना	-	डॉ० दिनकर गोविन्द थत्ते
मानव अंग रेखांकन एवं विद्युत ह्रिलेख	-	डॉ० दिनकर गोविन्द थत्ते
शारीर सुभाषित	-	डॉ० दिनकर गोविन्द थत्ते
आयुर्वेद शारीर	-	वैद्य गणेशनाथ पुरोहित
आयुर्वेदीय शरीर रचना विज्ञान	-	तारा चन्द्र शर्मा
रचना शारीर (तीन भाग में)	-	डॉ० गोपाल कृष्ण सैनी

रचना शारीर	-	डॉ० कृष्णकान्त पाण्डेय
दृष्टार्थशारीरम्	-	प० ग० आठवाले
आयुर्वेद शारीर	-	वैद्य गणेशविश्वनाथ पुरोहित
शरीर क्रिया विज्ञान	-	रणजीतराय देसाई
शरीर क्रिया विज्ञान	-	पी० सी० जैन
दोषधातुमल विज्ञान	-	शंकर गंगाधर वैद्य
अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान	-	प्रियव्रत शर्मा
प्राकृत दोष विज्ञान	-	आचार्य निरंजन देव
प्राकृत अग्निविज्ञान	-	आचार्य निरंजन देव
प्राकृत धातुमल विज्ञान	-	आचार्य निरंजन देव
पंचमहाभूत विज्ञान	-	उपेन्द्र नाथ दास
त्रिदोष विज्ञान	-	उपेन्द्र नाथ दास
त्रिदोष तत्त्व विमर्श	-	रामरक्ष पाठक
देहधात्वाग्नि विज्ञान	-	हरिदत्त शास्त्री
शारीरं तत्व दर्शनं	-	हिर्लेकर शास्त्री
देहप्रकृतिविज्ञान	-	पाटणकरकृत
आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञान	-	डॉ० शिव कुमार गौड़
अभिव शरीर क्रिया विज्ञान	-	डॉ० शिवकुमार गौड़
शरीर क्रिया विज्ञानीयम् १-२ भाग	-	शिवचरण ध्यानी
प्रायोगिक क्रिया शारीर	-	प्रो० पूर्णचन्द्र जैन एवं यज्ञदत्त शुक्ल
अभिवन मनोरोग विज्ञान	-	रवीन्द्र चन्द्र चौधरी
Sushruta Samhita – Sharira Sthana	-	Prof. D.G. Thatte
General Humen Embryology	-	Prof. L.V. Guru
Garbhastha Shishu Ki Kahani	-	Prof. L.V. Guru
Sushruta Samhitam, Sharirasthan	-	Prof. L.V. Guru
Sharira Rachana and Kriya Vijnana	-	Prof. L.V. Guru
Sushruta Samhita – Sharira Sthana	-	Prof. Jyotir Mitra
Human Physiology	-	Dr. K. Patwardhan

पञ्चदश अध्याय

दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में आयुर्वेद

दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में स्याम (थाईलैण्ड), लाओस, कम्बोडिया, वियतनाम, मलेशिया, सिंगापुर, फिलीपीन्स, वोर्नियो तथा हिन्देशिया का सारा भूखण्ड समाहित मानना चाहिए। भारत के साथ इस भूखण्ड का सांस्कृतिक, व्यापारिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध कहना चाहिए सदा ही रहा है, इसलिए देशकाल के लम्बे परिवर्तनों में यहाँ की भाषा, धर्म, सामाजिक रस्मों में भारतीयता का सम्बन्ध सदा की अक्षुण्ण रहा है तथा आज भी वना हैं। भौगोलिक परिस्थितियों तथा लम्बी राजनैतिक दासता के कारण इस भूखण्ड में चिकित्सा विज्ञान की व्यापक रूप से कोई व्यवस्थित नहीं वन पाई फिर भी खान-पान घरेलू चिकित्सा तथा कहीं-कहीं शासकीय संरक्षण में संचालित संस्थाओं में स्थानीय चिकित्सकीय जानकारी पर आयुर्वेद का प्रभाव सदा ही बना रहा हैं। आज यह भूखण्ड स्वाधीन हो चुका हैं। अतः स्वाभाविक रूप में यहाँ का जनमानस यह चाहता है कि उसकी अपनी परम्परागत चिकित्सा शैली के विकास हो और यही सुनहरा अवसर है कि जो लोग भी आयुर्वेद के करूणामय शाश्वत स्वरूप का विश्व कल्याणार्थ प्रचार प्रसार करना चाहते हैं, वह अपने इन पूर्व स्वजनों के सम्पर्क में आए और समवेत होकर उद्योग करें। यह कार्य शासकीय स्तर पर होगा जब होगा, वैयक्तिक रूप में तथा गैर सरकारी सार्वजनिक लोक संगठनो की ओर से ही करना चाहिए, यहाँ पर कतिपय देशों का प्राचीन चिकित्सा पद्धति के साथ आयुर्वेद के सम्बन्धों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

थाईलैण्ड-भौगोलिक समीप्य के कारण यह भूखण्ड भारतीयता के बहुत निकट रहा है। यहाँ के जन-जीवन के प्रत्येक पक्ष पर उदारता, स्वाभिमान, धार्मिकता, सादगी, सदाचार, शिक्षा, चिकित्सा, भाषा तथा जातीय संस्कारों पर यहां का प्राचीन उदात्त स्वरूप आज भी यहाँ की अपेक्षा वहां पर अधिक दिखाई देता है। आयुर्वेद के संहिता युगीन (विशेषतः सुश्रुत संहिता के) स्वरूप का ही एक संस्करण यहाँ की प्राचीन चिकित्सा पद्धति को समझना चाहिए, ऐसा मेरा विचार है। अपनी शोध-यात्राओं में मैंने इस विषय में जो भी जानकारी की है, संक्षेप में वह इस प्रकार हैं।

श्री लंका में आयुर्वेद

श्री लंका में भी आयुर्वेद का प्रसार अगस्त संस्कृति के उदय के साथ ही हुआ, रामायण में वैद्य सुषेण का उल्लेख इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। अत्यन्त प्राचीन युग का कोई क्रमबद्ध इतिहास अधुना सुलभ नहीं हैं, लेकिन बौद्ध धर्म प्रसार के साथ-साथ आयुर्वेद के

भी प्रसार का उल्लेख भारतीय तथा सिंहली साहित्य में समुपलब्ध है। भारत, विशेषतः दक्षिण भारत के समान ही यहाँ पर भी आयुर्वेद के उत्तर भारतीय साहित्य के साथ सिद्धायुर्वेद का भी प्रचार-प्रसार रहा, अनेक संस्थायें रही, अनेक आचार्यों ने अनेक ग्रन्थ का लेखन किया, जिसके द्वारा पीड़ित मानवता की सेवा अनादि काल से चली आ रही हैं।

जो काल भारतीय इतिहास में गुप्तकाल के नाम से जाना जाता हैं, सिंघली इतिहास में वही तत्रस्थ राजा बुद्धदास का स्वर्णिम युग समझा जाता है, कहा जाता है कि वह स्वयं भी सिद्धहस्त चिकित्सक थे। इनके समय तथा काफी आगे भी आयुर्वेद का स्वरूप सिंघल में अभिनवरूप में फला-फूला। तव से आज तक वहां आयुर्वेद का स्थान जनजीवन में अपना महत्व बनाए रखा है। वर्तमान समय सिंघल में ही आयुर्वेद को भारत की तरह राजाश्रय प्राप्त हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आयुर्वेदानुसंधान संस्थान तथा अनेक विद्यालय, चिकित्सालय यहाँ स्थापित हैं, जहाँ शिक्षा चिकित्सा की अच्छी व्यवस्था हैं। सिंघली भाषा पर भी संस्कृत व पाली का पर्याप्त प्रभाव है। अतः यदि भारतीय छात्र-छात्राऐं वहाँ जाकर पढ़ना चाहें, तो उन्हें विशेष असुविधा न होगी और अपनों के साथ आत्मीयता का अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार भी होगा, परन्तु क्या ऐसा पवित्र चिन्तन भारतीय आयुर्वेद जगत में होगा। यदि हो जाय तो क्या कहना।

तिब्बतीय-चिकित्सा शास्त्र

इतिहास लेखकों को यह ध्यान देना चाहिए कि प्राचीनकाल में पृथ्वी का विभाजन राजनैतिक ढंग से वैसा नहीं था जैसा आजकल है, देशों की सीमा का निर्धारण भी नहीं था, समग्र वसुन्धरा में कोई कहीं भी जा सकता था, वस सकता था, कोई पासपोर्ट वीसा का झंझट नहीं था। इस तरह भारतीय, तिव्वती, चीनी आदि विशेषणों का प्रयोग आयुर्वेद के प्राचीन इतिहास लेखन प्रसंग में कोई निर्णायक भूमिका नहीं वनाता हैं।

तिब्बत को प्राचीन युग में त्रिविष्टप कहते थे, यह देवभूमि स्वर्ग का प्रमुख भूखण्ड रहा, स्वर्ग में रहने वाले पांच मुख्य समुदायों (देव, यक्ष, गंधर्व, नाग और किन्नर) में से यह क्षेत्र नागों का था, शंकर उनके प्रमुख थे, कैलाश उनका प्रमुख स्थान था, दक्ष प्रजापति का विश्व विद्यालय इसी क्षेत्र में स्थित था, जिसमें देव भिषक् अश्विनी कुमारों ने शिक्षा पायी थी, इसी क्षेत्र में सुधा तथा अमृत का आविष्कार हुआ था, नाना प्रकार के अगदों की खोज हुई थी, इसी तरह प्राचीनता के विचार से तो तिब्बतीय भूखण्ड आयुर्वेद के उद्‌गम का स्थान तो है ही, महत्वपूर्ण अंशों का पल्लवन भी यहीं हुआ। वैदिक युग तथा तदुत्तरकालीन वहुत सी आयुर्वेदीय शाखा, प्रशाखाओं का दर्शन भी यहीं हुआ। इसके वाद का वहुत लम्वा काल इतिहास के लिए अज्ञात सा है, इधर वि. सं. ७ सातवी (ईसा की छठवीं शताव्दी) के वाद का कुछ क्रमवद्ध इतिहास इतस्ततः विकीर्ण प्रमाणों के आधार पर जानने का प्रयास

किया गया है, जो वहुत अंशों में विवादास्पद भी है-जैसा भी है, संक्षेप में यहां पर इस पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

तिब्वत में वौद्ध धर्म प्रचार का क्रमवद्ध इतिहास छठीं ई. के आसपास शुरू होता हैं, वौद्ध धर्म के साथ-साथ आयुर्वेद का प्रसार भी स्वभावतः होता गया। आठवीं विक्रम शती (सातवीं शती ई.) के अन्तिम भाग में आयुर्वेदीय ग्रन्थों का तिव्वती भाषा में अनुवाद होने लगा था। आधारभूत आयुर्वेदीय संहिताओं में वाग्भट के अष्टांग-हृदय सूत्र का ही अनुवाद तिव्वती भाषा में किया गया, वल्कि उस पर प्रसिद्ध टीकाओं वैदूर्यक भाष्य, पदार्थ चन्द्रिका प्रभास, अष्टांग हृदयवृत्ति, वैद्यकाष्टांग हृदय वृत्ति, भेषज नाम सूची आदि का अनुवाद तिव्वती भाषा में है, जो यहां अनुपलव्ध हैं।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जूलियस जौली के अनुसार "सिद्धसार-शास्त्र, अमृतहृदयाष्टांग, गृह्योपदेशतन्त्र" आदि ग्रन्थ भी आयुर्वेद के अमूल्य ग्रंथ तिव्वती में लिखे गये। तिव्वत के रास्ते ही भारतीय आयुर्वेद का प्रसार मंगोलिया तथा चीन एवं जापान तक हुआ। यहाँ पर हम सचित्र आयुर्वेद में प्रकाशित आचार्य परमानन्दजी शास्त्री के एक लेख का साराशं दे रहे हैं, जो कि इस विषय में अच्छा प्रकाश डालता हैं।

जर्मन विद्वान प्रोफेसर जूलियस जौल्ली के अनुसार तिव्वती चिकित्सा विज्ञान वहुतायत से भारतीय चिकित्सा विज्ञान पर ही आधारित हैं। उदाहरण स्वरूप शरीर के ६ द्वार तथा ६०० स्नायुओं का होना, शरीर से त्रिदोषवाद का सैद्धान्तिक रूप से परिग्रहण तथा दूध और मछली का संयोग व विपक्रिया जनकत्व और वेगधारण की सदोषता स्वस्थ वृत्त से-तीनों त्रिफला, नीलोफर, कालीमिर्च, लहसुन, अदरक, दालचीनी, कूठ की जड़ आदि भेषज विधान में वैल के सींग से चीरने का उपदेश तथा धान्यमुख, अक्षितुण्ड, पशुतुण्ड आदि आकृति वाले यन्त्रों का वर्णन शल्य विज्ञान में तथा गर्भ विज्ञान के अन्दर भ्रूण की योनि के परिचायक चिन्हों का निर्देश इसके प्रवल प्रमाण है। जौल्ली का यह भी कहना है कि भारतीय पशु चिकित्सक सम्वन्धी ग्रन्थ भी आदिकाल में ही तिव्वती भाषा में अनुवादित हुए थे।

तिब्बत में आयुर्वेद के ग्रन्थ

श्री ई. एच. सी. वाल्स भी तिव्वती चिकित्सा विज्ञान को आयुर्वेद से प्रसूत मानते हैं और इसका मौलिक रूप'ग्युद-सी' नामक तिव्वती चिकित्सा ग्रन्थ से प्रतिपादित है। तिव्वती भाषा में "ग्युद" का अर्थ होता है तन्त्र और "सी" का अर्थ होता है-चार। फलतः ग्युद्सी का अर्थ भी तिव्वती भाषा में वहीं होता है जो संस्कृत में चतुस्तन्त्र का।

कहा जाता है कि उक्त तिव्वती चिकित्सा ग्रन्थ मूल संस्कृत चतुस्तन्त्र का अनुवाद है और ४ तन्त्रों के रूप में ४ भागों में विभक्त हैं। यह भी कहा जाता है कि यह ग्रन्थ

भगवान् बुद्ध द्वारा मूलतः उपदिष्ट हुआ था। यह ग्युद्सी नामक ग्रन्थ तिब्वती चिकित्सा विज्ञान का मूलस्रोत है, जिसके बारे में "क्लोमाडे कूरूस" का विषय-सूची व्याख्यानुवाद पठनीय हुआ है। इस पुस्तक की दो ब्लाक-प्रिण्ट प्रतियां इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, जिसका नाम ऊपर में संस्कृत में अमृत हृदयाष्टांगगुह्योपदेश दिया हुआ है। इसके प्रत्येक के चार भाग है। प्रथम के चार भागों में क्रमशः ८, ४३, २१० तथा ६२ पृष्ठ हैं और इस भाग की पुस्तकालय संख्या डी-१ है। द्वितीय भाग के ४ भागों में भी क्रमशः ११, ४३, २२६ तथा ६२ पृष्ठ हैं और इसे डी-२ से संकेत किया गया है। एक पुस्तक ब्रिटिश म्यूजियम में भी है, जो अपेक्षाकृत स्पष्ट अधिक रहते हुए भी है अपूर्ण है। यह भी कहा जाता है कि "क्लोमाडे-कूरूस" का विवरण उनके लिए एक तिब्वती लामा ने तैयार किया था।

तिब्बत में आयुर्वेदावतरण

प्रस्तुत पुस्तक ग्युद्सी में तिब्वत में आयुर्वेदावतरण का क्रम बतलाते हुए लिखा गया मिलता है कि रिव्रस्त्रोङ्गदिहु (द्य) त्सन के काल में नवम विक्रम शती (ईसा की ८-९ शताब्दी में) तिब्वती भाषान्तरकार वैरत्सन या वैरोचन ने इसे काश्मीर में वैद्य पण्डित देवनोंगह की सहायता से अनुवाद करके उक्त राजा को समर्पित किया। उस समय इसे प्रसिद्ध वैद्य दूथौग तथा कई अन्य विद्वानों ने ग्रहण किया और तब से परम्परा या अवतरित होता हुआ वृद्ध यूथौग से १३वें वंशज यूथौग-जिसने अपने को पृथक् परिगणित कराने के लिए अपना नाम नव यूथौग रखा था-तक आया। इस वैद्य ने इसमें बहुत सा संशोधन-परिवर्तन किया और इसका प्रचार किया। इस काल में ९ व्यक्ति चिकित्सा विज्ञान के पण्डित हुए थे।

कहना न होगा कि यह चिकित्सावतरण परिपाटी भी भारतीय ही है और इस प्रकार का अवतरण क्रम आचार्य चरक एवं सुश्रुत द्वारा निर्दिष्ट आयुर्वेदावतरण परम्परा के अनुसार ही कहा जायेगा। साथ ही वृद्ध यूथौग ने नव-यूथौग का पृथक्करण क्रम भी वृद्ध वाग्भट् वृद्ध सुश्रुत आदि के पार्थक्येतिहास की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है। पुस्तक के ऊपर लिखित संस्कृत नाम "अमृत हृदयाष्टांग गृह्योपदेश" एक प्रकार से भारतीय अष्टांगहृदय संहिता की उपयुक्तता के अद्भुत प्रभाव का स्मरण कराता है।

तिव्वती शासक रिवमोड़ दिहु (द्य) त्सन किवा उसके काल के प्रधान वैद्य वृद्ध यूथौग का काल-निधीरण तिव्वती पुरातत्त्व एवं इतिहास के ज्ञाता एवं वैद्य पण्डित देवनोंगहक्त काल निर्णय काश्मीर के पुरातत्वविद् ही स्पष्ट रूप से कर सकेंगे, परन्तु प्रकृति अवतरण कथा में उद्दिस्ट वैरोचन तो अवश्य ही ध्यानिन्ब्बुद्ध के साम्प्रदायिक अनुयायियों में से रहे होंगे-जिस बुद्ध की चर्चा सरमोनिया विलियम के "बुद्धिज्म नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २०२ में

उपलब्ध मिलती है और उन्हें बोध ग्रन्थ "ललित विस्तरा" में नील-कायिक देवताओं में परिगणित हम पा रहे हैं।

बौद्ध धर्म का प्रसार ही मूल

वौद्ध साहित्य के अनुशीलकों के लिए यह बात छिपी नहीं है कि वौद्ध धर्म के भारतीय प्रचारक वौद्ध सिद्धान्तों के साथ ही वौद्ध सम्प्रदायानुमत भारतीय चिकित्सा विज्ञान के सुन्दर सिद्धान्तों का भी प्रचार किया करते थे। फलतः उनके द्वारा प्रचारित आयुर्वेद विज्ञान को भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट कह कर प्रख्यात किया गया होना भी कुछ आश्चर्य जनक नहीं।

यह भी सम्भव है कि भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को जो चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी उपदेश दिये थे, उन्हें उनके शिष्यों ने चार तन्त्रों में विभक्त कर लिपिबद्ध कर दिये हो और उसी चतुरतन्त्र के अनुवाद के रूप में "ग्युदसी" को तिब्बत में सर्वोपरि मान्यता मिली हो।

भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट एक चिकित्सा सूत्र से सुप्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग (६७१-६६५ ई.) ने उदाहरण देकर हमें यह मनाने को भी वाध्य कर रखा है कि उसके भारत भ्रमण काल में बौद्ध चिकित्सा विज्ञान का पर्याप्त प्रसार था। भगवान बुद्ध द्वारा चिकित्सा औषधि विज्ञान का उपदेश किए जाने का प्रमाण पूर्वी तुर्किस्तानान्तर्गत तूव्हाङ्ग में स्टाइन महाशय द्वारा प्राप्त जिस प्राचीन चिकित्सा पुस्तक की चर्चा डाक्टर हार्नले ने की थी, उसमें प्राचीन ईरानी भाषानुवाद के साथ जो मूल संस्कृत लेख भी उपलब्ध हैं और उसमें जीवक को संवोधित कर औषधोपदेश की चर्चा है। यद्यपि प्राचीन जीवक के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो सका है, फिर भी इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि यह जीवक भगवान बुद्ध के सम-सामायिक वैद्य व बौद्ध मतावलम्वी व्यक्ति थे और जिन्हें भगवान बुद्ध से वार्तालाप का अवसर भी प्राप्त हुआ था।

बौद्ध साहित्य में भगवान बुद्ध को "भैषज्य गुरु" की संज्ञा दिया जाना भी पर्याप्त ऐतिहासिक महत्व रखता है-भले ही वह "निर्वाण" प्राप्ति के सरलतम उपाय प्रदर्शन करने के कारण ही उन्हें दी गई हो।

इस पुस्तक के चार भागों में से प्रथम दो भागों में क्रमशः रोगाधिष्ठान और रोगायतन पर मीमांसा हुई है और शेष दो भागों में यथाक्रम भेषज चिकित्सा तथा शल्यकर्म का विधान है। इस पुस्तक की टीकायें भी तिब्बती भाषा में हुई थी, जिनमें संङसग्याद-ग्या-त्सो की लिखी "वैदूर्यपोड़पो" नाम की व्याख्या चिकित्सा विज्ञान का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा वाले छात्र ही पढ़ा करते हैं। इस टीका की एक ब्लाक प्रिण्ट कापी इण्डिया आफिस पुस्तकालय में संरक्षित है, जिसके ४ खण्डों में क्रमशः ४०, २८२, ५६२ और २०० पृष्ठ

हैं और मुद्रण भी सुस्पष्ट है। इसके अलावा भी "तन्ग्युर" तथा "कट्टग्युर" में भी आयुर्वेदिक पुस्तकें विखरी हुई मिलती हैं।

तिब्बती आयुर्वेद की समानताएं

तिव्वती चिकित्सा विज्ञान का मूलाधार भारतीय आयुर्वेद विज्ञान ही माना जाता है, फलतः उस चिकित्सा विज्ञान को भारतीय चिकित्सा विज्ञान से सर्वविध समानताऐं उपलव्ध होना स्वाभाविक ही माना जायेगा, फिर भी पाठकों के अवलोकनार्थ यहां भी समानता के थोड़े से उदाहरण स्थल लिखना आवश्यक मानता हूँ।

१. भारतीय आयुर्वेद के अनुसार शरीर के सात मौलिक तत्व यथाक्रम रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र हैं, जिन्हें एक शब्द में "धातु" कहा जाता है। आयुर्वेदीय सिद्धान्तानुसार रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदस, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा के शुक्र की उत्पत्ति मानी गई है। तिब्वती मूल चिकित्सा ग्रंथ ग्युदसी में भी रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात शरीर धारक तत्व कहे गये हैं, जिन पर जीवन आधृत बताया गया है।

२. भारतीय परम्परा के अनुसार वात, पित्त और कफ का शरीर में स्थान यथाक्रम पक्वाशय, आमाशय और छाती माना गया है। आचार्य चरक ने भी सूत्रस्थान महारोगाध्याय (२०) में लिखा है कि वस्ति वा मूत्राशय, पुरीषाशय, कटि, जानु, पांव और हड्डियां वायु के आश्रय स्थान हैं। इसमें पक्वाशय वायु का प्रधान आश्रय स्थान है। मेद, रस, लसीका, रक्त और आमाशय ये पित्त के आश्रय स्थान हैं। इनमें आमाशय पित्त का प्रधान स्थान है, छाती, मस्तक, ग्रीवा, पर्व समूह, आमाशय और मेदस् ये कफ के आश्रय स्थान है। इनमें भी छाती प्रधानतः कफ का स्थान हैं।

तिव्वती चिकित्सा के अनुसार भी कफ का स्थान शरीर का ऊपरी भाग, पित्त का मध्य भाग तथा वायु का निम्न भाग माना जाता है। "ग्युदसी" के अनुसार कफ का आश्रय स्थान छाती, जवड़े, रसना, मस्तक और सन्धि स्थान हैं, पित्त का आश्रय स्थान पेट-पक्वाशय और आमाशय के बीच में है, और वात का आश्रय स्थान पंचप्राण, सिद्धान्तानुसार मस्तक, छाती, हृदय तथा काय का निचला भाग है। यही नहीं, भारतीय आयुर्वेद के सिद्धान्त के समान ही तिब्वती आयुर्वेद ग्रन्थों में भी वायु का प्रकोप वृद्धावस्था वालों को, पित्त का प्रकोप जवानों को और कफ का प्रकोप बच्चों को बाहुल्येन होना बतलाया गया है।

३. इसी प्रकार गर्भ में बच्चों की उत्पत्ति के सम्वन्ध में तिब्वती चिकित्सकों का मत भी भारतीय विचारधारा से विल्कुल मिलता है। तिव्वतियों का मत है कि शरीर का निर्माण माता के रज, पिता के शुक्र और चैतन्य-इन तीनों के संयोग से ही होता

है। इसमें यदि शुक्र की वहुलता हो, तो पुत्र और रज की वहुलता की तो पुत्री का जन्म होता है। यदि शुक्र और शोणित दोनों समान ही रहे, तो नपुंसक ही पैदायश होती है। यदि रक्त दो भाग में वट जाय, तो जुड़वा बच्चा पैदा होता है।

भारतीय आयुर्वेद में तो यह मत अधिक प्रचलित है कि इसकी चर्चा चरक से लेकर भावमिश्र तक ने अपनी संहिताओं एवं ग्रन्थों में विशदरूप से की है।

इस प्रकरण में यह भी कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि तिब्वतीय आयुर्वेद का गर्भ-सृजन में शुक्रशोणित एवं आत्मा (चैतन्य) से उत्पन्न अंग प्रत्यंगों का वर्णन भी भारतीय आयुर्वेद के उस सम्बन्ध से सर्वथा मिलते जुलते हैं। तिव्वतियों का यह मत है कि शुक्र से हड्डियां, मस्तिष्क और कंकाल बनते है, शोणित से मांस, रक्त, हृदय, फेफड़ा, यकृत, प्लीहा और वृक्क ये प्रमुख अंग और शिरायें उत्पन्न होते हैं आत्मा से चैतन्य होता है। आचार्य चरक का भी रूपान्तर से इसी प्रकार का मत प्रकट होता है। वस्तुतः चरक के इस मत के बल पर यह मुक्तकण्ठ से कहा जायेगा कि तिव्वती आयुर्वेद भारतीय आयुर्वेद का सर्वथा अनुगामी रहा है।

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से समानता के उदाहरण तिव्वती आयुर्वेद के ग्रन्थ में उपलव्ध होते है-जिनका निर्देश कलेवर बृद्धि के भय से नहीं किया जा रहा है।

शरीर विज्ञान का विशेष प्रकार

तिव्वत में चांगपोरी विहार तथा उससे सम्बद्ध अन्य विहारों में श्री ई.एच.सी. वाल्स को एक शरीर विज्ञान विशेष ज्ञानोपाय प्रकार प्रदर्शक चित्र भी मिला था, जिससे तिव्वती शारीर विज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश मिलता है। कहा जाता है कि यहां के प्रत्येक चिकित्सक को यह चित्र पढ़ना पड़ता है। यह तिब्वत मिशन के प्रधान मेडिकल अफसर-कर्नल वेडेल आई. एम. एस. ने प्राप्त किया था। श्री एल. आस्टिन वेडेल ने अपने ग्रन्थ "लासा एण्ड इट्स मिस्टरीज" में अपने यात्रा-प्रसंग का सुन्दर वर्णन किया है। उक्त चांगपोरी विहार तथा उससे सम्बद्ध मेडिकल स्कूल यद्यपि पंचम दलाई लामा के प्रधानमंत्री सडग्यस्ग्यान्सो (६४०-८०·ई.) के बनवाये हुए है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु परम्परा अनुश्रुति यही है कि उक्त प्रधानमंत्री ने नव निर्माण नहीं किया था, अपितु वि.सं. ७०७ (६५० ई.) के लगभग तिब्वत में बौद्ध धर्म के प्रचार के समय ही राजा स्तोङ्त्सन गंवों द्वारा इस विहार की नींव डाली गयी थी। केवल जीर्णोद्धार ही सङ्स्ग्यात्सो ने करवाया था।

वाल्स को यह भी ज्ञाता हुआ था प्रकृत चित्र कोई नया नहीं, अपितु पुराने परम्परा प्रचलित चित्र की अनुकृति मात्र है। इसमें १२१ संख्यक चिन्ह देकर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त प्रदर्शित है और मस्तक, गला, हृदय, नाभि, स्नायु, शिरा, धमनी, मासंपेशियां, फेफड़े, यकृत, प्लीहा, वृक्क, आमाशय, पक्वाशय, शुक्राशय, अस्थि, कंकाल

आदि शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग बारीकी से प्रदर्शित हैं। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि इतने प्राचीन चित्र में भी फेफड़े का इतना स्पष्ट चित्रण मिलता है जिसके बारे में कई एक पाश्चात्य गवेषकों की यह भ्रान्त धारणा रही है कि आयुर्वेद में फेफड़े को मुख्यता नहीं दी गई है और इस धारणा की पुष्टि में वे बताते हैं कि चरक सुश्रुत आदि आर्ष आयुर्वेद के ग्रन्थों में क्लोम का उल्लेख नहीं मिलता हैं। इस सम्बन्ध में यह भी कहना कि श्री जौल्ली के द्वारा भारतीय आयुर्वेद का "सर्वे" करते समय आयुर्वेद के १४ हजार पारिभाषिक शब्दों की सूची बनाने पर भी फेफड़े का कोई नाम नहीं मिला, सर्वथा आश्चर्यजनक है।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि चेतनाधिष्ठान हृदय के बाद ही क्लोम का उल्लेख किया हुआ है जो इसकी प्रमुखता का ही प्रत्युत पोषण करना है। वहीं शरीर संख्या नाम शरीराध्ययाय (७) में १५ कोष्ठांगों का निर्देश करते समय "हृदयं च क्लोमंच" के रूप में फेफड़े का स्पष्ट निर्देश हैं।

मारीच कश्यपोक्त वृद्ध जीवकीय तन्त्र में तो हृदय के बाद ही क्लोम का निर्देश मिलता है और थोड़ा और आगे बढ़कर श्लोकों में हृदय, यकृत, प्लीहा और फुफफस की उत्पत्ति भी बताई गयी है।

प्रकृत शारीर चित्र में केवल फेफड़े का ही निर्देश हो, यही नहीं, अपितु वाम और दक्षिण दोनों ही फेफड़े की अगली-पिछली कर्णिकाओं का भी सुस्पष्ट चित्रण मिलता है। फिर भला कौन ऐसा विवेकशील विद्वान् होगा जो इसे आंख मूंदकर मान लेगा कि भारतीय आर्ष आयुर्वेदज्ञों को फेफड़े का ज्ञान नहीं हुआ था, किंवा उन्होंने फेफड़े की मुख्यावयवता नहीं जानी थीं अथवा जानकर भी उसकी उपेक्षा की थी।

तिब्बती आयुर्वेदाचार्यों की विस्तृत परम्परा

तिव्वती आयुर्वेद के आचार्यों की भी एक लम्वी परम्परा है, जिसका यथावत् व्याख्यान करना इस लघुकाय निवंध में सम्भव नहीं। इसी निवन्ध के उपर्युक्त लेखांशों से यह स्पष्ट हो चुका है कि ग्युद्सी के अनुसार वृद्ध यूथींग से नव यूथौग की वंश परम्परा में ही १३ आचार्य हुए थे। यूथौग काल के ६ आचार्यों की चर्चा भी पहले हो चुकी है, प्रकृत शारीर चित्र में १२ प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञों के चित्र भी उसी चित्र के ऊपर अंकित उपलब्ध हुए हैं। इसमें सर्वप्रथम दवाई वाङ्गयों का नाम है और अन्तिम है लिङ्ग स्त्रोङ्ग के लोजङ्ग्यत्सों का।

विशेषाध्ययन अपेक्षित

उक्त शरीर चित्र का जो विवरण श्री वाल्स ने अपने उपरिनिर्दिष्ट निबंध में दिया है वह सर्वथा अपूर्ण और सदोष है क्योंकि जिस तिब्बती वैद्य ने इस शारीर चित्र का विवरण

उन्हें बतलाया था, उसे ही चित्र के सम्बन्ध की पूरी जानकारी नहीं थी, यह श्री वाल्स के निबंध से ही स्पष्ट हो जाता है। श्री वाल्स लिखते हैं कि उन्हें वैद्य ने कहा था कि चित्र में जहाँ पर उसकी संख्या दी हुई है वहां एक चिकित्सा ग्रन्थ की संख्या है जिसमें उस चिन्हित अंग का पूरा विवरण दिया हुआ है, किन्तु उसे उस ग्रन्थ का नाम भी स्मरण नहीं आ रहा था। वाल्स ने यह भी लिखा है कि तिब्वती शारीर विज्ञान का एक मूल ग्रन्थ ग्युदसी ग्रन्थ में इस चित्र की चर्चा है। सम्भवतः श्री वाल्स को जो तिब्वती वैद्य मिला था वह चांड पोरी विहार का स्नातक नहीं था और उसने अपनी प्रतिष्ठा के लिए यह कूट प्रचार किया होगा कि उसने अपनी प्रकृत चित्र की कापी नेपाल की सीमा पर बेच दी थी, जिसका उल्लेख वाल्स ने किया है। इसलिए जब तक भारतीय आयुर्वेदज्ञ इस क्षेत्र में जाकर तिव्वती चिकित्सा ग्रन्थों का अनुसंधान अनुशीलना कर इस शारीर चित्र पर प्रकाश न डालें तब तक इस चित्र की प्रकृत व्याख्या सर्वथा नहीं मानी जानी चाहिए।

चित्र की विशेषतायें

यद्यपि चित्र की विशेषतायें अनेक हैं, मगर इसकी सबसे बड़ी विशेषता है हृदय को चैतन्य का अधिष्ठान मानना और इस सिद्धान्त की पुष्टि में चित्र में हृदय से संबद्ध ५ ज्ञानवह नाड़ियों का भी स्पष्ट निर्देश हैं।

यहाँ यह भी कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अधुनिक पाश्चात्य शारीरज्ञ मस्तिष्क को इन्द्रियाधिष्ठान के रूप में मानते हैं। यह भी कोई नवीन मत नहीं है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान के इतिहासज्ञों को यह भली-भांति विदित है कि भारद्वाज मुनि ने सर्वप्रथम मस्तिष्क को इन्द्रियाधिष्ठान के रूप में देखा था और उसी के बूते पर शरीर में सर्वप्रथम शिर की उत्पत्ति होना बतलाया था। परन्तु चेतना धातु आत्मा के मुख्याधिष्ठान होने और सभी अंगों का मूल एवं कतिपय भावों का अधिष्ठान होने के कारण हृदय को शरीर में मुख्य अंग और एकमात्र चेतनाधिष्ठान के रूप में आत्रेय एवं धन्वन्तरि दोनों ही सम्प्रदाय के आचार्यो ने माना है।

तिब्बत के शल्य शास्त्रीय यन्त्र

श्री वाल्य के अनुसार १९वीं शताब्दी तक तिव्वत में शल्य चिकित्सा में चूषण, अग्निकर्म तथा रक्तस्रुतावण, ये तीन शल्य कर्म मुख्य थे। उन्हें यह पता चला था कि "मेपुङ् और मेवुङ्" नामक दो यन्त्र थे, जिनमें कागज का पलीता जलाकर गर्म पात्र ब्लिस्टर करने के स्थान पर रखा जाता था। चूषण के लिए तुम्बी का प्रयोग, नश्तर की धुरी रक्तस्तवण के लिए और स्वर्ण शलाका आँख के आपरेशन के लिए प्रयोग किये जाते थे। इस समय तिव्वत पर चीनी अधिपत्य है वहाँ से तिव्वती चिकित्सा विज्ञान भी भारत प्रवासी हो गया,

धर्मशाला, दिल्ली, सारनाथ वाराणसी स्थित बौद्ध संस्थान में अध्ययन हो रहा है, यहाँ से विशेष जानकारी मिल सकती है। इन स्थानों में कई अच्छे तिब्बती चिकित्सक मिल जाते हैं। उनकी चिकित्सा विधि का अध्ययन सारनाथ वाराणसी में हो रहा है।

थाई देश की पुरानी चिकित्सा-विधि

शारीरिक तथा मानसिक क्लेशों तथा उसके उत्पत्ति के कारणों तथा निवारण के उपायों की संख्या का निवारण अंतिम रूप से नहीं किया जा सकता। देश काल एवं पात्र के भेद से इनमें अनन्त भेद होते हैं।

व्याधि निवारण की इच्छा से एकता होने पर भी साधनरूप (व्याधिनिवारणोपाय) में स्वीकृत संसार की चिकित्सा विधियों की अनेकता का रहस्य भी इन्हीं की विभिन्नता में निहित हैं।

नुवड़ भी एक चिकित्सा विधि है जिसका परिचय मुझे अपनी आयुर्वेदानुसंधान यात्रा के सिलसिले में घूमते हुए थाई देश में पहुँचने पर हुआ था। चाहता तो मैं तभी था कि इस विधि का परिचय यहाँ चिकित्सक बन्धुओं के समक्ष प्रकाशित करूं, लेकिन यह सोचकर कि बात को अच्छी तरह समझ कर कहना अच्छा है, चुप रहा। विगत दो और यात्राओं में मैंने इस विधि के बारे में अधिकाधिक जानकारी करने की चेष्टा की है जिससे जितना समझ सका, उसको विद्वानों के समक्ष इस आशा से रख रहा हूँ कि इस सम्बन्ध में यथावसर, यथारूचि, विचार किया जायेगा।

थाइलैण्ड तथा आस-पास के देशों के पैथ फैन-वीरानों (पुरानी विधि के वैद्यों) का जो वर्ग-विशेष नुवड़ विधि से ही चिकित्सा का कार्य करता है, उसे मो. नुवड (मो-वैद्य नुवड विधि को) कहते हैं। गावों तथा नगरों में इनके अनेक चिकित्सालय है। एक चिकित्सालय में प्रायः एक से अधिक चिकित्सक मिलकर काम करते हैं, चिकित्सा के साधनों में एकाध तेलों तथा लेपों को छोड़कर अन्य कोई भी औषधि नहीं होती। केवल हाथ के कौशल एवं बल से ही व्याधि निवारण का कार्य सम्पन्न किया जाता है। सम्भवतः इसीलिए इस विधि के शास्त्रीय ज्ञान को "हत्थसास" (हस्त-शास्त्र) कहते हैं। "नुवड़" देशी नाम है। इसका अर्थ किसी मर्म विशेष का बोधक हैं। थाई देश स्याम के आस पास के देशों में भी ऐसे चिकित्सक सुलभ हैं।

भारतीय मर्म विज्ञान का एक संस्करण सुख के लिए सम्पीड़न है। चिकित्सालय के अन्य उपकरणों में गद्दे, तकिए, चटाईयां, चदरे, जोर से दबाने के लिए मुट्ठी में आसानी से पकड़ने के लायक रबर के सिर वाले नीचे चौड़े, ऊपर पतले, मुग्दर की बनावट वाली मुठिया आदि होती हैं। मैंने जितने भी चिकित्सालय देखे वे सभी थाई जनता की प्रकृति के अनुकूल ऐसे, साफ, सम्पन्न, सुव्यवस्थित, सुशासित दिखाई पड़े कि देखकर चित्त प्रसन्न

हो गया। सर्वसाधारण के प्रति भी वहुत ही अच्छा रहता है किन्तु मैं उस शासक के देश (धर्म के देश) से आया हुआ वैद्य था, जहाँ भगवान कुथ (वुद्ध) एवं थाई वैद्य परम्परा में आदि उपदेष्टा के रूप में मान्यता प्राप्त आचार्य कुमार भट्ट (आथान कुमार भट्ट) ने जन्म लिया था। इस नाते मुझे जिस प्रकार की श्रद्धा-विभोर सम्मान प्राप्ति का अवसर मिला वह कहा नहीं जा सकता।

मो-नुवड के पास हर प्रकार की व्याधियों का इलाज आजकल नहीं किया जाता हलांकि उनका कहना है कि किसी समय इस तरह के भी जानकार इस विद्या के थे कि वह किसी भी पीड़ा का निवारण करा सकने में समर्थ थे। आजकल प्रायः वात व्याधियों की ही चिकित्सा यह लोग करते हैं। उसमें भी पक्षाघात, संधिवात, पेशी, स्तम्भ, अंगग्रह, किसी अंग अवशेष की पीड़ा, संधि विश्लेषण, अंगों का असामार्थ्य एवं अविकसित रह जाना आदि मुख्य है। चिकित्सार्थ किसी रोगी के आने पर वैद्य पहिले उस व्याधि के मूल केन्द्र का पता चलाते हैं। इस निदान की विधि यह है कि शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों को हाथ, कभी-कभी पैर के अंगूठे से जोर-जोर से दवाते हैं। जिस जगह पर दवाते ही रोगी वेदना की अधिकता से सिहर सा जाता है, वही केन्द्र माना जाता है। रोगी से पूंछकर भी इस वात की पुष्टि कर लेते हैं कि पीड़ा यहीं सवसे अधिक हुई है या नहीं और वहाँ दबाने और छोड़ देने पर समस्त पीड़ित भाग में विशेप रूप से पीड़ा की अधिकता और शान्ति का अनुभव हुआ या नहीं। सिद्धहस्त चिकित्सकों को अधिक देर केन्द्र के विनिश्चय में नहीं लगती, वे प्रायः एकाध बार दवाने के वाद ही (मर्म) का पता चला लेते है। कनिष्ठ चिकित्सक पता लगा लेने के वाद भी ज्येष्ठ चिकित्सक की सहमति के विना चिकित्सा आरम्भ नहीं करते।

चिकित्सा कर्म केवल इतना ही है कि उसी विशिष्ट मर्म को चिकित्सक लोग इतने जोर से दवाते हैं जितना अधिक से अधिक रोगी सहन कर सकता है। अंगूठे से काम न चलने पर पहिले कहे गये सम्पीड़क उपकरणों का भी प्रयोग करते हैं। सम्पीड़न की अवधि एक वार में २ से ४ मिनट तक कठिन या जीर्ण रोगों में प्रधान मर्म के अलावा कुछ उपमर्मों को भी दबाते है। एक दो अन्य उपमर्मो का भी सम्पीड़न किया जाता है। चिकित्सा का पूरा क्रम रोगानुसार एक दिन से लेकर महीनों तक चलता है। कुछ विशेष दशा में लगाने और खाने की भी दवा दें दी जाती है। अन्यथा केवल सम्पीडन के पश्चात् एकाध घंटे विश्राम करके रोगी घर चला जाता है। दुवारा आने की आवश्यकता हुई तो रोज या कुछ दिनों के अन्तर पर बुलाया जाता है। मुग्दरनुमा उपकरणों से सम्पीडन करते हुए जब मैंने प्रथम बार एक चिकित्सक को देखा, तो मुझे अपने गाँव के पशु चिकित्सक का स्मरण हो आया, जो कि जानवरों की अस्थियों का सन्धि विश्लेषण ठीक करने के मूशल से हटी हुई हड्डी को ढकेलते हैं। देश काल के इतने लम्बे व्यवधान के होते हुए भी

उपकरणों की इस समानता ने मुझे दोनों भूखण्डों से सम्बन्धित प्राचीन इतिहास का भी युगपत् स्मरण करा दिया था।

मो नुवड के चिकित्सालयों की भीड़-भाड़ से यह अनुमान होता है कि जनता की आस्था इस चिकित्सा विधि में बहुत हैं। लाभ भी होता होगा अन्यथा कोरी आस्था बहुत दिन न चल सकती। पूछने पर पता चला कि दूर देशों के भी अनेक लोगों ने इन लोगों से चिकित्सा करा कर लाभ उठाया है। कुछ ने मुझे दो बार अमेरिकनों के प्रसंशा पत्र भी सुनाये। संयोगवश मेरे पैर के घुटनों में तीन चार माह से पीड़ा हो रही थी, कारण उसका आघात था। जिज्ञासा की शांति स्वानुभाव से अधिक होती है, इस विचार से मैंने अपनी व्यथा वहाँ के एक प्रसिन्द्ध नुवड को बताई। निदान करके उन्होंने पीड़ा का केन्द्र नितम्ब के उस स्थान पर बताया कि जहाँ से कि गृध्रसी नाड़ी (तंत्रिका) की नितम्ब की मोटी पेशियों के नीचे भी आसानी से दबा सकना संभव होता है। इसमें संदेह नहीं कि एक ही बार से उन्होंने उस केन्द्र को पा लिया और दबाने पर घुटने में भी दर्द बढ़ उठा, छोड़ने पर तो वैसे भी नहीं होता था, चलते-फिरते समय की कठिनाई होती थी। उन्होंने कहा कि आघातज पीड़ा से नुवड की अपेक्षा विश्राम अधिक अपेक्षित है, लेकिन मुझे नित्य चलना ही चलना था। सम्भवतः यही कारण हो सकता है कि चार-पाँच दिन के सम्पीडन के बाद ही मुझे दस बारह दिन तक ही आराम रहा, बाद में फिर कष्ट बढ़ गया था।

मो नुवड चिकित्सा विधि का प्रचलन कब और किसके द्वारा हुआ। इस प्रश्न का कोई प्रामाणिक उत्तर मुझे नहीं मिल सका। प्रायः सभी चिकित्सकों ने यही कहा कि सभी प्रकार के व्यक्तियों के रक्षा शास्त्र के आदि उपदेष्टा कुमार भट्ट हैं, वहीं इसके भी उपदेष्टा है। मैंने कुछ चिकित्सालयों में कुमार भट्ट की प्रतिमा स्थापित भी देखी। मेरा अपना विचार है कि आयुर्वेदोक्त अभ्यंग कर्म को ही एक परिवर्तित रूप "नुवड" को मानना चाहिए। ऐसा मानने का पुष्ट आधार भी है। देशकाल के व्यवधान और उपर्युक्त इतिहास के अभाव के कारण न तो थाई देशों को और न भारतीयों को ही अब उस परिवर्तन क्रम का बोध हो सकता है।

नुवड हस्तशास्त्र की शिक्षा-दीक्षा गुरु परम्परा से ही चली आ रही है। इस विषय का कुछ साहित्य भी मिलता है। उसे देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विधि से चिकित्सा करने वालों के शरीर रचना का ज्ञान पर्याप्त रूप से रहता था और संवेदन (पीड़ा) के द्वारा मर्मो के विनिश्चय में इन लोगों ने बहुत श्रम किया होगा बड़ी प्रगति भी की थी। मो नुवड लोगों को शरीर रचना तथा मर्मो की शिक्षा देने के लिए यहाँ एक प्राचीन मंदिर "वाट फो" में स्थित आयुर्वेद विद्यालय की भित्तियों में पत्थरों पर उत्कीर्ण साठ मानव चित्र के मानचित्र जड़े हुए है।

जिनमें विभिन्न मर्मो का नाम और काम भी लिखा है। इन मानचित्रों से सम्बन्धित साहित्य पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है। उसका अनुवाद विस्तृत टिप्पणी के साथ मैं कर रहा हूँ। नुवड कर्म का जितना व्यावहारिक ज्ञान मैंने यहाँ पाया उसका भी विधिवत् प्रयोग करके फलाफल का आकलन करने का विचार है। जिन विद्वानों को विज्ञान की निःसीमिता पर विश्वास है और जो संसार भर में विखरी हुई आयुर्वेदीय ज्ञान राशि को फिर से देखने और प्राप्त करने में स्वयं की तथा पीड़ित मानवता का कल्याण देखते हैं, उनसे मेरा अनुरोध हैं कि वे विचार करें कि किस प्रकार संसार के आयुर्वेदज्ञ फिर से एकत्र होकर संसार को अभय दे सकेंगे और उसमें अपना क्या योगदान हो सकता है।

देशी चिकित्सा विज्ञानों का तुलनात्मक अध्ययन तथा खोज सम्बन्धी मेरा विदेश यात्राओं का संक्षिप्त वर्णन इस बार मैंने मुख्य रूप से जिन कार्यों में समय लगाया, वह इस प्रकार है।

१. एक औषधि अभियान-कोप का निर्माण-इस कोष में संसार भर की देशी चिकित्सा पद्धतियों में प्रमुख रूप से स्वीकृत औषधि द्रव्यों के संस्कृत, तमिल, सिंहली, वर्मी, मलय, थाई, चीनी, हिन्देशियाई, मंगोल, कोरियन, जापानी, नेपाली, फारसी, तुर्की एवं अरबी आदि नामों को संग्रहीत किया जा रहा है और यथा सम्भव असाधारण गुणों के सूत्रों का भी उल्लेख करने का प्रयास किया जा रहा है। अभी कई भाषाओं के नामों का संग्रह शेष है। नामों को उन-उन लिपियों के साथ ही देवनागरी एवं रोमन अक्षरों में भी दिया जा रहा है। इस प्रकार के कार्य की आवश्यकता का अनुभव समस्त देशों में किया जा रहा है सभी देशों के विद्वानों का इसमें सहयोग भी मिल रहा है आगे भी मिलते रहने की सम्भावना है। संभवतः इसके तीन खण्ड ही वर्मा में छप सकें है।

२. पिछली यात्राओं में मैंने यहाँ एक विलक्षण ग्रन्थ देखा था। इसमें ६० मानचित्रों में शरीर के सहस्रों ऐसे मर्म स्थानों को दर्शाया गया हैं जिनकी विकृति से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होती है और उनके सम्पीडन एवं उन पर स्वेदन, अभ्यंग, परिषेक, प्रलेप आदि से रोगों का निवारण भी होता है। इसी के बाद ही २०० के लगभग योगासनों अनेक मंत्रों और औषधि योगों का उल्लेख है, साथ ही स्वस्थवृत्त, गर्भरक्षा प्रसूतिचर्या, ऋतुचर्या, सदाचार आदि के भी महत्वपूर्ण अध्याय है। सारी पुस्तक में ५०० के लगभग पृष्ठ हैं। इस सारी पुस्तक को विद्या के महाप्रेमी उदार कीर्ति थाई नरेश राम तृतीय की इच्छानुसार देश देशान्तर के विद्वानों के सहयोग से प्रस्तर शिलाओं पर उत्कीर्ण कराकर प्रसिद्ध मन्दिर वाट को जेसवन महाविहार में स्थित आयुर्वेद विद्यालय की दीवालों में जड़ा दिया गया था और योगासनों की प्रस्तर मूर्तिया वनाकर मंदिर के आंगन में सजाया गया था। यह सब चीजे अभी भी उसी रूप

में नरेश की कीर्ति को फैला रही हैं। थोड़े दिन पहले इन सबको बहुत यत्न से पुस्तक का रूप दिया गया है। मैं इस पुस्तक का भी अनुवाद कर रहा हूँ। अधिभाग का अनुवाद समाप्त भी हो गया है। अब विशिष्ट स्थलों को समझाने के लिए उन पर विस्तृत टिप्पणी लिखी जा रही है। "तांराया" नामक यह ग्रन्थ सम्प्रति आधार ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसके योग तथा "मर्मविज्ञान" विषयक अध्यायों का हिन्दी अनुवाद मैंने कर दिया है। अभी अप्रकाशित है।

जंगली एवं पहाड़ी स्थानों पर जाकर जड़ी बूटियों की खोज का कार्यक्रम तो हर वर्ष होता रहा, अबकी बार देश के समुद्री तट की भी व्यापक खोजबीन की गई। इस अध्ययन यात्राओं में २५० के लगभग औषधि द्रव्यों का विनिश्चय सम्पन्न हुआ। यह ग्रन्थ भारत में भी सुलभ है और व्यवहार में आ रहे है, द्रव्यों के आकार प्रकार तथा प्रयोग में भी थोड़ा भेद कहीं अवश्य है।

थाई देश के आयुर्वेदीय छात्र-छात्राओं की सभाओं में भी गया। उन्हें भारत के बारे में बताया और उनकी बाते सुनीं, प्रश्नों का समाधान किया। छात्र बहुत ही उद्योगी एवं सम्पन्न हैं छात्राओं की संख्या भी छात्रों के बराबर है। इन लोगों के मन में भारत तथा अन्य देशों के साथ आयुर्वेद विज्ञान सम्बन्धी आदान-प्रदान करने के लिए भारी उत्साह है।

थाईलैण्ड में रहते हुए चिकित्सा जगत से सम्बन्धित जो जानकारी मिली थी, उसे अनेक माध्यमों से मैंने जिज्ञासुओं के समक्ष पहिले ही प्रस्तुत किया है। यहाँ पर भी संक्षेप रूप में देना समीचीत प्रतीत होता है।

३. थाई वैद्यों के अनुसार थाई-वर्मी विग्रह के कारण थाई भाषा का प्रचुर साहित्य नष्ट हो गया था। कालान्तर में थाई नरेश सम्भवतः राम पंचम ने एक विद्वत् परिषद का आयोजन करके नष्ट साहित्य का पुनरूद्धार कराया था। उसी समय चिकित्सा शास्त्र विषयक एक संग्रह ग्रंथ "वैद्य शास्त्र संग्रह" भी तैयार हुआ था। वह ग्रन्थ आजकल आधारभूत ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है।

४. द्रव्यगुण शास्त्र, स्वस्थवृत्त, तंत्र-मंत्र, योग, मर्मविज्ञान आदि पर स्वतंत्र ग्रन्थ भी उपलब्ध है। अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अप्रकाशित भी पड़े हैं। मैंने इस प्रकार के अनेकों ग्रन्थों को विविध संग्रहालयों में देखा है। "वाट फो" राजगुरु पुस्तकालय, राष्ट्रीय पुस्तकालय एवं चीनी वैद्य श्री तनमोसिन आदि के संग्रहालय इस विषय में उल्लेखनीय है। चीनी वैद्य की सूचनानुसार नागार्जुन का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ "शतशास्त्र" भी है। जिसके प्रकाशन का प्रबन्ध स्व. स्वामी सत्यानन्द पुरी ने किया था।

५. थाई भाषा में "द्रव्यगुण" विज्ञान का खण्डशः प्रकाशन आरम्भ हुआ है। दो तीन खण्ड "वृक्ष जाति" सचित्र छप चुके हैं, अन्य भाग प्रेस में है, कई भागों में यह ग्रन्थ छपेगा।

६. थाई भाषा में चिकित्सा विज्ञान की एक अच्छी पत्रिका "वैद्य कर्म सन्देश" का भी नियमित प्रकाशन होता है। उसमें भी विविध विषयों पर उपादेय लेख-होते हैं।

७. चिकित्सा के विविध अंगों के लिए उपयोगी पाठ्यग्रन्थों की अभी थाई भाषा में कमी है, इसकी पूर्ति कुछ तो पाण्डुलिपियों के प्रकाशन से होगी, कुछ को लिखना। यह अनुवाद कार्य से पूरा करना होगा।

८. मर्म विज्ञान पर मैंने थाई भाषा में अनेक सचित्र ग्रन्थ देखे, जिनमें मर्मो में होने वाली व्याधियों और उनका योगासनों अथवा अन्य उपायों से निवारणोपाय वर्णित था। अनेक ग्रन्थ अभी अप्रकाशित भी इस विषय में पड़े है। शरीर के मर्मो का अध्ययन तांत्रिक विद्या में भी बहुप्रचलित था, ऐसा अनुमान मुझे राजगुरु के संग्रहालय में सुरक्षित एक पाण्डुलिपि को देखकर हुआ। यह पाण्डुलिपि भी सचित्र है, भारी-भरकम आकार प्रकार में यह ग्रन्थ राजगुरु के अनुसार विशुद्ध रूप में "शैवशास्त्र" (तन्त्र शास्त्र) है किन्तु पं. विद्याधर जी का विश्वास है कि यह ग्रन्थ आयुर्वेद विषयक भी है।

९. प्राचीन संग्रहालयों में अनेक पाण्डुलिपियां ऐसी भी हैं जिनमें दो या तीन लिपियों और भाषाओं का सहारा लिया गया है। उदाहरणार्थ श्री राजगुरु के संग्रहालय में एक पुस्तक ऐसी है जिसमें भारत की प्राचीन पल्लव लिपि, खेमर लिपि तथा प्राचीन थाई लिपियों का प्रयोग है। इन संग्रहालयों में भारत के अनेक लुप्त ग्रन्थरत्नों का पता चल सकता है, इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है।

१०. जहाँ तक चीनी साहित्य की बात है, पाण्डुलिपियों की उसमें भी भरमार है, उनके प्रकाशित साहित्य में भी भारत प्रकाशित है, भारत का वह प्राचीन साहित्य भरा पड़ा है जो यहाँ आज नाम शेष है। जो यहाँ चिकित्सा विज्ञान के लिए उपादेय साहित्य चीनी भाषा में बहुत अधिक है। रस-शास्त्र, ज्योतिष, योग आदि के ग्रन्थ भी बहुत है। मुझे चीनी विद्वान् तन-मो-सिन ने बताया कि भारतीय वैद्यक शास्त्र की चीन में बहुत प्राचीन काल से प्रसार रहा है। चीन से उसका प्रसार मंगोलिया, कोरिया, जापान, साइबेरिया एवं रूस आदि देशों में हुआ था। इन देशों में भी एतद्विषयक ज्ञान अक्षुण्ण है, किन्तु किसी उचित प्रोत्साहन के बिना अपनी विशेषता के सहारे चल रहा है। चीन ने प्राचीन चिकित्सा विज्ञान को राष्ट्रीय चिकित्सा बना लिया है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति उसकी पूरक मात्र है। अतः चीनी भाषा में प्रतिदिन प्राचीन ग्रन्थों का प्रति-संस्कार एवं प्रकाशन आदि भी हो रहा है।

११. चीनी वैद्य परम्परा में आदि आचार्य ब्रह्मा को मानते है। अश्विनी कुमार-द्वय कुछ अपरिचित से हैं अन्यथा सारी परम्परा लगभग वैसी ही लगती है। जैसी कि भारत की है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि चीन की अपनी निजी परम्परा नहीं है। उन लोगों का कथन है कि ज्ञान-विज्ञान की दो धाराएं संसार में बही हैं, एक भारत में दूसरी चीन में। अनादि काल से लेकर आज तक दोनों ही विश्व कल्याण में

परस्पर एक दूसरे की सहयोगिनी रही, कभी किसी विग्रह की गंध भी नहीं रही किन्तु यह घोर संताप का विषय है कि कम्युनिस्ट चीनी शासकों के युग में इस पुनीत परम्परा में दाग लग गयी। चीन की प्रबुद्ध जनता चाहे वह कभी की भी है, इस बात को बहुत ही बुरी मानती है और चाहती है कि जैसे भी हो यह कलंक मिट जाये और उक्त दोनों शक्तियां पुनः एक साथ संसार का कल्याण करती नजर आये।

१२. पाठ्यक्रमों का जहाँ तक प्रश्न है, थाई देश में दो प्रकार का क्रम है।

(क) एक वर्ष तक पढ़ने के बाद प्रमाणपत्र इस बात का मिलता है कि वह व्यक्ति औषध विक्री एवं बनाने का अधिकारी है।

(ख) तीन वर्ष का पाठ्यक्रम चिकित्सा के लिए है।

परीक्षा आदि का नियमन स्वास्थ्य मंत्रालय की एक समिति द्वारा होता है। राज्यस्तर पर प्राचीन चिकित्सा विज्ञान को आवश्यक संरक्षण और प्रोत्साहन नहीं मिल सका है किन्तु उचित प्रयास करने पर मिलने में भी कोई विशेष बाधा नहीं दिखती।

१३. देशभर में आयुर्वेद के अन्तरंग चिकित्सालय सम्भव नहीं है, किन्तु प्राचीन चिकित्सकों द्वारा ही लगभग ८० प्रतिशत जनता अपनी चिकित्सा के केन्द्र प्रायः मंदिर (वाट) है। "वाट फो" में मैंने मर्म विज्ञान एवं मंत्र द्वारा चिकित्या कराने प्रतिदिन सैकड़ों लोगों की भीड़ देखी, वह निश्चय ही विस्मय जनक थी।

प्राचीन थाई वैद्य (मो अकवा वैद्य पुराण) मंत्र तंत्रों पर भी बहुत विश्वास रखते थे, अभी भी कुछ यह प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस "तोरमराया" ग्रन्थ की मैंने चर्चा की है उसके "गर्भरक्षाखण्ड" में कषायों, धूपों एवं मन्त्र प्रयोगों को देखने से तो ऐसा लगता है "कि यह किसी भारतीय चिकित्सा ग्रन्थ का ही अनुवाद है, जो थोड़ा अन्तर है वह देशकाल पात्र के कारण है। औषधियों, रोगों, लक्षणों, मंत्र तथा देवताओं के नाम प्रायः संस्कृत या पाली भाषा के हैं। यथा "महाक़नक काषांय" तेजोधातु विकार "कुमार रक्षा" आदि।

योग खण्ड में भारतीय तथा स्थानीय दोनों ही प्रकार के आसनों के चित्र उनके करने की विधि तथा लाभ दिया गया है।

मर्म विज्ञान खण्ड में, रेखा चित्रों के माध्यम से शरीरस्थ विभिन्न मर्मो के केन्द्र, उनके संवाहन, सम्पीडन की विधि तथा लाभ का वर्णन है।

जहाँ तक मुझे पता चला है कि थाई चिकित्सा विज्ञान तथा लाओस कम्बोडिया, दक्षिणी वियतनाम में प्राचीन चिकित्सा विधि में बहुत ही निकटता है भाषा तथा औषधि द्रव्यों के भेद के कारण ही थोड़ा भेद है। श्यामदेश सदा ही स्वतंत्र रहा है किन्तु पड़ोसी कम्बुज, लाओस आदि फ्रांसिसी दासता में रहे, इसलिए उनका प्राचीन गौरव दबा पड़ा रहा और प्रेरणा श्याम से लेता रहा, धार्मिक एकता ही इसका मुख्य कारक प्रतीत होती है।

१४. पठन पाठन की परम्परा चीन में तो सरकारी हो गयी है पर थाई आदि में यह गुरु परम्परा से चल रही है। वाट फो का आयुर्वेद विद्यालय पूर्णतः निःशुल्क है। अध्यापक लोग अवैतनिक धमार्थ रूप में ही पढ़ाते हैं। पठन-पाठन में श्रद्धा और लगन आदर्श रूप में मौजूद हैं। छात्रों और गुरुओं का सम्बन्ध इस सम्पूर्ण भूखण्ड में व्याप्त है। कहीं भी अशिष्टता या अनपेक्ष्य आचरण का नाम नहीं है। विनयशील, शालीनता तो वैसे भी यहाँ के राष्ट्रीय जीवन का अंग वन चुका है।

आयुर्वेद को यहाँ मैंने थाई और चीनी वैद्यों में देखा कि वह लगभग आयुर्वेद ही जैसा है। इन लोगों ने यह वताया कि हमारी चिकित्सा मूलतः भारतीय आयुर्वेद ही है देश-काल के व्यवधान से थोड़ा वहुत जो अन्तर दिखाई पड़ा, उसमें कुछ उल्लेखनीय बातों इस प्रकार है।

(क) थाई वैद्य परम्परा को आयुर्वेदावतरण की प्राचीन परम्परा ब्रह्मा, अश्विद्वय, इन्द्र आदि का ज्ञान नहीं हैं। वह लोग आयुर्वेद के आदि आचार्य के रूप में "कुमार भट्ट" को मानते है। "कुमार भट्ट" के सम्वन्ध में जानने के लिए उन लोगों ने अथक परिश्रम करके एक लम्बी लेखमाला प्रकाशित की है। अभी खोज जारी है। हमसे भी इस दिशा में ख़ोज करने का उन लोगों ने कई वार आग्रह किया है। थाई वैद्यों का विश्वास है कि इस विषय के इतिहास का प्रामाणिक पता भारत में ही चलेगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि "आदि आचार्य" कुमार भट्ट वही जीवक हैं, जिन्होंने भगवान तथागत बुद्ध की चिकित्सा की थी। भारतीय आयुर्वेद जगत में भी वह विख्यात हैं। उनकी शल्य एवं काय चिकित्सा सम्वन्धी दैवी क्षमता के बारे में संस्कृत एवं पाली साहित्य में सूचनायें उपलब्ध है। वौद्ध जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् "आचार्य भदन्त" आनन्द कौशल्यायन ने भी मुझको वताया कि "कुमार भट्ट को पाली भाषा में ''कुमार भच्च जीवक" करके लिखा गया है। भगवान बुद्ध के सम्पर्क लाभ से वुद्ध देशों में उनकी आदि आचार्य के रूप में मान्यता स्वाभाविक है। वही जीवक ही थाई देश के आदि वैद्य आचार्य "कुमार भट्ट" है। इसमें सन्देह नहीं है। चीनी इतिहास में "चतुर्भुज" को ही आदि आचार्य माना गया है। बाद की नामावली में कुछ उलट फेर है, जैसे एक "कुरंगमुख" आचार्य की भारी महिमा स्वीकृत है, जो कि सम्भवतः अश्विनीकुमार द्वय के बारे में ही हो।

(ख) आयुर्वेदीय त्रिदोष, चीनी वैद्यों को मान्य है, किन्तु थाई वैद्य त्रिगुण को स्वीकार करते हैं, वह भी प्रकृति-आरक्षक रूप में। वैद्य कर्म में इनकी चर्चा आवश्यक नहीं मानते। चिकित्सा एवं निदान में वे पंचमहाभूतों के विज्ञान पर आधारित हैं। महाभूतों के ही चयापचय के आधार पर ही स्वस्थास्वस्थ की मीमांसा आयुर्वेद के लिए जानने के योग्य देन है। महाभूतों के प्रभावों के मतभेद भी इन लोगों के द्वारा निर्धारित हैं जैसेः-

पृथ्वीभूत के	२० भेद
जल भूत के	१२ भेद
अग्नि भूत के	४ भेद
वायु भूत के	६ भेद
आकाश भूत के	१० भेद

शरीर की रचना एवं गति अगति में इन भूतों के अलग-अलग कार्य भी इनके यहाँ निश्चित हैं।

चिकित्स्य पुरुष के रूप में इन्हें "पंच महाभूतात्मक" पुरुष ही सिद्धान्ततः स्वीकार्य हैं, आत्मा या चेतना के विज्ञान का अस्तित्व इन्हें स्वीकार तो है किन्तु न तो यह उसको शाश्वत मानते हैं और नहीं विचारणीय। इसको यह लोग वम्हसास (ब्रह्मशास्त्र) वेदान्त का विषय मानते है।

प्रकृति भेद यह लोग शान्त अशान्त तथा मध्यम आदि नामों से करते हैं। उष्ण एवं शीत वीर्य से वर्गीकरण मानते है, किन्तु रसों की संख्या ९ मानते हैं।

औषधि कल्पों में क्वाथ, स्वरस, चूर्ण भस्म आदि का प्रचलन है। धातुओं, तेलों, आसवों आदि की भी मान्यता हैं, किन्तु सर्वोपरि महत्ता क्वाथ की है। जहाँ तक होता है एक बार में एक ही औषधि के क्वाथ का व्यवहार करते हैं। युगपत् एकाधिक द्रव्यों का उपयोग यह शास्त्र सम्मत नहीं मानते। इसमें इनका तर्क यह हैं कि द्रव्यगुण शास्त्र पदार्थों के गुण दोषों की व्याख्या अलग-अलग ही करता है। विभिन्न द्रव्यों के एक साथ प्रयोग करने पर यह पता लगाना अशक्य है कि किस द्रव्य के किस प्रभाव से लाभ या हानि हुई। विभिन्न द्रव्यों के विभिन्न गुणों के एकीभूत होने से कौन से विशेष प्रभाव की उपलब्धि होगी, इसे ऐकान्तिक रूप से कहा ही नहीं जा सकता। अतः जहाँ तक हो एक काल में एक ही औषधि का व्यवहार थाई एवं चीनी वैद्यक को भी स्वीकार्य है। क्वाथ को सर्वोपरि मानने में इनका तर्क है कि जल में विलेय तत्वों को शरीर सर्वाधिक मात्रा में सात्म कर सकता है। अपनी यात्रा के दौरान मैंने लगभग ४०० जड़ी बूटियों की पहचान की। लगभग ३५० औषधियों के थाई भाषा के नामों तथा गुणों एवं दोषों का निर्णय किया। निश्चय ही यह कार्य थाई वैद्य बंधुओं के कृपापूर्ण सहयोग से हुआ। चीनी नामों के निर्णय का काम समयाभाव के कारण नहीं हुआ, लेकिन निर्णय कार्य की रूपरेखा वन चुकी है। वर्मी नामों के लिए रंगून स्थित श्री सत्यनारायण जी गोयनका के सौजन्य से प्रसिद्ध वर्मी वैद्य पूज्य भिक्षु नागसेन जी एवं सिंहली नामों के लिए पूज्य भिक्षु प्रज्ञानन्द तथा चन्द्र रत्नी जी का सहयोग मिल रहा है, रंगून से वर्मी निघंटु के दो ग्रन्थ जिसमें संस्कृत नाम देवनागरी में छपे हैं, हाल ही में मुझे पूज्य स्वामी कृष्णानन्द जी के द्वारा भिक्षु नागसेन जी ने भिजवाया है। यह ग्रन्थ सचित्र है इनसे भारतीय और वर्मी आयुर्वेद के तुलनात्मक अध्ययन में सुविधा मिल सकती है।

रोग निदान पद्धति भी आयुर्वेद के समान है, किन्तु कई कई बातों की यहाँ विशेष व्याख्या दिखाई पड़ती है। यथा चीनी वैद्य त्वचा के वर्ण की परीक्षा को आभ्यन्तर व्याधि ज्ञान का प्रधान माध्यम मानते हैं। निदान तेरह प्रकार से करते हैं "अरिष्ट विज्ञान" इनका बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रतीत होता है। तंत्र-मंत्र अभिचार एवं मानसोपचार का प्रचलन अभी भी है। पंचकर्म साहित्य इनका विशाल है किन्तु प्रचलन वहाँ भी कम है। अभ्यंग, परिषेक वस्ति आदि क्रियायें प्रचलित हैं किन्तु भारतीय पद्धति के कुछ विशेषता लिए हुए है। स्त्रियों, बच्चों के रोगों के विशेषज्ञ अलग होते हैं। इसी तरह अलग शरीर रोगों के भी वैद्य होते हैं, जैसे नेत्र, दन्त, त्वचा, उदर आदि के वैद्य। रसायन विद्या भी इनकी बढ़ी चढ़ी थी। पारद और गन्धक पर बहुत काम हो चुका है ऐसा प्रतीत होता है। सम्प्रति इस ओर रूझान कम हो गई है।

ग्रन्थ सम्प्रति निश्चय ही भारत से यहाँ अधिक है। चीनी तथा थाई भाषा में ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिसकी या तो भारत में जानकारी ही नहीं है या सन्दर्भ मात्र मिलता है हजारों की संख्या में हस्तलिखित ग्रन्थों को मैंने स्वयं देखा है, जिनका सम्पादन प्रकाशन बहुत बड़ा आवश्यक कार्य है। ग्रन्थागारों में केवल मानवीय चिकित्सा ग्रन्थों का ही संग्रह नहीं है बल्कि पशु चिकित्सा शास्त्र, ज्योतिष, भूगर्भ विद्या, रसायन, भूगोल, इतिहास, वास्तु विद्या, संगीत, गणित आदि अनेक विषयों के ग्रन्थों की उपस्थिति सम्भाव्य है, आवश्यक केवल सावधानी के साथ खोज करने की है इस कार्य में थाई और चीनी विद्वानों की बहुत रूचि है, वह भी खोजकर उसमें सहयोग देगें, ऐसा मुझे आश्वासन मिला है।

इस वर्ष मुझे मलेशिया तथा सिंगापुर की यात्रा का भी अवसर मिला, इससे मुझे मलय और चीन देश के परम्परागत् चिकित्सा विधानों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला। पेनाग के लब्ध प्रतिष्ठ व्यवसायी श्री निशीकांतजी गुप्त, इपोह आर्य समाज के तथा हिन्दी विद्यालंय के संचालक आदरणीय पं. रामयण चौबे आदि ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि इस योजना के अनुसार जड़ी बूटियों एवं साहित्य आदि की खोज होनी चाहिए, इस काम में हर सम्भव में सहायता का भी वचन दिया, यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि लाओस, कम्बुज आदि के प्राचीन चिकित्सा विधि लगभग वहीं है, जो थाई देश में प्रचलित है। चीन की मुख्य भूमि एवं फारमोसा आदि से सिंगापुर का घनिष्ठ सम्बन्ध हैं, अतः वहाँ की नवीनतम् जानकारिया भी यहाँ आसानी से पहुँच जाती है। सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत का प्राचीन आयुर्वेद इन सारे देशों में प्रचलित है। देश और काल की दूरी ने अनेक बातों में विभिन्नता पैदा कर दी हैं, विशेषतः द्रव्यगुण शास्त्र के द्रव्यों की संख्या और प्रकार में कुछ नई बातें भी आ गई है, कुछ पुरानी छूट गयी है या अल्प प्रचलन में है। थाई देश के वैद्य और समाज सेवीजन तो एक ऐसे औषधालय की शीघ्र ही स्थापना का कार्य आरम्भ कर दिए हैं। जिसका संचालन थाई देश, भारत एवं अन्य देशों के विद्वानों के सहयोग से होगा। मेरे वहाँ रहते हुए ही भूमि प्राप्त का प्रबन्ध सम्भवतः हो गया था। खेद है कि इस योजना के मुख्य कार्यकर्ता वैद्य सभा के

उपाध्यक्ष वैद्य चयनित प्रियापोड् का असामयिक निधन हो गया है। फिर भी उनके सहयोगी उनके संकल्प को साकार करेंगे ऐसी आशा है। मेरी अपील पर अनेक थाई लड़के, लड़कियाँ भारत आकर अध्ययन करने की इच्छा से हिन्दी का अध्ययन आरम्भ कर चुके हैं। अनेक ने मुझसे सहायता चाही है। कई विद्वान भी आना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि भारत के लोग वहाँ आवें, अध्ययन् और काम करें।

मलेशिया

मलेशिया में जड़ी बूटियों की भरमार है। अनेक ऐसी हैं जो भारत में प्रमुख रूप से व्यवहृत हैं किन्तु मलय लोगों में उनका औषधीय प्रयोग नहीं होता। भारतीय जनता तथा ज्ञान विज्ञान के प्रति यहाँ भी पर्याप्त आदर का भाव है। भाषा भी संस्कृत गर्भित है। थोड़ा प्रभाव अरवी, फारसी का भी है। यहाँ आयुर्वेद तथा यूनानी दोनों के लिए पर्याप्त अवसर और सुविधा उपलब्ध हैं। साधारण गाँवों और शहरों में भी प्राचीन चिकित्सा के लिए जानकार अभी भी मिलते है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क से उन्हें भी बहुत सहारा मिलेगा। चीनी वैद्यक का भी यहाँ प्रचार है। आयुर्वेदीय औषधि तथा विज्ञान के प्रसार के लिए यहाँ होने वाले कार्यो में सरकारी सहायता की प्राप्ति की सम्भावना भी बहुत है। पता चला है कि सरकारी स्तर पर भी अब कुछ कार्य हो रहा है, इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ भी सहायता कर रहा है। भारतीयों की विशेषतः तमिल लोगों की यहाँ बहुत अधिक संख्या रहती है। इनकी बहुत बड़ी इच्छा है कि आयुर्वेद का यहाँ प्रसार किया जाय।

सिंगापुर

चीनी जनसंख्या बहुल देश है। यद्यपि संसार भर के लोग वहाँ मिलते हैं। मलेशिया की तरह ही वहाँ पर भी भारतीय लोग अच्छी स्थिति में हैं। संख्या भी पर्याप्त है। कुछ दक्षिण भारतीय वैद्यों के औषधालय भी यहाँ हैं, किन्तु चीनी वैद्यक का तो वहाँ के जन-जीवन पर व्यापक प्रभाव है। चीनी चिकित्सकों की सामाजिक स्थिति भी बहुत अच्छी है। उनका संगठन भी सम्पन्न और क्रियाशील है। सिंगापुर के चीनी चिकित्सक संघ के द्वारा संचालित बहुत अच्छे चिकित्सालय, पुस्तकालय आदि है। भारतीयों के प्रति इनके मन में भी मैंने बहुत अच्छा भाव देखा। चीनी वैद्यों ने मेरा बहुत ही अच्छा सत्कार किया। जो अधिक से अधिक हो सकता था, बताया, दिखाया और सुनाया। देशी चिकित्सा शास्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में योगदान करने के लिए यह भी अत्यन्त उत्सुक हैं और पर्याप्त सहयोग भी देंगे, ऐसा आश्वासन दिया हैं।

चीनी वैद्य की अनेक बातें ऐसी हैं, जो संसार के चिकित्सा विज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जैसे कैंसर चिकित्सा विधि, तंत्रिका संस्थान के रोगों पर विशेष उपयोगी एक्यूपन्चर विधि आदि। इन विधियों से लाभ उठाने यहाँ देश देशान्तर के लोग आते हैं

और विलक्षण लाभ होते देखा गया है। एक्यूपन्चर में एक विशिष्ट सुई के द्वारा तंत्रिका संस्थान के मर्मो को उत्तेजित किया जाता है। कई हजार मर्मो का निश्चय हो चुका है, इस विधि पर प्रचुर मात्रा में सचित्र साहित्य छपा है। जापान, कोरिया आदि देशों में भी इस विधि का वहुत प्रचार है, वहाँ से अंग्रेजी में भी साहित्य छप रहा है। एतदर्थ कई प्रकार के विजली के यन्त्रों का भी आविष्कार कर लिया गया है।

देशी दवाइयों के द्वारा कैंसर चिकित्सा में भी चीनी वैद्यों को बहुत सफलता मिली है। इस पर साहित्य प्रकाशित हो रहा है। तमिल भारतीयों द्वारा दक्षिण भारत में प्रचलित सिन्द्ध चिकित्सा एवं आयुर्वेद की चिकित्सा करने वाले कुछ वैद्य मिल जाते हैं औषधियां भी भारत से भेजी गई कुछ मिल जाती है, यहाँ भारतीय लोग प्रभावशाली स्थिति में हैं, यदि थोड़ा वहुत प्रयास भारत से हो, तो वहुत कार्य आयुर्वेद के प्रचार प्रसार से हो सकता है।

भारतीयों के साथ मलय और चीनी जनसंख्या भी इस अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में बढ़ चढ़ कर योगदान करेंगी ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास हैं।

इण्डोनेशिया में भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से आयुर्वेद प्रसार का एक अभिनव प्रयास किया जा सकता है, वालीद्वीप तो अभी भी पूर्णतः हिन्दू द्वीप है शेष द्वीपों की मुसलमान जनता भी सांस्कृतिक रूप में अभी भी प्राचीन हिन्दू परम्परा से अलग नहीं हुई है। किन्तु खेद है कि भारत सरकार या समाज अभी इधर कहने लायक कुछ भी नहीं कर रहा है।

उक्त वातों के प्रकाश में यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि, अर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के दृढीकरण आदि जिस भी दृष्टि से देखें, हर तरह से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आयुर्वेद के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार और पुनरूद्धार का यत्न परमावश्यक है। इससे एशियाई देशों में वंधुभाव की वृद्धि जितनी जल्दी और स्थाई रूप में वढ़ेगी, उतनी किसी भी प्रकार से नहीं।

मैंने जो प्रयास इस दिशा में किया वह एक प्रकार के व्यक्तिगत होने से सीमित सा रहा हैं, उसे बड़े पैमाने पर करने के लिए सभी विशेषतः चिकित्सकों को सक्रिय होना आवश्यक है। मेरी प्रार्थना है कि ऐसे सभी लोग जिन्हें इस प्रकार के कार्य में रूचि हो, वह अवश्य ही इस दिशा में प्रयत्न करें।

इक्षुदण्डस्तिला क्षुद्राः, कान्ता हेम च मेदिनी।
चन्दनं दधि ताम्बूलं, मर्दनं गुणवर्धनम्।।
(वृद्ध चाणक्य)

षोड़श अध्याय

मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ की वैद्य परम्परा

मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ की वैद्य परम्परा:-वर्तमान में दोनों प्रदेश में मिलाकर कुल आठ शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय हैं। मालवा में दो; राजधानी भोपाल में एक मध्य भारत क्षेत्र में एक (ग्वालियर) महाकौशल क्षेत्र में एक (जबलपुर) छत्तीस गढ़ क्षेत्र में एक (रायपुर) बघेलखण्ड में एक (रीवा) तथा निमाड़ क्षेत्र में एक (बुरहानपुर-खण्डवा) आयुर्वेद शिक्षा केन्द्र है। पूर्व में दुर्ग में श्रीमती गायत्री मिश्र द्वारा संचालित एक आयुर्वेद महाविद्यालय था। इसी प्रकार ग्वालियर, छतरपुर एवं भोपाल में भी एक-एक आयुर्वेद महाविद्यालय थे, जिनसे आयुर्वेद विज्ञानाचार्य की उपाधि भोपाल बोर्ड से प्रदान की जाती थी।

आपातकाल के वाद म.प्र. में बनी जनता सरकार ने सभी निजी आयुर्वेद शिक्षण संस्थानों को बन्द कर दिया था, किन्तु पिछले कुछ वर्षों से पुनः निजी क्षेत्र में आयुर्वेद महाविद्यालय भूपाल, इन्दौर आदि स्थानों पर प्रारम्भ हो गये हैं। विख्यात वैद्यों का विवरण इस प्रकार है:-

१-राजवैद्य रामकृष्ण शास्त्री:-विक्रम सं. १९७६ (१९१६ ई.) में ग्वालियर रियासत में इनके प्रयास से सराफा के वारादरी भवन में आयुर्वेद विद्यालय प्रारम्भ हो गया। आयुर्वेद की शास्त्री, उपाध्याय, आचार्य (द्विवर्षीय) पाठ्यक्रम की पढ़ायी यहाँ होती थी।

२-श्री रामेश्वर शास्त्री:-आपका जन्म वि. सं. १९४९ में हुआ। १९१९ ई. में विद्यापीठ दिल्ली से स्वर्ण पदक सहित आयुर्वेदाचार्य हुए। विश्वविद्यालय झाँसी से आयुर्वेद बृहस्पति (D.S. आयुर्वेद) की उपाधि मिली। ये ग्वालियर राज्य के राजवैद्य थे। ग्वालियर राज्य से इन्हें राज्यभूषण, पोशाकें व घड़ियाँ अनेक बार दी गयीं। राष्ट्रपति चिकित्सक होने का गौरव भी इन को मिला था। मध्य-भारत प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन में आपको चिकित्सक चूड़ामणि की पदवी १९३६ ई. में दी गयी।

आप १९२० ई. में ग्वालियर राज्य के नगर निगम के आयुर्वेदिक औषधालय में मुख्य चिकित्सक बने। १९२२ ई. में ये ग्वालियर आयुर्वेदिक तथा यूनानी फार्मेसी लिमिटेड के संचालक और १९३० ई. मे ग्वालियर आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य बने और १९४४ ई. तक रहते आए। बाद में आपको मध्यभारत राज्य का उप-संचालक एवं मध्य-भारत तथा मध्यप्रदेश का संयुक्त संचालक भी बनाया गया। ये आल इण्डिया मेडिसिन बोर्ड/काउन्सिल दिल्ली, मध्य-भारत देशी औषधि परिषद् तथा मध्य-प्रदेश भारतीय मेडिसिन बोर्ड के सभापति रहे। आपका निधन १९७६ ई. में हुआ। आपका निजी चिकित्सालय वर्तमान में वैद्य वेणीमाधव शुक्ल चला रहे हैं।

३-वैद्य सुरेन्द्र बहादुर शास्त्री:-फिरोजाबाद-आगरा के एक गाँव में इनका जून १६२२ ई. में जन्म हुआ। कलकत्ता व बनारस में पढे। १६४३ में आयुर्वेद विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। इन्होंने नई सड़क लश्कर (ग्वालियर) में निजी दवाखाना १६४५ ई. में तथा नवजीवन फार्मेसी सराफा लश्कर में १६४८ ई. में स्थापित किया। कसैरा ओली ग्वालियर में सुरेन्द्र आयुर्वेद औषधालय १६५७ ई. में प्रारम्भ किया। आपने वाल्मीकि आयुर्वेद महाविद्यालय सन् १६६३-६४ ई. में तथा श्री आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय सन्। १६६७-६८ ई. में प्रारम्भ किया। आप आयुर्वेद सेवा परिषद के सचिव, इण्डियन मेडिसिन बोर्ड म.प्र. के सदस्य (१६५५-१६६६ ई. तक) रहे। १६६४-६५ ई. तक इण्डियन मेडिसिन बोर्ड म.प्र. के अवैतनिक रजिस्ट्रार रहे। वेतन बोर्ड को स्वेच्छा से ही दान करते रहे। ७ मार्च ७८ को इहलीला समाप्त की।

४-वैद्य लक्ष्मण स्वरूप भटनागर:-श्री भटनागर ने आयुर्वेद विद्यालय में पं. रामेश्वर शास्त्री के वाद प्राचार्य का पदभार सम्भाला तथा १६४५ ई. से १६७४ ई. तक प्राचार्य रहे। स्वेच्छा से सेवा निवृत्त हुए। ग्वालियर राज्य से मध्यभारत बनने पर संस्था ने महाविद्यालय का रूप ले लिया। उ.प्र. की देशी चिकित्सा परिषद् से सम्बद्धता तथा बी.आई.एम.एस. की उपाधि का पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुआ। आमखो (ग्वालियर) में उक्त संस्था का स्वरूप-निर्माण इन्हीं के निर्देशन में हुआ। यह संस्था म.प्र. बनने पर उज्जैन वि.वि. से जुड़ा तथा १६६५-६६ से जीवाजी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हुआ। श्री भटनागर की योजना का परिणाम था कि १६७७ ई. में इस संस्था में एम.डी. कक्षाएँ प्रारम्भ हो गयीं। श्री भटनागर जामनगर आयुर्वेद वि.वि. के कुलपति भी. रहे हैं।

वैद्य पूरण प्रसाद तिवारी:-पुरानी छावनी ग्वालियर में १५.८.२७ ई. को इनका जन्म हुआ। आप साहित्य शास्त्री (बनारस), साहित्य रत्न प्रयाग, बी.आई.एम.एस. (लखनऊ), आयुर्वेदाचार्य (दिल्ली) तथा एम.ए. भी है। १६४५ से १६५४ ई. तक हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स, इन्दौर समाचार एवं अमर उजाला के संवाददाता रहे। अर्श रोग की क्षार चिकित्सा के आप प्रदेश में लब्ध प्रतिष्ठ वैद्य थे। १६६७ ई. में लक्ष्मण झूला हरिद्वार में सम्पन्न वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की चतुर्थ शास्त्र चर्चा परिषद् में "अर्श रोग" पर लिखे आपके निबन्ध को प्रथम पुरस्कार मिला। इनके सात शोध निबन्ध छपे हैं। "बृहत्त्रयी चिकित्सा सूत्रम्" इनका ग्रन्थ म.प्र. शासन द्वारा पुरस्कृत हो चुका है। आपने शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालयों में जबलपुर, इन्दौर, ग्वालियर एवं उज्जैन में सेवाएं कीं। आप काय-चिकित्सा में आचार्य, विभागाध्यक्ष और संकायाध्यक्ष भी रह चुके हैं। संप्रति मामा की बाजार, गोडवे की गोठ में निजी चिकित्सालय चला रहे हैं। आप चिकित्सक संघ के अध्यक्ष रहे हैं।

वैद्य श्री निवास उपाध्याय:-मुरैना जिले के दतेरा गाँव में २१ नवम्बर १६२५ ई. में जन्म हुआ। साहित्य शास्त्री (वनारस) वैद्य शास्त्री (दिल्ली) आयुर्वेदाचार्य (दिल्ली) एवं पी.

एच.डी. (रायपुर) से किया। एच.पी.ए. जामनगर से हुए। रामायण-महाभारत में आयुर्वेद विषय पर पी.एच.डी. किया। १९६३ से १९७० ई. तक शासकीय चिकित्सक संघ, म.प्र. के महामंत्री रहे। ६ शोध पत्र छपे हैं। कृष्ण औषधालय, गांडव की गोठ, माधवगंज थाने के पास चला रहे हैं। भेषज्य रत्नावली की टीका भी कर रहे हैं। रीडर पद से सेवा निवृत्त हुए।

वैद्य छक्की लाल द्विवेदीः-आयुर्वेदाचार्य, साहित्याचार्य और वैद्य शास्त्री हैं। भगवान् कालोनी मुरार में निजी चिकित्सालय चला रहे हैं।

वैद्य ऋषिकेश मिश्रः-वैद्य नर्वदाप्रसाद के यहाँ देवरिया उ.प्र. में १९२५ ई. में जन्म हुआ। व्याकरण शास्त्री और ए.एम.एस (बी.एच.यू.) की उपाधि ग्रहण की। १०.१०.५८ से ३१.३.८३ तक म.प्र. के आयुर्वेद महाविद्यालयों में सेवारत रहे। जबलपुर में काय चिकित्सा के आचार्य, अध्यक्ष एवं डीन रहे। पवांर साहब का वाड़ा, फालके की गोठ, लश्कर, ग्वालियर, म.प्र. में महर्षि आत्रेय आयुर्वेदिक चिकित्सा परामर्श केन्द्र चलाते हैं।

वैद्य गणपात लाल शर्माः-२५ जनवरी १९३५ ई. को पं. हुकुमचन्द शर्मा के यहाँ जन्म हुआ। व्याकरण तीर्थ (कलकत्ता), साहित्यरत्न (प्रयाग), साहित्य सुधाकर (बम्बई), विद्या वाचस्पति (अजमेर), बी.आई.एम.एस. आयुर्वेदाचार्य (लखनऊ), एच.पी.ए. (जामनगर), पी.एच.डी. (जयपुर, राजस्थान), शरीर क्रिया विज्ञान (रचना अकादमी प्रकाशन म.प्र.) से ५०० रुपये का पुरस्कार, दोषधातु मल विज्ञान की पाण्डुलिपि में २५० रुपया का पुरस्कार पाया। हिन्दी ग्रन्थ अकादमी म.प्र. से दोष धातु मल विज्ञान छपा है। २० शोध पत्र प्रकाशित हैं। भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् दिल्ली के सदस्य भी रहे। वर्तमान में आप म.प्र. के भारतीय चिकित्सा परिषद् एवं होम्योपैथी के संचालक हैं।

वैद्य धीरेश चन्द्र दीक्षित-शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय ग्वालियर के प्राचार्य रहे। संस्कृत का अच्छा ज्ञान था तथा अच्छे वक्ता रहे।

वैद्य वेणीमाधव शास्त्रीः-बल्देवनगर (मथुरा मण्डल-उ.प्र.) में ८ सितंबर १९३६ ई. में जन्म लिया। व्याकरण मध्यमा (बनारस), भिषणाचार्य (जयपुर) तथा एच.पी.ए. (जामनगर स्वर्ण पदक प्राप्त) उपाधियाँ मिलीं। जीवाजी विश्वविद्यालय में डीन आयुर्वेद संकाय रहे। राज्यपाल के चिकित्सक हैं। सदस्य केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् भारत तथा केन्द्रीय सिद्ध एवं अनुसंधान परिषद् के वैज्ञानिक परामर्शदात्री समिति के सदस्य और केन्द्रीय फार्माकोपिया समिति के भी सदस्य रहे। शोधपत्र १२ तथा शोध निबन्ध १०० छप चुके हैं। हरिशास्त्री दाधीच की कृति 'संजीवनी साम्राज्यम्' की टीका लिखी और पुरस्कार मिला। डॉ. जी.एल. शर्मा के सहलेखकत्व में लिखी पुस्तक "दोषधातु मल विज्ञान" भी म.प्र. आयुर्वेद अनुसंधान समिति द्वारा ही पुरस्कृत हुई।

नई सड़क में वैद्य भाल चंद्र जोशी, वहीं पर वैद्य श्यामलाल नायक का नायक औषधालय भी प्रसिद्ध हैं। नाड़ी सहस्त्र बुद्धे और सर्वटे वैद्य भी प्रसिद्ध रह चुके हैं।

वर्तमान मध्य प्रदेश का उत्तर पूर्वी सीमान्त भू-भाग रीवां राज्य था। रीवा के राजा भाव सिंह ने (१६६०-१६६० ई.) में वैद्य जागेश्वर प्रसाद व्यास को राजवैद्य के पद पर नियुक्त किया था। इसके बाद इस देश में अनेक राजवैद्य हुए। प्रसिद्ध वैद्यों का वर्णन इस प्रकार है:-

राजवैद्य सर्वसुख व्यासः-यह महाराजा अजीत सिंह (१७५५-१८०६ ई.) में थे। मुकुन्दपुर गढ़ी में शाहजादा अली गौहर (शाहआलम) की बेगम का प्रसूति कार्य इनकी देख-रेख में हुआ, जिसमें उ.प्र. के फतेहपुर जिला का एकारी गाँव इन्हें दान में मिला। फारसी भाषा में लिखी सनद आज भी प्राप्त है। वही पुत्र आगे चलकर अकवर द्वितीय शाह सानी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह घटना १७५८ ई. की है, जव अली गौहर पटना पर आक्रमण के लिये जा रहा था, परन्तु लार्ड क्लाइव के ससैन्य आने का समाचार सुनकर रीवां आ गया था।

तुलसी राम शिवदत्त राम (रीवां राज्य के दुआरी गाँव के पाट में प्राप्त लेख) राधेकृष्ण, गोकुल नाथ, रघुनन्दन राम रमा प्रपन्न, सीता राम सभी राजवैद्य थे।

राजवैद्य बाल्मीकि प्रसाद व्यासः-वि.सं. १६२५ (१८६८ ई.) मार्ग कृष्ण २ शनिवार को जन्म और १६४३ ई. आश्विनपूर्णिमा को निधन हुआ। वि.सं. १६८० (१६२३ ई.) में राजवैद्य चिकित्सक चूड़ामणि व्यासजी ने आयुर्वेद विद्यालय एवं चिकित्सालय प्रारम्भ कर दिया था, जिसमें दूर-दूर के लोग पढ़ने आते थे। "श्रीमद् व्यास बाल्मीकि प्रसादस्यायुर्वेदीय विद्यालयोंपधालययोः प्रमाणपत्रम्", इस प्रकार विद्यालय के प्रमाण पत्र में लिखा मिलता है। कम से कम पाँच वर्ष तक प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के साथ संहिता ग्रन्थों एवं औषधिनिर्माण का प्रशिक्षण कराया जाता है। रीवां, सागर, सतना, छतरपुर, राजिम, रायगढ़, धमतरी तक म. प्र. में और एटा, इटावा और गोपीगंज तक उ.प्र. में इनके शिष्य फैले हुए थे। कविराज प्रभाशंकर शास्त्री ने सोना भाखी भस्म को तैयार करने की विधि की सरल विधि के लिए अपने ग्रंथ में लिखा है कि "हमारे पूज्य गुरुवर्य चिकित्सक चूड़ामणि पं बाल्मीकि प्रसाद जी राजवैद्य, रीवां इसी विधि से सोना भाखी भस्म तैयार करते है।"[1] इससे यह प्रकट होता है कि ये रस शास्त्री और निजी शोध प्रक्रिया वाले चिकित्सक थे। आपके शिष्य नारायण प्रसाद शास्त्री (जाजगीर विलासपुर) के राजवैद्य होकर भी गये थे। पं. रविशंकर शुक्ल (रामपुर) तथा प्रसिद्ध उद्योगपति नरसिंह दास गुप्त की चिकित्सा हेतु भी गये थे।

---

१. हैजा अथवा कालरा का काल-नामक ग्रंथ पृष्ठ १०५ प्रकाशन-धन्वन्तरि ग्रन्थमाला पुष्प नं. ३, मैनेजर धन्वन्तरि ग्रंथमाला, सागर। लेखक- कविराज प्रभाशंकर वैद्य शास्त्री आयुर्वेदाचार्य।

वैद्य बसन्त कुमार त्रिपाठी:-जन्म १६०७ ई.। ये बाल्मीकि प्रसाद जी के शिष्य हैं। रीवां की आयुर्वेद शिक्षण संस्था से सम्बद्ध रहे हैं।

वैद्य राम प्रताप द्विवेदी:-एक ख्याति प्राप्त वैद्य थे। आयुर्वेद महाविद्यालय की संस्थापना में सहायक थे।

राजवैद्य नन्दनन्दन व्यास:-जन्म चैत्रकृष्ण ३ सोम १६७६ वि.सं. (१६२३ ई.) आयुर्वेदाचार्य, वैद्य शिरोमणि, वैद्य वाचस्पति थे। आयुर्वेद विज्ञान शिरोमणि (बड़ौत-गुजरात) की उपाधि थी। इन्होंने एक दवाखाना चलाया। "चिकित्सक चूड़ामणि वैद्य बाल्मीकि-नन्दन व्यास महौषधालय" नाम से प्रचलित इस संस्था को उनके पुत्र वैद्य लक्ष्मीरमण व्यास (बी.ए.एम.एस. एवं व्याख्याता आयुर्वेद महाविद्यालय रीवां) तथा वैद्य रमारमण व्यास (वैद्य विशारद) चला रहे हैं।

वैद्यराज पं. अनसूया प्रसाद शुक्ल:-बड़ी हरदी गाँव के श्री शुक्ल शिक्षक थे, परन्तु वैद्याचार्य (दिल्ली) एवं आयुर्वेद रत्न (प्रयाग) करके शासकीय आयुर्वेद औषधालयों में आयुर्वेद चिकित्सा अधिकारी बन गए। राजवैद्य बाल्मीकि प्रसाद जी के बाद ये सर्वाधिक प्रतिष्ठित वैद्य थे। माधवनिदान एवं भाव प्रकाश इन्हें कंण्ठाग्र थे। धूपचण्डी बनारस में रसौषधि निर्माण सीखा। सेवा-निवृत्ति के बाद में दो दिन सीधी में तथा पाँच दिन गल्ला मण्डी रीवां में दवाखाना चलाते थे। आज भी इनके अनेक शिष्य प्रशिष्य गांवों में वैद्य हैं।

२६ मार्च १६६४ से श्री बी.वी. तिवारी, वैद्य राम प्रताप शर्मा, वैद्य नन्द नन्दन व्यास, वैद्य अनसूया प्रसाद शुक्ल, वैद्य गोविन्द प्रसाद आदि ने मिलकर आयुर्वेद शिक्षा संस्था का शुभारम्भ किया, जिसका विकसित रूप वर्तमान आयुर्वेद महाविद्यालय रीवां में स्थित हैं। रीवां में आयुर्वेद चिकित्सा शिक्षण और अभ्यास वर्षों तक व्यास परिवार में रहे तथा क्रमशः संस्थागत हो गये।

वर्तमान में आयुर्वेद चिकित्सकों में निम्न प्रसिद्ध है :-

१. **वैद्य रामविलास सोहगौरा**-बी.ए. एम.एस., एम.ए., पी.एच.डी. ये राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय रीवां एवं उज्जैन में प्राचार्य रहे हैं। आजकल संयुक्त संचालक देशी चिकित्सा पद्धति एवं होम्योपैथ भोपाल में कार्यरत हैं। आप जनप्रिय तथा सुयोग्य चिकित्सक हैं।

२. वैद्य राजेन्द्र कुमार जैन, बी.आई.एम.एस., प्रोफेसर

३. वैद्य लालमणि कुशवाहा, बी.ए.एम.एस., एम.डी. चिकित्सक

म.प्र. की दक्षिण-पश्चिम का भाग निमाड़ प्रदेश कहा जाता है। निमाड़ में आयुर्वेद चिकित्सा शिक्षा का केन्द्र बुरहानपुर (जिला-खण्डवा) था। यहाँ के वामन राव वैद्य, पं. शिव शर्मा एवं दत्तात्रेय शास्त्री जलूकर आदि ने मिलकर आयुर्वेद शिक्षा हेतु केन्द्रीय शासन में प्रेरणा व प्रयास किया था।

वैद्य शिवनाथ वैजनाथ शास्त्रीः-जन्म ६ नवम्बर १६०४ ई.। निधन ३० जून १६८६ ई.। अध्ययन-काव्यतीर्थ (कोलकत्ता), आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि (१६३१ ई. दिल्ली)। इन्हें पण्डित रत्न भिषकभूषण और शास्त्री की उपाधियाँ मिली थीं। प्रतापपुरा बुरहानपुर में श्री नाथ औषधालय के नाम से १६३१ ई. से निजी चिकित्सालय चलाने लगे। १६५८ ई. में श्री आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना करके १६७२ ई. तक इसमें प्राचार्य बने रहे। १६.४.१६४६ को सम्पन्न हुए महाकौशल प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन में कटनी (जबलपुर) में वैद्यक समन्वय परिषद् की अध्यक्षता की थी। वैद्य सभा बुरहानपुर के २३ वर्षों तक अध्यक्ष रहे। म.प्र. आयुर्वेद सम्मेलन के सदस्य तथा अ.भा. आयुर्वेदिक महासम्मेलन के आजीवन सदस्य रहे। बुरहानपुर नगर पालिका के उपाध्यक्ष तथा १६५८ ई. में म.प्र. शासन द्वारा आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाए गए। इन्होने दिव्य औषधि निर्माण शाला भी स्थापित की थी।

वैद्य विश्वनाथ शास्त्रीः-२६.११.१६१३ ई. से २८.२.१६८४ ई. तक इन्हें जीवन मिला। साहित्य शास्त्री (बनारस), आयुर्वेदाचार्य (बनारस), काव्य तीर्थ (कोलकत्ता) की उपाधियाँ मिली थीं। ये प्रतापपुरा में विश्व आयुर्वेद चिकित्सालय स्थापित कर १६७१ ई. तक स्वयं चलाते रहे। ये आपात चिकित्सा के विशेषज्ञ थे। सेवासदन कालेज, भारती उ.मा. विद्यालय, संगीत साधना मण्डल, ज्ञानवर्धिनी सभा तथा दिव्यौषधिनिर्माण शाला के संस्थापक सदस्यों में से एक थे।

वैद्य दयानन्द शास्त्रीः-१.८.१६१५ ई. में जन्म ११.१२.१६८६ में निधन। आयुर्वेदाचार्य (बनारस)। श्री आयुर्वेद महाविद्यालय बुरहानपुर के उपप्राचार्य रहे। राजपुरा-बुरहानपुर में अरुणोदय आयुर्वेद औषधालय प्रारंभ किया, जो इनके पुत्र देवेन्द्र शास्त्री (बी.ए.एम.एस.) चला रहे है। बुरहानपुर की वैद्य सभा के वर्षों तक मंत्री रहे तथा श्री महालक्ष्मी संस्कृत पाठशाला के ट्रस्टी थे।

वैद्य बालकृष्ण शास्त्रीः-इतवारा बुरहानपुर में श्री परशुराम आयुर्वेद औषधालय की इन्होंने स्थापना की थी और प्रसिद्ध वैद्य रहे। वैद्य सभा बुरहानपुर के मंत्री रहे। इनकी गद्दी वैद्य नवीन चन्द्र वैद्याचार्य, एल.ए.पी. चला रहे हैं।

नाथूराम फूल वाले हकीम का दवाखाना भी चौक बुरहानपुर में है।

वैद्य हरेन्द्र नाथ शास्त्रीः-(जन्म १२.६.१६४०) श्रीनाथ आयुर्वेद औषधालय चला रहे हैं तथा ग्वालियर में व्याख्याता भी रहे हैं।

वैद्य गजेन्द्रनाथ शास्त्रीः-जन्म १६.०६.१६४५ भी वैद्य सभा के मंत्री हैं तथा व्याख्याता भी हैं। उपर्युक्त दोनों आयुर्वेद विज्ञानाचार्य हैं तथा सहोदर है।

महाकौशल क्षेत्र में जबलपुर में आयुर्वेद चिकित्सा शिक्षा के लिए नौदरापुल के पास

१९०६ ई. से विद्यालय के रूप में प्रयास सार्थक हुआ। इसके बाद प्रेमनगर एवं गोरखपुर दोनों जगह यह संस्था चलती रही। १९६४ ई. तक यहाँ एल.ए.पी. और भिषगाचार्य का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता रहा, परन्तु १९६४ ई. से आयुर्वेद विज्ञानाचार्य पाठ्यक्रम पढ़ाया जाने लगा। इसे ही १९६८ ई. में बी.ए.एम.एस. के रूप में बदलकर वि.वि. जबलपुर की उपाधि प्रदान की गयी। प्रमुख वैद्य इस प्रकार हैः-

वैद्य पुरुषोत्तम गोस्वामीः–कोतवाली बार्ड सराफा में इनकी निजी औषधि निर्माण शाला व चिकित्सालय थे। इनके घर पर ही आयुर्वेद कालेज चलता रहा तथा ये सर्वप्रथम आयुर्वेद संकाय के डीन बने।

वैद्य उपेन्द्र नाथ शर्मा ;–ये जयपुर वाले वैद्य जी कहे जाते थे। स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भी थे तथा नेपियर टाउन में निवास व औषधालय दोनों चलाते थे। बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय के ए.एम.एस. थे।

वैद्य द्वारका प्रसाद शर्मा :–चेरी ताल जबलपुर में दवाखाना व निवास थे। आयुर्वेद महाविद्यालय में वर्षों शिक्षक थे।

वैद्य नर्मदा प्रसाद शर्मा :–गोरखपुर जबलपुर में इनका औषधालय था तथा ये भी विद्यालय में आयुर्वेद पढ़ाते थे।

वैद्य यमुना प्रसाद शास्त्रीः-छोटा फुहारा में आपका निजी ओषधालय था तथा विद्यालय में आयुर्वेद पढ़ाते थे।

वैद्य रमेश चन्द्र मिश्र :-ए.एम.एस. (बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय) थे। जबलपुर में प्राइवेट आयुर्वेद कालेज के कई वर्षों तक प्राचार्य रहे। महाकौशल बोर्ड तथा मध्य प्रदेश बोर्ड के भी कई वर्षो तक अध्यक्ष रहे।

वैद्य सुन्दरलाल प्राणाचार्य :–म. प्रदेश आयुर्वेद बोर्ड के सदस्य थे। महाविद्यालय की विश्व विद्यालय से संबद्धता एवं शासकीय करण में आपका अमूल्य सहयोग रहा। आपने जगत् फार्मेसी की स्थापना की थी, जो आज भी कार्यरत है।

वैद्य महेवादत्त शास्त्रीः–आयुर्वेदाचार्य हैं। कमानिया गेट में निवास है। नगर निगम जबलपुर के औषधालय में प्रधान चिकित्सक के पद पर कार्यरत हैं। इनकी निजी महेवा फार्मेसी भी है। भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् के सदस्य भी हैं।

गुरण्डी बाजार के वैद्य गया प्रसाद शुक्ल तथा वैद्य जितेन्द्र कुमार जी भी अच्छे वैद्यों में से थे।

छत्तीस गढ़ प्रदेश में एकमात्र शासकीय आयुर्वेद महा-विद्यालय रायपुर में है। वैद्य सोमदेव सारस्वत एवं वैद्य सत्यदेव शर्मा यहाँ के विख्यात वैद्य रहे। वैद्य लक्ष्मण प्रसाद ज्योतिषी भी संस्था में प्राचार्य एवं चिकित्सक रहे। वैद्य शिवसागर मिश्र, मुख्यमंत्री

श्यामचरण शुक्ल के पारिवारिक वैद्य थे, जो वाद में संचालक वने। वैद्य महादेव प्रसाद पाण्डेय भी आयुर्वेद के विद्वानों में से एक हैं, जो ब्राह्मणपारा में दवाखाना चलाते हैं तथा शासकीय कालेज के प्राचार्य रहे।

वर्तमान में वैद्य नाथूराम गोस्वामी ही एक मात्र आयुर्वेद चिकित्सा के प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध वैद्य हैं। प्रदेश के सुदूर अंचलों से इनके यहाँ रोगी जाते हैं। इन्होंने शासकीय सेवा छोड़ कर निजी औषधालय चलाया और ये सफल भी हैं।

दुर्ग में श्रीमती गायत्री देवी मिश्रा का आयुर्वेद महाविद्यालय चलता था, परन्तु शासन ने उसे तोड़ दिया था और पुनः निजी आयुर्वेद महाविद्यालयों की परम्परा मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ में प्रारम्भ हो गयी है। आयुर्वेद में स्नातकोत्तर अध्ययन रायपुर में काय-चिकित्सा, ग्वालियर में दोष धातु मल विज्ञान में, उज्जैन में कायचिकित्सा तथा रीवा में मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता में चल रहा है।

वैद्य दिनेश्वर शर्मा भी विद्वान वैद्य रहे तथा महाविद्यालय के प्राचार्य रहे। सम्प्रति प्रो. डी. के. तिवारी शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर आसीन हैं।

इस प्रकार मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ में स्वतंत्रता के पूर्व से ही वैद्यों की महनीय परम्परा रही है। स्वतंत्र भारत में आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था मिश्रित पाठ्यक्रम के द्वारा की गयी है। संस्कृत का अध्ययन न होने से प्रायः स्नातक आयुर्वेद चिकित्सा के प्रति निष्ठावान् नहीं होते। आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों का पाठ्यक्रम में समावेश है, परन्तु परीक्षोत्तीर्णता के लक्ष्य से पढ़ाया जाता है। प्रदेश के आठ विद्यालयों में संहिता ग्रन्थों को पढ़ाने वाले शिक्षक की कमी है। भारत में भारतीय चिकित्सा पद्धति संदर्भ हीन सी हो गयी है और आयुर्वेद सुरक्षा संस्था अब चिन्तनीय होती जा रही है। छात्रों और शिक्षकों तथा चिकित्सा एवं औषधियों के निर्माण में गुणात्मक विकास हेतु कोई भी सार्थक प्रयास निरर्थक से है।

सप्तदश अध्याय

मालवा की वैद्य परम्परा

महाभारत काल से आज तक मालव प्रदेश की सीमाएं शासन भेद से बदलती रहीं। यदि मालवी बोली के क्षेत्र को ही मालवा मान लिया जाय, तो भी म.प्र. शासन के अन्तर्गत निम्नांकित जिलों के भूभाग मालवा कहे जायेंगे-(१) उज्जैन (२) इन्दौर (३) रतलाम (४) मन्दसौर (५) देवास (६) धार (७) शाजापुर और (८) विदिशा।

"इत चम्बल उत बेतवा मध्य मालवा जान" की भणिति के अनुसार चम्बल और बेतवा नदियों का भूभाग मालव प्रदेश कहा जाता है। वैद्य विद्या के सन्दर्भ में मालवा को यह गौरव प्राप्त है कि आयुर्वेद विज्ञान के महान् ज्ञाता धन्वन्तरि यहीं थे। विक्रमादित्य के नवरत्नों में प्रथम स्थान धन्वन्तरि का ही था।

> "धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंह शङ्कु
> वेताल भट्ट घटखर्पर कालिदासाः।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
> रत्नानि वै वररूचिर्नव विक्रमस्य।।

वर्तमान महिदपुर नर्मदा के तट पर स्थित है। इससे उत्तर दस किलोमीटर की दूरी पर एक धन्वन्तरि-मन्दिर बना हुआ है। इस मन्दिर का पुजारी समीपवर्ती वैद्यनाथ नामक गांव में रहता है। यहीं भस्म टेकरी है, जो वभ्रु वाहन के अश्वमेधयज्ञ की भस्म से बनी है। धन्वन्तरि टेकरी के नाम से शाजापुर जिला के झोंकर नाम गांव में भी एक स्थल है। इनसे मालव भूमि का धन्वन्तरि से सम्बन्ध और पुष्ट होता है।

वैद्य विद्या की परम्परा में प्रमुख भूमिका इन्दौर और उज्जैन की ही रही है। उज्जैन में दो और इन्दौर में तीन शिक्षण संस्थाएं बनायी गयी थी।

१. श्री अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय, उज्जैन
२. श्री अवन्तिका आयुर्वेद महाविद्यालय, उज्जैन

पहली संस्था की स्थापना वैद्यराज श्री शंकरराय पलसीकर ने की थी, परन्तु यह अधिक दिन तक नहीं चल सकी। श्री अवन्तिका आयुर्वेद विद्यालय की स्थापना वैद्यराज श्री वासुदेव मेहता शास्त्री ने १६३५ ई. में की। इन्हीं दोनों संस्थाओं ने अनेकों वैद्यों का निर्माण किया।

१५ अगस्त १६६८ के दिन श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना की गयी जो १ दिसम्बर १६७२ से शासकीय संस्था के रूप में हो गया। इसकी विक्रम वि.वि. उज्जैन से सम्बद्धता थी।

इन्दौर में १८७० ई. में ही सरकारी आयुर्वेदीय औषधालय था, जिसमें सुयोग्य चिकित्सक सेवारत थे। यहां वैद्य शिक्षा हेतु तीन संस्थाएं कार्यरत थीं।

१. संस्कृत महाविद्यालय, रामबाग जिसमें आयुर्वेद विभाग के प्रमुख वैद्यराज पं. नारायण दत्त जी त्रिपाठी थे।

२. वैद्य पंचानन लक्ष्मीनारायण रामनारायण संस्कृत पाठशाला नलिया बाखल।

३. वैद्य रामदत्त मिश्र की संस्कृत पाठशाला लालबाग, पुलिया।

तीसरी संस्था में आयुर्वेदिक ब्रह्मचर्याश्रम ट्रस्ट की स्थापना पं. द्वारका प्रसाद मिश्र ने लाल बाग पुलिया के पास किया। इसमें अन्न, वस्त्र, शिक्षण सभी छात्रों को निःशुल्क प्रदान किया जाता था। १९३७ ई. में ७ अक्टूबर को श्री आयुर्वेदिक कालेज इन्दौर की स्थापना हुई। यह संस्था ही ११ फरवरी १९४४ से श्री राजकुमार सिंह आयुर्वेद महाविद्यालय के रूप में विकसित हुई। इस प्रकार बाद में यही विद्यालय तथा लालबाग पुलिया का श्री अष्टांङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय ही आयुर्वेद शिक्षा के केन्द्र थे। १९५१ ई. तक इन्दौर में आठ आयुर्वेदिक औषधालय प्रतिष्ठित हो चुके थे। ये इस प्रकार हैं :-

१. श्री प्रिन्स यशवन्तराव आयुर्वेदीय जैन औषधालय।

२. श्री कल्याण जैन पवित्र आयुर्वेदीय औषधालय।

३. श्री दिगम्बर जैन बजाजखाना आयुर्वेदीय औषधालय।

४. श्री वैष्णव आयुर्वेद औषधालय।

५. श्रीकृष्ण आयुर्वेदीय औषधालय।

६. गेंदालाल ट्रस्ट आयुर्वेदीय औषधालय।

७. सेठ गोविन्द राम सेक्सरिया आयुर्वेदीय औषधालय।

८. सेठ फतेहचन्द आयुर्वेदीय औषधालय।

प्रिंस यशवंत राव आयुर्वेदिक औषधालय अब प्रेमकुमारी औषधालय के नाम से है। यहां कविराज प्रताप सिंह, राधाकृष्ण पाराशर, ईश्वरी लाल जोशी, सीताराम अजमेरा जैसे प्रसिद्ध वैद्यराज कार्यरत थे। वर्तमान में श्री धरमचंद जी जैन वैद्य हैं। कल्याण जैन आयुर्वेद औषधालय में वैद्य निर्मल कुमार जैन के बाद वैद्य राजेन्द्र जैन काम कर रहे हैं। गोविन्द राम सेक्सरिया अस्पताल में प्रधान वैद्य श्री गोपाल दुबे हैं। गेंदालाल ट्रस्ट राम लक्ष्मण बाजार के औषधालय में वैद्य जयकृष्ण शर्मा कार्यरत हैं। वैष्णव धर्मार्थ आयुर्वेद औषधालय में वैद्यराज लक्ष्मणवर्मा के बाद वैद्य स्वामी दयाल जी कार्यरत हैं। सारे बाजार का सुकृत फंड आयुर्वेद औषधालय बन्द हो गया है तथा फतेचंद सेठी आयुर्वेदिक औषधालय के वैद्य राम लाल आचार्य के बाद आयुर्वेदिक नहीं रह गया है। जगन्नाथ धर्मशाला छावनी में वैद्यराज नन्द किशोर जी कार्यरत हैं।

मालवा के प्रसिद्ध वैद्यों का विवरण इस प्रकार है:-

वैद्यराज ख्याली राम जी द्विवेदीः-वैद्य श्री रामदत्त जी मिश्र से अध्ययन कर ख्याली राम जी होल्कर राज्य के प्रमुख एवं प्रसिद्ध चिकित्सक थे। इनका वानस्पतिक उद्यान एवं औषधि-निर्माणशाला निजी थी। अखिल भारतवर्षीय ३६वें वैद्य सम्मेलन में काशी में १० पृष्ठ का संस्कृत में भाषण दिया था। इन्दौर राज्य की वैद्य सभा के सभापति भी रहे। आयुर्वेद मार्तण्ड, चिकित्सक चूड़ामणि, आयुर्वेदाचार्य आदि इनकी उपाधियां थीं। इनका औषधालय अब समाप्त प्राय है। "आयुर्वेद विज्ञान" पत्रिका के संचालक एव सम्पादक थे।

वैद्यराज नारायण दत्त जी त्रिपाठी - १८७६ ई. में जन्म। १६ नवम्बर १६५६ ई. में निधन। षड्दर्शनाचार्य, आयुर्वेदाचार्य। पिता लक्ष्मीनारायण जी त्रिपाठी। इनकी विद्वता से प्रभावित होकर द्वारकापीठ के शंकराचार्य ने इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाया और १० वर्षों तक ये शास्त्रार्थ करते रहे। इन्दौर के संस्कृत महाविद्यालय में आयुर्वेद विभाग के प्रमुख थे। औषधि निर्माण स्वयं करते थे। इनके दो ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं :-

१. आयुर्वेद दर्शनम्-पदार्थ विज्ञान का पहला मौलिक ग्रन्थ है।
२. सत्येश गीतम्-लगभग १५० संस्कृत के गेय पदों में की गयी यह ललित रचना सत्यनारायण की कथा पर आश्रित है। रागबद्ध एवं तालबद्ध सभी पद हैं। मंत्र शास्त्री और संगीतज्ञ भी थे।

वैद्यराज सूर्यनारायण जोशी-जन्म १५ सितम्बर १६०३ मृत्यु ६ फरवरी १६६३, पिता श्री लाल राम जी जोशी। इन्हें भिषक् विशारद, कुलभूषण, वैद्यालंकार, आयुर्वेद पञ्चानन, आयुर्वेद प्रचण्डमार्तण्ड की उपाधियां प्राप्त थीं। आरोग्य औषध मन्दिर की स्थापना की थी, जिसमें औषधालय एवं निर्माणशाला दोनों थी। यह संस्था इनके पुत्र हरिकृष्ण जोशी तथा तत्पुत्र स्वयं प्रकाश जोशी अब भी चला रहे हैं। इन्होंने मध्य भारत विद्वद् वैद्य मण्डल की स्थापना की। सेठ हुकुमचन्द को प्रेरित कर आयुर्वेद में धन लगवाया। राजकुमार सिंह आयुर्वेद महाविद्यालय खुलवाया। वहां प्रोफेसर १५-१२-१६५२ तक रहे। इन्दौर में राष्ट्रीय सभा (वर्तमान कांग्रेस) १६१६ ई. में आरम्भ हुई। जिसके आप सदस्य भी रहे। यक्ष्मा विषयक लेख में वैद्यराज आयुर्वेद भवन द्वारा म.प्र. वैद्य सम्मेलन के अवसर पर स्वर्ण पदक दिया गया। नवजीवन साहित्य इन्दौर द्वारा इनकी रचना "धर्मराज युधिष्ठिर" छपी। "आरोग्य" पत्रिका के सम्पादक रहे। नव राजस्थान, अंकुश, कर्मवीर, स्वराज्य, केशरी, लोकमत एवं श्री वेंङ्कटेश्वर समाचार के संवाददाता थे।

वैद्य कविराज सीताराम जी अजमेरा-पिता वैद्य श्री कन्हैया लाल जी अजमेरा ५ फरवरी १६८० को निधन। आपंने अजमेरा फार्मास्युटिकल्स की १६६८ ई. में स्थापना की। "निरोगधाम" त्रैमासिक पत्रिका फरवरी १६७६ में प्रकाशित करायी। अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महा-सम्मेलन के प्रधान मंत्री व उपाध्यक्ष, म.प्र. आयुर्वेद मण्डल के अध्यक्ष,

भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् तथा म.प्र. आयुर्वेद यूनानी तथा प्राकृतिक चिकित्सा परिषद् के सदस्य रहे। म.प्र. औषधि निर्माता संघ एवं नगर आयुर्वेद मण्डल के अध्यक्ष रहे। जैनों केमिकल्स के अधीक्षक तथा विद्यावानी अस्पताल के प्रवन्धक भी थे। अजमेरा हेल्थ होम'' पुत्र रस वैद्य महेन्द्र अजमेरा चलाते हैं।

वैद्य श्री लक्ष्मीनारायण जी त्रिवेदी-१९४० वि.सं. में जन्म। पिता श्री जगन्नाथ त्रिवेदी माता-श्रीमती रेवा देवी। श्री लक्ष्मण जोशी वैद्य एवं श्री गणेश शास्त्री वैद्य से आयुर्वेद सीखा। आयुर्वेदिक धमार्थ श्रीकृष्ण औषधालय ट्रस्ट का ५१ वर्षों तक संचालन किया। उदापुरा में श्री लक्ष्मी नारायण वैद्य और आड़ा बाजार में श्री सूर्य नारायण जी जागीरदार का औषधालय चलाया। वैद्यालंकार, आयुर्वेदाचार्य, वैद्य पंचानन इनकी उपाधियां थीं।

वैद्यराज पं. राम नारायण शास्त्री-श्री शास्त्री राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्पित व सक्रिय कार्यकर्ता होते हुए भी प्रसिद्ध रसवैद्य थे। इन्होंने ''रस निकेतन'' के नाम से अपना औषधालय स्थापित किया था। स्वयं औषधि वनाते थे तथा नामकरण भी स्वयं ही किया करते थे। मालवा में इनकी उत्तम वैद्य के रूप में अच्छी ख्याति थी।

वैद्यराज पं. हरिशंकर शर्मा-१९१७ ई. में जावद में जन्म लेकर ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज हरिद्वार से आयुर्वेदाचार्य १९४२ में किया। इनका औषधालय ''गोलोक'' नाम से स्थापित है। गोविन्द राम सैक्सरिया आयुर्वेदिक औषधालय में प्रधान वैद्य के रूप में १९४७ से १९८० तक कार्य किया। वहां इन्होंने ''आयुर्वेदिक प्रसूति गृह'' का आरम्भ १९६८ ई. से किया तथा एक वर्ष तक निःशुल्क प्रसव कराया। १९८० ई. तक इसमें १९७५ प्रसव हो चुके थे। दुर्भाग्य से वह अब बन्द हो गया है। इन्होंने सश्रुत के अनुसार बस्ति चिकित्सा १९७६ ई. से प्रारम्भ किया था, यह इनके निजी चिकित्सालय में आज भी प्रचलित हैं। पिता श्री मथुरा लाल जी थे। गोलोक चिकित्सा संस्थान ८/३ यशवन्त निवास रोड में स्थित है।

इन्दौर में कुछ प्रसिद्ध वैद्य इस प्रकार हुए-

वैद्य शिव गुलाम जी पाण्डे ''शास्त्री''-लक्ष्मीनारायण पाठशाला नलिया बाखल में आयुर्वेद पढ़ाते थे।

वैद्यराज पं. गणेशदत्त जी शुक्ल।

वैद्य पंञ्चानन श्री लक्ष्मी नारायण जी काकड़ा

वैद्यराज पं. गणेश राम जी द्विवेदी

वैद्य पं. रामदत्त जी मिश्र-इनकी स्थापित संस्था वर्तमान में शासकीय अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय इन्दौर के रूप में हैं।

पं. गोविन्द भाऊ जी राजवैद्य-यह पीयूषपाणि वैद्य थे। यशवंत कालेज में दवाखाना व निवास था।

वैद्य आत्मा राम जी शास्त्री

वैद्य शम्भूदास जी महन्त

वैद्य सीताराम जी गौड़

वैद्य नारायण जी केलकर

वैद्य सूर्यनारायण जी गौड़ – मंत्री, मध्यभारत विद्वद्वैद्य मंडल, इन्दौर

वैद्यराज विश्वनाथ प्रसाद शुक्ल-१९३७ से १९४५ तक श्री राजकुमार सिंह आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य थे।

वैद्य कालूशंकर जी चतुर्वेदी-हुकुमचंद्र दवाखाना के प्रसिद्ध वैद्य थे।

वैद्यराज शिवनारायण जी तिवारी

वैद्यराज रामचन्द्र राव जमीदार

वैद्यराज नन्द किशोर जी शास्त्री

वैद्यराज गणपति लाल जी शास्त्री-ओरिएण्टल केमिकल वर्क्स के परामर्शदाता।

वैद्यराज पं. दीनानाथ जी मिश्र-३.१२.१९३७ को निधन ओरिएण्टल केमिकल वर्क्स के परामर्शदाता।

वैद्य दामोदर जी शास्त्री।

वैद्य भास्कर राव जी दुबे।

वैद्य विष्णु गोविन्द भोकरदनकर।

राजवैद्य वी.जी. चौहान।

वैद्य नारायण शंभु जी भट्ट।

वैद्य महादेव चन्द्रशेखर पाठक, ७३ जूनी कसेरा बाखल, इन्दौर।

वैद्य जयनारायण दाधीच।

वैद्य शेषनारायण दास जी वैष्णव-रा. कु. सि. आयु. महा. के प्राचार्य रहे।

वैद्य शम्भूनाथ जी त्रिपाठी-संस्कृत एवं आयुर्वेद के विद्वान थे।

वैद्य काशी प्रसाद जी नागदे।

लक्ष्मण प्रसाद जी वैद्य-यह नाड़ी वैद्य थे।

वैद्य कन्हैयालाल व्यास – इन्दौर राज्य के वैद्य सभा के प्रधान मंत्री थे। श्री शुकदेव शर्मा, श्री अम्बिका दत्त शास्त्री, कुसुमाकर जी पाण्डे, सुदेव चन्द्र पाराशरी, श्री राधाकृष्ण पाराशर आदि ने भी बाहर से आकर मालवा के इन्दौर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। धार के प्रसिद्ध वैद्यों में गोपाल राव जी श्रोत्रिय का नाम पहला है। ये वैद्य महादेव जी शास्त्री के पुत्र थे। राज वैद्य थे, वैद्य श्रीधर राव के पुत्र वैद्यराज विद्यासागर जी पाण्डे थे। ये

राजकुमार सिंह आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रोफेसर थे। म.प्र. देशी चिकित्सा एवं होम्योपैथी के रजिस्ट्रार रहने के बाद आयुर्वेद महाविद्यालयीय सेवा में प्राचार्य होकर सेवा निवृत्त हुए।

रतलाम में राज वैद्य माधवप्रसाद जी हुए, जो मध्य भारत के प्रथम बोर्ड के सदस्य थे। वैद्य कृष्णदत्त वैद्य भी ख्याति प्राप्त चिकित्सक थे।

देवास के वैद्यराज श्री कृष्णानन्द जी मिश्र देवास राज्य के आयुर्वेद निरीक्षक थे। वहां राज्य वैद्य घासीराम जी भी अच्छे चिकित्सक हुए हैं।

जावरा के स्वामीदत्त जी वैद्य का नाम भी उत्तम वैद्यों की कोटि में आता है।

इन्दौर के वैद्य दिनकर खांपेटे, वैद्य ईश्वर दत्त जी मिश्र, वैद्य हरिकृष्ण जोशी, वैद्य स्वामी दयाल शुक्ल, वैद्य सुंदरलाल द्विवेदी, रसवैद्य महेन्द्र आजमेरा, वैद्य बालकृष्ण अजमेरा, वैद्या कु. भाग्यवन्ती वर्मा, वैद्य पुरुषोत्तम शर्मा, वैद्य महेवा चौरे, वैद्य स्वयं प्रकाश शर्मा, वैद्य पुंष्पहास शर्मा एवं वैद्य पी.एस. चौरे इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उज्जैन के वैद्य

प्राणाचार्य वैद्य पं. वासुदेव मेहता "शास्त्री" -वर्तमान में मालवा के सर्वाधिक प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञों में से एक हैं। शाजापुर जिले के झोकर गांव में पं. सिद्धनाथ शास्त्री के यहां १९१० ई. में जन्म लिया। आयुर्वेदाचार्य १९३३ में किया। आयुर्वेद बृहस्पति प्राणाचार्य, भिषक रत्न, पीयूषपाणि, आयुर्वेद भूषण, आयुर्वेद शिरोमणि इनकी मानद उपाधियां हैं। श्री अवन्तिका आयुर्वेद पाठशाला की स्थापना व संचालन किया, उसके प्राचार्य भी १९३५ से १९७७ तक रहे। श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय के द्रव्यगुण एवं रस-शास्त्र के १९७३ तक अध्यापक रहे। उज्जैन के भण्डारी आयुर्वेदिक औषधालय में १० वर्ष, मध्यभारत आयुर्वेदाश्रम में २० वर्ष, बाबा बालकदास चेरिटेबल औषधालय में ५ वर्ष तक प्रधान चिकित्सक रहे। इनके दो ग्रन्थ-चरक वचनामृत और आहार विज्ञान हैं। रक्तचाप और मानस रोग प्रज्ञापराध पर इनके दो शोध पत्र भी छपे हैं। म.प्र. आयुर्वेद वैद्य सम्मेलन (१९५४) एवं म. भारत चतुर्थ सम्मेलन के प्रथम आयुर्वेद विद्यापीठ स्नातक सम्मेलन इन्दौर में सभापति बने। अ.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन दिल्ली के उप-सभापति (१९७८) थे। अ.भा. आयुर्वेद विद्यापीठ के १९७० एवं १९७४ में उप सभापति बने। निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ दिल्ली के १९९१ में अध्यक्ष बनाए गए हैं। आपका अनेक संस्थाओं ने अभिनन्दन भी किया है।

वैद्य श्री अम्बाशंकर जी जोशी-खाचरोद (उज्जैन) के ग्राम पासलोद में १५ अप्रैल १९०९ को भीमाशंकर जी के यहां जन्म हुआ। १९२७-२८ ई. से चिकित्सारत हुए। रोगी के वस्त्र सूंघकर मन्थर ज्वर की दवा करते थे। १९४२ ई. की विसूचिका में जनसेवा कर ख्याति प्राप्त की। ८०० वर्षों से इनके यहां अविरत चिकित्सा परम्परा चालू है।

वैद्यराज श्री केशरीलाल जी व्यास-१९२०-२१ में जन्में श्री व्यास जी का ज्योतिष और वैद्यक में समान अधिकार है। आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर आपने १९४० ई. से अंकपात मार्ग उज्जैन में नवजीवन औषधालय की स्थापना कर संचालन कर रहे हैं। इनके पुत्र वैद्य श्यामलाल शर्मा भी आयुर्वेदाचार्य है। म.प्र. शासन के आयुर्वेद महाविद्यालय में प्राचार्य भी है।

वैद्यराज शंकरराव जी पसलीकर -फ्रीगंज, माधव नगर उज्जैन में आपका औषधालय एवं विद्यालय था। भिषगाचार्य थे। अनेक वैद्यों को शिक्षा दी और आयुर्वेद की सेवा करते रहे।

वैद्य अनन्तराज जी जैन -इन्दौर के पं. नारायण दत्त जी त्रिपाठी के शिष्य थे। इन्होंने "महावीर आयुर्वेदिक फार्मेसी" की स्थापना की थी। प्रसिद्ध चिकित्सक थे। इनके पुत्र कैलाश चन्द्र शास्त्री इनका संस्थान अब भी चला रहे हैं।

वैद्य गजानन सांवेरकर - इन्दौर के राजवैद्य गोविन्दभाऊ वैद्य के शिष्य थे। चिकित्सा जगत में ख्यातिलब्ध चिकित्सक थे।

वैद्य श्री बाबूलाल जी मित्तल - वैद्यराज पं. केशरीलाल जी व्यास के शिष्य थे। आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद रत्न, भिषगाचार्य और वैद्याचार्य थे। १९५० ई. से स्वतंत्र चिकित्सा व्यवसायरत हुए। अवन्तिका देशी चिकित्सक मंडल के अध्यक्ष व मंत्री रहे तथा प्रान्तीय आयुर्वेद मण्डल के संयुक्त मंत्री भी रहे। श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद चिकित्सा महाविद्यालय की स्थापना में १९८६ ई. से ही सहयोगी रहे।

वैद्यराज काशीकर शास्त्री - ख्यात प्राप्त चिकित्सक रहे।

वैद्यराज मधुसूदन जी व्यास - चिकित्सा कार्य में रत थे, इनकी परम्परा है।

वैद्यराज विश्वनाथ जी शास्त्री - यह प्रसिद्ध वैद्य थे। आज भी क्रम जारी है।

वैद्य रमणीक लाल जी शाह - १९०४ ई. में जन्म। १९२३ ई. से चिकित्सा रत म.भा. प्रान्तीय आयुर्वेद मण्डल के सम्मेलन में इन्हें "आयुर्वेद विशारद" की उपाधि दी गयी। अखिल भारतीय धर्मसंघ के उपाध्यक्ष, अ.भा. रामराज्य परिषद की उज्जैन शाखा के अध्यक्ष तथा अवन्तिका वैद्य मण्डल के प्रमुख पदों पर भी रहे।

वैद्य मन्नूलाल जी जोशी - ये नाथद्वारा वाले वैद्य के नाम से प्रसिद्ध थे।

वैद्य गुलजारी लाल जैन - जैन धर्मार्थ दवाखाना फ्रीगंज में ६० वर्ष तक चिकित्सक रहे। "भिषक्" उत्तीर्ण थे।

वैद्य कमल सिंह - सोनकच्छ में ११ अगस्त १९०१ ई. में पैदा हुए १९२५ ई. में माधव आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित कर संचालन किया। आयुर्वेद की दो पुस्तकें, होमियो पैथी की एक तथा अन्य दो पुस्तकें लिखी। श्री अवन्तिका देशी चिकित्सा मण्डल के दो बार अध्यक्ष रहे। वैद्य विशारद थे।

वैद्य पं. विष्णुकुमार शास्त्री-श्री माधव आयुर्वेदिक औषधालय में यह भी चिकित्सा कार्य करते थे। वैद्य विशारद थे।

वैद्यराज अनन्तलाल जी व्यास -खेड़ावद (शाजापुर) में १६१२ ई. में जन्म लिया। "अनन्त औषधालय" की स्थापना दौलतगंज उज्जैन में की और चिकित्सा करते रहे।

वैद्यराज रामदत्त तिवारी - २१ मार्च १६२१ में जन्म। १६४४ में आयुर्वेदाचार्य हुए। माधवनगर नगरपालिका के स्वास्थ्य अधिकारी १६४८ ई. में तथा नगर निगम उज्जैन के सहायक स्वास्थ्य पदाधिकारी १६६८ में हुए, १६४४ ई. से इन्होंने अपना स्वतंत्र औषधालय भी चलाया। श्री अवन्तिका देशी चिकित्सा मण्डल के अध्यक्ष और अवन्तिका आयुर्वेद महाविद्यालय की प्रबन्धकारिणी के सदस्य रहे।

वैद्यराज परशुराम कृष्ण जी पंत -प्रसिद्ध वैद्य थे। धन्वन्तरि उत्सव की परम्परा उज्जैन में इन्होंने प्रारम्भ की थीं। आपकी पुस्तक "प्लेग तथा उसके निवारण के उपाय, पर माधवराव सिंधिया ने पुरस्कार दिया और शासकीय पोशाक भी दी।

वैद्य अमृत लाल निगम -होल्कर रियासत, मध्यभारत एवं म.प्र. शासन में आयुर्वेद चिकित्सक थे। २५ अक्टूबर १६३१ को इनके पुत्र श्यामसुन्दर निगम हुए, जो भिषगाचार्य एवं आयुर्वेद रत्न हैं। यह एम.ए. (द्वय), एम.काम., पी.एच.डी. और कई उपाधियों से युक्त हैं।

वैद्य श्री गौरीशंकर जी त्रिवेदी-जन्म १३.१०.१६२१। आयुर्वेद भिषक् एवं वैद्य विशारद उत्तीर्ण थे। १६५१ ई. से चिकि्त्सारत। अवन्तिका देशी चिकित्सा मण्डल के अध्यक्ष। मंत्री, कोषाध्यक्ष रहे।

वैद्य श्री गुलाब चन्द्र शर्मा-१६१५ ई. में जन्म। वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन विक्री केन्द्र उज्जैन के संचालक थे। १६५१ ई. से उज्जैन रहे। श्री अवन्तिका देशी चिकित्सा मण्डल के अध्यक्ष तथा श्री मध्यप्रदेशीय आयुर्वेदीय मण्डल, श्री उज्जैन जिला आयुर्वेद मण्डल, श्री अवंतिका आयुर्वेद महाविद्यालय के कोषाध्यक्ष रहे।

वैद्य कन्हैया लाल जी शर्मा-"श्रीकल्याण आयुर्वेद भवन" की १६५० ई. में स्थापना की। इसमें अनुभूत एवं शास्त्रीय आयुर्वेदिक औषधियां बनाई जाती थीं। इनके पुत्र भिषगाचार्य ज़गदीश शर्मा यह काम देखते हैं।

वैद्य श्री गोपीलाल व्यास-ख्यात चिकित्सक थे।

वैद्य पन्नालाल जी नामदेव-२५.१०.१६३६ में जन्म। १६६५ में भिषगाचार्य, १६५६ में आयुर्वेद रत्न। वहादुरगंज में अग्निवेश औषधालय स्थापित किया तथा १६६५ से १६७२ ई. तक अवन्तिका महाविद्यालय में अध्ययन कराया।

वैद्य श्री कालूराम जी व्यास-आयुर्वेद रत्न, भिषगाचार्य, वैद्याचार्य। अवन्तिका पाठशाला में अध्यापक रहे तथा वलभद्र आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित किया और चलाते रहे।

वैद्य श्री भानूशंकर भैरवशंकर जी – २४.२.१९२६ में जन्म। १९४४ में विशारद, इनके औषधालय में मन्थर ज्वर की चिकित्सा रोगी के वस्त्र सूंघ कर की जाती थी।

वैद्य मनोहरलाल शाह – आयुर्वेद भिषक व ए.एम.बी.एस. १९६२ ई. में। जन्म २१.१.१९३८ ई.। वैद्य रमणीक शाह के पुत्र थे। पहले श्री अवन्तिका आयुर्वेद विद्यालय में, फिर धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय में पढ़ाया।

वैद्य रामचन्द्र शालिग्राम जी मजावदिया – जावरा में ३०.९.१९१६ ई. में जन्म। १९५६ में आयुर्वेद भिषक्। नृसिंह मेडिकल स्टोर्स और श्रीराम मेडिकल स्टोर्स नामक दो दुकानें हैं तथा एक औषधालय है।

वैद्य कमल किशोर पिण्डावाला – जन्म २४.१०.१९३४। आयुर्वेद भिषक् १९५८ ई। भिषगाचार्य १९६१ में। औषधि.निर्माण एवं चिकित्सा में प्रवीण वैद्य थे।

वैद्य कैलाश चन्द्र जी जैन – जन्म १३.१०.१९४० ई.। भिषगाचार्य १९६६ महावीर आयुर्वेदिक फार्मेसी में औषधि निर्माण व चिकित्सा कार्य। वैद्य मण्डल के प्रधान मंत्री।

वैद्य श्री चिन्तामन विष्णु जी साठे – आयुर्वेद औषधालय माधवनगर में वैद्य थे।

वैद्य श्री चन्द्रकान्त दिसावाल – वैद्य माणिक लाल दिसावाल के यहां २.११.१९४० में भिषगाचार्य। शास.आयु. चिकि. में चिकित्सक रहे।

वैद्या लक्ष्मीबाई त्रिवेदी – १.११.१९२३ में रतलाम में जन्म। १९६२ में वैद्याचार्य। म.प्र. देशी औषधि परिषद की सदस्या थीं। रसायनशाला में रस-रसायन एवं भस्म के निर्माण में निपुण। १९५० ई. से चिकित्सा में संलग्न।

वैद्य भक्तिशंकर जोशी–जन्म १७.१२.१९३४ ई.। महाकाल घाटी वाले वैद्य श्री भैरव शंकर जोशी के पुत्र थे। आंत्रिक ज्वर (मोतीझिरा) की चिकित्सा के लिए विख्यात थे। आयुर्वेद विज्ञानाचार्य १९६२ ई. में इन्दौर से किया था। १९७३ में असामयिक अन्त हो गया।

वैद्य वंशीधर तिवारी – आयुर्वेदाचार्य १९४६ ई. में। म.प्र. शासन की आयुर्वेद शिक्षा में रीडर होकर सेवा निवृत्त हुए हैं।

वैद्य सिद्धनाथ जी शास्त्री – बरगोद – उज्जैन के वैद्य गणपति लाल के पुत्र। आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद रत्न थे। श्रीमती मातेश्वरी म.सा.वि. जैन धमार्थ औषधालय सम्वद में प्रधान चिकित्सक रहे। मध्य देशीय देशी। औषध पर्सद, म. भारत क्षेत्र ग्वालियर के सदस्य रहे। श्री हाटकेश्वर आयुर्वेदिक फार्मेसी की १९४६ ई. में स्थापना भी की थी।

वैद्य श्री रामेश्वर दयाल जी शर्मा–वड़नगर के थे। वैद्य विशारद व आयुर्वेद भिषक थे।

वैद्य नन्द किशोर आचार्य–१९१८ ई. में केपली ग्राम (शाजापुर) में जन्म। व्यकरेवा औषधालय चलाया। आयुर्वेद भिषक् व वैद्य विशारद थे। शासकीय चिकित्सक थे।

वैद्य पुरुषोत्तम जोशी-भिषक् व विशारद। "हम कैसे स्वस्थ रहें" लेख पर रौप्य-पदक।

वैद्य मोहनलाल कामाल्या-भिषक् व रत्न उत्तीर्ण। श्रीकृष्ण औषधालय उन्हेल में ही चलाते थे। उन्हेल के ही थे।

वैद्य ललित कुमार नागर-झोकर (शाजापुर) के आयुर्वेद रत्न व वैद्य भूषण थे। शासकीय आयुर्वेद औषधालय में चिकित्सक रहे।

पं. कृष्ण गोपाल शर्मा-श्रीमती सीरे कुवर बाई भण्डारी धमार्थ औषधालय लखेरवाड़ी में वैद्य रहे २ भिषक् व विशारद थे।

वैद्य श्री चन्द्रगुप्त जी भारतीय-सुखेड़ा (मालवा) के भिषक् वैद्य थे।

वैद्य अम्बाकर यादवेन्द्र-सोनकच्छ परगना जिला देवास के पीपलरावां गाँव के विख्यात वैद्य थे। आयुर्वेदाचार्य थे।

वैद्य नारायण विष्णु गुर्जर पाध्य-आर्या दुर्गा ज्योतिर्वैद्यक कार्यालय उन्हेल (उज्जैन) में औषधि निर्माण व चिकित्सा कार्य करते थे।

वैद्य रामचन्द्र दास जी परमार्थी-श्री नर सिंह प्रा. औषधालय पड़नगर में १९४८ में चलाते रहे।

वैद्य रतनलाल जी नौशल्या-जावरा में ६.७.१९०४ ई. में जन्म। १९४२ से नृसिंह औषधालय उज्जैन में चलाया। यही दवाखाना जावरा में भी था।

वैद्य पूर्णानन्द व्यास-पीपलरावां-देवास में दवाखाना चलाया। शासकीय चिकित्सक भी रहे। भिषक्रत्न पास थे।

वैद्य लक्ष्मीनारायण शुक्ल-विनोद मिल्स के श्री विमल आयुर्वेदिक औषधालय में १९४४ से १९५० तक रसायनशालाध्यक्ष व चिकित्सक रहे। १९५२ से शासकीय सेवा में आ गये थे।

वैद्यराज कृष्णचन्द्र पिण्डावाला-शासकीय धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय उज्जैन के संस्थापक रहे। बनारस हिन्दू वि.वि. से ए.एम.एस. किया था। शिशु रोग विशेषज्ञ है। निजी औषधालय चलाते हैं।

वैद्य वेणुप्रसाद शर्मा-एच.पी.ए. है। शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालयों में अध्यापक थे।

वैद्य मुकुन्दराम परसाई-उज्जैन आयुर्वेद के प्राचार्य रहे। इन्दौर में पढे तथा संप्रति चिकित्सा रत हैं।

वैद्य विजयशंकर त्रिवेदी-ग्राम भूतेश्वर जिला देवास में जन्म लिया। १९३४ ई. में जन्म हुआ। एच.पी.ए. किया तथा म.प्र. आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य हैं। उज्जैन में निवास है।

वैद्य गोविन्द प्रसाद शर्मा-इन्दौर के प्रसिद्ध विद्वान् ज्योतिषी पं. लक्ष्मीदत्त शास्त्री के यहाँ जन्म। आयुर्वेदविज्ञानाचार्य है। म.प्र. के मालवा क्षेत्र में ही पढाई और सेवा की। म. प्र. शासन के आयुर्वेद संचालक के पद पर कार्यरत रहे।

मालव क्षेत्र को यह गौरव प्राप्त है कि यहाँ दो आयुर्वेद महाविद्यालय विद्यमान हैं। इन्दौर में १२.१२.७२ से तथा उज्जैन में १.१२.७२ से इन संस्थाओं को शासनाधीन किया जा चुका है। इन संस्थाओं की गौरवशाली परंपरा रही है। इन्दौर और उज्जैन से आयुर्वेद की शिक्षा लेने वाले छात्र मालवा ही नहीं देश-विदेश में अपनी चिकित्सा की प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे हैं। यह धन्वन्तरि की धरती है, यहाँ की आयुर्वेदिक चिकित्सा परम्परा अव्याहत है।

अष्टादश अध्याय

राजस्थान में आयुर्वेद

राजस्थान में आयुर्वेदः-स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से राजस्थान के नाम से जाना जाने वाला यह प्रान्त पहले इस स्वरूप में नहीं था। छोटे-छोटे जागीरदारों, राजाओं और महाराजाओं का पृथक्-पृथक् भू-भाग पर अधिकार था। बड़े राजाओं और महाराजाओं के अधीन होते हुये भी छोटे भूपति अधिक स्वतंत्र और स्वच्छन्द थे। अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार अपने-अपने भू-भाग पर शिक्षा, चिकित्सा, न्याय एवं कृषि आदि की व्यवस्था करने के कारण सम्पूर्ण प्रदेश में इन विषयों में एक रूपता नहीं थी। इन सभी विषयों में चिकित्सा व्यवसाय ही एक ऐसा विषय था, जिसके न्यूनाधिक व्यवस्था सभी स्थानों पर थी। जागीरदार एवं राजा लोग अपने लिये चिकित्सक नियत करते थे तथा ये चिकित्सक सामान्य प्रजाजन की भी चिकित्सा किया करते थे।

चिकित्सा में एक मात्र आयुर्वेद पद्धति ही प्रचलित थी। राजपूताना या राजस्थान में आयुर्वेद की स्थिति को ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचित करने के लिये निम्न तथ्यों को स्पष्ट करना पर्याप्त है:-

१. आयुर्वेद का स्वरूप
२. चिकित्सा व्यवस्था
३. आयुर्वेदीय शिक्षण-व्यवस्था
४. औषध-निर्माण व्यवस्था।
५. आयुर्वेद विभाग राजस्थान।
६. साहित्य संरचना।
७. संगठन स्वरूप।
८. आयुर्वेदीय अनुसन्धान।
९. आयुर्वेदीय पत्रकारिता।
१०. राज्यपद एवं पुरस्कार।
११. आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर।
१२. कुछ प्रसिद्ध वैद्य।

१-आयुर्वेद का स्वरूपः-आयु सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का शास्त्रीय स्वरूप सम्पूर्ण भारत वर्ष में एक रूपता लिये हुये रहा है, लेकिन देश-भेद के आधार पर इसके व्यावहारिक स्वरूप में अन्तर रहा है। छद्मचर, सिद्ध-साधित एवं वैद्य गुण युक्त (अधीत शास्त्र) के रूप में जो चिकित्सकों का वैविध्य शास्त्र निर्दिष्ट हैं वह चिकित्सा व्यवसाय के

क्षेत्र में सदा ही अस्तित्व में रहा है। राजस्थान में अठारहवीं सदी तक संख्या की दृष्टि से छद्मचर अधिक, सिद्धसाधित मध्यम और अधीतशास्त्र चिकित्सक न्यून रहे हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा में शास्त्रीय सैद्धान्तिकता कम और व्यावहारिक-प्रयोगात्मकता अधिक थी। यद्यपि प्राचीन समय में संहिता ग्रन्थों का पठन-पाठन अत्यधिक प्रचलित था, उत्कृष्ट कोटि के व्याख्याकार भी अन्य प्रदेशों में हुये पर राजस्थान में शार्ङ्गधर के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय विद्वान् नहीं हुआ। शास्त्राध्ययन पूर्वक वैद्य बनने वाले विद्वानों का स्वरूप भी पारम्परिक ही अधिक था। फिर भी कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि राजस्थान में आयुर्वेद की स्थिति ठीक थी तथा प्रयोगात्मकता को प्राथमिकता होते हुये भी शास्त्रीय आधार पूर्णतः उपेक्षित नहीं था।

२-चिकित्सा व्यवस्थाः-राजस्थान में जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, बूँदी, भरतपुर, आदि स्थान रजवाड़ों के रूप में प्रसिद्ध हुये हैं। यहाँ के राजा यशस्वी हुये हैं। इनका अस्तित्व स्वतन्त्र एवं बड़ी रियासतों के रूप में रहा हैं। यहाँ की शासन-व्यवस्थाओं में वैशिष्ट्य था। इनके अधीन रहने वाले छोटे राजा एवं जागीरदार इनका अनुकरण किया करते थे। विभिन्न व्यवस्थाओं में अनेक रूपता होते हुये भी चिकित्सा व्यवस्था में एकरूपता थी। सभी शासक अपने दरबार में पण्डित, कलाविद्, ज्योतिषी एवं वैद्य आदि को आश्रय दिया करते थे। रोग निवारण के कारण वैद्य का महत्व सर्वत्र ही अधिक था।

जयपुर और उदयपुर के राजघराने अत्यन्त प्राचीन है। इन्होंने वैद्य, हकीम और जर्राह (शल्य-चिकित्सकों) को अत्यधिक महत्व दिया। जयपुर के राजा सवाई सिंह द्वितीय सन् १६९९-१७४३ ई. तथा महाराजा सवाई सिंह ईश्वरी (१७४३-१७५० ई.) तो स्वयं भी आयुर्वेदज्ञ थे। महाराजा सवाई प्रताप सिंह (१७७८-१८०३ ई.) स्वयं आयुर्वेदज्ञ तो नहीं थे पर आयुर्वेदानुरागी थे। अहमदाबाद से वैद्य श्री लक्ष्मी राम व्यास (भट्ट) को जयपुर ला कर आयुर्वेद का प्रसार करने वालों में इन्हें अग्रणी माना जा सकता हैं।

तत्कालीन राजपूताना प्रान्त में चिकित्सकों की एक श्रृंखला थी। बड़ी रियासतों में विशिष्ट वैद्य तथा छोटी रियासतों में कनिष्ठ वैद्य थे। यदि छोटी रियासत में भी कोई विशेषज्ञ चिकित्सक होता, तो उसे बड़े महाराजा अपनी रियासत में बुला कर आश्रय दिया करते थे। सभी वैद्य औषध निर्माण महाराजा के खर्चे पर किया करते थे। औषध निर्माण का व्यय-भार सेठ साहूकार भी वहन किया करते थे। सामान्य जनता की चिकित्सा प्रायः जड़ी बूटियों से ही की जाती थी। रसौषधियों, आसवारिष्टों और कूपीपक्व औषधियों का प्रयोग शासकों और धनाढ्यों तक ही सीमित था।

३-आयुर्वेदीय शिक्षण व्यवस्थाः-सम्पूर्ण भारत वर्ष में आयुर्वेदीय शिक्षण के वर्तमान स्वरूप की नीव १९वीं शताब्दी पड़ी। राजस्थान मे छोटी-छोटी पाठशालाओं और प्रसिद्ध वैद्यों द्वारा अपने घर व चिकित्सालय में ही आयुर्वेद की शिक्षा दी जाती थी। राजस्थान में आयुर्वेद

शिक्षण के व्यवस्थित स्वरूप का प्रारम्भ जयपुर से ही माना जा सकता है। जयपुर के महाराजा सवाई राम सिंह ने सन् १८६५ ई. में जयपुर में एक संस्कृत विद्यालय खोला जो महाराज संस्कृत कालेज के रूप में आज भी विद्यमान है। इसी विद्यालय में सर्वप्रथम वैद्य जीवन राम भट्ट (जो कि अहमदाबाद से बुलाये गये वैद्य लक्ष्मीराम भट्ट के वंशज थे) को आयुर्वेदाध्यापक के रूप में नियुक्त किया। सन् १८७२ ई. में श्री जीवन राम भट्ट के पुत्र श्री कृष्णराम भट्ट को अपने पिता के स्थान पर आयुर्वेदाध्यापक नियुक्त किया। इन्होंने सन् १८९६ ई. में अपनी (४९ वर्ष की आयु में) मृत्यु पर्यन्त इस पद पर कार्य किया। ये उद्भट शास्त्रीय विद्वान्, संस्कृत कवि और सिद्धहस्त चिकित्सक थे। इन्होंने संस्कृत साहित्य एवं आयुर्वेद साहित्य सम्बन्धी पुस्तकें लिखी। इन्होंने अनेक योग्य-शिष्य तैयार किये, जो शास्त्र-ज्ञान एवं चिकित्सा में समान अधिकार रखते थे।

श्रीकृष्णराम भट्ट की मृत्यु के पश्चात् स्वामी श्री लक्ष्मीराम आयुर्वेदाध्यापक के पद पर नियुक्त हुये तथा सन् १८९६ ई. से सन् १९३३ ई. तक इस पद पर कार्य किया। इन्होंने सैद्धान्तिक अध्ययन के साथ-साथ प्रायोगिक अध्ययन की व्यवस्था भी करवाई, जिससे कि छात्र को पूर्ण व्यवस्थित, व्यवहारिक ज्ञान भी प्राप्त हो सके। इनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण भारतवर्ष में हुयी। सन् १९३४ ई. में अखिल भारतीय आयुर्वेद महा-सम्मेलन के छठे अधिवेशन (कलकत्ता) के सभापति के रूप में आपने यादगार भाषण दिया।

राजवैद्य पं. नन्द किशोर जी शर्मा ने आयुर्वेदीय शिक्षण को नई दिशा प्रदान की। संस्कृत कालेज में ही पृथक् विभाग के रूप में चलने वाला आयुर्वेद विषय केवल एक अध्यापक के द्वारा ही पढ़ाया जाता था। सन् १९२४ ई. में राजवैद्य नन्द किशोर शर्मा की नियुक्ति द्वितीयाध्यापक के रूप में हुयी। सन् १९३३ ई. में स्वामी जी की सेवा निवृत्ति के बाद ये आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुये, इनके सत्प्रयत्नों से शनैः शनैः आयुर्वेदाध्यापकों की संख्या में वृद्धि हुयी तथा इन्होंने सन् १९४६ ई. में इस विभाग को एक पृथक आयुर्वेद कालेज के रूप में स्थापित इसके प्रथम आचार्य बनें, यही आयुर्वेद कालेज ७ फरवरी सन् १९७६ ई. में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान के रूप में क्रमोन्नत हुआ।

इस तरह से जयपुर में सन् १८६५ ई. में जो व्यवस्थित शिक्षण प्रारम्भ हुआ वह उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ शिक्षण के उत्तुंग शिखर पर पहुँच गया। जयपुर के अतिरिक्त पिलानी की संस्कृत पाठशाला भी आयुर्वेद की प्राचीन संस्थाओं में मानी जाती है। इस संस्था में सन् १९१२ ई. में पं. रूपराम जी शास्त्री संस्कृत एवं आयुर्वेद की शिक्षा देते थे। इस पाठशाला में सन् १९३५ ई. में पृथक् आयुर्वेदाध्यापक की नियुक्ति हुयी। बाद में बिडला आयुर्वेद कालेज, पिलानी, इस नाम से यह आयुर्वेद कालेज कई वर्षों तक चला, जो लगभग १९६८ ई. में बन्द हो गया। सनातन आयुर्वेद महाविद्यालय, बीकानेर की स्थापना सन् १९४५ ई. में हुयी, जो लगभग २५ वर्ष बाद बन्द हो गया। रामगढ़ (शेखावटी) में हरनन्द

राय रूइया संस्कृत महाविद्यालय में भी आयुर्वेद शिक्षण की व्यवस्था थी। जहाँ वैद्य पं. हनुमत्प्रसाद शास्त्री, वैद्य प्रेमशंकर शर्मा (भू.पू. डाइरेक्टर राजस्थान आयुर्वेद विभाग) आदि सम्बद्ध रहे। जोधपुर में भी सन् १९६२ ई. में श्री नारायण आयुर्वेद कालेज की स्थापना हुयी पर यह दस वर्ष में ही वन्द हो गया। रतनगढ़ में श्री हनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना सन् १९३६ ई. में हुयी। यह कालेज भी करीव ४० वर्ष बाद वन्द हो गया। भारत प्रसिद्ध विद्वान् वैद्य पं. श्री मणि राम शर्मा यहाँ वर्षों तक प्रिंसिपल रहे। श्री परशुराम पुरिया आयुर्वेद महाविद्यालय सीकर की स्थापना सन् १९४२ में हुयी, यह महाविद्यालय आज भी अस्तित्व में है।

राजस्थान में इस समय पाँच आयुर्वेद महाविद्यालय चल रहे हैं। राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर केन्द्र सरकार का उपक्रम है तथा उदयपुर का महाविद्यालय राज्य सरकार द्वारा संचालित है। अवशिष्ट तीन महाविद्यालय निजी क्षेत्र में हैं।

शिक्षण की उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त दिल्ली, विद्यापीठ की आयुर्वेद परीक्षओं की व्यवस्था भी यहाँ पर्याप्त रूप में रही, वर्तमान में इसका प्रचलन कम है। शिक्षण संस्थाओं को यहाँ पुनः एकत्र उल्लिखित किया जा रहा है।

क-**पूर्व में प्रचलित संस्थायें**:-ये संस्थाएं पूर्व में प्रचलित थीं तथा आयुवेद शिक्षण में इनका योगदान उल्लेखनीय रहा है। वर्तमान में विभिन्न कारणों से ये संस्थायें अस्तित्व में नहीं हैः-

	नाम	स्थापना का वर्ष
१.	बिडला संस्कृत पाठशाला, पिलानी	१९१२ ई.
	विडला बाद में आयुर्वेद कालेज, पिलानी	
२.	हरनन्द राय रूइया संस्कृत कालेज, रामगढ़ (शेखावटी)	
३.	श्री हनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय रतनगढ़ (शेखावटी)	१९३६ ई.
४.	सनातन आयुर्वेद महाविद्यालय, बीकानेर	१९४५ ई.
५.	श्री नारायण आयुर्वेद महाविद्यालय, जोधपुर	१९६२ ई.
६.	श्री मोहता आयुर्वेद महाविद्यालय, सादुलपुर	

ख. **वर्तमान में प्रचलित शिक्षण संस्थायेः-**

१.	महाराज संस्कृत कालेज, जयपुर	१८६५ ई.
	बाद में राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, जयपुर	१९४६ ई.
	बाद में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर	७ फरवीर, १९७६ ई.
२.	श्री मदन मोहन मालवीय राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर	
३.	श्री परशुराम पुरिया आयुर्वेद महाविद्यालय, सीकर	१९४२ ई.

४. श्री झंवरलाल दूगड़ आयुर्वेद महाविद्यालय, सरदार शहर १६४२ ई.

५. आयुर्वेद महाविद्यालय, आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर, राजस्थान

इनमें जयपुर में काय चिकित्सा, मौलिक सिद्धान्त, शरीर रचना, शरीर-क्रिया, कौमार-भृत्य, रोग-विकृति विज्ञान, द्रव्यगुण, शल्य-शास्त्र, एवं रस-शास्त्र इन ६ विषयों में स्नातकोत्तर अध्यापन की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त पी.एच.डी. की भी व्यवस्था है। उदयपुर में काय-चिकित्सा, रस-शास्त्र एवं द्रव्यगुण इन तीन विषयों में स्नातकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था है। पी-एच.डी. भी करवायी जाती है। अन्य तीन संस्थाओं में केवल स्नातक स्तर के शिक्षण की व्यवस्था है। प्रतिवर्ष स्नाकोत्तर के लगभग ६० छात्र एवं स्नातक स्तर के लगभग ३०० छात्र अपनी शिक्षा पूर्ण कर उपाधि प्राप्त करते हैं।

उपाधियाँः-राजस्थान में प्रारम्भ में आयुर्वेद को संस्कृत के व्याकरण साहित्य, न्याय, ज्योतिष, दर्शन आदि विषयों के साथ एक विषय के रूप में ही रखा गया था। अतः आयुर्वेदोपाध्याय एवं आयुर्वेद शास्त्री की उपाधियाँ दी जाती थी तथा इन्हें वैद्यक व्यवसाय के लिये अधिकृत माना जाता था। यह शिक्षा प्रारम्भ में शास्त्री तक ही थी। बाद में इसे आचार्य तक बढ़ा दिया गया। स्वामी श्री लक्ष्मी राम ने आयुर्वेद में सर्वप्रथम आचार्य परीक्षा सन् १८६५ ई. में उत्तीर्ण की। इस उपाधि का नाम भिषगाचार्य रखा गया। बाद में आयुर्वेद शास्त्री को भी "भिषग्वर" नाम दिया गया। इन परीक्षाओं का आयोजन पहले संस्कृत विभाग करता था तथा बाद में सन् १६७१ तक आयुर्वेद विभाग, राजस्थान इसका आयोजन करता रहा। सन् १६६६ से राजस्थान विश्वविद्यालय ने इसका आयोजन प्रारम्भ किया, छात्रों का प्रथम समूह सन् १६७१ में निकला, जिसे आयुर्वेदाचार्य की उपाधि दी गयी। भिषगाचार्य भी १६७१ तक चलता रहा। अब आयुर्वेदाचार्य (बी.ए.एम.एस.) की स्नातक स्तरीय उपाधि दी जा रही है। राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् १६७१ ई. में स्नातकोत्तर शिक्षण प्रारम्भ किया, जिसमें छात्रों का प्रथम समूह १६७४ ई. में उत्तीर्ण हुआ जिन्हें आयुर्वेद बृहस्पति की उपाधि दी गयी। बाद में इस उपाधि का नाम आयुर्वेद वाचस्पति (M.D. in Ayurved) रखा गया।

४-औषध निर्माण व्यवस्थाः-राजस्थान में औषध-निर्माण की परम्परा प्रारम्भ से ही रही है। चिकित्सा करने वाले सभी वैद्य न्यूनाधिक रूप से औषध निर्माण किया करते थे। फार्मेसियों का व्यावसायिक स्वरूप नहीं था। शनैः शनैः फार्मेसियों का व्यावसायिक स्वरूप बनने लगा। वैद्यों ने औषध निर्मार्ण कार्य लगभग बन्द ही कर दिया। वर्तमान में राजस्थान में ५० से भी अधिक फार्मेसियाँ कार्यरत हैं।

५-आयुर्वेद विभाग, राजस्थानः-सन् १६४६ ई. में पृथक् आयुर्वेद महाविद्यालय बना, इसी के साथ आयुर्वेद विभाग की स्थापना के प्रयत्न हुये। इसके प्रथम संचालक (Director) के पद पर कविराज प्रताप सिंह जी नियुक्त हुये, थोड़े समय बाद ही राजवैद्य

नन्द किशोर शर्मा को कालेज के प्राचार्य पद के साथ-साथ यह दायित्व भी वहन करना पड़ा। सन् १९५४ ई. में इनकी मृत्यु के बाद वैद्य प्रेमशंकर शर्मा संचालक पद पर नियुक्त हुये। इस पद का नाम बाद में निदेशक हो गया। श्री शर्मा इस पद पर १९६८ ई. तक रहे। पहले औषधालयों की व्यवस्था जिला बोर्ड किया करते थे, सन् १९५६ के बाद आयुर्वेद शिक्षण और औषधालयों की व्यवस्था का सम्पूर्ण दायित्व निदेशालय में निहित हो गया। निदेशालय का मुख्यालय अजमेर में स्थित है। इसके अधीन आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथिक और प्राकृतिक चिकित्सा पद्धतियों की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का निर्वहन होता है। इसकी गतिविधियों को निम्न लिखित उपशीर्षकों के माध्यम से संक्षेप में संकेतित किया जा सकता है।

(क) **प्रशासनः**-प्रशासन प्रक्रिया में राजस्थान सरकार में आयुर्वेदमन्त्रालय का प्रावधान है तथा इसके लिये मन्त्री की नियुक्ति हुआ करती है। अतः शासन का सर्वोच्च केन्द्र सचिवालय में स्थित है। इसके साथ ही स्वतन्त्र निदेशालय का अस्तित्व अजमेर में है, जो सरकार की नीतियों का क्रियान्वयन करता है। यहाँ एक निदेशक, एक अतिरिक्त निदेशक, एक उपनिदेशक और एक सहायक निदेशक के पद हैं। अतिरिक्त निदेशक के पद पर राजस्थान प्रशासनिक सेवा का अधिकारी तथा अन्य पदों पर आयुर्वेदज्ञों की नियुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण राजस्थान को पाँच क्षेत्रों में विभाजित कर वहाँ एक-एक उप निदेशक नियुक्त किये गये हैं, इन पाँच क्षेत्रों के मुख्यालय हैः-जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर एवं कोटा। राजस्थान में ३० जिले हैं इन जिलों के औषधालयों का प्रशासन जिला आयुर्वेद अधिकारी के अधीन हैं। इस समय २७ जिला आयुर्वेद अधिकारी कार्यालय कार्यरत हैं, ३० जिलों का प्रशासन इन्हीं के द्वारा किया जाता है। शासन सचिव से लेकर जिला आयुर्वेद अधिकारी तक सभी परस्पर सम्बद्ध हैं। दौसा, बाराँ और राजसमन्द इन तीन जिलों में जिला आयुर्वेद अधिकारी के पद स्वीकृत हो चुके हैं, पद स्थापन अवशिष्ट हैं। अतः कुछ समय में ही पूरे ३० जिलों में जिला आयुर्वेद अधिकारी कार्यरत हो जायेगें।

ख-औषधालयः-राजस्थान निर्माण के समय पूरे राज्य में केवल ३४६ औषधालय थे जो बढ़ कर ३६७८ हो गये है। कुछ विशिष्ट औषधालयों में शैय्याओं की भी अन्तरंग विभाग के रूप में व्यवस्था है जो प्रारम्भ में १०० थी तथा अब ११६६ हैं। इन औषधालयों का स्वरूप निम्नानुसार है :-

आयुर्वेद	यूनानी	होम्योपैथी	प्राकृतिक	कुल
३४८९	७८	१०७	४	३६७८

ग-औषध व्यवस्थाः-इन औषधालयों में निःशुल्क चिकित्सा-परामर्श तथा औषध

वितरण की व्यवस्था है। औषधियाँ विभाग के अधीन चलने वाली चार रसायन शालाओं में बनती हैं। ये रसायन शालायें अजमेर, भरतपुर, जोधपुर एवं उदयपुर में स्थित है। अजमेर में केन्द्रीय रसायन शाला है। उपर्युक्त सभी रसायन शालाओं में औषध निर्माण होता है तथा ८ केन्द्रों के माध्यम से सभी ३० जिलों के औषधालयों को औषध प्राप्त करवायी जाती है।

घ-साहित्य संरचनाः-राजस्थान में आयुर्वेदीय चिकित्सा का अत्यधिक प्रचार-प्रसार रहा है। चिकित्सा एवं औषध निर्माण में वैद्यों की जितनी ख्याति एवं योगदान रहा है, उसे देखते हुये राजस्थान का आयुर्वेद साहित्य में योगदान नगण्य ही रहा है। तेरहवीं शताब्दी से पहले का कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में शारंगधर संहिता, शारंगधर पद्धति, क्षेम कुतुहल, योग-चिन्तामणि एवं वैद्य विनोद आदि ग्रन्थ पर्याप्त रूप से प्रचलित रहे हैं। इसके अतिरिक्त वीसवीं शताब्दी में लेखन कार्य अपेक्षाकृत अधिक हुआ है, इनमें कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ हैः-

	ग्रन्थ का नाम	लेखक
१.	सिद्ध भेषजमणिमाला	श्रीकृष्ण राम भट्ट, जयपुर
२.	जीवनानन्द भैषज्य महोदधि प्राणाचार्य	श्री केवल राम, बीकानेर
३.	पारद संहिता की भाषा टीका	श्री ज्येष्ठ मल्ल व्यास, जैसलमेर।
४.	अमृत सागर	राजवैद्य श्री अमृत राम, अजमेर
५.	शारंगधर संहिता पर संस्कृत टीका	आचार्य श्री मणिराम शर्मा, रतनगढ़।
६.	रसेन्द्र चिन्तामणि पर संस्कृत टीका	आचार्य श्री मणिराम शर्मा, रतन गढ़।
७.	पदार्थ विज्ञान	प्रा. राम कृष्ण ढण्ढ
८.	रसतन्त्र सार	कृष्ण गोपाल कालेडा का प्रका.
९.	चिकित्सा तत्व-प्रदीप	कृष्ण गोपाल कालेडा का प्रका.
१०.	रस हृदय तन्त्र	कृष्ण गोपाल कालेडा का प्रका.
११.	सिंह भेषराज मंजूषा	वैद्य जयदेव जोशी
१२.	वाल्मीकीय रामायण में आयुर्वेद	वैद्य अम्बालाल जोशी, जोधपुर
१३.	द्रव्यगुण हस्तामलक	वैद्य बनवारी लाल मिश्रा
१४.	आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान	वैद्य बनवारी लाल गौड़

स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर ने अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया है, जिनमें संहिता (भानुमती टीका, सूत्रस्थान), अभिनव प्रसूति तन्त्रम (श्री दामोदर शर्मा गौड), चरक संहिता, चरकोपस्कार टीका आदि प्रमुख हैं। प्रो. स्वामीरामप्रकाश जी राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान

जयपुर के निदेशक भी रह चुके है, इस ट्रस्ट के बहुत वर्षों तक अधिष्ठाता रहे हैं, इनके निर्देशन में उक्त ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। स्व. डॉ. राजेन्द्र प्रकाश भटनागर की ८ पुस्तकें प्रकाशित हैं। श्री गोपीनाथ पारीक ने अनेक महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं तथा सुधानिधि एवं धन्वन्तरि के विशेषांकों का सम्पादन किया है। राजस्थान के मूल निवासी एवं वैद्य दुर्गा प्रसाद शर्मा (वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन) स्व. गोवर्धन शर्मा छांगाड़ी श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (अजमेर) श्री विद्याधर शास्त्री, श्री मक्खन लाल शास्त्री (वीकानेर), श्री गिरधारी लाल मिश्र (तेजपुर आसाम) आदि ने साहित्य संरचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। स्व. कविराज प्रताप सिंह ने आयुर्वेद मण्डल (आयु. महासम्मेलन) के रजत जयन्ती अंक का सम्पादन कर अपनी साहित्य प्रतिभा का परिचय दिया है। कृष्णगोपाल कालेडा के "स्वास्थ्य" मासिक पत्रिका वैद्य ब्रह्मानन्द त्रिपाठी के सम्पादकत्व में तथा जर्नल आफ आयुर्वेद राष्ट्रीय आयु. संस्थान, जयपुर में निकल रही है। इसके अतिरिक्त अनेक लेखकों ने शोध पत्र-लेखन, सम्पादन एवं प्रकाशन आदि के रूप में साहित्य संरचना में योगदान किया है।

७-संगठन स्वरूपः-अखिल भारतीय आयुर्वेद महा सम्मेलन की स्थापना सन् १६०६ ई. के समय से ही राजस्थान के विद्वज्जनों ने संगठन में योगदान किया। इसके द्वितीय अधिवेशन के सभापति वैद्य श्री गंगाधर भट्ट (जयपुर) तथा छटें अधिवेशन के सभापति स्वामी श्री लक्ष्मी राम वने, वर्तमान में सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीयुत श्री राम शर्मा (वम्वई) भी राजस्थान के मूल निवासी हैं। श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी, श्री उदय लाल महात्मा (उदयपुर) श्री उदय चन्द्र भट्टारक, चाणोद गुरांसा (जोधपुर), श्री नित्यानन्द शर्मा (पिलानी), श्री चन्द्र शेखर शास्त्री (वीकानेर) श्री सीताराम मिश्र (जयपुर) आदि अनेक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, जिन्होंने राज्यस्तर एवं राष्ट्रीय स्तर पर वैद्यों के संगठन में योगदान किया।

राजस्थान के मूल निवासी श्री गोवर्धन शर्मा छांगणी (नागपुर), श्री रामगोपाल शास्त्री (बम्वई), श्रीयुत श्री राम शर्मा (बम्वई) वैद्य श्री बासुदेव लाल (बम्वई) आदि विद्वानों ने भी संगठन में भरपूर योगदान किया है।

८-आयुर्वेदीय अनुसन्धानः-सन् १६५७ में उदयपुर में आयुर्वेद अनुसन्धानशाला की स्थापना हुई, तव से लेकर अब तक वहां निरन्तर अनुसन्धान कार्य हो रहे हैं। यहाँ आन्त्रिक ज्वर, उदरकृमि, गृध्रसी और बाल पक्षाघात के सम्वन्ध में अनुसन्धान कार्य हो रहे है। जयपुर में भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् के अधीन एक अनुसन्धान शाला चल रही हैं। प्रारम्भ में इसका राज्यस्तरीय स्वरूप था, जहाँ अम्लपित्त एवं ग्रहणी दोष सम्वन्धी अनुसंधान कार्य होता था।

इस समय जयपुर एवं उदयपुर के आयुर्वेद महाविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर एवं पी.एच.डी. स्तर के अनुसन्धान कार्य हो रहे है।

६-आयुर्वेदीय पत्रकारिताः-छोटी-मोटी पत्र-पत्रिकाओं की संख्या राजस्थान में भी

कम नहीं हैं, किन्तु पत्रकारिता के मापदण्डों के अनुरूप निकलने वाली पत्रिकाओं की संख्या कम है। इनमें भी "स्वास्थ्य" पत्रिका के माध्यम से पं. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (सम्पादन) ने नये आयाम दिये हैं। आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका के सम्पादक के रूप में श्री विद्याधर शास्त्री (बीकानेर) एवं श्री अम्बालाल जोशी (जोधपुर) का नाम उल्लेखनीय है।

१०-राज्यपद एवं पुरस्कारः-राजा, महाराजा एवं जागीरदारों ने अपने दरबार में वैद्य को सर्वदा प्रतिष्ठित पद दिया है, ऐसे वैद्यों को राज्यवैद्य कहा जाता था। स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के आयुर्वेदीय चिकित्सक पद पर वैद्य श्री प्रहूलाद राय शर्मा सीकर (राजस्थान) की नियुक्ति एक गौरवपूर्ण बात रही है। राजस्थान के भू.पू. राज्यपाल स्व. डॉ. सम्पूर्णानन्द के आयुर्वेदीय चिकित्सक पद पर वैद्य श्री मोहनलाल भार्गव रहे।

राज्य पद की तरह अनेक पुरस्कार भी राजस्थान के वैद्यों ने प्राप्त किया। वैद्य राम नारायण शर्मा पुरस्कार (वैद्यनाथ) आयुर्वेद क्षेत्र का सर्वोच्च पुरस्कार है, इसे राजस्थान के मूल निवासी स्व. पं. दामोदर शर्मा "गौड" ने प्राप्त कर राजस्थान को गौरवान्वित किया। राजस्थान प्रशासन द्वारा भी समय-समय पर विशिष्ट वैद्यों को पुरस्कार प्राप्त हुआ है, इनमें वैद्य बनवारी लाल मिश्रा, जयपुर, डॉ. श्यामसुन्दर शर्मा जयपुर, एवं डॉ. ओमप्रकाश शर्मा, उदयपुर प्रमुख हैं। अन्य संस्थायें भी समय-समय पर विशिष्ट वैद्यों को पुरस्कृत करती रहती हैं।

११-राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय जोधपुर-तीन वर्ष पूर्व इस विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है। इसके प्रथम कुलपति प्रो. रामहर्ष सिंह जी थे। आप हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में काय चिकित्सा के प्रोफेसर एवं संकायाध्यक्ष आयुर्वेद रह चुके हैं। द्वितीय कुलपति डा. बनवारी लाल गौड़ हुए हैं। डा. गौड़ राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर में निदेशक रह चुके हैं। आयुर्वेद के अच्छे लेखक, चिकित्सक एवं अन्वेषक हैं।

१२. कुछ प्रसिद्ध वैद्यः-राजस्थान में अनेक वैद्य प्रसिद्ध हुये हैं, उनमें कुछ नामों का उल्लेख मात्र किया जा रहा है। किन्तु इस नामावली के पहले भी कुछ नाम उल्लिखित कर देना अपेक्षित है, जो मूलतः हैं तो राजस्थानी है पर उन्होंने कार्य क्षेत्र राजस्थान के बाहर चुनाः-स्व. वैद्य श्री गोवर्धन शर्मा छांगणी, नागपुर, स्व. वैद्य श्री हनुमत्प्रसाद शास्त्री, जामनगर, स्व. वैद्य श्री दामोदर शर्मा गौड (बनारस), वैद्य गुलराज मिश्र (नागपुर) श्रीयुत् श्रीराम शर्मा (बम्बई), प्रो. मधुसूदन शास्त्री (जामनगर), प्रो. श्री हरिशंकर शर्मा, (जामनगर), प्रो. श्री दामोदर जोशी (बनारस) आदि प्रमुख हैं।

हरियाणा राज्य में आयुर्वेद विभाग के निदेशक पद पर रह चुके तथा वर्तमान में चण्डीगढ़ निवासी डॉ. रामेश्वर दयाल शर्मा एवं आन्ध्र प्रदेश में आयुर्वेद विभाग में उप निदेशक पद पर रह चुके श्री राम निवास शर्मा भी राजस्थानी ही हैं। इसके अतिरिक्त देश

के विभिन्न भागों में हजारों राजस्थानी वैद्य सफल चिकित्सक के रूप में विख्यात रहे हैं तथा अब भी हैं। वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संस्थापक वैद्य राम नारायण शर्मा एवं वैद्य दुर्गादत्त शर्मा भी राजस्थानी ही थे।

एकोनविंश अध्याय

गुजरात में आयुर्वेद का इतिहास

आयुर्वेद हमारी भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण एवं महत्व का अंग है। व्यक्ति तथा समाज के साथ इसका सम्बन्ध ओत-प्रोत है। देश की गौरवपूर्ण सांस्कृतिक विरासत है। इसके विकास तथा पतन के साथ भी अनेक व्यक्तियों तथा सामाजिक स्थिति का तथा विभिन्न घटनाओं का सम्बन्ध होना चाहिये। काल क्रम की दृष्टि से इसकी खोजबीन अपेक्षित है, किन्तु समर्थक प्रमाणों का चयन दुष्कर और दुर्लभ होने से इतिहास की रचना यथोचित ढंग से करने में बड़ी कठिनाई है। अतः कुछ छिट-फुट घटनाओं के उल्लेख के आधार पर तथा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के उज्जवल जीवन कार्यों के आधार पर इतिहास क्रम जोड़ने का प्रयास यहां पर किया जा रहा है, जो केवल गुजरात प्रदेश और विशेषतः उस के सौराष्ट्र परिधि में ही सीमित है। पहले इस प्रदेश के दक्षिण विभाग को लाट, उत्तर विभाग को आनर्त और पश्चिम विभाग को सौराष्ट्र कहा जाता था।

प्रागैतिहासिक घटना सूचक कुछ स्थानों से सम्बन्धित वृत्त

१. सौराष्ट्र में सोमनाथ तीर्थ प्रभास क्षेत्र में ज्योर्तिलिंग रूप से विद्यमान है। गुरु-शाप से क्षय पीड़ित चन्द्रमा की क्षय रोग से मुक्ति इसी तीर्थ में भक्त वत्सल भगवान शिव की कृपा से हुई। यह वेद पुराण तथा आयुर्वेद से प्रसिद्ध कथा तथा दैव व्यपाश्रय चिकित्सा का स्थान सौराष्ट्र के दक्षिणी समुद्र तट पर है, जो प्रभास तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है (जिला जूनागढ़ तालुका बेरावल)।
२. इसी सौराष्ट्र में व्रज नदी के तट पर धन्वन्तरि की समाधि भी विद्यामान है। इसी स्थान पर नदी पर घाट बना है, जो काश्यप गंगा घाट है और पास में मुक्तेश्वर महादेव का मन्दिर है। पास में एक विशाल वट वृक्ष है और इसके समीप एक रा[illegible] वट वृक्ष है। इस वृक्ष के समीप एक गुफा है, जो तक्षक गुहा कही जाती है। इसके आसपास में अनेक दिव्यौषधियां उत्पन्न होती है। श्रावण अमावस्या को यहां मेला भी लगता है। श्रद्धालु एवं रोगी यहां पर भगवान् धन्वन्तरि के दर्शनार्थ पहुंचते हैं और अपनी भावना के अनुरूप सन्तोष पाते हैं।

आयुर्वेद तथा महाभारत में भगवान् धन्वन्तरि तथा परीक्षित राजा की कथा के साथ तक्षक का तथा ब्राह्मण कश्यप् जो विष विद्या के ज्ञाता समर्थ निष्णाता की कथा आती है। आयुर्वेद में कश्यप निर्मित अगद "तक्षक दष्ट को भी जीवित करने वाले" औषध का गुण गान है। तक्षक ने कश्यप की विषहर शक्ति की परीक्षा के लिए वृक्ष को दंश दिया और

कश्यप ने जल की अंजलि से जल कर राख हुए वृक्ष को पुनः पल्लवित कर दिखाया, यह कथा प्रसिद्ध है। इन्हीं सब का एकत्र एक स्थान में मौजूद होना और पल्लवित वाले वट वृक्ष के साथ सफेद पत्र वाला वट वृक्ष, पास में कश्यप गंगा, मुक्तेश्वर महादेव, तक्षक की गुफा और धन्वन्तरि की समाधि श्रद्धा पैदा करने वाली लोक कथा (पुराण सम्मत) इतिहास में ग्राह्य हो या नहीं, किन्तु सदियों से इतिहास बनाये हुए, यहां मौजूद हैं।

३. चन्द्रमा को यक्ष्मा से मुक्त करने वाले और इन्द्र के भुजस्तम्भ आदि विकारों की चिकित्सा करने वाले देव, वैद्य और आयुर्वेद की गुरु परम्परा में ब्रह्मा जी से तीसरे स्थान के आचार्य वैदिक तथा आयुर्वेद के देव अश्विनी कुमारों का तीर्थ सूरत नगर के परिसर में है। अश्विनी कुमार घाट तथा अश्विनी कुमार मन्दिर है, जो भारत में शायद एक मात्र यहीं पर देखने सुनने को मिलता हैं।

४. आयुर्वेद की काय चिकित्सा के प्रवर्तक पुनर्वसु आत्रेय के गोत्र प्रवर्तक आदि पुरुष महर्षि अत्रि और उसकी पत्नी अनसूया का स्थान भी भरूच जिले में नर्मदा तट पर "अनुसूया तीर्थ" के रूप में विद्यमान है। महासती अनुसूया का आख्यान तो प्रसिद्ध है। अनुसूया का उल्लेख दिव्य अंगराग देने वाली वैद्य पत्नी के रूप में भी है। ऋग्वेद के मंत्र द्रष्टा अत्रि ऋषि से लेकर आयुर्वेद के वर्तमान स्नातक तक यह परम्परा आज तक अविच्छिन्न चल रही है। अत्रि एवं अनुसूया की पुत्री अपाला को कुष्ठ रोगी हो जाने से पति ने त्याग दिया था। पुत्री को इस अपमान से बचाने के लिये अनुसूया ने अंगराज का आविष्कार किया और अपाला को रोग मुक्त किया। ऐसी कथा है। रामायण में भी सीता जी को अनसूया से अंगराज प्राप्ति का वृत्त मिलता है। आज भी अनसूया तीर्थ की मिट्टी को ले जाकर कुष्ठ के रोगी देह पर लगाते हैं।

५. पच्छे ग्राम अथवा वैद्यों का ग्राम इस ग्राम नाम से प्रसिद्ध गांव गुजरात में सौराष्ट्र में गोहिलवाड जिले में बलभीपुर के पास प्रसिद्ध है। इस गांव के प्रश्नोराज्ञातिकेक (अहिच्छन्न) ब्राह्मण परम्परा से वैद्य विद्या में कुशल समझे जाते है। विगत चौदह पीढ़ी से विद्वान वैद्यों की परम्परा प्रथम पुरुष कीका भट्ट से वर्तमान जटुभाई वैद्य तक चली आ रही है। इस ग्राम में आने वाले रोगियों के लिये पूर्ण सुविधा वाले दो विशाल भवन कृतज्ञ दाताओं ने बना दिये हैं। रोगियों के निदान चिकित्सा के लिए ग्राम वैद्य मण्डली परस्पर में सलाह परामर्श करके लंघनादि उपक्रम कराते थे, ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध हैं।

आयुर्वेद एवं गुरु परम्परा

अन्य व्यवसायों की भांति आयुर्वेद व्यवसाय तथा शास्त्र-ज्ञान परम्परा से हस्तान्तरित होता हुआ अद्यावधि अस्खलित ढंग से चला आ रहा है। वैद्य विद्या की परम्परा दो प्रकार

की दिखाई पड़ती है। १. पुत्र परम्परा (वंश परम्परा), २. शिष्य परम्परा। वस्तुतः पुत्र और शिष्य में कोई भेद नहीं किया जा सकता है, अतः पुत्र भी पिता की विद्या का शिष्य वनकर ही अधिकारी वनता है, अन्यथा विद्या से वंचित रह जाता है।

पुत्रों को अपनी कुल विद्या को अपने साथ लगातार काम में जोड़कर और मौखिक उपदेश देकर हर घर में दी जाती है। शिष्यों को विद्या प्राप्ति के लिए विशिष्ट ख्याति प्राप्त वैद्य के घर जाना होता है और गुरु की कृपा या अनुग्रह प्राप्त करके विद्या प्राप्त की जाती है। इस हेतु कुछ समर्थ और उदार वैद्य अपने यहां पाठशाला जैसे व्यवस्था करके शिष्यों को विद्या दान के साथ निवास, भोजन एवं आत्मीय जन सदृश प्रेम दान करके उनको अपने परिवार में समा लेते हैं।

आज के युग में गुरु परम्परा प्रायः समाप्त हो चुकी है। अव विद्यालयीय परम्पराओं का प्रचलन हो गया है। प्रत्येक प्रदेश में शासकीय मान्यता प्राप्त आयुर्वेद विद्यालय स्थापित हो चुके हैं और उन्हीं से शिक्षा ग्रहण करके आयुर्वेद के स्नातको को समाज एवं शासन से मान्यता हैं।

गुजरात में कई वैद्य परम्परायें प्रसिद्ध है। शासकीय आयुर्वेद विद्यालयों की स्थापना से पूर्व उन्हीं परम्पराओं से शिक्षित एवं दीक्षित वैद्य आयुर्वेद के सभी विधाओं में भी कार्यरत मिलते थे। ये परम्परायें कई स्थानों पर दो सौ से तीन सौ वर्षों तक पुरानी है। यथा पच्छे ग्राम की वैद्य परम्परा, जाम नगर के काशी राम भट्ट जी की परम्परा स्वकुल में अविच्छिन्न चली आ रही है। भाव नगर में वैद्य श्री जुगुत राम भाई विश्वनाथ दवे पुरानी कुल परम्परा के वैद्य है जो बारह से अधिक पीढ़ियों से आतुर सेवारत है। इनके पिता श्री विश्वनाथ जी और वड़े भाई बल्लभ राम जी अपने काल के प्रसिद्ध वैद्य थे। श्री बल्लभ राम जी अहमदावाद के प्रख्यात वैद्य थे। गुजरात प्रदेश वैद्य सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष और जाने माने वनस्पति शास्त्री, आयुर्वेद एवं योग के ज्ञाता थे। श्री वैद्य जुगुत राम जी की पुत्री, पुत्र और पुत्र वधू भी वैद्य हैं। वैद्य जुगुत राम भाई जलोदर में सर्प विष प्रयोग के भी मर्मज्ञ हैं।

इसी प्रकार राजकोट, गोडल, मोरवी प्रभृति क्षेत्रों में कई वैद्य परम्परायें थी और आज भी जीवित हैं।

गुजरात में आयुर्वेद संबर्द्धक संस्थायें

सन् १६३७ में प्रादेशिक स्वायत्तता प्राप्त होने पर वैद्यकीय व्यवसाय और शिक्षा का नियंत्रण और प्रजा के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी शासन की होने के नाते आयुर्वेद फैकल्टी और बोर्डो की स्थापना हुई। कई प्रकार के परिवर्तन होते हुए वर्तमान में मान्यता प्राप्त आठ आयुर्वेद महाविद्यालय और उनसे संलग्न आतुरालय औषध निर्माणशालायें है। सन् १६६६

में गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय जामनगर की स्थापना हुई। उससे आयुर्वेद के विविध अंगोपाङ्गो के विद्वान् वैद्यों की परम्परा अधिकाधिक विकसित हुई।

इसके अतिरिक्त वहुत सी स्वैच्छिक संस्थाये-अधुना आयुर्वेद के विकास में संलग्न हैं। देह स्वास्थ्य तथा मानसिक तथा आध्यात्मिक शान्ति के लिये कई योग शिक्षा केन्द्र भी स्थापित हो गये हैं।

गुजराती भाषा में आयुर्वेद की कई पत्र तथा पत्रिकाये भी अधुना प्रकाशित हो रही हैं, जिनके द्वारा आरोग्य का जनता में शिक्षण, रोगों के उपचार में मार्ग-दर्शन तथा प्रश्नोत्तरी द्वारा आयुर्वेद का जनता में प्रसार एवं अभिरूचि वढ़ाई जाती है। औषध निर्माण उद्योग अत्यधिक विकसित है। इस माध्यम से भी आयुर्वेद का प्रचुर प्रसार हुआ है। आयुर्वेद के इन विविध साधनों से आयुर्वेद का पर्याप्त विकास प्रदेश में देखने को मिलता है।

गुजरात का आयुर्वेद के विकास में अवदान काल क्रमानुसार उपलब्ध सामग्री के आधार पर (१६वीं शती के पूर्व)

वैद्य - यशोधर
पिता - पद्म नाथ
जाति - ब्रह्मण (श्री गौड़)
स्थान - जूनागढ़, सौराष्ट्र
वैष्णव - विष्णु भक्त (एक मत)
शैव - गंगाधर (शिवभक्त-मतान्तर)
कृति - रस प्रकाश सुधाकर (१३ अध्यायों में)
काल - १३०० ई. के आस-पास (रसरत्नसमुच्चय से प्राचीन माना गया है)।
प्रकाशक - मूल संस्कृत आयुर्वेद ग्रन्थ माला में, बम्बई से, मूल संस्कृत, गुजराती अनुवाद के साथ रस ग्रन्थ माला गुच्छ-४ वैद्य श्री जीवनराम कालिदास शास्त्री द्वारा, रसशाला, गोण्डल सौराष्ट्र।

वैद्य - शोढल
पिता - वैद्य नन्दन, वत्स गोत्रीय रायक बाल ब्राह्मण जातीय गुरु संघ दयालु ज्योतिष शास्त्र के भी ज्ञाता।
जाति - ब्राह्मण
स्थान - गुजरात
कृति - गद निग्रह, निघण्टु (गुण संग्रह द्रव्यावली), चिकित्सा ग्रन्थ।
काल - १२वीं शती ई. (राजा भीमदेव द्वितीय से ताम्र पत्र द्वारा पुरस्कार प्राप्ति का उल्लेख)।

प्रकाशक - हिन्दी अनुवाद के साथ चौखम्वा विद्या भवन, वाराणसी।
वैद्य - शार्ङ्गधर
पिता - देवराज
स्थान - गुजरात
कृति - त्रिशती (त्रिदोषज ज्वर निदान चिकित्सात्मक)
काल - १४वीं-१५वीं शती ई.
वैद्य - कल्याण
जाति - प्रश्नोरा ब्राह्मण जाति
स्थान - गुजरात
कृति - वाल तंत्र
काल - १६वीं शती ई.
वैद्य - माधव उपाध्याय
जाति - ब्राह्मण (सारस्वत)
स्थान - जूनागढ़, सौराष्ट्र
कृति - आयुर्वेद प्रकाश (रस प्रक्रियाओं का स्वानुभावपूर्ण ग्रन्थ) तथा पत्रावली।
काल - १७वीं-१८वीं शती ई.
प्रकाशक - आयुर्वेद ग्रन्थमाला ११वां पुष्पक रूप में प्रकाशित।

१. वैद्य श्री यादव जी आचार्य द्वारा संशोधित एवं सम्पादित।
२. विद्या भवन आयुर्वेद ग्रन्थ माला- चौखम्वा, वाराणसी द्वारा वैद्य श्री गुल राज मिश्र की संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या से युक्त।

वैद्य - देवेश्वर
पिता - श्री गौड़ जाति
स्थान - गुजरात
कृति - स्त्री विलास
काल - १६वीं शती का अन्त १७वीं शती ई. का प्रारम्भ।
वैद्य - कुदन्ल जी व्यास (भट्ट जी)
स्थान - अहमदाबाद, गुजरात
वर्तमान - जयपुर (राजस्थान)
कृति - हिकमत मन्दार बंध
वैद्य - विश्राम
स्थान - कच्छ गुजरात
कृति - अनुपान मंजरी, गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय द्वारा संशोधित, सम्पादित एवं प्रकाशित।

वैद्य	-	राघुनाथ इन्द्र जी
स्थान	-	जूनागढ़ (गुजरात)
जाति	-	प्रश्नोरा ब्राह्मण
गुरु	-	जामनगर के राज्य वैद्य विट्ठल जी भट्ट।
काल	-	विट्ठल जी भट्ट के समकालीन
कृति	-	निघण्टु संग्रह - ई. स. १८६३ में मुद्रित

१६वीं शती ई. के कुछ प्रसिद्ध वैद्य

१. स्व. वैद्य श्री झंडू भट्ट जी (करूणा शंकर) - पिता विट्ठल जी भट्ट, जामनगर राज्य के राज वैद्य, काल-जामरणमल्ल जी तथा जाम विभाजी का राज्य काल।

आप राज्य वैद्य परिवार के थे। आयुर्वेद शिक्षा घर पर ही हुई थी। संस्कृत और आयुर्वेद वाङ्मय के अच्छे ज्ञाता थे। सिद्ध हस्त, सफल चिकित्सक और समाज सेवक होने से राजा और प्रजा में अति आदर था। जामनगर राज्य के अतिरिक्त सौराष्ट्र की अन्य रिसायतों में भी आप का सम्मान था। बहुत सी रिसायतों में इस परिवार के सदस्य राज वैद्य के पद पर ससम्मान नियुक्त थे।

सन् १६३६ ई. में जामनगर के रस शाला की शास्त्रीय ढंग से स्थापना करके बड़े पैमाने पर शुद्ध एवं शास्त्रीय औषधों का व्यावसायिक रूप में उत्पादन प्रारम्भ किया। यही रस शाला बाद में इनके पौत्र जुगुत राम जी वैद्य द्वारा वम्बई "झण्डू फार्मेसी" नाम से प्रतिष्ठापित हुई।

संशमनी वटी, आयुष्य वर्धिनी, केसरी जीवन आदि विशिष्ट औषधों का निर्माण कराया और उनका प्रवर्तन किया।

विडङ्ग तण्डुलीय तथा मुद्ग भात के पथ्य का सेवन करा के रसायन-कल्प प्रयोग की परिपाटी चलाई।

अपने घर पर आयुर्वेद की पाठशाला स्थापित कर आयुर्वेद के प्रचार एवं प्रसार में आपका उत्तम योगदान रहा।

स्व. वैद्य श्री वावा भाई विजय शंकर, धोलकिया पितृ नाम अचल जी, गुरू नाम विट्ठल जी भट्ट तथा सिद्ध सन्यासी अद्वैताश्रम, स्थान जामनगर तथा उदयपुर। काल-जामनगर के जामरणभल्ल जी तथा विभा जी तथा उदयपुर के राणा स्वरूप सिंह जी।

आपका जन्म जामनगर में हुआ था। आपका जामनगर राज्य के वन विभाग के ठेकेदार के रूप में वनस्पति का व्यवसाय था। आपके वैद्य व शास्त्र की शिक्षा जामनगर के राज वैद्य विट्ठल जी भट्ट के घर पर झण्डू भट्ट जी के सहपाठी और मित्र रूप में हुई। आप की रुचि रस चिकित्सा में अधिक थी। आपका कार्यक्षेत्र जामनगर और उदय

पुर रियासतों थी, जहां पर उनका राज वैद्य पद पर सम्मान था। सौराष्ट्र के अन्य रियासतों में भी आप और आपके पुत्रों एवं शिष्यों का सम्मानित वैद्य के रूप में स्थान प्राप्त था। आप परम शिवभक्त, साधक और रस प्रक्रियाओं के विशेषज्ञ थे।

आपके पांच पुत्रों में भी शास्त्र ज्ञान और चिकित्सा कौशल भरा था। आप प्रज्ञाचक्षु होने पर भी उच्चकोटि के विद्वान् वैद्य थे। इनके पौत्रो में भी वैद्यक व्यवसाय चला आ रहा है।

कृति-वृहद् रस रत्नमणिमाला (संस्कृत पद्य ग्रन्थ) अप्रकाशित।

२. स्व. वैद्य श्री कृष्णराम भट्ट जी (व्यास) - पिता श्री कुन्दन जी भट्ट, ब्राह्मण भट्ट मेवाड़, स्थान पूर्वजों का अहमदावाद, गुजरात। वर्तमान जयपुर, काल श्री राम सिंह जी जयपुर नरेश का काल। महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर में आयुर्वेद विभागाध्यक्ष अनेक ख्यात नाम वैद्यों के आचार्य, जिनमें स्वामी लक्ष्मी राम जी प्रमुख हैं। वैद्य होने के साथ उच्चकोटि के कवि भी थे।

कृति-१. सिद्ध भेषण मणिमाला-सिद्ध चिकित्सा का काव्यवद्ध अद्भुत ग्रन्थ। वेंकटेश्वर प्रेस से मुद्रित। २. पलाण्डु शतकम्।

३. स्व. वैद्य रघुनाथ प्रसाद सीताराम शुक्ल

कृति-आयुर्वेद सुधाकर (कायचिकित्सा ग्रन्थ पाँचवल्ली में) संस्कृत श्लोकों में वृन्द-आनुवादक कृष्ण लाल गोविन्द राम देवाश्रयी।

४. स्व. वैद्य तिलकचन्द ताराचन्द स्थान-सूरत

सूरत वैद्य सभा के तत्वावधान में आयोजित व्याख्यानों का संग्रह "आयुर्वेद निंबध माला" भाग १-२ नाम से प्रकाशित।

स्व. वैद्य नान भट्ट जी (अवाशंकर) गठडा वाला-स्थान भावनगर, राज्य-गठगा।

आप भावनगर राज्य के राज वैद्य के रूप में सम्मानित थे। ये आयुर्वेद पद्धति से नेत्र-रोग लिङ्गनाश (मोतिया बिंद) के शस्त्र कर्म सौराष्ट्र में प्रतिष्ठापित करने वाले वैद्य के रूप में प्रसिद्ध है। मोतिया बिंद शस्त्र क्रिया सीखने की इनकी लगन इतनी उत्कृष्ट थी कि इस विद्या को एक मौलवी से सीखने के लिए उसकी कठिन शर्त ब्राह्मण वैद्य के मुख में मुल्ला थूकने के बाद में सिखावे। इन्होंने इसको स्वीकार करके भी इस विद्या को सीखा। इस विशेषता को इनके पुत्रों और शिष्यों ने सौराष्ट्र में प्रसारित किया।

५. स्व. वैद्य प्रभाशंकर भाई नान भट्ट गठडा वाला

आपका जन्म सन् १८८२ में हुआ। प्रारम्भिक समय भाव नगर राज्य के गठडा वाला

में बीता तथा उत्तर काल अहमदाबाद में बीता। इनकी शल्य कर्मों में कुशलता और उनमें प्रयुक्त यंत्र शस्त्रों के निर्माण को देखकर तिलक महाराज ने इनको अभिनव सुश्रुत की उपाधि दी थी। इन्होंने आयुर्वेद का पाठ्यक्रम बनाया और तदनुसार अपने घर पर जिज्ञासु विद्यार्थियों को आयुर्वेद पढ़ाना, कर्म दर्शन कराना, शास्त्र चर्चा देर रात तक करना -इनका प्रिय विषय था। आप कई भाषाओं के ज्ञाता और बहुश्रुत थे, फिर भी आयुर्वेद की सर्वोपरिता के आग्रही थे। केवल अंधानुकरण नहीं, किन्तु बुद्धि एवं युक्तिपूर्वक स्वानुभाव से यह सिद्ध कर रखा था। साम निराम के भेद, लंघन ही एक मात्र निरामता के निवारण का उपाय और हरीतकी रोग हरण शक्ति तथा सभी अवस्थाओं में निर्दोषता के प्रबल पुरस्कर्ता थे। लिंङ्ग नाश में सुश्रुतोक्त शस्त्र कर्म, रोपणार्थ गोघृत का उपयोग करते थे। शिरोरोग में नासा से रक्त विस्रावण करने के उनके विशिष्ट तरीके थे। बहुत से एलोपैथिक सर्जन भी इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। इनका निधन सन् १६५६ ई. में हुआ।

६. स्व. वैद्य जयकृष्ण इन्द्र जी : स्थान-कच्छ गुजरात

इनका कार्यक्षेत्र पोरबन्दर रियासत का बरदाहिल, कच्छ रियासत के मरू प्रदेश और बम्बई नगर था।

कृति-वनस्पति शास्त्र नामक विस्तृत ग्रन्थ (वनस्पतियों का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन करने वाला गुजराती भाषा में प्रथम ग्रन्थ) है। इस पुस्तक में इनकी प्रसिद्धि विद्वान् एवं वैज्ञानिक समाज में चिरस्थायी हो गई। इस विषय पर कार्य करने वाले भावी विद्वानों के लिए प्रेरणास्रोत बन गये।

२. बरदानी वनस्पतियों। ३. कच्छनी वनस्पतियों।

इनके शिष्यों में प्रमुख श्री बापालाल जी वैद्य, श्री गोकुल दास बामभाई तथा श्री वल्लभ राम भाई विश्वनाथ दवे प्रमुख हैं, जिन्होंने भी वनस्पतियो वनौषधियों पर ग्रन्थ लेखन किया।

७. स्व. वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य-सौराष्ट्र के पोरबन्दर नगर में (जो सुदामा पुरीनाम से तथा राष्ट्रपिता गांधी जी की जन्म भूमि के नाते प्रसिद्ध है।) पुष्करण ब्राह्मण जाति में पोरबन्दर रियासत के राज वैद्य परिवार में आपका जन्म हुआ।

आपने प्रारम्भिक शिक्षा गुजराती शिक्षा एवं संस्कृत शिक्षा के अनन्तर तक आयुर्वेद की शिक्षा आपने पोरबन्दर में प्राप्त कर बम्बई को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। साथ में जिज्ञासा बढ़ने पर यूनानी चिकित्सा के ज्ञान के लिये फारसी का ज्ञान भी उस्तादों द्वारा प्राप्त किया। आप हिन्दी और मराठी के अच्छे ज्ञाता थे; मधुकरी वृत्ति से हरेक से गुण ग्रहण करते थे। आप की दृष्टि विवेचक और तुलनात्मक रही।

वैद्यक का स्वतंत्र व्यवसाय करके सफल चिकित्सक के रूप में आपने अच्छी प्रतिष्ठा

प्राप्त की। आप सदैव प्रगति-शील विचार के रहे और व्यवसाय के साथ ही प्रयत्नपूर्वक सर्वदा शास्त्र चिन्तन, अध्यापन, शास्त्र-संशोधन, पर्यटन, वनस्पति परिचय एवं अनुभवों के आदान-प्रदान के लिये भारत के विभिन्न स्थानों के मूर्धन्य वैद्यों से सन्धाय सम्भाषा करने में सदा तत्पर रहते थे। लेखन, संशोधन प्रकाशन प्रभृति प्रेस के कार्य व्यवसाय के साथ-साथ उनका नित्य कर्म वन गया था।

भारत भर में वैद्य समाज का संगठन तथा राजकीय दृष्टि से जागृति लाने की विविध प्रवृत्तियों में आप नेतृत्व प्रदान करते रहे। नि.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन के तीन बार अध्यक्ष पद पर मनोनीत हुए। यह इनकी वैद्य समाज में लोकप्रियता, नेतृत्व एवं आदर का प्रमाण हैं।

आयुर्वेद के शिक्षा क्षेत्र में भी आप पितामह जैसा आदर पूर्ण सम्मान अर्जित कर चुके थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज तथा जामनगर के आयुर्वेद विद्यालय के प्रथम चिकित्सक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की आयुर्वेद फैकल्टी के डीन, वम्बई आयुर्वेद वोर्ड एवं फैकल्टी के सदस्य, चोपड़ा समिति के सदस्य, जामनगर आयुर्वेद सोसाइटी केन्द्रीय अनुसंधान संस्था तथा स्नातकोत्तर शिक्षण संस्थान के गवर्निङ्ग वाडी के सदस्य तथा कई प्रादेशिक सम्मेलनों के अध्यक्ष और प्रदेश वोर्डों एवं समितियों के मानद सदस्य या परामर्श दाता सदस्य थे।

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय ने सर्वप्रथम आयुर्वेद वाचस्पति मानद डाक्टरेट उपाधि देकर आपकी आयुर्वेद सेवा का उचित गौरव प्रदान किया था।

स्वयं परम्परा में शिक्षित होने पर भी आपने वर्तमान समय की मांग, शासन एवं समाज का वदला हुआ रूख और ढांचा देखकर तथा प्राचीन पद्धति में रही स्वाभाविक क्षतियों की प्रति जागरूक होकर विद्यालयों में आयुर्वेद शिक्षा, परीक्षा और साथ में संलग्न आतुरालयों, प्रयोगशालाओं में प्रायोगिक शिक्षा की व्यवस्था का आग्रह रख कर आयुर्वेद शिक्षा के आधुनिकीकरण तथा वोर्ड एवं फैकल्टी द्वारा आयुर्वेद व्यवसाय एवं शिक्षा को सुसंगठित एवं सुनियंत्रित वनाने में अग्रसर होकर योगदान किया।

कृति-निर्णस सागर प्रेस वम्वई द्वारा, संशोधित, शुद्ध पाठ एवं भाषा शुद्धि वाले, संस्कृत टीका वाले संहिता ग्रन्थों का प्रकाशन।

चरक संहिता - चक्रपाणि टीका समेत।

सुश्रुत संहिता - डल्हण तथा भानुमति टीका समेत।

माधव निदान - मधुकोश तथा आतंक दर्पण टीका समेत।

शार्ङ्गधर - आढ़मल्ल तथा काशीराम टीका समेत।

रसामृतम् - स्वयं संकलित एवं अनुभूत रस शास्त्र का ग्रन्थ। वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, पटना द्वारा प्रकाशित।

आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान - २ भागों में।

सिद्धयोग संग्रह - प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास।

आयुर्वेदीय द्रव्यगुण विज्ञान - ३ भागों में।

यूनानी द्रव्यगुण शास्त्र

इनके अतिरिक्त कुछ दुर्लभ अप्रकाशित ग्रन्थों का भी आपने "आयुर्वेद ग्रन्थ माला" के पुष्पों के रूप में मुद्रण, शोधन और प्रकाशन किया और विद्वानों में बिना मूल्य बांट कर प्रसारित किया। यथा

(क) रस कामधेनु १-३ खण्ड।

(ख) लौह सर्वस्व।

इस प्रकार आयुर्वेद के सर्वतोमुखी उद्धार कार्य में मूर्धन्य मनीषी का यादव जी का देहावसान सन् १९५६ ई. में हुआ।

८. स्व. वैद्य श्री शास्त्री जीवराम कालीदास व्यास-गोंडल (उत्तरावस्था में भुवनेश्वरी पीठ के अधिष्ठाता चरणतीर्थ जी महाराज) आप मध्य सौराष्ट्र में स्थित आर कोट तालुका के मेवासा ग्राम में गरीव परिवार में उत्पन्न हुए। वचपन में प्रारम्भिक शिक्षा के वाद घर से निकल गये और विद्या प्राप्त करने की लगन से संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। गिरनार में किसी सिद्ध योगी से रस क्रिया में रूचि पैदा हुई और रसौषध ा निर्माण में प्रवीण होकर गोंडल में रसशाला औषधाश्रम नामक फार्मेसी प्रारंभ की, साथ ही वैद्यक व्यवसाय भी चलाया। धन एवं यश अर्जन के साथ शास्त्र सेवा एवं आयुर्वेद प्रसार हेतु "आयुर्वेद रहस्यार्क" मासिक पत्रिका, रस ग्रंथ माला नामक ग्रन्थ प्रकाशन तथा दुर्लभ ग्रन्थों के संग्रह करने के लिए रसशाला ग्रन्थ भण्डार आदि अन्य प्रवृत्तियां भी शुरू कर दी। एतदर्थ अपना प्रिन्टिंग प्रेस भी चलाया।

व्यास जी ने गोंडल राजकोट प्रभृति देशी राज्यों में राजवैद्य की मान्यता सगौरव प्राप्त की। निखिल भारत वर्षीय महा-सम्मेलन के अध्यक्ष भी चुने गये थे। ज्योतिष, दर्शन और धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त तंत्र शास्त्र के भी आप गहन विद्वान थे। उत्तरावस्था में भुवनेश्वरी पीठ की स्थापना करके श्री चरण तीर्थ जी महाराज नाम धारण किया।

कृति-इन्होंने कई रस ग्रन्थों का उद्धार किया। जिनमें प्रमुख है-

१. रसप्रकाश, २. सुधाकर रस कामधेनु (चतुर्थ खण्ड), ३. रसेन्द्र मंगल, ४. रस रत्नाकर अन्तर्गत मंत्र-खण्ड।

चिकित्सा

१. आयुर्वेदोपचार पद्धति एवं रसोद्धार तंत्र।

२. भोज विरचित राजमार्तण्ड गुजराती अनुवाद सहित।

९. स्व. वैद्य श्री वासुदेव भाई मू. द्विवेदी-आप सौराष्ट्र के मोर ब्राह्मण जाति के हलवद में विद्या सम्पन्न घर में उत्पन्न हुए। युवावस्था में स्वतंत्रता आन्दोलन की हवा में बहकर विज्ञान की कालेज शिक्षा बीच में ही छोड़ दी और नागरिक स्वतंत्रता की लड़ाई में कूद पड़े। चिकित्सा व्यवसाय को स्वतंत्र अर्जन के लिये पसन्द किया। बड़ी लगन से आयुर्वेद एवं रसशास्त्र का गम्भीर अध्ययन एवं स्वयं कर्माभ्यास करके आत्म विश्वास उत्पन्न किया। साथ में वैज्ञानिक आधुनिक दृष्टि का भी समन्वय किया। ये संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी के बहुश्रुत विद्वान थे। प्रदेश वैद्य सभा के अग्रिम कार्यकर्ता रहे।

सौराष्ट्र की रियासतों के एकीकरण के बाद आप सौराष्ट्र राज्य में आयर्वुद के अलग डायरेक्टोरेट के प्रथम डायेक्टर हुए। इस पद पर रहते हुए आपने जन स्वास्थ्य सेवा के बहुविध उपक्रमों को अपना कर सुदूर के ग्रामीण अंचलों तक आयुर्वेद की औषधियों द्वारा अर्त-जन सेवा का कार्य सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र सौराष्ट्र बोर्ड आफ आयुर्वेद स्थापित कर आयुर्वेद की शिक्षा एवं व्यवसाय का नियंत्रण किया। आयुर्वेद विद्यालयों को उन्नत करके "आयुर्वेद विशारद" पाठ्यक्रम चलाया।

जामनगर केन्द्रीय आयुर्वेद संस्थान के गवर्निङ्ग बाडी के आप सदस्य थे और स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र में रसशास्त्र विभाग के प्रथम प्रोफेसर तथा फार्मेसी विभाग के अध्यक्ष थे। अपने कार्यकाल में पारद के संस्कार, अभ्रकसत्व पातन, रस बन्ध, पक्ष छिन्न पारद आदि जटिल क्रियाओं का आपने प्रथम प्रयोग और कर्म दर्शन कराया। "पारद विज्ञानीय" नाम से शोध पूर्ण ग्रन्थ यंत्रों और अभिलेखों का चित्रित रूप प्रकाशित कराया।

गुजरात राज्य की स्थापना के बाद आप पुनः गुजरात राज्य के डायरेक्टर पद पर नियुक्त हुए।

उत्तरावस्था में भी महर्षि महेश योगी के साथ सक्रिय रह कर आपने देश और विदेशों में विभिन्न स्थानों पर योग तथा आयुर्वेद के प्रतिष्ठानों की स्थापना की। वहां पर आयुर्वेद की शिक्षा एवं क्रियात्मक प्रयोगों का निदर्शन कर दिखाया। वाशिंगटन, स्विटजर लैण्ड (मेरू) प्रभृति विदेश के क्षेत्रों में आपने आयुर्वेद को प्रतिष्ठित करने में बहुत योगदान किया। ऋषिकेश में महर्षि आयुर्वेद प्रष्ठिान में भी आप अग्रणी रहे और अन्तिम साँस तक आयुर्वेद की सेवा में रहे।

इनके प्रति सम्मान और आदर भाव प्रदर्शनार्थ गुजरात आयुर्वेद विश्व विद्यालय ने तथा मेरू (स्विटजर लैण्ड) ने मानद डाक्टरेट उपाधि (डी. लिट.) से आपको विभूषित किया था। सन् १९८६ में आपका निधन हुआ।

१०. स्व. बापालाल भाई जी वैद्य, सूरत-वैष्णव कुल में उत्पन्न वैद्य बापालाल भाई वर्तमान वैद्य पीढ़ी के प्रगतिशील वैद्यों के अग्रदूत थे। आपने आयुर्वेद की शिक्षा विख्यात वैद्य स्व. अमृत लाल प्राण शंकर पट्टणी जी के घर पर जाकर ली एवं उनके प्रधान शिष्य

बने। इसी प्रकार वनस्पति शास्त्र और वन पर्यटन की शिक्षा गुजरात के सुविख्यात वनस्पति शास्त्री और वनौषधियों के ज्ञाता स्व. श्री जयकृष्ण भाई इन्द्र जी से प्राप्त की।

आप स्वातंत्र्य संग्राम में भी सक्रिय रहे और जेल वास भी किया। आप गांधी जी और महर्षि अरविंद के विचारों से प्रभावित रहे। गुजराती, अंग्रेजी, संस्कृत के अच्छे ज्ञाता एवं वहुश्रुत विद्वान थे। देश-भक्ति और भारतीय संस्कृति के पूजक थे। फिर भी पश्चिम के वैज्ञानिक विकास के स्वागत के लिये तत्पर रहते थे। फलतः आप खुले दिल और दिमाग वाले गुणग्राही व्यक्ति थे। गतानुगतिक न रहकर मार्मिक विवेचक, उद्‌भट लेखक, प्रयोगशील परीक्षाकारी वैद्य एवं स्पष्ट वक्ता थे। अच्छे चिकित्सक थे। नये लेखकों के प्रोत्साहक थे।

भरुच के पास झाडेश्वर में आपने वर्षों तक चिकित्सा व्यवसाय के साथ लेखक कार्य किया। "निघण्टु आदर्श २ भाग" कालिदास की वनस्पतियां जैसे ग्रंथ लिखकर साहित्य क्षेत्र में आदर प्राप्त किया। पाटन आयुर्वेद कालेज से भी आप का सम्बन्ध रहा।

सन् १६१६ ई. में सूरत में स्वामी आत्मानन्द सरस्वती स्थापित ओ. ना. आयुर्वेद विद्यालय के आप प्रथम अध्यक्ष और आयुर्वेद फार्मेसी के संचालक मण्डल में रहें। विद्यालय से "भिषग् भारती" नामक पत्रिका निकाली और उस के प्रधान सम्पादक के रूप में सम्पादकीय लेखों में चिन्तनपूर्ण सामग्री देते रहे। आयुर्वेद व्याख्यानमाला वृद्धत्रयी की वनस्पतियां, अभिनव कामशास्त्र, भारतीय रसशास्त्र आदि उच्चकोटि के अध्ययनपूर्ण एवं तुलनात्मक ग्रंथों का इस काल में सर्जन किया। लगभग ३५ ग्रंथों के आप लेखक थे, जिनमें चरक स्वाध्याय भाग १-२ आपकी अन्तिम रचना है।

गुजरात प्रदेश वैद्य मण्डल के अध्यक्ष, बम्बई आयुर्वेद फैकल्टी के सदस्य, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद के संकाय के सदस्य एवं डीन, बम्बई राज्य, अफीम, भांग, गाजा प्रति बाधक समिति के सदस्य, सेन्ट्रल कौन्सिल आफ रिसर्च इन आयुर्वेद के सूरत प्रोजेक्ट के प्रधान अनुसंधानकर्ता भी थे।

गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय ने. आपके दीर्घकालीन वहुमूल्य सरस्वती सेवा के उपलक्ष्य में आपको डी.लिट. उपाधि से सम्मानित किया था।

११. स्व. वैद्य रणजीत राय ना. देसाई, सूरत-वैद्य रणजीत देसाई का आयुर्वेद अध्ययन गुरुकुल, कांगड़ी हरिद्वार में हुआ था। वहां से "आयुर्वेदालङ्कार" उपाधि प्राप्त करने के बाद आप बम्बई में वैद्यराज यादव जी महाराज के अन्तेवासी बनकर कुछ समय तक रहे और उनके प्रिय शिष्य के रूप में स्थान प्राप्त किया। संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा में आपका प्रभुत्व अच्छा था। सूरत में ओ. ना. आयुर्वेद विद्यालय में प्रारम्भ से ही वाइस प्रिन्सिपल पद पर रहे और बापालाल जी की सेवा निवृत्ति के बाद वहां पर प्रधान आचार्य पद आसीन हुए। अध्ययन तथा अध्यापन काल में आपने शास्त्रों का गहरा अवगाहन किया

और अपनी सूक्ष्मालोचक दृष्टि से प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्याओं में तुलनात्मक अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप में "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" नामक वृहद् ग्रंथ की रचना की। इनका लेखन कार्य अविरत चलता रहा, जो सेवा निवृत्ति के बाद भी अन्तिम क्षण तक चला। इनके लेख अविच्छिन्न रूप में प्रतिमास "सचित्र आयुर्वेद" मासिक पत्र में आखिर तक प्रकाशित होते रहे। इसके अतिरिक्त गुजराती भाषा में भी कई अनुभव पूर्ण लेख विभिन्न पत्रिकाओं में आपने लिखा हैं।

आप वैद्य श्री रामनारायण ट्रस्ट द्वारा एक लाख का प्रथम पुरस्कार उत्तम ग्रन्थ लेखन के लिये प्राप्त करने वाले प्रथम गुजराती वैद्य थे।

कृति-"आयुर्वेद क्रियाशारीर", "आयुर्वेद पदार्थ विज्ञान", आयुर्वेदीय हितोपदेश और निदान चिकित्सा हस्तामलक" हिन्दी भाषा में लिखित ग्रन्थ विशेषतया उल्लेखनीय है। सर भगवान सिंह जी ठाकोर साहब गोण्डल, एफ.आर.सी.एम., एम.डी. डिलिट इत्यादि उपाधि विभूपित।

१. सन् १८६६ ई. से "एशार्ट हिस्ट्री आफ आयुवैदिक मेडिकल साइन्स" आयुर्वेद इतिहास का सर्वप्रथम लिखित ग्रंथ।
२. रस शाला गोण्डल की स्थापना में राज वैद्य जीवराम कालीदास व्यास को सहयोग और प्रोत्साहन।

१२. डा. प्राणजीवन एम. मेहता-जामनगर एम.डी. एम.एस., एफ.आर.सी. पी.एस. जामनगर राज्य के मुख्य चिकित्साधिकारी

आप स्वयं माडर्न ख्यातनाम डाक्टर थे। संस्कृत का ज्ञान न होने पर भी अपनी ज्ञान पिपासा से तथा विद्वातजनों के कुशल निदर्शन से आयुर्वेद संहिताओं तथा इतर साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। आयुर्वेद के प्रकाश से आलोकित होकर आयुर्वेद क्षेत्र में अनूठी सेवा प्रदान की। जामनगर आपका कार्यक्षेत्र रहा। वैद्यकीय सेवा में इन्होंने निम्नलिखित प्रशंसनीय कार्य किया।

१. चरक संहिता का प्रामाणिक नवीन संस्करण तथा उसका तीन भाषाओं में अनुवाद और छः विभागों में सम्पादन और प्रकाशन।
२. गुलाब कुंवर की आयुर्वेद सोसाइटी के संस्थापक सदस्य तथा महाराज जवान सिंह जल म्युजियम तथा पुस्तकालय के संस्थापक थे।
३. गुलाब कुंवरबा आयुर्वेद कालेज के डीन थे।
४. केन्द्रीय आयुर्वेद संस्थान के प्रथम डायरेक्टर थे।
५. इतिहास अनुसन्धान के विशेषज्ञ थे। चिकित्सा विज्ञान के इतिहास में आयुर्वेद का गौरवपूर्ण स्थान का निर्धारण किया।

६. शार्ङ्गधर फार्मेसी, जामनगर द्वारा आयुर्वेद औषधों का वैज्ञानिक ढंग से निर्माण और व्यापारिक ढंग से वितरण के संयोजक थे।

कृति

१. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त (गुजरात) प्रकाशक, गुजरात यूनिवर्सिटी अहमदाबाद, हिन्दी रूपान्तर, प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
२. आतुर परीक्षा विधान।
३. वैद्यकीय सुभाषितावली।
४. आयुर्वेदीय औषध निर्नाण शास्त्र।
५. आयुर्वेद में पाण्डुरोग (अंग्रेजी)।

१३. डा. सी.पी. शुक्ला – आप जामनगर में कायचिकित्सा के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष रहे। आयुर्वेद के अच्छे चिकित्सकों में आपकी गणना है।

आधुनिक वैद्यों में डॉ. हरिमोहन चन्दोला, डॉ. रामवाबू द्विवेदी एवं डॉ. माधव सिंह बघेल, का नाम उल्लेखनीय है। आप लोग आयुर्वेद विश्वविद्यालय जामनगर में योग्य चिकित्सक, सफल अध्यापक एवं जनप्रिय हैं।

विंशति अध्याय

काशी की वैद्य परम्परा

आयुर्वेद को शाश्वत शास्त्र कहा गया है। सृष्टि के पूर्व ही ब्रह्मा ने इसकी रचना की थी। अनादि काल से आज तक विश्व में, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में असंख्य आयुर्वेदज्ञ उत्पन्न हुए, रहे और प्रकृति को प्राप्त हो गये। आज उनकी स्मृति भी अवशिष्ट नहीं है। काशी भगवान धन्वतरि की कर्म भूमि, मुक्ति भूमि और ज्ञान की खान है। यहां अनगिनत आयुर्वेदज्ञ और चिकित्सक हुए होगे, जिनका हमें ज्ञान भी नहीं है। अस्तु १९वीं २०वी, शती को वर्तमान काल मानकर कुछ प्रसिद्ध वैद्यो की चर्चा करके संतोष करना पड़ रहा है। इनमें जिनकी स्मृतियां शेष है, कुछ वैद्यों का जीवनवृत्त सम्पूर्ण प्राप्त हो गया और शेष कुछ वैद्यों की खण्डित ही सूचना मिली। फलतः जो प्राप्त हुआ है उसी के आधार पर जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है।

गुरु परम्परा के आधार पर इस काल के वैद्यों को पांच भागों में बांटा जा सकता है:

१. पंचनदीय परम्परा।
२. महाराष्ट्रीय वैद्य परम्परा।
३. बंगीय वैद्य परम्परा।
४. क्षेत्रीय वैद्य परम्परा।
५. विश्वविद्यालयीय वैद्य परम्परा।

इसमे प्रथम सभावित श्री अर्जुन जी मिश्र से प्रारम्भ हुई थी। उन्होंने "आयुर्वेद विद्या प्रबोधिनी पाठशाला" स्थापित कर योग्य-योग्य शिष्यों आयुर्वेद स्नातकों को पैदा किया। इनमें प्रमुखतया उल्लेखनीय नाम निम्नलिखित है। यथा हरि प्रपन्न शर्मा, श्यामसुन्दराचार्य, कृष्णपति शास्त्री, आचार्य मौद्गल्य, तिलकराम ब्रह्मचारी, सत्यदेव वशिष्ठ, कैलाश नाथ जेतली, काशीनाथ शास्त्री, श्री लालचन्द्र वैद्य, श्री ताराशंकर वैद्य और ब्रह्मानन्द त्रिपाठी प्रभृति। श्री अर्जुन मिश्र वैद्य पंजाब रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण थे। अस्तु इस परम्परा का नाम पंजाबीया पचनदीय रखना उचित प्रतीत होता है। आज भी यह परम्परा आंशिक रूप से जीवित है।

दूसरी परम्परा महाराष्ट्रीय आयर्वेदज्ञों एवं उनके शिष्यों की थी। इनमे श्री अमृत शास्त्री, श्रीत्र्यम्बक शास्त्री, श्रीनिवास शास्त्री, श्री बलदेव जी वैद्य सुप्रसिद्ध चिकित्सक रत्न उत्पन्न हुए। आज यह परम्परा समाप्त हो गई है। इस परम्परा के स्थापक महाराष्ट्र के वैदिक ब्राह्मण ही थे।

तीसरी परम्परा बंगदेशीय वैद्य जातीय विद्वानों की थी। सभी लोग कविराज नाम से अपने को सम्बोधित करते थे। फलतः कविराज शब्द ही वैद्य का पर्यायवाची हो गया। इनकी शिष्य परम्परा में कई ब्राह्मण जातीय बंगाली वैद्य भी थे। बंगीय परम्परा ख्यात नाम वैद्य आचार्य कविराज धर्मदास जी थे। जिनके सर्वाधिक प्रिय शिष्य आचार्य कविराज पं. सत्यनारायण शास्त्री जी थे। आगे चलकर यह परम्परा विश्वविद्यालयीय परम्परा में विलीन हो गई।

चौथी, काशी में एक और परम्परा शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की थी, जिनका आयर्वेद क्षेत्र में एकाधिकार था, जिसमें श्री दमड़ी मिश्र जी, श्री रामानन्द मिश्र, श्री हरिहर नाथ मिश्र, श्रीनाथ मिश्र, रामकुमार, त्रिलोकी नाथ पाठक आदि प्रमुख रूप से थे। आयुर्वेद के साथ तंत्रविद्या, ज्योतिष और कर्मकाण्ड आदि के भी ये ज्ञाता होते थे। इनका आयुर्वेद ज्ञान प्रायः वंश परम्पराओं पर आधारित था।

पांचवी परम्परा का प्रारम्भ सन् १९२८ ई. से ही प्रारम्भ हो गया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना होने पर अधिकतर वैद्य यहीं के स्नातक होकर निकलने लगे। श्री कविराज धर्मदास शास्त्री जी इस आयुर्वेद विद्यालय के प्रथम अध यक्ष थे। इनकी शिष्य परम्परा के रूप में अनेक विद्वान वैद्य पैदा हुए। यथा श्री राजेश्वर दत्त शास्त्री, श्री दुर्गादत्त शास्त्री, श्री विश्वनाथ द्विवदी एवं श्री चन्द्रदत्त त्रिपाठी प्रभृति। आज विश्वविद्यालयीय परम्परा ही पूर्णतया जीवित है। शासन द्वारा भी विद्यालयीय परम्परा को मान्यता प्राप्त है।

वैद्य श्री अर्जुन मिश्र-वैद्य श्री अर्जुन मिश्र का जन्म वैशाख शुक्ल पक्ष पंचमी वि.सं. १९१० (सन् १८५३) में पंजाब प्रदेश के होशियारपुर जनपद बड़ीबसी ग्राम मे सारस्वत ब्राह्मण वंश में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री भानुदत्त मिश्र था। प्रारम्भिक शिक्षा उस प्रदेश में पूरी करके वे काशी चले आये। काशी में स्व. श्री बालदत्त शास्त्री से संस्कृत भाषा का ज्ञान अर्जित किया। तदनन्तर श्री दिला राम शास्त्री से आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया। पश्चात् आयुर्वेद चिकित्सा व्यवसाय में प्रतिष्ठित हुए। अल्प काल में ही अपने चिकित्सा कौशल के बल पर तत्कालीन महाराज काशी के राज वैद्य रूप में सम्मानित हो गये।

आपने १८९२ में "आयुर्वेद विद्या प्रबोधिनी" पाठशाला संस्थापित की। इस पाठशाला को "सोसाइटी रजिस्ट्रेशन ऐक्ट" १८६० के अनुसार १८ जनवरी सन् १९१७ को रजिस्टर्ड कराया। फिर सन् १९२२ में अपनी सारी चलाचल सम्पत्ति को इसी संस्था के नाम से वसीयत कर दी। इस प्रकार नियमित विद्यालयीय आयुर्वेद शिक्षा के प्रथम सार्थक एवं सक्रिय प्रवर्तक थे।

अपने युग में सिद्धि चिकित्सक होने के साथ ये आयुर्वेद शास्त्र के सुवोध पण्डित थे। वाग्भट के अच्छे विद्वानों में इनकी गणना होती थी। द्रव्यगुण सम्वन्धी एक आयुर्वेद अप्रकाशित ग्रन्थ के रचयिता भी थे। इनका अरिष्ट विज्ञान (शेषायु विषयक ज्ञान) की कई किंवदन्तियां आज भी प्रचलित हैं। आप के सिद्धेश्वरी (चौक वार्ड) स्थित मकान की गली का नामकरण वाराणसी नगर पलिका ने "श्री अर्जुन विद्यालय लेन" रखा है। "धर्म महामण्डल" नामक काशी की प्राचीन संस्था ने आपको "आयुर्वेद सिन्धु" की उपाधि से विभूषित किया था। आपका देहावासन वि.सं. १९७९ (सन् १९२२) को हुआ था।

श्री लालचन्द्र वैद्य - आयुर्वेद भारती के वरद पुत्र वैद्य श्री लाल चन्द्र शर्मा का जन्म ग्राम चरडिहां सिंह भगवन्तपुर, रोपडत्र, अम्बाला (पंजाब प्रदेश) में ७ मई १९०० को हुआ। उनके पिता पं. शिव चन्द्र थे और माता का नाम लक्ष्मी देवी था। जन्म भूमि में प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् सन् १९२६ में वाराणसी आये।

काशी में श्री वैद्यराज अर्जुन मिश्र एवं उनके शिष्य श्री विष्णुदत्त शर्मा वैद्य से आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन "आयुर्वेद विद्या प्रबोधिनी पाठशाला" (श्री अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, सिद्धेश्वरी) में किया। फिर इसी विद्यालय के चिकित्सालय में चिकित्सक पद पर कार्य करने लगे। पुनः कुछ समय के बाद विद्यालय के प्रधानाचार्य पद को अलंकृत किया। प्रधानाचार्य पद पर सन् १९२२ से १९५५ तक विराजमान रहे। इस काल में उन्होंने अनगिनत विद्वान् एवं प्रखर वैद्य विद्या पारंगत शिष्यों को तैयार किया। इनकी मातृ भाषा पंजावी होते हुए भी संस्कृत और हिन्दी भाषा पर भी समान रूप से अधिकार था। दिसम्वर सन् १९५६ में "अर्जुन दर्शनानन्द आयुर्वेद विद्यालय" की स्थापना हुई तब वे इस विद्यालय के उप-प्रधानाचार्य हुए। पुनः वे काशी छोड़कर झांसी चले गये और बुन्देलखंड आयुर्वेद महाविद्यालय झांसी के वरिष्ठ प्राध्यपक नियुक्त हुए। वहीं पर विद्यालय की सेवा करते १० मई सन् १९६८ को आकस्मिक देहावसान हो गया। इसी शोक में दस दिनों के अनन्तर उनकी पत्नी श्रीमती कीर्ति देवी भी दिवंगत हो गई।

विद्वान् एवं कुशल चिकित्सक के नाते काशी में इनका प्रचुर सम्मान था। आयुर्वेद की लघुत्रयी भी (माधव निदान, शार्ङ्गधर संहिता एवं मदन विनोद (मध्यत्रयी) चक्रदत्त, रसेन्द्रसार संग्रह एवं भाव प्रकाश) तथा वृहत्रयी (चरक, सुश्रुत एवं अष्टाङ्ग हृदय) पर आपका प्रवल अधिकार था। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भाव-प्रकाश, शार्ङ्गधर संहिता, माधव निदान तथा आयुर्वेद परिभाषा की अपने हिन्दी टीका लिखी। काशी में इनकी शिष्य परम्परा में वैद्य ताराशंकर मिश्र (काशी वैद्य परम्परा नामक इस स्तंभ के लेखक), स्व. श्री कैलाशनाथ जेटली (नाड़ी विशेषज्ञ), श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (चरक संहिता के हिन्दी टीकाकार) आदि प्रसिद्ध हैं।

श्री विष्णुदत्त शर्मा वैद्य - वैद्य श्री विष्णुदत्त शर्मा का जन्म २० मार्च सन् १६०६ में ग्राम मनौली, रोपड़ (पंजाव) में हुआ था। इनके पिता श्री शिवशरण शर्मा वैद्य थे। आपने आयुर्वेद का अध्ययन अपने अग्रज मूर चंद्र मिश्र एवं पिता जी से किया था। "आयुर्वेद विद्या प्रबोधिनी" काशी में प्रधानाध्यापक पद पर बहुत दिनों तक सेवा करते रहे। चिकित्सा व्यवसाय क्षेत्र में भी इनके चिकित्सा कौशल की धाक थी। नगर की धनी और सम्पन्न आवादी नन्दन साहु मुहल्ला में इनका निवास स्थान आज भी विद्यमान है। इनको रसौषधियों के निर्माण की विशेषज्ञता थी। इस ज्ञान का अर्जन करने के लिये वैद्य स्वामी विवेकानन्द (काशी) को गुरु बनाया था, जो उस काल में रसयोगों के निर्माण करने में पारंगत थे।

स्व. श्री शर्मा जी का एक योग आठो प्रकार के उदर रोगो में लाभप्रद सिद्ध होता था। इसी का वे अधिक व्यवहार करते थे। इस योग का प्रयोग वे "अष्टमंगल रस" नाम से करते थे। इसमें शुद्ध गंधक, शुद्ध कुपीलु, बड़ी हरड़, अकरकरा, भुनीहींग, भुना स्याहजीरा और सेंधा नमक (प्रत्येक बरावर) चूर्ण बनाकर पानी से बड़ी मटर के बरावर गोली बनाकर यथावश्यक उष्ण जल से सेवन का विधान करते थे। आपका निधन २१ मई सन् १६६८ मे काशी में ही हुआ।

श्री पुरुषोत्तम उपाध्याय-श्री पुरुषोत्तम उपाध्याय का जन्म कवीर चौरा वाराणसी में वि.स. १६६१ (सन् १६०५) में श्री दीनानाथ उपाध्याय की धर्मपत्नी श्रीमती रूपवती देवी कुक्षि से हुआ था।

सुप्रसिद्ध शिक्षा शस्त्री श्री अर्जुन जी मिश्र से आपने आयुर्वेद का अध्ययन किया। शास्त्र के सतत चिन्तन से अष्टांङ्ग हृदय ग्रन्थ के प्रकाण्ड विद्वान हो गये। इनके बारे में उस काल के वैद्यों में प्रसिद्धि थी, उनको सम्पूर्ण वाग्भट आद्योपान्त कण्ठस्थ है। इस योग्यता के आधार पर आप काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी के आयुर्वेद विभाग में अध्यापक हुए। वहां पर द्रव्य-गुण-विज्ञान विषय का अध्ययन कराते रहे। वे विना पुस्तक देखे ही भाव-प्रकाश द्रव्यगुण पढ़ाते थे। विश्व विद्यालय की सेवा ने निवृत्त होने के पश्चात् लगभग दस वर्ष तक दर्शनानन्द आयुर्वेद विद्यालय कबीर चौरा, वाराणसी में भी अध्यापन का कार्य किया था। इनकी शिष्य परम्परा में आज भी बहुत से आयुर्वेदज्ञ जीवित है। इनका देहान्त पचासी वर्ष की आयु में आषाढ़ कृष्ण २ वि.सं. २०४६ (सन् १६६०) वाराणसी में हुआ।

श्री बालगोविन्द मिश्र-श्री बालगोविन्द मिश्र का जन्म मिर्जापुर जनपद के किसी ग्राम में हुआ था। आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन आपने श्री अर्जुन जी मिश्र से किया था। रस-योगों का प्रयोग अपनी चिकित्सा में नहीं करते थे। वे उनके विचार से रसौषधियों में दूषी-विष प्रभाव रोगियों में होने की आशंका इनको बनी रहती थी। अस्तु वे केवल काष्ठौधियों के योग से चिकित्सा में निपुण थे। चरक संहिता के उच्च केटि के विद्वान थे।

काशी के "जोसीमल मटरूमल गोयनका संस्कृत महाविद्यालय" ललिता घाट में आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष थे।

आयुर्वेद के अतिरिक्त भूगोल शास्त्र पर इनका गहन अध्ययन था। विश्व और प्राचीन भारत के भूगोल का अध्ययन करके उन्होंने एक मानचित्र (एट्लस) भी बनाया था। उसके आधार पर पौराणिक भूगोल विद्या की व्याख्या करते थे। आपने प्राचीन भूगोल पर एक उत्तम कोटि की पुस्तक की रचना की है, जो अभी प्रकाशित है। उसमें अद्भुत प्रामाणिक तथ्य उल्लिखित है। काशी के वैद्यों में "भूगोल वैद्य" नाम से इनकी प्रसिद्धि थी। ज्ञानवापी की पूर्वी सीढ़ी पर आप रहते थे और काष्ठौधियों द्वारा रोगियों की सेवा करते थे।

श्री राधाकृष्ण शर्मा - वैद्य श्री राधा कृष्ण शर्मा का जन्म सन् १८८४ में श्री कन्हैया लाल जी व्यास की धर्मपत्नी की कुक्षि से चित्रांटा गली काशी में हुआ था। आपने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन श्री अर्जुन जी मिश्र से किया था।

वैद्य राधाकृष्ण शर्मा रस विद्या के कुशल ज्ञाता थे। ज्ञानवापी पर सुप्रसिद्ध काशी रस शाला की स्थापना १६११ में आपने की थी। रसौषधियों के निर्माण हेतु धूपचण्डी (जैतपुरा वार्ड) में निजी विशाल क्षेत्र में निर्माणशाला बनाई थी। इस शाला में इनको तलस्थ चंद्रोदय बनाने में सफलता मिली थी। तलस्थ चंद्रोदय का निर्माण आज के युग में दुर्लभ गुण हैं, आपने एक "फार्माकोपिया" अपने औषधालय के लिए बनाई थी, जिसमें रोग, प्रमुख लक्षण, औषध, अनुपात तथा पथ्य व्यवस्था की योजना की गई थी। तत्कालीन महाराजा काशी नरेश द्वारा विशेष सम्मान इनको प्राप्त था। कई वैद्य सम्मेलनों में इनकी रसौषध निर्माण कला पर स्वर्ण पदक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुआ था। काशी रसशाला की आपकी गद्दी पर समन्वय प्रणाली के मूर्धन्य चिकित्सक कविराज श्री ब्रजमोहन दीक्षित विराजमान थे। आपका निधन सन् १६३३ में काशी में हो गया। उस समय उनका वय उनतालिस वर्ष का था।

श्री कृष्णपाल शास्त्री - श्री कृष्णपाल शास्त्री का जन्म होशियारपुर जिले में पंजाब प्रदेश में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा स्थानीय विद्यालयों में पंजाब में ही हुई थी। पश्चात् काशी में आकर आयुर्वेद का अध्ययन श्री अर्जुन जी वैद्य के आचार्यत्त्व में ही पूर्ण किया। आगे चलकर काशी ही इनका कार्यक्षेत्र बनी। काशी में ही अन्तिम समय तक रहे। काशी में वांस फाटक में उनका निवास स्थान था।

शास्त्री जी सिद्ध रस वैद्य थे। अव तक के ज्ञात रस वैद्यों में "नागार्जुन" के बाद यदि कोई रस शास्त्र का वास्तविक वेत्ता हुआ तो वह सिद्ध रस वैद्य श्री कृष्ण पाल शर्मा ही हुए। नागार्जुन रस सिद्ध की प्रसिद्धि है कि वह कहा करते थे कि "सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्रयमिदं जगत्" जिसे श्री कृष्ण पाल जी ने करके प्रत्यक्ष दिखा दिया था। लौह सिद्धि कम कीमत की धातुओं से अति मूल्यवान धातु सुवर्ण का निर्माण। यह सुवर्ण बनाने की प्रक्रिया का कई बार उन्होंने प्रदर्शन बहुतों के सामने किया था।

इनका महत्त्वपूर्ण कार्य अठारह सेर (लगभग एक किलो) सुवर्ण बनाने का था, जिसका उल्लेख नई दिल्ली स्थित बिड़ला लक्ष्मी नारायण मन्दिर की यज्ञशाला तथा काशी हिन्दू विश्व विद्यालय स्थित श्री विश्वनाथ मन्दिर के ऊपरी खण्ड में पूर्व की ओर शिलापट्ट पर अंकित है।

"काशी के श्री कृष्णपाल शास्त्री ने अठारह सेर (लगभग एक किलो) पारा से विशिष्ट लोगों के सम्मुख सोना बनाया, जो बिड़ला ट्रस्ट को दे दिया गया।" यह शास्त्री जी का प्रत्यक्ष चमत्कार ही था।

पारा से चांदी भी बनती है। आयुर्वेद के इन चमत्कारों को श्री शास्त्री जी ने इस स्तंभ के लेखक (श्री ताराशंकर वैद्य) के हाथों से कई बार बनवाया है। इस प्रक्रिया में एक मुख्य द्रव्य (सुवर्ण या रजत बीज) उसे नहीं प्राप्त हो सका। ऐसा वर्णन उत्तर प्रदेश सूचना विभाग की पत्रिका के काशी विशेषांक के परिशिष्ट में एवं "धर्मयुग" के किसी दीपावली विशेषांक में भी प्रकाशित हो चुका है। इनका निधन काशी में ही हुआ।

श्री श्यामसुन्दराचार्य वैश्य–श्री श्याम सुन्दराचार्य जी का जन्म वि.सं. भाद्र शुक्ल १४ १९२८ (सन् १८७२) में भरतपुर राज्य में काम बन में हुआ था। इनके पिता का नाम नन्द किशोर जी था। आपने आयुर्वेद विद्या का अभ्यास श्री अर्जुन जी वैद्य से काशी में ही किया था। रस-शास्त्र के अध्ययन एवं क्रियात्मक प्रयोगो में विशेष अभिरूचि थी। कई दशकों तक सहस्रों रुपये का व्यय करते हुए रसौषधियों के सविधि निर्माण में पारंगत हो गये। कई नये रसौषधियोगों की कल्पना की थी। आज से पचास साठ वर्ष पूर्व अपने क्रियात्मक प्रयोगों के आधार पर रस-शास्त्र पर एक अत्युत्तम ग्रन्थ "रसायन-सार" लिखकर प्रकाशित कराया, जो आज भी बहुत प्रचलित है। इनकी लिखी कई अन्य रचनायें यथा अनुपान विधि एवं अनुभूत योग भी प्रकाशित हैं। आपने गाय घाट में "श्यामसुन्दर रसायन शाला" स्थापित कर बहुत से आर्त जनों की सेवा की। साथ ही लोकोपयोगी सरल भाषा में लगभग ५६ आयुर्वेद ग्रन्थों का प्रकाशन किया। रस तंत्र में उपयोगी बहुकर्मोपयोगी अल्प व्यय साध्य सर्वार्ध सिद्धिकरी भ्राष्टी (भट्टी) की भी खोज की थी। आपका देहावसान २६ मई सन् १९१८ को हो गया।

आपके उत्तराधिकारी आपके दौहित्र श्री उम्मेटी लाल वैश्य ने बड़ी कुशलता से कार्य को बढ़ाया। अपने जीवन काल में औषध निर्माण कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया और छोटी मोटी ३६ पुस्तकों का प्रणयन किया। ७६ वर्ष की आयु में इनका भी देहावसान हो गया।

श्री कृष्णचन्द्र शर्मा वैद्य – श्री कृष्ण चन्द्र शर्मा का जन्म शेखबस्ती, जलंधर (पंजाब प्रदेश) सन् १८८७ में श्री जमीताराम शर्मा की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था। पन्द्रह वर्ष की आयु में काशी आये। सन् १९०४ में पंजाब से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण किया। आयुर्वेद

अध्ययन आपने कलकत्ते के प्रसिद्ध कविराज श्यामादास धर्मदास से किया। मंगल प्रसाद "सैनेटोरियम" में आप आयुर्वेद चिकित्सा विभाग के अध्यक्ष थे। सप्ताह में दो दिन के लिए वाराणसी से बारह मील दूर चौबेपुर ग्राम में जाकर निःशुल्क सेवा भी वहां के रोगियों की करते थे।

समाज सेवा में इनकी लगन क्रमशः बढ़ती गई और भारत के स्वातंत्रता युद्ध में आपने प्रखर रूप से भाग लेना शुरू कर दिया। सन् १६३० में विदेशी वस्त्रों एवं शराब की दुकानों पर शासन के विरोध में धरना दिया। १६४१ में स्वयं सत्याग्रह में जेल में रहे। श्री सम्पूर्णानन्द जी और श्री प्रकाश जी के बाद आप बनारस जिले के स्वातंत्रता युद्ध के डिक्टेटर थे। बड़े त्यागी, स्पष्टवादी, परोपकार-परायण एवं कुशल व्यक्तित्व के धनी वैद्य थे। सन् १६२२ की प्रथम जेल यात्रा में "सेन्ट्रल जेल" श्री मोतीलाल, श्री जवाहर लाल नेहरू एवं आचार्य कृपलानी आदि उनके साथी थे।

इनका देहावसान १७ दिस्म्बर सन् १६४६ को बलरामपुर अस्पताल लखनऊ में हुआ।

श्री छन्नू जी (पग्गड़ वाले) वैद्य-श्री छन्नू जी वैद्य फाल्गुन कृष्ण ४ सं. १६१८ (सन् १८६२) में फतेहपुर जिले के हिथरूआ ग्राम (उ.प्र.) में हुआ। इनके पिता का नाम जीवराखन लाल था। ये पंजाब प्रदेश के वैद्य श्री दिलाराम जी के शिष्य और अर्जुन मिश्र के सहपाठी थे। श्री छन्नू लाल अपने काल के अति प्रसिद्ध यशस्वी वैद्य थे। प्लेग रोग के तत्कालीन विशेषज्ञ चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध थे। श्री छन्नू लाल जी बुलानाला पर कानपुर वाली धर्मशाला के पूर्व एवं उत्तर में निवास करते थे, वहीं पर उनका औषधालय भी था। इनका निधन अपने आवास पर धन्वन्तरि त्रयोदशी सं. १६८३ (सन् १६२७) हुआ।

श्री हनुमान शर्मा-श्री हुनमान शर्मा का जन्म बुलानाला, वाराणसी में सन् १६१६ में हुआ था। आप श्री छन्नू जी (पग्गड़ वाले) वैद्य के दौहित्र थे। कुशल वैद्य होने के साथ ही साहित्यिक भी थे। इन्होंने कई रचनाएं आयुवेदेतर विषयों की अपने कार्यकाल में प्रस्तुत की है। इनके पिता का नाम श्री अम्बिका प्रसाद दीक्षित था।

श्री हनुमान प्रसाद शर्मा ने आयुर्वेद की सांगोपाङ्ग शिक्षा अपने मातामह श्री छन्नू जी वैद्य से ग्रहण की थी। आपने "जीवन रक्षा", "सुखी गृहिणी", "आहार विज्ञान" तथा "पुष्प विज्ञान" नामक पुस्तकों की रचना की। साहित्यिक कार्यों में "मीना बाजार" नामक एक निजी कहानियों का संग्रह भी प्रकाशित किया था।

आपने महाशक्ति नामक प्रेस भी अपने घर बुलानाला में स्थापित किया था। सन् १६३६ में "आयुर्वेद महासम्मेलन" के निर्णयानुसार आप सम्मेलन के संयुक्त मंत्री भी थे। आपके ही प्रेस से आयुर्वेद का प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ "आयुर्वेद महामण्डल" का रजत

जयन्ती ग्रन्थ दो भागों में मुद्रित हुआ था।

वैद्य श्री हनुमान जी की गद्दी पर उनके मित्र श्री नागेश्वर मिश्र "भारती" जी विराजमान हुए। अपने काल में यह एक सुप्रसिद्ध वैद्य थे।

श्री मदनगोपाल शर्मा – श्री शर्मा का जन्म सहारनपुर (उ.प्र.) में श्री अयोध्या प्रसाद शर्मा वैद्य की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८६० में हुआ था। धर्म सम्राट् स्वामी कारपात्री जी के सभी कार्यों में हाथ बटाते थे। स्वामी के दोनों पत्र "सन्मार्ग" एवं "सिद्धान्त" के सम्पादक मण्डल में इनका प्रमुख योगदान रहता था। "धर्म शिक्षा मण्डल" और राम राज्य परिषद के भी प्रवन्धक थे। सन् १६४२ में कारपात्री जी के सुप्रसिद्ध विराट यज्ञ में पूरे कार्यालय को संभाला था। टेढ़ीनीम स्थित "ब्राह्मी भण्डार" द्वारा जनता की अच्छी चिकित्सकीय सेवा करते थे।

आपने "नपुंसकत्व" और "भावी भारत" नामक दो पुस्तकें लिखी थी। इसमें प्रथम वैद्यक से और दूसरी फलित ज्योतिष सम्बद्ध थी। इनके औषधालयों का संचालन सम्प्रति वैद्य राम जी लाल पाण्डेय, सम्पादक "सुधामृत" कर रहे है।

श्री शिवविनायक मिश्र – (बकरिया बाबा) सन् १८८७-१६७० आपका जन्म श्री बाल गोविन्द मिश्र के पुत्र के रूप में हुआ था। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद के फूफा लगते थे। सन् १६२१ से स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद गये। सन् १६३० से वाराणसी में सत्याग्रह के चतुर्थ डिक्टेटर बने। वाराणसी "कांग्रेस" एवं प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य रहे। स्वतंत्रता आन्दोलन में इनका एक प्रेस था, वह भी जुर्माना वसूलने के लिये नीलाम कर दिय गया। काशी के प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी होने के नाते सुप्रसिद्ध राष्ट्रसेवी श्री शिव प्रसाद गुप्त, श्री सम्पूर्णानन्द, श्रीप्रकाश जी, श्री कमलापति त्रिपाठी के घनिष्ट मित्रों में थे। कई बार जेल गये। कारागार से छूटने के बाद लंका पर श्री शिव प्रसाद गुप्त जी के प्रदत्त मकान में रहते थे। वहीं पर उनको राजयक्ष्मा रोग हो गया। वैद्यों की सलाह से बकरीमय बन गये। चक्रदत्त ने लिखा हैः-

छाग मांसं पयः छागं छागं सर्पिः सशर्करम्।
छागोपसेवा शयनं छाग मध्येतुय क्ष्मनुत्।।

५-७ बकरियां घर पर बांध रखी थी। इन्ही का दूध पीते, उन्हीं में रहते हुए सेवा करते थे। वैद्यक ग्रन्थों का स्वाध्याय करते नीरोग हो गये और स्वयं भी वैद्य बन गये। पश्चात् जनता जनार्दन की आयुर्वेदीय औषध योगों से निःशुल्क सेवा करते हुए यशस्वी वैद्य हो गये। "काशी मण्डल वैद्य सभा" के जीवन पर्यन्त उत्कृष्ट और कट्टर नेता रहे।

नगरपालिका वाराणसी ने इनके सम्मान में खोजवा में इनके घर के सामने वाले मार्ग का नाम "शिव विनायक मिश्र" मार्ग रखा है। कबीर चौरा स्थित राजकीय अस्पताल "किङ

एडवर्ड अस्पताल" का नाम बदल कर श्री शिव प्रसाद गुप्त अस्पताल आपने ही शासन से रखवाया था। लहुराबीर चौराहे पर चन्द्र शेखर आजाद की भव्य मूर्ति की स्थापना भी आप के ही सत्प्रयासों का फल है।

श्री रघुनन्दन भट्ट (रघु जी वैद्य)-काशी के सुड़िया मुहल्ले में स्थित सुप्रसद्धि वैद्य परिवार में रघुनन्दन भट्ट का जन्म वि. सं. १६४३ (सन् १८८७) में हुआ था। इनके पिता जी का नाम श्री कन्हैया लाल दीक्षित था। अपने युग में अति लोकप्रिय वैद्य थे। औषधों का स्वतः निर्माण करते थे और रसौषधियों का विशेष रूप से प्रयोग करते थे। इनका निधन वि.सं. १६८५ (सन् १६२६) हो गया।

श्री बाबूनन्दन भट्ट वैद्य - मुहल्ला सुड़िया वाराणसी का वैद्य परिवार आयुर्वेदीय चिकित्सा के लिये उन्नीसवीं शती से काशी में बड़ी श्रद्धा से देखा जाता है। इसी परम्परा में वैद्यराज श्री कन्हैयालाल जी दीक्षित की तनुजा कुक्षि से वैद्य श्री बाबूनन्दन जी का जन्म सन् १८८१ में उसी मुहल्ले में हुआ था। आपने आयुर्वेद शास्त्र की सांङ्गोपाङ्ग शिक्षा अपने नाना "श्री दीक्षित" जी से ग्रहण किया। इनकी क्रिया कुशलता की प्रसिद्धि आज भी लोक में है।

श्री रमाशंकर भट्ट वैद्य-पूज्य पाद महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी के जामाता एवं सुप्रसिद्ध वैद्य श्री शिव कुमार शास्त्री के पूज्य पिता श्री रमाशंकर जी भट्ट वैद्य अपने समय के सुप्रसिद्ध वैद्यों में थे। अपने जीवन काल में इन्होंने सुड़िया मुहल्ले में भव्य विशाल एवं वैभव सम्पन्न धन्वन्तरि भवन बनाया। इस भवन में भगवान धन्वन्तरि की मूर्ति क़ी प्रतिष्ठापना की। अपने जीवन में प्रति वर्ष धन्वन्तरि जयन्ती उत्सव करते थे। आज भी उस परम्परा का निर्वाह उनके पुत्र रत्न श्री शिव कुमार जी करते हैं। इनके यहां आज भी उच्च कोटि के खरल जिनमें रसों की पिष्टि बनाई जाती है, विद्यमान हैं।

आयुर्वेद सम्मेलन के रजत जयन्ती ग्रन्थ में सुशोभित श्री धन्वन्तरि जी के चित्र का आधार इन्ही की धन्वन्तरि मूर्ति का है। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेद शास्त्र चार्य परीक्षा उत्तीर्ण की एवं कविराज "धर्मदास" जी महाराज का शिष्यत्व स्वीकार किया था।

आपके योगों में "त्रैलोक्य चिन्तामणि रस" का प्रयोग जिनमें हीरक (वज्र भस्म) पड़ा है। दुर्लभ एवं अनुपम योग है, जो आज भी विद्यमान है। आप भारतीय चिकित्सा परिषद (उ.प्र.) के सदस्य थे। इनके परिवार में वैद्य परम्परा कई पीढ़ी तक चल रही है। आपके पिता श्री बाबूनन्दन जी भट्ट थे, जो अपने काल के यशस्वी वैद्य थे। श्री रमाशंकर भट्ट का निधन ३१.७.१६५६ को काशी में हो गया।

श्री बद्रीनाथ सारस्वत - आप का जन्म सन् १६६४ ई. में मथुरा प्रसाद जी की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ। आप का निवास काशी के जतनवर मुहल्ले में था। आपने व्याकरणादि महामहोपाध्याय गंगाधर शस्त्री और आयुर्वेद का अध्ययन श्री त्रयम्बक शास्त्री

के पिता श्री अमृत शास्त्री से किया था। आप आयुर्वेद के उद्भट्ट विद्वान थे। घर पर नित्य ५०-६० विद्यार्थियों को आयुर्वेद पढ़ाते थे। काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में कई बार परीक्षक नियुक्त हुए थे। निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के अध्यक्ष भी हुए थे। स्वनिर्मित औषधियों का उत्तम भण्डार आपके पास था। पर्पटी कल्प चिकित्सा के पूर्ण ज्ञाता थे। आपका निधन भाद्र शुक्ल ६ संवत् १९९७ (सन् १९५३) में हुआ।

चंद्रशेखर धर मिश्र वैद्य (गूलर वैद्य) - श्री चंद्रशेखर मिश्र का जन्म ग्राम रत्न माला डा. बगहा जिला चम्पारन (विहार) में हुआ था। बिहार में सन् १९५५ में "चन्द्रोदय औषध ाालय" की स्थापना कर जनता जनार्दन की सेवा और आयुर्वेद साहित्य सृजन का कार्य किया था। श्री मिश्र जी का गूलर (उदुम्बर) पर विशेप अध्ययन एवं शोध किया था। रोगियों की चिकित्सा में गूलर को भिन्न-भिन्न रोगों में उसके विविध कल्पनाये करके उपयोग में लाते थे। इनकी मान्यता थी कि गूलर का पौधा स्वयं में एक औषधालय है, प्रत्येक गांव में इस वनस्पति की विद्यमानता आवश्यक है। "गूलर गुण प्रकाश" नामक एक पुस्तक इन्होंने लिखी थी। इसमें "उदुम्बर सार" नामक एक योग का वर्णन पाया जाता है, जिसका वहुलता से प्रयोग आज चिकित्सकों मे हो रहा है। गूलर पर अधिक कार्य करने से समाज में इनको गूलर वैद्य या "गूलराचार्य" की संज्ञा प्राप्त हो गई थी।

आप विहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सन् १९२४ में सभापति थे। सन् १९४० में "विद्याधर्म वर्धिनी सभा" की स्थापना की थी। तत्कालीन महाराज दरभंगा के दरबार में "विजयते सकलः सकलोजनः" समस्या की श्रेष्ठतम पूर्ति के लिये आपको बड़ा राज सम्मान प्राप्त हुआ था। समस्या की पूर्ति निम्न प्रकार वैद्य जी ने की थीः-

न समयं समय त्रय जहाति यः समुहितेन हितेन समन्वितः।
परमधारमया समलङ्कृतो विजयते सकलः   सकलोजनः।।

कलकत्ते में पूज्य महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी की अध्यक्षता में सम्पन्न आयुर्वेद सम्मेलन में कविराज श्री गणनाथ सेन द्वारा आपको सम्मान पद दिया गया था।

अपने आयुष्य के ७५वें वर्ष में काशीवास करने के लिए वे लोलार्क कुण्ड काशी में रहने लगे थे एवं जीवन के अन्तिम काल तक यहीं रहे।

श्री शिवमूर्ति जी - आपका जन्म ग्राम धौरहरा, गौरा बादशाहपुर जिला जौनपुर में सन् १८९७ ई. में हुआ था। उनके पिता का नाम कोदई पाण्डे और माता का नाम पूजा देवी था। सन् १९१८ में आप वाराणसी आये और मृत्युंजय महादेव के पास "मृत्युंजय औषधालय" संचालित किया। नवापुरा (कोतवाल वार्ड) में निजी मकान बनाकर उसमें औपधालय की नवीन शाखा स्थापित की। सन् १९७७ में आपका देहान्त हो गया। अब आपके सुपुत्र श्री हृदय नारायण शर्मा वैद्य इसका संचालन कर रहे है।

श्री मल्लिक नाथ जेतली-आपका जन्म वैशाख कृष्ण वि.सं. १६०६ (ई. सं. १८५०) में लखनऊ में हुआ था। आपके पितामह श्री रामकृष्ण जेतली एवं पिता श्री जगन्नाथ जेतली व्याकरण तथा आयुर्वेद के उत्तम विद्वान थे। इन्हीं दोनों से आपने व्याकरण एवं आयुर्वेद की शिक्षा ली। १६ वर्ष के वय में लखनऊ में वैद्यक करना प्रारंभ किया। एक वर्ष के बाद कलकत्ता चले गये। ३० वर्ष तक वहां पर आयुर्वेद की ध्वजा पहराने के पश्चात् अपने अग्रज श्री कल्लीनाथ वैद्य के आग्रह पर पुनः लखनऊ आ गये। यहां पर आप नवाब वाजिद अली के वैद्य थे।

सन् १६०८ ई. में अपने पुत्र श्री व्रजभूषण लाल जेतली के साथ लखनऊ से काशी में आ गये। काशी में "राम मन्दिर" बनवाया। आप ग्रहणी रोग की चिकित्सा में "पर्पटी कल्प" के धुरन्धर ज्ञाता थे। आपका निधन सन् १६३६ ई. में काशी में हो गया।

आपके पौत्र श्री राम जी जेतली काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के आयुर्वेद स्नातक थे और "वल्लभ राम शालीग्राम चिकित्सालय, गायघाट वाराणसी के चिकित्सक थे। श्री रामजी का जन्म ५.१२.१६२७ को एवं निधन २.८.६१ को हुआ।

कविराज विश्वनाथ सेन - भारत प्रसिद्ध वैद्य कविराज गणनाथ सेन के पिता श्री विश्वनाथ सेन काशी नरेश के वैद्य एवं काशी के ही निवासी थे। कविराज विश्वनाथ सेन का जन्म वर्दवान जिला के श्री खण्ड गांव (पं. बंगाल) में कविराज कुन्जविहारी सेन (जो कलकत्ता मेडिकल कालेज के.जी.एम.सी.बी. उपधि प्राप्त कर सरकारी डाक्टर थे और भूटान युद्ध में सेना के डाक्टर की हैसियत से उत्तम सेवा करने के कारण राजद्वारा सम्मानित थे) की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८५२ ई. में हुआ था। आपने "रसरत्न समुच्चय" नाम ग्रन्थ की टीका लिखी थी। आपने अपने पिता के ज्येष्ठ भ्राता कविराज योगेश्वर से आयुर्वेद पढ़ा था। आपका २५ वर्ष की अवस्था में ईश्वर जगबंधु जी की कन्या सौदामिनी देवी से विवाह हुआ था, जिनकी कुक्षि से भारत प्रसिद्ध कविराज श्री गणनाथ सेन का जन्म सन् १८७७ में हुआ था।

श्री विश्वनाथ सेन कुशल चिकित्सक थे। परिणामतः काशी नरेश ने उन्हें अपना वैद्य नियुक्त किया। अपनी धर्मपत्नी के निधन के पश्चात् वे कलकत्ता चले गये। वहां पर भी इनकी चिकित्सा की ख्याति बढ़ी, फलतः मेमन सिंह के महाराज ईश्वर सूर्यकान्त आचार्य चौधरी ने यथेष्ट पारितोषिक देकर उन्हे अपना निजी चिकित्सक बनाया। अन्यान्य राजा महाराजा भी उनसे चिकित्सा कराते थे। मृत्यु से पूर्व महारानी अयोध्या की चिकित्सा की। विपुल धनार्जन करके कलकत्ते में विशाल मकान खरीदा। इसको देवोत्तर सम्पत्ति मानकर इनके पुत्र गणनाथ सेन उनका ग्रहण नहीं किया। पुनः गणनाथ सेन ने अपने अर्जन से कलकत्ते में विशाल मकान का निर्माण कराया और ५० हजार रुपये का दान कर एक विशाल आयुर्वेद महाविद्यालय एवं समस्त उपकरणों से युक्त चिकित्सालय अपने स्वर्गीय

पिता के नाम "विश्वनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय" कलकत्ता में स्थापित किया। विश्वनाथ कविराज का निधन सन् १९६३ में हुआ।

श्री धर्मदास कविराज-कविराज का जन्म सन् १८६२ ई. में नवद्वीप के समीप पं. बंगाल में हुआ। आपके पिता जी का नाम श्री काशी प्रसन्न सेन था। दर्शन, साहित्य एवं व्याकरण के अध्ययन के उपरान्त आपने काशी में अपने मामा कविराज परेश नाथ सेन से आयुर्वेद का अध्ययन किया। ऐसी मान्यता है कि इन्होंने सम्पूर्ण चरक संहिता का अध्ययन गुरुमुख से चौदह वर्षो में पूरा किया था। सन् १९२० ई. में काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के प्राच्य विद्या विभागान्तर्गत आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष हुए। सन् १९२७ ई. में जब यह विभाग स्वतंत्र आयुर्वेद महाविद्यालय बना और उसमें आयुर्वेद के साथ "माडर्न मेडिसिन एवं सर्जरी" का मिश्रण हुआ, तब भी आप ही उसके अध्यक्ष बने एवं जीवन पर्यन्त विश्वविद्यालय की सेवा में रहे। सन् १९३५ में काशी के गणेश मुहाल में निजी निवास गृह में इनका देहान्त हुआ।

कविराज जी चरक संहिता के प्रकाण्ड विद्वान थे। ताश और हुक्का इनको व्यसन था। इनकी शिष्यानुशिष्य परम्परा आज भी जीवित है। इनके शिष्यों में एक ओर जहां शुद्ध आयुर्वेद के प्रखर समर्थक विद्वान श्री सत्यनारायण शास्त्री, श्री राजेश्वरदत्त शास्त्री, श्री दुर्गादत्त शास्त्री प्रभृति थे, दूसरी ओर समन्वित प्रणाली के स्व. श्री वामनकृष्ण पटबर्धन, ब्रजमोहन दीक्षित (काशी के मूर्धन्य चिकित्सक, काशी रसशाला के अधिपति), श्री यदुनन्दन जी उपाध्याय (काशी के मूर्धन्य वैद्य) प्रभृति है।

आचार्य प्रवर श्री धर्मदास जी महाराज विशुद्ध आयुर्वेद के प्रवल पक्षधर थे। "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित" इस चरक सिद्धान्त के पूर्णरूपेण समर्थक थे।

श्री हरिदास कविराज-जगत चन्द्र राय चौधरी के सुपुत्र श्री हरिदास का जन्म वाराणसी में सन् १८८० ई. में हुआ था। सन् १९३४ में काशी में ही निधन हुआ था। इनकी आयुर्वेद की शिक्षा मुर्शिदावाद के प्रसिद्ध कविराज गंगाधर जी (श्री धर्मदास जी के गुरु एवं "जल्प कल्पतरु" संज्ञक चरक संहिता की टीका के लेखक) तथा कविराज ईश्वर चन्द्र जी से हुई थी। नगर पालिका ने इनके नाम पर गली का "हरिदास कविराज लेन" नाम रखा था। उस काल में यशस्वी चिकित्सक एवं नाड़ी ज्ञान के विशेषज्ञ माने जाते थे। स्व. पौरू वाबू के साथ कविराज जी भी सुप्रसिद्ध राम कृष्ण चिकित्सालय (कौड़िया अस्पताल) के संस्थापक थे।

कविराज उमाचरण भट्टाचार्य - कविराज उमाचरण का जन्म कविराज राम चंद्र भट्टाचार्य की पत्नी सर्वमंगला देवी की कुक्षि से ग्राम सुचकरण्डी डा. पटिया जिला ग्राम

(बंगलादेश) लगभग सन् १८६२ ई. में हुआ था। व्याकरण, न्याय एवं दर्शन शास्त्र के अध्ययन के बाद श्री गंगाधर कविराज के शिष्य श्री द्वारका नाथ सेन कविराज कलकत्ता से १० वर्षो तक वहां रहकर आयुर्वेद का अध्ययन किया। ऐसी प्रसिद्धि है कि आपको चरक संहिता आधोपान्त कण्ठस्थ थी। आचार्य कविराज धर्मदास जी इनके गुरु भाई थे। आप बड़े ही धार्मिक मनोवृत्ति के मानव थे। काशी को इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया। नित्य पंचगंगा घाट पर गंगा स्नान आत्मा वीरेश्वर संकठा जी, विश्वनाथ एवं अन्नपूर्णा का दो बजे दिन तक दर्शन पूजन करते थे। तदनन्तर चिकित्सा का कार्य करते थे। निर्धारित क्रमानुसार यथा निर्दिष्ट स्थान पर रोगी का दूत खड़ा रहता था। कविराज की सवारी वहां पहुंचने पर वह सामने आता था, कविराज जी उसके घर जाकर मरीज देखते थे। इस प्रकार एकैकशः सभी मरीजों को देखकर घर लौटते थे। पुनः औषधालय पर स्नानादि से निवृत्त होकर ८ बजे रात से रोगियों को देखते थे एवं औषध व्यवस्था करते थे। इसी परम्परा में उनके पौत्र कविराज श्री आशुतोष भट्ट आचार्य विद्यमान हैं।

सन् १९२१ में दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के दशम अधिवेशन के आप अध्यक्ष थे। उमाचरण जी का निधन सन् १९२५ ई. को स्वकीय निवास स्थान ब्रह्मपुरी, अहल्याबाई मुहल्ला, वाराणसी में हुआ।

श्री हरिरज्जन मजूमदार - काशी के सुप्रसिद्ध वैद्य कविराज उमाचरण के शिष्य श्री हरिरज्जन का जन्म सन् १८६५ ई. में कश्मीर में हुआ था। आपके पिता कविराज षष्ठी चरण मजूमदार काश्मीर नरेश महाराज श्री रणजीत सिंह के राज वैद्य थे।

श्री हरिरज्जन का कार्य क्षेत्र प्रधान रूप से दिल्ली था। दिल्ली के सुप्रसिद्ध हकीम अजमल खान द्वारा स्थापित "आयुर्वेद तिब्बी कालेज" दिल्ली के प्रधानाचार्य पद पर रहे और दिल्ली के परम यशस्वी आयुर्वेद चिकित्सक माने जाते थे। वृद्धावस्था में काशी में हौजकटोरा मुहल्ला में अपने निवास में रहने लगे थे। काशी मण्डल वैद्य सभा के सन् १९५६ से १९६० तक अध्यक्ष थे। अखिल भारतीय आयुर्वेद महा सम्मेलन के भी सन् १९४९ ई. में अध्यक्ष थे।

इनका चक्रदत्त नामक चिकित्सा ग्रन्थ पर पूर्ण अधिकार था। चिकित्सा में "एकौषधि" योग का व्यवहार करने में सिद्धहस्त थे। आपके पुत्र श्री आशुतोष मजुमदार भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध वैद्यो में थे। इनकी योग्य पिता के योग्य पुत्र में मान्यता है।

कविराज बिन्दुमाधव भट्टाचार्य - कविराज जी का जन्म सन् १८९० ई. में बंगाली टोला में हुआ था। इनके पिता का नाम राधा माधव भट्टाचार्य और माता का नाम मदन सुन्दरी देवी था। अष्टाग आयुर्वेद महाविद्यालय कलकत्ता से सन् १९०८ ई. में आयुर्वेद स्नातक हुए। चिकित्सा कार्य का प्रारम्भ बंगाल में ही किया। पश्चात् १९३६ ई. काशी में

अपने निवास स्थान पर ही चिकित्सा व्यवसाय करने लगे। आपका निधन १९८० ई. में वाराणसी में हुआ।

"सेवा" नामक पुस्तक की रचना आपने हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में की। बंगला में भी एक कविता पुस्तक की रचना की थी। वाराणसी के सम्बन्ध में "काशी साथी" नामक पुस्तक का प्रणयन भी बंगला भाषा में आपने किया था।

कविराज प्रताप सिंह – कविराज जी का जन्म पं. गुमानी राम जी धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८९२ में उदयपुर (राजस्थान) में हुआ था। बाल्यावस्था में प्रारम्भिक शिक्षा स्थानिक हुई थी। पश्चात् मद्रास चले गये, वहां वैद्य श्री गोपालाचालू के सान्निध्य में रहकर आयुर्वेद का अध्ययन विषम परिस्थितियों में किया था। फिर वहां से कलकत्ता चले आये, वहां पर कविराज गणनाथ सेन सरस्वती का शिष्यत्व स्वीकार किया, वहां पर कालेज आफ फिजिशयन ऐण्ड सर्जन्स में दो वर्षो तक निरन्तर अध्ययन किया। पश्चात् "निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ" से विशारद परीक्षा उत्तीर्ण कर स्वर्ण पदक प्राप्त किया। विश्वनाथ आयुर्वेद विद्यालय "कलकत्ता" से "भिषग्मणि" प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया।

सन् १९१४ ई. में आपने "बाबा काली कमली वाले" से एक आयुर्वेद विद्यालय की स्थापना हरिद्वार में करायी। उसके आप अध्यक्ष थे। सन् १९२० ई. तक वहीं रहे। पश्चात् १९२० से १९२५ तक ललित हरि आयुर्वेद कालेज फार्मेसी पीलीभीत के आप "सुपरिण्टेण्डेण्ट" थे। तदन्तर सन् १९२५ ई. में काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में आयुर्वेद फार्मेसी के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इनके कार्यकाल में "आयुर्वेद फार्मेसी" का उत्तम विकास हुआ। विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज में रसशास्त्र के आप वरिष्ठ अध्यापक भी थे। विश्वविद्यालयीय सेवा काल में आप उ.प्र. इण्डियन मेडिसिन बोर्ड के सदस्य, गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज, पटना के परामर्श दात्री समिति के सदस्य, सेन्ट्रल आयुर्वेद रिसर्च इन्स्टीटयूट, नाडियाद, गुजरात के सभापति भी थे।

आप रस-शास्त्र और औषध निर्माण प्रक्रिया के महान् वेत्ता थे। आपने बहुत से ग्रन्थों का प्रणयन किया था, जिनमें "आयुर्वेद खनिज विज्ञान", "जच्चा" (प्रसूति चर्या), विष विज्ञान, "आरोग्य सूत्रावली" प्रमुख है। इनका संस्कृत में श्लोकों का संग्रह, "ताप कंठा भरण" नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें व्यवहार परक विभिन्न कवियों की सूक्तियों का संचयन है। इसके प्रायः सभी श्लोक उनको कठस्य थे।

आयुर्वेद महासम्मेलन के "रजत जयन्ती'' ग्रन्थ का दो भागों में आपने सन् १९३५-३६ ई. सम्पादन किया, जो आयुर्वेद इतिहास के लिये पथ प्रदर्शक ग्रन्थ हैं। सन् १९३४ ई. अखिल भारतीय आयुर्वेद महा सम्मेलन के आप अध्यक्ष थे।

हिन्दू विश्वविद्यालय की सेवा के पश्चात् राजस्थान शासन आयुर्वेद निदेशक थे। सन् १९५४ में भारत सरकार के प्रथम सलाहाकार नियुक्त हुए थे। लंका वाराणसी पंचक्रोशी

रोड पर आपने वृद्ध पारद के रसेश्वर लिङ्ग की स्थापना की थी। आपका निधन ७.४. १९६२ को काशी में हुआ।

श्री रामबिहारी शुक्ल – आपका जन्म फाल्गुन शुक्ल वि.सं. १९६६ (सन् १९१० ई.) में ग्राम पण्डित पुर, जिला सारण (विहार) में हुआ था। इनके पिता का नाम जनार्दन प्रसाद शुक्ल था। गोयनका विद्यालय, वाराणसी के प्रथम प्राचार्य श्री चण्डी प्रसाद जी के छोटे भाई राम विहारी जी के पौत्र थे।

श्री राम बिहारी जी ने काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के ए.एम.एस. पाठ्यक्रम में आयुर्वेद पढ़ाना प्रारम्भ किया, परन्तु महात्मा गांधी के नमक आन्दोलन में भाग लेने के कारण इनका निष्कासन हो गया। इनके दुर्ध व्यक्तित्व के कारण निष्कासन रद्द हो गया। पश्चात् यहां का विद्यालय छोड़कर कलकत्ता के श्रेष्ठतम आयुर्वेद महाविद्यालय "अष्टांग आयुर्वेद कालेज" से एम.ए.एम.एस. उपाधि परीक्षा उत्तीर्ण किया। सन् १९०३ ई. स्वतंत्रता आंदोलन के सिलसिले में डेढ़ वर्ष का सश्रम कारावास की सजा मिली। सारन जेल में रहे। वहां से इनका स्थानान्तरण पटना जेल में कर दिया गया। फिर सर तेज बहादुर सप्रू की मध्यस्थता से सम्पन्न महात्मा गांधी लार्ड डरविन के समझौते के अन्तर्गत इन्हें अप्रैल सन् १९३२ कारागार से मुक्त किया गया।

श्री शुक्ल शालाक्य तंत्र के विशिष्ट ज्ञाता थे। नेत्र रोगों की शल्य चिकित्सा में बड़े ही निपुण थे। वांसफाटक, काशी के सुप्रसिद्ध हिन्दू सेवा सदन के प्रधान थे। इनके अध्यवसाय से सेवा सदन की असीम उन्नति हुई इनकी शल्य चिकित्सा एवं कुशलता से श्री युगुल किशोर विड़ला ने अपने नव स्थापित बिड़ला अस्पताल, मछोदरी में इन को प्रथम और प्रधान चिकित्सक बना दिया। आप इस पद पर सन् १९८० ई. तक रहे। बिड़ला आयुर्वेद अस्पताल का उन्नत रूप इन्हीं के श्रम का फल है। इनकी रचना है "अनुपम सहपान"। काशी में १७ मई सन् १९९० ई. में इनका निधन हुआ।

श्री गणेशदत्त त्रिपाठी- पण्डित प्रवर श्री गोपाल दत्त त्रिपाठी के सुपुत्र श्री गणेश दत्त जी वैद्य का जन्म माघ मास की चतुर्थी सम्वत् १९२१ (सन् १८६५ ई.) को भद्रवनी (भदैनी) वाराणसी में हुआ था। जन्म तिथि के कारण इनका उपर्युक्त नाम रखा गया था। आयुर्वेद और व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित पूज्य पिता से प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण के पश्चात् पण्डित राज श्री शिवकुमार शास्त्री से व्याकरण, महामहोपाध्याय श्री गंगाधर शास्त्री से साहित्य एवं श्री सीताराम शास्त्री से न्याय-शास्त्र का अध्ययन किया। आयुर्वेद का पूर्ण अध्ययन अपने पिता जी से किया।

महाराजा काशी नरेश श्री प्रभुनारायण सिंह संस्कृत साहित्य एवं वेदान्त के प्रखर मर्मज्ञ थे। एक एक सेकेण्ड के समय पालन में कट्टर थे। वे गणेश दत्त का इतना सम्मान

करते थे कि वे उनके सम्पर्क होने पर प्रायः समय पालन की कट्टरता को तोड़ दिया करते थे।

सन् १८६४ ई. में हथुवा नरेश सर कृष्णप्रसाद जी ने "पारस्कर गृह्यसूत्र भाष्य चतुष्ट्य" खण्डित को प्रकाशित करने के लिये महामहोपाध्याय श्री शिवकुमार शास्त्री से मांग की। शास्त्री जी ने गणेश जी से आग्रह कर इस कार्य हेतु हथुवा भेजा। वहां गये और ३० वर्ष तक कार्य का सम्पादन किया। पश्चात् पिता जी की आज्ञा से हथुवा छोड़कर काशी आ गये। इनके दो भाई श्री कान्तानाथ त्रिपाठी एवं गौरीशंकर त्रिपाठी सिद्धहस्त कुशल चिकित्सक थे। इन्हीं दोनों पर उन्होंने औषधालय का भार सौप दिया।

जब रणवीर संस्कृत पाठशाला केन्द्रीय हिन्दू स्कूल कमच्छा में मिला ली गई, तो उस की संचालिका श्रीमती एनीबेसेण्ट ने उसमें अध्यापन के लिये प्रखर विद्वानों की खोज की। तद्नुसार श्री गणेशदत्त जी वहां बुला लिये गये। परन्तु अल्पकाल में ही पिता जी का स्वर्गवास हो जाने के कारण कालेज से त्यागपत्र देकर पुनः पैतृक व्यवसाय चिकित्सा में लग गये थे। कलकत्ता में भी इनकी विश्रुति थी। कलकत्ता के सुप्रसिद्ध कविराज गणनाथ सेन के शब्दों मे आप-

आयुर्वेद महाम्भोधि पारायण-पटीयसे
विद्वद् गणेशदत्ताय सादरं समुपायनम्।

सन् १९१६ ई. में भारत धर्ममहामण्डल ने आपको "भिषक् सुधाकर" की उपाधि दी थी। सन् १९१९ ई. में कानपुर में प्रथम संयुक्त प्रान्तीय (अधुना उत्तर प्रदेशीय वैद्य सम्मेलन) के सभापति थे। सन् १९२० ई. में उन्नाव वैद्य सम्मेलन हरदोई में आप को "आयुर्वेद रत्न" की उपाधि दी गई थी। इनका देहावसान काशी में ही हुआ।

वैद्य सम्राट श्री सत्यनारायण शास्त्री-श्री सत्यनारायण शास्त्री का जन्म श्री बलभद्र पाण्डेय की धर्मपत्नी श्रीमती भगवन्ती देवी की कुक्षि से डी. ३६/१७८ अगस्तकुण्डा, वाराणसी में ६.१.१८६० ई. हुआ था। व्याकरण, न्याय, वेदान्त काव्यादि विषयों में प्रौढ़ पाण्डित्य अर्जित करने के पश्चात् आयुर्वेद का अध्ययन आपने गुरुवर्य कविराज धर्मदास जी से किया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सन् १९२५ से १९५० ई. तक "वासनजीरखेमजी चरक पीठ" पर आयुर्वेद विभाग में प्राचार्य रहे। इस अवधि में विविध विषयों को पढ़ाते हुए वहुसंख्यक शिष्यों को प्रस्तुत किया, जो आज भी विभिन्न प्रदेशों में अपनी वैदुष्य एवं चातुरी से आयुर्वेद तंत्र का मस्तक ऊंचा कर रहे हैं। विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्त होने के बाद आपने "सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय" में आयुर्वेद विभाग की स्थापना कराई और उस विभाग के अध्यक्ष कई वर्षों तक बने रहे। सन् १९४९-५० में शासकीय "वैद्य हकीम रजिस्ट्रेशन" समिति के अध्यक्ष भी थे। लगभग १९२५ से काशी के विद्वानों की संस्था "काशी विद्वद् परिषद्" के आजीवन संरक्षक एवं

अध्यक्ष थे। २६ जनवरी सन् १९५० ई. में वे राष्ट्रपति के प्रथम चिकित्सक (आयुर्वेद) वनाये गये। आप को मानद उपाधि "पदमभूषण" मिली थी। यह मानद उपाधि का स्वतंत्र भारत में प्रथम उपाधि वितरणोत्सव था।

"काशी मण्डल वैद्यसभा" की स्थापना सन् १९४३ ई. में उन्हीं की अध्यक्षता मे हुई थी। तव से १९५६ तक वे उस के अध्यक्ष थे। तत्कालीन महाराष्ट्र के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाशजी द्वारा वाराणसी के टाउनहाल में अभिनन्दन ग्रन्थ इनको भेट किया गया था। श्री श्रीप्रकाशजी ने उस समय शास्त्री जी की नाड़ी परीक्षा के अद्‌भुत ज्ञान का वर्णन बड़ा भाव विभोर होकर किया था। प्रसंग में उन्होंने अपने पूज्य पिता भारतरत्न डा. भगवानदास के संवंध में शास्त्री जी की नाड़ी परीक्षा की चर्चा करते हुए कहा था कि इन्होंने मरण सूचक नाड़ी की सूचना उनके पिता की मृत्यु के पूर्व ही दे दी थी।

शास्त्री जी सनातन विचारों के पोषक थे। आयुर्वेद, काशी, सनातन धर्म और संस्कृत के नाम पर कोई समझौता नहीं कर सकते थे। जहां भी इनके विरूद्ध सुनने पर वे प्रखर और प्रवल हो जाते थे। चरक संहिता के कई अध्याय आद्योपान्त कंठस्थ थे। साथ ही उनको व्याकरण, साहित्य, न्याय और न जाने कितने अन्य शास्त्रों का प्रांजल ज्ञान था। आयुर्वेद के "पदार्थ विज्ञान" नामक विषय पर संस्कृत में "पदार्थ विज्ञान" नामक पाठ्य पुस्तक की रचना की थी। शास्त्री जी कुशल वक्ता और काव्य मर्मज्ञ थे। आयुर्वेद के शास्त्र व्याख्या एवं कर्म दोनों में निष्णांत पण्डित थे।

रोगी की केवल नाड़ी परीक्षा द्वारा उसके रोग का निदान-पूर्वरूप-रूप और संप्राप्ति ज्ञान की तथा रोग विनिश्चय के अद्वितीय गुणों से सम्पन्न थे। अपने समय में काशी के सर्वाधिक यशस्वी चिकित्सक थे।

इनकी प्रथम पत्नी श्रीमती गौरी देवी से उत्पन्न श्री कालीचरण विद्वान वैद्य थे। दूसरी पत्नी से श्री उमाचरण जी उत्पन्न थे, जिनके पुत्र (शास्त्री जी के पौत्र) श्री कविराज वामाचरण पाण्डे थे, जो हिन्दू विश्वविद्यालय से ए.बी.एम.एस. किये थे, वे निर्भीक वक्ता एवं कुशल चिकित्सक थे। उदर रोग से पीड़ित होने से आपका देहान्त जल्दी हो गया।

बीसवीं शताब्दी का यह आयुर्वेद सूर्य २३ सितम्बर सन् १९६९ को तिरोहित हो गया।

श्री राजेश्वर दत्त शास्त्री – श्री राजेश्वर जी का जन्म उ.प्र. के गोंडा जिले में आटा परसपुर के श्री रामनाथ मिश्र के सुपुत्र रूप में १५ जून सन् १९०१ ई. में हुआ था। आपकी आयुर्वेद की शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई। आपने आयुर्वेद शास्त्राचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। अस्तु सन् १९२८ ई. में आयुर्वेद कालेज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गृह चिकित्सक सर सुन्दर लाल अस्पताल में नियुक्त हुए, साथ ही कालेज में स्वस्थवृत्त पढ़ाने के लिए अध्यापन कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। वहां पर सन् १९५१ ई.

में कायचिकित्सा विषय के प्रोफेसर नियुक्त हो गये। आगे चलकर विभागाध्यक्ष, आयुर्वेद संकाय के डीन तथा आयुर्वेद कालेज के सन् १९५७ ई. से प्रधानाचार्य भी थे। अस्सी वाराणसी में इनका निवास स्थान था।

विश्वविद्यालय की सेवा से १९६२ ई. में विरत हुए। इनके कार्यकाल में जलोदर चिकित्सा में अनुसंधान के लिए एक योजना थी। उस के आप "डायरेक्टर" थे। जलोदर एवं ग्रहणी रोग की चिकित्सा में कई नई बातों का आपने शोध किया। आज भी आपका इस क्षेत्र में योगदान स्मरणीय है।

आपका शास्त्र तथा कर्म पक्ष दोनों ही प्रौढ़ था। यशस्वी चिकित्सक होने के कारण कई रियासतों के राजवैद्य के रूप में पूजित थे। भारतीय चिकित्सा परिषद उ.प्र. तथा कई अन्य केन्द्रीय आयुर्वेद परिषदों के आप सदस्य थे। उ.प्र. आयुर्वेद सम्मेलन झांसी अधिवेशन के आप अध्यक्ष थे।

इनके द्वारा लिखित "स्वस्थवृत्त समुच्चय" नामक पुस्तक अपने विषय में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। "चिकित्सादर्श" नामक चिकित्सा की पुस्तक है। नुस्खानवीसी विशेषता से युक्त भी श्रेष्ठ है। दोनों पुस्तके केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद के पाठ्य क्रम में निर्धारित होकर समस्त भारत में पढ़ाई जाती है। भैषज्य रत्नावली हिन्दी टीका, चौखम्भा का सम्पादन भी आपने किया था। आयुर्वेद के साथ-साथ शास्त्री जी को यूनानी (हकीमी) चिकित्सा का भी आपको उर्दू भाषा के माध्यम से अच्छा ज्ञान था। इनका निधन वाराणसी में १२ जून १९६९ को हुआ था।

श्री बालकृष्ण अमरजी पाठक-अहमदाबाद गुजरात के सुप्रसिद्ध चिकित्सक श्री पाठक जी आयुर्वेदानुरागी मेडिकल स्नातक थे। आचार्य यादव जी त्रिविक्रम जी वैद्य के घनिष्ठ सम्पर्की थे। यादव जी की प्रेरणा एवं अनुमोदन से काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के आयुर्वेद कालेज अध्यक्ष होकर सन् १९३९ में आप काशी आये थे। विश्वविद्यालय परिसर में ही इनका निवास था। चरक संहिता को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से सर्व प्रथम इन्होंने पढ़ाना प्रारम्भ किया। इनका पढ़ाना इतना आकर्षक होता था कि विद्यालय के सभी उच्च कक्षाओं के छात्र आकर पीछे से बैठ कर सुना करते थे।

लगभग १० वर्षों तक आयुर्वेद विद्यालय के अध्यक्ष पद पर बने रहे। अपने कार्यकाल में "मानस रोग विज्ञान" नामक एक उत्तम रचना का अवदान आयुर्वेद साहित्य को दिया है। आपका निधन अपने निवास पर वाराणसी में हुआ था।

प्रश्नोत्तरा वैद्य परिवार मे अहमदाबाद में इनका जन्म हुआ था। आपके पिता स्व. अमर जी पाठक अपने काल के प्रतिष्ठित सफल वैद्य थे। अस्तु वैद्य-विद्या और व्यवसाय में उनकी गहरी रुचि थी। संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। स्व. गणनाथ सरस्वती लिखित संस्कृत में शरीर शास्त्र ग्रन्थ "प्रत्यक्ष शारीरम्" का गुजराती अनुवाद करके पाठक

जी ने झंडू फार्मेसी बम्बई द्वारा प्रकाशित कराया था। द्रव्य विज्ञान में औषध कर्मो के विषय में आयुर्वेदीय तथा तुलनात्मक आधुनिक विचारों का अध्ययन शीर्षक निबंध भी प्रकाशित किया था। "जन्तु शास्त्र प्रवेशिका" (गुजराती भाषा में) नामक ग्रन्थ का भी प्रकाशन किया था।

स्व. पाठक जी गम्भीर चिन्तक, तेजस्वी वक्ता एवं तुलनात्मक दृष्टि वाले अध्यापक थे। अच्छे प्रशासक थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अनुसंधानकर्ता और लेखन कला की नवीन पीढ़ी के अग्रदूत कहे जा सकते है।

श्री दुर्गादत्त शास्त्री–श्री शास्त्री जी का जन्म डुन्हुलोद, शेखावटी राजस्थान में श्री गुलराज जोशी ज्योतिषी के पुत्र रूप में सन् १९०१ ई. में हुआ था। पंजाब से शास्त्री परीक्षा सन् १९२३ में उत्तीर्ण कर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेद शास्त्राचार्य परीक्षा सन् १९२८ ई. में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। आप श्रीराम लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी अस्पताल गोदौलिया वाराणसी में आयुर्वेद विभाग के ४२ वर्षो तक अध्यक्ष थे। निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के सन् १९४६ से लगातार कई वर्षो तक अध्यक्ष थे। काशी मण्डल वैद्य सभा के भी कई वर्षों तक अध्यक्ष रहे। निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन के बड़ौदा अधिवेशन सन् १९४९ ई. में अध्यक्ष पद को भी अलंकृत किया था। शास्त्री जी का निधन काशी के मैदागिन मुहल्ले में सन् १९७४ ई. में हुआ।

श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा वाजपेयी – श्री वाजपेयी का जन्म पूरा ग्राम जिला उन्नाव (उ.प्र.) में श्री द्वारिका नाथ वाजपेयी की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८९७ में हुआ था। आपने व्याकरणादि विषयों की शिक्षा गोकुल दास तेजपाल संस्कृत विद्यालय बम्बई में ग्रहण की थी। पश्चात् बम्बई के सुप्रसिद्ध वैद्य श्री यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य से आयुर्वेद का अध्ययन किया था। सन् १९२० ई. में आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की थी। आयुर्वेद विद्यालय, कानपुर सन् १९१८-२५ ई. तक अध्यापक थे। सन् १९२५ ई. से आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग मे अध्यापक नियुक्त हुए। तब से जीवन पर्यन्त विश्वविद्यालय की सेवा में निरन्तर लगे रहे।

श्री वाजपेयी बहुत अध्यवसायी एवं विद्या व्यसनी रहे। अध्यापन करते हुए व्यक्तिगत तौर पर उन्होंने व्याकरणाचार्य, बी.ए. और एम.ए. आदि परीक्षाओं को अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण किया।

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका का तीन वर्षों तक सफल सम्पादन किया। "चक्रदत्त" की हिन्दी टीका प्रणयन किया। सन् १९३३ में उत्तर प्रदेश आयुर्वेद सम्मेलन, सीतापुर अधिवेशन के अध्यक्ष थे। सन् १९१५ में उत्तर प्रदेश इण्डियन बोर्ड के सदस्य थे। सन् १९०३ में सत्याग्रह स्वातंत्रता आन्दोलन में आप एक वर्ष के लिये जेल भी गये थे।

अपने निजी भवन में "स्वास्थ्यवर्धक औषधालय" स्थापित किये, जिसके निर्मित औषधियों पर काशी के वैद्यों को पूरा भरोसा रहता है।

आपका देहावसान अस्सी घाट पर गंगा जी के बजड़े पर रहते हुए सन् १९४२ में हुआ था।

आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री उमाशंकर वाजपेयी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ए.एम.एम. (आयुर्वेद-स्नातक) थे। उक्त औषधालय को विश्वासपरक, प्रामाणिक और अधिक उत्तम स्वरूप देने में श्री उमाशंकर जी का वड़ा योगदान था। सन् १९६४ में श्री उमाशंकर जी का देहावसान हो गया। इनके अनुज श्री विनोदशंकर वाजपेयी, बी.ए. ए.बी.एम.एस., एच. पी.ए. ने औषधालय का अधिक परिष्कृत एवं परिवार्धित रूप दिया, परन्तु असमय में सन् १९९१ में अपने निवास अस्सी पर आपका निधन हो गया। आप बड़े कर्म कुशल, अध्यवसायी एवं शालीन व्यक्ति थे।

वर्तमान में औषधालय के संचालन का भार श्री हरिशंकर वाजपेयी (श्री जगन्नाथ शर्मा के मध्यम पुत्र) तथा उनके भ्रातुष्पुत्रों के कंधों पर है। इस समय कार्य भी उत्कर्ष पर है।

श्री काशीनाथ पाण्डे – मुरार पट्टी, छपरा (विहार) निवासी श्री शिवानन्द पाण्डे के सुपुत्र रूप में १७ सितम्बर सन् १९१३ ई. को हुआ था। विहार संस्कृति समिति से आयुर्वेदाचार्य उत्तीर्ण कर सन् १९४४ ई. में" "गोयनका संस्कृत विद्यालय" ललिताघाट में आयुर्वेद के अध्यापक हो गये, आगे चलकर विभागाध्यक्ष भी हो गये। सन् १९४६ ई. में अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय में अध्यापक हो गये। अध्यापन के साथ ही वही से उन्होंने "इण्डियन मेडिसिन बोर्ड" की बी.आई.एम.एस. परीक्षा भी उत्तीर्ण कर लिया। पश्चात् १९५६ में अर्जुन दर्शनानन्द आयुर्वेद विद्यालय में प्राध्यापक हो गये। पुनः सन् १९५५ ई. में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग में अध्यापक हुए। वहां पर प्रधानाचार्य पद से सन् १९७८ ई. में सेवा मुक्त हुए। नीलकण्ठ वाराणसी में चिकित्सा व्यवसाय करते हुए वहीं निजी मकान कर लिया।

अपने कार्यकाल में आपने चरक संहिता की वृहद् हिन्दी टीका का प्रणयन किया। "रसतरंगिणी" की हिन्दी टीका भी लिखी। श्री काशीनाथ जी अच्छे शास्त्र ज्ञाता एवं कुशल चिकित्सक थे।

आपका निधन ३१ मई सन् १९८६ में वाराणसी में हुआ। इनके पुत्र श्री सुधाकर पाण्डेय राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय (उ.प्र.) में वैद्य हैं।

श्री रूपलाल वैश्य–श्री रूपलाल वैश्य का जन्म हरा जी ग्राम छपरा (बिहार) में बाबू चन्दलाल जी सुवर्णकार की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८७१ ई. में हुआ था। आपकी

प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय ग्रामीण "मिडिल इंगलिश स्कूल" में प्राप्त हुई। सन् १८८८ ई. में छपरा के जिला स्कूल में प्रविष्ट होकर १८६३ में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण हुए, पश्चात् अध्ययन के लिए पटना विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। दो तीन मास तक पढ़े, बाद में पढ़ना बन्द करके लोको आफिस में पन्द्रह रुपये मासिक वेतन पर लिपिक वन गये। पुनः कार्य कुशलता के कारण ही कार्यालय में प्रधान लिपिक हो गये।

बनारस छावनी के आफिस में सन् १८६३ ई. में उनका स्थानान्तरण हो गया। यहीं इंगलिंशिया लाइन निवास करते थे। सेवा काल में कार्यालय में इनका बड़ा सम्मान था। कार्यालय से अतिरिक्त समय में अवसर मिलने पर जड़ी बूटियों का अध्ययन प्रारंभ किया, जिनसे उनका वाल्यकाल से ही प्रेम था। अमृत धारा के मालिक सुप्रसिद्ध वैद्य ठाकुर प्रसाद शर्मा के "देशोपकारक" पत्र के ग्राहक वन कर जड़ी बूटियो का अध्ययन निरन्तर करने लगे। इन्होंने गुरु के नाते टिकारी, गया (विहार) राज्य के राज वैद्य श्री अयोध्या प्रसाद मिश्र का उल्लेख किया है।

वाराणसी में श्री अर्जुन जी मिश्र से आयुर्वेद का विशेषतः जड़ी बूटियों का अध्ययन करते थे। गुरु एवं शिष्य दोनों ने दो शैली में द्रव्यगुण या निघण्टु विषय पर पुस्तकें लिखी। श्री रूप लाल जी ने "रूप निघंटु" नामक एक कोश जड़ी बूटियों पर लिख डाला। इसके दो भाग का प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ है। "दशमूल" नामक निबंध पर आपको वैद्य सम्मेलन से पदक प्राप्त हुआ था। लाहौर से प्रकाशित तत्कालीन "बूटी दर्पण" नामक पत्र के आप सहायक सम्पादक थे। "धन्वन्तरि" विजयगढ़, अलीगढ़ (उ.प्र.) के आप प्रधान सम्पादक थे। "अभिनव बूटी दर्पण" एवं "संदिग्ध बूटी चित्रावली" नाम से आपके प्रकाशित ग्रन्थ हैं। दोनों वाराणसी से ही प्रकाशित है।

"अभिनव बूटी दर्पण चित्रावली" के चित्र आप स्वयं अपने हाथों से उनकी वारीकियों को ध्यान में रखकर और प्रत्यक्ष देखकर बनाते थे। एक नाम की विभिन्न प्रतीत होने वाली अथवा विभिन्न नाम से विभिन्न क्षेत्रों में प्रसिद्ध एक औषधि का पूरा पता लगा कर गम्भीरता पूर्वक विवेचन का प्रयास करते थे। भगीरथ स्वामी, स्वामी हरिशरणानन्द एवं विश्वेश्वर दयाल सदृश तत्कालीन सुप्रसिद्ध अखिल भारतीय स्तर के विद्वानों का आदरपूर्वक वर्णन करते थे और उनके नामों का उल्लेख कर उनके विचारों को देते थे।

इनके लिखे दो ग्रन्थ "भावप्रकाश निघण्टु का विवरण" एवं "वैद्यक पथप्रदर्शक" अभी तक अप्रकाशित है। मार्च १६२७ ई. में रेलवे सेवा से निवृत्त होकर आप १६३६ ई. तक वाराणसी में ही थे। इसके पश्चात् अपने जन्म भूमि में चले गये और वहां पर ३ जनवरी सन् १६४० ई. में आयुर्वेद भारती के इस वरद पुत्र का देहावसान हो गया।

श्री हरिनारायण शर्मा – श्री हरिनारायण शर्मा का जन्म सन् १८६६ ई. में बी. २/२६ भदैनी, वाराणसी में श्री पूर्णचन्द्र शर्मा वैद्य की धर्मपत्नी श्रीमती कुलवन्ती देवी की कुक्षि से हुआ था।

हरिनारायण जी ने राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व-विद्यालय), वाराणसी से साहित्य शास्त्री तथा बिहार संस्कृत समिति, पटना से साहित्याचार्य परीक्षा उत्तीर्ण किया था। आयुर्वेद का अध्ययन अपने पूज्य पिता से किया था।

"बी.एन. मेहता संस्कृत विद्यालय" प्रतापगढ़ में आयुर्वेद विभाग के प्राचार्य एवं अध्यक्ष पर सन् १६२० से १६६२ ई. तक कार्यरत थे। आपके पाण्डित्य एवं चिकित्सा कौशल की ख्याति दूर दूर तक थी।

श्री हरिनारायण जी ने "बृहद् बूटी प्रचारक" नामक एक ग्रन्थ लिखा था। अष्टांग हृदय का अंगानुसर विभाजन करके संस्कृत टिप्पणी लिखी थी। जो आज भी उपलब्ध है। इनके बहुत से शिष्य प्रतिष्ठापूर्वक वैद्यक व्यवसाय में लगे है। इनका देहान्त सन् १६६८ ई. में जन्म स्थान पर हो गया।

अमृत शास्त्री–आपका जन्म सन् १८१० ई. में ग्राम चान्दोरी, जिला नासिक (महाराष्ट्र) में हुआ था। सन् १८५० ई. काशी आये और यहीं राजमन्दिर के पास रत्न फाटक में निवास करते थे। इनकी लगभग पांच पीढ़ियों के लोकोपकार हेतु वैद्यक व्यवसाय चलता है। काशी में आने पर इन्होंने वृत्यर्थ "रणबीर संस्कृत पाठशाला" में अध्यापन और गंगा महल (संकठा जी मन्दिर के पास) ग्वालियर राज्य के वेतन भोगी होकर श्रीमद्भागवत पर प्रवचन करते थे। इसके साथ ही साथ जड़ी-बूटियों से रोगियों की चिकित्सा भी करते थे। आगे चलकर उन्होंने क्षेत्र-सन्यास ले लिया और काशी से बाहर जाना बन्द कर दिया था।

प्रसिद्धि है कि क्षेत्र-सन्यास लेने के कारण काश्मीर नरेश महराज रणवीर सिंह जी की चिकित्सा करने के लिये बुलाहट होने पर भी उनकी चिकित्सा करने नहीं गये। कहा जाता है कि उनके तत्कालीन चित्र को देखकर वैद्य जी ने काशी में रहते हुए उनकी चिकित्सा की और वे अच्छे हो गये।

त्र्यम्बक शास्त्री–श्री त्रयम्बक शास्त्री का जन्म सन् १८६१ ई. में काशी निवासी महाराष्ट्रीय परिवार में वैद्य राज श्री अमृत शास्त्री की धर्मपत्नी श्री अन्नपूर्णा जी की कुक्षि से हुआ।

पं. बाल शास्त्री से न्याय, वेदान्त एवं पूर्णाश्रम स्वामी से व्याकरण पढ़ने के बाद अपने पिता जी से आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कर वैद्य श्री कन्हैयालाल दीक्षित (सुड़िया वाराणसी) से आयुर्वेद में क्रिया सिद्धि प्राप्त की।

तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के वायसराय लार्ड विलिङ्डन से भारत में सर्वश्रेष्ठ अलंकरण वैद्यरत्न की उपाधि से सम्मानित सन् १६३४ ई. में हुए। वे अलंकरण लेने के दिल्ली नहीं गये। फिर बनारस आकर "वायसराय" ने विजयनगरम् राज-भवन में यह सम्मान दिया।

त्र्यम्बक शास्त्री शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। व्यायाम और आहार से शरीर का सौष्ठव बनाये रहते थे। इसी का उपदेश भी रोगियों को देते थे। पर्पटी कल्प के आप सिद्धहस्त चिकित्सक थे। बाहर से भारत आये हुए अंग्रेजो को यहां का जलवायु अनुकूल न होने से ग्रहणी रोग हो जाता था, पर्पटी के प्रयोग से वैद्य जी उनको शीघ्रता से रोग मुक्त कर देते थे। इससे आप का नाम विशेषतः प्रसिद्ध हुआ। राजयक्ष्मा रोग के भी सिद्ध हस्त चिकित्सक थे। भारत प्रसिद्ध धनाढ़य परिवारों के चिकित्सक थे। विपुल धन, कीर्ति, वैभव आपने अर्जित किया। लगातार ३६ वर्षो तक आपने जनता जनार्दन की सेवा की। आप दर्प से युक्त चिकित्सक थे और कहा करते थे "मैं रोग से नहीं मरूंगा" वास्तव में आप आयुर्वेद ज्ञान के दर्प से दृप्त भारत प्रसिद्ध प्रौढ़ चिकित्सक थे। आपने मदनविनोद निघंटु पर टिप्पणी लिखी थी। २५.२.१६४३ को रोग से रहित रहने पर भी सीढ़ी से गिर कर तत्क्षण दिवंगत हो गये।

श्री निवास शास्त्री - विद्वान् वैद्य श्री रामचन्द्र शास्त्री, मीरज (महाराष्ट्र) के पुत्र रूप में श्रीमती सीताबाई की कुक्षि से श्रीनिवास जी का जन्म हुआ था। आपने प्रारम्भ में आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कलकत्ते में किया था। पश्चात् श्री त्र्यम्बक शास्त्री से क्रियात्मक अध्ययन कर चिकित्सा क्षेत्र में काशी में अत्यधिक ख्याति प्राप्त की थी।

शास्त्री जी उत्तम स्वाध्यायी एवं जिज्ञासु वैद्य थे। पूर्णतः क्रियात्मक एवं समसामयिक ज्ञान के अर्जन के लिए सतत प्रयत्न शील रहते थे। होमियोपैथिक चिकित्सा ग्रन्थों का प्रचुर ज्ञान था। प्राचीन रस तंत्र के साथ आधुनिक रसायन शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन में इनकी उत्कट अभिरूचि थी। एतदर्श काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो. राणे के साथ विशेष शोध का कार्य भी किया था। काशी में गोकुलचन्द दातव्य औषधालय, रामघाट में कुछ काल तक प्रधान वैद्य के रूप में जनता की सेवा भी की थी।

चेचक की रोकधाम के लिये आपने किसी औषधि की खोज की थी। उसके आधार पर उनकी मान्यता थी कि आयुर्वेदीय औषधियों द्वारा चेचक का प्रतिरोध हो सकता है। इसी के बल पर उन्होंने अपने सन्तानों को टीका लगाने वाले अनिवार्यता वाले कानून से उन्मुक्त कराया था। इससे स्पष्ट है कि शुद्ध आयुर्वेद में निष्ठा रखने वाले और आधुनिक ज्ञान का पिपासु ऐसा प्रखर वैद्य मिलना आज के युग में असंभव है, जो आधुनिक विज्ञान या कानूनी दबाव को स्वीकार कर आयुर्वेद की अस्मिता को धूमिल न होने दे। इनका निधन काशी में हो गया।

द्रव्यगुण विज्ञान के सुप्रसिद्ध विद्वान् हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री कृष्णचन्द्र चुनेकर आप के सुपुत्र हैं।

शिवदत्त शर्मा-जतनवर वाराणसी के निवासी श्री शर्मा जी श्री यम्बक शास्त्री के शिष्य थे। आपने भैरवनाथ चौमुहानी पर भी औषधालय संचालित किया था। महाराष्ट्र प्रदेश

के आयुर्वेद निदेशक बम्बई निवासी, सुप्रसिद्ध विद्वान श्री हरिदत्त शास्त्री जी जो निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के स्नातक थे, इनके शिष्य थे।

श्री नरहरि शास्त्री वैजापुरकर-श्री नरहरि शास्त्री का जन्म ग्वालियर राज्य (मध्य प्रदेश) के अभिजन श्री रामचन्द्र राव शर्मा के सुपुत्र रूप में सन् १८८८ ई. में हुआ था। बाल्यावस्था मे माता-पिता से वियुक्त होने के कारण अपने मातामह द्वारा काशी लाये गये, मौसी द्वारा पालित पोषित हुए। वाद में मातुल द्वारा ज्योतिष के अध्ययन के आग्रह को ठुकरा कर उनका भी आवास छोड़ दिया। पश्चात् तत्कालीन सुप्रसिद्ध वैद्य श्री नन्द किशोर लक्ष्मण शास्त्री तेलंग से आयुर्वेद का अध्ययन किया था। रस वैद्य थे। इनका देहावसान काशी में सन् १६७४ ई. में ८६ वर्ष के वय में हुआ। भारत धर्म महामण्डल द्वारा प्रकाशित सुप्रसिद्ध संस्कृत पत्रिका "सूर्योदय" के सम्पादक, न्याय-वेदान्त, साहित्याचार्य, एम.ए. आदि उपाधियों से विभूषित विद्वान् स्व. श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर इनके ज्येष्ठ पुत्र थे।

बलदेव जी वैद्य-श्री बलदेव जी का जन्म बड़ागांव, तहसील एवं जिला वाराणसी में श्री जागेश्वर प्रसाद अग्रवाल की धर्मपत्नी की कुक्षि से २३.११.२८६८ ई. को हुआ था। आयुर्वेद अध्ययन आपने श्री त्र्यम्बक शास्त्री से किया था। स्वतः औषध निर्माण करते थे और अपने पैतृक निवास पर ही चिकित्सा का कार्य करते थे। स्वातंत्र्य संग्राम में प्रमुख भाग लेने के लिये बहुत कष्ट सहे थे।

सन् १६२१ में नमक बनावो आन्दोलन तथा १६४३ ई. में भारत छोड़ो आन्दोलन में रहते हुए अच्छा काम किया था। स्व. पं. मोतीलाल नेहरू, गोविन्द वल्लभ पंत एवं डा. सम्पूर्णानन्द जी आपके घनिष्ट मित्रों में थे। महात्मा गांधी को भी एक बार बड़ागांव लाये थे।

समाज सेवा में आपकी अत्यधिक रूचि थी। इसी के परिणामस्वरूप बड़ागांव में इण्टर कालेज, डिग्री कालेज, आयुर्वेद विद्यालय चिकित्सा प्रभृति जैसी संस्थाये आपके द्वारा स्थापित हुई। इन सभी संस्थाओं के पूर्व में इनका नाम जुड़ा है और आज भी चल रही है। इनके उत्तराधिकारी स्व. डा. शिवमोहन अग्रवाल एम.बी.बी.एस. होने के साथ आयुर्वेदाचार्य भी थे। बड़े कुशल चिकित्सक थे।

वैद्य बलदेव वैद्य का चिकित्सा कौशल विशेषतः पंचकर्म चिकित्सा के लिये समस्त पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार में विख्यात था। आप बड़े सात्विक, संयमी, शुद्ध आयुर्वेद के पक्ष-धर एवं सिद्ध चिकित्सक थे। आप को नाड़ी परीक्षा का उत्तम ज्ञान था।

श्री आद्या प्रसाद सिंह – श्री सिंह का जन्म जनक पट्टी ग्राम, बड़ागांव के समीप (वाराणसी) में श्री जयमंगल सिंह की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था। भारत के स्वातन्त्रता

संग्राम के अग्रणी थे। इनको तीन बार जेल यात्रा करनी पड़ी। जिला परिषद् वाराणसी के उपाध्यक्ष थे। कुशल चिकित्सक थे। इनका देहावसान पैतृक गांव में १६७६ में हुआ।

दुर्गादत्त ब्रह्मचारी - वैद्य श्री दुर्गादत्त, दत्ता श्रम ब्रह्मचारी का जन्म बुलन्दशहर, कर्ण निवास (पंजाव) श्री कल्याण दत्त शर्मा की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८८४ ई. में हुआ था। आपने आयुर्वेद का अध्ययन श्री त्र्यम्वक शास्त्री से किया था। भारत प्रसिद्ध विद्वान धर्मप्राण श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ से भी आपने अध्ययन किया था। आप रस योगो के निर्माण में वहुत पटु थे। रस सिद्धि के निमित्त यावज्जीवन प्रयासरत थे। वद्धः खेचरतांधत्ते" के अनुसार पारद की सिद्धि में वहुत कुछ सफलता प्राप्त की थी। कुष्ठ रोग के सफल चिकित्सक थे। चर्म रोगों में "अमृत तेल" का प्रयोग आपका एक खोज थी। आपने आतुर सन्यास लेकर सन् १६६६ ई. में शरीर त्याग किया था।

वैद्य श्री कालिकाचरण पाण्डे-श्री कालिका चरण पाण्डे का जन्म वैद्य सम्राट् श्री सत्यनारायण शास्त्री जी की धर्मपत्नी की कुक्षि से ७.११.१६१३ ई. को डी. ३६/१७६, अगस्त्यकुण्ड, वाराणसी में ज्येष्ठ पुत्र के रूप में हुआ था। आपने संस्कृत एवं भारतीय इतिहास में एम.ए., काव्यतीर्थ, हिन्दी साहित्यरत्न प्रभृति उपाधि परीद्याओं को उत्तीर्ण किया था। इण्डियन मेडिसिन वोर्ड (उ.प्र.) की परीक्षा भी उत्तीर्ण की थी। संस्कृत साहित्य में अनुसंधान कर पी.एच.डी. डिग्री प्राप्त की थी। तात्पर्य यह है कि आप सतत् अध्ययन शील वैद्य थे।

आयुर्वेद का अध्ययन अपने पूज्यपिता जी से तथा संस्कृत साहित्य का तत्कालीन विशिष्ट विद्वानों से किया था। उन विद्वानों में महामहोपाध्याय हरिहर कृपालु जी, श्री लक्ष्मण शास्त्री तेलंग, दामोदर लाल गोस्वामी, प्रसिद्ध नैयायिक श्री वामाचरण भट्टाचार्य तथा सुप्रसिद्ध तंत्रवेत्ता श्री गोपीनाथ कविराज प्रभृति विद्वानों से किया था।

आपने २६.१०.१६३८ ई. से मृत्यु पर्यन्त काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के "इण्डोलाजी" तथा आयुर्वेद विद्यालय में अध्यापन किया। सन् १६३६ ई. तक निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ तथा अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन की कार्यकारिणी के सदस्य थे। सन् १६४८-१६५१ तक हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट के सदस्य थे। सन् १६३८ से १६५० स्पेशल आनरेरी मजिस्ट्रेट थे।

आयुर्वेद साहित्य की अभिवृद्धि हेतु "वैद्य जीवनम्" की टीका लिखी थी। २५ अक्टूबर सन् १६७२ ई. को आपका देहान्त हो गया।

वैद्य श्री अत्रिदेव गुप्त - आपने पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जन्म लिया था। गुरूकुल कांगड़ी हरिद्वार (उ.प्र.) में वाल्यावस्था से ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। वहीं से आयुर्वेद में विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त कर आयुर्वेद स्नातक बने। विभिन्न आयुर्वेद संस्थाओं में भिन्न-भिन्न पदों पर रहते आपने सेवा की थी। कार्यकाल के अन्तिम दिनों में आपकी काशी

हिन्दू विश्वविद्यालय की आयुर्वेद फार्मेसी के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति हुई थी। इस अवधि में फार्मेसी को आपने पर्याप्त रूप से विकसित किया।

हिन्दी भाषा में आयुर्वेद साहित्य के आप सिद्धहस्त लेखक थे। "आयुर्वेद साहित्य का इतिहास" (हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित १९५४ ई. में), आयुर्वेद का वृहत् इतिहास (हिन्दी संस्थान, उ.प्र. लखनऊ), भारतीय रस पद्धति १९५० ई. चौखम्बा प्रकाशन, भैषज्य कल्पना (हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित सन् १९५२ ई.) भैषज्य संहिता (हिन्दी साहित्य समिति उ.प्र.) रस-शास्त्र (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सन् १९६१ ई.) चरक संहिता-सुश्रुत संहिता-अष्टांग हृदय नामक वृहत्त्रयी का हिन्दी टीका तथा सम्पूर्ण अष्टाङ्ग संग्रह की हिन्दी टीका की रचना भी आपने की थी, जो आज भी उपलब्ध है। इनकी एक और महान रचना "माडर्न मेडिसिन" (सेविल्स मेडिसिन) का हिन्दी भाषा में अनुवाद है (प्रकाशक मोती लाल बनारसी दास)। इस प्रकार अत्रिदेव जी एक विद्या व्यसनी, दृढ़ प्रतिज्ञ, प्रौढ़ आयुर्वेदज्ञ एवं महान लेखक थे। अपने समकालीन वैद्यों में अत्रिदेव जी गुप्त ने सर्वाधिक पृष्ठों में लेखन का कार्य किया हैं।

वैद्य त्रिवेदी प्रसाद बरनलाल-श्री बरनलाल जी का जन्म १३.९.१९०४ मंगलवार को ७/१९ सेनपुरा, वाराणसी में हुआ था। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेदाचार्य (ए.एम.एस.) के प्रथम बैच की उपाधि परीक्षा सन् १९३४ ई. में उत्तीर्ण की थी। इन्होंने इस परीक्षा के पूर्व काशी के सुप्रसिद्ध होमियोपैथिक डाक्टर श्री मोहित मोहन बनर्जी से होमियोपैथी का अध्ययन कर ढाका से एम.डी. परीक्षा भी उत्तीर्ण की थी। "वायोकेमिक" में इन्होंने एक पुस्तक की रचना "जीवन रसायन शास्त्र" नाम से की थी।

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन तथा उत्तर प्रदेशीय वैद्य सम्मेलन में विभिन्न पदों पर रहे। अर्जुन आयुर्वेद महाविद्यालय एवं काशी मण्डल वैद्य सभा में विभिन्न पदों पर रहे। हिन्दी साहित्य शिक्षा के भारत प्रसिद्ध विद्यालय "दीन भगवान् साहित्य विद्यालय" के प्रमुख कार्यकर्ता थे। स्वातंत्र्य संग्राम में वार्ड कांग्रेस कमेटी, चेतगंज वार्ड के मंत्री थे। स्वजातीय संस्थाओं के अध्यक्ष और "बरनवाल चन्द्रिका" नामक पत्रिका के सम्पादक भी थे।

आयुर्वेद एवं होमियोपैथी से समन्वित चिकित्सा पद्धति में निपुण इस वैद्य का यश बड़ा ही विश्रुत था। इनका निधन ९.११.९३ शनिवार को इनके निवास स्थान पर हो गया।

श्री मुनीश्वर मिश्र - श्री मुनीश्वर मिश्र का जन्म मिश्रौली, चिरैया कोट, आजमगढ़ (उ.प्र.) में श्री रामरेखा मिश्र की धर्मपत्नी श्रीमती सुखदेवी की कुक्षि से हुआ था। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सन् १९३२ ई. में "आयुर्वेद शास्त्राचार्य" परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया था। द्रव्यगुण विषय में आयुर्वेद कालेज में अध्यापक थे। आपकी संगीत शास्त्र

आपने सन् १६३४ ई. के विहार के प्रलयंकारी भूकम्प में पत्नी योगवासिनी के देहान्त के बाद, जिला परिषद से योगवासिनी आयुर्वेद औषधालय खुलवाया था।

श्री व्रजबिहारी चतुर्वेदी पटना- श्री व्रजविहारी का जन्म हाजीपुर नामक छोटे शहर में बिहार प्रदेश में पं. मोहन लाल चतुर्वेदी की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८७४ के आस पास हुआ था। बिहार नेशनल कालेज पटना के प्रोफेसर पं. राम नारायण से आपने संस्कृत, व्याकरण एवं दर्शनादि शास्त्रों का अध्ययन कर जम्मू संस्कृत विद्यालय, वाराणसी के अध्यक्ष पं. सीताराम मिश्र से आयुर्वेद का अध्ययन किया था।

कन्हौली, मधुवन, नरहन, अयोध्या एवं दरभंगा आदि रियासतों ने प्रभूत मासिक धनराशि देकर आप को अपना राज वैद्य बनाना चाहा, पूज्य महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेद विभागाध्यक्ष बनाना चाहा। इस सभी मांगों को अस्वीकार कर सन् १६१२ ई. में अपने जन्म स्थान में चिकित्सा व्यवसाय जमाया। वहां अपना संस्कृत विद्यालय भी स्थापित किया। हाजीपुर से पटना आकर आपने गवर्नमेण्ट संस्कृत एसोसिएशन में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम एवं परीक्षा स्थापित कराई। पश्चात् शासकीय आयुर्वेद विद्यालय पटना की भी स्थापना कराई थी।

आयुर्वेद शास्त्र के अध्ययनाध्यापन में आपकी विशेष रूचि थी। पाँच सौ के लगभग आपके शिष्य आयुर्वेद चिकित्सा व्यवसाय में हुए। इनमें श्री शिवचन्द्र मिश्र प्रमुख थे। आपने "मनोविज्ञान तत्वेन्दु शेखर" तथा "त्रुटि विवेक" नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। भारत सरकार से "वैद्य रत्न" उपाधि से सम्मानित किये गये थे।

श्री दरबारी लाल शर्मा, बरेली - श्री दरवारी लाल बरेली के सुप्रसिद्ध वैद्य और स्वतंत्रता सेनानी थे। आप सन् १६५० ई. से १६६६ तक भारतीय चिकित्सा परिषद उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष पद पर रहे थे। अपने कार्यकाल में परिषद में आपने सर्वाधिक ठोस कार्य किया था। कुछ समय तक उ.प्र. विधान परिषद के अध्यक्ष पद पर भी आसीन रहे थे।

श्री धर्मदत्त वैद्य बरेली- श्री धर्मदत्त जी का जन्म श्री शिवदयाल जी की धर्मपत्नी साहुकारा से बरेली सन् १६१२ ई. में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा के पश्चात् सन् १६२८ ई. में बनवारी लाल आयुर्वेद विद्यालय से निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ की वैद्य-विशारद परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १६३२ ई. में भिवानी से विद्यापीठ की आयुर्वेद परीक्षा उत्तीर्ण की। सोलह वर्ष वय में सन् १६२८ में महात्मा गांधी के स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े और तीन मास की भयंकर यातना जेल में सही। परिणामतः अध्ययन बन्द हो गया। दूसरी ओर पिता जी इसी वर्ष गृहस्थी के जीवन में बाधने के लिये ब्रह्मा देवी से इनका विवाह कर दिया। फिर भी राजनीतिक गतिविधियां जारी रही। साथ ही औषध निर्माण और चिकित्सा व्यवसाय में विशेष ध्यान देने लगे। सन् १६३६ ई. में बरेली में उ.प्र. कांग्रेस

अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्र देव और विशिष्ट अतिथि श्री जवाहर लाल नेहरू थे। अंग्रेजी सरकार का खूब दबदबा था, तथापि आपने अधिवेशन को पूर्ण सफल बनाया।

सन् १६३६ ई. में प्रथम कांग्रेस सरकार बनने पर सन् १६३८ में "इण्डियन मेडिसिन बोर्ड ऐक्ट" उपस्थित करने की चर्चा श्री रघुनाथ विनायक घुलेकर (झांसी) द्वारा उठी। उसे बल देने के लिये वैद्य जी ने बरेली में उत्तर प्रदेश आयुर्वेद सम्मेलन बुलाया। उसके बाद श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल तथा कविराज प्रताप सिंह के नेतृत्व में प्रदेशव्यापी आन्दोलन इनकी प्रेरणा से हुआ और १६३६ ई. में वह ऐक्ट पास हुआ।

२८ सितम्बर सन् १६४० ई. को व्यक्तिगत सत्याग्रह में जेल गये। बच्चों तथा परिवार की सेवा हेतु घर वालों ने इन्हें जमानत पर छुड़ाने के लिए आवेदन पत्र दिया, परन्तु उन्होंने जमानत पर छूटना अस्वीकार कर दिया। सन् १६४१ में जव छूटकर घर आये तो अबोध शिशु काल कवलित हो गया, जो इन्हें अंत तक द्रवित करता रहा।

पुनः ६ अगस्त सन् १६४२ ई. को भारत छोड़ो आन्दोलन में गिरफ्तार कर लिये गये। सन् १६४३ ई. तक जेल जीवन में काल कोठरी की भी यातना सही। जेल से छूटने पर पुनः पूर्ण व्यवस्थित वैद्यक व्यवसाय करने लगे। वैद्यक के साथ सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में अग्रणी रहे। पीलीभीत में प्रान्तीय आयुर्वेद सम्मेलन बुलाया। पुनः १६४५ ई. में बरेली में प्रान्तीय आयुर्वेद सम्मेलन सम्पन्न किया। सन् १६४६-४७ ई. में जिला परिषद बरेली का चुनाव जीता एवं उसके वरिष्ठ उपाध्यक्ष बनाये गये।

सन् १६४७ ई. में देश विभाजन के समय "आनरैरी पाइलट" बनकर हजारों शरणार्थियों को पाकिस्तान से भारत लाये। इसी वर्ष में "इण्डियन मेडिसिन बोर्ड" के चुनाव में विजयी हुए और रजिस्ट्रेशन कमेटी के अध्यक्ष हुए। श्री दरबारी लाल जी (बरेली के ही) बोर्ड के अध्यक्ष हुए। उसके बाद मृत्युपर्यन्त आयुर्वेद के अधिकार के लिये लड़ते रहे।

सन् १६५८ ई. में सम्पूर्णानन्द मंत्रिमण्डल से सभा सचिव, सन् १६६६ में चरण सिंह मंत्रिमण्डल में राज्य मंत्री, कमलापति त्रिपाठी मंत्री मण्डल में स्वायत्त शासन मंत्री, तत्पश्चात् स्वास्थ्य मंत्री बनाये गये। सन् १६७४ ई. तक मंत्री मण्डल में रहते हुए आयुर्वेद जगत को स्नेह देकर उन्होंने पुष्ट किया, यह चिरस्मरणीय रहेगा। सन् १६४०-५७ ई. तक भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद के सदस्य थे। सन् १६७२-७४ ई. तक निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के अध्यक्ष रहे।

आप बरेली क्षेत्र से विधायक चुने जाते थे। आपका निधन ४.११.१६८६ को बरेली में हुआ। इनकी मृत्यु के बाद इनके पुत्र श्री भूपेन्द्र कुमार ने इस सीट को स्वतंत्र उम्मीदवार की हैसियत से जीता।

श्री धर्मदत्त जी वैद्य का देश, समाज और आयुर्वेद के उत्थान करने में महत्वपूर्ण योगदान था।

श्री सभापति वाजपेयी, लखनऊ –श्री सभापति जी का जन्म सन् १८६६ ई. में मोहल्ला मोती लाल का पुल (रानी कटरा के निकट) लखनऊ में कुशल कवि श्री गंगाधर प्रसाद वाजपेयी की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था। आप साहित्य, दर्शन और धर्म शास्त्र के विद्वान् होने के साथ आयुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित थे।

आपने लाल स्कूल एवं क्रिश्चियन कालेज, लखनऊ में सन् १६०७ तक अध्यापन किया। फिर इसे त्याग कर वैद्यक करने लगे थे। शुद्ध आयुर्वेदीय औषथियों के लिये कान्यकुब्ज औषधालय खुलवाया था। लखनऊ की वैद्य सभा के अध्यक्ष थे। सुप्रसिद्ध "नवल किशोर प्रेस" लखनऊ में संस्कृत एवं आयुर्वेद ग्रन्थों के अनुवादक भी थे।

आयुर्वेद के विकासार्थ जस्टिस गोकर्णनाथ मिश्र की अध्यक्षता में बनी समिति के सदस्य होने के नाते आपका विभिन्न आयुर्वेद समितियों में बड़ा समादर था। आप लखनऊ विश्व विद्यालय के प्राच्य विभाग (संस्कृत विभाग) तथा अन्यत्र के सार्वजनिक धर्म एवं शिक्षा समितियों के सदस्य रहे। लखनऊ में मूल चन्द्र रस्तोगी ट्रस्ट आपने स्थापित कराया, जिसके द्वारा संचालित आयुर्वेद औषधालय आज भी चल रहा हैं। शिक्षा एवं आयुर्वेद के कार्यों में आप अपने स्वास्थ्य का विना ध्यान दिये परिश्रमपूर्वक सेवा करते रहते थे। दूसरी ओर भातृ वियोग एवं पत्नी वियोग को आप सह न सके। अपनी सारी सम्पत्ति गौरी गणेश के पूजन, आयुर्वेदीय छात्रवृत्ति तथा आयुर्वेदीय औषध वितरणार्थ वसीयत कर अक्टूबर १६२६ ई. में आपने शरीर का त्याग किया।

श्री सोहन लाल – श्री सोहन लाल जी का जन्म श्री इल्ला स्वामी वैद्य की धर्मपत्नी की कुक्षि से मथुरा में हुआ था। अपने समय के श्री सोहन लाल जी बहुत प्रखर, प्रवीण और प्रतिष्ठित वैद्य थे। आनरैरी मजिस्ट्रेट थे और भारत सरकार द्वारा आपको सम्मानित वैद्यरत्न की उपाधि मिली थी।

आपने माधव निदान, शार्ङ्गधर संहिता, रस हृदय तंत्र तथा वैद्य मनोरमा का हिन्दी अनुवाद किया है। "राजवंश" तथा ''मनुष्य का सर्वस्व'' नामक दो काव्य ग्रन्थों की भी रचना की हैं।

आप मथुरा विद्वत्सभा एवं वैद्य सभा के अध्यक्ष थे। उ.प्र. वैद्य सम्मेलन के उपसभापति एवं अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के स्थायी समिति के सदस्य थे।

आप श्रीमद् भागवत् के प्रकाण्ड विद्वान एवं वरेण्य कथावाचक थे। आपको जयपुर विद्वन्मण्डल ने "पौराणिक रत्न" तथा जगतगुरू शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य एवं बल्लभाचार्य ने "विद्याभूषण" और "वाणी भूषण" प्रभृति उपाधियों से अलंकृत किया था।

श्री बाबूराम मिश्र, हापुड़ (उ.प्र.) – श्री बाबू राम जी का जन्म सन् १८६४ ई. में श्री गंगाधर मिश्र की धर्मपत्नी श्रीमती चुनिया देवी की कुक्षि से पीलीभीत में हुआ था। आयुर्वेद की शिक्षा आपने श्री ललित हरि आयुर्वेद कालेज, पीलीभीत में प्राप्त किया। वहीं से आयुर्वेदचार्य उपाधि परीक्षा उत्तीर्ण की। वहीं से संस्कृत में शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण की थी। आयुर्वेद की सेवा- सन् १९२४ ई. में आपने उत्तर प्रदेश वैद्य सम्मेलन की स्थापना की। १९२६ ई. में उसके मंत्री एवं १९५६ ई. से पांच वर्षों तक अध्यक्ष रहे। मेरठ जिला वैद्य सम्मेलन के दोबार अध्यक्ष बने थे। मेरठ में गुरूकुल आयुर्वेद महाविद्यालय, डोरली की स्थापना की और उस के अवैतनिक प्राचार्य रहे। मृत्युपर्यन्त इण्डियन मेडिसन बोर्ड के निर्वाचित एवं मनोनीत सदस्य थे।

झांसी में श्री रघुनाथ विनायक घुलेकर के साथ सन् १९३८ ई. में आयुर्वेद के विश्व विद्यालय की स्थापना की एवं उसके अवैतनिक कुलाधिपति रहे। यहां से आपको आयुर्वेद बृहस्पति की उपाधि पूर्व प्रधानमंत्री भारत सरकार के हाथ से मिली। श्रीलंका से आपको आयुर्वेद चक्रवर्ती की उपाधि मिली थी। निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के अध्यक्ष पांच वर्षों तक थे।

हापुड़ को आपने कार्यक्षेत्र और निवास स्थान बनाया। वहीं पर ए.बी.एम. शोध संस्थान एवं नागार्जुन फार्मा की स्थापना की। जो आज भी आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री प्रभाकर मिश्र के अधीन विशाल पैमाने पर चल रहे हैं।

राजनीति सम्बन्धी कार्य तथा समाज सेवा – सन् १९११ से १९४७ ई. में स्वतंत्रता प्राप्ति तक आपने देश की सेवा में बहुविध कार्यों को सम्पन्न किया था। यथा-

१. सन् १९११ में बंगभंग आन्दोलन में गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन में सम्मिलित हुए। कई प्रकार की यातनाये सहनी पड़ी। हरिजन शिक्षा के लिए पाठशाला खोलने के कारण ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया।

२. सन् १९१६ ई. में श्री मुहम्मद अली के सभापतित्व में डिविजनल कांग्रेस का आयोजन किया। तिलक महाविद्यालय की स्थापना की।

३. सन् १९२१ ई. में महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया, ५ फरवरी सन् १९२२ ई. में दफा १४४ के उल्लंघन में दो वर्ष के लिए कठोर कारावास का दण्ड मिला।

४. सन् १९२३ ई. में जिला कांग्रेस के मंत्री एवं रूहेलखण्ड डिविजन के कांग्रेस के प्रधानमंत्री बने। इसी वर्ष में डिविजन स्वराज पार्टी के प्रधानमंत्री हुए और तीन मास तक जेल में रहे।

५. सन् १९२४ ई. में प्रदेश कांग्रेस के सदस्य चुने गये। सन् १९२८ ई. में "साइमन कमीशन" के विरोध में तीन मास का कारावास हुआ। पुनः इसी वर्ष में पं. गोविन्द

वल्लभ पन्त के साथ ६ मास तक कठोर कारावास दण्ड भोगे।

६. सन् १६३२ ई. में "राउन्ड टेबुल कान्फरेन्स" के विफल होने पर जेल भेजे गये। बाद में गांधी इरविन समझौतो में छूटे।

७. सन् १६३४ ई. में हरिजन सत्याग्रह में एक मास तक जेल में रहने के बाद पूना समझौते में छोड़े गये।

८. सन् १६४१ ई. में व्यक्तिगत सत्याग्रह में ६ मास तक जेल में रहे।

आपका निधन २.८.१६७७ को हापुड़ में हुआ।

श्री गणेश दत्त त्रिपाठी, गाजीपुर – श्री गणेश दत्त जी का जन्म सन् १६०७ ई. में ग्राम सोनवरसा, वेल्थरारोड, बलिया (उ.प्र.) श्री त्रिवेदी दत्त त्रिपाठी की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था। आपने आयुर्वेद का अध्ययन गाजीपुर के श्री विन्धेश्वरी शुक्ल (बिन्दु शुक्ल) वैद्य से किया था। आपने वैद्य व्यवसाय के लिये हरिशंकरी मुहल्ला, गाजीपुर शहर (उ.प्र.) का चयन किया। यहीं पर आपका औषधालय था, जहां से जनता जनार्दन की सेवा अपने चिकित्सा कौशल से करते थे।

आप स्वतंत्रता संग्राम में सन् १६४२ ई. में जेल गये थे। वहां पर बहुत तरह की यातनाये इनको सहनी पड़ी। गाजीपुर कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। पीड़ित स्वतंत्रता सेनानियों के परिवारों का भी भरण पोषण करते थे। न्यायोचित अधिकारों के लिए अंग्रेज सरकार के विरोध में प्रदर्शन और संघर्ष करते हुए सदा सफल होते थे। आपका गृहस्थी जीवनकाल भी ऋषिवत् था।

वृद्धावस्था में आपने पूर्णतया संन्यास ले लिया था। किसी ग्राम में एक दिन ही निवास करते थे। जिस ग्राम में निवास करते थे, उस ग्राम की जनता को सद्धर्म, सत् शिक्षा और सदाचार का उपदेश करते थे। सन् १६७८ ई. में कपरवार, वरहज देवरिया में आपका देहावसान हुआ।

श्री मंगला प्रसाद पाठक, आजमगढ़ – श्री मंगला प्रसाद का जन्म तुर्तीपार, जिला बलिया (उ.प्र.) में सन् १८५० के लगभग श्री रामलाल पाठक की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था। आजमगढ़ के श्रेष्ठ वैद्य श्री यमुना प्रसाद पाण्डे से आपने आयुर्वेद का अध्ययन किया था। निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ से आयुर्वेदाचार्य थे।

आपने आजमगढ़ में आयुर्वेद द्वारा चिकित्सा व्यवसाय कर उच्चकोटि की प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वृहत्त्रयी के उद्भट विद्वान् थे। चरक संहिता के कई स्थल आपको कंठस्थ थे। आपका देहावसान जन्म भूमि में ही हो गया।

चन्द्रदत्त त्रिपाठी, आजमगढ़ – श्री चन्द्रदत्त जी का जन्म ख्यातनाम वैद्य श्री रामानन्द त्रिपाठी की धर्मपत्नी की कुक्षि से खत्री टोला, सब्जी मण्डी, आजमगढ़ (उ.प्र.) में ३० दिसम्बर सन् १६१५ ई. को हुआ। आपने काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से

ए.एम.एस. परीक्षा प्रथम श्रेणी स्वर्ण पदक के साथ प्राप्त किया। अपने पिता की गद्दी पर बैठकर श्री चंद्रदत्त जी आजमगढ़ के श्रेष्ठतम चिकित्सक हो गये। वैद्य वृत्ति के अतिरिक्त सामाजिक और सार्वजनिक गतिविधियों में शहर में उनका बड़ा सम्मानपूर्ण स्थान था। आप अनुपम प्रतिभा सम्पन्न मृधुभाषी एवं व्यवहार कुशल वैद्य थे। आप सांख्यशास्त्र के उत्तम ज्ञाता थे। इनका निधन सन् १९८५ ई. में हुआ।

आपके द्वितीय पुत्र श्री शारदा निवास त्रिपाठी राजकीय आयुर्वेद कालेज लखनऊ से बी.ए.एस.एस. होने के बाद प्रतिष्ठापूर्वक पिता की गद्दी की शोभा बढ़ा रहे हैं।

शिवसहाय सिंह पचोखर, जौनपुर – वैद्य शिवसहाय सिंह का जन्म ग्राम पचोखर, डा. रामदयाल गंज, जिल। जौनपुर (उ.प्र.) एक अति शिव भक्त परिवार में सन् १८६२ ई. में हुआ था।

आप एक सिद्ध साधित वैद्य थे। प्रसिद्धि है कि वीरमपुर की यात्रा में एक संन्यासी का वरदान इनकी सिद्धि में कारण था। इनकी एक विशेषता थी कि रोगी दूर से देखकर उसकी व्याधि का पता लगा देते थे। चिकित्सा में तेल, अर्क और वटी का उपयोग करते थे। दूर दराज के रोगी इनके पास आते थे और नैरूज्य प्राप्त करते थे। इस यशस्वी सिद्ध वैद्य का देहावसान २५ अगस्त सन् १९३३ ई. को हुआ।

रामकिशोर सिंह, जौनपुर-वैद्य श्री राम किशोर जी का जन्म ग्राम जमुनियां, शाहगंज, जौनपुर (उ.प्र.) में राम प्रजलित सिंह की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १९०२ ई. में हुआ था। डी.ए.वी. कालेज, लाहौर से वैद्य कविराज परीक्षा उत्तीर्ण किया था। पुनः सनातन धर्म विद्यालय लाहौर से वैद्य शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण की थी।

आप जौनपुर से प्रकाशित "आयुर्वेद वाणी" नामक पत्रिका के सह-सम्पादक, प्रताप औषधालय, ओलन गंज, जौनपुर के संचालक और जौनपुर वैद्य सभा के मंत्री भी थे। शुद्ध आयुर्वेद के पक्षधर थे।

वासुदेव मिश्र, खेतासराय, जौनपुर-श्री वासुदेव जी का जन्म ग्राम डोभी शाहगंज, जिला जौनपुर (उ.प्र.) सन् १९१६ ई. में हुआ था। निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के आप आयुर्वेद स्नातक थे। आप शुद्ध आयुर्वेद के प्रखर प्रेमी एवं उच्चकोटि के विद्वान् वैद्य थे। धुन के पक्के एवं आयुर्वेद के समर्पित कार्यकर्ता थे।

"आयुर्वेद वाणी" और "गण मित्रम्" पत्रों के सम्पादक थे। खेतासराय, जौनपुर में कई आयुर्वेद शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की थी। यथा परशुरामपुरिया आयुर्वेद महाविद्यालय, भारती विद्यापीठ, भारतीय आयुर्वेद महाविद्यालय आदि। आपने अपनी समस्त चलाचल सम्पत्ति भारती विद्यापीठ, खेतासराय जौनपुर के नाम से वसीयत कर दिया था। आपने निखिल भारतीय विद्यापीठ स्नातक संघ की भी खेतासराय में स्थापना की थी। खेतासराय में उत्तर प्रदेश आयुर्वेद सम्मेलन के आयोजक थे। इस तपोमूर्ति, ऋषिकल्प श्री

मिश्र जी वैद्य का निधन अपने जन्मभूमि और कर्मभूमि में सन् १९७७ ई. को हो गया।

श्री जगदीश्वर दयालु अग्निहोत्री, फर्रूखाबाद–श्री जगदीश्वर दयालु जी फर्रूखाबाद (उ.प्र.) के कुशल एवं प्रसिद्ध वैद्य थे। सन् १९७०-१९७४ ई. तक उ.प्र. विधान सभा के विधायक एवं उत्तर प्रदेश चिकित्सा परिषद के अध्यक्ष थे।

श्री चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी, कानपुर–श्री चन्द्रिका प्रसाद जी का जन्म ग्राम जहागीराबाद, तहसील, घाटमपुर, जिला कानपुर (उ.प्र.) में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सं. १९६७ वि. (सन् १९११ ई.) को हुआ था। प्रारंभिक हिन्दी भाषा की परीक्षा के बाद उनकी पूरी शिक्षा संस्कृत माध्यम से हुई थी। आपने व्याकरण शास्त्री, काव्यतीर्थ तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाये उत्तम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। स्वाध्याय से अंग्रेजी, बंगला, मराठी और गुजराती भाषा में भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

अपने पितामह स्व. देश शंकर से सन् १८५७ ई. के गदर के समय में अंग्रेजों द्वारा किये अत्याचारों की कहानी सुनकर उनमें अंग्रेजी शासन के विरूद्ध देशभक्ति जगी। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद के साथ अन्तिम जीवन तक रहे। सन् १९०३ ई. के बाद अन्तिमकाल तक राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियों से प्रतिबद्ध हो गये। भारत में प्रसिद्ध कानपुर कांग्रेस के १९६० ई. में अध्यक्ष चुने गये। प्रदेश कांग्रेस के २० वर्षो से अधिक वर्षों तक सदस्य थे। वैद्यक में उत्तम ख्याति के बावजूद भी अधिकांश समय राजनीति में ही देते रहे।

सन् १९६० ई. से लगातार दस वर्षों तक भारतीय चिकित्सा परिषद के शासन द्वारा मनोनीत सदस्य थे। ६ वर्षों तक राज स्वास्थ्य बोर्ड के सदस्य थे। कुछ वर्षों तक उपर्युक्त परिषद के अध्यक्ष भी थे।

श्री बाबू हरिदास जी वैद्य, आगरा तथा मधुसूदन दीक्षित सीतापुर भी आप के समकालिक सुप्रसिद्ध एवं यशस्वी वैद्य थे।

श्री दलजीत सिंह जी –मौन कार्यकर्ता, सन्तुष्ट, आडम्बरहीन, प्रसिद्धि से दूर बहुश्रुत वैद्य, लेखक और चिकित्सक थे। आप द्वारा रचित पुस्तके निम्नलिखित है :-

१. आयुर्वेदीय विश्व कोश (लगभग पचास हजार शब्दों का अपूर्व सार्थक कोश) २. रोग नामावली कोश ३. आयुर्वेदीय द्रव्यगुण विज्ञान ४. यूनानी द्रव्यगुण विज्ञान ५. यूनानी सिद्ध योग संग्रह ६. यूनानी चिकित्सा विज्ञान ७. यूनानी चिकित्सा सार ८. यूनानी द्रव्यगुणादर्श ९. यूनानी वैद्यक के आधार भूत विज्ञान १०. वैद्यकीय मान तौल ११. फिरंगोपदंश विज्ञान १२. पुरूष रोग विज्ञान और १३. हुम्मयात कानून।

इन पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त "धन्वन्तरि" पत्र के यूनानी समन्वयाङ्क एवं यूनानी चिकित्साङ्क का आपने सम्मादन किया था। आपकी रचनायें महत्वपूर्ण, ज्ञानवर्धक एवं समादरणीय हैं।

श्री रामसुशील सिंह-श्री राम सुशील जी चुनार में जन्मे वैद्य हकीम श्री दलजीत सिंह के सगे अनुज थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेद स्नातक (ए.एम.एस.) थे। लखनऊ राजकीय आयुर्वेद विद्यालय में कुछ काल व्याख्याता थे। पश्चात् कुछ वर्षों तक शासकीय आयुर्वेद निदेशालय में सहायक निदेशक (उ.प्र.) थे। पश्चात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर संस्थान में रसशास्त्र विभाग के प्रोफेसर थे। द्रव्यगुण विषय पर इनकी कई पुस्तके और निबंध स्तुत्य हैं। आप सेण्ट्रल आयुर्वेदिक फार्माकोपिया कमेटी के सदस्य भी थे।

वैद्य शिवराम द्विवेदी, लखनऊ - श्री शिव राम द्विवेदी प्रतिभा सम्पन्न आयुर्वेदज्ञ थे। कानपुर एवं लखनऊ इनकी चिकित्सा व्यवसाय की कार्यस्थली थी। आपको आयुर्वेद केशरी उपाधि से सन् १६४० ई. में सम्मानित किया गया था। जीवन के अन्तिम वय में आप सन्यस्त हो गये थे। परिव्राजक के वेश में एक बार आप काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में आए थे। विश्व विद्यालय के कुलपति (श्री गोविन्द मालवीय) की चिकित्सा में ग्रहणी रोग में आपने एक काष्ठौधियोग बताया था। उससे कुलपति स्वस्थ हो गये थे। आज इस योग (कुटजादि विशेष योग नाम) का बहुत प्रचलन नवीन वैद्यों में हैं।

श्री संकठा प्रसाद, मिर्जापुर-श्री संकठा जी का जन्म पखवइया, मिर्जापुर, (उ.प्र.) में वैद्य देवकी नन्दन त्रिपाठी की धर्मपत्नी फूलवन्ती देवी की कुक्षि से सन् १८६७ में हुआ था। आपने मिर्जापुर के वैद्य श्री अनन्त राम जी से आयुर्वेद का अध्ययन किया था। (संभवतः प्रायः व्यवसायोपयोगी समस्त औषधियों को बनाते थे)।

आपके नाम से एक संस्कृत विद्यालय खवर्गीय जन्मभूमि में संचालित है। "विध्य आयुर्वेद भवन" नामक औषधालय (धमार्थ एवं विक्रयार्थं वाजीराव कटरा मिर्जापुर में आपके द्वारा स्थापित है। इनकी प्रेरणा से दो तीन और धमार्थ औषधालय चलते हैं। आपका निधन अपने निवास स्थान पर सन् १६७५ ई. में हुआ। आप के पुत्र-पौत्र आज भी चिकित्सा क्षेत्र में इनकी कीर्ति को बढ़ा रहे हैं।

श्री सीतावर पन्त नैनीताल- श्री सीतावर जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद स्नातक (ए.एम.एस.) थे। उत्तरांचल (उ.प्र.) के निवासी थे। नैनीताल (उ.प्र.) इनका कार्यक्षेत्र था। उत्तर प्रदेशीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के सदस्य और कांग्रेस के सुप्रसिद्ध कार्यकर्ता थे। नैनीताल में कैलाश फार्मेसी स्थापित कर चिकित्सा व्यवसाय करते थे।

श्री रामगोपाल शास्त्री, झांसी-श्री रामगोपाल जी का निवास और चिकित्सालय पंचकुइया मुहल्ला, झांसी नगर (उ.प्र.) में था। उत्तर प्रदेश आयुर्वेद सम्मेलन के अध्यक्ष पद को भी आपने अलंकृत किया था। भारतीय चिकित्सा परिषद (उ.प्र.) सदस्य और अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध वैद्य थे। आप स्वतंत्रता सेनानी भी थे।

श्री रामनारायण शर्मा, झांसी- श्री रामनारायण जी का जन्म जयपुर राज्य के कांसली ग्राम में राजस्थान में सन् १६०० ई. में पं. शिवनारायण जोशी की धर्मपत्नी श्रीमती जड़ाव देवी की कुक्षि से हुआ था। आपने संस्कृत और आयुर्वेद का यथाविधि अध्ययन कर "आयुर्वेदोपाध्याय" की उपाधि प्राप्त की थी। आप सुप्रसिद्ध आचार्य यादव जी त्रिक्रम जी वैद्य, बम्बई के शिष्य थे।

सन् १६२० ई. में विहार में पवित्र तीर्थ वैद्यनाथ धाम में "वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन" की लघुरूप की स्थापना की थी, जो आज आयुर्वेद की चार-पांच मूर्धन्य औषध निर्माण शालाओं में परिगणित और सुप्रतिष्ठित है। इसके बढ़ाने में आपके अग्रज सहोदर वैद्य श्री रामदयाल जोशी अध्यक्ष, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, पटना का भी प्रमुख हाथ था।

वैद्यनाथ अयुर्वेद के संस्थापक एवं अध्यक्ष वैद्य रामनारायण शर्मा आयुर्वेदोपजीवी व्यवसायी होने पर भी आयुर्वेद के हित चिन्तन में अग्रणी थे। व्यवसाय से आगे बढ़कर आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार एवं आयुर्वेद के विद्वानों के समादर में सदा तत्पर रहते थे।

अपने जीवन काल में आपने कई अत्युच्च कोटि की एवं सुव्यवस्थित आयुर्वेदसम्भाषा परिषदों का आयोजन किया था। उसमे चुने हुए अखिल भारत के प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञों द्वारा शास्त्र-चर्चा परिषद सम्पन्न होती थी। बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा प्रतिपादित तत्वों और विश्लेषणों को पुस्तकाकार देकर समय-समय पर प्रकाशित कराते थे। ये सभी कार्य वे आयुर्वेद शास्त्र के परिवृंहण के निमित्त ही करते थे। आज के युग में ज्ञान-विज्ञान की दिशा में और अनुसंधान के क्षेत्र में उपर्युक्त शास्त्र-चर्चा परिषदों के कार्य पथ प्रदर्शक सिद्ध हो रहे हैं।

श्री रामनारायण जी आचार्य यादव जी को एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया था, जो बहुविध सूचनाओं से युक्त और वैद्यों में समादृत हैं।

आपके द्वारा लिखित एक चिकित्सा संग्रह ग्रन्थ भी हैं। आयुर्वेद की उन्नति में आपके द्वारा स्थापित "वैद्यनाथ प्रकाशन विभाग" है, जिससे उच्च कोटि की आयुर्वेद पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है, सचित्र आयुर्वेद नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है। इसका वैद्य समुदाय में उत्तम समादर हैं।

मथुरा में श्री कृष्ण जन्मभूमि के सामने एक विशाल शोध-संस्थान पर अनुसंधान हेतु भी संचालित किया था।

वृद्धावस्था में आपने मथुरा में आवास बनाकर हरि चिन्तन करते हुए शेष जीवन को बिता दिया था।

श्री शिवनारायण मिश्र, कानपुर- श्री शिवनारायण जी का जन्म पं. शिवाधर मिश्र की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८५२ ई. में कानपुर में हुआ था। इनके पूर्वज पड़री जिला उन्नाव (उ.प्र.) के मूल निवासी थे।

आप सन् १६२६ ई. में कराची में सम्पन्न अखिल भारतीय आयुर्वेद द्वारा निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के मंत्री चुने गये थे। सन् १६१७ ई. में संयुक्त प्रदेशीय (उ.प्र.) आयुर्वेद महा सम्मेलन में आपकों "भिषगरत्न" की उपाधि दी गई थी। आपके पास विशाल आयुर्वेद पुस्तकालय था। हस्त लिखित आयुर्वेद पुस्तकों का शायद प्रदेश में सबसे बड़ा संग्रह इनके पास था। जिनकी संख्या एक सहस्त्र से अधिक थी।

आपकी मान्यता थी कि सभी पद्धतियों की गुणदायक औषधों का उपयोग वैद्यों को करना चाहिए। जल चिकित्सा, सूर्यरश्मि चिकित्सा, इजेक्शन चिकित्सा तथा अन्य आशुकारी औषधियों के उपयोग के पक्षपाती थे। सन् १६३१ ई. में आप कानपुर म्युनिसपल बोर्ड के सदस्य थे। आप कुशल चिकित्सक, प्रखर वक्ता के साथ ही उच्चकोटि के साहित्यक एवं चित्रकला प्रेमी थे।

सामाजिक जीवन में आप प्रबल क्रान्तिकारी और स्वाधीनता संग्राम के उद्‌भट सेनानी थे। सन् १६३० ई. के असहयोग आन्दोलन में नमक बंदी आन्दोलन और शराबबन्दी आन्दोलन में आप कानपुर शहर के डिक्टेटर थे। इसी कारण आपको कई बार जेल यात्रा भी करनी पड़ी थी।

स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी इनके अभिन्न मित्र थे। सन् १६१३ ई. में दोनों ने मिलकर देवोत्थानी एकादशी को सुप्रसिद्ध "प्रताप" नामक पत्र निकाला था। इसके सम्पादक श्री विद्यार्थी एवं मैनेजर श्री मिश्र जी बने थे। एतदर्थ इनको भयंकर कठिनाइयां सहनी पड़ी थी। "प्रताप'' के साथ ही आपने "मनोरंजन" और 'प्रभा' नामक दो पत्रिकाओं का भी प्रकाशन किया। "प्रकाश" नामक प्रकाशन स्थापित कर उससे लगभग ८६ पुस्तकें प्रकाशित की। एक आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला भी स्थापित किया, जिससे "खनिज विज्ञान" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी।

श्री कृपा शंकर-श्री कृपाशंकर जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद स्नातक (ए.एम.एस.) थे। सैदपुर, गाजीपुर (उ.प्र.) में चिकित्सा व्यवसाय करते थे। सिद्धहस्त विश्रुत वैद्य थे।

श्री किशोरी दत्त शास्त्री, कानपुर- श्री किशोरी दत्त जी का जन्म मार्ग शीर्ष कृष्ण ३ गुरुवार सं. १६४१ वि. (सन् १८८५ ई.) में देवाड़ी गुड़ग्राम (हरयाणा) पं. गुजारीमल ज्योतिषी की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था। आयुर्वेद की शिक्षा इन्होंने श्री साधुराम जी वैद्य (रेवाड़ी), श्री वासुदेव स्वामी भागवताचार्य (कानपुर) तथा रामनारायण मिश्र वैद्य (लखनऊ) से ग्रहण की थी।

आप "चिकित्सक" नामक पत्रिका (अप्रैल सन् १६१८ से प्रकाशित) के सम्पादक एवं सयुक्त प्रान्तीय आयुर्वेद सम्मेलन के छठे अधिवेशन के सभापति थे। आप वैद्य के संगठनों की निस्पृह भाव से सेवा में लगे रहते थे। परिणामतः बड़े शक्तिशाली सदस्य बने रहते थे।

आपने बीस से अधिक पुस्तकों की रचना की थी। आप "जगद्भास्कर" नामक औषधालय के संचालक थे।

कानपुर में उनके समकालीन कई एक ख्यातनाम वैद्य थे। यथा श्री बद्रीविशाल त्रिपाठी, श्री रघुवरदयाल भट्ट प्रभृति।

श्री रामेश्वर शास्त्री, कानपुर-कानपुर के सुप्रसिद्ध वैद्य श्री रामेश्वर शास्त्री सन् १६२६ ई. में आगरा में सम्पन्न संयुक्त प्रान्तीय आयुर्वेद सम्मेलन के अध्यक्ष थे। आप उ.प्र. भारतीय चिकित्सा परिषद के सदस्य भी थे। आप "आयुर्वेद केशरी" नामक एक पत्र (सन् १६५० ई. से) प्रकाशित करते थे।

श्री रामनारायण मिश्र, लखनऊ -श्री मिश्र जी हरिद्वार में सम्पन्न (सन् १६२५ ई. में) संयुक्त प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के पन्द्रहवें अधिवेशन के अध्यक्ष थे। राम नारायण मिश्र गणेशगंज, लखनऊ में चिकित्सा व्यवसाय करते थे और ख्यातनाम वैद्य थे।

श्री वैद्य दयानिधि शर्मा-ये काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के आयुर्वेद स्नातक (ए.एम.एस.) थे। बुढ़ाना गेट, मेरठ में भव्य औषधालय बना कर चिकित्सा व्यवसाय करते थे। उत्तर प्रदेश आयुर्वेद महासम्मेलन के कुछ काल तक प्रधानमंत्री भी थे। आपकी पत्नी श्रीमती सरोजनी देवी उच्चकोटि की वैद्या थी एवं इण्डियन मेडिसिन बोर्ड की सदस्या भी थी। वैद्या जी ने एक पुस्तक "महिला जीवन" नामक लिखी थी। यह पुस्तक "इण्डियन मेडिसिन बोर्ड" (उ.प्र.) की गृह स्वास्थ्य विशारद के द्विवर्षीय पाठ्यक्रम में पाठ्य पुस्तक रूप में निर्धारित थी।

श्रीमती यशोदा देवी, इलाहाबाद - इलाहाबाद में यशस्वी वैद्या श्रीमती यशोदा देवी प्रसूति तंत्र, स्त्रीरोग की विशेष ज्ञाता थी। स्त्री औषधालय एवं स्त्री चिकित्सा पत्रिका का सन् १६२२-१६४० तक प्रकाशन भी करती थी।

श्री क्षेत्रपाल शर्मा मथुरा - श्री शर्मा सुख संचारक कम्पनी के संस्थापक थे। मथुरा (उ.प्र.) में निवास करते हुए आयुर्वेदीय औषधियों तथा पुस्तको का प्रकाशन करते थे।

श्री रणधीर सिंह मौर्य, अलीगढ़ -श्री मौर्य का जन्म ग्राम सराय मान सिंह, जिला अलीगढ़ में श्री अंगन सिंह के पुत्र के रूप में ७ नवम्बर सन् १८६३ ई. में हुआ था। आयुर्वेद की शिक्षा वैद्य राज श्री मोहन सिंह मौर्य से प्राप्त की थी। कुशल वैद्य थे। इनका निधन सन् १६८४ ई. में हो गया।

श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी, लखनऊ -श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी जी का जन्म १४ अगस्त सन् १६०० ई. में महाराष्ट्र के सागली जिलान्तर्गत वालवे तालुका के एतबड़े ग्राम में श्री नारायण दामोदर कुलकर्णी की धर्मपत्नी श्री श्रीमती अम्बा बाई की कुक्षि से हुआ था। दस दिसम्बर सन् १६१५ ई. उन्हें चाचा श्री अनन्त व्यंकट कुलकर्णी की गोद

में दिया गया। बालक को विद्वान् बनाने की कामना से उन्होंने इनका नाम दत्तात्रेय रख दिया। तब से इनका नाम दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी पड़ गया।

आपने बम्बई विश्वविद्यालय से सम्बद्ध सुप्रसिद्ध फर्गुसन कालेज से बी.एस.सी. परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १६२५ ई. में काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से रसायन शास्त्र में एम. एस.सी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् वहीं साइन्स कालेज में "डिमांस्ट्रेटर" पद पर कार्य किया।

सन् १६२१ ई. में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रफुल्लचन्द्र राय से आयुर्वेदीय रसशास्त्र का एवं जुलाई सन् १६२७ ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज के तत्कालीन आचार्य भारत प्रसिद्ध वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य से आयुर्वेदाध्ययन की प्रेरणा मिली। सन् १६३२ ई. में आपने निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ से आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की।

सन् १६२७ ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय समन्वित प्रणाली का आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित होने पर इनकी नियुक्ति फिजिक्स और केमिस्ट्री व्याख्याता पद पर हुई। सुप्रसिद्ध सुश्रुत संहिता टीकाकार श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर ने आपके साथ ही आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की थी। आपके साथ ही उसी कालेज में अध्यापक थे। श्री कुलकर्णी जी ने ३३ वर्ष से लेकर ४६ वर्ष के वय तक काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में सेवा की थी। इस काल में रसरत्न समुच्च की अनुपम टीका आपने लिखकर प्रकाशित की। इनकी एक छोटी पुस्तक "पदार्थ विनिश्चय" नामक भी छपी थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

उ. प्र. में स्वतंत्र आयुर्वेद निदेशालय स्थापित होने पर लोकसेवा आयोग द्वारा आप प्रथम उपनिदेशक चुने गये। उस समय निदेशक पद आयुर्वेद विभाग में नहीं था। आपके प्रयास से शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय और शासकीय आयुर्वेद फार्मेसी की स्थापना हुई।

आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र, जामनगर (गुजरात) में ६३ वर्ष के वय में रस शास्त्र के प्रोफेसर और प्रधानाचार्य नियुक्त हुए तथा ३० अप्रैल सन् १६६३ ई. में आपने वहां पर सेवा प्रारम्भ की थी।

रामनारायण मुरलीमनोहर आयुर्वेद कालेज में ६६ वर्ष के वय में सन् १६६६ ई. में बरेली रहते हुए प्रधानाचार्य के पद को सम्भाला था। वहां पर तीन वर्षों तक रहे थे।

आप कुशल रसायन शास्त्री (प्राच्य एवं प्रतीच्य उभय के ज्ञाता) होते हुए भी शिष्य वत्सल, सत्यनिष्ठ, श्रद्धावान, निष्कलुष महापुरुष थे। मई सन् १६६६ से ही लखनऊ के गोमती रिवर कालोनी निवास करते थे, वहीं पर आपका देहावसान भी हुआ था।

श्री शिवदत्त शुक्ल, लखनऊ –श्री शिवदत्त शुक्ल का जन्म बड़ागांव, जिला सीतापुर (उ.प्र.) में प्रतिष्ठित वैद्य परिवार में १५.१२.१६१६ ई. को हुआ था। इनकी पत्नी का नाम सावित्री देवी था।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से सन् १६३७ ई. में आप आयुर्वेद स्नातक (ए.

एम.एस.) हुए। आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५४ ई. में एम.ए. एवं वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय से सन् १९५५ ई. में साहित्याचार्य परीक्षा भी उत्तीर्ण थे।

सन् १९४२ से १९५६ तक हि. वि. वि. में आयुर्वेद संकाय में प्रवक्ता, सन् १९५६ से १९५८ तक शासकीय आयुर्वेद विद्यालय लखनऊ में रीडर पद पर कार्य करते थे। सन् १९५८ से १९६७ तक लखनऊ के उसी विद्यालय में काय चिकित्सा विभागाध्यक्ष, अधीक्षक एवं प्रिन्सिपल रहे। लखनऊ विश्व विद्यालय में आयुर्वेद संकाय के प्रधान (डीन) तथा इण्डियन मेडिसिन बोर्ड के सदस्य भी थे। श्री शुक्ला जी प्रखर तेजस्वी शास्त्रज्ञ वैद्य थे।

आपने 'द्रव्यगुण मजूषा' नामक एक पुस्तक की रचना की थी। आपका देहावसान वैष्णव देवी के दर्शन में जाते हुए जम्मू में हुआ था।

श्री ज्ञानेन्द्र दत्त त्रिपाठी, लखनऊ – सीतापुर (उ.प्र.) शहर के निवासी ज्ञानेन्द्र दत्त त्रिपाठी लखनऊ के मूर्धन्य वैद्य थे। दुगावां, लखनऊ, में आपका औषधालय हैं। ललितहरि आयुर्वेद विद्यालय, पीलीभीत के पूर्व प्रधानाचार्य ख्यातनामा वैद्य श्री योगेन्द्र त्रिपाठी आपके सुपुत्र है।

श्री मदनमोहन द्विवेदी, बरेली–श्री मदन मोहन जी का जन्म ग्राम वकौनिया, जिला रामपुर (उ.प्र.) श्री जीव सुख जी की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १९११ ई. में हुआ था। लाहौर में आयुर्वेद की प्रारंभिक परीक्षा देने के बाद निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ, दिल्ली से आयुर्वेदाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की थी। ब्रज मोहन लाल संस्कृत एवं आयुर्वेद विद्यालय, विहारीपुर, बरेली में यावज्जीवन अवैतनिक प्रधानाचार्य रहे।

आप आयुर्वेद के प्रकाण्ड पण्डित, धर्म परायणं एवं आचारवान् विद्वान थे, सदा अध्यापन, ईश्वराधन और चिकित्सा व्यवसाय में लगे रहते थे। आज लगभग इनके चार सौ शिष्य आचार्य द्विवेदी की कीर्ति को बढ़ा रहे है। आपका निधन बरेली में अपने निवास पर सन् १९२० ई. में हो गया। आप की परम विदुषी कन्या श्रीमती राजकुमारी उपाध्याय आपका उत्तराधिकार संभाल रहीं हैं।

श्री शालिग्राम जी शास्त्री, लखनऊ–श्री शालिग्राम जी का जन्म बरेली (उ.प्र.) प्रकाण्ड ज्योतिषी श्री पोशाकी लाल जी की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८८६ ई. में हुआ। इनके पूर्वज ब्रजभूमि से बरेली आये थे। विद्वानों का गढ़ होने से बरेली का तिवारी मुहल्ला (जहां इनका जन्म हुआ था) छोटी काशी कहा जाता हैं।

व्याकरणादि विधाओं में इनके गुरू महामहोपाध्याय जी गंगाधर शास्त्री एवं महोपाध्याय पं. शिव कुमार शास्त्री थे। अपने शास्त्रों के श्री शालिग्राम जी प्रकाण्ड पण्डित थे। चिकित्सा का व्यवसाय बरेली में ही आरम्भ किया था। पश्चात् लखनऊ के हुसेनगंज मुहल्ले में मृत्युञ्जय औषधालय स्थापित कर चिकित्सा कार्य करने लगे। साथ में अनेक ग्रन्थों की रचना भी किया।

साहित्य, व्याकरण और आयुर्वेद के क्षेत्र में उनके ग्रन्थ बड़े सम्मान से देखे जाते है। साहित्य दर्पण की टीका, महाकवि माघ "अर्वाचीन साहित्य विवेचना" और अलंकार कल्पद्रुम नामक ग्रन्थों की रचना की। "अप्राव्रत निर्णय", "सुरभारती सन्देश" इन्हीं की कृति हैं। आयुर्वेद में "आयुर्वेद महत्व" एवं त्रिधातुवाद तथा "रामायण में राजनीति" आप की ही रचना हैं।

तुलसीराम माहेश्वरी, अलीगढ़-श्री तुलसी राम जी का जन्म ग्राम एवं डा पिण्ड्रावल, जिला बुलन्दशहर में श्री श्यामलाल जी माहेश्वरी की धर्मपत्नी की कुक्षि से सन् १८८५ ई. में हुआ था। आंत्ररोग और तंत्र-मंत्र के आप विशेषज्ञ थे। आयुर्वेद का अध्ययन आपने श्री हरिहरानन्द स्वामी से किया था। सन् १६५७ ई. में युसुफगंज, अलीगढ़ में इनका देहावसान हुआ।

श्री रामनाथ शास्त्री, इटावा-श्री रामनाथ जी का जन्म सन् १६०५ ई. में ग्राम यमुना तरहटी जिला इटावा (उ.प्र.) श्री गोपाल प्रसाद जी पाण्डे के धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था। पण्डित प्रवर श्री शिवसहाय जी से इन्होंने संस्कृत और आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। निखिल आयुर्वेद विद्यापीठ से आयुर्वेद परीक्षा उत्तीर्ण की थी। आयुर्वेद महाविद्यालय गुरूकुल कांगड़ी में प्राध्यापक थे। वहां पर द्रव्यगुण एवं शल्य तंत्र विभाग के अध्यक्ष भी थे। उप प्राचार्य पद पर भी कुछ काल तक रहे थे। कुशल चिकित्सक होने के साथ ही द्रव्यगुण विषय के अच्छे ज्ञाता थे। "गृह द्रव्य विज्ञान", "गाँव के पौधे", "द्रव्यगुण चिकित्सा विज्ञान", बनौषधि शतक, प्रभृति कई पुस्तकों के प्रणेता थे। सन् १६६१ ई. में हरिद्वार में इनका निधन हुआ। इनके सुपुत्र ज्ञानेन्द्र नाथ पाण्डे भी विद्वान वैद्य थे।

श्री विश्वेश्वर दयालु, इटावा-बरालोकपुर, इटावा के सुप्रसिद्ध विद्वान वैद्य थे. आपने सन् १६२३ ई. से पाक्षिक और सन् १६२४ ई. मासिक रूप से प्रकाशित होने वाले "अनुभूत योग माला" का सम्पादन किया। "आयुर्वेद विश्वकोश" के प्रथम खण्ड के रचयिता रूप में आप आयुर्वेद जगत में विख्यात् है।

रत्नाकर शास्त्री, इटावा-श्री रत्नाकर जी का जन्म ग्राम अजीतमल, इटावा (उ.प्र.) सन् १६०८ श्री राम किशन जी वैश्य की धर्मपत्नी की कुक्षि से हुआ था।

आपने आयुर्वेद शिरोमणि, शास्त्री एवं एम.ए. परीक्षाएं उत्तीर्ण की थी। आयुर्वेद के साथ हिन्दी साहित्य के भी अच्छे ज्ञाता थे। आप की कई रचनायें प्रसिद्ध है। यथा "भारत के प्राणाचार्य", 'वैदिक आरोग्य' "नदी के देवता", "स्नातक पत्र" एवं "नीराजना"। इनकी बहुत सी अप्रकाशित पुस्तकें घर पर सुरक्षित हैं। इनका निधन मेरठ में सन् १६८६ ई. में हो गया।

श्री बद्री प्रसाद शर्मा, बुलन्दशहर- श्री बद्री प्रसाद का जन्म स्थान जेवर, बुलन्दशहर (उ.प्र.) वैद्य श्री शिवलाल शर्मा की धर्मपत्नी श्रीमती प्राणवती देवी की कुक्षि से सन् १८६७ ई. में हुआ था। आपने महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर से वैद्य शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर सन् १६२६ ई. से चिकित्सा व्यवसाय प्रारम्भ कर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। सन् १६३०-४७ तक मण्डल कांग्रेस कमेटी के मंत्री थे। हरिजन, महिलाओं एवं कुण्ठाग्रस्त दीनहीन जनों की सेवा की थी। सन् १६८७ में आपका देहावसान हुआ।

श्री विंध्याचल पाण्डे, श्री जवाहर पाण्डे श्री रामराज पाण्डे, प्रभृति उत्तम शास्त्रज्ञ वैद्य गाजीपुर जिले के कई कस्वों में जैसे शेरपुर, कठार आदि इलाकों में प्रतिष्ठित इसी काल में थे।

श्री मुकुन्दी लाल द्विवेदी, लखनऊ-श्री मुकुन्दी लाल जी का जन्म पं. रामशरण द्विवेदी की धर्मपत्नी श्रीमती शिवदेवी की कुक्षि से ग्राम माकड़ी जिला बुलन्दशहर (उ.प्र.) में ६.१२.१६१६ ई. में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा के अनन्तर आपने ऋषिकुल आयुर्वेद विद्यालय, हरिद्वार से सन् १६४१ ई. में डी.आई.एम. परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम होकर शारीर, स्वस्थवृत्त एवं शल्यतंत्र में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण किया। वहीं से डी. आई.एम.एस. परीक्षा चरक संहिता में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण किया। सन् १६४३ ई. में निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ दिल्ली से आयुर्वेदाचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम होकर उत्तीर्ण किया। उसमें आप को अमृतधारा स्वर्ण पदक एवं धूतपापेश्वर प्रथम पुरस्कार भी मिला। उनका विवाह रानापुर (बुलन्दशहर) के श्री भेदीलाल शर्मा की पुत्री श्रीमती सरला देवी से हुआ था। आपकी धर्मपत्नी कुशल महिला थी। इनकी प्रेरणा भी श्री द्विवेदी जी को आगे बढ़ाने में सहायक थी।

जुलाई सन् १६४४-५४ तक ऋषिकुल में आर.एम.ओ. से प्राध्यापक पद तक को सुशोभित करने के बाद सन् १६५४-६० ई. तक केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसंधान संस्थान, जामनगर (गुजरात) में विभिन्न पदों से उन्नति करते हुए प्रोफेसर काय चिकित्सा पद पर सेवा करते रहे।

आपने मई १६६० ई. से उत्तर प्रदेश स्वास्थ्य सेवा में आयुर्वेद के उपनिदेशक तत्पश्चात् जुलाई सन् १६६१ ई. से यही पर आयुर्वेद निदेशक पद पर सन् १६७६ ई. तक सेवा की। इस पद पर रहते हुए विभिन्न समितियों के सदस्य, अध्यक्ष एवं विभिन्न विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद संकायों के सदस्य एवं अध्यक्ष हुए। सेवा से निवृत्त होने के अनन्तर आपने आयुर्वेद विश्वविद्यालय जामनगर में कई वर्षों तक उपकुलपति पद को अलंकृत किया था। इसके पश्चात् मूलचन्द खैरातीराम आयुर्वेद अस्पताल, लाजपत नगर

दिल्ली में निदेशक पद पर भी सेवा की थी। जहां पर जिस पद पर भी श्री द्विवेदी ने सेवा की, वहीं प्रचुर प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और संस्थाओं ने भी पर्याप्त उन्नति की।

आपने "आतुर प्रकृत्यादि परीक्षा", पाण्डुरोग, प्रवाहिका रोग और आमयिक प्रयोग एवं पञ्चकर्म विषय पर विस्तृत ग्रन्थ रचना प्रस्तुत की थी। लखनऊ में मुख्यमंत्री नारायण दत्त तिवारी द्वारा अभिनन्दन ग्रन्थ आपको रामर्पित किया गया था। आपके अग्रज श्री छुट्टन लाल द्विवेदी बुलन्दशहर के सुप्रसिद्ध वृद्ध वैद्य हैं। श्री मुकुन्दीलाल जी इतने बड़े-बड़े पदों पर रहते हुए भी बड़े शीलवान व्यक्ति थे। आयुर्वेद में शोध के प्रति इनकी गहरी रूचि थी। वय के अन्त भाग में नौचण्डी मेरठ में गृह बनाकर रहते थे। वहीं पर इनका निधन सन् १९९० ई. में हो गया।

आयुर्वेद पञ्चानन श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, प्रयाग–श्री जगन्नाथ प्रसाद जी का जन्म एकडला ग्राम, जिला फतेहपुर (उ.प्र.) में श्री गया प्रसाद शुक्ल की धर्मपत्नी की कुक्षि से भाद्रपद शुक्ल. ८ सोमवार सम्वत् १९३६ (१८८० ई.) में हुआ था। श्री शुक्ल जी की प्रारंभिक शिक्षा मध्यप्रदेश में हुई। सन् १९०१ ई. में श्री जगन्नाथ शर्मा राज वैद्य द्वारा स्थापित प्रयाग समाचार के सम्पादक होकर सर्वप्रथम प्रयाग आये। उसके बाद बम्बई में "व्यंकटेश समाचार" के सम्पादक होकर चले गये। वहीं पर अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के संस्थापक श्री शंकर दा शास्त्री पदे वैद्य से सम्पर्क हुआ। इसके बाद हिन्दी केशरी नागपुर के आप सम्पादक हो गये। वहां पर भी शास्त्री जी का कार्यालय था। शास्त्री जी के आग्रह से इन्होंने आयुर्वेद की सेवा में अपने पूर्ण जीवन को समर्पित कर दिया।

पुनः १९०६ ई. में प्रयाग आकर स्थायी निवास बनाया और यहीं पर स्थायी रूप से रहने लगे। सन् १९८६ ई. में श्री शंकर दा शास्त्री पदे का देहावसान हो गया। फलतः अ.भा. आयुर्वेद महासम्मेलन का पूर्ण कार्यभार आपको ही संभालना पड़ा। इन्होंने प्रयाग में ही महासम्मेलन का विशाल अधिवेशन आयोजित किया और उसके प्रधानमंत्री बनाये गये। सन् १९२७ ई. में महासम्मेलन के सभापति थे।

दारागंज प्रयाग में अपना मकान, प्रेस औषधालयादि कर लिया था। यहीं से "सुधानिधि" नामक आयुर्वेद पत्र अपके सम्पादकत्व में सन १९११ ई. से ही प्रकाशित करने लगे थे। सन् १९१४ ई. में खगोल पटना में बिहार आयुर्वेद सम्मेलन के अध्यक्ष हुए। उ.प्र. आयुर्वेद सम्मेलन के भी एक बार अध्यक्ष थे। भारतीय चिकित्सा परिषद उत्तर प्रदेश के भी सदस्य थे।

आपने कई उच्चकोटि की आयुर्वेद पुस्तकों की रचना की थी। यथा "निघण्टु शिरोमणि", "अनुपम कल्पतरु", "द्रव्यगुण विज्ञान", "द्रव्यसंग्रह विज्ञान", "गुण परिज्ञान", "परिभाषा प्रबंध", "प्राणिज औषध" और पदार्थ विज्ञान आदि पुस्तकें लिखी थी।

महासम्मेलन के जन्मदाता श्री पदे शास्त्री थे, परन्तु आयुर्वेद संगठन को यावज्जीवन सर्वाधिक बल इन्होंने ही दिया था। सन् १९६७ ई. में अपने निवास स्थान पर प्रयाग में इनका देहावसान हो गया।

डा. रत्नप्रकाश गुप्त – आप हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से ए.एम.एस. किये थे। ऋषिकुल आयुर्वेद महाविद्यालय हरिद्वार के प्राचार्य रहे। आप नेत्र रोग के विशेषज्ञ हैं। अनुशासन प्रिय, कुशल प्रशासक एवं सुयोग्य नेत्र शल्यक हैं। हरिद्वार में रहते हैं।

डा. विष्णुदत्त भारद्वाज–आपका जन्म जनपद सहारनपुर के ग्राम चन्देना कोली में एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में १ जनवारी, १९४२ को हुआ था। आपके परिवार में पूर्व से ही चिकित्सा कार्य होता रहा है। आपके पिता श्री पं. सीताराम वैद्य बहुत ही प्रतिष्ठित वैद्य थे तथा आपके दादा श्री हरकेश दत्त वैद्य बहुत ही अनुभवी आयुर्वेद के विद्वान चिकित्सक थे। जिन्होंने अपनी शिक्षा वाराणसी से प्राप्त की थी, फिर हरिद्वार में कार्य किया किन्तु बाद में जनपद सहारपुर के ग्राम चन्दैना कोली में ही मृत्युपर्यन्त आयुर्वेद की चिकित्सा करते रहे। वह नाड़ी-परीक्षा में बहुत ही निपुण थे, इसलिए दूर-दूर तक आयुर्वेद की चिकित्सा के लिए बड़े-बड़े घरानों में भी जाया करते थे।

डॉ. विष्णुदत्त जी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई। हाईस्कूल के पश्चात् इन्होंने इण्टर मुजफ्फरनगर से किया तथा ए.एम.बी.एस. की उपाधि ऋषिकुल आयुर्वेद महाविद्यालय से १९६३ में प्राप्त की। उसके पश्चात् ये चिकित्सा व्यवसाय जनपद मुजफ्फरनगर में करते रहे। इनकी अध्ययन एवं अध्यापन में प्रारम्भ से ही रुचि थी, इसलिए बाद में मुजफ्फरनगर के स्वामी कल्याणदेव आयुर्वेद महाविद्यालय में अध्यापन कार्य करते रहे। पढ़ने में रुचि होने के कारण उन्होंने मेरठ विश्वविद्यालय में बी.ए. एवं दर्शनशास्त्र में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। आपने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार से योग में भी डिप्लोमा प्रथम श्रेणी में प्राप्त किया। आपने मेरठ विश्वविद्यालय से ही विधि स्नातक के रूप में एल-एल.बी. की परीक्षा पास की।

आपने स्वामी कल्याणदेव आयुर्वेद महाविद्यालय में मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता विभाग में पहले प्रवक्ता के रूप में फिर रीडर के रूप में अध्यापन कार्य करते रहे। इसी कालेज से विभागाध्यक्ष के रूप में सन् १९९९ में राजकीय सेवा से निवृत्त हुये। इस काल में आपने अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये तथा आयुर्वेद की अनेक राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमें विशेष रूप से प्रकाशित होने वाली सचित्र आयुर्वेद पटना से तथा अलीगढ़ से प्रकाशित धन्वन्तरी एवं सुधानिधि के विशेषांकों के साथ-साथ अन्य स्वास्थ्य पत्रिकाओं जैसे-आरोग्यधाम, आयुर्वेद शक्ति एवं राजस्थान से प्रकाशित रूचि तथा अन्य पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

आप बी.ए.एम.एस. तथा आई.एस.एम. स्नातकों की राष्ट्रीय संगठन एन.आई.एम.ए. के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष भी अनेक वर्षों तक रहे। आपके अनुभव के अनुसार जीर्ण व्याधियों में आयुर्वेद चिकित्सा बहुत ही उपयोगी है। आयुर्वेद के लिये समय-समय पर अनेक मंचों से भी आप आयुर्वेद आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार के लिए कार्य करते रहे। इस समय आप साकेत रोड मुजफ्फरनगर उ.प्र. में रहकर की सेवा कर रहे हैं।

वैद्य सोमदत्त जी-आपका जन्म जनपद सहारनपुर में १६२० में हुआ था। आपने आयुर्वेद की शिक्षा आयुर्वेद महाविद्यालय हरिद्वार से १६४० में प्राप्त की थी तथा उसके पश्चात् आपने चिकित्सा कार्यक्षेत्र सहारनपुर में प्रारम्भ किया। आप तब से सतत् आयुर्वेद की चिकित्सा कर रहे हैं। आपको यूनानी का भी बहुत अच्छा ज्ञान है। अतः आप आयुर्वेद एवं यूनानी की मिश्रित चिकित्सा कर रहे हैं। आपका अनुभव बहुत अधिक है। आप सदैव आयुर्वेद की चिकित्सा के प्रति लोगों को प्रेरित करते रहे हैं। आप अनेक आयुर्वेद संगोष्ठियों में भाग लेते रहे हैं तथा आज भी जीर्ण रोगों की चिकित्सा आयुर्वेद से करते हैं।

पं. रामसहाय वैद्य-आप मेरठ के प्रख्यात आयुर्वेद चिकित्सक रहे हैं। आप मेरठ में बहुत वर्षों तक आयुर्वेद की चिकित्सा करते रहे हैं। आपने एक आयुर्वेद कालेज की भी स्थापना की थी, किन्तु दुर्भाग्यवश वह बहुत समय तक नहीं चला। इसके बाद में वह रामसहाय इन्टर कालेज में परिवर्तित हो गया था। आप सौम्य स्वभाव के व्यक्ति थे। आप सदैव आयुर्वेद के अग्रणी वैद्यों में रहे हैं। आयुर्वेद के प्रति उनकी निष्ठा इसी बात से प्रतीत होती है कि उन्होंने अपने कार्यकाल में आयुर्वेद संस्था को चलाया। आपके नाम की दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी। इतने वर्षों के पश्चात आज भी उनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है।

डा. वीरेन्द्र कुमार शर्मा – आप ऋषिकुल आयुर्वेद महाविद्यालय से वी.आई.एम.एस. किया था। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में विभिन्न पदों पर रहते हुए प्राचार्य के पद से अवकाश प्राप्त किये। 'मानसरोग' आपकी उत्तम रचना है। आपके मार्गदर्शन में अनेकों छात्रों ने एम.डी. एवं पी.एच.डी. किया है। आप ओजस्वी वक्ता एवं आयुर्वेद के मौलिक चिन्तक हैं।

डा. पूर्णचन्द जैन – आप भी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ए.एम.एस. किये थे, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में विभिन्न पदों पर रहते हुए प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद से अवकाश प्राप्त किये। आप शारीर के विद्वान हैं। आपके मार्गदर्शन में अनेकों छात्रों ने एम.डी. एवं पी.एच.डी. किया है। शारीर क्रिया विषय पर आपका ग्रन्थ प्रकाशित है।

डॉ. राजनारायण सिंह–आप बनारस हिन्दू शिवविद्यालय से ए.वी.एम.एस. एवं जामनगर से एम.पी.ए. किया था। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ से सेवा प्रारम्भ

कर, वहीं से प्राचार्य के पद से अवकाश ग्रहण किये। आयुर्वेद के योग्य अध्यापकों में रहे हैं। आप द्रव्यगुण के अच्छे विद्वान है। केवल आप ही लखनऊ आयुर्वेद महाविद्यालय में ऐसे आयुर्वेद के अध्यापक थे, जो लेक्चरर लेते समय किसी प्रकार की नोटबुक एवं पुस्तक आदि नहीं लाते थे। आप स्वभाव से विनम्र एवं मृदुभाषी हैं। आपके मार्ग निर्देशन में अनेकों अध्यापक पी.एच.डी. किये हैं। इस समय राजाजीपुरम् लखनऊ में रहते हैं।

डा. सी.वी. दूबे - आपका जन्म वाराणसी जनपद के कूड़ी ग्राम में पवित्र सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में पं. कृष्णानन्द दूबे के पुत्र के रूप में सन् १६३४ में हुआ था। आपकी आयुर्वेद की शिक्षा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से ए.वी.एम.एस.डी., एवाई. एम., पी.एच.डी. की हुई है। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष कायाचिकित्सा के साथ-साथ प्राचार्य के पद पर विराजमान रहे। तत्पश्चात् अपर निदेशक आयुर्वेद बने। अन्त में निदेशक आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएँ उ.प्र. के पद से १६६२ में सेवा निवृत्त हुए। आप सफल चिकित्सक हैं। इस समय राजाजीपुरम् लखनऊ में रहकर आयुर्वेद की साधना कर रहे हैं।

वैद्य श्रीनारायण विद्यार्थी - आपका जन्म पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जनपद में हुआ था। आयुर्वेद की शिक्षा कान्यकुब्ज आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ से हुई थी। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद से आप सेवा निवृत्त हुए थे। पिछले वर्ष नवम्बर २००५ में आपका देहावसान हो गया।

डा. यज्ञदत्त शुक्ल—आप पं. शिवदत्त शुक्ल के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपकी आयुर्वेद की शिक्षा राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में हुई थी। वहीं पर शारीर विभाग में सेवा प्रारम्भ किया था। प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष एवं प्राचार्य के पद से अवकाश प्राप्त किये। आप शारीर के अच्छे विद्वान तथा ओजस्वी वक्ता हैं। आजकल महानगर लखनऊ में रहते हैं।

डा. शिवसागर शुक्ल—डा. शिवसागर शुक्ल का जन्म अम्बेडकर नगर जनपद के ग्राम अल्लौदीपुर में पं. अक्षयवट प्रसाद शुक्ल के पुत्र के रूप में सन् १६४२ में हुआ था। आपकी संस्कृत की शिक्षा पिता के सानिध्य में रायबरेली में हुई थी। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ से आयुर्वेदाचार्य करने के पश्चात आपकी नियुक्ति वहीं पर हो गयी। वहीं पर प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष मौलिक सिद्धान्त काफी वर्षों तक रहे। तत्पश्चात प्राचार्य एवं अधीक्षक के पद से लखनऊ से सन् २००२ में कार्यमुक्त हुए। आप आयुर्वेद के सफल चिकित्सक तथा शुद्ध आयुर्वेद के पक्षपाती हैं। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की व्यवहारिक उपादेयता' तथा 'प्राण' विषय पर आपने पुस्तक लेखन भी किया है। इसके अतिरिक्त आपके अनेकों लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित है। आजकल विश्व आयुर्वेद परिषद् पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं।

डा. सत्यपाल गुप्ता - आप उत्तर प्रदेश में निदेशक के पद पर १९७६ में नियुक्त हो गये। लगभग बारह वर्षो तक इस पद पर रहे। आप विद्वान्, योग्य चिकित्सक, जनप्रिय एवं कुशल प्रशासनिक अधिकारी रहे हैं। आजकल ऐशबाग लखनऊ में रह रहे हैं। मानस प्रकृति परीक्षण पर आपका ग्रन्थ प्रकाशित है।

डा. रामानुज मिश्र - आप हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से ए.एम.एस. किये थे। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में शालाक्य के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष रहे। आप नेत्र रोग के अच्छे सर्जन थे। आपके समय में रोगियों की संख्या अपार रहती थी। इस विभाग को आपने विकसित किया था।

डा. दिनकर गोविन्द थत्ते - आपका जन्म २ अगस्त १९३० को जिला बांदा उ. प्र. में हुआ था। वैसे आप महाराष्ट्र के मूल निवासी हैं। लखनऊ आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष शारीर के पद पर रहे हैं। अन्त में अतिरिक्त निदेशक आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएं उ.प्र. लखनऊ से सेवानिवृत्त हुए। आप रचना शारीर के उच्च कोटि के विद्वान हैं। इस विषय अनेकों ग्रन्थ का लेखन किया है। शारीर विषय में शोध पर भी आप कार्य कर रहे हैं।

डा. केवलकृष्ण ठकराल-डा. ठकराल मूलरूप से पंजाब के रहने वाले हैं। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय उ.प्र. में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष शल्य तंत्र, प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक रहे हैं। अन्त में विभाग के सर्वोच्च पद निदेशक आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएं उ.प्र. के पद से आप सेवा निवृत्त हुए। आप शल्य के विद्वान्, मृदुभाषी तथा योग्य सर्जन हैं।

डा. सर्वदेव उपाध्याय - डा. उपाध्याय का जन्म पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जनपद में हुआ है। आयुर्वेद की सम्पूर्ण शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी से हुई है। आप प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष तथा प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय उ.प्र. से सेवा निवृत्त हुए हैं। इस समय प्रेम नगर आश्रम हरिद्वार में आयुर्वेद की सेवा कर रहे हैं।

डा. पूजा भरद्वाज - आप का जन्म जनपद हरदोई उ.प्र. में हुआ है। राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में बी.ए.एम.एस. तथा बनारस हिन्द विश्वविद्यालय से एम. डी. की है। आप प्रसूति एवं स्त्री रोग की विदुषी हैं। इस समय उत्तरांचल प्रदेश देहरादून में निदेशक आयुर्वेद एवं यूनानी सेवा के पद पर नियुक्त हैं।

डा. रक्षा गोस्वामी-आपका जन्म हरिद्वार में हुआ है। आप की शिक्षा ऋषिकुल आयुर्वेद महाविद्यालय हरिद्वार तथा काशी हिन्द विश्वविद्यालय वाराणसी से हुई है। इस

समय आप निदेशक आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएं उ.प्र. के पद पर लखनऊ में नियुक्त हैं। आप प्रसूति एवं स्त्री रोग की विदुषी हैं।

डा. रमेशचन्द्र सक्सेना – आप राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ में रसशास्त्र के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष बहुत दिन रहे। तत्पश्चात् प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक के पद से अवकाश प्राप्त किये। आप रसशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। स्वभाव से मधुर विनम्र एवं छात्रप्रिय रहे हैं। पिछले माह आपका निधन हो गया।

द्वाविंश अध्याय

'आयुर्वेद के आठ अङ्ग एवं उपाङ्ग'

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। आयुर्वेद की पुरातनता उतनी ही है, जितनी वनस्पतियों एवं प्राणियों की इस धरातल पर अवतारण। वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है और इसे अर्थर्ववेद का उपवेद माना गया है। आयुर्वेद के सिद्धान्त की आधारभूत संचायिका चरक संहिता में इसे अनादि, नित्य एवं शाश्वत के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। आयुर्वेद वातावरण, देश एवं काल के आधार पर सर्वत्र अपने ढंग में विकसित होता रहा। प्रत्येक सुसंस्कृत भूखण्ड ने परिस्थिति एवं सामग्री उपलब्धि के आधार पर अपनी चिकित्सा पद्धति विकसित की। फलस्वरूप सूर्य की ऊर्जा, चन्द्रमा की भेषजाधायक गुणवत्ता तथा वायु के संचरण तथा जल की आप्यायनता ने चिकित्सा शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों की नींव डाली और यही कालान्तर में आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति कहलायी।

आयुर्वेद के अष्टाङ्ग एवं उपाङ्ग के ज्ञानार्जन के क्रम में आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान के ज्ञानार्जन के प्रमुख स्रोतों का नामोल्लेख आवश्यक है। सम्पूर्ण आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के ज्ञानार्जन के स्रोतों में वाङ्गमय, शिलालेख, दानपत्र मुद्रायें, उत्खनन तथा यात्रा विवरण प्रमुख हैं। इन्हीं के आधार पर आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान के सार्वभौमिक स्वरूप का ज्ञानार्जन किया जा सकता है।

आयुर्वेद के अष्टाङ्ग

वैदिक वाङ्गमय में आयुर्वेद के आठ अंगों का उल्लेख प्राप्त होता है। सुश्रुत संहिता[1] में उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मा ने मनुष्य की सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद का सृजन किया, जिसमें एक लाख श्लोक और एक हजार अध्याय थे। ब्रह्मा ने मनुष्यों की आयु तथा बुद्धि की अल्पता का विचार कर आयुर्वेद का विभाजन निम्नलिखित आठ अंगो में किया- १. शल्य, २. शालाक्य, ३. कायचिकित्सा, ४. भूतविद्या, ५. कौमारभृत्य, ६. अगदतंत्र, ७. रसायन तंत्र, ८. वाजीकरण।

१. शल्य तन्त्र

वैदिक वाङ्गमय में आयुर्वेदीय अष्टाङ्ग के शल्य तंत्र का विकसित उल्लेख प्राप्त होता है। वेदों में अश्विनीकुमारों के चामत्कारिक कार्यो से तत्कालीन शल्य तंत्र की विकसित स्थिति का स्वरूप मिलता है। सन्धान कर्म (Plastic Surgery) तथा अंग प्रत्यारोपण

---

१. सुश्रुत सूत्र १/७

(Transplantation) का भी वहाँ संकेत प्राप्त होता है। उपनिष दो में वर्णित मधुविद्या तथा संधान दिद्या का ज्ञान अश्विनीकुमारों ने दधीचि से प्राप्त किया था। कटे शिर को जोड़ने की कला प्रवर्ग्यं विद्या कहलाती थी। इसी विद्या से अश्विनीकुमारों ने दधीचि और घोड़ों के सिर को एक दूसरे पर लगाया था।[1] इससे अंग-संरक्षण तथा अंग-प्रत्यारोपण का भी संकेत मिलता है। कौशिक सूत्र[2] में शस्त्र आदि से अभिघात लगने से रूधिर प्रवाह या अस्थि भंग हो, तो लाक्षाक्वाथ से परिषेक तथा लाक्षाश्रृत दुग्धपान का विधान है। जैमनीय ब्राह्मण[3] में एक आख्यान मिलता है, जिसके अनुसार किसी कुमार का शरीर रथचक्र से छिन्न हो गया था, उसे ठीक कर पुनजीर्वित किया गया। वाल्मीकीय रामायण[4] में इन्द्र का अण्डकोश गिर जाने पर उनमें भेड के अण्डकोश के प्रत्यारोपण का आख्यान है। जैमनीय ब्राह्मण (२/७७) में भी यही आख्यान मिलता है। इसी में मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सवर्णकरणी और संधानी महौषधियों का भी उल्लेख मिलता है। महाभारत[5] में भी शल्योधरण कोविद वैद्यों को निर्देश है। गुप्तकाल में भी शल्य क्रिया के समुन्नत होने का उल्लेख मिलता है।

शल्यक्रिया का प्रमुख ग्रन्थ सुश्रुत संहिता है। इसमें व्रणितागार, व्रण के साठ उपक्रम, दग्ध, अष्टविध शस्त्रकर्म, उपयोगी यन्त्र शस्त्र, जलौका, सिराव्यध, अग्निकर्म तथा क्षारकर्म आदि का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक शल्यशास्त्र ने सुश्रुत की ही बनायी गयी विधि अपनाई है। भारतीय शल्य की क्रिया अरव राष्ट्रों से होती हुई भूमध्य सागरवर्ती देशों में पहुँची। इटली में वर्ष १५४५-१५६६ ई. में यह शल्य क्रिया सफलतापूर्वक होने की सूचना मिलती हैं। फ्रान्स में भी इसका प्रचार हुआ।

काशी प्राचीन काल में शल्यतन्त्र का एक प्रधान केन्द्र रहा है। दिवोदास धन्वन्तरि ने यहीं सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को शल्य की शिक्षा प्रदान की थी। तक्षशिला में शल्य तंत्र की उत्तम शिक्षण व्यवस्था थी। प्रसिद्ध शल्यविद् जीवक वहीं का स्नातक था, जो सफलतापूर्वक उदर और मस्तिष्क के कठिन शल्य कर्म करता था। राजाओं के सैन्य में सम्भवतः शल्य चिकित्सक अवश्य ही रहते रहे होंगे, किन्तु शनैः शनैः इनका ह्रास होने लगा तथा मध्य काल तक इनका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया।[6]

आयुर्वेद का आधुनिक पाठ्यक्रम प्रवर्तित होने पर आधुनिक शल्यविद् इस विषय के लिये रखे गये, जिनके माध्यम से कुछ वैद्यों ने भी शल्य कर्म में दक्षता प्राप्त की, किन्तु यह आयुर्वेदिक शल्य नहीं है।

---

१. प्रियव्रत शर्मा मधुविद्या और प्रवर्ग्य विद्या आयुर्वेद विकास, मार्च १९६५
२. कौशिक सूत्र (२८/५ १४)
३. जैमिनीय ब्राह्मण ३/६४-६५
४. वाल्मीकीय रामायण (बाल काण्ड ४६/६/१०)
५. महाभारत (भीष्म पर्व-१२०/५५)
६. P.V. Sharma : Indian Medicine in the classic age P. 74-78

क्षार का चिकित्सा और शल्य में व्यापक प्रयोग होने के कारण इसका एक विभाग क्षारतन्त्र के नाम से पृथक् विकसित हो गया, जिसके अन्तर्गत विभिन्न वनस्पतियों, क्षार निर्माण विधि तथा आमयिक प्रयोग का अध्ययन होता था। शस्त्र कर्म में जब मन्दता आयी तब सम्भवतः लोग विकल्प के रूप में क्षारकर्म, अग्निकर्म और रक्त मोक्षक आदि कर्मों को अपनाने लगे। अर्श और भगन्दर में क्षार सूत्र का प्रयोग चिरकाल से हो रहा है। धीरे-धीरे इसका क्रमिक विकास होता गया। आधुनिक काल में चाँदसी वैद्यों ने इसे आगे बढ़ाया। ये पारम्परिक रीति से क्षार सूत्र द्वारा भगन्दर और अर्श की चिकित्सा करते हैं। सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा देश के कुछ अन्य आयुर्वेदीय संस्थानों में इस दिशा में कार्य हो रहा है।

सुश्रुत संहिता के अतिरिक्त निम्नांकित तन्त्र शल्य सम्बन्धी हैं, जो सम्प्रति उद्धरण मात्र में उपलब्ध हैं।

१. औपधेनवतन्त्र, २. औरभ्रतन्त्र, ३. पौष्कलावत तन्त्र, ४. वैतरण तन्त्र, ५. कृतवीर्य तन्त्र, ६. करवीर्य तन्त्र आदि। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित शल्य सम्बन्धी ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है-

१. शल्यतन्त्र समुच्चय-पं. वामदेव मिश्र
२. सौश्रुति-पं. रमानाथ द्विवेदी
३. संक्षिप्त शल्य विज्ञान-मुकुन्दस्वरूप वर्मा
४. आधुनिक शल्य चिकित्सा के सिद्धान्त (आयुर्वेदीय एवं तिब्बती अकादमी लखनऊ द्वारा प्रकाशित)
५. सर्जिकल इथिक्स इन आयुर्वेद (जी.डी. सिंघल)

२. शालाक्य तन्त्र

सुश्रुत संहिता में शालाक्य का वर्णन प्राप्त होता है। इसकी स्वतन्त्र संहितायें भी अनेक थीं।[1] सम्प्रदाय में अनेक आचार्यो का उल्लेख प्राप्त होता है[2], जिन्होंने अपनी-अपनी विशिष्ट परम्परा का प्रवर्तन किया है। इन परम्पराओं में सबका अपना-अपना मौलिक वैशिष्ट्य रहता था। वैदिक वाङ्मय में शालाक्य तन्त्र सम्बन्धी सामग्री प्रभूत मात्रा में प्राप्त होती हैं।[3] ब्राह्मण ग्रन्थों तथा कौशिक सूत्र में भी शालाक्य तन्त्र सम्बन्धी, सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। अश्विनीकुमारों द्वारा भी शालाक्य सम्बन्धी अनेक चमत्कारों को किये जाने का उल्लेख मिलता है।

---

१. प्रियव्रत शर्मा : आयुर्वेद का वैज्ञानिक विकास, पृ. १५५
२. आयुर्वेद विकास, दिसम्बर, १९६८, शालाक्यतन्त्र के आचार्य : ज्योतिर्मित्र।
३. प्रियव्रत शर्मा : वैदिकवाङ्गमये शालाक्यविषयाः शालाक्य परिषद् स्मारिका, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय १९७१।

आधुनिक काल में कुछ शिक्षण संस्थानों द्वारा प्राचीन शालाक्य को पुनरूज्जीवित करने का प्रयास हुआ है। इस कड़ी में आयुर्वेद महाविद्यालय पटना के प्राध्यापक पं. वामदेव मिश्र, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ के डॉ. रामानुज मिश्र तथा वाराणसी के डॉ. श्रीधर पाठक एवं रामविहारी शुक्ल का प्रयास सराहनीय रहा। आयुर्वेदीय विधि से उन्होंने अनेक शालाक्य विकारों की सफल चिकित्सा किया।

प्रमुख शालाक्य ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं -

१. शालाक्य तन्त्र-पं. रमानाथ द्विवेदी।
२. नेत्र रोग-डा. मुञ्जे।
३. अभिनव नेत्र रोग चिकित्सा विज्ञान-पं. विश्वनाथ द्विवेदी।
४. शालाक्य तन्त्र-डा. रवीन्द्र चन्द्र चौधरी।

३. काय चिकित्सा

यद्यपि आयुर्वेद अष्टाङ्ग है तथापि उसका आद्य रूप त्रिसूत्र या त्रिस्कन्ध है। हेतु, लिंग और औषध यही आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्यभूत प्रतिपाद्य विषय है। इसी का पल्लवित एवं विकसित रूप अष्टाङ्ग हैं। इस प्रकार निदान और चिकित्सा ही मुख्य हो जाता है। इसलिए काय चिकित्सा की सभी अंगों में प्रधानता है। अतएव निदान और चिकित्सा ये दो पक्ष काय चिकित्सा के माने गये। यद्यपि प्रारम्भ में इनमें कोई विभाजन नहीं था, परन्तु आगे चलकर दोनों का स्पष्ट विभाजन हो गया और दोनों पर ही पृथक् पृथक् वाङ्मय लिखे जाने लगे। अतः दोनों पर ही पृथक् पृथक् विचार किया जाना ही उपर्युक्त होगा।

निदान-यह शब्द मूल रूप में कारण वाचक है, लेकिन क्रमशः वह रोग विनिश्चय का कारण बना, इसलिये निदानपंचक को रोग विज्ञान कहा गया। हेतु, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति तथा उपशय का ज्ञान किये बिना रोग का पूर्वज्ञान नहीं हो सकता और उसके बिना चिकित्सा कैसे हो सकती है ? इसीलिये आचार्यो ने इस पर निरन्तर बल दिया कि रोग का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही चिकित्सा कर्म में चिकित्सक को प्रवृत्त होना चाहिये, अन्यथा सफलता संदिग्ध ही रहेगी। इसी कारण चिकित्सा का प्रथम सूत्र निदान परिवर्जन है।

अत्यन्त प्राचीन काल में मनुष्य रोगों के निदान की खोज करता रहा है। आयुर्वेद की दृष्टि से शरीर दोषधातु मलात्मक है। इसी से विकार के परिणामों स्वरूप विकृति का ज्ञान होता है। यह विकृति ही विकृति विज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के रूप में प्राप्त होती है। रोगी परीक्षा का विषय मुख्यतः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है।

वैदिक वाङ्मय में अनेक रोगों का उल्लेख मिलता है। जिनमें तक्श, जायान्य, क्षत्रिय, किलास, हरिमा उन्माद, कुष्ठ, शीतला औपसर्गिक रोग तथा नानात्मज्ज विकार उल्लेखनीय है। निदान के अन्तर्गत अंजन निदान, सिद्धान्त निदान, नाड़ी विज्ञान तथा अरिष्ट विज्ञान आदि निदान प्रमुख हैं।

चिकित्सा-आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य रोग का निवारण है। 'कित रोगापनयन' धातु से निष्पन्न 'चिकित्सा' शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। धातुओं का वैषम्य ही विकार है। इसलिये चिकित्सा कर्म का लक्ष्य दोषों को साम्यावस्था में लाना है। इसके लिए प्राचीन काल में ही निरन्तर अन्वेषण कर अनेकों उपाय खोज निकाले। इन उपायों की सैद्धान्तिक भिन्नता से ही विविध चिकित्सा पद्धतियों का आविर्भाव होता है। महर्षि चरक ने अनेक ऐसे भिषक् शास्त्रों का उल्लेख किया है, जो उस काल में प्रचलित थे।[1]

वैदिक काल से ही विभिन्न चिकित्सा विधियों का संकेत मिलता है जिनमें परवर्ती दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय तथा सत्वावजय इस त्रिविधि चिकित्सा का रूप चरक काल में व्यवस्थित हुआ। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन चिकित्सा अत्यन्त सरल एवं प्राकृतिक है। रोग निवारण हेतु प्राकृतिक देवों-वरूण, रूद्र, इन्द्र, सूर्य आदि की प्रार्थना की जाती थी। इसके अतिरिक्त सूर्य-रश्मि, जल और वायु का उपयोग भी रोग निवारण में होता था।

चरक की चिकित्सा भी प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर थी। अतः आयुर्वेदीय चिकित्सा में सर्वद्रव्यीय दृष्टिकोण सबसे बड़ी विशेषता रही है। आयुर्वेदीय चिकित्सा का क्रमिक विकास प्राचीन वैदिक काल से अनवरत आधुनिक काल तक होता रहा। इन चिकित्सा पद्धतियों में पंचकर्म, षट्कर्म तथा शिराव्यध पद्धतियाँ प्रमुख हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा ग्रन्थों में माधव चिकित्सित, वृन्दसंग्रह, चिकित्सा कलिका, चक्रदत्त, बंगसेनकृत चिकित्सा सारसंग्रह, योगतरंगिणी, योगरत्नाकर, भैषज्यरत्नावली, चिकित्सा दर्शन तथा चिकित्सा प्रदीप आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

४. भूतविद्या

भूतविद्या का मूल स्रोत अथर्ववेदीय अथर्वाङ्गिरसकृत्य है। उस युग में यह अंग प्रबल था, किन्तु चरक के काल में यद्यपि युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा व्यवस्थित हुई, फिर भी दैव व्यपाश्रय उपक्रम भी समानांतर चलते रहे। भूत-प्रेत, पिशाच-राक्षस, इनका रोगों की उत्पत्ति में अदृष्ट कारण माना जाता रहा। विशेषतः मानस रोगों (उन्माद, अपस्मार आदि) की उत्पत्ति में इनकी कारणता प्रमुख थी। अतः संहिताओं में भूत विद्या के प्रसंग में इन

---

१. दृष्टव्य : प्रियव्रत शर्मा, आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ. १७-१८, ३३

रोगों का वर्णन प्राप्त होता है। शल्यतन्त्र में भूतों से प्राणों की रक्षा करने का विधान है। अतः आधुनिक विद्वानों में कुछ भूत विद्या से मानस रोगों का ग्रहण करते हैं और कुछ भूत से जीवाणु का ग्रहण कर जीवाणु विज्ञान लेते हैं। ऐसे विकार जिनमें अप्रत्याशित लक्षण सहसा उत्पन्न हो और जिनका हेतु बोधगम्य न हो, उसे अदृष्ट भूतजन्य माना जाता था। सभी चिकित्साशास्त्रों की प्रारम्भिक स्थिति ऐसी ही रही है। अदृश्य कारणों का महत्व सदा रहा है और जव स्थिति मानव की पकड़ में नहीं आती, तो भूतों की ओर ध्यान जाता है। यही भूत विद्या का आधार है। आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में इसका वर्णन किया गया है और इसमें युक्तिव्यपाश्रय के साथ-साथ दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का भी विधान किया गया है।

५. कौमारभृत्य

आयुर्वेद के आठ अंगों में इस अंग को काश्यप संहिता में श्रेष्ठ अंग माना गया है।[1] वस्तुतः समस्त जगत शिशु पर ही आधारित है, अतः उसका महत्व उचित ही है। 'कुमार' कार्तिकेय का भी एक नाम है। कार्तिकेय और कार्तिकेय परिवार से कौमारभृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रसूतितन्त्र कौमारभृत्य का एक अंग है। कविकुलगुरु कालिदास ने 'कुमारसम्भवम्' में कुमारोत्पत्ति का प्रसंग प्रस्तुत किया है।[2] कौमारभृत्य के अन्तर्गत कुमारभरण, धात्रीक्षीरदोष संशोधन और दुष्टस्तन्य ग्रहजन्य व्याधियों के उपशमन का वर्णन है।

आयुर्वेदीय कौमारभृत्य में बाल ग्रहों का विशेष महत्व है। सुश्रुतोक्त[3] ९ ग्रहों में वाग्भट्टनेश्वग्रह, पितृग्रह और शुष्करेवती ये तीन ग्रह जोड़कर इनकी संख्या १२ कर दी। चूंकि गर्भ का पोषण नाभि के माध्यम से ही होता है, अतः नाभि में प्राणों की स्थिति मानी गयी है। सुश्रुत ने भी नाभि में प्राणों की स्थिति मानी है। ज्योतिस्थान जो गर्भ के विकास के लिये महत्वपूर्ण है तथा नाभि को शिराओं का मूल मंत्र माना है। कुमारागार का वर्णन 'चरक संहिता' में किया गया है। बाणभट्ट की रचनाओं में भी कुमारागार और कुमार सम्बन्धी विधानों का चित्रण मिलता है।[4] काश्यपसंहिता के अतिरिक्त वृद्धकाश्यप संहिता, पर्वतकतन्त्र, बन्धकतन्त्र, हिरण्याक्षतन्त्र तथा कुमारतन्त्र, कौमारभृत्य के उपजीव्य तन्त्र थे। इसके अतिरिक्त कौमारभृत्य के अन्य आधुनिक प्रमुख ग्रन्थों में कविराजयामिनीभूषण राय कृत कुमारतन्त्र तथा आचार्य राधाकृष्ण नाथ कृत कौमारभृत्य प्रमुख हैं।

६. अगदतन्त्र

आयुर्वेद के अष्टाङ्ग के अन्य अङ्गों की ही भांति अगदतन्त्र भी एक महत्वपूर्ण

---

१. काश्यप संहिता वि. १/१०
२. V.S. Agrawal Matsya Puran Study (Varanasi. १९७३) P. १२५.१२८
३. सुश्रुत सूत्र १/८
४. Indian Medicine in the classical Age. p. ९३.९४

अङ्ग है। इस सम्बन्ध में विष और निर्विषीकरण के विचार अथर्ववेद में उपलब्ध हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में परिगणित विद्याओं में विषविद्या का उल्लेख मिलता है। कौशिकसूत्र में विषभैषज्य का वर्णन मिलता है।[1]

महाभारत, ब्रह्मवैवर्त पुराण में तद्‌युगीन विषवैद्यक की स्थिति का ज्ञान होता है। चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं में भी जांगम तथा स्थावर विषों के लक्षणों तथा चिकित्सा का वर्णन है। सुश्रुत ने स्थावर एवं जांगम विषों का वर्गीकरण विस्तार से किया है। विष की आशुकारिता को देखकर इसका उपयोग चिकित्सा कार्य में भी होने लगा।

सर्वप्रथम वाग्भट्ट ने 'अष्टाङ्ग संग्रह' में विषोपयोगी अध्याय में इसका प्रारम्भ किया है। विशेषतः जांगम विष की चिकित्सा में मन्त्र और औषध दोनों का प्रयोग होता था। छान्दोग्योपनिषद (७/१२) में शास्त्रों की उल्लिखित सूची में सर्पविद्या का प्रयोग मिलता है। यही विषविद्या का मौलिक रूप है। कादम्बरी में 'विषापहरण' का उल्लेख मिलता है। सर्प के काटने से बहुत लोगों की मृत्यु होती थी, इसलिये इसके उपचार का उपाय यथासंभव औषध तथा मन्त्र द्वारा किया जाता था।

विष चिकित्सकों का एक पृथक् सम्प्रदाय था। दक्षिण भारत में ऐसे चिकित्सक आज भी लोकप्रिय हैं। अगदतन्त्र पर आचार्यों के प्रचुर ग्रन्थ थे, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान सन्दर्भ में पं. रमानाथ द्विवेदी का अगदतन्त्र पर प्रामाणिक ग्रन्थ (चौखम्बा, १६५३) उपलब्ध है।

७. रसायन

रसायन तन्त्र का मुख्य उद्‌देश्य समस्त धातुओं को आप्यायित कर शरीर और मन को पूर्ण स्वस्थ रखना है। रोगों के प्रतिषेध की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है, यद्यपि निवारण में भी यह कार्यकर होता है। यह ऊर्जस्कर विधान है जिससे शरीर में ओज की वृद्धि होकर व्याधिक्षमत्व समृद्ध होता है। फलस्वरूप रोग शरीर को आक्रान्त करने में सफल नहीं हो पाते। वैदिक वाङ्मय में सर्वप्रथम इसका बीज प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण से ही च्यवन की कथा आती है, जो रसायनराज च्यवनप्राश का नायक है। अथर्ववेद (१०/८/३२) के 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार, न जीर्यति' इस मन्त्र में मनुष्य के अजर अमर करने की इच्छा निहित है जो रसायन की आधारशिला है। इसके अनुसार रसायन यदि अमर न बना सके, तो अजर और दीर्घायु तो बना ही दे। वृद्धावस्था में मनुष्य कुछ भी कर सकने में अपने को असमर्थ पाता है और उसका शरीर एक भार स्वरूप हो जाता है, अतः जरा का प्रतिषेध होकर मनुष्य की सशक्त युवावस्था बनी रहे, यही रसायन का लक्ष्य है।[2]

---

१. Indian Medicine in the classical Age, P. 94-98. Dr. P.V. Sharma.

२. जैमनीय ब्राह्मण (१/५१)

सभी संहिताओं में रसायन का प्रकरण प्राप्त होता है। चरक और सुश्रुत में दिव्य औषधियों का इस कार्य में प्रयोग है। ऋग्वेद में जो सोम का वर्णन है वही आगे चलकर सम्पूर्ण रसायन का प्रतीक वना। गुप्तयुगीन वाङ्मय में रसायन का उल्लेख वहुशः मिलता है। परवर्ती ग्रन्थों में भी ऐसे कल्प मिलते हैं। रसायन औषधियों का ऐसा प्रयोग जो कायाकल्प कर दे 'कल्प' कहा गया है। मध्ययुग में अनेक स्वतन्त्र कल्प ग्रन्थों की रचना हुयी। आधुनिक काल में इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ कम ही लिखे गये। इस सम्बन्ध में पक्षधर झा कृत रसायन तन्त्र (चौखम्वा, वाराणसी, १९७०) प्रकाशित कृति है।[1]

८. वाजीकरण

वैदिक वाङ्मय में वाजीकरण के अनेकों प्रसंगों का उल्लेख मिलता है। परवर्ती ग्रन्थों के औपनिषदिक प्रकरण के अन्तर्गत वाजीकरण के योग दिये गये है। काम व्यापार (सेक्स) गुप्त होने के कारण सम्भवतः 'औपनिषदिक' (रहस्यात्मक) विशेषण दिया गया है। यौन जीवन को सुखी बनाना तथा स्वस्थ-प्रशस्त सन्तति का उत्पादन वाजीकरण का मुख्य उद्देश्य है। स्वस्थ पुरुष के लिये यह विधान है कि वह वाजीकरण का सेवन करने के पश्चात् मैथुन करे, जिसमें यौन सुख तो प्राप्त हो ही, आवश्यक शुक्रक्षय भी न होने पाये। सम्भावित क्षय की आपूर्ति पहले ही कर ली जाय। कामशास्त्र के ग्रन्थों में इसका विशेष वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में कुचुमारतन्त्र अनंगरंग, पंचसायक आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय है। सम्प्रति कामप्रधान युग में वाजीकरण की प्रभूत उपयोगिता है। परिवार नियोजन के अपर पक्ष को यह समृद्ध करेगा, जिससे निश्चित रूप से सन्तुलित परिवार नियोजन हो सकेगा।

मध्ययुगीन ग्रन्थों में लिंगवृद्धि, योनिगाढ़ीकरण, स्तनकठिनीकरण आदि के लिये अनेक योगों का विधान है।[2]

'आयुर्वेद के उपाङ्ग'

आयुर्वेद शास्त्र के प्राचीन वर्गीकरणानुसार समस्त आयुर्वेद अष्टांग माना गया है, परन्तु कालक्रम तथा सम्प्रदाय के अनुसार अंगों के स्वरूप तथा प्राधान्य में अन्तर होता है। आधुनिक काल में पाश्चात्य विज्ञान के विश्लेषणात्मक स्वरूप के कारण जब चिकित्साशास्त्र के नये-नये अंग उभरे, तब आयुर्वेद के क्षेत्र पर भी अनायास ही उसका प्रभाव पड़ा। इसी आधार पर आयुर्वेद पंचानन पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल आयुर्वेद को

---

१. Indian Medicine in the classical Age. P. 99-101. Dr. P.V. Sharma.
२. कौशिक सूत्र (३७/१४-१६)

षोडशाङ्ग कहते थे। सम्प्रति अथर्ववेद के प्रचलित अष्टाङ्गों का विवेचन आयुर्वेद के अष्टाङ्ग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा चुका है। अवशिष्ट अधोलिखित उपाङ्गों का विवेचन प्रस्तुत है। नवीन वर्गीकरणानुसार आयुर्वेद के अवशिष्ट उपाङ्ग निम्नलिखित हैं-

१. मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता
२. शारीर
३. द्रव्यगुण
४. रसशास्त्र एवं भैषज्य कल्पना
५. स्वस्थवृत्त
६. स्त्री रोग एवं प्रसूति तन्त्र

१. मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता

मौलिक सिद्धान्त आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। जिस प्रकार शरीर त्रिस्थूण है, उसी प्रकार आयुर्वेद पंचभूतवाद, त्रिदोषवाद और सप्तधातुवाद इन तीन मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है। मूल रूप में इस विषय का स्रोत वेदों में प्राप्त होता है, परन्तु आयुर्वेदीय संहिताओं में मौलिक सिद्धान्तों का विषय प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। आयुर्वेदीय संहिताओं के प्राचीन टीकाकारों ने भी सैद्धान्तिक पक्षों की व्याख्या प्रस्तुत की है जिनमें चक्रपाणि, डल्हण, अरूणदत्त, हेमाद्रि विजयरक्षित तथा कविराज गंङ्गाधर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। त्रिगुण, पंचमहाभूत, त्रिदोष, सप्तधातु, षट्पदार्थ, रसगुणवीर्य एवं विपाक, पुनर्जन्म तथा मोक्ष आदि आयुर्वेद के प्रमुख मौलिक सिद्धान्त हैं। वस्तुतः ये सिद्धान्त प्राचीन संहिताओं में इस प्रकार आद्योपान्त अनुस्यूत हैं कि उन्हें पृथक् करना कठिन है, अतएव प्राचीन आचार्यो ने इसे स्वतंत्र अंग के रूप में नहीं रखा है। प्रस्तुत विषय आध ुनिक युग की उपज है। सम्प्रति स्नातकीय तथा स्नातकोत्तरीय संस्थानों में मौलिक सिद्धान्त एक पाठ्यविषय के रूप में निर्धारित है।

मौलिक सिद्धान्त के विवेचन के क्रम में मौलिक सिद्धान्तों के विकास की पृष्ठभूमि पर विचार आवश्यक है। प्राचीनकाल में ऋषिगण प्रकृति के निकट सान्निध्य में निवास करते थे। जीवन की सुविधाओं के लिये प्राकृतिक देवताओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिये तथा असुरों से रक्षा के लिये प्रार्थना के रूप में वैदिक ऋचाओं का प्रणयन हुआ। इसमें भावना के साथ-साथ बुद्धि का भी सहारा लिया गया। जिससे उनके उपायों का अन्वेषण किया गया। रोगों के सम्बन्ध में भी यही बात है। यही कारण है कि ऋग्वेद में औषधियों का अल्प निर्देश है, जबकि अथर्ववेद में इसकी संख्या पर्याप्त बढ़ गयी है।

महर्षियों ने जीवन-व्यापारों के संचालन के लिये कफ, पित्त और वात जो क्रमशः चन्द्र, सूर्य और वायु के प्रतिनिधि रूप हैं और जो शरीर में विसर्ग आदान और विक्षेप की क्रियाओं का संचालन करते हैं। महर्षि सुश्रुत ने इसको स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है-

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देवं कफपित्तानिलास्तथा।।[1]

इस प्रकार प्रकृतिपर्यवेक्षण के आधार पर आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त त्रिदोषवाद की स्थापना हुयी। त्रिदोष की उद्भवभूमि क्या है ? यह अनुसंधान का विषय है। आयुर्वेदीय संहिताओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि त्रिदोषवाद की स्थापना लोकपर्यवेक्षण के आधार पर एवं लोक पुरुष साम्य की भित्ति पर हुयी है। वैदिक वाङ्मय एवं उपनिषद् ग्रन्थों में इसके पर्याप्त संकेत मिलते है।

सम्प्रति त्रिदोष के प्रकोप का विचार कैसे आया ? यह विचारणीय है। षड्ऋतुओं के अनुसार दोषों के स्वाभाविक प्रकोप का वर्णन आयुर्वेदीय संहिताओं में मिलता है। यथा-वर्षा में वात, शरद में पित्त तथा वसन्त में कफ का प्रकोप माना गया है। वैदिक काल में यज्ञों का विधान विशेषतः ऋतुसंधियों में होता था, क्योंकि ऋतुसंधियों में अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होती थी।[2]

दोषो के सम्बन्ध में साम्यस्थापन का विधान आयुर्वेदीय संहिताओं में दिया है। इनसे यह प्रतीत होता है कि ऋतुसन्धियों में व्याधियों के होने से उन-उन ऋतुओं में होने वाले विशिष्ट लक्षणों के अनुसार विभिन्न दोषों के प्रकोप का निर्धारण किया गया होगा और उनके लिये यज्ञों की व्यवस्था की गयी होगी।

संहिताओं के टीकाकारों ने सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या में अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है। इस सम्बन्ध में चक्रमाणि, डल्हण, अरूणदत्त, विजयरक्षित आदि के विचार अवलोकनीय हैं। सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये सामूहिक प्रयास भी आधुनिक काल में हुये। इस सम्बन्ध में पंचमहाभूतपरिषद, त्रिदोषपरिषद आदि उल्लेखनीय हैं।[3]

जामनगर में डा. सी. द्वारिकानाथ एवं डा. रामरक्ष पाठक ने इस विषय पर सर्वप्रथम पृथक से ग्रन्थ लेखन कार्य किया। डा. वी.जे. ठाकुर ने भी इस विषय पर मौलिक रचना की। डा. रामबाबू द्विवेदी भी कार्य कर रहे हैं। डा. दमोदर शर्मा गौड़, डा. ज्योर्तिमित्र, डा. हरिश्चन्द्र शुक्ल वाराणसी ने इस विषय पर कार्य किये हैं। डा. वनवारी गौड़, डा. ओमप्रकाश उपाध्याय, जयपुर में इस विषय के अच्छे विद्वान् हैं। स्व. वैद्य श्रीनारायण विद्यार्थी, डा. शिवसागर शुक्ल, राजकीय आयुर्वेद लखनऊ ने इस विषय पर चिन्तन किया है। प्रो. रविदत्त त्रिपाठी ने इस विषय पर पदार्थ विज्ञान, आयुर्वेदीय इतिहास चरक, संहिता एवं अष्टाङ्ग संग्रह पर व्याख्या लिखा है।

---

१. सु. सू. २१/६
२. ऋतुसन्धिषु व्याधयो जायन्ते ऋतुसन्धिषु यज्ञाः क्रियन्ते (गोपथ ब्राह्मण)
३. प्रियव्रत शर्मा त्रिदोषवाद का प्रकोप पक्ष, आयुर्वेद विकास, अप्रैल १९६५, पृ. ९-११

आधुनिक काल में इस विषय पर रचित वाङ्मय की निम्नलिखित रचनायें उपलब्ध हैं-

१. पंचभूतविज्ञानम्-चौखम्बा, वाराणसी, १९९२, द्वि.सं.
२. त्रिदोषविज्ञानम्-वही, १९९६
३. आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त (गु.)-शोभन (अहमदाबाद सं.)
४. The Principles of Tridosa - D. N. Roy
५. Consept of Agni in Ayurved -Bhagvan Dash.
६. पदार्थ विज्ञान - वागीश्वर शुक्ला
७. पदार्थविज्ञानम् - प्रो. रविदत्त त्रिपाठी
८. आयुर्वेद दर्शन - राजकुमार जैन।

२. शारीर

वेदों में शारीर के अनेकों अंग-प्रत्यंगो के नाम प्राप्त होते हैं। अस्थियों की संख्या ३६० अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। शल्यतन्त्र में अस्थियों की संख्या ३०० मानी गयी है। शरीर रचना का ज्ञान महर्षियों ने कैसे प्राप्त किया होगा ? इसकी परिकल्पना सरल नहीं है। अङ्गों की आभ्यन्तर रचना का वर्णन न होने से यह स्पष्ट है कि उन्हें काटकर नहीं देखा गया। शारीर के लिये सुश्रुत ही वैद्यसमाज का अवलम्बन रहा। (शारीरे सुश्रुत श्रेष्ठः)

शारीर के क्षेत्र में भोजकृत ग्रन्थ तथा भाष्करकृत शरीरपद्मनी का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक काल में शारीर में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, गणनाथसेन कृत प्रत्यक्षशारीरम् के प्रकाशन (कलकत्ता १९१३) से। आधुनिक शारीर के तथ्यों को ही संस्कृत भाषा में रूपान्तरित कर इस ग्रन्थ में निबद्ध किया गया।

सन् १९२८ ई. में विलियम हार्वे (१५७८-१६५७) ने रक्तसंवहन का अनुसंधान किया। अपने सिद्धान्त की पुष्टि में निम्न प्रमाण उन्होंने दिये-

१. धमनियों के क्षत से रक्त स्पन्दन के साथ निकलता है, जबकि छिन्न सिराओं से सतत और सम प्रवाहित होता है।
२. बाहु को हल्के बांधने से सिराओं द्वारा रक्त का प्रत्यावर्तन रूक जाने के कारण बाहु में शोथ उत्पन्न हो जाता है। यदि उसी को कसकर बांधा जाय तो धमनियों और सिराओं दोनों में रक्त प्रवाह अवरूद्ध होने के कारण बाहु में शोध तो उत्पन्न नहीं होता, बल्कि नाड़ी में क्षीणता तथा बाहु में शैथल्य देखा जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि रक्त संवहन के इस अद्भुत अनुसन्धान के कारण आधुनिक शारीर क्रिया विज्ञान में एक नवीन क्रान्ति का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु हजारों वर्ष पूर्व आयुर्वेदीय संहिताओं में ऐसे वचन मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि प्राचीन मन्त्र द्रष्टा महर्षियों के शरीर में रक्तसंवहन का स्पष्ट ज्ञान था।

३. द्रव्यगुण

चिकित्सक के लिए द्रव्यगुण शास्त्र का ज्ञान अतीव अपेक्षित है, द्रव्यों के गुण धर्म के ज्ञान के विना उनके हितत्व या अहितत्व का ज्ञान नहीं होगा और चिकित्सा में उनका प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। अतः यह उक्ति सार्थक है, कि-

निघण्टुना विना वैद्यो विद्वान् व्याकरणं विना।
विनाभ्यासेन धानुष्कास्त्रयो हास्यस्य भाजनम्।।

द्रव्य में रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव ये पाँच पदार्थ होते हैं और इन्हीं के द्वारा कार्मुक (क्रियाशील) होते हैं। द्रव्य कहीं रस से, कहीं गुण से, कहीं वीर्य से, कहीं विपाक से और कहीं पर अपने प्रभाव से कार्य करते हैं।[1]

जब द्रव्य के रस आदि के कार्यो से विलक्षण किसी कार्य को देखा जता है, तब उस क्रिया को उस द्रव्य का प्रभाव माना जाता है और प्रभाव अचिन्त्य होता है, उसमें कार्य-कारण भाव नहीं परिलक्षित होता है।

चिकित्सा के चतुष्पाद में 'द्रव्य' का विशिष्ट स्थान है, क्योंकि द्रव्य की उत्तम गुणवत्ता पर ही चिकित्सा की फलश्रुति निर्भर है। आयुर्वेद के निर्वचन में कहा गया है, कि यह (आयुर्वेद) आयुष्य और अनायुष्य द्रव्यों का ज्ञान कराता है, अतएव इसे "आयुर्वेद" कहते हैं।

द्रव्यगुण सम्बन्धी आधुनिक ग्रन्थों में निम्नलिखित रचनाएं उल्लेखनीय हैं-

१. द्रव्यगुण विज्ञान-प्रियव्रत शर्मा,
२. इन्ट्रोडक्शन टु द्रव्यगुण-प्रियव्रत शर्मा
३. क्रियात्मक औषधि विज्ञान-विश्वनाथ द्विवेदी
४. वनौषधि दर्पण-कविराज विरजाचरण

४. रसशास्त्र और भैषज्य कल्पना

रसशास्त्र में पारद, महारस (अभ्रक आदि), उपरस और विषोपविष, क्षार आदि के शोधन, मारण, आमयिक प्रयोग आदि का वर्णन किया गया है।

मणियों, रत्नों और खनिजों का शोधन और प्रयोग विधि आदि का विधान बतलाया गया है।

रसशास्त्र के विकास से आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रक्रिया में अनेक तरह की सुविधा हो गयी है। सामान्य औषध द्रव्यों की अपेक्षा रसौषधियों की मात्रा अल्पमत होती हैं, इनके खाने

---

१. आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय डॉ. विद्याधर शुक्ल, डॉ. रविदत्त त्रिपाठी, पृ. २३२

में कोई अरूचि नहीं होती और शीघ्र लाभ होता है, इसलिए रस भस्मों का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है।

द्रव्यों के प्रयोग की सुगमता और उनकी क्रियाशीलता की दृष्टि से द्रव्यों को औषधि के रूप में प्रयोग करने योग्य बनाकर रखा जाने लगा। आसव, अरिष्ट, चूर्ण, वटी, अवलेह, तैल, घृत, वर्ती, लेप आदि के रूप में, नस्य, अंजन आदि के रूप में, सुरा के रूप में तैयार करके औषधियों का भण्डार किया जाने लगा, यही भैषज्य कल्पना का प्रसंङ्ग है।

रसशास्त्र और भैषज्य कल्पना सम्बन्धी ग्रन्थों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं-

१. रससम्प्रदाय-हजारीलाल सुकुल
२. भारतीय रसशास्त्र-विश्वनाथ द्विवेदी
३. अभिनव रसशास्त्र-सोमदेव शर्मा सारस्वत
४. रसशास्त्र-डॉ. सिद्धिनन्दन मिश्र

५. स्वस्थवृत्त

आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे गये हैं- (१) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और (२) रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करना - "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य च विकारप्रशमनम्" (च.सू. ३०)। आयुर्वेद का प्रधान लक्ष्य है-स्वस्थ व्यक्ति को बीमार न होने देना। सुश्रुत ने जो स्वस्थ की परिभाषा दी है, उसके अनुसार कोई भी व्यक्ति तभी स्वस्थ माना जायगा, जब शारीरिक लक्षण समाग्नि, समदोष, समधातुमलक्रिय के साथ ही वह प्रसन्नात्मा, प्रसन्नेन्द्रिय और प्रसन्न मना हो-

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना' स्वस्थ इत्यभिधीयते।।
(सु.सू. १५/४४)

स्वस्थवृत्त के दो विभाग हैं- (१) वैयक्तिक और (२) सामाजिक। आयुर्वेद वैयक्तिक स्वस्थवृत्त पर अधिक वल देता है। प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिए और सवसे पहले शरीर शुद्धि के कार्य शौच, दन्तधावन, अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान आदि करना चाहिए। नित्य व्यायाम करना चाहिए और दिनचर्या में बतालाये गये नियमों के अनुसार उन-उन ऋतुओं का आहार एवं विहार करना चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, आहार-विहार इत्यादि का आयुर्वेद में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

भारतीय परम्परा में धार्मिक अनुष्ठानों का जो विधान किया गया है, वह सब स्वस्थवृत्त से सम्बद्ध हैं और सारी प्रक्रिया का विशिष्ट महत्व है।

स्वस्थवृत्त सम्बन्धी ग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं-

१. आयुर्वेददर्शनसंग्रह - दमोदर शर्मा गौड
२. आयुर्वेदीय हितोपदेश - रणजीत देसाई
३. स्वास्थ्य विज्ञान - डा. मुकुन्द स्वरूप वर्मा
४. स्वस्थवृत्त सम्मुच्चय वैद्य राजेश्वर शास्त्री
५. स्वस्थवृत्त-डॉ. रामहर्ष सिंह

६. स्त्री रोग एवं प्रसूतितन्त्र

भारतीय परम्परा में माताओं का स्थान सदैव गरिमामय रहा है। पुत्रवती स्त्री की समाज में प्रतिष्ठा होती है। माता का बच्चे के जीवन के प्रत्येक अंग पर विशेष प्रभाव पड़ता है। स्त्रियाँ सृष्टि की आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग हैं। आयुर्वेद शास्त्र में स्त्रियों में होने वाले विशिष्ट रोगों का अलग वर्णन है। उनका निदान और चिकित्सा बतलायी गई है।

गर्भावरथा में प्रथम महीने से प्रसव पर्यन्त गर्भिणी के लिए उपयुक्त "स्वस्थ वृत्त" का विधान है। प्रत्येक मास के लिए कुछ खास औषधयोग कहे गये हैं। गर्भिणी की परिचर्या और गर्भावस्था के रोगों का वर्णन है। पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार का विधान है।

प्रसवकाल में सम्भावित उपद्रवों का तथा उनके उपचार का वर्णन है। "प्रसवागार" और उसमें रक्खी जाने वाली सामग्री का विवरण दिया गया है। इस प्रकार प्रसव पूर्व, प्रसवकालीन और प्रसवोत्तर इन तीनों परिस्थितियों में उपचार का निर्देश किया गया है।

प्रसव के पश्चात् स्तन्यशुद्धि के लिए भी कुछ विशिष्ट औषधयोगों का प्रयोग किया जाता है। आज भी अनुभव के आधार पर वही प्रचलित दशमूलारिष्ट प्रसूता को पिलाया जाता हैं।

वालक की चर्या और उसके रोगों को उपचार के लिए प्राचीन काल से ही एक अंग के रूप में पृथक् "कौमारभृत्य" को महत्व दिया गया है। "काश्यपसंहिता" इस विषय का प्रधान ग्रन्थ हैं आजकल एक विभाग के रूप में "स्त्रीरोग प्रसूतितन्त्र एवं कौमारभृत्य" को माना जाता है। पहले यह विषय संहिता ग्रन्थों में तथा संग्रह ग्रन्थों में प्रकीर्णरूप से मिलता है। अब स्वतन्त्र रूप में एतद्विषयक ग्रन्थ लेखन की प्रवृत्ति जागृत हुई है और कतिपय लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

स्त्री रोग एवं प्रसूतितन्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में प्रमुख निम्नलिखित है-

१. प्रसूति विज्ञान - रमानाथ द्विवेदी
२. स्त्रीरोग विज्ञान - रमानाथ द्विवेदी
३. स्त्रीरोग चिकित्सा - डा. शिवनाथ खन्ना
४. अभिनव प्रसूतितन्त्रम् - दामोदर शर्मा गौड

५. स्त्रियों के रोग एवं उनकी आधुनिक चिकित्सा-रघुवीर प्रसाद द्विवेदी

उपर्युक्त वर्णित आयुर्वेद के अष्टाङ्ग एवं उपाङ्ग आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के विभिन्न सोपानों का दिग्दर्शन करते हैं। आवश्यकता है, समय-समय पर इस प्राचीन चिकित्सा पद्धति के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान की, जिससे आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का सर्वतोन्मुखी विकास एवं प्रसार हो सके।

त्रयोविंश अध्याय

पशु-आयुर्वेद

आयुर्वेद के प्राचीनतम् आकर ग्रन्थ, चरक-संहिता में रोगों के दो आश्रय बताये गये हैं-शरीर एवं मन। इनमें उत्पन्न होने वाले रोगों का चिकित्सा सूत्र बताया है कि शारीरिक रोग 'दैवव्यपाश्रय' एवं 'युक्तिव्यपाश्रय' से तथा मानसिक रोग 'ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और समाधि' से शान्त होते हैं।

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वोदैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।

मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृति समाधियिः।। च.सु. १।६६

युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा में विकृत दोषों की स्थिति का ग्रहण कर औषधियों की योजना की जाती है। देश व काल का ध्यान रखते हुए विपरीत गुणवाली औषधियों की योजना से साध्य रोग शान्त होते है।

इन औषधियों के गुण एवं कर्म के अनुसार तीन विभाग 'दोषप्रशमन'; 'धातुप्रदूषण' एवं स्वस्थवृत्त में हितकारी' करने के पश्चात, महर्षि आत्रेय ने उनकी प्राप्ति के अनुसार भी तीन विभाग किये है।

१. जांगम - जीव-जन्तुओ से प्राप्त।

२. औद्भिद - वनस्पतियों से प्राप्त।

३. पार्थिव - खनिज या भूमि से प्राप्त।

वैदिक वांड्गमय में यद्यपि औषधियों (औद्भिद्) की उत्पत्ति देवताओं से भी तीन युग पूर्व की वतायी गयी है-

या औषधिः पूर्वजाता देवेभ्यस्त्रियुगा पुरा (ऋगग्वेद औषधि सूत्र)।

चरक संहिता में जांगम औषधियों का ही प्रथमता वर्णन है। सम्भवतः यह उनके तत्कालीन समाज में पशुओं की बढ़ चुकी उपयोगिता का भी द्योतक हो सकता है। प्राप्त होने वाले द्रव्यों का निम्नलिखित वर्णन प्राप्त है-

मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जाऽसृगामिषम्।

जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लोमानि रोचनाः।। च. सु. १-६६

अर्थात् जांगम (जीव-जन्तुओं) से प्राप्त द्रव्यों में मधु, गोरस (दूध एवं इसके विकार), पित्त, वसा, मज्जा, रक्त, मांस, मल, मूत्र, चर्म, शुक्र, अस्थि, स्नायु, सींग, नख, खुर, केश, रोम एवं गोरोचन का औषधि रूप में प्रयोग करते है। वस्तुतः उपर्युक्त वर्णन में पशुओं से प्राप्त होने वाले समस्त पदार्थ औषधिरूप में प्रयुक्त होने का निर्देश है।

आज भी चिकित्सा में औषधियों के यही तीन मूल स्रोत है। इन्हीं से प्राप्त द्रव्यों का शोधन अथवा संश्लेषण कर औषधियों को बनाया जाता है।

प्राचीन समाज में पशुओं का निम्नलिखित तीन प्रकार का उपयोग बहुचारित था-

१. **सामाजिक उपयोग**-जैसे-दूध, मांस, चर्म, आदि तथा बोझ ढोने, कृषि कार्य आदि के उपयोग।
२. **सैन्य प्रयोग**-इसमें युद्ध हेतु पशुओं का प्रयोग किया जाता था। उन्हें सैन्य शिक्षा एवं वातावरण भी उपलब्ध कराया जाता था, जिससे युद्ध के दौरान समुचित सहयोग प्राप्त हों-यथा-अश्व, गज, उष्ट्र आदि का प्रयोग।
३. **चिकित्सकीय प्रयोग**-इसमें इनके द्वारा प्राप्त द्रव्यों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता था।

पूर्ववर्णित सभी उपयोगों में एक कारक सवमे सामान्य एवं महत्वपूर्ण है-पशुओं का स्वस्थ होना। चिकित्सा, सैन्य अथवा सामाजिक उपयोग में, वही पशु ग्राह्य है, जो स्वास्थ हों। अस्वस्थ पशु से प्राप्त द्रव्य न सामाजिक उपयोग में उत्तम सिद्ध होते है न ही चिकित्सकीय उपयोग में। सैन्य कार्यों में भी यह अनुपयुक्त ही सिद्ध होते थे। सामाजिक एवं चिकित्सकीय कार्यों में तो एक अस्वस्थ पशु का त्याग कर दूसरे स्वस्थ पशु का ग्रहण किया जा सकता था, परन्तु सैन्य कार्यों में दूसरे पशु को तुरन्त उतना प्रशिक्षित करना सम्भव नहीं था।

सम्भवतः मनुष्यो द्वारा पशुओं की चिकित्सा प्रारम्भ करने के दो प्रधान कारण थे-

१. प्रेम
२. उपयोग

पशु, मनुष्यों के समीप रहते हुए उनके सहकारी एवं सुखदुःख के सहभागी बनें। वैदिक काल से पौराणिक काल तक जीव-जन्तुओं के मनुष्य पर उपकार के अगणित उदाहरण प्राप्त है। प्रायः सभी देवताओं के वाहन भी जन्तु सम्प्रदाय के है। दुग्ध, मांस, वाहन के अतिरिक्त मनोरंजक एवं मनोहारी जीव भी इन्हीं गुणों के कारण मनुष्यों के प्रिय पात्र वने। शुक-सारिका, मृग, मयूर कोयल आदि का सामाजिक प्रयोग उनके चित्तरंजन के कारण हीं हुआ। नित्य प्रति आश्रम के पास विचरण करने वाली मृगी व शावक इसी कारण शकुन्तला की चिकित्सा के पात्र वनें। अश्व एवं श्वानों की स्वामिभक्ति के अनेक उदाहरण सुगमता से प्राप्य हैं, जिसमें उन्होंने अपने प्राणों की आहुति देकर भी स्वामी के प्राण वचाये या कार्यों को पूरा किया। गोधा के द्वारा किले की चढ़ाई के अनेक उदाहरण दृष्टिगत है। कबूतर अपनी मार्ग-प्रेक्षण शक्ति के कारण मनुष्यों को प्रिय-पात्र वना, तो सदा कर्कश काक भी प्रियजनों के आगमन की पूर्वसूचना प्रदान करने के कारण सुवर्णचञ्चु का अधिकारी बना।

सहकार एवं उपयोग पर आधारित यह प्रेम उनकी आत्यायिक अवस्थाओं में मनुष्य को उनकी चिकित्सा के लिए वाध्य करने लगा। स्थिति यह बनी की मनुष्य तथा उसके समाज के समस्त जीवजन्तुओं की चिकित्सा करने वाले को ही उत्तम चिकित्सक माना गया।

नराणां च गजानां च वाजिनां च गवामपि।

मृगाणां च खगानां च ये जानन्ति चिकित्सितम्।। (मानसोल्लास २/३/१३८)

अर्थात जो मनुष्यों की, हाथियों की, घोड़ों की, गायों की, मृगों कीं तथा पक्षियों की चिकित्सा करना जानता है, वही चिकित्सक है।

सोमेश्वर रचित यह ग्रन्थ 'मानसोल्लास' परवर्ती होने पर भी पशु एवं जीव जन्तुओं की चिकित्सा-उपयोगिता पर प्रकाश डालता है।

प्रारम्भ में सम्भवतः मनुष्यों की चिकित्सा करने वाले ही पशुओं की भी चिकित्सा करते रहे हो, वाद में पशुचिकित्सा, आयुर्वेद के मूल त्रिदोष तथा दोषधातुमलमूलं हि शरीरम् के सिद्धान्त पर विकसित होकर स्वतन्त्र पद्धति के रूप में प्रचलित हुई। उपयोग-विस्तार होने पर इसके भी स्वतन्त्र उपांग विकसित हुए यथा-अश्वायुर्वेद, गवायुर्वेद, अजायुर्वेद, मृगपक्षि शास्त्र आदि।

यही सम्भव है कि आयुर्वेद के औषधि प्रयोग के मूल में पशुआयुर्वेद ही रहा हो क्योंकि अनेक औषधियों का प्रयोग पशुओं पर परीक्षित होने के पश्चात ही मनुष्योपयोगी हो सका हो, यथा शतावरी का दुग्धवर्धन प्रयोग या माष का मांसवर्धन प्रयोग।

इसीलिए औषधियों के नाम रूप का ज्ञान पशुपालकों को होने का स्पष्ट निर्देश चरक संहिता में प्राप्त है। यद्यपि नाम रूप के ज्ञान को चिकित्सकीय प्रयोग हेतु पर्याप्त न मानते हुए, महर्षि आत्रेय ने उनके प्रयोग की सम्यक जानकारी वाले को ही भिषक मानने का निर्देश दिया है, परन्तु यह दोनों ही निर्देश पशुपालकों को औषधियों का ज्ञान एवं तद्विद चिकित्सकों द्वारा उनके उपयोग जानने की सम्यक पुष्टि करते हैं।

औषधीर्नारूपाभ्यां जानते ह्जपा बनें।

अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः।।

न नाम ज्ञान मात्रेण, रूप ज्ञानेन वा पुनः।

ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति।। १२०-१२१

चिकित्सा के क्षेत्र में पशु पक्षी न केवल अपने द्वारा प्रदत्त औषधीय द्रव्यों के कारण उपयोगी रहे, अपितु उनकी क्रिया-विधि भी मनुष्यों के लिए चिकित्सा-विधि की निर्देशक रही है। वस्ति चिकित्सा की अवधारणा भी एक पक्षी द्वारा चोंच से जलाशय का जल गुदमार्ग में डाल कर, बद्धमल को विसर्जित करते हुए देख कर वनी।

वाराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्या अवसे हुवे।।
वयांसि हंसा या विदुयश्चि सर्वे पतत्रिणः।
मृगया विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे।।

अर्थववेद शौ.शा. ८/७/२३-२५

अनेक औषधियों का नामकरण भी पशु-पक्षियों के आकार-प्रकार, रूप, गन्ध आदि के आधार पर हुआ। यथा-मूषाकरणी, श्रृगालवित्रा, नाकुली, हंसपदी, अश्वगन्धा, सर्पगन्ध ा, काकमाची, मेषश्रृंगी, मण्डूकपर्णी, उष्ट्रप्रिया काकाण्डपी आदि।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्यट है कि चिकित्सा के क्षेत्र में मनुष्यों एवं पशुओं का सहकार अत्यन्त विकसित स्वरूप में था।

आज भी मनुष्य अनेक औषधियों की प्राप्ति एवं उनके गुण-धर्म आधारित प्रयोगों के लिए पशु-पक्षियों पर ही निर्भर है। स्वतन्त्र-विकास के क्रम में, मनुष्य-चिकित्सा से अलग होकर पशु चिकित्सा ने भी अपनी अनेक दक्षता एवं वैशिष्ट्य युक्त शाखाएं प्रस्फुटित कीं। इनके तीन प्रमुख विभाग वनाये जा सकते है-

१. **पशु चिकित्सा**-गज, वाजि, गो आदि बड़े नित्योपयोगी व युद्धोपयोगी पशु।
२. **मृगचिकित्सा** -मृग, अज, मेष, कुक्कुरादि छोटे पशुओं की चिकित्सा।
३. **पक्षि-चिकित्सा**-इसमें पंख वाले पक्षियों की चिकित्सा

सोमेश्वर कृत् मानसोल्लास-(२/३/१३८) में इसका निर्देश प्राप्त होता है। लोकजीवन एवं युद्ध में उपयोगी होने के कारण गज, वाजि एवं गो चिकित्सा अधिक विकसित हो सकी। सम्भवतः ग्रन्थों के कालप्रभवजन्य लोप के कारण भी अन्य पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका।

वैदिक ग्रन्थों में 'अश्वशान्ति', 'गजशान्ति' एवं गोशान्ति का वर्णन प्राप्त होता है। कल्पसूत्रों में यह प्रकरण विशेष रूप से वर्णित है। यथा आपस्तम्भ औ.सू. २०/८/२।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में गोऽध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, गजाध्यक्ष तथा इनके चिकित्सकों का वर्णन प्राप्त होता है। कौ. अ.२/२९,३०,३१ में अशोक ने मनुष्यों की भाँति पशु-चिकित्सा के लिए अनेक व्यवस्थाएं की थी। इनका उसके शिलालेखों में स्पष्ट उल्लेख है।

विदेशी यात्री मेगास्थनीज एवं अलवेरुनी ने भी भारत में पशु चिकित्सा का उल्लेख किया है।

गवायुर्वेद :-गो भारतीय समाज की सबसे आदृत पशु है। उपहार, दान, दहेज एवं पुण्य प्राप्ति में यह विनिमय का आधार थी। कृषि, युद्ध एवं अर्थव्यवस्था का प्रधान

आधार गोवंश ही था। दुग्ध, कृषि एवं भार-वहन हेतु गोवंश का स्वस्थ रहना अनिवार्य था। रूग्ण एवं वृद्ध गोवंश का दान देना भी निषिद्ध था। अतः इनकी स्वास्थ रक्षा अनिवार्य थी।

वैदिक कल्पसूत्रों में गोशान्ति के वर्णन के अतिरिक्त गो-चिकित्सा विषयक कोई पृथक ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। शार्ङ्गधर पद्धति में गो-अजा आदि पशुओं की चिकित्सा का संक्षिप्त निर्देश प्राप्य है। महाभारत कालीन पाण्डुपुत्र सहदेव गवायुर्वेद के विशेषज्ञ माने जाते हैं, सम्भव है, इनका कोई ग्रन्थ भी रहा हों, परन्तु सम्प्रति यह प्राप्य नहीं है।

२. **अश्वायुर्वेद :-** इस ग्रन्थ को हयायुर्वेद, अश्वायुर्वेद, तुरंग आयुर्वेद अथवा शालिहोत्र-संहिता के नाम से जाना जाता है। अश्व-वैद्यक विषय का यह प्रमुख ग्रन्थ 'शालातुर' निवासी हयघोष के पुत्र शालिहोत्र द्वारा रचित है। यह ग्रन्थ अपूर्ण रूप में प्राप्त है। सम्भवतः शालिहोत्र के पिता का 'हयघोष' नाम, उनके वाजिचिकित्सा नैपुण्य का भी परिचायक हो।

इस ग्रन्थ में १२०० श्लोक है। यह आठ स्थानों में विभाजित है।

१. **प्रथम भाग-**इसमें अश्वों का सामान्य स्वभाव, जातियाँ, रंग, नस्ल गुण आदि के वर्णन के साथ-साथ उनकी आयु का पता लगाने का विधान, उनके नियन्त्रण की विधियाँ तथा राजा के उपयुक्त अश्वक्रम नियम स्पष्ट किये गये हैं।

२. **द्वितीय भागः-** इस भाग में निरूपण की रीतियों का उल्लेख, विभिन्न वीमारियों यथा-ज्वर, आन्त्रशूल, अक्षिरोग, अतिसार, हिक्का, श्वास, कामला आदि के साथ विष-विज्ञान का भी वर्णन किया गया है।

३. **तृतीय भागः-** इसमें गर्भ-शरीर से सम्वन्धित विषयों का वर्णन है। गर्भाशय, भ्रूण-निर्माण, भ्रूण-विकास कृच्छ-प्रसव के साथ-साथ प्रजनन संस्थान के रोगों का भी वर्णन किया गया है।

४. **चर्तुथ भागः-** इस भाग में मुख एवं जीभ के रोगों का निदान एवं उपचार वर्णित है। अश्वों द्वारा सम्यक् चारा न लेने के कारणों का भी वर्णन है।

५. **पंचम भागः-** अस्थि-संधान एवं अस्थि-भग्न के साथ ग्रह प्रभाव एवं विभिन्न रोगों का वर्णन इस भाग में प्राप्त होता है।

६. **षष्टम भागः-** इसमें नवग्रहों के प्रभाव एवं उनके निवारण के उपायों का वर्णन है।

७. **सप्तम भागः-** इसमें अश्वों को दिये जाने वाले दुग्ध, मद्य एवं लवण से उत्पन्न उपद्रवों एवं उनके शमन के उपाय तथा वस्ति चिकित्सा का वर्णन है।

८. **अष्टम भागः-** इसमें अश्वों के सामुद्रिक लक्षणों, शकुन-विचार एवं अरिष्ट-विचार के साथ-साथ अनेक औषधियों का भी वर्णन है।

शालिहोत्र के अश्ववैद्यक सम्बन्धी अध्यायों का उल्लेख अग्निपुराण, मत्स्यपुराण तथा गरुणपुराण में भी प्राप्त होता है।

शालिहोत्र-अश्वशाला नामक संस्कृत ग्रन्थ की प्रति मद्रास में प्राप्य है, नेपाल में भी एक हस्तलिखित प्रति है। इसके अतिरिक्त भोज का शालिहोत्र, कल्हण रचित शालिहोत्र सम्मुच्चय तथा दीपंकर का अश्ववैद्यक शास्त्र की भी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।

अश्वचिकित्सा पर वंगाल रायल एशियाटिक सोशायटी ने भी दो ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, जिनमें नल-कृत अश्वचिकित्सा एवं जयदत्त सूरी रचित अश्ववैद्यक है। आज भी नकुल कृत अश्व-चिकित्सा के नाम पर शालिहोत्र नाम से ही एक ग्रन्थ उपलब्ध है। वैसे भी महाभारत में शालिहोत्र का नाम अनेक स्थलों पर उपलब्ध है।

इसके अतिरिक्त जयेदव ने भी अश्व-चिकित्सा पर एक ग्रन्थ लिखा है। वात्स्य नामक एक ऋषि के पशुचिकित्सा-आचार्यत्व का भी वर्णन प्राप्त होता है। 'हयलीलावती' नामक ग्रन्थ के श्लोको का उद्धहरण 'रघुवंश' की मल्लिनाथ सूरी टीका में प्राप्त होता है। भोज-प्रणीत शालिहोत्र (डा.ई.डी. कुलकर्णी द्वारा सम्पादित) के अतिरिक्त, भोज की एक अन्य अश्व-चिकित्सा विषयक कृति का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कोलकत्ता ओरिएण्टल सीरीज़ द्वारा भोज के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ 'मुक्ति कल्पतरू' ग्रन्थ में अश्व, वृषभ आदि के रोगों का लक्षण एवं चिकित्सा सहित उल्लेख मिलता है।

'कविकल्पलता' नामक ग्रन्थ में भी उत्तम अश्वो के लक्षणों का वर्णन प्राप्त है।

शार्ङ्गधर द्वारा तुरंग-परीक्षा एवं चिकित्सा विषयक ग्रन्थ का उल्लेख है। राजा इन्द्रसेन (१८१२ ई.) ने शरसंग्रह नामक एक लघु ग्रन्थ अश्वचिकित्सा पर लिखा है।

नकुल प्रणीत 'अश्वशास्त्र' के नाम से, एस. गोपालन द्वारा सम्पादित एवं सरस्वती महल ग्रन्थागार तन्जौर द्वारा १९५२ में प्रकाशित ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अश्ववैद्यक अत्यन्त समुन्नत अवस्था में था। यह मनुष्य वैद्यक के समान ही ग्राह्य एवं आदरणीय था। महर्षि पाणिनि के जन्मस्थान 'शालातुर' (गान्धार के समीप) उत्पन्न महर्षि शालिहोत्र ने सम्भवतः इसी कारण अश्वचिकित्सा की शिक्षा ली एवं ग्रन्थ प्रणयन किया। 'इण्डिया आफिस लाइब्रेरी' लन्दन में सुरक्षित शालिहोत्र की एक अपूर्ण कृति के वर्णन के अनुसार इन्हें सुश्रुत (शल्यविद्) का पिता भी माना गया है।

अथोवाचः पुनः पुत्रं शालिहोत्रस्तु सुश्रुतम्।
शिष्योपनयनं नाम सुश्रुताय श्रणुश्व मे।।

शल्य ग्रन्थो ने सुश्रुत के पिता नाम विश्वामित्र एवं गुरू काशिराज दिवोदास धनवन्तरि' वताया है। सम्भव है इनके कुल में वैद्यक की अनेक परम्पराओं के अध्ययन की व्यवस्था रही हों अथवा इनके पुत्र या शिष्य का नाम भी सुश्रुत (शल्यशास्त्रं से भिन्न) रहा हो। अन्य आयुर्वेदीय ग्रन्थों के समान शालिहोत्र ने भी अपनी अश्वविद्या के आदि उपदेष्टा के रूप में व्रह्मा का उल्लेख किया है।

मृगपक्षि-शास्त्र :-छोटे पशुओ, मृगों एवं पक्षियों की चिकित्सा भी प्राचीन भारत में पुष्पित पल्लवित रहीं, परन्तु काल प्रभाव से तद्विषयक ग्रन्थों का अभाव ही दृष्टि गोचर होता है।

मृगपक्षिशास्त्र पर जैन पण्डित हंसदेव की रचना का उल्लेख कतिपय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। सोमेश्वर ने, मानसोल्लास में नर, गज, अश्व, गौ, एवं खग चिकित्सा जानने वाले वैद्यों का उल्लेख किया है, जो तत्कालीन समाज में मृगपक्षि-चिकित्सा के महत्व को प्रदर्शित करता है-

नराणां च गजानां च वाजिनां च गवामपि।
मृगाणां च खगानां च यें जानन्ति चिकित्सिम्।।

गजायुर्वेदः-हाथी का प्राचीन भारतीय समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। महर्षि पालकाप्य ने अपने 'गजरक्षणविन्याध्याय' में उल्लेख किया है-

नासौ व्ययो यत्र गुणे न लाभो।
नासौ वुधो येन तपो न सत्यम्।
नासौ पुमान्यत्र हिता न भार्या,
नासौ नृपः यस्य हिता न नागाः।। १-५-२७

तथा-

चन्द्रहीना यथा रात्रि, सस्य हीना वसुन्धरा।
गजहीना तथा सेना विस्तिर्णापि न शोभते।। १-५-३६

पशु चिकित्सा की इस महत्वपूर्ण शाखा का प्रमुख प्राप्त ग्रन्थ पालकाप्य रचित 'हस्त्यायुर्वेद' है। यह आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना से ई. १८९४ में प्रकाशित है। इसी शास्त्र पर दूसरा ग्रन्थ 'पालकाप्य' के ही द्वारा विरचित वताया गया 'गजशास्त्र' है, जो के. एस. सुब्रह्मण्यशास्त्री द्वारा सम्पादित एवं सरस्वती महल लाइब्रेरी तंजौर द्वारा १८५८ में प्रकाशित है।

पालकाप्य का परिचय

हस्त्यायुर्वेद ग्रन्थ में पालकाप्य को सामगायन ऋषि का पुत्र वताया गया है, जो अंगदेश के राजा रोमपाद द्वारा जंगली हाथियों को वश में करने एवं उपयोग में लाने के लिए आमन्त्रित किये गये थे। राजा रोमपाद भगवान राम के पिता दशरथ के समकालीन थे। रोमपाद (लोभाद) का चम्पा नरेश के रूप में भी ग्रन्थ में उल्लेख है।

'अंगो हि राजा चम्पायां पालकाप्य स्म पृच्छति'

चम्पा, अंग देश की राजधानी थी तथा राजा 'पृथुलाक्ष' के पुत्र 'चम्पा' के नाम से

अभिहित हुई। कनिंघम ने प्राचीन चम्पा की पहचान, भागलपुर से ४० किमी दूरी आधुनिक पथरघाट के रूप में की।

त्रिकाण्डशेष के लेखक ने सुश्रुत संहिता के आदि उपदेष्टा दिवोदास धनवन्तरि एवं पालकाप्य में ऐक्य माना है। इनके अनुसार सुश्रुत ने भी पशुचिकित्सा धनवन्तरि से पढ़ी, पर ऐसा कोई उल्लेख सुश्रुत संहिता में नही मिलता। शालिहोत्र ने भी सुश्रुत को अपना शिष्य माना है। सम्भव है यह कोई अन्य सुश्रुत हों अथवा सामेश्वर कृत मानसोल्लास की रीति के अनुसार सुश्रुत ने शल्य तन्त्र के अतिरिक्त हय, गज, पक्षि-चिकित्सा का भी अध्ययन किया हों, परन्तु ग्रन्थ का प्रणयन केवल शल्यशास्त्र का ही किया हो।

इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि गज शास्त्र के समस्त विधान मनुष्यायुर्वेद की ही भाँति त्रिदोष एवं दोष धातु मल सिद्धान्त पर आधारित है।-

आध्यात्मिकागन्तु भेदा, द्विविधा व्याध्यः स्मृताः।
आध्यात्मिका दोषजाश्च मानसाश्च प्रकीर्तिता।। १-७-३
आगन्तवोऽपि विज्ञेया आधिभूताधिदैविकाः। १-७-४
यस्माद्विजते तांस्तु वात पित्त कफास्मिकात।
रक्तजान्सानियताश्च द्वित्रिज मानसांस्तथा।।
आगन्तुश्चापि जानीयात् आधि भौतिक दैविकान्
साध्यानसाध्यान्यस्थांश्च कृच्छ साध्यांरच भेदतः।

X X X

ग्रहणी वर्धते तेन न च वायुः प्रवाधते।
ओदने चापि युक्तिज्ञः क्रमशो दापयेद्विषम्।।

यह अनुमान लगाया जाता है कि पालकाप्य का ग्रन्थ भी ईसा पूर्व १००० के आस-पास लिखा गया होगा। मानव-स्वास्थ्य की भाँति पशुओं के लिए भी अलग-अलग विद्वानों द्वारा अलग-अलग संहिताओं का प्रणयन किया गया होगा।

पालकाप्य ऋषि द्वारा प्रणीत दोनो ग्रन्थों हस्त्यायुर्वेद एवं गज शास्त्र में, हस्त्यायुर्वेद एक विशाल ग्रन्थ है। इसका मूल स्वरूप चरक या सुश्रुत संहिता से कम नहीं है। वर्णन की विधा एवं विषयवस्तु दोनों ही दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों के समकक्ष का ही प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ को ४ स्थानों में विभक्त किया गया है।

१. महारोग स्थान ३. शल्यस्थान
२. क्षुद्ररोग स्थान ४. उत्तरस्थान

इन चारों स्थानो में कुल १६० अध्याय हैं, जिनमें गज सम्बन्धी १८२ रोगों का वर्णन है।

ग्रन्थ का प्रणयन चरक संहिता के अथातोंदीर्घञ्जीवितीयम् अध्यायं व्याख्यास्यामः इति हस्माह भगवान आत्रेयः की भाँति पूर्णतः न होकर भी उसी प्रकार की परम्परा का अनुपालन करता है-

"तत्सब्रह्मणे नमः"

"पालकाप्य मुनि विरचित"

"प्रथम महारोग स्थान"

"तत्र प्रथमो वनानुचरिताध्यायः"

परन्तु अध्यायों की समाप्ति पूर्णतः अग्निवेश तन्त्र की भाँति-

"इति पालकाप्ये हस्त्यायुर्वेद महाप्रवचने महारोगास्थाने वनानुचरित नाम प्रथम अध्यायः"

चरक, सुश्रुत, अष्टांग सग्रह की भाँति ही इसमें भी 'शिष्योपनीयम' (छठा अध्याय) की विधि-व्यवस्था का वर्णन है। कतिपय अध्यायों ने निम्नलिखित नाम, उनकी मानव आयुर्वेद से समता वताने हेतु पर्याप्त है-

अन्नसमाचाराध्याय	शिराव्यूह वाधि अध्याय	दूषीविषनामाध्याय
सात्म्यविनिश्चय	मांस विद्ध ,,	अक्षिरोगाध्याय
शास्त्रसंग्रहाध्याय	दोष ,,	,,
शिष्योपनीयाध्याय	कीट चिकित्सा ,,	स्फोटिकाध्याय
रोग विभक्त्याध्याय	मूढ़ गर्भावध्याय	उन्मादाध्याय
ज्वरोत्पात्याध्याय	दन्तोध्याय	अपस्माराध्याय
स्कन्दाध्याय	स्नेहपान ,,	वातकुण्डल्याध्याय
पाण्डुरोगाध्याय	वस्ति ,,	भूतग्रहाध्याय
विषाध्याय	लवण योगाध्याय	उरःक्षत अध्याय
आनाहाध्याय	सुराप्रतिपाना ,,	शोणिताण्डसाध्याय
दिग्धविद्ध ,,	परिचारका हेतु ज्ञानाध्याय	
मूत्रसंग ,,	लवणयोगाध्याय	
ग्रहणी ,,	मद प्रतिकाराध्याय	
कृमि ,,	जलौकाध्याय	
क्षय ,,	उपसर्ग निरूपणाध्याय	

गात्ररोग ,, सिरोगाध्याय
गर्भावक्रान्ति ,, व्यापदाध्याय
शरीर विचय ,, सोफाध्याय
शल्योद्धरण ,, स्वेदाध्याय
विद्रधि ,, मूर्च्छाध्याय
व्रकाधिकं ,, शान्तिरक्षाध्याय
पादरोगाध्याय
सर्पद्रष्टाध्याय

शिष्योपनयन में ब्रह्मा, विष्णु, शंकर सूर्यचन्द्र की पूजा का विधान है। दिनो का प्रचलन संभवतः नहीं था-

ब्रह्माणं शंकरं विष्णु चन्द्र सूर्यो ग्रहाञ्वलान १-६-८

मूहर्ते तिथि नक्षत्र प्रशस्ते ७-६-४

ऊँ भवाय स्वाहाः भूर्भवः स्वाहा, अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, रुद्राय स्वाहा, सेनान्यै स्वाहा, बलाय स्वाहा, बलाङ्गय स्वाहा, वलाधिपतये स्वाहा, शक्तिधाराय स्वाहा, शिखिकण्ढ प्रियाय स्वाहा, कुक्कुटघण्टाप्रियाय स्वाहा.........३४-६०४।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि वैदिक के साथ-साथ लौकिक देवताओं की भी पूजा इस ग्रन्थ के काल में प्रारम्भ हो चुकी थी। प्रथम स्थान के प्रथम अध्याय में गणेश के साथ अंगराज की भी स्तुति है।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि वैदिक के साथ-साथ लौकिक देवताओं की भी पूजा इस ग्रन्थ के काल में प्रारम्भ हो चुकी थी। प्रथम स्थान के प्रथम अध्याय में गणेश के साथ अंगराज की भी स्तुति है।

चरक संहिता की प्रथम संगोष्ठी में आये अनेक ऋषियों का नाम इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में है-

गौतमं अग्निवेशं च राजपुत्रं च वाष्कलिम् ।
काश्यपं मृगश्मणिं भारद्वाजं च सौवलम् ।।
काकायनं च गार्ग्यं च रैम्यं चैव वृहस्पति ।
अरिमेदं च माण्डयं कुमुजं च तथैव च ।।
याज्ञवल्यं हिरण्यं च भृगुं चाङ्गिरस तथा ।
पराशरमं च मतङ्ग्ं चोर्भिमालिनमम् ।।
सारस्वतं सच्यवनं पुलत्स्यं पुलहंक्रतुम् ।
विश्वामित्रं वशिष्टं च जमदग्नि च भार्गवम् ।।

अस्यं च त्रिशंकु च मरीच्यात्रि पुपर्वणम् ।।

दीर्घ परिकरम् काप्यं नारदं सुखन्दितम्।.....

रोगों के वात पित्त कफ-जन्य होने का उल्लेख तो सम्पूर्ण ग्रन्थ में है, चरक आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थों की उत्पत्ति भी रुद्रसन्ताप सम्भवा वतायी गयी है-

दानवानां विनाशाय रुद्रः स्म सृजति ज्वरम्।

द्वितीय सृष्टवान्विष्णुः प्रज्चरं घोर दर्शनम।। १-८-११

मनुष्यों के ज्वर के पूर्व रूपो-

'श्रमो अरति वैवर्ण्यः'

की ही भाँति हाथियों में भी ज्वर का पूर्ण रूप निम्नवत वर्णित है-

अनवस्थितगात्रश्च बहुशश्च विजृम्भ्यते।

शरीरं गौरवं चैव दृष्टरोमा च जायते।

ध्यायते दुर्मनाश्चै यवसं नाभि नन्दति।।

पर्यश्रुः परिमूत्री च शय्यायां कुरुते गजः।।

पाकलाध्याय में विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों में ज्वर के रूप एवं नाम वताये गये है-

नरेषु ज्वरः, हयेषु मितापः, खरेषु खोरकः, गोष्वोश्वरः, उष्ट्रेष्वलसक, व्याद्रेष्वाक्षिकः, प्रलापकोऽजादिषु, सरीसृपेषु कण्णीज हारिद्रको माहिषेषु, मृगरोगो मृगेषु, पक्षिष्ववतापः, पतङ्गेगृषु शुनस्वलर्कः, मत्स्येष्विन्द्रमदः, गुल्मेषु गुच्छकः, ओषधि वनष्पतिषु ज्योतिष्कः, माल्येषु पर्वकः, ऋषभको नलनीषु धान्येषु चूर्णकः, लल कोद्रवेषु मधूकः शाकेषु, भूभ्यामूषरः, अजनुनीलिका गजेषु पाकलः।

मनुष्य के शारीरिक रोगों के प्रतिकार हेतु औषधियों तथा मानसिक रोगों के शमन हेतु घी धृति स्मृति परिरक्षण-उपायों की भाँति ही हाथियों में भीं-

हास्ते आयुर्वेद चिकित्सा

१. आनाह चिकित्सा-

पिपप्ली पिपालीमूल विडंगं हस्तिपिप्पली।

उष्णोदकं च पानार्थं परिषेकाय दापयेत।।

अत्युष्णं नैव दातव्यं क्वचिते नीति शीतलम्।।

कवोष्णं कफवातघ्नं शीतं पित्त विनाशनम्।।

एतदेव त्रिदोषदनं केदिदाहु मनीषिणाम्।।

विदग्ध भोजन मूर्च्छा चिकित्सा हेतु-

मरिच श्रृंगवेर आटरूपषक विल्वारग्वध दन्ती गण्डीर पिप्पली

भिर्गोमय संयुक्तानि कवलन्दद्यात।।

मानसिक रोगों से रक्षा हेतु शान्ति रक्षा विधान-

धृति स्मृतिश्च मेधा च रक्षा शान्ति स्वमेव च

त्वं सिद्धिस्त्वं जया लक्ष्मीः श्रीस्त्वं दुर्गा सरस्वती।।

विष परीक्षा-आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों की ही भाँति-वर्णित है, परन्तु दूषी विष के वर्णन वाला अध्याय अपूर्ण है।

भोजने स्याद्विवर्ण च माक्षिकाश्चापि मारयेत

काकः क्षामस्वरं कुर्याच्चकोरो इति विरञ्चयेत।।

तत्र पश्चेन्स्वरूपाणि यानि कुर्यातु दूषितः।

कृच्छेण प्रज्वलन्याग्निः स्फुटं चिरचिटायते।।

सर्पद्रष्टाध्याय में सर्पो के चार भेद बताये गये। यही भेद आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी है-

चतुर्विधा तु निर्दिष्टाः पन्नगाः मुनिनापुरा।

दर्वीकरा मण्डलिनो राजिलास्तु पताकिनः।। २-१०-१५

चिकित्स्य विषयों के वर्णन के अतिरिक्त ग्रन्थ का काव्य सौष्ठव भी अनुपम है। भाषा प्रवाहपूर्ण है और ग्रन्थकर्ता को कहीं भी शब्दों की कमी नहीं पड़ी है, रोग रूप एवं ऋतुवर्णन सम्बन्धी प्रस्तुत दो उदाहरण इस हेतु पर्याप्त है-

विदग्ध भोजन मूर्च्छा रूप-

निपतति, उत्पतति, परिधावति, परिवर्तते, प्रवेपते, भूमौ चक्रवृद्धिमति।

तथा-

विनमति, संकुचति, कूजति, भ्रमति, पतति, निःश्वसति, परिवर्तते नदति ताडयति ध्यायति.......

इसकी तुलना संस्कृत काव्य के-वहन्ति, वर्षान्ति, नदन्ति भान्तिं गायन्ति नृत्यन्ति. ....से कितनी सामञ्जस्यपूर्ण है जहाँ केवल क्रियाओं का संचय है।

इसी प्रकार वसन्त ऋतुचर्या-

परमनिचति विविध सुरभि रुचिर कुसुमेषु सहकार बकुल तिलक शालवञ्जुलतमाल ताल तालीस प्रियालाङ्कोल्ल शिरीष कर्णिकार पाटला, कुरुवक करवीर किंशुकाशोकनवमालिका कुन्देन्दुविरकिंकिरात तिन्दुक, पुन्नागनाग चम्पकाति मुक्तशोभाञ्जन पारिजातकाम्रातकाश्मन्तक प्रियंगु वरुणककदम्ब विविध तरु कुसुमाकर सुगन्धवासितेषु मतश्रयन्मधुकर शुक सारिका परिवृत्त वर्हिण विविध विहंगगज निनादेषु करिवरकर चरण दशनविधृत बहुविधि तरु कुसुम

फलकेषु विकच पुष्प मन्द मरुतोपगीत नृत्यमानलतामण्डित वनविवर भवनेजु बहुविधि कुसुम गन्धाधिवासितेन दक्षिणपवनेनोदीर्यमाणा मदना द्विरदवरा अलिकुलपटला निनादित कोपलाः करेणु सहिता स्वच्छन्दतः स्थानराव्यासन सहिता रसितप्रक्ष्वेलित विविध ललितालिङ्गित चुम्वितेङ्गित प्रकुपित प्रसारिता निकराल विविध तरुपत्र पुष्पफल भङग् कवल कुवलय पल्लव कन्दमूल यव सफललोपभोगा नानाविधि नदी सरस्तऽगानां च विमल विपुर रुचिर सलिल प्रतिपूर्णानां सूर्यांशुवोधित सराणां हंस कुश कारण्डचक्रवाक सारस वक लाव कामद्सुमल्लिकाख्यानुनादे रूपरोमितायै कमल कुमुद कुवलयालंकृताणां क्वचिद्विनाम वसन्ते सुखमनुभवन्ति। इसी में व्याख्यान है-

वसन्ते चित्रपुष्पाणां सुगन्धानां नराधिपः

इस प्रकार, संक्षिप्त परिशीलन से पालकाप्य गज चिकित्सा का एक अप्रतिम ग्रन्थ सिद्ध होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का विस्तार एवं रोगों के निदान-चिकित्सा का विशद वर्णन न केवल प्राचीन भारत की उन्नत गज-चिकित्सा का साक्षी है, अपितु शारीरिक दोष 'वात पित्त कफ' एवं मानसिक दोष 'रज तथा तम' के रोग कारणता पर आधारित मनुष्यायुर्वेद के समान ही अश्वायुर्वेद, गवायुर्वेद, मृग-पक्षि आयुर्वेद आदि भी अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में थे।

पशु-चिकित्सा के इन विकसित उपादानो की उपादेयता को पुनः सिद्ध करने हेतु अनुसंधान तथा व्यापक प्रचार-प्रसार की आज भी महती आवश्यकता है।

चतुर्विंश अध्याय

चुम्बक, एक्यूप्रेशर, एक्यूपंक्चर एवं रेकी चिकित्सा

मनुष्य प्रागैतिहासिक काल से ही अनेक प्रकार के विकारों से पीड़ित रहा है। इन विकारों से मुक्ति के लिए विभिन्न प्रकार की चिकित्साओं का प्रयोग करता आ रहा है। उपलब्ध साहित्य के आधार पर चिकित्सा हेतु प्रयुक्त औषधियों तथा प्रयोग विधियों का उल्लेख वेदों में उपलब्ध है, जो विश्व का प्राचीनतम वाङमय माना जाता है तथा समस्त ज्ञान का आदि स्रोत है। वेदों के पश्चात् इसका सुव्यवस्थित वर्णन प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति अर्थात् आयुर्वेद में मिलता है। आयुर्वेद को पंचम वेद या अथर्ववेद का उपवेद भी कहा है।

आयुर्वेद में एक्यूपंक्चर, एक्युप्रेशर तथा चुम्बक चिकित्सा का वर्णन इन नामोल्लेख के साथ तो नहीं मिलता, अपितु इन चिकित्सा पद्धतियों का वर्णन अपरोक्ष रूप में कर्णविधन संस्कार के रूप में, एक्युप्रेशर का प्रयोग खड़ाऊ धारण (पादांगुष्ठ पर दबाव डालने हेतु इन्द्रियजय हेतु सहायक) में तथा चुम्बकीय धातु का प्रयोग कान्त लौह के रूप में उल्लेख पदे-पदे दिखलाई पड़ता है।

एक्युप्रेशर, एक्यूपंचर और रेकी को विश्व की प्राचीनतम ही नहीं, बल्कि विश्व की प्रारम्भिक चिकित्सा प्रणाली कहा जा सकता है। इन चिकित्सा प्रणालियों का जन्म उस समय हुआ था, जब मानव को धातुओं का ज्ञान नहीं था। वह सृष्टि का पाषाण काल था। उस समय उपचार का एकमात्र साधन रोगग्रस्त अंग को दबाकर तथा सहलाकर रोग को कम करना था। प्राचीन गुफाओं में पत्थरों की बनी ऐसी नुकीली सुईयाँ मिली है, जिन्हें रोगग्रस्त अंग में चुभोकर रोग का निवारण किया जाता रहा होगा। प्राचीन काल में जब किसी व्यक्ति के शरीर के किसी अंग में पीड़ा होने लगती थी या कोई विकार उत्पन्न होता था, तब उस पर अंगूठे, उंगलियों या फिर लकड़ी या पत्थर की बनी चीजों द्वारा दवाव डालकर ठीक कर दिया जाता था। यही एक्यूप्रेशर चिकित्सा का मूल सिद्धान्त है। भारत विश्व का पहला ऐसा देश था, जहाँ सभ्यता विकसित होती हुई सीमाओं के निकटवर्ती देशों में पहुँची। एक्युप्रेशर और एक्यूपंचर चिकित्सा प्रणाली भारतीय व्यापारियों और धर्म प्रचारकों के माध्यम से चीन एशिया के दक्षिणपूर्वी देशों के अतिरिक्त ईरान और अफगानिस्तान के रास्ते जब बाल्टिक सागर के निकटवर्ती देशों तक जाना आरम्भ किया, तो एक्युप्रेशर तथा एक्यूपंचर प्रणाली उन देशों में भी पहुँच गई। एक्यूप्रेशर और एक्यूपंचर पद्धतियों के द्वारा उपचार के जो सिद्धांत है, वही चुम्बक चिकित्सा के भी है, इस उपचार के लिए मानव शरीर में लगभग एक हजार ऐसे एक्युबिंदु खोज निकाले हैं, जिनमें सुई चुभोकर रोगों का

उपचार किया जा सकता है। एक्युपंचर चिकित्सा में एक्युबिंदुओं में सुई, एक्युप्रेशर में दबाव तथा चुम्बक चिकित्सा में यही काम चुम्बकों से लिया जाता है। चुम्बक अपने प्रभाव क्षेत्र की सीमाओं में एक चुम्बकीय क्षेत्र बना देता है, जिसका प्रभाव सभी पौधों-पशुओं एवं मनुष्यों के जीवन पर पड़ता है। जबकि रेकी चिकित्सा में ब्रह्माण्ड ऊर्जा को हस्त द्वारा स्पर्श या बिना स्पर्श किये रोगी की जीवनीय उर्जा के प्रवाह को साम्य व सुचारू बनाकर रोगनाश करते हैं।

चुम्बक चिकित्सा

चुम्बक की खोज एवं चिकित्सा क्षेत्र में चुम्बक के प्रयोग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन समय में आर्यजनों को चुम्बक एवं उसके गुणों का पूर्णतया ज्ञान था। वे जानते थे कि चुम्बक में लोहे को आकृष्ट करने के साथ-साथ अनेक रोगों को ठीक करने के गुण भी पाये जाते हैं। वेदों में अनेक स्थानों पर विशेष प्रकार की बालू और पत्थर के प्रयोग से अनेक रोगों की चिकित्सा का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में सिकता और अश्मन शब्द मिलते हैं, जिनके अर्थ है रेत और पत्थर। चुम्बक रेत मिट्टी और लोहे से ही बनते है। अतः अथर्ववेद में जिनका उल्लेख मिलता है, वह रेत और पत्थर चुम्बक ही होंगे, ऐसा प्रतीत होता है। वैदिक काल में लोहे का सम्यक् ज्ञान था। अथर्ववेद में लोहितायस और श्यामअयस का उल्लेख है। सिन्धु धाटी की सभ्यता में लौह का अस्तित्व नहीं था। मनुस्मृति में लौह से बने पात्रों का उल्लेख है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लौह के अनेक भेदों का वर्णन है। आयुर्वेद में चुम्बक का वर्णन कान्त लौह के भेद के रूप में मिलता है। जो कान्त लौह अपने प्रभाव से अन्य लौह समूह को खींचकर चुम्बित कर लेता है, उसे चुम्बक लौह कहते हैं।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तु, प्लेटो और होमर द्वारा लिखित ग्रन्थों में चुम्बक का उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन ग्रीक वासियों को चुम्बक के गुणों के बारे में ज्ञान था। चुम्बक के प्रेरण सिद्धान्त की जानकारी रोमन कवि टाइटस कैरस के समय थी। प्राचीन समय में चुम्बक के प्रयोग के विषय में अनेक विचारधारायें थीं। कुछ लोग अपने यौवन को बनाए रखने की दृष्टि से चुम्बक का प्रयोग करते थे। इजिप्ट के राजा टालेमी की अत्यन्त सुन्दर कन्या अपना सौन्दर्य बनाये रखने के लिए अपने मस्तक पर चुम्बक लगाये रखती है।

चुम्बक में दैवी शक्ति होती है, ऐसी भी उस युग में धारणा थी। ऐसी मान्यता भी थी कि उत्तर दिशा में समुद्र के भीतर स्थित कुछ पर्वत जलयानों में से लोहे की कीले खीच लेते है, अतः जलयान के निर्माण में लकड़ी की कीलों का उपयोग होता था।

आधुनिक युग में चुम्बक की खोज ईसा से कई सौ वर्ष पहले मानते है। एक मत के अनुसार मेग्नेटीस नाम का एक चरवाहा बालक माउन्ट ईडा पर घूम रहा था, तभी

अचानक उसके हाथ की लोहे की छड़ और उसके जूते की लोहे की कीले एक पत्थर से चिपक गई, जिससे उसका आगे कदम बढ़ाना मुश्किल हो गया। उस बालक के नाम पर ही इस पत्थर का नाम मैग्नेट पड़ गया। बहुत समय पहले एशिया माइनर के क्षेत्र मैग्नीशिया में मुख्यतः लोहे और प्राण वायु के संयोजन वाली मिट्टी बहुतायत में थी। इस मिट्टी में आकर्षण के गुण थे, इस प्रकार मैग्नेट शब्द इसी मैग्नीशिया से व्युप्तन्न माना जाता है।

१५वीं शताब्दी के अन्त तक लोगों को केवल चुम्बक की दो शक्तियों प्रेरणा द्वारा चुम्बक के उत्पन्न होने की तथा डोरी से लटकाए हुए चुम्बक की निश्चित दिशाओं की ओर स्थिर रहने की जानकारी थी। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रसिद्ध स्विस वैज्ञानिक पेरासैल्सस ने चुम्बकों में रोग निवारक गुण होने का वर्णन किया। आधुनिक युग में चुम्बक के अध्ययन की नींव इंग्लैण्ड के डॉ. विलियम गिलबर्ट ने डाली। माइकल फैराडे ने चुम्बकों के विषय में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान किया और यह सिद्ध किया कि विद्युत का वहन करने वाले तार के आस-पास भी चुम्बकत्व का निर्माण होता है। आज चुम्बकों ने विद्युत उत्पादन, भौतिक शास्त्र, चिकित्सा क्षेत्र एवं रसायन शास्त्र आदि में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति ग्रहों-उपग्रहों को परस्पर एक निश्चित सीमा में आवद्ध किए रहती है। इसी आकर्षण शक्ति को चुम्बकीय शक्ति कहते हैं। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा अथवा दूसरे ग्रह सभी से एक चुम्बकीय शक्ति का निर्गमन होता है, जिसका प्रभाव मानव के साथ-साथ समस्त चेतन-अचेतन जीवों तथा पदार्थों पर पड़ता है।

मानव शरीर अपने आप में एक चुम्बक के समान है। हमारे शरीर के चुम्बकीय पक्ष होते हैं। खड़े व्यक्ति को लिया जाए, तो सिर को उत्तरी ध्रुव तथा पैरों को दक्षिण ध्रुव माना जाएगा। यदि उत्तानावस्था में शरीर को ले, तो शरीर के दाहिने अंग को उत्तरी ध्रुव तथा शरीर के बायें अंग को दक्षिणी ध्रुव कहा जाएगा। शरीर के आगे के भाग को उत्तरी तथा पृष्ठ भाग को दक्षिणी ध्रुव कहा जायेगा। बैरन वान रिचन बक के अनुसार संवेदनशील व्यक्ति जब अपना सिर दक्षिण की ओर रखकर सोने का प्रयत्न करता है, तो उसे बेचैनी का अनुभव होता है, जब वह अपना सिर उत्तर की ओर तथा पाँव दक्षिण की ओर रखकर सोता है, तब उसे शान्ति का अनुभव होता है तथा निद्रा ठीक से आती है। भूमि पर सोते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए। प्राचीन हिन्दु शास्त्रों में भी वर्णन मिलता है कि मृत्यु के समीप पहुँचा व्यक्ति जब अधिक कष्ट और पीड़ा की स्थिति में हो, तो उसे भूमि पर इस प्रकार लिटा देना चाहिए कि उसका सिर उत्तर तथा पैर दक्षिण की ओर रहे, इससे व्यक्ति पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के समानान्तर रहता है उससे मरते समय कम कष्ट होता है। पृथ्वी के समान सूर्य भी एक विशाल प्राकृतिक चुम्बक है। सूर्य में समस्त ग्रहों से कई गुना अधिक चुम्बकीय शक्ति विद्यमान है। सूर्य की किरणों के कारण ही ऋतु परिवर्तन होता है। इन परिवर्तनों का प्रभाव मनुष्यों के मन और शरीर पर पड़ता है।

सूर्य के समान चन्द्रमा भी एक प्राकृतिक चुम्बक है। मनुष्य की गतिविधियाँ चन्द्रमा से अत्यधिक प्रभावित होती है। स्त्रियों के मासिक धर्म की गणना चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार होती हैं। शुक्ल पक्ष में ऋतुमती होने के बाद गर्भ धारण करने वाली स्त्री पुत्रवती तथा कृष्ण पक्ष में गर्भ धारण करने वाली स्त्रियाँ कन्या को जन्म देती है। अधिकांश उन्माद एवं अपस्मार के रोगियों में पूर्णिमा को भयंकर दौरे पड़ते है। चन्द्रमा की किरणों का चुम्बकीय प्रभाव रोगों और औषधियों पर भी पड़ता है। शरद पूर्णिमा की रात को श्वास के रोगियों को चाँदनी में रखी गई खीर में दवा मिलाकर खिलाई जाती है। रातभर चन्द्रमा की किरणें पड़ने से इनका चुम्बकीय प्रभाव उस औषधि के गुणों को बढ़ा देता है, जो श्वास रोग में लाभकारी होती है। शरदपूर्णिमा को चाँदनी में रखे हुए घृत का प्रयोग आँखों के लिए लाभकारी होता है।

शरीर में रोग उत्पन्न करने वाले कारक

शरीर को प्रभावित करने वाले कारकों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं- १. बाह्य कारक २. आंतरिक कारक

बाह्य कारक-आकाशीय पिण्डों की विद्युत चुम्बकीय प्रक्रिया में परिवर्तन तूफान ग्रहण आदि, पार्थिव वातावरण के विद्युत चुम्बकीय प्रक्रिया के परिवर्तन, क्ष-किरण रंगीन टी.वी. के दौरान होने वाले निःसरण, अणु एवं न्यूक्लीयर बम के परीक्षण के आस-पास का क्षेत्र।

आंतरिक कारक-असात्म्य आहार-विहार, मानसिक तनाव, अनियमित जीवन, श्रम का अभाव, व्यसन एवं औषधियों का असम्यक् प्रयोग।

चुम्बकों के प्रकार

१. **शक्तिशाली चुम्बक**-इनकी शक्ति लगभग २०० गौस होती है, इन्हें हथेलियों, तलवों पर लगाया जाता है। योग्य-पक्षाघात, पोलियो, कशेरूक, सन्धि शोथ, शियाटिका, एक्जिमा।
२. **मध्यम शक्ति चुम्बक**-इनकी शक्ति लगभग ५०० गौस होती है, ये बच्चों के लिए उपयोगी होते है। योग्य-कर्णशूल में उन्हें हथेलियों और तलवों पर लगाते है।
३. **अल्प शक्ति**-इनकी शक्ति लगभग २०० गौस होती है, ये आँख, नाक, टॉसिल, मस्तिष्क आदि अंगों के लिए उत्तम होते हैं। योग्य- अनिन्द्रा, बौनापन, टान्सिलाइटिस।
४. **समूह चुम्बक**-छोटे-छोटे चुम्बकों को एक समूह अथवा बेल्ट के रूप में बनाकर विशिष्ट चिकित्सा के लिए प्रयोग करते हैं।

चुम्बक चिकित्सा की पद्धति-चुम्बक दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है- १. सार्वदेहिक, २. स्थानिक

१. **सार्वदैहिक प्रयोग**-इस विधि के अनुसार उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव से युक्त चुम्बकों का एक जोड़ा लिया जाता है। सामान्यतः उत्तरी-ध्रव वाले चुम्बक का प्रयोग शरीर के दाँये भागों में अग्रभाग पर तथा उत्तरी भागों पर किया जाता है। जबकि दक्षिणी-ध्रुव वाले चुम्बक का प्रयोग शरीर के बाँये भागों पर पृष्ठ पर तथा अधः भागों पर किया जाता है। जब रोग अथवा उसका प्रसार शरीर के ऊपरी भाग अर्थात् नाभि से ऊपर हो, तो चुम्बकों को हथेलियों पर लगाया जाता है, जबकि शरीर के अधों भागों अर्थात नाभि से नीचे के रोगों में चुम्बकों को तलवों में लगाया जाता है। यह विधि ऐसी अवस्थाओं के लिए भी उत्तम है, जिनमें शरीर के दोनों ओर के पुराने रोगों या शरीर का अधिक भाग प्रभावित हो या जहाँ उसे निश्चयपूर्वक निर्धारित करना कठिन होता है।

२. **स्थानीय प्रयोग**-इस विधि में चुम्बकों को उन स्थानों पर लगाया जाता है, जो रोगग्रस्त होते है। जैसे-जानु सन्धि या पैर, कशेरूक, आँख, नाक, इनमें रोग की तीव्रता तथा लक्षण के अनुसार एक-दो या तीन चुम्बकों का प्रयोग किया जा सकता है। इस विधि की उपयोगिता स्थानिक रोग-संक्रमण की अवस्था में भी होती है। नासा के पालिप, टान्सिलाइटिस जैसी अवस्थाओं में स्थानिक प्रयोग विधि अधिक उपयोगी होती है।

चुम्बक की प्रयोग विधियाँ

चुम्बक प्रयोग के दो मुख्य प्रकार है-

१. किसी भी एक अर्थात उत्तर या दक्षिण ध्रुव का उपयोग।
२. दोनों ध्रुवों का एक साथ उपयोग या सार्वदेहिक उपयोग।

सार्वदैहिक चिकित्सा में दोनों ध्रुवों के सिद्धान्तानुसार चुम्बक लगाने की पाँच विधि हैं-

	ध्रुव	कहाँ लगाना है
१.	उत्तरी ध्रुव	दायाँ हाथ
	दक्षिणी ध्रुव	बायाँ हाथ
२.	उत्तरी ध्रुव	दायाँ हाथ
	दक्षिणी ध्रुव	बायाँ पैर
३.	उत्तरी ध्रुव	बायाँ हाथ
	दक्षिणी ध्रुव	बायाँ पैर
४.	उत्तरी ध्रुव	बायाँ हाथ
	दक्षिणी ध्रुव	दायाँ पैर

५.	उत्तरी ध्रुव	दायाँ पैर
	दक्षिणी ध्रुव	बायाँ पैर

संक्रमण, सूजन, चर्मरोग, संधि स्थलों के रोग, चिन्ता, मूर्च्छा, आँखों के रोग, न्यूरैल्जिया, अनिद्रा आदि में दक्षिण ध्रुव लाभकारी होते है। उत्तरी ध्रुव का प्रयोग पक्षाघात, आंत्रवृद्धि, हर्निया, त्वचा के सफेद दाग, एलोपेसिआ, मूर्च्छा रोग इत्यादि में उपयोगी सिद्ध होता है।

यदि शरीर के दाँई ओर या वाँई ओर चुम्बक लगाने हों, तो दक्षिण-ध्रुव, वाँई (हथेली) ओर लगाना चाहिए और उत्तरी ध्रुव दाँई (हथेली) ओर। यदि चुम्बक शरीर के उपरी और निचले भागों पर लगानें हो, तो उत्तरी ध्रुव (दाई हथेली) ऊपर की ओर तथा दक्षिणी ध्रुव (वाँई हथेली) नीचे की ओर लगाना चाहिए। यदि चुम्बक शरीर के अगली ओर तथा पिछली ओर लगाना पड़े, तो उत्तरी ध्रुव शरीर के अगले भाग में लगाना चाहिए और दक्षिण ध्रुव पिछले भाग में।

चुम्बक स्पर्श की विधि

इसके लिए दो गोलाकार या वर्गाकार चुम्बकों की आवश्यकता होती है। उनमें से एक का उत्तरी ध्रुव दूसरे का दक्षिणी ध्रुव उसके बीचों वीच होना चाहिए। लकड़ी की वनी बैंच कुर्सी या स्टूल होना चाहिए और पैरों के नीचे रखने के लिए एक इंच मोटी लकड़ी का एक तख्ता।

- शरीर के आधे, ऊपरी हिस्से के उपचार में चुम्बक के उत्तरी ध्रुव पर दाँई हथेली और दक्षिणी ध्रुव पर बाई हथेली रखनी चाहिए।
- यकृत, प्लीहा, पेट तथा आँतों की पीड़ा में चुम्बक के उत्तरी ध्रुव पर दाई हथेली और दक्षिणी ध्रुव पर बाँया पाँव रखना चाहिए।
- शरीर के बाँयी ओर की पीड़ा, लकवा, पोलियो, कमजोरी में चुम्बक के उत्तरी-ध्रुव पर बाँयीं हथेली और दक्षिणी ध्रुव पर बाँया पाँव रखना चाहिए।
- दाँयी ओर की पीड़ा जैसे पोलियों में चुम्बक के उत्तरी ध्रुव पर दाँयी हथेली और दक्षिणी ध्रुव पर दाँया पाँव।
- शरीर के निचले भागों में दर्द, पैर एवं घुटनों में कम्पन गठिया में चुम्बक के उत्तरी ध्रुव पर दाँया तलवा और दक्षिणी ध्रुव पर बाँया तलवा रखना चाहिए।

चुम्बक प्रयोग में सावधानियाँ

चुम्बकों से अधिक लाभ उठाने तथा किसी भी प्रकार के उपद्रव से बचने के लिए निम्न सावधानियों का पालन करना चाहिए।

१. एक ही आकार प्रकार के चुम्बक का प्रयोग शरीर के विभिन्न भागों पर नहीं करना चाहिए। जैसे शरीर के कुछ कोमल अंग, मस्तिष्क, आँख और हृदय पर अधिक शक्ति वाले चुम्बक नहीं लगाने चाहिए। कम शक्ति वाले चुम्बक कड़ी और बड़े आकार की माँसपेशियों या हड्डियों के रोगों के लिए प्रभावी नहीं होते। इसलिए चुम्बक के आकार डिजाइन और शक्ति का चुनाव रोग के पुराने होने, उसकी गंभीरता, शरीर के अवयव और रोगी के बल के अनुसार करना चाहिए।

२. उपचार लेते समय जमीन अथवा किसी लोहे की वस्तु से रोगी का संपर्क नहीं होना चाहिए। इसलिए लकड़ी की कुर्सी या पलंग का प्रयोग करना चाहिए। चुम्बकों की स्थिति इस प्रकार रहनी चाहिए कि जिससे उत्तरी ध्रुव उत्तर दिशा की ओर तथा दक्षिण ध्रुव दक्षिण दिशा की ओर रहे। इससे चुम्बक का क्षेत्र पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के समानान्तर रहेगा और चुम्बक अधिक प्रभावशाली रहेंगे।

३. सामान्यतया किसी भी रोग के लिए २४ घण्टे में एक बार चुम्बक प्रयोग उचित रहता है, लेकिन कुछ जीर्ण रोगों में २४ घण्टे में दो बार भी चुम्बकों का प्रयोग किया जा सकता है। चुम्बकों का स्थानिक एवं सार्वदेहिक प्रयोग १० मिनट से ३० मिनट तक उपयुक्त रहता है।

४. चुम्बक का प्रयोग प्रातःकालीन चर्या से निवृत होकर या शाम को रोगी की सुविधानुसार करना चाहिए।

५. चुम्बकों का प्रयोग करते समय या उसके तुरन्त बाद किसी ठण्डी खाने-पीने की चीज का सेवन नहीं करना चाहिए।

६. भोजन करने के बाद दो घण्टे तक चुम्बकीय उपचार नहीं लेना चाहिए।

७. गर्भिणी स्त्रियों पर भी शक्तिशाली चुम्बकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे कभी-कभी गर्भपात हो जाता है।

८. शक्तिशाली चुम्बकों के विरोधी ध्रुवों को एक दूसरे के संपर्क में नहीं आना जाहिए।

९. उपचार के समय शरीर से गहने या ऐसी वस्तुएँ जो चुम्बकत्व का शोषण कर लेते है हटा देना चाहिए।

१०. शक्तिशाली चुम्बक लगाने के २ घण्टे बाद नहाना नहीं चाहिए।

११. चुम्बकों को पानी का स्पर्श नहीं लेना चाहिए। शरीर के जिस भाग का उपचार करना हो, उसे पसीना रहित कर लेना चाहिए।

१२. चर्म रोगों का उपचार करते समय चुम्बकों को त्वचा के सीधें संपर्क में न रखकर बीच में पतला कपड़ा रखना चाहिए।

चुम्बक चिकित्सा के लाभ

१. चुम्बक चिकित्सा पद्धति प्राकृतिक एवं प्रत्येक आयु के लिए लाभदायक है।
२. चुम्बकत्व से रक्त संचार में सुधार आता है।
३. चुम्बक चिकित्सा साधारण और गंभीर दोनों प्रकार के रोगों में लाभकारी है।
४. चुम्बक चिकित्सा के लिए पहले से किसी तैयारी की आवश्यकता नहीं होती।
५. चुम्बक चिकित्सा में समय एवं धन की बचत होती है। इस उपचार की आदत नहीं पड़ती। यदि इसका उपयोग अचानक बंद दिया जाए, तो कोई परेशानी नहीं होती।
६. चुम्बक ताजगी, शक्ति और यौवन प्रदान करते हैं। ये शरीर में होने वाले वृद्धावस्था के परिवर्तनों की गति को मंद करते हैं।
७. चुम्बकों का प्रयोग रोगों की रोकथाम में तथा स्वस्थ मनुष्यों में चुम्बक का उपयोग करके स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए किया जाता है।

रोग और चुम्बक द्वारा चिकित्सा

१. **सिरदर्द**-सिर दर्द में बाँधने वाले हैड बैल्ट का प्रयोग करना चाहिए। यदि दर्द सिर के पिछले भाग में हो, तो पीछे वाले वाले भाग में दक्षिणी ध्रुव लगाना चाहिए। चुम्बकांकित पानी दिन में ३-४ बार पीना चाहिए।
२. **रतौंधी**-१५ मिनट तक चुम्बकीय चश्में का प्रयोग। उत्तरी ध्रुव वाले ई.एन.टी. चुम्बक को दोनों आँखों पर ५-५ मिनट तक लगाना चाहिए।
३. **कर्ण शूल**-१. कर्ण शूल में कान पर अल्प शक्ति वाले ई.एन.टी. चुम्बक के दक्षिण ध्रुव द्वारा और केवल बहरापन हो, तो चुम्बक के उत्तर ध्रुव द्वारा १५-२० मिनट तक दिन में २-३ बार उपचार लेना चाहिए। २. यदि दोनों कानों में दर्द हो, तो उत्तरी ध्रुव वाला चुम्बक दाँये कान पर तथा दक्षिणी ध्रुव वाला चुम्बक बाँए कान पर लगाना चाहिए।
४. **गलगण्ड**-गलगण्ड में थायराइड ग्रन्थि पर कम शक्ति वाला चुम्बकों का सीधा प्रयोग करना चाहिए। उत्तरी ध्रुव वाला चुम्बक दाँये तथा दक्षिणी ध्रुव वाला चुम्बक बाँये तरफ लगाना चाहिए।
५. **टान्सिलाइटिस**-कम शक्ति वाले चुम्बकों को गले के बाहर टाँसिलों के ऊपर लगाना चाहिए। उत्तरी ध्रुव दाँई तरफ तथा दक्षिणी ध्रुव बाँई तरफ लगाना चाहिए। उत्तरी ध्रुव से प्राप्त जल का गरारा करना चाहिए।
६. **कंधे का दर्द**-कंधे के दर्द में दोनों कंधों पर चुम्बक १०-१५ मिनट लगाते है। कंधे के आगे की ओर दक्षिण ध्रुव और पीछे की ओर शक्तिशाली उत्तरी ध्रुव के द्वारा दिन में २-३ बार १५-२० मिनट तक उपचार लेना चाहिए।

एक्युप्रेशर

एक्युप्रेशर मूल रूप से दो शब्दों से बना हैं Acu + Pressure। Acu का अर्थ है तीक्ष्ण अथवा तेज, Pressure का अर्थ है दबाव, अर्थात निश्चित जगह पर तीक्ष्ण अथवा तेज दबाव देकर चिकित्सा करने की विधि को एक्युप्रेशर कहते है। एक्युप्रेशर एक ऐसी उपचार पद्धति है, जिसमें बिना किसी यंत्र अथवा मशीन के केवल पीड़ित अथवा रोगग्रस्त अंग की जाँच मात्र प्रेशर प्वाइंट द्वारा की जा सकती है एवं उस अंग को कार्यशील एवं रोगमुक्त किया जा सकता है।

एक्युप्रेशर का प्रमुख आधार दबाव के साथ मालिश करना है। आचार्य चरक के अनुसार दबाव के साथ मालिश करने को अभ्यंग तथा इससे रक्त संचरण ठीक होता है तथा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अभ्यंग से शरीर सुन्दर, सुदृढ़ त्वचा, कोमल एवं चिकनी हो जाती है। शरीर में श्रम तथा कष्ट सहने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। अभ्यंग से कफ एवं वात के द्वारा उत्पन्न होने वाले विकार शान्त हो जाते है। रसादि सप्त धातुओं को पुष्ट करता है त्वचा की शुद्धि एवं बल वर्ण को प्रकाशित करता है।

एक्युप्रेशर प्रकृति प्रदत्त उपचार पद्धति है। हमारे ऋषि-मुनि और गृहस्थ इसका उपयोग आदिकाल से ही करते रहे हैं। सर्वप्रथम प्रयोग कब हुआ, इसका ठीक-ठीक समय की गणना नहीं की जा सकती। सुश्रुत संहिता में इस विद्या का उल्लेख है। लगभग ३००० वर्ष पूर्व इस पद्धति का भारत में प्रचलन था। इस सहज निःशुल्क अहिंसक पद्धति के प्रचार एवं अध्ययन द्वारा विश्व को आरोग्य प्रदान किया जा सकता है इससे विशेष रूप से अनेक विकासशील एवं निर्धन देशों की समस्या सरलता से हल की जा सकती है। यह सर्वविदित तथ्य है कि यदि हम अपने आहार-विहार, दिनचर्या और ऋतुचर्या एवं इनके आधारभूत नियमों का पालन नहीं करते हैं तो शरीरस्थ दोष प्रकुपित हो जाते है, ये प्रकुपित दोप हमारे शरीर की धातुओं को दूषित करके अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

एक्युप्रेशर का उपयोग मनुष्य जाति के उद्भव के साथ ही जुड़ा हुआ है। मनुष्य का विभिन्न आसनों में बैठना, खड़ा होना आदि इस चिकित्सा पद्धति का आधार रहा है। यदि शरीर के किसी अंग पर अनिश्चित काल के लिए या किसी अंग पर कितना दबाव डाले, इसको बिना जाने अनवरत दबाव डालते रहे, तो उससे रोगोत्पत्ति भी हो सकती है। जैसे सिर पर बोझा ढोने वाले या कमर पर भारी वजन रखकर ढोने वालों को कमर, गर्दन का दर्द होना, स्पान्डिलाइटिस आदि का होना। लेकिन यदि हम एक निश्चित समय में निश्चित दबाव को एक नियत स्थान पर बनाते हैं, तो वह न केवल शरीर को ऊर्जावान, कार्यसक्षम तथा शरीर का संपूर्ण विकास करता है, बल्कि यदि शरीर रोगग्रस्त हो, तो उससे रोगमुक्त करने में सहायक भी होता है। आयुर्वेद में वात रोगों की चिकित्सा में पंचकर्म

का प्रयोग करने से पूर्व कर्म में बाह्य स्नेहन हेतु अभ्यंग का उपयोग करते हैं। मेदोरोग में स्नेहरहित अभ्यंग कर्षण करने हेतु प्रयोग करते है।

आज भी अनेक आभूषणों और वस्त्रों का उपयोग गृहकार्य एवं श्रम कार्यों में एक्युप्रेशर जुड़ा हुआ है, नारी को आभूषणों से सदैव लगाव रहा है, जिस समय धातुओं की खोज नहीं हुई थी, उस समय में गहने जानवरों की हड्डियों एवं हाथी दाँत से बनाये जाते थे। धीर-धीरे रंगीन पत्थरो से गहने बनाये जाने लगे। उसके बाद सोना चाँदी व ताँबे का उपयोग आभूषणों में होने लगा। लगभग ५-६ हजार वर्ष पूर्व आभूषणों का प्रयोग मिश्र में हुआ। आज भी मिश्र के पिरामिडों में मृतशवों पर गहनों के चिन्ह दृष्टिगोचर होते है। सिन्धु घाटी की सभ्यता का काल भी आज से ५-६ हजार वर्ष पूर्व का है। उस समय भुजवन्ध, करधनी, कड़े का प्रयोग नारियाँ करती थीं। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की खुदाई में अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति में पार्वती भुजवन्द से सुशोभित होती प्रकट होती है। यदि आभूषणों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाये, तो मंगलसूत्र, हाथ में कड़ा, करधनी, चूडियाँ, पायल, बिछिया आदि इन सबका एक्युप्रेशर चिकित्सा में विशेष महत्त्व है। ये आभूषण शरीर के विभिन्न अंगों में दबाव डालते हैं, जिससे ये अंग सक्रिय एवं रोगरहित बने रहते हैं। जैसे जहाँ कर्ण छेदन किया जाता है, वह स्मरण शक्ति एवं अनिद्रा का प्रतिबिम्ब केन्द्र है। पायजेब कूल्हें, कमर एवं पैर के विकारों पर नियन्त्रण करता है, एक्युप्रेशर चिकित्सा में सर्वप्रथम सम्बन्धित रोगी के पैरों को चिकित्सा हेतु तैयार किया जाता है। पैरों में ही वे समस्त बिन्दु है, जो शरीर के प्रत्येक अवयव से सम्बन्धित है।

विधि

१. हल्के दबाव में नाजुक जगहों पर सिर्फ एक अंगुली या अंगूठे से हल्का दबाव देते है।
२. सामान्य दबाव में अंगूठे अथवा उपकरण द्वारा रोगी के सहन करने योग्य दबाव देते है।
३. दोनों अंगुलियों अंगूठे के दबाव में एक अंगुली के ऊपर दूसरी अंगूली रखकर तथा एक अंगूठे के ऊपर दूसरा अंगूठा रखकर दबाव देते है।
४. पूरी हथेली से दबाव देना।
५. एक हथेली के ऊपर दूसरी हथेली रखकर दबाव देना।
६. पूरे शरीर का दबाव - दोनों हथेलियों द्वारा पूरे शरीर का दबाव लगाने को कहते है।

एक्युप्रेशर चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले कुछ प्रमुख उपकरण है। जैसे पिरामिड प्लेट, एनर्जी रोलर, स्पाइन रोलर, फुट रोलर, पिरामिड रोलर, एक्युप्रेशर मसाजर, वंडर रोल, पावर एक्सरसाइजर आदि है।

चिकित्सा सिद्धान्त

हमारा शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंचमहाभूतों से निर्मित है। इसका संचालन हमारे शरीर में स्थित प्राण शक्ति अर्थात चेतना से होता है। चेतना के इस प्रवाह की रेखाएँ हमारे शरीर में चौदह मेरीडियन के रूप में और इनके निकट अनेक दाब बिन्दु स्थित है, जिनमें ३६१ दाब बिन्दु, प्रमुख है। शरीर में प्रवाहित होने वाले जैव विद्युत के केन्द्र पैर व हाथ के तलुवों में ७,२०० स्नायु के सिर स्थित है। एक्युप्रेशर पद्धति के सिद्धान्त के अनुसार शरीर के किसी अवयव में रक्त परिवहन या स्नायु तंत्र में अवरोध या हथेली व पैर में स्थित स्नायु तंत्र से सम्बन्धित अंग के अन्तिम छोर पर उपस्थित अपद्रव्य या क्रिस्टल जमा होता है। इनको दूर करने के लिए हथेली एवं पैर के रिफ्लैक्स बिन्दुओं पर दबाव डालकर जैसे यें उपद्रव्य या क्रिस्टल दूर होते है, वैसे रोग का निवारण होता जाता है। इस चिकित्सा पद्धति में शरीर को दस हिस्सों में बाँटा जाना जोनोलोजी कहलाता है। शरीर के निश्चित जोन में दबाव देकर रोग से राहत पाना जोन थिरेपी के अन्तर्गत आता है। बाँये हाथ की अंगुलियों पर दाब शरीर के बाँये अंग के उपचार व दाँहिने हाथ की अंगुलियों पर दाव दाँहिने अंग के उपचार के लिये देते है। हाथ की हथेलियों से जब रोगों की जाँच व चिकित्सा की जाती है, तो उसे हैण्ड रिफ्लेक्सोलाजी कहते है। जब रोग की पहचान व उपचार पैर के तलवों द्वारा किया जाता है, तो पद्धति को फुट रिफ्लेक्सोलॉजी कहते हैं। शरीर में स्थित दाब बिन्दुओं के माध्यम से जब उपचार किया जाता है, तब इसे शिआत्सु कहते हैं। शिआत्सु जापानी भाषा का शब्द है, जो दो अक्षरों से मिलकर बना है। 'शि' का अर्थ अंगुली और 'आत्सु' का अर्थ है दबाव।

रोग परीक्षा

सबसे पहले रोग की पहचान की जाती है। परीक्षण के लिए एक यंत्र का उपयोग करते हैं, जिसे जिमी कहते हैं। यह जिमी धातु या प्लास्टिक की बनी होती है जिसके दोनों सिरे गोल होते हैं। जिमी के स्थान पर गोल सिरे वाली पेन, पैन्सिल, अंगूठा, अंगुली आदि का प्रयोग भी किया जा सकता है। जिमी को पाँव के तलवे या हथेली या पर हल्के दबाव से धीरे-धीरे घुमाते हैं। रोगी को हथेली या पाँव के तलवे के जिस हिस्से को दबाने पर पीड़ा की अनुभूति होती है। उस स्थान से सम्बन्धित अवयव में उपस्थित विकार का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार परीक्षण करने के बाद अस्वस्थ अंगों एवं रोगों का पंजीकरण कर लेते हैं। पाँव के तलवे के जिस हिस्से को दबाने पर पीड़ा की अनुभूति होती है, उस स्थान से सम्बन्धित अवयव में उपस्थित विकार का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार परीक्षण करने के बाद अस्वस्थ अंगों एवं रोगों का पंजीकरण कर लेते हैं। उपचार के अन्तर्गत निर्दिष्ट पाँव के तलवे या हथेली और शरीर के दाब बिन्दुओं पर निश्चित समय के लिए निश्चित

दबाव चिकित्सक द्वारा अंगूठे हथेली या जिमी या अन्य विधि से करते है। यह दबाव रक्तसंचार को नियमित करके शरीर में स्फूर्ति एवं चेतना प्रदान करता है। इसका मुख्य नियम है रोग व अवयव को अधिक महत्व न देकर जहाँ पीड़ा हो, उस विन्दु पर उपचार देना चाहिए।

डिप्रैशन की अवस्था में पैर के अंगूठे एवं उंगलियों के अग्र भाग एवं तलुए के मध्य भाग में दवाने से लाभ मिलता है। चिन्ता की स्थिति में पैर के अंगूठे के मध्य भाग तथा अंगूठे के नीचे तलवे पर दवाव देने से लाभ मिलता है। हिस्टीरिया में हाथों एवं पैरों की उंगलियों के आगे के हिस्से में दबाव देते है। अनिद्रा में पैरों तथा हाथों के केन्द्र बिन्दुओं पर तथा गर्दन के दोनों ओर रीढ़ की हड्डी से दूर ऊपर से नीचे की ओर तीन बार दबाव देते हैं। सिरदर्द, एवं माइग्रेन की स्थिति में हाथों एवं पैरों के केन्द्र विन्दुओं, गर्दन के पीछे की तरफ एवं रीढ़ की हड्डी से दोनो तरफ अंगूठे से दबाव देते है। घुटने के पीछे मध्य में तथा पिंडलियों पर दबाव देने से शियाटिका पैरों एवं एड़ियों का दर्द शीघ्र ठीक हो जाता है। यकृत पित्ताशय के विकारों में दायें पैर के तलवे में अंगूठे से प्रेशर देते हैं।

एक्यूपंक्चर

एक्यूपंचर पारम्परिक चाइनीज चिकित्सा पद्धति है। इस चिकित्सा पद्धति में शरीर की बाह्य त्वचा में स्थित निश्चित एक्यूपंक्चर बिन्दुओं पर सुई लगाकर विभिन्न नये और पुराने रोगों की चिकित्सा की जाती है। एक्यूपंक्चर शब्द लैटिन भाषा से लिया गया है। एक्यूस का अर्थ सुई और पंगूई का अर्थ वेधना है। एक्यूपंचर चिकित्सा पद्धति को दो भागों में विभाजित किया जाता है, जिसमें एक्यूपंक्चर बिन्दुओं को सुई से या गर्मी देकर उत्तेजित करके विभिन्न रोगों की चिकित्सा की जाती है। सुई द्वारा बिन्दुओं को उत्तेजित करने के लिए सुई को हाथ से या इलैक्ट्रानिक उपकरण की सहायता से उत्तेजित किया जाता है।

इन एक्यूपंक्चर बिन्दुओं के समान आयुर्वेद में भी कुछ मर्मो का वर्णन मिलता है। मर्म शब्द का वर्णन सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है। वैदिक काल में राजाओं एवं योद्धाओं को मर्मो का ज्ञान था। इन मर्मों पर आघात के द्वारा युद्ध के क्षेत्र में शत्रु को नुकसान पहुँचाया जाता था। इससे प्रतीत होता है कि इस विज्ञान का प्रयोग युद्ध औषध एवं शल्य चिकित्सा में होता था। शल्य चिकित्सा करते समय इन मर्मो को बचाते हुए शल्य कर्म करना चाहिए। आचार्य अग्निवेश ने (३००० बी.सी.), सुश्रुत ने (२००० बी.सी.) १०७ मर्मों का वर्णन किया। आचार्य चरक ने १०७ मर्म स्थलों गिनाते हुए शिर, हृदय एवं वस्ति को चिकित्सा एवं जीवन के लिए महत्वपूर्ण बताया। आचार्य वागभट ने (५१५० ए.डी.) अष्टांग हृदय शारीर स्थान में १०७ मर्मों का वर्णन किया। मर्मों को प्राण का स्थान कहा है। यदि वातादि दोष·दूषित हो या बाह्य अभिघात इन बिन्दुओं पर होता है, तब अनेक प्रकार के विकार, मृत्यु या मृत्यु के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

मर्म पाँच प्रकार के हैं-

१.	सद्यःप्राणहर मर्म	-	१६ आग्नेय, आघात या विद्ध से तुरन्त मृत्यु।
२.	कालान्तर प्राणहर मर्म	-	३३ आप्य, आघात या विद्ध से कुछ समय बाद मृत्यु।
३.	विशल्यघ्न मर्म	-	३ वायवीय, शल्य निकालते ही मृत्यु।
४.	वैकल्यकर मर्म	-	४४ आप्य, जल की कमी के कारण विकार।
५.	रूजाकर मर्म	-	८ आग्नेय वायवीय, पीड़ा।

रचना भेद से भी मर्म पाँच प्रकार के होते हैं -

१. मांस मर्म (११), २. सिरा मर्म (२४), ३. स्नायु मर्म (२७), ४. अस्थि मर्म (८), ५. सन्धि मर्म (२०)

आचार्य वाग्भट्ट ने इसके अतिरिक्त धमनी मर्म का भी वर्णन किया है। आयुर्वेद में वर्णित अनेक मर्मों की एक्यूपंक्चर बिन्दुओं से साम्यता मिलती है। जैसे-एरहमैन यिफैंग बिन्दु को विधुर मर्म, ताई-यांग को शेख मर्म, जुसैनली को जानु मर्म, चैंगशैन को इन्द्रबस्ति मर्म, नीटिंग को कूर्च मर्म, शिंगच्येन को क्षिप्र मर्म का क्षेत्र है।

आज भी दुनिया के विभिन्न भागों में एक्यूपंक्चर से मिलती जुलती चिकित्सा पद्धतियाँ देखने को मिलती है। जैसे कनाडा के उत्तरी भाग में ऐक्सीमों अपने रोगियों की चिकित्सा के लिये धारदार पत्थरों का उपयोग करते हैं। भारत में भी कुछ पारम्परिक चिकित्सक कानों के कुछ निश्चित स्थानों में छेदकर दमा और मिर्गी की चिकित्सा करते हैं। प्राचीन चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद में वर्णित कर्णवेधन विधियों का उपयोग करके भी आजकल विभिन्न रोगों की चिकित्सा का उदाहरण भारतवर्ष में मिलता है। इसके अतिरिक्त बहुत सी भारतीय परम्परायें कमर में करधनी पहनना, बदन गुदवाना, कान में छेदकर धातु के छल्ले पहनना, नंगे पैर चलने आदि का प्रचलन आदिकाल से रहा है। जिनका शरीर के स्वास्थ्य से विशेष सम्बन्ध है क्योंकि इनके द्वारा शरीर के क्रियाशील बिन्दु उत्तेजित होते हैं।

एक्यूपंक्चर करीब तीन हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी प्राचीन पारम्परिक चिकित्सा पद्धति है। प्राचीन समय में चीन में एक सम्राट् को जब पता चला कि उनके एक सैनिक को युद्ध मे पैर में तीर से घाव होने पर उस सैनिक के वर्षों पुराने घाव ठीक हो गये, तो सम्राट ने उसी प्रकार के रोग से ग्रसित रोगी के पैर में उसी स्थान पर घाव करवाकर देखा कि इस रोगी के रोग भी सैनिक के रोग की तरह ठीक हो गये हैं।

घटना के बाद सम्राट् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य के शरीर के बाह्य स्तर पर

अन्य कई बिन्दु होंगे, जिनका मनुष्य के विभिन्न रोगों से सम्बन्ध है। इस सम्राट् ने एक पुस्तक 'दी यैलो एम्परर क्लासिकल मेडिसिन' भी लिखी। इन पुस्तक का नाम हूआंग डी नी जिंग है। इस पुस्तक में दो भाग हैं प्रथम भाग में शीर्षक 'सू चेन' पारम्परिक चाइनीज चिकित्सा पद्धति के सिद्धान्तों का वर्णन है और दूसरे भाग के 'लिंग-शू' शीर्षक में एक अध्याय है, जिसमें एक्यूपंक्चर का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह पुस्तक बीजिंग २६९७-२५९६ ई.पू. के मध्य लिखी गयी थी। हुँआंग डी को ही एक्यूपंक्चर का जन्मदाता माना चाता है। इन्होंने ही चाइनीज मेडिसिन को व्यवस्थित कर प्रस्तुत किया।

प्राचीन काल में धातु के आविष्कार से पूर्व मनुष्य नुकीले तेज धार वाले पत्थरों का प्रयोग एक्यूपंक्चर चिकित्सा हेतु करते थे। इस विधि को चीनी भाषा में बियेन कहते हैं। बाद में पत्थरों की सुईयों का स्थान बाँस और अस्थि की सुईयों ने लिया। शाँग वंश में (१६-११ शताब्दी ई.पू.) जब कांस्य धातु का आविष्कार हुआ, उसके बाद से लोहा, ताँबा, चाँदी, सेना आदि धातु की सुईयों का उपयोग एक्यूपंक्चर चिकित्सा में किया जाने लगा।

सन् २५६-२४० के बीच छिन वंश के समय एक्यूपंक्चर पद्धति में काफी उन्नति हुई। इसी काल में एक्यूपंक्चर पर एक पुस्तक 'चैन चियू चिया मी शिंग' लिखी गयी थी। इस पुस्तक में ६४० एक्यूपंक्चर बिन्दुओं का वर्णन किया गया है। लगभग १००० वर्ष तक चीन में इस पुस्तक के आधार पर एक्यूपंक्चर का प्रयोग चलता रहा। इसके बाद ताँग वंश (सन् ६१८-९०७) के समय चीन के इम्पीरियल मेडिकल कॉलेज में एक एक्यूपंक्चर विभाग की स्थापना की गई। सन् ९६० और १२९७ के बीच एक्यूपंक्चर को संशोधित करके प्रस्तुत किया गया। सन् १२६० में पीतल की दो मानव मूर्तियों का निर्माण किया गया। जिनमें एक्यूपंक्चर के बिन्दुओं को स्पष्ट अंकित किया गया था। इसके पश्चात् मिंग वंश (सन् १३६८-१६४४) में एक्यूपंक्चर के ज्ञान को पुनः संकलित करके 'चैन चियू ता चेंग' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की गई। सन् १६४४ में मिंग वंश का अन्त होने पर चिंग वंश का राज्य आया। इसके प्रशासन ने सन् १८२२ में एक्यूपंक्चर पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह प्रतिबन्ध लगभग १०० साल तक रहा।

सन् १९२९ के कूओमितांग प्रशासन ने भी पारम्परिक चीनी चिकित्साओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया। परन्तु इस समय तक एक्यूपंक्चर काफी लोकप्रिय हो चुका था अतः इस समय इसके विकास में कोई रुकावट नहीं आई। इसके बाद चीन में स्वतन्त्रता के लिए युद्ध हुआ, जिसमें पिपुल्स लिब्रेशन आर्मी के कार्यकर्ताओं ने रोगी सैनिकों की चिकित्सा में एक्यूपंक्चर का प्रयोग किया। सन् १९४९ में चीन गणराज्य की स्थापना होने पर याओत्से तुग ने एक्यूपंक्चर को विकसित करने के लिये चीन गणराज्य के बड़े-बड़े शहरों में एक्यूपंक्चर के अनुसन्धान केन्द्र खोले। इसके बाद १९५८ में माओं सरकार के प्रयास से एक्यूपंक्चर की विभिन्न विधियाँ प्रकाश में आयी। जैसे चेहरे, हाथ, कान, नाक के

एक्यूपंक्चर प्वाइंटस, निश्चित एक्यूपंक्चर बिन्दुओं में आसतु जल का इन्जेक्शन लगाना, प्वाइंट डिटेक्टर उपकरण भिन्न-भिन्न प्रकार की सुईयाँ आदि। इसी वर्ष एक्यूपंक्चर का प्रयोग शल्य चिकित्सा में एक्यूपंक्चर एनस्थिसिया के रूप में आरम्भ हुआ। इसी समय एक्यूपंक्चर के समरूप एक अन्य चिकित्सा विधि प्रकाश में आयी, जिसे एक्यूप्रैशन कहते हैं। इस विधि में पैर के तलवे और शरीर पर स्थित बिन्दुओं पर हाथ से दबाव डालकर रोगियों की चिकित्सा करते हैं। सन् १६७० से चीन गणराज्य में एक्यूपंक्चर शिक्षा विदेशियों के लिए भी प्रारम्भ कर दी है। सर्वप्रथम एक्यूपंक्चर चीन से फ्राँस 'दि मेडिसिन आफ चायना' नामक पुस्तक का प्रकाशन फ्राँस में हुआ था। अब तक लैटिन अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, इग्लैंड, स्वीट्जरलैण्ड, इटली, भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, दक्षिण अफ्रिका, कोरिया देशों में एक्यूपंक्चर लोकप्रिय हो चुका है।

माओसे तुंग के बाद एक्यूपंक्चर के वैज्ञानिक रूप को प्रकाशित करने के लिए १६७६ में एक्यूपंक्चर और मौक्सीबसन पर एक प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सिम्पोजियम का आयोजन पेचिंग में किया गया। इसके विकास के लिए एकैडमी ऑफ ट्रेडिशनल मेडिसिन, चाइनीज मेडिसिन और शंघाई इन्स्टीट्यूट ऑफ फिजीओलोजी आदि नये वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्र खोले गये हैं। हाल ही में विश्व स्वास्थ संगठन ने एक्यूपंक्चर को मान्यता दी है। १६८२ में मनीला में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने एक बैठक का आयोजन किया, जिसमें अनेक देशों ने भाग लिया और एक अन्तर्राष्ट्रीय नामकरण पद्धति का विकास हुआ। इस पद्धति के आधार पर उठा बिन्दुओं के नाम विश्व स्वास्थ्य संगठन ने प्रकाशित किये है।

सिद्धान्त

जीवन उर्जा को चाइनीज भाषा में ची कहते है। यह शरीर की सभी क्रियाओं का नियन्त्रण करती है। आयुर्वेद में इसे प्राण वायु कहते है। इसी के द्वारा शरीर की सारी क्रियाएं सुचारु रूप से चलती है।

पति-पत्नी का नियम

बाँयी नाड़ी पति तथा दाँयी नाड़ी पत्नी का प्रतिनिधित्व करती है। बाँयी कलाई की नाड़ी दाँयी कलाई की नाड़ी से अधिक प्रबल है। पति से सम्बन्धित अंग हृदय, यकृत, वृक्क, छोटी आँत, पित्ताशय, मूत्राशय तथा पत्नी से सम्बन्धित अंग फेफड़े, प्लीहा, हृदयवारण, बड़ी आँत है।

माँ और बेटे का नियम

जब प्राण उर्जा एक मेरीडियन से होते हुए दूसरे मेरीडियन में जाती है, तब पहला मेरीडियन अपने बाद वाले पुत्र मेरीडियन की माँ कहलाता है। माँ अपने बच्चे का पोषण

करती है, प्राण उर्जा माँ वेटे के क्रम में आर्गेन थियोरी के अनुसार क्रमानुसार सदा बहती रहती है। इस नियम के अनुसार यदि प्राण उर्जा 'ची' की कमी है, तो पुत्र चैनल में माँ प्वाइन्ट को उत्तेजित करके 'ची' की कमी को पूरा किया जा सकता है।

आर्गेन क्लाक थियोरी

इस सिद्धान्त के अनुसार जीवन उर्जा निश्चित समय में क्रमानुसार १२ चैनलों में बहती रहती है। जिस अंग में उर्जा जिस समय अधिक रहती है, यदि उस अंग की चिकित्सा उसी समय की जाये, तो अच्छे परिणाम मिलते हैं।

पंच तत्वों का सिद्धान्त

चाइनीज चिकित्सा पद्धति में सम्पूर्ण सृष्टि को पाँच तत्वों में बाँटा है लकड़ी, अग्नि, मिट्टी, जल, धातु। ये पंच तत्व आपस में क्रियाशील है। 'आयुर्वेद' में पंच तत्वों को पंचमहाभूत की संज्ञा दी है। आयुर्वेद में पंचमहाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी हैं। पंचतत्व क्रिएटिव एवं डेस्ट्रक्टिव दो साइकिलों में आपस में क्रियाशील है। क्रिएटिव साइकिल के अनुसार लकड़ी के जलने से अग्नि उत्पन्न होती है। अग्नि के बचे भाग राख से मिट्टी उत्पन्न होती है। मिट्टी से धातु और धातु से पानी उत्पन्न होता है। पानी वनस्पति को पोषण करता है, जिससे लकड़ी उत्पन्न होती है। डेस्ट्रक्टिव साइकिल के अनुसार अग्नि धातु को पिघलाकर नष्ट करती है, धातु लकड़ी को काटकर नष्ट करती है। लकड़ी जमीन को ढककर नष्ट करती है और मिट्टी पानी को बाँधकर रखती है। चिकित्सा करते समय यह ध्यान रखते है कि रोगी किस अवस्था में है। रोग नया है तब डेस्ट्रक्टिव साइकिल का तथा पुराने रोगों में क्रिएटिव साइकिल का उपयोग किया जाता है।

यिन-यांग थियोरी

इस थियोरी के अनुसार यिन और यांग दो परस्पर विपरीत शक्तियाँ हैं, जो शरीर में हमेशा क्रियाशील रहती है। यिन में ऋणात्मक और यांग में धनात्मक आवेश होता है। सामान्य अवस्था में यिन-याँग सन्तुलित रहते हैं। असन्तुलन की अवस्था में विकारोत्पत्ति होती है।

१. **यिन के लक्षण**-ठोस अंग, चाँद, स्त्री, रात, टयूबरकलोसिस, पुराने रोग, हृदय गति का धीमा चलना, ऋणावेश।
२. **याँग के लक्षण**-खोखले अंग, सूर्य, दिन, पुरुष, न्यूमोनिया, हृदय गति का बढ़ना, गर्मी, धनात्मक आवेश।

एक्यूपंक्चर बिन्दु

इन्हें तीन भागों में बाँटा गया है-

१. **मेरीडियन प्वाइन्टस**-ये बिन्दु १४ क्लासिकल मेरीडियनों में पाये जाते है।

२. **एक्स्ट्रा मेरीडियन प्वाइंटस**-ये बिन्दु मेरीडियन से बाहर नाक, कान, हाथ, सिर, शरीर के अग्र एवं पृष्ठ भाग में पाये जाते है।

३. **मुख्य प्वाइंटस**-अलार्म बिन्दु। ये बिन्दु अपने से सम्बन्धित अंगों के रोग में अपने आप स्पर्श करने से दर्द करने लगते है। जैसे एल-१ फेफड़े के शरीर के अग्र भाग तथा पृष्ठ भाग पर १२-१२ अलार्म बिन्दु होते है। जी-क्लेफ्ट बिन्दु का उपयोग आन्तरिक अंगों के नये उग्र रोगों में किया जाता है। १२ जोड़े मेरीडियनों में प्रत्येक में एक-एक जी-क्लेफ्ट बिन्दु पाया जाता है। जिंग वेल बिन्दुओं का प्रयोग उग्र आपातकालीन अवस्थाओं में किया जाता है। ये बिन्दु हाथ और पैर की अंगुलियों के अन्तिम भाग में स्थित होते है। इन बिन्दुओं को हाथ से उत्तेजित किया जाता है।

एन्फ्लूएन्सियल बिन्दु आठ होते है। डिस्टल बिन्दु कोहनी एवं जानु सन्धि से नीचे पाये जाते है। इनका उपयोग शरीर के ऊपरी भागों में किया जाता है। जैसे हाथ में स्थित एलआई-४ का प्रभाव चेहरे पर पड़ता है। कुल ६ डिस्टल बिन्दु तीन बिन्दु हाथ तथा तीन बिन्दु पैरों में स्थित होते है।

एक्यूपंक्चर बिन्दु की स्थिति ज्ञात करने के लिए लम्बाई नापने की बेसिक यूनिट को 'चून' कहते है। यह विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न लम्बाई का होता है। मध्यम अंगुली को थोड़ा सा आगे को मोड़ने पर दोनों जोड़ के मध्य की दूरी एक 'चून' होती है।

एक्यूपंक्चर में प्रयोग होने वाली सुईयाँ विभिन्न आकृति और लम्बाई सोना, चाँदी, ताँबा, स्टील आदि धातु की बनी होती है। सुई लगाने के लिए दाहिने हाथ का अंगूठे और तर्जनी अंगुली के बीच सुई को मजबूती से पकड़कर लम्बवत, तिरछी एवं क्षैतिज अवस्था में सुई १५-३० मिनट तक लगाकर निकालनी चाहिए। सुई द्वारा बिन्दुओं को तीन प्रकार से उत्तेजित कर सकते है -

१. **उठाना और बेधना**-सुई को बेधने के बाद बाये हाथ के अंगूठे और तर्जनी अंगुली के बिन्दु के पास के स्थान को दबाते हुए सुई को दाहिने हाथ से कुछ ऊपर उठाकर फिर पूर्ववत कर देते है।

२. **घुमाना**-सुई को बेधने के बाद पहले दायी ओर फिर बाँयी ओर १८०°।

३. **उठाना बेधना घुमाना**-दोनों विधियाँ साथ-साथ उपयोग में लाते है।

कुछ महत्वपूर्ण व्याधियों में प्रयुक्त होने वाले एक्यूपंक्चर प्वाइंटस :

१. **माइग्रेन**-जी.बी.-२०, जी.बी.-८, स्टो-८, एल.आई.-४, स्टो-४४, एल.आई.-११, जी.बी.-३४।

२. ट्राईजेमिनल न्यूरेल्जिया-जी.वी.-२०, जी.वी.-१४, स्टो.-८, एल.आई.-४, स्टोर-४४, एक्स-२, टी.डब्लू.-२३, एल.आई.-११।
३. आर्थराइटिस-घुटने का जोड़ स्टो-३५, एक्स-३१, यू.वी.-४०, स्ली-१०, स्टो-३६, एक्स-३२, जी.पी.-२०, स्टो-४४, एल.आई.-४।
४. कमर दर्द-जी.वी.-२, जी.वी.-३, जी.वी.-४, यू.वी.-२३, यू.वी.-२५, यू.बी.-५४, यू.वी.-३२, जी.वी.-२०, यू.वी.-४०, यू.वी.-६०, एल.आई.-४।
५. अनिद्रा-जी.वी.-२०, एक्स-८, एक्स-६, एक्स-६, यू.बी.-६२, एच-७, पी-६।

कर्ण एक्यूपंक्चर

कर्ण में स्थित विशेष बिन्दुओं के उपयोग द्वारा रोगों के निदान और चिकित्सा करने की विधि को एक्यूपंक्चर करते है। यह चीन की ३००० वर्ष से भी अधिक पुरानी पारम्परिक चिकित्सा पद्धति है। शरीर के आन्तरिक अवयवों की क्रिया का वाह्य कर्ण से सम्बन्ध होता है, क्योंकि कर्ण में पाये जाने वाले बिन्दु सम्पूर्ण शरीर के अवयवों का प्रतिनिधित्व करते है। आजकल फ्राँस, जर्मनी आदि देशों में यह पद्धति बहुत प्रचलित हो रही है। प्राचीन समय में भी कानों में आभूषण पहनने का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ रखना तथा विकारों से रक्षा करना। आजकल भी कर्णवेधन करके शियाटिका, दमा, मिर्गी, पक्षाघात आदि विकारों की चिकित्सा करते है। कर्णवेधन में स्टोमक क्षेत्र, गैस्ट्रिक अल्सर के लिए, लार्ज इन्टेस्टाइन क्षेत्र दमा के लिए, मधुमेह के लिए पैन्क्रियाज क्षेत्र, लंग क्षेत्र त्वचा रोगों में एक्यूपंक्चर का प्रयोग किया जाता है। कर्ण एक्यूपंक्चर चिकित्सा में लम्बी सुईयाँ त्वचा के नीचे तिरछी प्रयोग करते है। इस बात का ध्यान रखते हैं कि सुईयाँ कार्टिलेज का वेधन न कर दे। सुईयों को २० मिनट तक लगाते है।

स्काल्प एक्यूपंक्चर

स्काल्प एक्यूपंक्चर में सिर के ऊपर स्थित त्वचा में विशेष ढंग से सुई लगाकर चिकित्सा की जाती है। स्काल्प एक्यूपंक्चर की खोज १९६६-६९ के मध्य चीन गणराज्य के न्यूरोलोजिस्ट जिआओं शेनफा ने जी शान हास्पिटल में की थी। यह विधि स्नायु सम्बन्धि विकारों में लाभदायक है। जैसे-पार्किन्सोनिज्म, पक्षाघात, एपिलेप्सी, अल्सर, बहरापन आदि। स्काल्प एक्यूपंक्चर का सिद्धान्त है कि सेरीब्रल कार्टेक्स के निश्चित क्षेत्र शरीर के विभिन्न अंगों और फिजियोलोजिकल क्रियाओं से सम्बन्धित है। स्काल्प में भी अपनी स्थिति के अनुसार ये क्षेत्र सम्बन्धित अंगों के कार्यो का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे प्रेरक क्षेत्र, संवेदी क्षेत्र, वासोमोटर क्षेत्र, सेन्सरी मोटर क्षेत्र, आडिटरी क्षेत्र, स्पीच क्षेत्र, विजुअल क्षेत्र, स्टोमक क्षेत्र, जेनाइटल एवं हिपैटोसिस्टिक क्षेत्र। स्काल्प एक्यूपंक्चर में

बिन्दुओं को ७५ प्रतिशत एल्कोहल से साफ करके २६-२८ नम्बर की सुईयों का प्रयोग ४५° पर करके १० मिनट ऐसे ही छोड़कर बाद में हाथ या स्टीमुलेटर से स्टीमुलेट करते है।

एक्यूपंक्चर एनेस्थिसिया

एक्यूपंक्चर एनेस्थिसिया का अविष्कार चीन में सन् १६५८ में हुआ था। इसके द्वारा बिना बेहोश किये रोगों का आपरेशन करना सम्भव है। यह बहुत ही सुरक्षित है। इसमें शरीर के अवयवों के कार्यों में कोई रुकावट उत्पन्न नहीं होती। इसमें औषधि का प्रयोग न होने से औषधि के दुष्प्रभाव का भी डर नहीं होता है। रक्तस्राव कम होता है आपरेशन के समय रोगी को पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। इसमें बिन्दु उसी अंग से लेते है, जो चैनल रोग वाले अंग को जाता है। जैसे एल.आई.-४ चेहरे के आपरेशन के लिए, एल. आई.-४, स्टोमक-४४ बिन्दु दर्द निवारण के लिए प्रयोग करते है। एल आई-१८ थायराइड के लिये जी.वी.-२०, जी.वी.-४ पेट के आपरेशन से २०-३० मिनट पहले बिन्दुओं को हाथ से या इलैक्ट्रीकल पल्स स्टीमुलैटर से स्टीमुलेट करते है।

एक्यूपंक्चर का निषेध

१. गर्भावस्था में प्रारम्भ और अन्त के तीन माह।
२. खाली पेट एवं भोजन करने के तुरन्त बाद।
३. कैन्सर।
४. रक्तस्राव, आँतों का ऐठ जाना।
५. मदिरा सेवन के बाद, मैथुन के तुरन्त बाद।
६. मानसिक उत्तेजना को ध्यान में रखकर।

एक्यूपंक्चर के उपद्रव

१. सूई का जकड़ना
२. रक्तस्राव
३. सूई का मुड़ना एवं टूटना
४. मूर्च्छा आना
५. संक्रमण
६. आन्तरिक अंगों में आघात
७. गर्भपात या समय से पहले प्रसव

रेकी

सृष्टि की उत्पत्ति, तत्पश्चात् चेतन द्रव्य काल के व्यतीत होने पर विभिन्न योनियों में विचरता हुआ अन्ततः मनुष्य योनि को प्राप्त हुआ। जब से जीव की (पंच भौतिक शरीर)

सत्ता इस धारा पर हुई है, वह किसी न किसी दुःख (विकार या योग) से सदैव आतंकित रहा है। इस आतंक या व्याधि के समूल नाश हेतु वह सदैव प्रयत्नशील रहा है। जिसके परिणाम स्वरूप विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों का विकास हुआ। इन चिकित्सा पद्धतियों के काफी विकसित होने के पश्चात् भी कोई चिकित्सा पद्धति स्वयं में सम्पूर्ण व्याधियों के समूल नाश में सक्षम नहीं है। फिर भी समस्त चिकित्सा पद्धतियों का सुव्यवस्थित अध्ययन कर रोगो को उत्पन्न होने से रोक या नष्ट किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों में से एक महत्वपूर्ण चिकित्सा पद्धति "रेकी" है।

हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्ष के ऋषि मुनियों ने आत्मा, सत्व, उर्जा एवं भौतिक पदार्थों को अत्यन्त गूढ अध्ययन व चिन्तन किया था तथा इस ज्ञान का उपयोग शरीर में उत्पन्न होने वाले विभिन्न विकारों के निवारण हेतु किया। उस समय से यह विद्या धार्मिक गुरुओं, पुजारी तथा वैद्यों के पास सुरक्षित रही तथा अपने शिष्यों को मौखिक रूप में तथा कालान्तर में ताड़पत्र आदि पाण्डुलिपियों के माध्यम से यह ज्ञान हस्तान्तरित हुआ। धीरे-धीरे यह विद्या लुप्त हो गई। १८वीं सदी के अन्त में डॉ. मिकाओं उशुई ने इस लुप्त विद्या "रेकी" का पुनः पता लगया।

वास्तव में रेकी ध्यानावस्था द्वारा स्वयं शरीरान्तर्गत जैविक उर्जा को सबल बनाकर रोगोचार हेतु प्रयुक्त करते है साथ ही साथ इस उर्जा द्वारा रोगी को विभिन्न स्थितियों में ध्यानावस्थित भी किया जाता है। रेकी शब्द का निर्माण दो शब्दों से हुआ हैः- प्रथम-"रे" (Rei) तथा द्वितीय "की" (Ki)।

"रे" का शाब्दिक अर्थ होता है "सार्वभौम या ब्रह्माण्ड जीवन" (Universal Life) तथा "की" का शाब्दिक अर्थ है उर्जा (Energy)। "की" का अर्थ संस्कृत शब्द "प्राण" तथा चाइनीज शब्द "ची" के समानार्थक होता है। अर्थात् "रेकी" ब्रह्माण्ड जैविक उर्जा" (Universal Life Energy)। दूसरे शब्दों में इसे Vital Life Energy भी कहते है। इस रेकी चिकित्सा में उर्जा को ध्यान, अभ्यास, आशावादी चिन्तन आदि द्वारा शारिरिक उर्जा को एक निश्चित दिशा में निर्देशित करके तथा शक्तिशाली बनाकर के रोगो का उपचार किया जाता है। उपचार के दौरान उर्जा घनीभूत होकर हस्त से प्रवाहित होती है।

परिभाषा

रेकी एक चिकित्सा पद्धति है, जो हस्त द्वारा स्पर्श या बिना स्पर्श किये तथा देखने की विधि का प्रयोग इस उद्देश्य से करते है कि उस व्यक्ति में जीवनीय उर्जा या बल के प्रवाह में निरन्तर सुधार हो रहा है। रेकी स्पर्श चिकित्सा का प्रयोग पारम्परिक अभ्यंङ्ग चिकित्सा की तरह ही तनाव (Stress) वेदना (Pain) तथा अन्य विकारों को दूर करने में किया जाता है।

रेकी में हस्त उर्जा द्वारा आरोग्यता (Healing) प्रदान करते है। रेकी चिकित्सक का कार्य शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक स्तर पर जीवनीय उर्जा के प्रवाह में स्थित व्यवधान को पहचानकर हटाना, शरीर के विषाक्त पदार्थ (Toxins) को हटाना या शुद्ध करना, शरीर को साम्यावस्था में रखना तथा शान्ति तथा आरोग्यता को प्रदान करना है।

इतिहास

ब्रह्माण्ड की उर्जा द्वारा चिकित्सा आदि कर्म करने के ज्ञान का उद्‌भव काल क्या रहा है, इसका सही-सही पता लगाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर भी उपलब्ध साहित्य तथा पाण्डुलिपियों के आधार पर इतना निश्चित है कि इस उर्जा का उपयोग हजारों वर्षों से होता रहा है। वैदिक काल में विभिन्न मन्त्रों द्वारा सूर्यपूजा आदि कर्मो से शारिरिक व मानसिक उर्जा की वृद्धि करके शरीर को निरोग व साम्यावस्था में रखते थे एवं रोगी होने पर इसका चिकित्सा में प्रयोग करते थे।

रेकी की परम्परा एवं इतिहास मौखिक है। उसका रेकी मास्टर से उसके शिष्य को मिलता है। अट्ठारहवीं शदी के अन्त में एक जापानी क्रिश्चियन डॉ. मिकाओ उसुई ने इस प्राचीन आरोग्यता कला (Healing Art) की जापान में खोज की। डॉ. उसुई के कार्य एवं जीवन के बारे में अनेक कहानियाँ वर्णित है। हिन्दुओं और बौद्धों के प्राचीन ज्ञान के आधार पर डॉ. उसुई ने शोध एवं मेडिटेशन द्वारा एक पद्धति का विकास किया। रेकी-परम्परा में, उन्होंने चुजिरों हयाशी को अपना कार्य आगे बढ़ाने के लिये शिक्षा दी। हयाशी ने टोकियो में एक स्कूल एवं चिकित्सालय खोला। जिसमें रोगियों की चिकित्सा तथा रेकी के उत्तराधिकारियों को शिक्षा दी। १९४५-१९७० के मध्य वह संसार की अकेली रेकी मास्टर थी। इस दौरान उसने २१ रेकी शिक्षकों को दीक्षा दी, जिनमें से श्रीमती टकारा, फीलिस ली फ्युरू मोटो उशुई पद्धति (Usui System of Na Healing : Usui Shiki Ryoho) की प्रमुख शिक्षक रहे है। आज संसार में साढ़े तीन हजार से अधिक रेकी मास्टर रेकी चिकित्सा कर रहे है।

रेकी-सिद्धान्त

रेकी मुख्यरूप से ५ आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित है -

१. आज के लिये चिन्ता मत करों- (Just for today donot worry)।
२. आज के लिये गुस्सा मत करो (Just for today donot anger)।
३. अपने माता-पिता, गुरु एवं बड़ों का आदर करो (Honour your parents, teachers and elders)।
४. अपने जीवन हेतु ईमानदारी से कमाओ (Earn your living honestly)।

५. प्रत्येक वस्तु के लिये कृतज्ञ रहो (Show gratitude to every things)।

रेकी एक सरल, मृदु तथा उत्तम-विशिष्ट कला है। यह आघात रहित होती है तथा अत्यधिक दक्षता की भी आवश्यकता नहीं होती है। यह उपचार शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक, स्वास्थ्य को सहज या सुगम बनाने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। इसका उपयोग स्वयं पर, दूसरों पर पशुओं तथा पौधों पर भी किया जा सकता है। इसका प्रयोग समस्त अवस्थाओं में कर सकते है। रेकी चिकित्सा में आजकल लगभग एक से डेढ़ घंटे का समय लगता है। लेकिन समयाभाव में कुर्सी या अभ्यंगार्थ प्रयुक्त मेज पर बिठाकर, कम समय में भी उपचार कर सकते है।

जब किसी रोगी का उपचार करते है, तो उसे मुख, शिर, ग्रीवा तथा शरीर के पृष्ठ भाग की अनेक स्थितियों से गुजरना पड़ता है। रेकी का प्रयोग आघात एवं वेदना (Pain) को नष्ट करने हेतु भी किया जाता है।

रेकी के भेद

पिछले, कुछ वर्षों में कुछ नये उर्जा पद्धतियों (Energy System) का विकास हुआ। इनमें पारम्परिक उसुई रेकी से कुछ साम्यता तथा कुछ विषमता है। उदाहरणतः यूरेविया (Urevia) शमबाला मल्टीडाइमेन्शनल रेकी (Shamballo Multi dimensional Reiki) लाइटेरियन रेकी (Lightarian Reiki) आदि।

उसुई रेकी पद्धति

इस पद्धति में ३- स्तर (Level) होते है -

१. प्रथम स्तर (Ist Level) अथवा प्रथम डिग्री (Ist Degree)।
२. द्वितीय स्तर (IInd Level) अथवा द्वितीय डिग्री (IInd Degree)।
३. मास्टर (Master) अथवा तृतीय डिग्री (3rd Degree)।

रेकी-संस्कार गुरु से शिष्य में स्थान्तरित होते हैं। इस प्रक्रिया में सर्व प्रथम श्वास-निश्वास को नियन्त्रित कराना अर्थात् प्राणायाम कराना उचित होता है। यह मन को नियन्त्रित तथा शरीर शोधन के लिये आवश्यक होता है। साथ ही साथ ध्यानावस्था हेतु अत्यन्त आवश्यक है। रेकी मास्टर हेतु "श्वेत प्रकाश" का ध्यान आवश्यक होता है। इस हेतु प्राणायाम के पश्चात् दोनों भोहों के मध्य (त्रिनेत्र) चक्र पर ध्यान लगाते है तथा आशावादी, विकासोन्मुख, स्वस्थ क्रिया कलापों का चिन्तन करते है और यह महसूस करते हैं कि श्वेत-प्रकाश का दायरा एक बिन्दु से विकसित होकर समस्त संसार में व्याप्त हो रहा है। और इस प्रकाश से आच्छादित संसार अच्छे कार्य की ओर अग्रसरित हो रहा है। इस प्रक्रिया को प्रत्यक्ष ध्यानावस्था कहा जाता है। प्रत्यक्ष ध्यानावस्था में लिली जलाशय

का अपना महत्व है। इसका अभ्यास भी काफी उपयोगी होता है, इसे व्यायाम (Exercise) को "सिल्वामांइड कंट्रोल" भी कहते है।

रेकी में सप्त चक्रों का अध्ययन करने का उद्देश्य, शरीर को सक्रिय बनाने हेतु इन चक्रों को अधिक उर्जा प्रदान करना है। चक्र मुख्यतया कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करने का आधार माना जाता है। ये सातों विशिष्ट उर्जा केन्द्र मेरूरज्जा (Spinal Cord) तथा मस्तिष्क में स्थिति होते है। सदवृत्त का पालन करने से यह उर्जा उर्ध्वगत चक्रो में प्रवाहित होती है। इस प्रसुप्त उर्जा का मूल चक्र-"मूलाधार चक्र" है। विभिन्न साधनाओं के द्वारा इस उर्जा का उर्ध्वमुखी दिशा में प्रवाह बनाये रखा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति धीरे-धीरे पंचतत्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश पर पूर्ण नियन्त्रण कर लेता है। इन आंतरिक विशिष्ट उर्जा केन्द्रों को परम आणविक वैद्युत-चुम्बकीय गतिज उर्जा का रूप माना जाता है। सहस्त्रधार चक्र, आज्ञा चक्र, विशुद्ध चक्र, अनाहत चक्र, मणिपुर चक्र, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधार चक्रों की स्थिति क्रमशः शिर, दोनों ध्रुवों के मध्य, कण्ठ देश, वक्ष-मध्य, नाभिमूल, मूलाधार से २ अंगुली ऊपर तथा मेरूरज्जा के मूल में होती है। इनके जागृत होने पर विभिन्न शक्तियों का स्वामी हो जाता है।

हमारे सम्पूर्ण शरीर में विभिन्न मेरीडियन है, जिनमे कुछ निश्चित बिन्दु तथा अत्यधिक संवेदनशील स्थान होते हैं। सामान्य अवस्था में इन मेरीडियनस में सतत् उर्जा का प्रवाह होता है। रोग होने पर इस उर्जा के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। एक्यूपंक्चर में सुइयों द्वारा, एक्यूप्रेशर में दबाव द्वारा तथा रेकी में हस्त-उर्जा द्वारा इन मेरिडियन्स में हुए अवरोध को दूर करके रोगोपचार करते है।

रेकी द्वारा उपचार

प्रत्येक व्यक्ति रेकी की कुछ मूलस्थितियों का प्रयोग करके तनाव, वेदना मुक्त तथा स्वयं व अन्य को उर्जावान बना सकते हैं। ये स्थितियाँ कभी भी, कहीं भी और कितने समय तक भी की जा सकती है। रेकी के समय मन तनाव-रहित, ध्यान मुक्त तथा शान्त रहना चाहिए।

हस्त-मुद्रा

१. **हस्त को शिर पर रखकर :** इसमें मणिबंध (Wrist) कर्ण के पास, अंगुली-पर्व शिर को स्पर्श करे तथा आँखे बंद होनी चाहिए।
२. हथेली बंद अक्षि के ऊपर तथा अंगुलियाँ मस्तक पर हो।
३. शिर के दोनों तरफ हस्त, अंगुष्ठ-कर्ण के पीछे, हथेली अधोहनु पर अंगुलियाँ शंख प्रदेश पर हो।

४. एक हस्त ग्रीवा के पीछे, द्वितीय हस्त शिर पर। द्वितीय हस्त शिर पर, प्रथम हस्त के एकदम ऊपर समानान्तर होना चाहिए।
५. हस्त से हनु को ढँकते हुए।
६. प्रत्येक हस्त कन्धे पर ग्रीवा के पार्श्व में रक्खें।
७. वक्ष के ऊपर, हस्त की सहायता से "टी" की आकृति बनाते है। बाँये हाथ से हृद् प्रदेश को ढँकते हैं। तथा दक्षिण हस्त उसके ऊपर रखकर पाँच मिनट श्वास रोकते है। यह प्रक्रिया ४ से ५ बार करते है। हस्त प्रत्येक बार नीचे की तरफ लाते है जब तक कि श्रोणी भाग (Pelvic Region) नहीं आ जाता है।
इसके अलावा हस्त की अन्य स्थितियों को भी व्यवहार में लाते है।

सावधानियाँ

१. रोगी को ढीले वस्त्र पहनाये।
२. रेकी-उपचार से पूर्व तथा पश्चात् हस्त प्रक्षालन आवश्यक है ताकि उर्जा के प्रवाह को रोका जा सके।
३. रोगी को ब्रह्माण्ड उर्जा लेते समय सीधे रहना चाहिए।
४. कम से कम ३ मिनट तक प्रत्येक बिन्दु पर उर्जा प्रवाह करना चाहिए।
५. हमेशा शिर से रेकी-उपचार प्रारम्भ करें।
६. रेकी उपचार की समाप्ति पर "ॐ" की साधना करनी चाहिए।

दुष्प्रभाव-सामान्यतः रेकी के कोई दुष्प्रभाव नहीं होता है, लेकिन उपचार के दौरान रोगी झनझनाहट, ठंढ या गर्मी महसूस कर सकते हैं।

रेकी के प्रतीक

डॉ. उसुई को तिब्बती पाण्डुलिपियों में ३ प्रतीक मिले थे।

(अ) प्रथम प्रतीक

	हॉन	श	ज़ि	शॉं	निन
	१-५	६-७	८-१५	१६-१८	१९-२२
(ब) द्वितीय प्रतीक	से	हे	कि		
(स) तृतीय प्रतीक	चो	कू	रे		

कुछ अन्य प्रतीक भी रेकी में प्रयुक्त होते है उदाहरणतः

१. हार्ट सेंटर प्रतीक, २. हार्थ प्रतीक, ३. जोनार प्रतीक, ४. हालू प्रतीक

उपर्युक्त तीन मुख्य प्रतीकों का लक्ष्य उर्जा को अनाहत चक्र में अवस्थित करना, मन-मस्तिष्क को क्रियाशील बनाना, असंतुलन को दूर करना, भौतिक स्तर की बाधाओं को दूर करना एवं उर्जा को फैलाने हेतु (तृतीय उत्प्रेरक की तरह) कार्य करते है।

इन्ही तीन प्रतीक के आधार पर "रेकी-३ए" मास्टर डिग्री कोर्स कराया जाता है।

शक्तिपात 'रेकी-३ बी' कोर्स में रेकी मास्टर-शक्तिपात द्वारा शिष्य को रेकी मास्टर बनाता है, जिससे वह दक्षता पूर्वक रेकी उपचार कर सके।

पञ्चविंश अध्याय

ज्योतिष एवं आयुर्वेद : एक विहंगावलोकन

(प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यस्य सक्षिणौ)

ज्योतिष के विषय में उपर्युक्त उक्ति प्रचलित है। ज्योतिष शास्त्र की प्रत्यक्ष मूलकता स्पष्ट है क्योंकि इसके साक्षी सूर्य प्रतिदिन प्रत्यक्ष होते हैं। अतः प्रामाणिकता के लिए प्रमाणान्तरों की अपेक्षा नहीं है। सूर्य के उदय और अस्त ही दिन और रात्रि का विभाग करते हैं। दिन रात्रि ही नहीं अपितु दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, सायं, रात्रि, अर्धरात्रि, उषःकाल आदि सूक्ष्म से सूक्षम और स्थूल से स्थूल काल विभाग सूर्य ही के कारण होते हैं।

सूर्य नारायण का महत्त्व प्रकट करते हुए श्री अम्बिकादत्त व्यास ने बहुत ही सटीक लिखा है कि यह सूर्य आकाश मण्डल के मणि, खेचर चक्र के चक्रवर्ती, पूर्व दिशारूपी नायिका के कुण्डल, ब्रह्माण्डरूपी भाण्ड के दीपक, कमल समूह के प्रियतम, कोक समूह के शोक निवारक, भ्रमणों के आश्रय, जगत् के समस्त व्यवहारों के सूत्रधार और दिन के स्वामी है[1]।

शिवराज विजय में सूर्य द्वारा प्रकटित काल विभाग का विश्लेषण किया गया है।[2] सूर्य के पौनः पुन्य शीघ्रशीघ्र उदयास्त से काल की गति का ज्ञान साधारणजन नहीं कर पाता है। ज्योतिष शास्त्र की सहायता से निर्मित पञ्चाङ्गो द्वारा कालज्ञान सभी को सुलभ है। ज्योतिष शास्त्र हमें तिथि, वार, नक्षत्र, योग तथा करणरूप पञ्चाङ्गो का ही ज्ञान नहीं कराता, प्रत्युत सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्पुञ्जो के स्वरूप, आकाशमण्डल में उनकी स्थिति भूमण्डल से तथा एक-दूसरे से परस्पर की दूरी तथा चर अचर रूप मानवदि वृक्षादि के जीवन पर उनके प्रभाव का भी ज्ञान कराता है। इस शास्त्र को ज्योतिष शास्त्र इसलिए कहते हैं कि यह "ज्योतिषां ज्योतिः स्वरूपाणां ग्रह नक्षत्रादीनां शास्त्रम्" अर्थात् ज्योतिः स्वरूप ग्रहनक्षत्रादि को बोधक शास्त्र है साथ ही ज्योति अर्थात् प्रकाश या ज्ञान देने वाला शास्त्र है। हम सूर्य चन्द्रादि के प्रकाश से प्रकाशित समस्त संसार का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

---

१. अरुण एष प्रकाशः पूर्वस्यां दिशि भगवतः मरीचिमालिनः। एष भगवान् मणिराकाशमण्डलस्य, चक्रवर्ती खेचरचक्रस्य, कुण्डलमाखण्डलदिशः, दीपको ब्रह्माण्ड भाण्डस्य, प्रेयान् पुण्डरीक परलस्य, शोक विमोकः कोकलोकस्य, अवलम्बो रोलम्बकदम्बस्य सूत्रधारः सर्वव्यवहारस्य, इनश्च दिनस्य। शिवराज विजय पृ.२

२. अयमेवा हे ! रात्रं जनयति, अयमेव वत्सरं द्वादशविभागेषु विभनक्ति, अयमेव कारणंषण्णामृतूनाम्, अय मेवाङ्गी करोति उत्तरं दक्षिणं चायनम्, अनेनैव सम्पादिता युग भेदा, अनेनैव कृता कल्पभेदा, एनमेवाश्रित्य भवति परमेष्ठिनः परार्ध संख्या, अयमेव चकीर्ति वर्मर्ति जर्हर्ति च जगत् ..... शिवराज विजय।

ज्योतिष को वेद के ६ अङ्गों में परिगणित किया गया है।[1] वेदाङ्ग का अर्थ है- वेदस्य अङ्गानि, वेद के अङ्ग। अङ्ग का अर्थ है-अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति, अर्थात् वे उपकारक तत्त्व जिनसे वस्तु के स्वरूप का बोध होता है। वेद के वास्तविक अर्थ के ज्ञान के लिए जिन साधनों की उपयोगिता होती है, उन्हें **वेदाङ्ग** कहते हैं[2]।

शिक्षा-शिक्षा का स्वरूप आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्य में इस प्रकार निर्दिष्ट किया है-स्वर वर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा-सायण ऋग्वेद भाष्य पृ. ४९ स्वरों वर्णो आदि के उच्चारण की शिक्षा जिसमें दी जाती है, उसे शिक्षा कहते है।

शिक्षा ग्रन्थों की रचना जिन देवर्षियों महर्षियों ने की है। उनके नाम वाङ्मय में उपलब्ध है-पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, नारद शिक्षा, ऋक्प्रातिशाख्य, आपिशलि शिक्षा, कौशिक शिक्षा, गौतम शिक्षा, मण्डूकी शिक्षा, भरद्वाज शिक्षा तथा अग्निपुराणोक्त शिक्षा आदि। आग्नेय शिक्षा के अनुसार वर्णो के सम्यक् उच्चारण से ब्रह्म लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है[3]।

कल्प-कल्प का अर्थ है यज्ञिय विधियों का समर्थन और प्रतिपादन-"कल्पयते समर्थ्यते याग प्रयोगोऽत्र"। कल्प शब्द की दूसरी व्याख्या है-"कल्पो वेद विहितानां कर्मणा मानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्"[4]। वेदाङ्गो में शिक्षा के अनन्तर कल्प का स्थान है। अग्नि पुराण में कल्प को यज्ञकुण्डों, यज्ञवेदियो, यज्ञमण्डप, सर्वतो भद्रादि चक्रो तथा भवनों आदि के माप, रचना प्रकार आदि का ज्ञायक शास्त्र बताया गया हैं।

व्याकरण-व्याकरण को वेदों का मुख कहा गया है[5]। शरीर में मुख के द्वारा ही भोजनादि के सेवन से शरीर पुष्ट होता है, मन प्रसन्न रहता है, इसी प्रकार मुख स्थानीय व्याकरण शास्त्र वेदों का पोषक अङ्ग है। मुखस्थित कण्ठताल्वादि अवयवो के द्वारा वर्णो का उच्चारण होने से मानवों का समस्त व्यवहार चलता है।

---

१. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां गतिः
(क) ज्योतिषा भयनं चेति षडङ्गो वेद उच्यते।।
(ख) तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिष मिति-मुण्डकउपनिषद् १-१-५
(ग) छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथपठ्यते
ज्योतिषा भयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यतो।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्म लोके महीयते।। वाचस्पत्यम-भाग ५ पृ. ४०८७

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास। डा. कपिलदेव द्विवेदी पृ. ८४

३. (क) सम्यग्वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते-अग्नि.पु. ३३५/१५
(ख) पाणिनीय शिक्षा ३१

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास-क.दे. द्विवेदी पृ. ९१

५. मुखं व्याकरणं स्मृतम्-पा.शि. ४२

निरुक्त-निरुक्त की व्युत्पत्ति "निश्शेषेण निश्चयेन पदानां अवयवार्था उच्यन्ते यत्र तत् निरुक्तम्" जिस शास्त्र के द्वारा पदों के अवयवार्थ का सम्पूर्ण एवं निश्चयात्मक रूप से प्रतिपादन किया जाता है, उसे निरुक्त कहते हैं। अन्य की अपेक्षा न कर स्वतंत्र रूप से पदार्थ का कथन करने वाले शास्त्र की निरुक्त संज्ञा है। निरुक्त वेद का कान कहा गया है। महर्षि यास्क निरुक्त के आचार्य माने गये हैं। यास्क का निरुक्त इस विषय का अनुपम ग्रन्थ है। निरुक्त प्रतिपादित कुछ वैदिक शब्दों की सिद्धि निपातनात् मान ली गयी है।

छन्दः शास्त्र-छन्दः शब्द की निरुक्ति-"छन्दांसि-छन्दनात्" अर्थात् भावों को आच्छादित कर विशिष्ट रूप प्रदान करता है, अतः छन्दः शास्त्र कहा जाता है। छन्दः शास्त्र को वेद का चरण कहा गया है। जिस प्रकार मानव शरीर को चरण संचरणशील बनाते है, वैसे ही छन्द भावों को संचरणशील बना देते हैं[1]। "यद क्षर परिमाणं तच्छन्दः के अनुसार संख्या विशेष में वर्णो की सत्ता छन्द है। छन्द वैदिक वाङ्मय के ही नहीं अपितु लौकिक वाङ्मय के भी वाहन हैं। अव्यय अश्वत्थ के पत्तों के रूप में छन्दः शास्त्र को बताया गया है। छन्दः शास्त्र के आचार्य पिंगल है। पिंगल ने अपने ग्रन्थ में शैतव आदि का छन्द शास्त्र के आचार्यो के रूप में स्मरण किया है। इससे स्पष्ट है कि छन्छ शास्त्र की परम्परा अति प्राचीन है।

ज्योतिष वेदाङ्ग तथा विद्या

ज्योतिष को वेद का नेत्र कहा गया है[2]। जैसे मूर्त द्रव्यों का ग्रहण नेत्रों द्वारा किया जाता है। वैसे ही शुभा-शुभ काल का ज्ञान तथा मानव के लिए हिताहित ग्रहों की परिस्थितियों का ज्ञान ज्योतिष द्वारा किया जाता है। अग्नि पुराण के समय ज्योतिष की चतुर्लक्षात्म संहिता उपलब्ध थी[3]। इस शास्त्र के सारभूत तत्वों को जानने से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। अग्निपुराण में ज्योतिष को विद्याओं में गणित किया गया है। अग्निपुराण के अनुसार विवाह, कर्णविध, व्रत, पुसंवन, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, ताम्बूल सेवन, नवान्नभक्षण, भैषज्य सेवन, रोगविमुक्तिस्नान, अक्षरारम्भ, समावर्तन, धनुर्वेदारम्भ, वस्त्रधारण, शंख विद्रुम रत्नधारण, क्रय, विक्रय, द्रव्यनिक्षेप, राज्याभिषेक, गृहारम्भ, वापीकूप तड़ागारम्भ, प्रतिष्ठा, गृहप्रवेश, राजदर्शन, कृषिकार्य, बीजोप्ति, धान्यछेदन, धान्यानयन तथा देव प्रतिष्ठा आदि के मुहूर्तो का विचार ज्योतिष शास्त्र की परिधि में है। इस प्रकार से सभी कार्यों के लिए शुभ मुहूर्त की खोज ज्योतिष के लक्ष्यों में है। जनता के द्वारा करिष्यमाण विविध कर्मो के लिए शुभ मुहूर्तो की सूची से यह ज्ञात होता है कि ज्योतिष का सम्बन्ध उच्च वर्ग से लेकर जन सामान्य तक था।

---

१. अग्नि पु. १२१-१
२. अग्नि पु. १२१-१
३. अग्नि पु. १२०-४१

वैदिक तथा लौकिक भेद से ज्योतिष के दो प्रकार है। इनमें वेदाङ्ग ज्योतिष नाम का एक ज्योतिष का प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त है। याजुष ज्योतिष में ४३ श्लोक है, आर्य ज्योतिष में ३६ श्लोक। इसका कर्ता आचार्य लगध माना जाता है-वैदिक ज्योतिष के श्लोक की व्याख्या डा. वी.के. शंकर, बालकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक तथा सुधाकर द्विवेदी आदि ने की है।

काल ज्ञानं प्रयक्ष्यामि लगधस्य महात्मनाः (आर्य ज्यो. श्लो २) वैदिक ज्योतिष ग्रन्थों में राशियों का उल्लेख नहीं है। २७ नक्षत्रों से ही गणना की जाती है[१]। वैदिक ज्योतिष की आवश्यकता वैदिक यज्ञों के लिए शुभ मुहूर्त निर्धारणार्थ हुई थी। यह शास्त्र यज्ञों का काल विधान बताता है। अतः इसकी महत्ता है[२]।

वेदों के उपवेद भी माने गये हैं। जिनमें आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। आयुर्वेद के महनीय आचार्य, धन्वन्तरि, आत्रेय तथा कश्यप आदि ने आयुर्वेद को उपाङ्ग उपवेद या पञ्चम वेद[३] कहा है तथा ब्रह्मा द्वारा पूर्व सृष्टि में अर्जित ज्ञान की स्मृति प्राप्त कर आयुर्वेद का उपदेश करने से आयुर्वेद को शाश्वत अनादि कहकर सम्मालित किया।

आयुर्वेदीय संहिताओं- सुश्रुत, अग्निवेश तंत्र (चरक संहिता) तथा कश्यप संहिता आदि आकर ग्रन्थों में अध्ययन के लिए प्रशस्त तिथि, करण, मुहूर्त तथा नक्षत्रों के लिए जिज्ञासा की गई है[४]। शस्त्राहरण काल में भी प्रशस्त तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्रों की अपेक्षा है[५]। आचार्य सुश्रुत ने कहा है-कृष्णोऽष्टमीस्यान्निधनेऽष्टमी द्वे शुक्ले तथाप्येव महर्द्विसन्ध्यम अकाल विद्युत्स्ननयित्नु घोषे स्वतंत्र राष्ट्र क्षितिषव्यथासु। श्मशान यानासन वाहनेषु नाध्येयमन्येषु च येषु विप्रा नाधीयते नाशुचिना नित्यम्।। सु.सू. २/१०

---

१. सं.सा. का इतिहास। डा. क.दे. द्विवेदी पृष्ठ ६१
२. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानि पूर्वा विहिताश्चयेज्ञाः,
तस्मादिदं काल विधान शास्त्रं यो ज्योतिषं
वेद स वेद यज्ञम्।। वेदाङ्ग ज्योतिष श्लो. ३
३. (क) इह खलु ह्यायुर्वेदमष्टाङ्गमुपवेदमथर्ववेदस्य सु.सू. १
(ख) चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामंथर्णवेदे भक्तिरादेश्या। च.सू ३०।
(ग) आयुर्वेदः कथं चोत्पन्नः? आयुर्वेदोपनिषत्सुप्रागुत्पन्नः। कं च वेदं श्रयसि? मित्याह तथाहि रक्षाबलि दोषशान्ति प्रतिकर्म विधान मुद्दिष्टं विशेषेण, तद्वदायुर्वेद। तस्मादथर्ववेदं श्रयसि। सर्वान् वेदा नित्येके। आयुर्वेदमोवा श्रयन्ते वेदाः। तस्माद् ब्रूयः ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमोऽयमायुर्वेदः। कश्यप संहिता।
४. तिथि करण नक्षत्र मुहूर्तेषु ---- जुहुयात् सु.सू. २/४, चरक वि. ३
५. ततः प्रशस्तेषु तिथि करण मुहूर्त नक्षत्रेषु सकृदेवा हरेच्छस्त्रम्।। सु.सू. ५/७

रसायन सेवन, अध्ययनारम्भ[1], वमन[2], विरेचन[3], के प्रारम्भ करने के लिए शुभकाल विचारने को कहा गया है। जनपदोध्वंस उत्पन्न होने की भविष्यवाणी नक्षत्रों तथा ग्रहों आदि के विकृति दर्शन से की जाती थी[4]।

इस प्रकार आयुर्वेद ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट है कि काल एक महत्वपूर्ण सत्तावान् तत्त्व है, जिसके शुभ सूचक होने पर कार्य की सिद्धि होने की आशा की जा सकती है। दर्शनों में काल को महत्व प्रदान किया गया है[5]। इन उल्लेखों से यह अनुमान किया जा सकता है कि आयुर्वेदीय संहिताओं के निर्माण काल में कार्यों के प्रारम्भ करने के लिए मुहूर्त विचारा जाता था तथा इस रूप में ज्योतिष की सत्ता विद्यमान थी।

ज्योतिष के उद्भव के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त विद्वानों ने माने हैं-प्रथम सिद्धान्त के अनुसार ज्योतिष दसों हजार वर्ष पूर्व का है। इस सिद्धान्त के अनुसार दसों हजार वर्ष पूर्व से पृथ्वी पर मानव सभ्यता के बहुत चक्र हो चुके हैं। विश्व में अरबो खरबो वर्षों में जन्म मृत्यु के बहुत से चक्रों के पश्चात् खनिज से पौधों, पौधों से पशुओं, तब मानव की उत्पत्ति के बाद आत्मानुभव की महिमा से मण्डित या ज्ञानी महर्षियों की सृष्टि हुई। इस परम्परा में अति प्राचीन काल में काल की गतियों का सूचक ज्योतिष शास्त्र विकसित हुआ।

नवीन दृष्टिकोण भारतीय ज्योतिष को आधुनिक मानता है तथा भारतीय ज्योतिष पर Greek (यूनानी) प्रभाव मानता है। (यूनानी) आक्रमणकारी के रूप में ३०० B.C. में भारतीय आये थे। २ शताब्दी B.C. से १ शताब्दी B.C. तक भारत के पश्चिमी प्रदेशों पर उनका शासन रहा। सभी विज्ञान स्वीकार करते हैं कि ज्योतिष की नक्षत्र प्रणाली जो अति प्राचीन वैदिक वाङ्मय में मिलती है, वह भारत में Greek (यूनानी) आगमन से पूर्व की है, यद्यपि कुछ पुराने लोग बिबेलोनिया से ग्रहीत मानते हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं उपलब्ध है। मुख्य रूप से यह जातक ज्योतिष है। इसमें १२ राशियों संभवतः ग्रहों, ग्रहों की पोजीशन (स्थिति) के गणित की योग्यता सम्मिलित है। इसे ही पश्चिमी लोग भारत में Greek (यूनान) से ग्रहीत कहते है। प्राचीन वैदिक ज्योतिष में इसके सन्दर्भ बहुत कम मिलते हैं। थियोसोफिस्ट ब्रह्मविद्यावादी भारत में राशि ज्ञान की प्राचीनता अति प्राचीन काल तक जाती हुई मानते है। श्री परमहंस योगानन्द, श्री विवेकानन्द तथा डा. रमण आदि इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। दुर्भाग्य से भारत का बहुत वाङ्मय विनष्ट हो गया था। सौभाग्य

---

१. भगवति शशिनि कल्याणे कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्ति हुत्वा ---स्वस्ति वाचयेत् च.शा-८/३५
२. इष्ट तिथि करण नक्षत्र मुहूर्ते च.सू. १६/१५
३. इष्ट तिथि करण नक्षत्र मुहूर्ते च.सू. १५/१७
४. दृश्यन्ते हि खलु नक्षत्र ग्रह गण चन्द्र सूर्या निलानल दिशां चा प्रकृति भूतानां मृतुवैकारिका भावाः। च.वि. ३/४

से कुछ ही सुरक्षित रखा जा सका। रहस्य विद्या और ज्योतिष को अध्यात्म ज्ञान के समान छिपा कर रखा जाता था। इस स्थिति में श्रुति परम्परा से ही भारतीय ज्योतिष का साहित्य सुरक्षित रखा जा सका[1]।

प्राचीन काल में Greek तथा Roman अच्छे ज्योतिषी थे, पाश्चात्यो की ज्योतिषीय विरासत ग्रीक आधारित थी। यह उत्तराधिकार वैश्विक था। ज्योतिषीय ज्ञान का जो अंश भारत के पास था, वह विदेशियों के बार-बार आक्रमणों से नष्ट हो गया। जो कुछ वचा वह दमन एवं उपहास की वस्तु हो गया। ज्योतिष हिन्दू धर्म का सार था, जो धर्म परिवर्तन के लक्ष्य से विनष्ट हो गया[2]।

Greek (यूनानी) अपने ज्ञान के लिए भारतीयों द्वारा सम्मानित थे। इसका यह मतलब नहीं कि भारत में Greek (यूनानियों) से ज्योतिष का ज्ञान ग्रहण किया, क्योंकि भारतीय वेद तो ज्ञान राशि हैं। उनमें ज्योतिषीय तत्त्व अन्तर्निहित है।

हाँ ! भारतीय ताजिक के लिए ग्रीक्स (यूनानियों) से अवश्य प्रभावित हुए। आक्रमण के समय जो ग्रीक्स (यूनानी) भारत आये और यहाँ बस गये। उनके माध्यम से यूनानी ज्योतिष का (ताजिक) भाग भारतीयों को ज्ञात हो गया। भारत एवं ग्रीक (यूनानी) संस्कृतियों का ऐसा मिश्रण हुआ कि ग्रीक्स (यूनानियों) का पृथक् अस्तित्व भारत में नहीं रह गया।

भारत बेबोलोनिया और ग्रीस (यूनान) में प्राचीन काल में संस्कृत भाषा का सम्पर्क था। विशेषतः भारत और बेबीलोनिया में जिसका कि फारस की खाड़ी के मार्ग से भारत से बराबर व्यापार सम्बन्ध था। भारत में बेबीलोनिया से २५०० B.C. में व्यापार होने का पुरातात्विक साक्ष्य है क्योंकि उन देशों में जो नापने के लिए बांट थे, वे वही थे जो भारत में चलते थे। जबकि वहाँ के लोग भारत के बांटो आदि का प्रयोग करते थे। तब ज्योतिष आदि कार्यो प्रयोग अवश्य करते होंगे[3]।

ज्योतिष का प्रयोग प्राचीन काल से भारत, चीन, फारस, अरब, एजिप्ट (मिश्र) ग्रीस (यूनान) तथा बेबोलोनिया में किया जा रहा था। भारत में ४५०० B.C. से उच्च स्तर पर ज्योतिष कार्य किये जाने के पर्याप्त साक्ष्य हैं।

३००० B.C. से १७०० B.C. में लिखे गये मूल हस्त लेख हैं, जिनमें बहुत से राज प्रासादों जैसे भवनों और उच्चवर्ग के पुरोहितों के पारिवारिक निधि हो गये हैं। पितामह संहिता जो पितामह द्वारा लिखित अति प्राचीन ग्रन्थ है। वह ३००० B.C. के करीब लिखा गया था।

---

१. देखिये-Astro Logical Magazine. January 1995 P. 33 Ed by Dr. B.V. Raman

२. देखिये आस्ट्रोलोजिकल मैग्जीन। जुलाई १६८० P. ५६५

३. Astro logical Magazine. १६६५ January Page ३४

भारत में प्राचीन काल में ज्योतिष पर अनुसंधान करने वाले आचार्यो की कमी नहीं थी। साहित्यिक संग्रह में भारत में ज्योतिष अन्वेषक महर्षियों की संख्या १८ उपलब्ध है- ब्रह्मा, भास्कर, वशिष्ठ, अत्रि, मनु, पौलस्त्य, रोमश, मरीचि, आंगिरा, व्यास, नारद, भृगु, शौनक, च्यवन, यवन, गर्ग, कश्यप, पराशर।

इन्होंने समय मापने की प्रणाली, ग्रहों की स्थिति जानने की सारिणी समाज को दिया। ग्रहों की गति, दूरी, पृथ्वी पर घटित होने वाली घटनाओं का भी परिगणन किया।

उपर्युक्त महर्षियों के अतिरिक्त-वाल्मीकि, गौतम, गालव काव्यायन छागलेय माण्डव्य तथा वैशम्पायन आदि भारतीय ज्योतिष विज्ञानवेत्ता आचार्य थे। भास्कराचार्य, ब्रह्मगुप्त, वाराहमिहिर, लल्ल, जैमिनि श्रीपति, नीलकण्ठ, काशीनाथ, गणेश तथा सुधाकर द्विवेदी आदि भारतीय ज्योतिष के परिनिष्ठित विद्वान् थे।

प्राचीन काल में महर्षियों द्वारा संस्थापित ज्योतिषीय सिद्धान्तों की इन सब ने व्याख्या तथा आलोचना की और बहुत विषयों पर अपने पृथक् मत भी प्रदर्शित किये। इन्ही के द्वारा संस्थापित मतो के आधार पर आज ज्योतिष का कार्य सम्पन्न हो रहा है।

ज्योतिष के तीन स्कन्ध

ज्योतिष शास्त्र तीन स्कन्धों में विभक्त हैं-

१. सिद्धान्त।
२. संहिता।
३. होरा शास्त्र या जातक।

सिद्धान्त स्कन्ध के अन्तर्गत ग्रहों की स्थिति, (Position) निर्धारित करने के सूत्र मिलते हैं। काल की माप, ग्रहों की गति निकालने के सूत्र सिद्धान्त ज्योतिष के ग्रन्थो में हैं।

सिद्धान्त ज्योतिष के सिद्धान्तों द्वारा गणित की सहायता से अयनांश निर्धारित किया जाता है। Vernal Equinoy (वसन्त सम्पात) के आधार पर शून्य अयनांश वर्ष विद्वानों ने निकाला है। श्री तिलक जी ने वसन्त संपात के आधार पर ही वेदो का काल निकाल कर वेदों की अति प्राचीनता सिद्ध की है। वेदों के काल में मृगशिरा में तत्पश्चात् रोहणी में उसके बाद कृत्तिका में, भरणी में तब अश्विनी में वसन्त सम्पात पीछे की ओर वक्र गति से खिसकता हुआ दृष्टि गोचर हुआ। खगोल मण्डल के पर्यवेक्षण से तथा वेदों में सांकेतिक भाषा में उल्लिखित ऋचाओं पर गंभीर विचार कर २५० B.C. वर्ष को शून्य अयनांश वर्ष प्रख्यापित कर पञ्चाङ्ग निर्माणादि कार्य की पृष्ठभूमि निश्चित की गयी। शून्य अयनांश वर्ष के निर्धारण में विद्वानों में एक मत नही है। सूर्य सिद्धान्त गणित का प्रामाणिक ग्रन्थ है। जिसका संकलन बाराहमिहिर ने किया था। वाराहमिहिर का काल कुछ विद्वानों ने प्रथम शताब्दी B.C., कुछ में ४ शताब्दी A.D., जबकि कुछ नें ६ शताब्दी माना है'। ज्योतिष

शास्त्र के ग्रन्थों में जो सूत्र लिखे गये है, उनकी सहायता से गणित करने पर खगोलीय दृश्य प्रपंच का विचार संदिग्ध होता है। उस समय बेधशाला में प्रत्यक्ष कर पर्यवेक्षण द्वारा ग्रहों को दृश्य बनाया जाता है। जिससे कि ग्रहण आदि तथा तिथि नक्षत्रादि दृश्य रूप से सही हो सकें और राशि चक्र में ग्रहों की स्थिति दृश्य के समान कर सकें।

सिद्धान्त विषय के आचार्य एवं ग्रन्थ निम्नलिखित है-

सूर्य सिद्धान्त-पंचसिद्धान्तिक, आर्यभट्टीयम्-आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्तीयम्-ब्रह्मगुप्त, सिद्धान्त शिरोमणि-भास्कराचार्य, तत्वविवेक-कमलाकर, श्री पतिपद्धति-श्रीपति, सिद्धान्त सर्वभूमन -मुनीश्वर, सर्वार्थ चिन्तामणि वृहत्संहिता, पञ्चसिद्धान्तिका, वृहज्जातक आदि-वाराह मिहिर।

संहिता

संहिता क्षेत्र में पृथ्वी के विभिन्न क्षेत्रों में मौसम की भविष्यवाणी, वस्तुओं के मूल्यों का उतार चढ़ाव, महामारी, अकाल, अनावृष्टि, आंतवृष्टि, पृथ्वी के विभिन्न भागों में राजशक्ति परिवर्तन आदि अनेकों सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि सम्बद्ध विषयों का विचार किया जाता है।

होरा शास्त्र

जातक के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं में मुख्य रूप से तारतम्य ज्ञान, जन्म कालीन ग्रहों की Position (स्थिति) निर्धारण इस स्कन्धोक्त ज्ञान के आधार पर किया जाता है। होरा क्षेत्र में कई सिद्धान्त या मत प्रचलित हैं-जैसे पराशर, जैमिनि, भृगु, केरल, तान्त्रिक, गोचर, अष्टक वर्ग, विशोत्तरी आदि अनेक दशायें अन्तर्दशाये, प्रत्यन्तर दशायें, मुहूर्त, रेखाशास्त्र (Palmetry), प्रश्नतंत्र तथा शकुन।

होराशास्त्र के विषय में कहा गया है-

यदुपस्थितमन्यजन्मनि शुभा शुभं कर्मणः पक्तिम्

व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव।।

लघु जातक की इस उक्ति में कहा गया है कि पूर्वजन्मार्जित शुभा-शुभ कर्मो के परिणाम को होराशास्त्र सूचित कर देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि रोगादि पूर्वजन्म में कृत अपराधों के फलस्वरूप ही मानव को दुःखी करते हैं। कार्मिक सिद्धान्त कर्मशास्त्र

१. आस्ट्रो लोजिकल मैग्जीन जनवरी १६७६ पृ. ५८

के ग्रन्थों में भी विशिष्ट भूमिका से प्रतिपादित है। याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रथम आचाराध्याय में सदाचारी बनने का उपदेश देकर योगियाल्क्य ने आचार का पालन न करके असदाचार (हत्या) आदि रूप अपराध करके यदि स्वतः तदनुरूप प्रायश्चित्त नहीं कर डालता है, तो उसे प्रकृति स्वयं भयंकर रोगादि रूप दण्ड देती है। भले ही अपराधी शासन को धोखा देकर अपराध का दण्ड पाने में असफल हो जाय, परन्तु प्रकृति को दण्ड से वह बच नहीं सकता अपराधी कितना ही होशियार क्यों न हो। गरुड़ पुराण के प्रेत खण्ड में भी अपराधों का कितना भयङ्कर परिणाम होता है, यह स्पष्ट बताया गया है।

जन्माङ्ग में ग्रह स्थिति से मानव द्वारा पूर्वजन्म में किये अपराधों रूप संचित कर्मो के आधार जो पीड़ा मानव को जन्मान्तर में मिल रही है। उसका बोध होरा शास्त्र प्रवीण आचार्य ही करा सकता है। फलादेश कौन कर सकता है। इसका उत्तर स्पष्ट इस रूप में आचार्यो ने दिया है-

होरापार समुद्रपार गमने नूनं समर्थो महान्।
पारचाख्ये गणिते च बीज गणिते यो दर्भमी ग्रणीः।।
सिद्धान्ते स्फुट वासना प्रकथने भेदैरने कैर्युते।
गोलेस्यात्कुशलः स एव गण को योग्यः फलादेशने।।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि-

त्रिस्कन्धज्ञो दर्शनीयः प्रशान्तः।
श्रौतस्मार्तोपासने निष्ठचित्तः।।
निर्दम्भो यः सत्यवादी प्रसन्नो।
दैवज्ञो सस्मृतो नेतरश्च।।

इस पद्य में ज्योतिषी को गणक तथा दैवज्ञ जैसी उपाधियों से विभूषित किया गया है। सारावली में आचार्य वाराहमिहिर को प्राचीन आचार्यो के विस्तृत ग्रन्थों का संक्षेप कर्ता कहा गया है[१]। सारावलीकार कल्याण वर्मा के होरा शास्त्र के कुछ विषयों का उल्लेख इस प्रकार किया है-

राशि दशवर्ग भूपतियोगा मुदीयतो दशादिभिः।
विषय विभागं स्पष्टं कर्तुं नशक्यते यतस्तेन।।
अतएव विस्तरेभ्यो यवन नरेन्द्रादि रचित शास्त्रेभ्यो
सकल मसारं त्यक्त्वा तेभ्यः सारं समुद्‌ भ्रियते।।

सारावली १/२-३

इस पद्य में श्री कल्याण वर्मा ने होराशास्त्र के विषयों में राशि/दशा वर्ग राजरोग आयु आदि का तथा यवननरेन्द्रादि आचार्यो का उल्लेख किया है।[1]

निम्नलिखित ग्रन्थ एवं आचार्य होराशास्त्र के प्रसिद्ध है-

वाराहमिहिर	-	उनके ग्रन्थ वृहत्संहिता, वृहज्जातक, लघु एवं मध्य जातक।
पराशर	-	वृहत्पाराशर होराशास्त्र लघु मध्य पाराशरी।
कालिदास	-	ज्योति विंदाभरण।
मानसागर	-	मानसागरी
मन्त्रेश्वर	-	फलदीपिका
केशव	-	केशवीय जातक पद्धति
		सर्वार्थ चिन्तामणि
		ज्योतिष सार
		वृहज्योतिष सार
		सारस्वत जातक
		जातक पारिजात
		शंभु होरा प्रकाश
कल्याणी वर्मा	-	सारावली
वीर सिंह	-	वीर सिंहावलोक
वताभद्र	-	होरारत्न
दिवाकर	-	जातकपद्धति
		जातक सारदीप

सारावली में होरा शास्त्र सम्बद्ध विशिष्ट विषयों के सन्दर्भ में निम्नलिखित आचार्यो के नाम मिलते हैं-

सत्याचार्य-आयुदीय[2]। जैमिनि-विशिष्ट पद्धति। गार्गी-। कनका चार्य-वियोनिजन्म[3]। मणित्य दिन या रात्रि में जन्म का ज्ञान ग्रह दशा।[4] जीव शर्मा-आयुसार परमायु[5]। चूडामणि

---

१. सारावली १/४
२. (क) सत्येक्ति ग्रहमिष्टं लिप्ती कृत्वा शत द्वयेनाप्तम् मण्डल भाग विशुद्धेऽब्दाः स्युः शेषात्तु मासाद्याः वृ.जा. ७/१०
(ख) सारावली ४२/४
३. दैव विदां प्रीतिकरं विश्वसनीयं समस्त लोकस्य। कनकाचार्यस्य मजाद्वियेज्ञि संज्ञं प्रवक्ष्यामि सारा. ५३/१
४. सारा. ६/८
५. सारा. ४६/१६

सारा ५/२०। मय -। महेन्द्र शास्त्र -। मणि बन्ध। बादरायण सारा. ८/४७। कन्दलाचार्य। ब्रह्मादि शास्त्रकार आरिष्ट भंग ब्रह्म शौण्ड-। हरि सारा. ५/२

इनके अतिरिक्त सारावली में अन्य आचार्य भी स्मरण किये गये हैं-

पौलिश वशिष्ठ रोमश यवन बादरायण शक्तिः
अत्रिश्च भरद्वाजो विश्वामित्रो गुणाग्नि केशी
गर्ग पराशर जीवा एतैरन्यैश्च विस्तरं रचितम्
कथयति शास्त्रेषूक्तं जातकमिति चित्रगुप्तकृतम्।।'

इस पद्य में निर्दिष्ट चित्रगुप्त उपदेश वैसे ही रहा होगा। जैसा ब्रह्मा द्वारा आयुर्वेदोपदेश।

पहले ज्योतिष ग्रन्थों में सात ग्रहों का विचार किया जाता था। व्यवहारार्थ आवश्यकता पड़ने पर आचार्यों ने रवि आदि सात ग्रहों के नाम पर सप्ताह के दिनों का नामकरण किया। पश्चात् छाया ग्रहो-राहु और केतु को भी सम्मिलित कर सात ग्रहों के स्थान पर नव ग्रह मान लिये। इनके प्रतिकूल प्रभाव से जायमान मानव कष्ट के निवारणार्थ पूजन, व्रत, दान, मणिधारण एवं मन्त्र प्रयोग का जो प्रचलन हुआ, वह आज भी प्रचलित है। खगोल शास्त्र के द्वारा मेषादि द्वादश राशियों की खोज तथा मेषादि राशियों के अङ्गभूत अश्विन्यादि नक्षत्र अभिजित् सहित २८ और उनका खेचर चक्र में स्थान, स्थिति और ग्रहों का भ्रमण आदि का अन्वेषण रूप कार्य त्रिकालज्ञ महर्षियों ने समाज के समक्ष रखा।

होरा शास्त्र या जातक शास्त्र का मुख्य विषय जातक के भविष्य का विचार है। जातक ने जहाँ जन्म लिया है, उस स्थान का जन्म समय का स्थानीय समय तथा उस स्थान के सूर्योदय के द्वारा इष्ट काल निकाल कर सूर्यादि नव ग्रहों की राशि अंशादि निकाल कर स्थानीय अक्षांश रेखांश तथा अयनांश की यथावश्यक सहायता से लग्न निर्धारित कर जन्माङ्ग चक्र तथा ग्रहों की स्थिति से कुण्डली निर्माण करने के पश्चात् ग्रहों भावों की राशि आदि की गणना से भाव या सन्धि में स्थित भावो का फलादेश किया जाता है। इस विषय में यह भी ध्यान देने योग्य है कि लग्न शुद्ध होनी चाहिए। लग्न शोधन की प्रणाली ग्रन्थों में उल्लिखित है, उस आधार लग्न को शुद्ध कर ही फलादेश किया जाना चाहिए।

उत्तर भारत में पराशर का सिद्धान्त अधिक प्रयुक्त हो रहा है। पराशर सिद्धान्त के ग्रन्थ वृहत् पराशर होरा शास्त्र मध्य पाराशरी तथा लघु पाराशरी हैं। पराशर मुनि श्री व्यास जी के पिता थे। अतः अन्य की अपेक्षा ऐतिहासिक पुरुष पराशर की प्राचीनता स्पष्ट है। पराशर पद्धति पर ज्योतिषियों ने बहुत लिखा है। इस पद्धति के विस्तार को संक्षिप्त तथा सरल कर अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। वृहज्जातक में जातक शास्त्र के लिए अपेक्षित

---

१. सारावली ५४/१२

विषयों का भण्डार है। महादेव द्वारा लिखित जातक पारिजात और दक्षिण में मन्त्रेश्वर द्वारा लिखित फलदीपिका जातक सम्वन्धित अपेक्षाओं को पूर्ण करने वाले जनप्रिय ग्रन्थ हैं। दक्षिण में जैमिनि सूत्र का अधिक प्रचार है। जैमिनि सूत्र के सूत्र पराशर सिद्धान्त से कुछ अंशो में समान हैं, तो कुछ अंशो में बिल्कुल भिन्न। भृगु संहिता ग्रन्थ भृगु जी द्वारा लिखित माना जाता है। इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है कि इसमें १८०० जन्माङ्गों का संकलन है और उनके विस्तृत फलादेश हैं। यह ग्रन्थ इस प्रकार लिखा गया है कि जितने प्रकार के जन्माङ्ग हो सकते हैं, वह सब इसमें देखने को मिल सकते हैं। अपने जन्माङ्ग से मिलता हुआ जो जन्माङ्ग हो उसके फलादेश को देखकर अपना फलादेश जाना जा सकता है। इस विषय में यह विशेष उल्लेखनीय है कि इस ग्रन्थ में जब फल लिखा गया था, तब देश की सीमायें, परिस्थितियां, वातावरण, मनुष्यों की अपेक्षायें, आवश्यकतायें कुछ और थी। आज की कुछ और हैं। इस दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ कहीं हमे देखने को मिल जाय। तो भी उसका फल शब्द प्रति शब्द मिलना संभव नहीं होगा। हाँ इतना अवश्य है कि आजीविका आदि की प्रकृति अवश्य ज्ञात हो सकती है। जैसा कि पीछे कहा गया है कि देश पर आक्रमण पर आक्रमण होते रहे हैं। पुस्तकालय अग्निसात् होते रहे हैं, जो पुस्तके बची, वे उच्च्च वर्ग के व्यक्तियों के भवनों की शोभा बढ़ाते रहे है। ऐसी स्थिति में यदि किसी विद्वत् परिवार के पास कोई पुस्तक थी, तो वह गुप्त कर रखी गयी। जिसका मिलना या पता लग पाना कठिन हो गया है।

प्रत्येक जन्माङ्ग में बारह भाव तनु, धन, सहज, सुहृत, सुत, अरि, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय तथा व्यय एवं बारह राशियों मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन का निवेश होता है। गणित द्वारा ग्रह स्पष्ट किया जाता है और प्रथम भाव (लग्न) तथा दशम भाव स्पष्ट किया जाता है। इन्हीं दो भावों से शेष दशभाव बना लिये जाते है। इस प्रकार जन्माङ्ग बन जाता है। आधुनिक ज्योतिष के अन्वेषकों ने मन्दी, यूरेनस, प्लूटो आदि की भी खोज की है। उनको भी जन्माङ्ग में स्थान देते है और तदनुसार फलादेश करते है। यह विचार सभी जातक ग्रन्थों में कुछ मतभेद के साथ एक जैसा उपलब्ध है।

जातक ग्रन्थ– श्री काशीनाथ जी द्वारा लिखित बाल चन्द्रिका जैसे ग्रन्थों में बार, तिथि, नक्षत्र, योग तथा करण इसमे से जिस वारादि में जन्म हुआ है, उनका फल मिलता है। कुछ ग्रन्थ पद्मकोष आदि में भाव में ग्रह स्थिति का ही फल लिखा गया है। पुराने कुछ ज्योतिषी जन्माङ्ग स्थित भावो में ग्रहों का फल इन ग्रन्थों की सहायता से लिखते थे और आज भी लिखते हैं।

यवन जातक में भाव में स्थित ग्रहों, भाव स्वामियों की भावों में स्थिति, भाव पर ग्रहों की दृष्टि आदि का पृथक् पृथक् फल लिखा गया है। यद्यपि फलादेश में इन सबका अपना महत्व है, फिर भी ग्रहों का बलाबल विचार अपना विशेष स्थान रखता है।

भाव में जो राशि होती है, उसका स्वामी भाव स्वामी होता है। ग्रहो में मित्रता समता या शत्रुता भी होता है।

ग्रह अपनी उच्च राशि में उच्च, नीच राशि में नीच होते है। जैसे सूर्य मेष राशि में उच्च १० अंश पर परम उच्च तुला १० नीच, परम नीच, स्वगृह सिंह।

चन्द्र- वृष उच्च ३ अशं परम उच्च वृश्चिक में नीच ३ अंश परम नीच। स्वगृह कर्क।

मंगल-मकर उच्च ३८ अंश परम उच्च, कर्क नीच २८ अंश परम नीच, स्वगृह मेष वृश्चिक।

बुध- कन्या उच्च १५ अंश परम उच्च, मीन नीच १५ अंश परम नीच, स्वगृह कन्या मिथुन।

वृहस्पति-कर्क उच्च ५ परम उच्च, मकर नीच ५ अंश परम नीच, स्वगृह धनु मीन।

शुक्र- मीन उच्च २७ अंश परम उच्च, कन्या नीच २७ अंश परम नीच, स्वगृह वृष तुला।

शनि- तुला उच्च २० अंश परम उच्च, मेष नीच २० अंश परम नीच, स्वगृह मकर कुंभ।

राहु- मिथुन उच्च २० अंश परम उच्च, धनु नीच २० अंश परम नीच, स्वगृह कन्या।

केतु- धनु उच्च २० अंश परम उच्च, मिथुन नीच २० अंश परम नीच, स्वगृह मीन[1]।

फलादेश करने के लिए ग्रहों का बलाबल, दृष्टि आदि का विचार किया जाता है। ग्रहों का बल गृह, होरा, ट्रेष्कासं, सप्तमांश, नवमांश, द्वादशांश, षोडशांश, त्रिंशांश तथा षष्ठयंश आदि के द्वारा तथा ग्रहों का स्थान बल, दिग्बल, चेष्टावल, नैसर्गिकबल, दृक्बल तथा कालबल द्वारा प्राप्तबलों के योग से निश्चित किया जाता है। इनमें भी स्थानबल के १२ भेद होते है। इसके ३ भेद होते हैं-भावबल, भविशबल तथा शुभ दृष्टिबल।[2]

१२ भावों में १, २, ३, ४, ५, ७, ९, १० तथा ११ भाव शुभ ६, ८, १२ अशुभ माने जाते हैं। जिन भावो में शुभ ग्रह बैठते है या जिन भावों को शुभ ग्रह देखते है, वे शुभ फल देते हैं। जिस भाव में उसी भाव का स्वामी होता है, वह शुभ फल देता है। यदि कोई अपने स्वामी से दृष्ट हो, तो वह भी अच्छा फल देता है। यहाँ पूर्ण दृष्टि का पूर्ण फल, आधी दृष्टि का आधाफल, तीन चौथाई दृष्टि का तीन चौथाई फल तथा एक चौथाई दृष्टि का एक चौथाई फल जानना चाहिए।

---

१. फलदीपिका १/६

२. वीर्य षड्विधमाह कालज बलं चेष्टा बलं स्वोच्चजं, दिग्वीर्यं त्वयनोद् भवं दिविषदां स्थानोद्भवं च क्रमात, निश्यारेन्दु सिताः परे दिवि सदा ज्ञः शुक्ल पक्षे शुभा, कृष्णेऽन्ये च निजाब्द मासदिन होरा स्वड्भिवृद्धया क्रमात, फ.दी. ४/१

ज्योतिष का यह भी सिद्धान्त है कि जिस भाव का विचार करना हो, उस भाव को लग्न मानकर विचार किया जाय। उस विचारणीय भाव से दूसरे चौथे पांचवे सातवे नवें या दसवें उस भाव का स्वामी अथवा कोई शुभ ग्रह बैठा हो, तो उस भाव की समृद्धि होती है। यह देखना चाहिए कि १, २, ४, ५, ७, ८, १० भावों में पापग्रह तो नहीं हैं या पापग्रहों की दृष्टि तो नहीं है। यदि इनमें शुभ होगे, तो शुभ फल होगा, पापग्रह होगे, तो अशुभ फल।

शुभाशुभ के सन्दर्भ में चन्द्रमा, बुध, वृहस्पति तथा शुक्र को शुभ ग्रह और मंगल, शनि, राहु एवं केतु को पापग्रह माना गया है। सूर्य को क्रूर ग्रह, पापयुक्त या पापदृष्ट या क्षीण चन्द्र को पाप ग्रह माना गया है। पापयुक्त या पापदृष्ट चन्द्रमा भी पापग्रह माना गया है।

इसके अतिरिक्ति ज्योतिष शास्त्र में योगों को महत्त्व दिया गया है। योग शुभ तथा अशुभ भी होते हैं-पंच महापुरुष योग (रुचक, भद्र, हंस, मालव्य तथा शश), सुनफा, अनफा, दुरुधरा, केमद्रुम, वेशि, वाशि, उभयचरी, शुभकर्तरी, पापकर्तरी, सुशुभ, गजकेशरी, अधम, दाम, वरिष्ठ, महामानव, शकर, वसुमत, अमल, पुष्कल, शुभमाला, अशुभमाला, लक्ष्मी, गौरी, सरस्वती, श्रीकण्ठ, श्रीनाथ आदि योग प्रायः सभी जातक ग्रन्थों में पाये जाते हैं तथा उनके फल भी पाये जाते हैं।[1]

बालारिष्ट योगों को सभी जातक ग्रन्थों में प्राथमिकता प्राप्त है-

आयुर्ज्ञानाभावे सर्वं विफलं प्रकीर्तितं यस्मान्।
तस्यात्तद् ज्ञानर्थं रिष्टाध्यायं प्रवक्ष्यामि।

सारा. १०/१

यहां कहा गया है कि आयु के ज्ञान के अभाव में सब कुछ निष्फल हो जाता है, अतः मैं पहले बालारिष्ट बता रहा हूँ।

फलदीपिका में भी अरिष्ट ज्ञान को प्राथमिकता दी गयी है। इस सन्दर्भ में सारावली कार ने जन्म समय के विषय में मतों का उल्लेख किया है-कोई गर्भाधान की लग्न को मुख्य मानते हैं और कुछ लोग बच्चे का शिर जब माँ के शरीर से पृथक् होता है, उस काल को तथा अन्य लोग बालक का शरीर पूर्ण रूप से पृथ्वी पर आ जाय, उस काल को तथा कुछ के मत से जब नाल काटी जाय, तब का समय जन्म समय मानते है, क्योंकि जब तक नाल नहीं कटती है, तब तक बालक का पृथक् अस्तित्व नहीं होता।[2]

---

१. सारा. अध्याय १३, १४ फ.दी. अध्याय ६

२. केचिदायाधान विलग्न मन्ये शीर्षोदयं भूपतनं च कैचित्।
होराविदश्चेतनकाययोर्न्यैर्वियोग कालं कथयतिलग्नम् सारा. १३/२

अरिष्टो के ३ भेद-अनियत, नियत तथा योगज होते हैं। इनमें योगज अरिष्टो में १ दिन, २ दिन, ३ दिन, ४ दिन, ५ दिन, ६ दिन तथा ७ दिन, एक मास, २ मास, ३ मास, ४ मास, शीघ्र अरिष्ट, १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १६ वर्षो में होने वाले बालारिष्टों, पिता का अरिष्ट, माता का अरिष्ट, पिता-माता दोनों को अरिष्ट, माता पुत्र को अरिष्ट के अतिरिक्त १०० वर्ष, १२० वर्ष आयु योग, देवतुल आयुयोग तथा गतायु योगों का विचार सभी जातक ग्रन्थों में थोड़े मतभेद के साथ पाया जाता है[1]।

राजयोग, कर्माजीवयोग, सन्तानयोग, पत्नी प्राप्ति योग आदि अनेकों योग भारतीय ज्योतिष में पाये जाते है जब कि पाश्चात्य ज्योतिष में योग नहीं पाये जाते हैं। स्त्री जातक का भी अध्याय पाया जाता है।[2]

इसके अतिरिक्त अन्य योग भी पाये जाते है जैसे कि

(१) यदि चन्द्रमा दो पापग्रहों के मध्य में हो और शनि सप्तक भाव में हो, तो श्वास, क्षय, विद्रधि, गुल्म या प्लीहा रोग की संभावना होती है।[3]

(२) चन्द्रमा सूर्य के नवांश में और सूर्य चन्द्रमा के नवांश में हो, तो कफ प्रकोप या सूखा रोग की संभावना रहती है।[4]

(३) सूर्य चन्द्रमा एक साथ हों, तो शरीर दुर्बल रहेगा।

(४) अष्टम द्वितीय, षष्ठ तथा द्वादश् भावों में सूर्य, चन्द्र, मंगल तथा शनि हों, तो नेत्र रोग की संभावना रहती है।[5]

(५) तीसरे या ग्यारहवें भाव में मंगल और शनि से युक्त या दृष्ट बृहस्पति हो, तो नेत्र रोग की संभावना रहती है।

(६) मंगल शनि युक्त या दृष्ट गुरु यदि सप्तम भाव में हो, तो दातों का रोग होने की संभावना रहती है।[6]

(७) लग्न में शनि, ५, ६, या ७ में मंगल अथवा क्षीण चन्द्रमा के साथ शनि १२वें भाव में हो, तो उन्माद रोग की संभावना रहती है[7]।

इस प्रकार के अनेकों (रोगसूचक) योगो के लिए जातक ग्रन्थों में अध्याय उपलब्ध हैं[8]।

---

१. सारा. ४५/फ.दी. ११/०
२. फ.दी. अध्याय ११ सारा. १४/७३
३. फ.दी. अध्याय ११ सारा. १४/७३
४. सारा. ३४/७५
५. वृ.य.जा. १/१४, सारा. ३४/७६
६. सारा. ३४/७६, वृ.य.जा. २३/४१
७. सारा. ३४/७८, फ.दी. १४
८. वीरसिंहवलोक वीरसिंह कृत सम्पूर्ण पुस्तक

होरा ज्योतिष के ग्रन्थों में कालपुरुष के अङ्गों का उल्लेख है, तदनुसार मेष राशि कालपुरुष का मस्तक, वृष मुख, मिथुन हाथ (भुजा), कर्क हृदय, सिंह पेट, कन्या अमर, तुला नाभि से उपस्थ तक, वृश्चिक उपस्थ, धनु जांघें, मकर टेहुना, कुंभ पिंडरी, मीन टेहुना से नीचे मोटा भाग, मीन पैर[1]।

फल विचार के लिए कालपुरुष के अङ्गों की जितनी आवश्यकता ज्योतिषी को होती है, उतनी ही मेषादि राशियों से सम्बद्ध स्थानों की भी होती है-तदनुसार राशियों के यह निवास स्थान चोरी गयी या खोयी हुई वस्तु के प्रश्न के अवसर पर ज्योतिषी के सहायक होते हैं।

अरण्ये केदारे शयनभवने श्वस्रसलिले,
गिरौ पाथः सस्यान्वित भुवि विशांधाम्नि सुषिरे।
जनाधीश स्थाने सजल विपिने धाम्नि विचरत्,
कुलाले कीलाले वसति रुदिता मेष भवनात्।। फ.दी. १/४

ग्रहो का सम्बन्ध तत्त्वो, दिशाओं तथा देवताओ से भी ग्रन्थो में वर्णन किया गया है-सूर्य का अग्नि तत्त्व, पूर्व दिशा रुद्र देवता, चन्द्रमा का जल तत्त्व, वायव्य दिशा तथा पार्वती देवी, मङ्गला का अग्नि तत्त्व दक्षिण दिशा तथा स्वामि-कार्तिक देवता, बुध का पृथिवी तत्त्व, विष्णु देवता उत्तर दिशा, बृहस्पति का आकाश तत्त्व, ईशान दिशा तथा ब्रह्मा देवता, शुक्र का जल तत्त्व, लक्ष्मी देवी तथा आग्नेय दिशा, शनि का वायु तत्त्व, पश्चिम दिशा तथा यम देवता, राहु का वायु तत्त्व आदि शेष देवता नैर्ऋत्य दिशा बताई गई है[2]।

सूर्य के कटु रस, चन्द्र को लवण रस, मंगल को तिक्त, बुध को मिश्रित, बृहस्पति को मधुर, शुक्र को अम्ल तथा शनि को कषाय रस प्रिय है[3]।

फलादेश के लिए ग्रन्थानुसार निर्देश

जिस भाव में जो राशि होती है, उसका स्वामी उस भाव तथा राशि का स्वामी होता है। भावों में ग्रहों की स्थिति तथा दृष्टि के अनुसार भावों, भावेशों तथा दृष्टियों के फल कहे गये हैं[4]।

---

१. शीर्षास्य बाहु हृदयं जठरं कटि बस्ति मेहनोरु युगम्।
(क) जानू जंघे चरणो कालस्याङ्गानि राशयोऽजाद्याः। सारा. ३/५
(ख) शिरो वक्त्रो रदे हृज्जठर कटि बस्ति प्रजनन।। सारा १/४
२. सारा. अध्याय ४ फ.दी. २/२६-२७
३. भानोः कटुर्भूमि सुतस्य तिक्तं लावण्यमिन्दो रथ चन्द्रजस्य मिश्रीकृतं यन्मधुरं गुरोस्तु शुक्रस्य चाम्लं च शनेः कषायः।। फ.दी. २/३१
४. फ.दी. गोपेश ओझा पृ. २६. अ. १५/६

स्वामित्व सिद्धान्त के अतिरिक्त भावों के कारकों की स्थिति के अनुसार भी फलादेश करने को कहा गया हैं। कारक दो प्रकार के होते है-स्थिर कारक तथा चर कारक। स्थिर कारकों में लग्न का कारक सूर्य, धनभाव का कारक बृहस्पति, तृतीय भाव का कारक मंगल, चतुर्थ भाव का कारक चन्द्र, बुध तथा शुक्र इनमें भी (चतुर्थ में चन्द्र माता का, बुध विद्या बुद्धि का शुक्र भवन वाहन आदि का) पंचम भाव का कारक बृहस्पति, षष्ठ का कारक शनि एवं मंगल, सप्तम का कारक शुक्र, अष्टम का कारक शनि, नवम का कारक सूर्य तथा बृहस्पति दशम का कारक सूर्य, बुध, बृहस्पति तथा शनि, एकादश का बृहस्पति द्वादश का शनि होता है।[1]

इसी प्रकार चर कारक भी होते हैं-१. आत्म कारक, २. अमात्य कारक, ३. भ्रातृ कारक, ४. मातृ कारक, ५. पुत्र कारक, ६. ज्ञाति कारक, ७. स्त्री कारक, यहाँ पुत्र कारक से पहले पितृ कारक भी मान लिया गया है। इस प्रकार ८ कारकों का फलादेश सहित पराशर होरा शास्त्र तथा जैमिनि सूत्र में विवरण उपलब्ध है।[2]

भाव, भाव कारक तथा भावेश निर्वल या पापग्रहों के मध्य में या पाप ग्रह या शत्रु ग्रह से युक्त या दृष्ट हों तथा शुभग्रह युक्त या दृष्ट न हों या विचारणीय भाव से ४, ५, ८ तथा ९ भावों में पाप ग्रह हों, तो भाव से सम्बन्धित दुःख होता है[3]।

किसी भाव पर लग्नेश या भावस्वामी की दृष्टि, लग्नेश की युति या भाव स्वामी की अपने किसी भाव पर स्थिति अर्थात् ४, ५, ७, ९ तथा १०७ सूचित करती है कि वह भाव अच्छा फल देगा। पंचमेश के साथ बुद्धिकारक बुध की स्थिति और चन्द्रमा पर मस्तिष्क कारक मंगल की दृष्टि मानसिक व्याधि उत्पन्न करती है।

लग्नेश और भावेश की युति या दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि जातक किसी भाव का आंशिक या पूर्ण फल प्राप्त कर सकता है या नहीं। भाव स्वामी का अपने मित्र या शुक्र से युक्त होना, भाव स्वामी का बलवान् होना, भाव कारक का बली होना जातक के शुभ फल प्राप्त करने का संकेत देता है।

ग्रहों का कारकत्व- सूर्य-पिता, शरीर, राजनीतिक शक्ति तथा आधिकारिक स्थिति का कारक, चन्द्र-माता, मस्तिष्क तथा नम्रता का कारक, मंगल-भाइयों, बहनों, शारीरिक बल, उत्साह, साहस, भूमि, मुकदमा तथा कोष आदि का, बुध-चचा, बुद्धि, दक्षता, चतुरता, परिहास, विनोद, व्यापार आदि का, बृहस्पति-सन्तानोत्पत्ति, पुत्र, पुत्रियां, दार्शनिक बुद्धि, शिक्षा और सामान्य प्रसन्नता का, शुक्र-स्त्री, पति, विवाह, वैवाहिक सुख, पारिवारिक सुख,

१. फ.दी. गोपेश ओझा कृत हि.टी. पृ. २९० अ. १५/९।
२. (क) पराशर कारिकाओं का जैमिनि सूत्र कृत टीका में अ. १-पा १-सू. १० में उल्लेख
(ख) जैमिनि सूत्र १/१/१०-२३ सूत्र तक।
३. फ.दी. अ. १५/९ पर हि.टी. पृ. २९०।

संगीत तथा ललित कला का तथा शनि-सेवकों, सेवाओं, दीर्घ जीवन, दुःख, विघ्न, बाधा तथा निर्धनता का कारक होता है।

होरा शास्त्र के आचार्यों में पराशर, जैमिनि, वाराहमिहिर को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पराशर महर्षि वेदव्यास के पिता थे। वेदव्यास का काल महाभारत काल है। महाभारत युद्ध त्रेता युग के अन्त में हुआ था। इसलिए पराशर मुनि का काल उससे पूर्व का है। जैमिनि व्यास जी के शिष्य थे। अतः उनका काल उसके बाद का है। पुराणों में जैमिनि, सुमन्तु, वैशम्पायन का एक ही श्लोक में पाठ है। वैशम्पायन के सूत जी के द्वारा ४ नैमिषारण्य में पुराण पाठ के अवसर पर ८८००० ऋषियों का नेतृत्व करते हुए पुराणों में वर्णित पाते हैं। वैशम्पायन जी भी व्यास जी के शिष्य थे। अतः वैदिक काल की समाप्ति और पौराणिक काल के आदि में जैमिनि को मान सकते हैं।

पराशर होरा शास्त्र में- कारक, मारक, विचार, भावेशफल, नामसादि योग, ग्रहावस्था फल, आयुदीय, अंशायु, पिण्डायु, निसर्गायु, लग्नायु, पित्रादि निर्याण, अष्टकवर्ग, पूर्वजन्म शाप बोधक, पुत्र योग, विंशोत्तरी, षोड़शोत्तरी, द्वादशोत्तरी तथा अष्टोत्तरी आदि दशायें, रुद्र, शूल, दशा, महेश्वर ग्रह, ब्रह्म ग्रह आदि का उल्लेख उनकी स्व. विशिष्टता का वर्णन विद्यमान है। जबकि जैमिनि सूत्र में अर्गला कर्तरी योग, कर पदादि संख्या बोधक निरुपण, आत्मादि कारक, वर्ष वर्णद दशा कारकांश, लग्नपद, उपपद, आयुनिर्णय रुद्र ग्रह शूल महेश्वर ग्रह ब्रह्मा मारकेश नवांश दशा स्थिर दशा आदि दशायें द्वार केन्द्र दशा, मण्डूक दशा, विंशेत्तरी दशा, अष्टोत्तरी दशा, योगार्ध दशा, दृग्दशा आदि विषयों का निरूपण किया गया है। विषय विवेचन के आधार पर जैमिनि को होरा शास्त्र में द्वितीय स्थान अवश्य ही मिलना चाहिए।

आचार्य वाराहमिहिर ने सूर्य सिद्धान्त जैसे सिद्धान्त ग्रन्थ पर टीका लिखी और बृहज्जातक बृहत्संहिता तथा लघुजातक जैसे ग्रन्थों को लिखा, जो सूत्र प्रणाली से मिलते-जुलते है। अतः हम उन्हें सूत्र काल के आचार्य के रूप में काल क्रम से जैमिनि के पश्चात् स्थान देना उचित समझते हैं।

वाराहमिहिर के पश्चात् सारावली कार श्री कल्याण वर्मा को स्थान मिलना उचित होगा, क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थ में पराशर जैमिनि वाराहमिहिर आदि के अति विस्तृत सिद्धान्तों को संक्षिप्त रूप में संग्रह ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है। यदि हम कल्याण वर्मा को संग्रह काल का अग्रणी कहें, तो अनुचित नहीं होगा।

गोचर- जातक शास्त्र की परिधि में गोचर विचार को भी अन्तर्निहित माना गया है, जहाँ कि विंशोत्तरी आदि दशाओ में जन्म नक्षत्र आदि के आधार पर गणना कर सूर्यादि ग्रहों की १२० वर्ष की दशा आदि तथा उन दशाओं की अन्तर्दशादि, प्रत्यन्तरदशा,

सूक्ष्मान्तर दशादि का जो निरुपण किया जाता है वह जीवन भर के लिए है। वहीं गोचर में प्रतिवर्ष ग्रहो के संचरण के अनुसार लग्न निश्चित कर जातक की चन्द्र राशि से विचार करते है।

मुहूर्त- मुहूर्त शास्त्र भी जातक की सीमा में आता है। यह अति आवश्यक अङ्ग है। जो कार्य आरम्भ करने होते है, उनके निर्विघ्न पूर्ण होने की सभी की इच्छा होती है। मुहूर्त शास्त्र अनुसंधान शुभ समय निर्धारित किये जाते है। उस समय पर कार्यारम्भ से विघ्न की संभावना नहीं रहती है। इस विषय के ग्रन्थ मुहूर्त चिन्तामणि पीयूष धारा की टीका सहित, वृहत् ज्योतिषसार, मुहूर्त माण्डर्त, शीघ्र वोध आदि हैं।

व्रतों, उपवासों, विभिन्न त्यौहारो, धार्मिक कृत्यों के विषय में कभी-कभी विवाद उपस्थित हो जाता है, उसके समाधान के लिए निर्णय सिन्धु, धर्मसिन्धु आदि महान् ग्रन्थ आचार्यो द्वारा लिखे गये उपलब्ध हैं।

प्रश्न तंत्र- प्रश्न तंत्र भी जातक शास्त्र का अविभाज्य अङ्ग है। इस शास्त्र के निर्देशों के अनुसार प्रश्नकर्ता द्वारा किये गये प्रश्न के काल की कुण्डली बना ली जाती है। उसी के आधार पर प्रश्नो के उत्तर दिये जाते हैं। पराशर वाराहमिहिर आदि आचार्यो ने प्रश्न के आधार पर नष्ट कुण्डली निर्माण की प्रक्रिया भी बतलाई है। प्रश्नकर्ता की कुण्डली न होने पर किये गये प्रश्नों के उत्तर प्रश्न तंत्र के आधार पर देकर जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त की जा सकती है।

ताजिक- जातक शास्त्र के अतिरिक्त ताजिक शास्त्र भी है, जिसका श्रेय यवनाचार्यो को है। भारत में यूनानियों यवनों के सम्पर्क से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान हुआ था। परिणामतः भारत की सुश्रुत संहिता आदि का अरवी आदि भाषाओं में अनुवाद हुआ और उनके शास्त्र का ज्ञान भारत में आया। इसी क्रम में ताजिक ज्योतिष का ज्ञान यवनाचार्यों द्वारा भारत को मिला। ताजिक में १६ योगो की शब्दावली यवनों की भाषा जैसी ही है- इक्कबाल इन्दुवार, मणऊ, इत्थशाल आदि। ताजिक में जन्मकालिक सूर्य राशि और अंश के समान राशि अंश पर सूर्य के संचरण के समय का वर्षाङ्ग निर्माण कर फलादेश किया जाता है। श्री नीलकण्ठ द्वारा रचित ग्रन्थ नीलकण्ठी प्रमुख ग्रन्थ है।

रेखा (हस्त रेखा) शास्त्र

रेखा शास्त्र में हस्त रेखा को प्रमुखता है। यहाँ हम रेखा को हस्त, पाद, मस्तक यहाँ तक कि समस्त शरीर की रेखाओं का उपलक्षण मान सकते हैं। इस शास्त्र के अन्तर्गत शरीर के किसी भी भाग में पायी जाने वाली रेखाओं को देखकर शुभाशुभ फलादेश तथा उसकी शान्ति के लिए मणि, मंत्र या औषधि का निर्देश रेखा शास्त्रज्ञ आचार्य करते हैं।

शकुन- शकुन शब्द का अर्थ है पक्षी। पक्षियों द्वारा बोले गये शब्दों, उनकी चेष्टाओं के आधार पर जो भविष्यवाणी की जाती है, वह शकुन शास्त्र के अन्तर्गत आती है। शकुन शब्द यद्यपि पक्षिवाचक है, फिर भी इसमें पक्षियों के अतिरिक्त कतिपय पशुओं को भी ग्रहण किया जाता है। अतः बिल्ली, न्यौला, (नकुल) यहाँ तक कि विशेष अवस्था में मनुष्य भी शुभाशुभ, लाभालाभ, कार्यसिद्धि असिद्धि का संकेत देते ही हैं। अतः शकुन शास्त्र के अन्तर्गत इनकी गतिविधियों का भी अध्ययन आता है।

इस ज्ञान को शास्त्र कोटि में इसलिए रखा गया है कि यह अपने वाच्यार्थ के अनुरूप हमारे अन्तःकरण में व्याप्त अंधकार या व्यामोह को दूरकर अलौकिक प्रकाश प्रदान कर जीवन में आने वाली विपत्तियों के प्रति सतर्क कर दुःख से पृथक् रहने का प्रयास करता है। इस शास्त्र के ग्रन्थ वृहत्संहिता (बाराही संहिता) शकुन वसन्त राज आदि हैं।

पूर्वोक्त तथ्यों के अनुसार ज्योतिष अवश्य ही भारतीय जीवन का सर्वाधिक उपयोगी एवं सहायक शास्त्र (विज्ञान) है।। इसकी सहायता से मानव लक्ष्य तक पहुँचने में सक्षम हो सकता है। इति शुभम्

षड्विंश अध्याय

मन्त्र-तन्त्र एवं आयुर्वेद एक विहगावलोकन

मंत्र शक्ति का अभिप्राय किसी देवी देवता की मनौती मानना नहीं है, वरन् ध्वनि विज्ञान पर आधारित एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका निश्चित प्रभाव होता है। विदेशों में असाध्य रोगों का इलाज अब ध्वनि विज्ञान से किया जाने लगा है। ध्वनि की सूक्ष्म तरंगें मानसिक क्षेत्र को प्रभावित करती हैं, वहाँ एक अद्भुत गति व हलचल उत्पन्न करती हैं, जिससे व्यक्ति शक्ति की अनुभूति करता है। मंत्रों में ध्वनि का एक निश्चल क्रम होता है जिससे वह उन्हीं सूक्ष्म यौगिक ग्रन्थियों को गुदगुदाते व जगाते हैं, जिसके लिए वह ग्रन्थित किए जाते हैं। इसीलिए ऋषियों ने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अलग-अलग मंत्रों का निर्माण किया। वह मंत्र उन्हीं उद्देश्यों के अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करते हैं। वास्तव में मंत्र शक्ति के व्यापक प्रभाव का सत्परिणाम होता है। मंत्र शक्ति से सभी विरोधों, विवादों, शत्रुता, समस्याओं तथा विपत्तियों का निवारण होता है।

आयुर्वेद वेदों से सम्बन्धित है। यह अथर्ववेद का उपवेद है। आयुर्वेद में बालकों के ग्रह दोष-बाधा दूर करने के लिए मंत्र चिकित्सा का तथा स्त्रियों के लिए सुखकर प्रसव हेतु मंत्र चिकित्सा का उल्लेख है। साथ ही मैथुन, स्नान भोजन तथा सर्पविष आदि की चिकित्सा के लिए मंत्र चिकित्सा की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है। इतना ही नहीं आयुर्वेद में मंत्र चिकित्सा के साथ-साथ यंत्र-तंत्र भी वर्णित किया गया है।

मंत्रों का उद्भवकाल

मंत्रों के उद्भवकाल का निर्धारण करना बड़ा कठिन सा प्रतीत होता है। इसका प्रचलन कब से हुआ तथा इसके जनक कौन थे, ये सब अज्ञात है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मंत्रों की उत्पत्ति वेदों की रचना से बहुत ही पहले की है। क्योंकि ऋग्वेद आर्य जाति का या विश्व भाषा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और मंत्र का रूप इस वेद ग्रन्थ में अतिविकसित है। अतः निश्चित है कि इससे पूर्व मंत्रों का विकास हो चुका था। उसके पूर्व कब हुआ था, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वेदों के बाद के ग्रन्थ संहिता अरण्यक और उपनिषद् हैं। इन ग्रन्थों में भी मंत्र विकसित रूप में हैं।

मंत्र विद्या का महत्त्व एवं ज्ञान सभी जातियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान था और है तथा रहेगा भी। कलियुग के प्रारम्भ में यह विद्या अपने चरम पर थी। उतना तो अब नहीं है। परन्तु इसका अस्तित्व आज भी उतना ही सशक्त व विद्यमान है जितना कि पौराणिक काल के बाद था। अन्तर मात्र इतना है कि पूर्व में प्रायः लोग इस विद्या के ज्ञाता

थे और अब यह विद्या उंगली पर गिनने लायक सिद्धि प्राप्त मर्मज्ञों के पास ही तक सीमित रह गया है।

मंत्र का अर्थ

"मंत्र" का अर्थ असीमित है। वैदिक ऋचाओं के प्रत्येक छन्द भी मंत्र कहे जाते हैं तथा देवी देवताओं की स्तुतियों व यज्ञ हवन के निमित्त निश्चित किए गए शब्द समूहों को भी तन्त्र कहा जाता है। तन्त्र शास्त्र में मन्त्र का भिन्न अर्थ है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार मंत्र उसे कहते हैं -जो शब्द पद या पद समूह जिस-जिस देवता या शक्ति को प्रकट करता है, वह उस देवता या शक्ति का मंत्र कहा जाता है।

दूसरे रूप में हम मंत्र की परिभाषा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि निश्चित वर्ण समूह द्वारा उच्चारित ध्वनि को मंत्र कहते हैं, जिसे कि हम उच्चारण करते हैं अथवा उन वर्ण-समूहों से निर्मित वाक्य जो कि अपना विशेष प्रभाव दिखाते हैं, उन्हें मंत्र कहते हैं।

कतिपय विद्वतजनों द्वारा मंत्र की परिभाषाएँ निम्न प्रकार भी की गयी हैं:-

१. धर्म कर्म और मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रेरणा देने वाली शक्ति को मंत्र कहते हैं।
२. देवता के सूक्ष्म शरीर को या ईष्टदेव की कृपा को मंत्र कहते हैं।
३. दिव्य-शक्तियों के कृपा को प्राप्त करने में उपयोगी शब्द शक्ति को मंत्र कहते हैं।
४. विश्व में व्याप्त गुप्त शक्ति को जाग्रत करके अपने अनुकूल बनाने वाली विद्या को मंत्र कहते हैं।
५. गुप्त शक्ति को विकसित करने वाली विद्या को मंत्र कहते हैं।

मंत्र के भेद

लिंग भेद से मंत्र तीन प्रकार के होते हैं :-

१. पुल्लिंग अर्थात् सौर मंत्र।
२. स्त्रीलिंग अर्थात् सौम्य मंत्र और
३. नपुंसक लिंग

मंत्रों की उग्रता और भावों के आधार पर लिंग भेद किया गया है। जिन मंत्रों के अन्त में 'हुं' और 'फट्' लगते हैं वे पुल्लिंग मंत्र कहलाते हैं। जिन मंत्रों के अन्त में 'स्वाहा' लगता है वे स्त्रीलिंग कहलाते हैं। जिन मंत्रों के अन्त में 'नमः' लगता है वे नपुंसक लिंग होते हैं।

राशियों के अनुसार मन्त्र

प्रत्येक मनुष्य को अपनी-अपनी जन्म राशि के अनुसार अपने राशि के इष्टदेव के सामने अपने राशि के मन्त्र का सवा लाख जप करने से सभी प्रकार के सुख-समृद्धि और

शान्ति की प्राप्ति होती है। यदि सवा लाख जप करना सम्भव न हो, तो १०८ बार अर्थात् प्रतिदिन एक माला का जाप नहा धोकर पवित्रासन पर बैठकर पवित्र मन, श्रद्धा व विश्वास के साथ करना चाहिए। जिस व्यक्ति को अपनी जन्मराशि का पता न हो, उसे अपने नाम राशि के ही मन्त्र का जाप करना चाहिए। मन्त्र निम्न प्रकार हैं -

१. मेष राशि का मंत्र -"ओऽम् ह्रीं श्रीं लक्ष्मीनारायणाय नमः।"
   या
   "ओऽम् ऐं क्लीं सौः।"
२. वृषभ राशि का मंत्र -"ओऽम् गोपालाय उत्तर ध्वजाय नमः।"
   या
   "ओऽम् ऐं क्लीम् श्रीः।"
३. मिथुन राशि का मंत्र - "ओऽम् क्लीं कृष्णाय नमः।"
   या
   "ओऽम् क्लीं ऐं सौः।"
४. कर्क राशि का मंत्र - "ओऽम् हिरण्यगर्भाय अव्यक्त रूपिणे नमः।"
   या
   "ओऽम् ह्रीं क्लीं श्रीः।"
५. सिंह राशि का मंत्र - "ओऽम् क्लीं ब्रह्मणे जगधाराय नमः।"
   या
   "ओऽम् ह्रीं श्रीं सौः।"
६. कन्या राशि का मंत्र - "ओऽम् मनो प्रीं पीताम्बराय नमः।"
   या
   "ओऽम् क्लीम् ऐं सौः।"
७. तुला राशि का मंत्र -"ओऽम् तत्वनिरंजनाय तारकरामाय नमः।"
   या
   "ओऽम् ऐं क्लीं श्रीः।"
८. वृश्चिक राशि का मंत्र -"ओऽम् नारायण सुरसिंहाय नमः।"
   या
   "ओऽम् ऐं क्लीम सौः।"
६. धनु राशि का मंत्र -"ओऽम् श्री देवकृष्णाय उर्ध्वषंताय नमः।"
   या
   "ओऽम् ह्रीं क्लीं सौः।"
१०. मकर राशि का मंत्र - "ओऽम् श्रीं वत्सलाय नमः।"
   या

"ओऽम् ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं सौः।"

११. **कुम्भ राशि का मंत्र** –"ओऽम् श्री उपेन्द्राय अच्युताय नमः।"
या
"ओऽम् ह्रीं ऐ क्लीं श्रीं:।"

१२. **मीन राशि का मंत्र** –"ओऽम् क्लीं उद्धृताय उद्धारिणे नमः।"
या
"ओऽम् ह्रीं क्लीम् सौः"

चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के द्वितीय ब्रह्म रसायन प्रकरण में अर्थवेद के ज्ञाता विद्वान द्वारा विधिपूर्वक रक्षा विधान कराने का प्रसंग मिलता है।

चरक संहिता चिकित्सा स्थान में "केवलामलक रसायन" अध्याय –में गायत्री मंत्र का १ वर्ष तक जप करने के पश्चात आमले को हाथ में पकड़ कर ऊँ कार का लगातार नियमपूर्वक जप करने से एक क्षण के लिए आमले में अमृत आ जाता है, जिससे आमला चीनी या मधु के समान पकना, कोमल या मीठा हो जाता है। इस प्रकार से जितने आमले को विधिपूर्वक ब्रह्मचारी व्यक्ति सेवन करता है, उतने ही हजार वर्षों तक युवा होकर जीवन जीता है।

चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के अध्याय २३ में "शंका विष" - का वर्णन किया है, जिसमें शंका से शरीर का विष का वेग बढ़ जाता है जबकि वास्तविक रूप से किसी वेग का सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु मानसिक विकृति के कारण शंका मात्र से ही शरीर में दाह, मूर्छा, वमन, मोह, ग्लानि के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यही शंका विष कहलाते हैं। इस शंका विष के निवारण के लिए अर्थवेद में बताए हुए मांगलिक मंत्रों से अभिमंत्रित जल से प्रोक्षण और सांत्वना देने का विधान बताया गया है।

अष्टांग आयुर्वेद के कौमार्य भृत्य में –बालकों के ग्रह दोष निवारण सम्वन्धी विभिन्न प्रकार के "रक्षोघ्न कर्मों" का वर्णन मिलता है। रक्षा कर्म में कुमार एवं सूतिका के कल्याण के लिए मंगल पाठ, स्तुति पाठ, होम, शान्ति पाठ, मंत्रों सहित करने का विधान बताया गया है।

बालकों के प्रथम दिन से चतुर्थ दिन तक के आहार विधान में आचार्य चरक ने (च. शा. ८/४६ में) कहा है कि मंत्रों से अभिमंत्रित कर पहले बालक को मधु एवं घृत चटाना चाहिए। यहीं पर आचार्य सुश्रुत ने (सु.शा. १०/१५) में कहा है कि प्रथम दिन बालक को मंत्र पूरित अनन्तमिश्रित, मधुसर्पि दिन भर में तीन बार पिलाना चाहिए।

आचार्य बाग्भट्ट ने (अ.हृ.उ. १/१२/१४) **आचार्य चरक एवं सुश्रुत** के वातों को माना है।

आचार्य काश्यप ने बालकों के खिलौनों को तथा क्रीड़ा भूमि के बारे में बहुत ही

सुन्दर ढंग से वर्णन किया है तथा उन्होंने बताया है कि विधिपूर्वक बेदी बनाकर धातु एवं धान्य दूध, दही, घृत, गोबर, गोमूत्र, कपास, मिट्टी युक्त आकृति के खिलौने आदि बनाकर अन्य स्त्री को प्रिय खिलौने रखकर निम्न मंत्र द्वारा पृथ्वी पर अर्ध्य देना चाहिए।

त्वमग्रजा त्वं प्रभवाऽव्यया च लोकस्य धात्रों सचराचरस्य।
त्वर्मीज्यसे त्वं यज्ञसे महींह मात्रेऽव नः (या) हि कुमारमेनम्।।

(का.खि. १/१२/७)

कुमारों (बालकों) में संस्कार कर्म

कुमारों के संस्कारों का वर्णन करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि जात कर्म में अपने वर्ण जाति का जो शास्त्र है, उनके मंत्रों से अभिमंत्रित करके पहले बालक को मधु एवं घृत चटाएं, इसके उपरान्त इसी विधि से दीक्षा स्तन का पान कराने का विधान है। इसके पश्चात् कलश में रखे हुए जल को मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित कर सिर से स्नान कराए।

निष्क्रमण कर्म के संबंध में आचार्य वाग्भट्ट ने निम्न दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं :-

चतुर्थे मासि स्नातालङ्कृतस्याहतवाससा संवीतस्य ससिद्धार्थकमधुसर्पिया रोचनया चान्वालब्धस्य धात्रया सहान्तर्गृहान्निष्क्रमणं देवतागारप्रवेशनं च। तत्राग्निं प्रज्वलन्तं धृताक्षतैरभ्यर्च्य ब्रह्माणमीश्वरं विष्णुं स्कन्दं मातृश्चान्यानि च कुलदैवतानि गन्धपुष्पधूपमाल्योपहारैर्भक्ष्यैश्च बहुभिर्बहुविधैः संपूज्य, ततो ब्राह्मणवाचनं कृत्वा, तेषामाशिषो गृहीत्वाऽभिवाद्य च गुरुन् पुनः स्वमागारं प्रविशेत्। प्रविष्टं चैनमनेन मन्त्रेणाभ्यक्ष्यभिषग्वर्तेत।

शरच्छतं जीव शिशो ! त्वं देवैरभिरक्षितः।
द्विजैरप्याशिषा पूतो गुरुभिश्चाभिनन्दितः।।

(का./खि./१२/४-५)

चौथे मास में बच्चे को सूतिकागार से बाहर लाना चाहिए। बच्चे को अच्छी प्रकार अलंकृत करके अच्छे वस्त्र पहनाकर देवताओं को नमस्कार करने के लिए बाहर लायें, उसके आगे अग्नि एवं स्कन्द को लेकर चलें।

चतुर्थ मास में उस शिशु को स्नान तथा अलंकार से युक्त करके नये वस्त्र पहनाकर तथा सिद्धार्थक, मधु तथा घृत से या गोरोचन से युक्त करके धात्री के साथ उसे प्रथम बार घर से बाहर निकाला जाता है तथा मन्दिर में प्रवेश कराया जाता है। वहाँ मन्दिर में प्रज्वलित अग्नि की घृत एवं अक्षत के द्वारा अभ्यर्चन करके ब्राह्मण, भगवान विष्णु, स्कन्द, मातृकाओं तथा अन्य भी कुल देवताओं की गन्ध, पुष्प, धूप एवं माला आदि के उपहारों तथा नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थों द्वारा अनेक विधि पूजा करके, ब्राह्मण को नमस्कार करके तथा उनसे आशीर्वाद लेकर तथा गुरुओं को अभिवादन करके पुनः लौटकर अपने घर में प्रवेश करें। घर में प्रविष्ट होने पर वैद्य उपरोक्त मंत्र के द्वारा उसकी अभ्यर्थना करे। तथा

आयुर्वेदज्ञों ने "अन्न प्राशन" एवं "फलप्राशन संस्कार" को बताते हुए कहा है कि-

षण्मासात् चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च।। (सु./शा./१०/४६)

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमातत्र प्रयोजयेत्।। (अ.हृ./उ./१ १२७)

चिरान्निषेवमाणोऽन्नं बालोनातुर्यमश्नुते।

भेजयया यथा चान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा ।। (अं.सं./उ./१/४३)

तस्मिन्नेव मासि विविधानां फलानां प्राशनं भिषगनुतिष्ठेत्। तद्धि दन्तजातस्यान्नप्राशनं दशमे वा मासि प्रशस्तेऽहनि प्रजापत्ये नक्षत्रेऽऽभ्यर्च्य देवतां ब्राह्मणांच्श्र समांसेनान्नेन दक्षिणावता स्वस्ति वाच्य गोमयोः पलिप्ते स्थण्डिले दर्भानास्तीर्य सुमनसोऽवकीर्य चतुर्षु स्थानेषु गन्धमाल्यालङ्कृतान् पूर्णकलशान् स्वस्तिकांच्श्र स्थाप्य क्रीडनंकविहितानि पूर्ववदुपकरणानि सर्वाण्येवोपकल्पय लावककपिंजलतित्तिरचरणायुधानामन्यतमस्य मांसेनान्यैच्श्र विचित्रसुसंस्कृत कामिकैर्व्यज्चनैः सभुदितमन्नपानं मध्ये निधाय ततो भिषक् सुतमलङ्कृतमहतवस्त्रप- रिहितमनुष्ठितरक्षाविधानं कुमारं प्राङ्मुखः प्रत्यङ् मुखमुपवेश्याग्निं प्रज्चाल्यान्नं सर्वव्यंजनोपेतं गृही त्वाऽनेन मन्त्रेणजुहुयात।

"यथा सुराणाममृतं नागेन्द्राणां यथा सुधा।

तथाऽन्नं प्राणिनां प्राणा अन्नं चाहुः प्रजापतिम्।

तदुम्दवस्त्रिवर्गच्श्र लोकाच्श्रैव यथा ह्यमी।

जुहोमि तस्मात्त्व्यन्नमग्नेऽमृतसुखोपगम्।।

प्रजापतिरनुमन्यतां स्वाहा।

हुतशेषस्याग्ङ्ष्ठमात्रं सुमृदितं कृत्वाऽऽलभ्य बालं ततोऽस्य मुखे दद्यात्रीणि पंच वा वारान्।

प्राश्योपस्पृशेच्चैनम्; उत्थाप्योर्ध्व द्वादशमासिकस्यान्नमभिलषतोऽल्पशच्श्रमानि दद्यादिति।। (का./खि./१२/१५-१८)

शास्त्रों में बच्चे को अन्न या फलरस सेवन कराने के लिए 'प्राशन' शब्द आया है अर्थात् बच्चे का प्राथमिक आहार तरल, लघु, मुलायम एवं सहज ही निगल सकने योग्य होना चाहिए।

प्रायः सभी आचार्यो सुश्रुत एवं बागभट्ट ने छठे माह में सुपाच्य, हितकारी अन्न सेवन कराने का विधान किया है। फिर धीरे-धीरे अन्न की मात्रा बढ़ाते जाय, और दूध की मात्रा कम करते जाय। बालक को अग्निबलानुसार देर से अन्न देने पर बालक रोगग्रस्त नहीं होता, परन्तु आचार्य कश्यप ने इस काल में फलप्राशन कहा है - 'छठे माह में बालक को विविध प्रकार के फलों का रस चटाना चाहिए। उसके बाद दन्तोत्पत्ति हो जाने पर दसवें माह में प्रजापत्य नक्षत्र के समय किसी शुभ दिन में देव तथा द्विज की अर्चना करके

मांसयुक्त अन्न की दक्षिणा सहित स्वस्तिवचन करके गोबर से लिपे हुए वेदी पर दर्भ डालकर तथा उस पर चमेली पुष्प बिखेर कर चारों ओर गन्धद्रव्य एवं मालाओं से अलंकृत किए हुए जलपूर्ण घड़े तथा स्वस्तिक आदि के चिन्हों को स्थापित करके तथा खिलौनों की विधि के समय बनाये सम्पूर्ण उपकरणों को पूर्ववत् तैयार करके लाव, गौरय्या, तीतर, कुक्कुट आदि में से किसी एक का मांस तथा अन्य भी नाना प्रकार के सुसंस्कृत तथा मन को प्रसन्न करने वाले व्यंजनों से सिद्ध किया हुआ अन्न पान मध्य में रखें। तद्नन्तर वैद्य को चाहिए कि वह पूर्व दिशा की ओर मुख करके आभूषणों से अलंकृत, नवीन वस्त्र पहने हुए तथा जिसका रक्षा विधान किया जा चुका हो, ऐसे बालक को पश्चिम दिशा में मुख करके बिठा दें। फिर अग्नि जलाकर उसमें सम्पूर्ण व्यंजनों की पूर्णाहुति उपरोक्त मंत्र से देवें।

आहुति देने से बचे हुए यज्ञशेष अन्न में से थोड़ा सा अन्न लेकर अच्छी प्रकार नरम करके बालक के मुख में ३ या ५ बार देवें।

बाल ग्रह के शास्त्रीय एवं चिकित्सकीय पक्ष को ध्यान में रखते हुए आयुर्वेदज्ञों (अ.स.उ. २/६८), (अ.ह.उ. ३/२८), (अ.रा.उ. ३/६०) (का.स.चि. ७) ने उनके शांति के लिए बड़े ही सुन्दर ढंग से विवेचना प्रस्तुत की है, जिनमें दैव्यपाश्रय चि. के अन्तर्गत मंत्र को विशिष्ट माना गया है। उन्हे निम्नलिखित ढंग से करना चाहिए।

बालग्रह विवेचन में बालकों को ग्रह बाधा निवारण के लिए सम्बन्धित देवताओं एवं ग्रहों का जप करना चाहिए।

आचार्यों ने बालकों में प्रवेश होने वाले इन ग्रहों को यद्यपि अदृष्ट माना है, परन्तु शास्त्र-पूत दृष्टि (विशिष्ट दृष्टि) से ग्रह देखे जाने का उल्लेख है।

आविशन्तश्च लक्ष्यन्ते केवलं शास्त्र चक्षुसा। (अ.सं.उ./३./३ ५)

शास्त्र चक्षुषैव लक्ष्यन्ते । न तु मांसगोलकेन। (इन्दु टीका)

सुश्रुत संहिता में प्रत्येक ग्रह का स्वरूप-आकृति का वर्णन किया गया है। यह वर्णन ग्रह द्वारा उत्पन्न लक्षणों के आधार पर प्रतीत होते हैं तथा चिकित्सा कर्म में बलि आदि की व्यवस्था में सहायक होते हैं।

बाल ग्रहों की पृथक-पृथक् आकृति का वर्णन–

वालग्रह

१. स्कन्द ग्रह – **तपसां तेजसां चैव यशसा वपुषां तथा।**
निधानं योऽव्ययो देवः स ते स्कन्दः प्रसीदतु।।
ग्रह सेनापतिर्देवो देवसेनापतिर्विभुः।
देवसेनारिपुहरः पातु त्वां भगवान गुहः।।
देवदेवस्य महतः पावकस्य च यः सुतः।

गंगोमाकृतिकानान्च स ते शर्म प्रयच्छतु।।
रक्तमाल्याम्बराः श्रीमान् रक्तचन्दनभूमिषतः।
रक्तदिव्यवपुर्दे वः पातु त्वां क्रौन्चसूदनः।।

(सु.सं.उ.२८./११-१४)

जो तपश्चर्या, दिव्य तेज, यश तथा स्वस्थ शरीर के निधान हैं, ऐसे अविनाशी स्कन्द देव तेरे लिए प्रसन्न हो जाय। ग्रहों के सेनापति, देवताओं के भी सेनापति हैं, सर्वत्र व्यापत रहने वाले देव सेना के शत्रु नाशक, भगवान गृह रक्षा करें। महादेव एवं अग्नि के पुत्र कहलाते हैं, गंगा, उमा, कृत्तिका के भी पुत्र हैं, वे तुझे शर्म (सुख) प्रदान करें। लाल माला वस्त्र को धारण किए, लाल चन्दन के लेप से सुशोभित, लालदिव्य शरीरधारी तथा क्रौन्च पर्वत का नाश करने वाले श्रीमन् स्कन्द तेरी रक्षा करें।

२. स्कन्दापस्मार - स्कन्दापस्मार संज्ञो यः स्कन्दस्य दयितः सखा।
विशाख संज्ञश्च शिशोः शिवोऽस्तु विकृताननः।।

(सु.सं.उ./२६ १ ११)

स्कन्ध का मित्र, विकृत आनन वाला एवं विशाख ऐसा नाम वाला, स्कन्दापस्मार ग्रह बच्चे के लिए शिव (शुभ) कारक हो।

३. नैगमेष - अजाननश्च लाक्षिभ्रूः कामरूपी महायशाः।
बालं बालपिता देवो नैगमेषोऽभिरक्षतु।।

(सु.सं.उ./३६/११)

बकरे के समान मुखवाला, नेत्र तथा भौंहें जिसकी चलायमान हो तथा स्वेच्छा से रूप धारण करने वाला महायशस्वी तथा शिशुओं के पिता नैगमेषयदेव बालक की रक्षा करें।

४.शकुनी ग्रह -आकाश में विचरने वाली, सर्व अलंकारों से विभूषित लौह समान वर्णयुक्त मुखवाली या अधो मुखवाली एवं तीक्ष्ण मुखी शकुनी देवी मेरे लिए प्रसन्न हों। भयंकर दर्शन वाली लम्बशरीर धारणी, पिंगल नेत्र युक्त एवं शंकुवत् लम्बे तीखे कर्ण वाली देवी तेरे लिए प्रसन्न हों।

अन्तरिक्षचरा देवी सर्वालंकार भूषिता।
अयोमुखी तीक्ष्णतुण्डा शकुनी ते प्रसीदतु।।
दुर्दशना महाकाया पिंग्ङाक्षी भैरव स्वरा।
लम्बोदरो शग्ङकपर्णी शकुनी ते प्रसीदतुः।।

(सु.सं.उ./३०./१२-१३)

५. रेवती ग्रह - नानावस्त्रधरा देवी चित्रमाल्यानुलेपना।
चलत्कुण्डलिनी श्यामा रेवती ते प्रसीदतु।।

(सु.सं.उ../३१./१०)

विविध प्रकार के वस्त्रों को धारण करने वाली, चित्र विचित्र माला एवं चन्दन धारण करने वाली, कानों में जिसके कुण्डल हिते हों, ऐसी श्यामवर्णा देवी तेरे लिए प्रसन्न हों।

लम्बा कराला विनता तथैव बहुपूत्रिका।
रेवती शुष्क नामा या सा ते देवी प्रसीदतु।।

(सु.सं.उ../३१./११)

जिसके लम्व, कराला, पिनला, बहु पुत्रिका, रेवती, शुष्क नामा यह अनेक नाम हैं, ऐसी देवी प्रसन्न हो जाय।

६.मुखमण्डिका ग्रह-अनेक आभूषणों से अलंकृत, सुखवती, ऐश्वर्यशालिनी, स्वेच्छा से अनेक रूप धारण करने वाली एवं सदा गोशाला में निवास करने वाली मुख मण्डिका देवी तेरी रक्षा करें।

अलङ्कृता रूपवती सुभगा कामरूपिणी।
गोष्ठमध्यालयरता पातु त्वां मुखमण्डिका।।

(सु.सं.उ../३५./१०)

७. पूतना - मलिनाऽम्बर संवीता मलिना रुक्ष मूर्द्धजा।
शून्यागारश्रिता देवी दारकं पातु पूतना।।
दुर्दशना सुदुर्गन्धा कराला मेघकालिका।
भिन्नागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना।। (सु.सं.उ../३२)

मलिनवस्त्र पहने हुए, मलिन शरीर वाली रुक्ष केशों से युक्त तथा शून्य मकान में रहने वाली पूतना, देवी बच्चे की रक्षा करें। खराब दर्शन वाली, दुर्गन्धयुक्त, विकराल स्वरूप वाली, बादलों के समान कृष्ण वर्ग की एवं फूटे मकान में रहने वाली पूतना देवी तेरे बच्चे की रक्षा करें।

८. अन्ध पूतना - कराला पिग्ङ्ला मुण्डा कषायाम्बरवासिनी।
देवी बालमिमं प्रीता संरक्षत्वन्ध पूतना।।

(सु.सं.उ../३३/१०)

कराल स्वरूपवाली, पिग्ङ्ला वर्ण की तथा सिर मुण्डित, कषाय वस्त्रों को पहिनी हुई अन्ध पूतना देवी प्रसन्न होकर इस बच्चे की रक्षा करें।

९. शीत पूतना - मुद्गौदनाशना देवी सुरोशोणित पायिनी।
जलाशयालया देवी पातु त्वां शीतपूतना।।

(सु.सं.उ../३४./९)

मूँग तथा चावल को खाने वाले, सुरा व रक्त का पान करने वाली तथा जलाशय के पास निवसनी शीत पूतना देवी तेरी रक्षा करें।

सामान्य चिकित्सा उपक्रम में अग्नि एवं कृत्तिका के लिए अग्नेय, स्वाद्य, कृत्तिकाभ्यः स्वाद्य, ऐसा मन्त्रोच्चारण करते हुए अग्नि में आहुति दें। ग्रहों के स्वामी स्कन्द देव को मेरा नमस्कार। हे देव मैं आपका नतमस्तक हूँ, मेरे द्वारा दी जाने वाली बलि स्वीकार करें तथा उक्त हवन एवं बलिदान के प्रभाव से शीघ्र ही मेरा शिशु वेदना एवं रोग रहित हो जाय। यह वर्णन सुश्रुत संहित उत्तर तंत्र में बड़े ही सुन्दर ढंग से विवेचित है।

गृहे पुराणहविषाऽभ्यज्यबालं शुचौ शुचिः।
सर्षपान् प्रकिरेत्तेषां तैलर्दीपंचकारयेत्।।
सदा सन्निहितच्श्रापि जुहुयाध्दव्यवाहनम्।
सर्वगन्थौषघ बीजैर्गन्धमाल्यै रलङ्कृतम्।।
अग्नये कृत्तिकाभ्यच्श्र स्वाहा स्वहितिमन्त्रतम्।
नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः।।
शिरसा त्वाऽभिवन्देऽहं प्रतिगृह्णीष्व में बलिम्।
नीरुजो निर्विकारश्र शिशु में जायतां द्रुतम्।।

(सु.सं.उ../२७./१८-२१)

मुखमण्डिका ग्रह चिकित्सा में बलि स्नान का श्रेष्ठ महत्त्व है, जिसमें वर्णक, चूर्णक, माला अन्जन, पारा एवं मैनशिल इनको एक दोनों में रखकर गौशाला के बीच में बलि दें, इसके अतिरिक्त पायस और पुरोडास की भी बलि दें। गायत्री मंत्रों से अभिमंत्रित जल से गौशाला में स्नान कराए। रक्षा मंत्र का पाठ करें, जो निम्नलिखित है।

वर्णकं चूर्ण माल्यमन्जनं पारदं तथा।
मनः शिलांचपहरेद्गोष्ठमध्येबलिं तथा।
पायसं सुरोडाशं बल्यर्थमुपसंहरेत्।
मन्त्रपूताभिरभ्दिश्च तत्रैव स्नापनं हितम्।।

(सु.सं.उ../३५./८-९)

शुष्करेवती ग्रह चिकित्सा प्रकरण में आचार्य बाग्भट्ट ने (अ.सं.उ ६./५४) में बलि स्नान मंत्र का विधान है। माष, माघ, शुष्कमांस से शुष्क वृक्ष के नीचे बलि दें, वहीं पर स्नान कराए, रेवती ग्रह में कहा गया मंत्र पाठ करें।

कुल्माबैर्मद्यने शुष्कमांसेन च शुष्क वृक्षेबलिः। तत्रैव च स्नानम्। मन्त्रश्च।

अचेष्ट बालक के चिकित्सा में प्रयुक्त मंत्र

आचार्य वागभट्ट ने कहा है कि तू अंग-अंग से उत्पन्न हुआ, हृदय से उत्पन्न हुआ है, आत्मा का ही नाम पुत्र है। तू सौ वर्ष लिए, शतायु शत वर्षों का हो, अथात् तेरी आयु

का एक-एक वर्ष सौ वर्षों का हो या तू १०० x १०० = १००० वर्ष जीवे। तू दीर्घायु प्राप्त करे। नक्षत्र, दिशाये, रात्रि एवं दिन तेरी रक्षा करें।

अग्ङादग्ङात् सम्भवसि से हृदयादभिजायते।
आत्मा वै पुत्रनामसि स जीव शरदां शतम्।
शतायुः शतवर्षोऽसि दीर्घमायुखादनुहि।
नक्षत्राणि दिशो रात्रिहरच्श्र त्वाभिरक्षतु।

(अ.स.उ../१./४ एवं अ.ह.उ. १./३, ४)

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांग संग्रह के अन्तरक्षाविधि नामक अध्याय में कहा है कि -

नाप्रोक्षितं नाविदितं भिषजा नानवेक्षितम्।
नाप्राशितं च सूदाद्यैः किन्चिदाहारयेन्नृपम्।।

(अ.सं.सू. ८/१०)

अर्थात्-राजा को चाहिए कि "प्रोक्षण मंत्रों" से बिना प्रेक्षण किए, वैद्य को बिना बताये, वैद्य को बिना दिखाये और पाचक आदि के बिना खिलाये कुछ भी नहीं खाना चाहिए।

आगे फिर आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांग संग्रह के अन्न रक्षाविधि अध्याय में "अंजन धारण" मंत्र को बताया है, जो इस तरह से है -

नमच्श्रक्षुः परिशोधनराजाय तथागतायाहैते सम्यक्संबुद्धाय।
तद्यथा–ॐ चक्षुः प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विज्ञान चक्षुर्विशोधम् स्वाहा।।

(अ.सं.सं ८/१०)

अर्थात् आँखों के परिशोधन राजा के लिए नमस्कार, भली प्रकार समान बुद्धिवाले तथागत भगवान बुद्ध के लिए यथा आँख, प्रज्ञाचक्षु, ज्ञानचक्षु, विज्ञानचक्षु, को शोधन करो -स्वाहा। यहाँ पर बाग्भट्ट सम्भवतः बौद्ध धर्मानुयायी लगते हैं। इसलिए यह नमस्कार है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारानुसार अपने ईष्टदेव से आँखों के लिए मंगलकामना करते हुए अंजन करें।

साहित्यिक सुभाषित वैद्यकम् में अष्टम् अध्याय स्नान प्रकरण में स्नान के सात भेदों का वर्णन करते हुए मंत्र स्नान को महत्ता या प्रमुखता दी गयी है। इसमें आपोहिष्ठादि (वेद मंत्रों से) अंगों पर जल लेकर छींटा लगा लेने से मंत्र स्नान पूर्ण होता है।

इसके अतिरिक्त मनवांछित सन्तान प्राप्ति के लिए समागम के समय विभिन्न प्रकार के मंत्रों का भी उल्लेख मिलता है, जिससे उत्तम एवं इच्छित सन्तान की प्राप्ति होती है। इसी तरह भोजन विधि में भी भोजन मंत्रों का विधान बताया गया है।

गर्भ प्रसव मंत्र

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांग संग्रह में बताया है कि –

अन्या तु बामकणऽस्या मंत्रमिमं जपेत्।

क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णु प्रजापतिः।

सगर्भा त्वां सदा पातु वैशल्यं वा दधात्वपि।

प्रसूष्व त्वमविल्किष्टमविल्किष्टा शुभानने।

कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम्।

इति।

तथा – इहामृतं च सोमश्च चित्रमानुश्च भामिनि।

उच्चैश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते।।

इदममृतमपां समुद्धववै।

तव लघु गर्भमिमं प्रमुच्वतु स्त्रि।

तदनलपवनार्कवासवास्ते।

सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्।।

इति।।

दूसरी स्त्री इस गर्भवती के बायें कान में निम्न मंत्र का जप करे। पृथ्वी, जल, आकाश, तेज, वायु (ये पांचों महाभूत), विष्णु और प्रजापति परमात्मा-तुझ सगर्भा स्त्री की सदा रक्षा करें-तुझे विशल्या (शल्यरहित-गर्भ को बाहर करके) बनायें। हे सुमुखि ! तू विनाकाष्ट के कार्तिकेय के समान कान्तिवाले, केशरहित एवं कार्तिकेय के रक्षित पुत्र को उत्पन्न कर। इसी तरह से अमृत, सोम (चन्द्रमा), चित्र भानु-भामिनी और उच्चैःश्रवा नामी अश्व तेरे मंदिर में सदा रहें (सदा तेरी रक्षा करें)। हे स्त्री, यह लाया हुआ जल रूपी अमृत- तेरे इस छोटे से गर्भ को बाहर निकाल देवें। अग्नि-वायु सूर्य और इन्द्र समुद्र के साथ तुझे शांति प्रदान करे।

च्यवन मंत्र से शुद्ध जल को अभिमंत्रित करके गर्भवती को पिलाना चाहिए। इसी प्रकार कुछ मंत्रों को कांसी या चांदी की थाली में लिखकर भी प्रसव के समय गर्भवती को दिखाने का विधान है।

गर्भाधान के समय पढ़ा जाने वाला मंत्र

आचार्य चरकानुसार -अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठाऽसि धातात्वा दधातु विधाता ब्रह्मवर्चसा भव इति। (शा. ८.७)

हे गर्भ तुम सूर्य के समान हो, तुम मेरी आयु हो तुम सव प्रकार से मेरी प्रतिष्ठा हो, धाता तुम्हारी रक्षा करें विधाता तुम्हारी रक्षा करें, तुम ब्रह्म से युक्त बनो।

ब्रह्मावृहस्पति विष्णुः सोमः सूर्यस्तथा अश्विनौ
भगोऽथ मित्रा वरूणौ वीर ददतु मे सुतम् (च.शा. ८.८)

ब्रह्मा बृहस्पति, विष्णु सोम, सूर्य अश्विनी कुमार और मित्रा वरुण जो दिव्य शक्ति रूप हैं, वे मुझे वीर पुत्र प्रदान करें।

उपरोक्त दोनों मंत्रों 'अहिरसि' तथा 'ब्रह्मावृस्पति' दो मंत्र पढ़कर सहवास करने का निर्देश है।

पंचकर्म चिकित्सा आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान की अपूर्व विद्या है इसके सम्पादन के समय भी विभिन्न स्थलों पर मंत्रों के उच्चारण का निर्देश है। यथा

वमन कर्म के समय मंत्रघोष का विधान

ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरूद्रेंद्र भू चंद्रार्कानिलानलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूत संधाश्च पोतु ते।।
रसायनभिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोन्तमनागानां भैषज्यमिदस्तुते।। (च.क. १ : १४)

वाग्भट्ट ने इसमें कुछ अंतर के साथ निम्नानुसार लिखा है।

ॐ नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैदूर्यप्रभराजाय
तथा गताडर्हते सम्यग सुदाय तद्यथा।
ॐ भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्रगते स्वाहा।।

मंत्र का अर्थ यह है–ब्रह्मदेव, दक्ष, अश्विनीकुमार, रूद्र, इंद्र, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, ऋषि औषधियों के समूह और भूत समूह, तुम्हारी रक्षा करें। ऋषियों के लिये जैसे रसायन, देवों के लिये जैसे अमृत, नागों के लिये जैसे सुधा उत्तम है, वैसे ही यह औषधि तुम्हारे लिये प्रशस्त हो जाये।

भैषज्य के गुरु वैदूर्य के समान प्रभा वाले भगवान के लिये तथा आये हुये अर्हत के लिये जो ज्ञानवान है (अथवा भगवान बुद्ध को) ॐ नमस्कार है। भैषज्ये महाभैषज्ये अच्छी प्रकार से वनी हुयी औषधि के लिये स्वाहा है।

औषधियां ग्रहण करते समय भी मंत्रों का विधान है।

औषधि ग्रहण विधि :–

गृछणीयात्तानि सुमनाः शुचिः प्रातः सुवासउे । ५६। शा.
आदित्यसंमुखो मौनी नमस्कृत्य सिवं हृदि।

साधारणधराद्रव्यं गृह्णीयादुत्तराश्रितम्। ५७ । शा.

त्वमुन्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः।

उपरितरस्तु सोऽस्माकं यो अस्मानभिदासति । ऋग्वेद २३

हे औषधितु उत्तम हो, अन्य वृक्ष तुमसे छोटे हैं ? इसीलिए जो हमें कष्ट देते हैं, हमारी हिंसा करते हैं, वे नीचे गिरते हैं।

औषधीरित मातरस्तद्वो देवीरूपब्रवे।

सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पुरुष ।। ऋग्वेद-४

हे औषधियों ! आप तो हमारी माता हैं, इसलिये आप देवियों के सामने मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि आपके लिये आपको प्राप्त करने के लिए मैं अपने प्राण व आत्मा का भी समर्पण करता हूँ।

आचार्य वाग्भट्ट ने बालोपचारीयम् अध्याय में बालग्रहप्रतिषेध हेतु निम्न मंत्र का उल्लेख किया है।

"बध्नाम्यहं प्रतिसरां नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे ।
बालानां रक्षणार्थाय शिवां पूर्वर्षिनिर्मिताम् ।।
इन्द्रोऽनुमन्यतां तुभ्यं ये च तस्यानुचारिणः ।
वज्राशनिधराभूता मेघवृन्दानुसारिणः ।।
ऐरावणस्कन्धगतं येऽनुयान्ति पुरन्दरम् ।
यमो वैवस्वतो राजा ये च तस्यानुचारिणः ।।
मेषसूकरसिंहोष्ट्रखरवाजिसमाननाः।
काला कालायसैः पाशैः स्तब्धाक्षा भ्रुकुटीमुखाः ।।
शक्तिमुद्गरहस्ताश्च खड्गपासधराश्च ये ।
पाशभृद्वरूणो राजा तोयभूः सागरालयः ।।
शारदभ्रघनाकारा ये च तस्यानुचारिणः ।
महोर्मिमन्तं वेगेन क्षोभयन्ति सरित्पतिम् ।।
धनाधिपो वैश्रवणः सर्वयक्षाधिपो विभुः ।
नानाकारश्च ये भूतास्तस्यैवानुचराः सदा ।।
आदित्या वसवो रूद्रा मरूतश्वाश्विनावपि ।
एते सर्वेऽनुमन्यन्तामिमां प्रतिसरक्रियाम् ।।
दीर्घमायुररोगं च तव दास्यन्ति स्वस्ति ते ।
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति नारदपर्वतौ ।।

स्वस्ति वेदाश्च यज्ञाश्च अग्नीषोमौ च स्वस्ति ते ।
स्वस्ति ते श्रीर्धृतिः कीर्तिर्लक्ष्मीमेधा क्षमा द्युति ।।
स्वस्ति तुष्टिश्च पुष्टिश्च वपुह्री बुद्धिरेव च ।
स्वस्ति रूद्रो विशाखश्च स्कन्दः शक्तिधरश्च ते ।।
स्वस्ति धाता विधाता च सुपर्णश्च महाबलः ।
स्वस्ति देवाश्च यक्षाश्च मा च ते पापमागमात् ।।
दुर्व्याहतानि दुस्वप्नं मनसाचिन्तितानि च ।
दुष्टादीनां भयकृतो बाचः प्रतिहता मया ।।
रक्षा प्रतिसरा तुभ्यं बद्धेयं पापघातिनी ।
निर्वृतस्त्वं निरूद्वेगो जीव वर्षशतं सुखी" ।।

मंत्र-ब्रह्मा को नमस्कार करके, पूर्व ऋषियों से वनाई, कल्याणकारी प्रतिसरा को बालकों की रक्षा के लिये मैं बांधता हूँ। इन्द्र और जो इन्द्र के पीछे चलने वाले हैं, वे सब तेरा अनुमोदन करें मंगल करें। वज्र, विद्युत को धारण करने वाले, मेघ समूह के साथ जाने वाले, ऐरावत पर चढ़े इन्द्र के पीछे जो चलते हैं, वे सब तेरा मंगल करें। विवस्वान का पुत्र यमराजा और उसके पीछे चलने वाले - मेघ, सूकर, सिंह, ऊँट, घोड़े के समान मुख वाले, काले, लोहे के पाश वाले, स्तब्ध (अनिमेष दृष्टि) आँखों वाले, भौंहों को ताने हुए, हाथों में शक्ति और मुद्गर, तलवार, पाश पकड़े हुए अनुचर तेरे लिये मंगलाकारी हों, पाशों को रखने वाला वरुण राजा है, पानी का स्वामी, समुद्र इसका घर है, शरद ऋतु के बादलों के समान बड़े शरीर वाले उसके अनुचर हैं, वे बड़ी भारी तरंग के वेग से समुद्र को शोभित करते हैं, धन का स्वामी कुबेर है, यह सब यक्षों का अधिपति और अति वैभव सम्पन्न है। नाना आकार वाले जो भूत हैं, वे इसी के अनुचर हैं।

आदित्य, वसु, रूद्र मरूत, अश्विनी भी इस प्रतिसरा क्रिया का अनुमोदन करें। ये तुझे दीर्घायु, आरोग्य, देंगे, कल्याण हो। ब्रह्मा, नारद, पर्वत, वेद, यक्ष, अग्नि, सोम, ये सब तेरे लिये कल्याणकारी हो। श्री, धृति, कीर्ति, लक्ष्मी, मेघा, क्षमा, द्युति, तुष्टि, पुष्टि, वपु, ह्री और बुद्धि ये सब तेरे लिए मंगलकारी बने। रूद्र, विशाखा, शक्तिकरण करने वाला स्कन्द, धाता, विधाता, अतिबलवान गरूड़ तेरे लिये शुभ हो। देवता और यक्ष तेरे लिए पाप-कष्टदायक न बने। हे शिशु ! तेरे बुरे कहे वाक्य, बुरे स्वप्न, मन से सोची बुरी बातें, दुष्टों से की भय उत्पादक वाणी मैंने रोक दी हैं। पापों को नाश करने वाली, यह प्रतिसरा रक्षा रूप से मुझे बांध दी है, अब तू सबसे निवृत हो गया, शान्त चित्त से, सुखपूर्वक एक सौ वर्ष तक जीवित रह।

२. इसी प्रकार बलि स्वीकृति हेतु निम्न मंत्र का प्रावधान किया गया है -

"ग्रहाणां सन्निधानाय बलेश्च प्रतिपत्तये ।
सत्यसाधनसंयुक्तमिमं मंत्र पठेदनु ।।
प्रजापती च यत् सत्यं यत् सत्यममरेश्वरे।
धर्मराजे च यत् सत्यं यच्च सत्यं तपस्विषु ।।
धनाधिपे व यत् सत्यं यच्च जलाधिपे ।
यत् सत्यमग्निहोत्रेषु सत्यं यच्छोत्रियेषु च ।।
पतिव्रतासु यत्सत्यमीश्वरे व महात्मानि ।
एतैस्तु सत्यसमयैगुह्यकाः सत्यवादिनः ।।
दर्शयध्वं स्वरूपाणि सत्यं रक्षत सर्वशः ।
आमन्त्रिता मया सौम्याः सौम्यरूपाः प्रतीछत ।।
बलिं लोपहसं सर्व सर्वे कौमारका ग्रहाः।
दर्शयध्वं स्वरूपाणि बलिश्च प्रतिगृह्यताम्" ।।

ग्रहों के समीप पहुँचने के लिए, बलि की स्वीकृति के लिए, सत्य साधन से युक्त होकर इस मंत्र को पीछे से पढ़ें। प्रजापति में जो सत्य है, इन्द्र में जो सत्य है, यम में जो सत्य है, तपस्वियों में जो सत्य है, धन के राजा (कुबेर) में, जल के राजा (वरूण) में जो सत्य है, अग्निहोत्र में जो सत्य है, श्रोत्रियों में जो सत्य (श्रोत्रिय-वेदपाठी), पतिव्रताओं में जो सत्य है, महात्मा-ईश्वर में जो सत्य है, इनके सत्य के समान सत्यवादि गुह्यक (भूत विशेष), अपने रूपों का दिखाकर पूर्णतः सत्य की रक्षा करें। मैंने सौम्य रूप वाले सब सौम्य ग्रहों को आमंत्रित किया है, मेरे से दी हुई सब बलि को ग्रहण करें। कुमार सम्बन्धी सब ग्रह अपना रूप दिया कर मेरे से दी बलि को स्वीकार करें।

३. एक अन्य मंत्र का विवरण जहाँ पर सब ग्रहों से छुटकारा दिलाने का उल्लेख किया गया है –

"अग्निदण्डं प्रवक्ष्यामि सर्वग्रहविमोक्षणम् ।
ब्रह्मण्यन्त्च नलं देवं हव्यकव्यप्रतीकच्छकम् ।।
वेदानां प्राङ्ग्मुखं स्वस्ति स्वाहापहरतिद्रुतम् ।
सहस्रविद्यो दहनः पावकः सर्वभक्षणः ।।
त्वं हि यज्ञश्च यूपश्च त्वं हि धर्मवतां गतिः ।
हिरण्यरेता देवस्त्वं हि वेदाविदा गतिः ।।
दुर्वृतानां विनायशाय त्वं समुत्पादितः सुरैः ।
दहसङ्ग्हदेवत्वमिदं दुष्टस्य निग्रहम ।।

अग्नये स्वाहा। महाग्नये स्वाहा। त्वं हि शान्तिकारी वहिरत्वं मारूतहरोदनः। हरिप्रधानगतिरासीदिमं निगृह्य गुहाकमुत्साहदय तेजसा त्व मम वश्यं च तं कुरू दुष्टग्रहनिवारणं सर्वोपद्रवेष च।।

त्वया कृतेन होमन शीघ्रं शान्तिः प्रजायते।

आयाहि वह्ने देवानां त्वं हि वक्त्र पुरातनम्।।

तेन सत्येन देवेश इमं साथय में ग्रहम।।

नमोऽस्तुते हव्यवाहन दण्डं प्रदर्शय दह दह दर्श दर्श तेज तेज मोटय मोटय अपस्मारमृद्घाटय कुमार पिशाच-रेवतीरोदनत्रासन वित्रासन कम्पन उत्कम्पन्न विजृभणदेवयक्ष-गन्धर्वभूतनागराक्षससन्तर्जनदण्डनाविधूसार यभगवन्नग्निदण्ड अग्निवीर्य नमस्तेजसास्वेनत्यक्तमुत्यादय स्वाहा। भूभुर्वस्स्वस्स्वाहा। दीप्ततेजसे स्वाहा हव्यवाहनाय स्वाहा। यमाम स्वाहा।।

नस्यन्त्यनने होमेन समस्या बालकग्रहाः।"

सब ग्रहों से छुटाने वाला अग्निदण्ड कहता हूँ - हव्य (देवताओं की आहूति), काव्य (पितरों के लिए दी आहूति) को ग्रहण करने वाले अग्निदेवता, ब्रह्मा, देवताओं में प्रमुख, स्वस्ति करने वाला, स्वाहा-आहुति को शीघ्र लेता है, सहस्र विद्या, जलाने वाली, पवित्र करने वाली, सबको खाने वाली है। तू ही यज्ञ है, धूप है, धर्म जानने वालों की तू ही गति है, हिरण्यरेत देव तू है, वेद को जानने वाला की तू ही गति है। बुरे कर्मों के नाश के लिए देवताओं ने तुझे उत्पन्न किया, दुष्टों को वश में करने वाला देह रूप में यह देवता है।

अग्नि के लिए स्वाहा, महाअग्नि के लिए स्वाहा है, वन्हि तू ही शांति करने वाली है, विष्णु ही मुख्य गति है, इस गुहाक को पकड़कर अपने तेज से इसे नष्ट कर दे, उसको मेरे वश में कर, यह मंत्र दुष्ट ग्रहों की शांति तथा सब उपद्रवों में वरतना चाहिए।

तेरे से किए हुए होम से शीघ्र शांति होती है, हे वहि, तुम आओ, देवताओं का सनातन मुख तुम ही हो, हे देवेश ! इस सत्य से इस ग्रह को सिद्ध करो, शान्त करो।

हे हव्यवाहन वग्हिः ! तुझको नमस्कार है, दण्ड (शक्ति) दिखाओ, जलाओ, जलाओ, अपना तेज दिखाओ, अपस्मार, कुमार (स्कन्दग्रह), पिशाच, रेवती ग्रहों का नाश करो, हे भगवन् ! बच्चे के रोने को, डरने को, कम्पन को, विशेष कम्पकपी को, जम्भाई को, देवता-यक्ष-गन्धर्व-भूत-नाग-राक्षस इनके सन्तर्जन, दण्ड को दूर करो, अग्नि दण्ड ! अग्निवीर्य तुझे नमस्कार है, अपने तेज से इनका नाश कर ! भू (प्राणः), भुवः (दुःख विनाशक) स्वः (सुख रूप) के लिए आहूति दे। दीप्त तेज के लिए स्वाहा, हव्यको के जाने वाले के लिए स्वाहा, यम के लिए स्वाहा। इस होम से सब बालग्रह नष्ट हो जाते हैं।

४. इसी ग्रंथ के उत्तर मंत्र के पांचवे अध्याय 'स्तनपान' प्रकरण में कलश मंत्रों का उल्लेख है यथा-

"अमृतात् पूर्वमुत्पन्नमिमं ते कलशं शुभम्।
ददातु भगवानिन्द्री विजयं नामनामतः।।
रक्तपीताम्बरधरैभूतैर्बहुभिरन्वितः।
राक्षसोरगगन्धर्वपिशाचेश्चानुसेवितः।।
वज्रघण्टाशनिधरैमेवैश्च विविधस्वनैः।
देवसग्डैः परिवृतो ग्रजेन्द्रस्कन्धसंश्रितः।।
एभिः सार्ध महानिन्द्रः स्नपनं तेऽनुमन्यताम्।
पूर्वद्वारे स्थितं दिव्यं वज्रमिन्द्राज्ञया शुभम्।।
सव सर्वाणि पापानि नितन्ता चापराजितः।"

इन्द्राय नमः स्वाहा। इन्द्राय्यै नमः स्वाहा। अपराजिताय स्वाहा। मेधाधिपतये स्वाहा। धेवाधिपतये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा।।

इस समय मंत्र बोले - मंत्र - यह मंगलकारी कलश पहले अमृत से उत्पन्न हुआ, भगवान इन्द्र विजय नाम का घड़ा देवें। लाल -पीले वस्त्रों के पहिने बहुत से भूतों से घिरा, राक्षस, गन्धर्व, उरग, पिशाच आदि से सेवितः, वज्र, घण्टा, विद्युत धारण करने वाले, नाना प्रकार की गर्जन वाले मेघों से घिराः, देवताओं से परिवृत्त, ऐरावृत्त पर चढ़ा इन्द्र इन सबके साथ तुम्हारे स्नान का समर्थन करे। पूर्व दिशा में इन्द्र की आज्ञा से शुभ, दिव्य वज्र स्थापित किया है, तेरे सब पापों को नष्ट करने वाला, कभी भी अपराजित नहीं होने वाला है। इन्द्र के लिए नमस्कार स्वाहा। इन्द्राणि को नमस्कार, स्वाहा। अपराजिता (विद्या) के लिए स्वाहा। मेघों के अधिपति के लिए स्वाहा, देवताओं के अधिपति के लिए स्वाहा, शतक्रत के लिये स्वाहा।

उपरोक्त वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है कि आयुर्वेद वाङ्मय में मंत्रों का विशिष्ट स्थान रहा है, आयुर्वेद एक चिकित्सा विज्ञान है जिसमें रोगों का निदान एवं चिकित्सा का वर्णन बताया गया है, जिसमें (सन्दर्भों पर) यथास्थान रोगों की चिकित्सा हेतु मंत्रों द्वारा चिकित्सा बताई गई है।

आयुर्वेद के बाल रोगों में – बालकों को रोगरहित करने के लिए ग्रह बाधा दूर करने हेतु मंत्रों का उल्लेख मिला इतना ही नहीं स्त्रियों में गर्भधारण, गर्भरक्षा, सुखकर प्रसव में भी मंत्र चिकित्सा बताई गयी है तथा स्नान, मैथुन, विष चिकित्सा एवं विभिन्न प्रकार के सर्प, बिच्छू तथा कीटों की चिकित्सा, साथ ही साथ शंका विष एवं नेत्र अंजन मंत्रों बालकों के विभिन्न संस्कारों (कर्मों) में मंत्र चिकित्सा का यथा स्थान वर्णन मिलता है। अतः आयुर्वेद वाङ्मय में मंत्र चिकित्सा का प्रमुख स्थान रहा है। उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है।

संख्या शब्द तन्त्र

जिस तरह मनुष्यों के सामान्य जीवन में टोने टोटकों का समावेश है। ठीक उसी तरह जन्तर अर्थात मंत्र का भी प्रयोग है व विशेष महत्त्व है। ये यन्त्र गणितीय अंकों के आधार पर अथवा शब्दों के आधार पर अथवा दोनों ही आधार पर बनाये जाते हैं।

यन्त्र-तन्त्र शास्त्र का ही एक अभिन्न अंग है। इसका प्रभाव मंत्रों के प्रभाव से किसी भी मायने में कम नहीं पड़ता। मंत्रों की रचना एक शास्त्रीय विधि से की जाती है तो यंत्र की रचना में इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। यन्त्र दो प्रकार के होते हैं –

(१) कल्याण कारक यन्त्र।

(२) हानिकारक यन्त्र।

हानिकारक यन्त्रों का प्रयोग सदा ही दूसरों को हानि पहुंचाने के लिए किया जाता है। कल्याण कारक यन्त्र सदा ही अपने कष्टों के निवरणार्थ अथवा अपने कष्ट को अन्यत्र या किसी के ऊपर अथवा किसी के घर भेजने के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ किसी रोगी व्यक्ति के कष्ट को दूर करने के लिए ओझा गुनी स्नान कर अपने इष्टदेव को याद कर पीपल के पत्ते पर सिन्दूर से चित्र में दिए यन्त्र को लिखकर रोगी को पहनाता है तो रोगी रोग मुक्त हो जाता है। इस यन्त्र में छिपे रहस्य स्पष्ट तो नहीं हैं परन्तु यह यन्त्र त्रितत्वों की समता का प्रार्थना का सूचक है।

ॐ

३	३	३
३	३	३
३	३	३

ॐ ॐ

ॐ
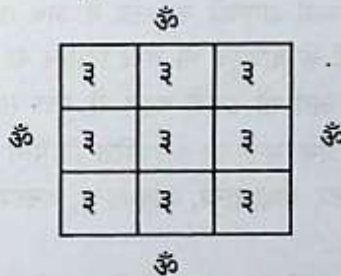
शब्दस्तोममहानिधि

तन्त्र-न-तन ष्ट्रन। सिद्धान्ते ओषधौ कुटुम्बकार्ये, प्रधाने, तन्तुवाये, परिच्छदे, हेतौ, उभयार्थ संकृत, प्रवृतौ, इति कर्तव्यतायाम् राष्ट्रे, परछन्दे, करणे, अर्थसाधके, तन्त्रौ स्वराष्ट्र चिन्तायाम्, परिजने, तन्तुवायशलाकायाम् प्रबन्धे। शपथे धने गृहे, वपन साधने, कुले, वेदशाखाभेदे, वेदादिशास्त्रे, स्वनामख्याते शिवाद्युक्ते शास्त्रे च। इस प्रकार शब्द-स्तोम महानिधि में तन्त्र का वर्णन मिलता है।। तन्त्र शब्द एक व्यापक एवं बहुमुखी अर्थ वाला है। इसका मूलाधार मंत्र है। अतः जो तत्व और मंत्र के विशद अर्थ को विस्तार और त्राण करता है, उसे तन्त्र कहते हैं। तन्त्र शास्त्र मंत्र शास्त्र का उपजीव्य है। फिर इसमें अपना

एक विस्तृत साहित्य है। तन्त्र में 'तन' 'त्र' दो शब्द सम्मिलित हैं। तन् का शाब्दिक अर्थ विस्तार से है तथा त्र का अर्थ त्राण अर्थात् रक्षा से है।

ज्ञान विज्ञान की ही तरह तन्त्र विज्ञान भी सीमा से मुक्त है। इसकी कोई सीमा नहीं। अब हमें यह समझ लेना चाहिए कि तन्त्र और तन्त्र शास्त्र में क्या अन्तर है।

हलायुध

तन्त्र-क्लीं (तनोति तन्यते इति वा, तन कर्मादी यथा यथंष्ट्रन। तत्रि कुटुम्ब कृत्यं, कुल प्रतिष्ठादिक स्थितिः। "सर्वानुपायानथसम्प्रधान समुद्धरेत् स्वरूप कुलस्य तन्त्रम्।" इति महाभारते। (१३१४८/६)

कुलं शास्त्र अबैरज्ञमतन्त्रज्ञं बालचेष्टासमन्वितम्-इति देवी भागवते (२-११-१६)।

इस तन्त्र वासन जालम्-इति नीलकण्ठः। (८७०)

तन्त्र-मंत्र और यन्त्र के द्वारा कार्य करने की विधि को तन्त्र कहते हैं।

तन्त्र शास्त्र - तन्त्र के प्रयोग विधि बताने वाले उपाय को तन्त्र शास्त्र कहा जाता है।

तन्त्र एवं तान्त्रिक शब्द कुछ-कुछ इस प्रकार का विचित्र शब्द है। जिसका नाम सुनते ही सामान्यतया व्यक्ति उससे विचलित व कुछ भयभीत सा हो जाता है। तो कुछ व्यक्ति इससे आश्वस्त भी होते देखे जाते हैं। तन्त्र विज्ञान प्रायः गुप्त रखने वाला विज्ञान बनकर रह गया है। हाँलाकि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में अब तक कतिपय आधुनिक विद्वानों एवं अन्वेषकों के शोध कार्यों के बावजूद भी तन्त्र विज्ञान का विषद साहित्य जहाँ तहाँ गुप्त स्थिति में बिखरा पड़ा है। अब तो इसके बहुत से गुप्त साहित्य भी प्रकट हुए हैं।

तन्त्र विज्ञान के कई एक मतों पर आधारित विभिन्न मतावलम्बियों ने रचना किया है। उदाहरण के लिए शैवतन्त्र, बौद्ध तन्त्र, शाक्यतन्त्र, वनस्पति तन्त्र, वैष्णवतन्त्र, साणपत्य तन्त्र, मुस्लिम तन्त्र आदि।

वैसे तन्त्र के मुख्यतया दो विचाराधाराएँ हैं -

१. वाम मार्ग

इसमें शव-साधना, विद्वेषण, मारण उच्चाटन आदि इस तरह के टोने टोटके, जादू मंत्र का प्रयोग है। जो कि मानवीय दृष्टिकोण से उचित प्रतीत नहीं होता।

२. दक्षिण मार्ग

इसमें आराधना पक्ष प्रशस्त होने के कारण सभी प्रकार के कल्याण कारक व निश्चित फल को देने वाला होता है।

प्रारम्भ में ऋषियों व महर्षियों ने तंत्र विज्ञान की रचना कर लोकहितार्थ, जगत् हिताय

अनेकों तान्त्रिक प्रयोगों को समस्याओं, कष्टों एवं आपदाओं के निवारण के लिये किया था। परन्तु तन्त्र विज्ञान की सफलता से मोहित होकर प्रतिशोध की भावना से अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए चन्द लोगों ने तन्त्र विज्ञान का स्वरूप ही बदल देने, वीभत्स कर देने तथा उसका मार्ग ही बदल देने का प्रयत्न किया। जिसके परिणामस्वरूप मारण उच्चाटन, वशीकरण, मोहन आदि तन्त्रों का निर्माण किया और अब तो प्रायः तन्त्र विद्या का प्रयोग राजनैतिक अथवा तामसिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। अतः इस प्रकार के उद्देश्यों के अनुसार तन्त्र विद्या का प्रयोग दस प्रकार से होते हैं –

(१) शान्ति। (२) स्तम्भन। (३) सम्मोहन। (४) उच्चाटन। (५) वशीकरण। (६) आकर्षण। (७) जृभण। (८) विद्वेषण। (९) मारण और पौष्टिक।

यंत्र विद्या भी मंत्र साधना का ही एक अंग है। इस मंत्र विद्या को उपजीव्य कहते हैं। यंत्र की रचना अंकों, रेखाओं, बीजाक्षरों तथा बिन्दुओं द्वारा किया जाता है। तंत्र आराधना का मार्ग है, तो यंत्र उसका प्रभावशाली माध्यम है, जो मंत्रों द्वारा अभिमन्त्रित करके आवश्यक फल की प्राप्ति तान्त्रिक लोग करते हैं। यंत्र का शाब्दिक अर्थ है–सयमति करना, केन्द्रित करना। यंत्र के धारण करने अथवा यंत्र का पूजन व दर्शन करने से यंत्र के अंदर स्थापित इष्टदेव या यंत्र में स्थित मंत्र के इष्टदेव के मंत्र साधक का समन्वय स्थापित हो जाता है। साधक का मन एकाग्र करने से साधक को सफलता प्राप्त होती है।

मंत्र यंत्र में एक बहुत बड़ा भेद है। वह है कि मंत्र साधना मौखिक अर्थात मानसिक होता है। मंत्र सदा ही निरापद व कल्याणकारी होते हैं। जबकि यंत्र रचना में रंचमात्र भी त्रुटि रह जाने पर निष्क्रिय तो बनता ही है। साथ ही विपरीत फल देकर साधक को हानि भी पहुंचा सकता है। यंत्र साकार ब्रह्मा की तरह साध्य व पूज्य है, तो मंत्र निराकार ब्रह्म की तरह पूज्य व साध्य है।

यंत्र की रचना करते समय शुद्ध मन व श्रद्धा भाव से रेखाओं को खींचना चाहिए। क्योंकि ये रेखायें ही अन्तःकरण की गुप्त शक्ति को आन्दोलित व स्पन्दित कर उदबुद्ध करती हैं, जिससे मन और चित्र के संयोग से आसक्ति तथा अहंकार व बुद्धि के संयोग से भावतत्व का उदय होकर अन्तःकरण विशुद्ध व पवित्र बन जाता है। जिससे साधक अपनी साधना में सफलीभूत होता है।

यंत्र सामान्य रूप से दो प्रकार का होता है –

(१) ताबीज के रूप में – जिसे गले या बाँह में बांधा जाता है।

(२) पत्र के रूप में – इसे पूजा स्थल पर रखकर पूजन व दर्शन करते हैं।

इन दोनों प्रकार के यंत्रों को बनाने में प्रायः सोने, चांदी व ताम्रपत्र का उपयोग करते हैं। कुछ यंत्रों को बनाने में पञ्च धातु अथवा अष्ट धातु का उपयोग किया जाता है।

ताबीज यंत्र प्रायः किसी निर्देशित पत्र भोजपत्र आदि, छाल, कागज, वस्त्र पर विशेष प्रकार के द्रव्यों से बनाई गई स्याही से लिखकर सिद्ध किया जाता है। फिर उसे तावीज में भरकर धातु वगैरह पर लिखे गये यंत्रों के अपेक्षा भोजपत्र पर लिखा गया यंत्र अस्थायी साधना के लिए अथवा शरीर में धारण करने के लिए अधिक प्रभावशाली होता है। क्योंकि भोजपत्र में कास्मिक किरणें उत्पन्न करने व स्पन्दन तथा ग्रहण करने की क्षमता अन्यों की अपेक्षा अधिक होती है।

प्रायः यन्त्र त्रिभुज, वर्ग, कोण, चतुर्भुज, पुष्पदल, अथवा अन्य आकृति बनाकर उसके बीच के खाली स्थानों में अंकित किये जाते हैं। फिर मंत्र से अभिषिक्त करके विधि पूर्वक धूप दीप और हवन के द्वारा सिद्ध कर सशक्त बनाया जाता है। तत्पश्चात उसे उपयोग में लाते हैं।

पत्र यंत्र स्थाई पूजन के लिए स्वर्ण पत्र, रजत पत्र अथवा ताम्र पत्र पर अंकित करते हैं। ये यंत्र अपने आप में दैवी शक्ति सम्पन्न युक्त होते हैं, अतः इन्हें दिव्य यंत्र कहते हैं। इन्हें सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। उदाहरणार्थ - श्री यंत्र, बीरा यंत्र, काली यंत्र, पञ्चदशी यंत्र, श्री दुर्गा यंत्र, श्री काली यंत्र, श्री मंगला काली यंत्र, महालक्ष्मी यंत्र आदि ऐसे अनेक यंत्र हैं। जिस प्रकार मंत्रों की संख्या अनेक है। उसी प्रकार यंत्रों की संख्या भी अनेक है।

यंत्र में दिव्य एवं अलौकिक शक्तियों का निवास होता है, यंत्रों चौदह प्रकार की शक्तियां स्थित हैं। ये शक्तियाँ निम्न हैं -

(१) सर्व सक्षोभिक्षी (२) सर्व विद्राविणी
(३) सर्वाकर्षणी (४) सर्वाहलादकारिणी
(५) सर्व सम्मोहनी (६) सर्वस्तम्भनकारिणी
(७) सर्व जृम्भणी (८) सर्वशंकरी
(९) सर्व रज्जनी (१०) सर्वोन्मादकारिणी
(११) सर्वार्थसाधिनी (१२) सर्वसम्यत्यपूरिणी
(१३) सर्वमंत्रमयी (१४) सर्वद्वन्द्वक्षयंकारी

इन्हीं शक्तियों की चौदह संख्या के आधार पर यंत्रों की रेखाओं और कोष्ठों का निर्माण होता है। यंत्र की प्रत्येक रेखा एक समान माप की होनी चाहिए तथा रेखाओं द्वारा निर्मित कोष्ठों का आयतन भी समान ही होना चाहिए। इन कोष्ठों के मध्य में संख्याबीज, वर्णबीज व बिन्दु बीज आदि लिखे जाने चाहिए। इस प्रकार सावधानी पूर्वक निर्मित यंत्र आशुफल - व प्रभावशाली तथा शक्तिशाली होता है।

यन्त्र-प्रयोग

तावीज को ही यंत्र कहते हैं तथा गण्डा भी कहते हैं। इसमें मंत्र या तो स्वर्ण पत्र, रजत पत्र या ताम्रपत्र पर खुदे होते हैं जिसकी पूजा की जाती है। जैसे श्री यंत्र, बगलामुखी यंत्र, राम रक्षा यंत्र, श्री दत्तात्रेय यंत्र, श्री गणेश यंत्र आदि तथा कुछ यंत्र ऐसे भी होते हैं जो कि भूर्जपत्र पर लिखकर ताम्बे, चाँदी आदि के निर्मित तावीज में बंद कर तागे में उसे पिरोकर बाँह या गले में पहनते हैं। किसी विशेष रंग लाल या काले वर्ण के कपड़े बाँधकर पहनते हैं। जैसे ज्वर नाशक यंत्र, भूत, पिशाच नाशक, यंत्र, स्त्री वशीकरण यंत्रों का नीचे वर्णन कर रहे हैं। जिससे कि प्रायः तान्त्रिक लोग रोग ग्रस्त व्यक्तियों को बांधा करते हैं।

१. वायुगोला नाशक यन्त्र

७	५
६	१

इसे रविवार के दिन स्याही से कागज पर लिखकर और सूर्य के सामने पानी में धोकर पीने से वायुगोला नष्ट होता है।

प्रेतबाधा नाशक यन्त्र

इस यंत्र को भोजपत्र के ऊपर अष्टगंध से मंगलवार के दिन लिखकर विधिवत् पूजन करना चाहिए। फिर रोगी के गले में इसे तावीज में भर कर बांध देनी चाहिए तथा प्रतिदिन नियम से १०८ बार गायत्री मंत्र पढ़कर जल को अभिमन्त्रित कर रोगी को पीने को देना चाहिए तथा उसके शरीर पर छिड़कना भी चाहिए। जब तक कि वह रोग मुक्त न हो जाय।

२४	३१	२	७
६	३	२८	२७
३०	२५	८	१
४	५	२६	२९

गायत्री मंत्र

"ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुवरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न प्रचोदयात्।"

२. पुत्र प्राप्ति यन्त्र

जिस स्त्री की कोई संतान न हो। उसे रविवार के दिन सर्पाक्षी के फूल पत्तों से युक्त डाली लाकर एक बर्झा की गाय के दूध में कुमारी कन्या के हाथ से पिसवा कर एक कर लें। फिर ऋतुमति होने पर चौथे से छठें दिन तक प्रतिदिन एक-एक तोला की मात्रा में इसका सेवन करें, इसके सेवन से पूर्व स्त्री को निम्न मन्त्र को १०८ बार जाप करना चाहिये।

मंत्र है - ॐ नमो भगवते देवाय।
देवकि सुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि में तनमं कृष्ण त्वामहं शरणं गताः।।

तत्पश्चात इस मंत्र के साथ ही भोजपत्र पर अष्टगन्ध (श्वेत चन्दन, लाल चन्दन, केशर कस्तूरी, गोरोचन, कपूर अम्बर और अगर ये अष्टगन्ध द्रव्य हैं।) से यंत्र लिखकर तावीज में भरकर बाहें, गला या कमर में बाँधने से बाँझ स्त्री को बच्चा पैदा होता है।

२. जो स्त्री डाक्टर तथा वैद्य हकीमों से व ओझा गुनियों से संतान प्राप्ति हेतु चिकित्सा कराकर निराश हो चुकी हों, उस स्त्री को निम्न यंत्र त्रिपुर सुन्दरी यंत्र का निश्चय ही एक बार अनुभव प्राप्त करना चाहिए। इसे मैंने दो तीन स्त्रियों को बताया आज वे सभी एक दो बच्चे से आबाद हैं।

त्रिपुर सुन्दरी यन्त्र

मंगलवार या शुक्रवार के दिन की चतुर्थी तिथि में इसे ताम्रपत्र पर खुदवाकर प्रातःस्नान कर इस यंत्र को भी पंचामृत में स्नान करानी चाहिए। फिर सोलह बार श्री सूक्त का पाठ करना तथा सुगन्धित इत्र फूल अक्षत आदि से यंत्र की विधिवत् पूजन कर गुड़ तथा खीर का भोग लगाना चाहिए। इसके बाद पूर्ण श्रद्धा के साथ ऋतुकाल को छोड़कर प्रतिदिन नियम से "श्री" का एक हजार बार जाप करना चाहिए। इससे निश्चय ही बांझ स्त्री को पुत्र प्राप्ति होकर मनोकामना अवश्य ही पूर्ण होती है।

३. आधी शीशी नाशक यन्त्र

१. जिसके सिर में बराबर ही आधा शीशी अर्थात् सूर्यावर्त का दर्द हो जाया करता हो। उस रोगी स्त्री पुरुष को मंगलवार या रविवार के दिन कागज के ऊपर इस यंत्र को लिखकर धूप दीप दिखाकर सिर में बांधने से आधा शीशी का दर्द नष्ट हो जाता है।

४२	४६	३	६
४	१४	४	४
७	२	४६	३८
१	८	५	४५

२. इसे भी भोजपत्र पर स्याही से लिखकर सिर में बांधने से दर्द नष्ट हो जाता है।

५३	४२
३११	७०

४. गर्भ रक्षा यंत्र

कई माताओं बहनों को गर्भ तो ठहर जाता है, परन्तु स्थिर नहीं रहता नष्ट हो जाया करता है। उन माता बहनों को भोजपत्र पर कपूर, केसर, कस्तूरी, गोरोचन; अगर, सुगन्ध बाला आदि से रविवार या मंगलवार को लिखकर अपने बाँह या गले में बांधने से गर्भ स्थिर रहता है। गिरता नहीं। यह कई एक महिलाओं पर मेरा स्वयं का परीक्षित है।

२०	२७	२	७
६	३	२४	२३
२६	२१	८	१
४	५	२२	२५

५. पुत्र रक्षक यंत्र

जिस स्त्री को पुत्र पैदा तो होता, परन्तु मर जाता हो, जिन्दा न रहता हो। उन स्त्रियों को यह मंत्र अनार की कलम से गोंरोचन से भोजपत्र पर लिखकर तथा गूगल की धुआँ तपाकर ताबीज में भरकर उस स्त्री के गले में बाँधने से उसका बच्चा नहीं मरता।

शंकरमातु शंकर पितु

करै करबल जीव चालै

४०	४२	४	५
१	३	४८	४३
४६	४५	५	४
२	७	४७	४४

शंकर रखै चोरी दीप

पापी की दारू दिज्ञ

६. ज्वरनाशक यंत्र

१. इस यंत्र को मंगलवार या रविवार के दिन भोजपत्र पर अष्टगंध से लिखकर धूप दिखाकर ज्वर के रोगी को बाँधने से ज्वर नष्ट हो जाता है।

७	२	६
८	६	४
३	१०	५

२. इस यंत्र को मुर्दा के कपड़े (कफन) पर धतुर के रस से लिखकर सुन्दर पुष्पों से पूजन कर कृष्ण क्षद्रा के अष्टमी या चतुर्दशी को उपवास रहकर धरती में गाड़ने से सभी प्रकार के ज्वर शिघ्रातिशीघ्र जड़ से नष्ट हो जाता है। यन्त्र में देवदास के स्थान पर रोगी का नाम लिखना चाहिए।
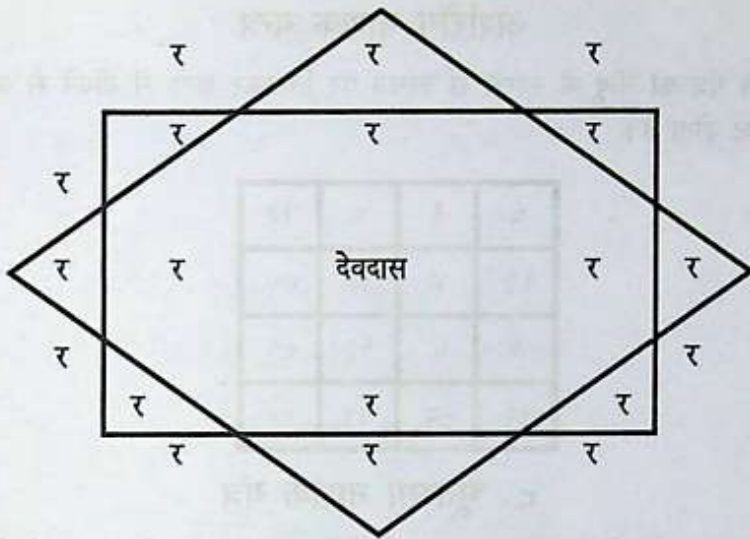
७. कर्णपीड़ाहारक यंत्र

१. इसे कागज पर लिखकर कान में बाँधने से कर्ण पीड़ा दूर होता है।

भ	ज	व
क	ग	जः
छः	छः	दः

२. इस यंत्र को भोजपत्र पर लिखकर कान में बांधने से कर्ण से कर्ण पीड़ा दूर होती है। यह यंत्र अनार के रस से लिखा जाना चाहिए।

२२	२९	२	६
७	३	१६	१५
२८	१६	९	१
४	६	२४	११

अर्शरोग नाशक यन्त्र

१. इस यंत्र को नीबू के स्वरस से कागज पर लिखकर कण्ठ में बाँधने से अर्श रोग नष्ट होता है।

९	३	८	१३
६५	४	१०	७०
७	६	१५	८०
१२	८२	११	१४

८. भूतभय नाशक यंत्र

इस यन्त्र को भोजपत्र पर अष्टगंध से लिखकर गूगल धूप दिखाकर गले में बाँधने से भूत पिशात का भय नहीं होता यदि लगा रहता है, तो छूट जाता है।

१४	७	४	३
६	३	६	५
७	३	४	१४
४	१४	२	७

प्रेतबाधा नाशक यंत्र

नये खपरैल पर इस यंत्र को लिखकर प्रेत लगे आदमी को दिखाकर आग में जला देने से प्रेतबाधा दूर होती है।
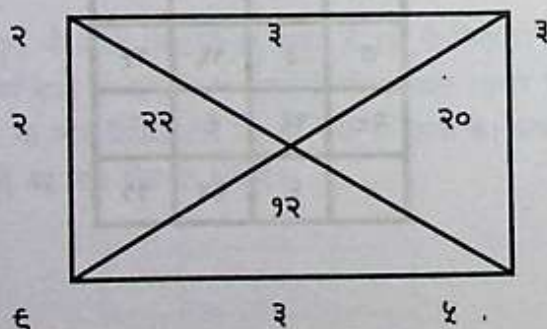
६. बालकों के भूतग्रह नाशक यंत्र

इस यंत्र को भोजपत्र पर लिखकर दस नीम पत्र, वच, हींग, सर्प की केंचुली और सरसों की धूनी बच्चों को देवे व यंत्र को बच्चे को बाँध देने से भूत, प्रेत डाकिनी, शाकिनी आदि का दोष दूर होता है।

१	८	३	८
५	६	३	६
७	२	६	२
७	४	५	४

स्वप्न में भूत दर्शन

यन्त्र-१

६	१३	२	८
७	३	१०	११
२२	७	८	१
४	६	६०	६

यन्त्र-२

१	२	३	४
४	३	२	१
१	२	३	४
४	३	२	१

यन्त्र एक को कुचले के रस में तथा यन्त्र दो को गिलोय के रस में लिखकर रात्रि में सोते समय सिर के नीचे रखकर सोने से भूत दिखाई देते हैं।

गृह भूत बाधा नाशक यंत्र

इस यंत्र को बड़े भोजपत्र पर शनिवार के दिन लिखकर शीशे में मढ़ाकर घर के प्रत्येक कमरे में टाँग कर धूप दीप, दिखाते रहने से घर में भूत प्रेत बाधा नहीं रहता।

ॐ ॐ

२४	३१	२	७
६	३	२८	२७
३०	२५	८	१
४	५	२६	२९

१०. शत्रु नाशक यंत्र

शनिवार के दिन अनुराधा नक्षत्र में इस यन्त्र को आक के दूध से कागज पर लिखकर अपने पास रखने से शत्रु का नाश होता है।

६	३	५७	५६
५३	६०	२	७
५९	५४	८	१
४	५	५५	५८

शत्रु के घर में झगड़ाने हेतु उपाय

कुम्हार के ऑवे की ठीकरी पर लाल चंदन से यंत्र को लिखकर शत्रु के घर डाल देने पर उनमें आपस में ही झगड़ा झंझट होने लगता है।

७६	७९	२	७
९	३	८३	४८
८५	८०	८	१
५	६	८१	८४

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रीय संदर्भों को उद्धृत करते हुये मंत्र एवं तंत्र से संबंधित उपलब्ध विचारों को समाहित करते हुये यह लेख प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

सप्तविंश अध्याय

आयुर्वेदीय ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

अगद तंत्र प्रकाशः	गदाधर वैद्य शर्मा कृत	वि.सं. १६६२ सन् १६०६
अगद राज तंत्रम्	सनाम कर्म कृत	वि.सं. २०२० सन् १६६३ कलकत्ता
अग्निवेश संहिता	हस्तलिखित	
अग्निवेश तंत्रम वा	अग्निवेश स्मृति	
अग्निवंश तंत्र टीका	चरक प्रणीता	
अत्रि संहिता		
अथर्ववेद		
अथर्ववेद भाष्यम्	सायणाचार्य कृतम्	
अनुयोग चूर्णिः	जिनदासकृतम्	११-१२ वि.श.
अमृत घट	रत्नप्रभ निश्चल कृता उद्धृतम्	
अमरमाल कोशः	श्री कंठ कृताः	१३ वि. श.
अमृत माला	श्री कंठ कृता	१३ वि. श.
अमृत वल्लि	अमोघ वेद्य कृता	१३ वि. श.
अमोघ ज्ञान तंत्रम्	अमोघ वैद्य कृतम्	११ वि. श.
	जयदत्त दीपंकर प्रणीतम् अश्व वैद्य कापर नाम।	
अर्क प्रकाशी	राजमार्तण्डो वा (रावणीयः)	
अश्व वैद्यकं	नकुल कृतम्	
अश्व वैद्यकं आयुर्वेदो वा	श्री जय देव दीयंकर कृतम्	१०-१२ वि. श.
अश्व वैद्यकम्	भोजदेव कृतम्	११ वि. श.
अश्वशास्त्रम्	वीर विक्रमदेव कृतमकटक	वि. १६६७ ई. १६१०
अश्वायुर्वेदः	जयदेव कृतम्	वि. ११
अश्व वैद्यकम्	शालिहोत्र प्रणीतम्	वि. श. १२
अश्वायुवेदः	हस्तलिखित	
अश्विनी संहिता	अश्विनीद्वय कृता	वि. श. ७-८
अजीर्ण मंजरी	दत्तराम माधुरकृता (प्रका.) बम्बई	वि.श. १६८३

अजीर्ण मंजरी	काशीनाथ कृतपाण्डुलिपि।	
अंजन निदानम्	अग्निवेश, बम्बई	वि. श. १६६८
अनन्त प्रकाशः	केशव सुत अनन्त कृत	वि. श. १८२६
	प्रताप कल्पद्रुमों वा	
अभिनव चिन्तामणि	चक्रपाणिदास कृतः	
अष्टांग हृदय निघंटुः	वाहराचार्य कृत, अष्टांक निघंटु कुप्पु स्वामी शोध संस्थान मद्रास से प्रकाशित रचना काल ८ वि.श.	
अष्टांग हृदय संहिता	अष्टसाहस्री, द्वितीय वाग्भटोवा	६-७ वि. श.
अष्टांग संग्रह टीका	शशिलेखा इन्दुकृता	११-११ वि. श.
अष्टांग संग्रह संहिता	मध्य वाग्भटो	
	द्वितीय वाग्भट्ट कृता	६-७ वि. श.
अष्टांग हृदय कोशः	के. एम. वैद्य कृतः (प्रका.)	वि. श. १९९३ ई. १९३६
अष्टांग हृदय टिप्पणम्	चतुर्थ वाग्भट् कृतम्	१३-१४ वि. श.
अष्टांग हृदय कोशः	चन्द्रनन्दन कृतः	१०-११ वि. श.
अष्टांग हृदय टीका	सर्वागसुन्दरी (अरुण दत्त)	१२-१३ वि. श.
अष्टांग हृदय टीका	आशाधर कृता	१३ वि. श.
अष्टांग हृदय टीका	पदपदार्थ चन्द्रिका वा	
	चन्दनन्दकृता	१०-११ वि. श.
अष्टांग हृदय टीका तत्त्वबोधो वा	शिवदास कृता	१५-१६ वि. श.
अष्टांग हृदय संहिता	द्वितीय वाग्भट कृता	६-७ वि. श.
अष्टांग हृदयम् लघु वाग्भटः	स्वल्पवाग्भटो हृदयं वा	
अष्टांग आयुर्वेदः	ब्रह्मस्मृतिः	
अष्टांग आयुर्वेदः	आत्रेयोक्तः	
आतंक तिमिर भास्करः	काशी वासी बलराम कृतः	१८ वि.श.
आग्नेयायुर्वेद भाष्यम्	गंगाधर कृतम्	२० वि.स.
आतंक दर्पण निदानन् व्याख्यावा	वैद्य वाचस्पति कृतम्	१४ वि.शं.
आनन्द कंद	तंजौर (प्रका.)	२००६ वि.सं. ई १९५२

आयुर्वेद दीपिका चरक	चक्रदत्त कृता	११ वि. श.
आयुर्वेद सूत्रम्	भाष्य समेतम्	
आयुर्वेद प्रकाशः	सौराष्ट्र माधवोपाध्याय कृत रस ग्रन्थ (प्रका.)	१८ वि. श.
आयुर्वेद चन्द्रिका	हरलाल गुप्त कृता, कलकत्ता	वि. श. १६६३
आयुर्वेद दर्पण	नारायण राय कोलकत्ता तीन खण्डों में	वि. श.१६७४
आयुर्वेद शब्दार्णव	गंगा प्रसाद शर्मा, इलाहाबाद	वि. श. १६५२
आयुर्वेद सारः काशीनाथ पद्धतिर्वा	काशीनाथ भट्टाचार्य कृत	
आयुर्वेद रसायनम्	हेमाद्रि कृता अष्टांग हृदय टीका	१३-१४ वि. श.
आयुर्वेद सुधानिधि	सायण	
आयुर्वेद महोदधि	सुषेण वैद्यको	१३ वि. श. सं. १७३६ (१६८२ ई.)
आयुर्वेद औषध निघंटु (प्रका.)	मलयालम देवनागरी लिपि कुमार कृष्णा कृत	
आयुर्वेद सौख्यम्	टोडरानन्द	१६-१७ वि. श.
आयुर्वेद विज्ञानम्	कविराज विनोद लाल सेनगुप्त	वि. श. १६४४ सन् १८८७
आरोग्य चिन्तामणि (प्रका.)	दामोदर	वि.सं. २००८
आयुर्वेद सारः	अच्युतकृत	१० वि. श.
इन्द्र निघंटु	इन्द्रकृत	१७-१८ वि.श.
आरोग्यमंजरी	नार्गाच कृता	१-२ वि.श.
आनन्द कंदम् मन्थान	भैरव कृतम, प्रकाशित तंजौर प्रकाशन मद्रास	१६५२ ई.
आर्य समुच्चयः	टीसटाचार्यस्यपुत्रेण चन्द्रटेन विरचितः।	
औषध कोशः	हस्तलिखित	
औषध संग्रह (औषध ग्रन्थ)	अभिधान सरस्वती	
औषध कल्प		
औषध चिकित्सा प्रकरणम्	नागार्जुन कृत कक्षा पुटान्तर्गतः	

औषध विवृतिः	सदानन्द कृता प्रकाशित	वि.श. १६८३
औषध नाम माला	लघु निघंटु व्यासकेशवरामकृत	
इन्दुमति शशिलेखा टीकाया नामान्तरम्	इन्दु कृता	१०-११ वि.श.

इषत तंत्रम् रसाध्यायो वा, कालतंत्रम् वा जयदेव कृतम्

कल्पग्रंथाः

१.	औषध कल्प समूह	
२.	औषध कल्प	पूना, काशी
३.	औषध कल्प कलिका	आनन्दाश्रम
४.	कल्पभूषणम्	राघवन
५.	कल्पचिन्तामणि	पूना
६.	कल्पद्रुमसार संग्रह	जयराम गिरी कृत
७.	कल्पना सागर	आनन्दाश्रम
८.	कल्पलता	मद्रास
६.	कल्परात	बड़ौदा
१०.	कल्याणविः	राघवन
११.	कल्पसागर	जम्मू
१२.	कल्पसंग्रह	पूना
१३.	कल्पसार	त्रिवेन्द्रम्
१४.	कल्पसिन्धु	राघवन
१५.	कल्पवल्ली	राघवन
१६.	नानाविद्यौषध कल्प	
१७.	वृहद् भेषज कल्प	
१८.	भरद्वाज कृत भेषज कल्प	
१६.	भेषजकल्प संग्रह	
२०.	भेषजकल्प संग्रह व्याख्याः	वेंकटेश कृत
२१.	कल्पसार संग्रहः	

त्रिवेन्द्रम्

१. करज्ज कल्प
२. कृष्ण धस्तूर कल्प
३. गुग्गुल कल्प
४. ज्योतिष्मयी कल्प
५. मण्डूक ब्राह्मी कल्प
६. पूज्यपादमुनि कृत मद स्नुही रसायनम्
७. मुण्डी कल्पादयः
८. रूदन्ती कल्प
९. विजयाकल्प
१०. श्वेतार्क कल्प

कंकाली ग्रन्थ	नासीर शाह कालीन, कंकाल योगी कृत कंकालाध्याय के आधार पर	रचना काल वि. १५५७-१५६७ सं.
कक्षपुटतंत्रम् तंत्र एवं वैद्यक	नागार्जुन कृतम्	१-२ वि.श.
कपिंजल तंत्रम्	विशिष्ट पोत्रीय कपिजलतंत्रकम आयुर्वेद संप्रदाय प्रवर्तक ऋषि विशेष कृतम्	
कपिलवल तंत्रम	(कपिलवल प्रणीतं नीतीनं तंत्रम कपिलवल प्रति संस्कृत चरक संहिता)	१-२ वि.श.
कपिष्ठल काठादि टीका	चरक मुनि कृता	
कर्म दण्डी	जिनदास कृता	१२-१३ वि.श.
कर्म-माला	अक्षदेव कृता	११-१२ वि. श.
कलाप पंजी पंजिका वा	त्रिलोचन वैद्य कृता	११ वि. श.
कल्पभाष्य चूर्णिः	जिनदास गणि महत्तर	११-१२ वि. श.
करंजकल्प	त्रिवेन्द्रम्	
कृष्ण धस्तूरकल्प		
गुग्गुल कल्प		

ज्योतिष्मती कल्प		
मण्डूक ब्राह्मी कल्प		
पूज्यपाद मुनि कृत मद स्नुही रसायनम्		
मुण्डी कल्पदियः		
रूदन्ती कल्प		
विजया कल्प		
श्वेतार्क कल्पम्		
कल्याणकारकम्	देवंनदि कृतम्	
कल्याणसिद्धिः	उग्रादित्य कृता	७ वि. श.
कल्याणकारकम्	अग्राचार्य उग्रादित्य कृतम्	८ वि. शं.
कश्यप संहिता		
कापिलवल प्रति संस्कृत	चरक संहिता	२-३ वि. श.
कालज्ञानम्	कालपाद कृतम् शम्भुनाथा परपर्याय, अपरवाग्भट कृतम्	१४-१५ वि.श.
काश्यप तंत्रम	कश्यप स्मृतम्	
काश्यप संहिता	वृद्धजीवकीय तंत्रम्वा कश्यपोक्तं वृद्ध जीवकेन गृहीतम्	(प्रकाशितम्)
कुमार तंत्रम्	रावणीयम् कौमारतंत्रम्	प्रकाशितम् कलकत्ता १६२६ वि. श.
कुमार भार्गवीयम्	भानुदत्त कृतम् वैद्यक ग्रन्थः	११ वि. श.
कुमार मृत्यु तंत्रम्	गौतम कृतम्	५-६ वि. श.
कुन्जिकातन्त्रम् रसतंत्र ग्रन्थ	पा.लि. नेपाल	
कुसमावली, व्याख्याकुसुमावली वा वृन्दकृत सिद्धयोगस्य	श्रीकंठकृत टीका, नारायण भिषक् आनन्दाश्रम	
कृष्णात्रेय तंत्रम्	आत्रेयं वा	
कोलह संहिता	कोलहदासकृता	१० वि. शं.
क्षारपाणितंत्र संहिता		
गदनिर्णयः	कवीन्द्राचार्य	सूची

खण्डसिद्धान्तः	खण्डाचार्य कृत, रस शास्त्री ग्रन्थ	
खरनाद तंत्रम संहितावा	खरनाद कृता हरिचंद्र प्रतिसंस्कृता	
गदनिग्रह	सोढल वैद्य कृता	११ वि. श.
क्षेमकुतूहल	क्षेमशर्मण कृतः आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला चौखम्भा, वाराणसी	ई. १६७८
गन्ध तंत्रम्	भव्यदत्त कृतम्	११ वि. श.
गन्ध सारः	पाण्डुलिपि उपलब्ध	
गन्धशास्त्रं, गन्ध शास्त्र निबन्धोवा	भवदेव भट्ट स्मृति प्रणीतम्	१२ वि. श.
गन्ध शास्त्र निघंटु	पृथ्वी सिंह कृताः	११ वि. श.
गरुडं पुराणं	बम्बई	१६४६ वि. श.
गर्भोपनिषद्		
गरुडं विषशास्त्रम्	उद्धतम	
गार्ग्य संहिता	गार्ग्यस्मृति वैद्यक ग्रन्थः	
गूढ़वाक्यबोधक	चक्रपाणिकृत, सरस्वती भवन, वाराणसी	
गूढ़ बोधक	हेरम्बन सेन	
गौतम संहिता		
गोरक्ष संहिता शतसाहस्रीवा	रसोषध एवं तन्त्र ग्रन्थः पंचखण्डात्मकः	
गोपुर तंत्रम वा	गोपुर रक्षित कृतम्	
चक्रदत्त संग्रह,	चक्रसंग्रहो चिकित्सा संग्रहोवा	वि. श. ११
चतुर्वर्ग चिन्तामणि	भक्ति भट्ट (इनका दूसरा नाम हेमाद्रि था) अष्टांग हृदय नामक ग्रन्थ पर आयुर्वेद रसायन नामक टीका के प्रणेता थे। आज यह ग्रन्थ अंशतः उपलब्ध है।	१३-१४ वि. श.
चन्द्रकला	ध्रुवपाद कृत नागर्जुनीय योगशतक पर टीका	१२ वि. श.
चन्द्रट सारोद्धारः	चंद्रट कृतः	११ वि.शं.
चन्द्रदर्शन सिद्धान्तः	महाराज चन्द्रसेन कृत रस ग्रन्थ	४ वि. श.

चरक टीका, परिहार वार्तिकावा आषाढ़ वर्मा कृत		६ वि. श.
चरक टीका	ईशान देवकृता	११-१२ वि. श.
चरक टीका	ईश्वरसेन कृत	११-१२ वि. श.
चरक टीका	कपिलवल नामक चरक टीका	१-२ वि. श.
चरक टीका	कार्तिक कुण्ड कृता	१० वि. श.
चरक टीका	जल्पकल्पतरूश्री गंगाधर कविराजकृता	२०-२१ वि.स.
चरक टीका	गदाधर कृता	११ वि. श.
चरक टीका	गयदास भट्टाचार्य कृता	११ वि. श.
चरक टीका चरकतात्पर्य टीका चक्रपणि कृता		११ वि. श.
चरक टीका	जिनदास कृता	१२ वि. श.
चरक टीका	निरन्तर पद व्याख्या वा जेज्जट कृता	६-१० वि. श.
चरक टीका, वृहत्तंत्र प्रदीपो वा नरदत्त कृता		१०-११ वि. श.
चरक टीका	बकुलेश्वर कृता	१२ वि. श.
चरक टीका	ब्रह्मदेवेन कृता	११ वि. श.
चरक न्यास चरक टीका भट्टारहरिचन्द्रकृता सूत्रस्थानीय १-३	अध्याय पर्यन्त प्रकाशित	रचना काल ७-८ वि. श.
चरक टीका	वाप्यचन्द्र कृता, वाष्पचन्द्र कृता वा	११-१२ वि. श.
चरक टीका, चरक क्षीरस्वामी शिवसांधववैष्णव, चेल्ल देव सुनीर नन्दि वराह	चन्दनन्दन, भादन्त ब्रह्मदेव कृता (उद्धृत)	
चरक टीका तत्व प्रदीपिका प्रदीपिका वा,	शिवदासकृता	१६ वि.श.
चरक टीका	सर्वहितमित्र कृता सर्वहितमित्रकृतावा तिब्वती तेजंर म.पा.लि.	६ वि. श.
चरक टीका	सुदान्त सेन कृता	१२ वि. श.
चरक टीका	सुधीर वैद्यकृता	१० वि. श.

चरक टीका	चरक तत्व प्रदीप, शिवदास कृत	
चरक न्यास	अमितप्रभकृतः	१३ वि. श.
चरक पंजिका	स्वामी कुमारकृता स्वामीदास कृता वा	८ वि. श.
चरक पाठ शुद्धिः	चन्द्रट कृता	११ वि. श.
चरक प्रतिसंस्कार	कपिलवलकृतः	२ वि. श.
चरक प्रतिसंस्कार	दृढ़वल कृतः	७ वि. श.
चरक भाष्यम्	श्रीकृष्ण वैद्य कृतम्	१२ वि. श.
चरक वार्तिकम्	पतंजलि मुनि कृतम्	३-२ वि. श.
चरक वृत्तिः	गुणाकर कृत चरक व्याख्या	१२-१३ वि. श.
चरक संग्रह	चक्रपाणिकृतः	१२ वि.श.
चरक संहिताचरको वा	वृद्ध चरक प्रणीतः	
चरकोत्तर तंत्रम्	दृढ़वल कृतम्	७ वि. श.
चरकोपस्कारः	योगीन्द्रनाथ सेन कृत	२० वि. श.

चर्पटसिद्धान्तः चर्पटिसिद्धान्तो वा, चर्पट, चर्पटिकावा कृतो वैद्यकग्रन्थ, रसायन ग्रंथः

चिकित्सा कलिका योगमा	तीसटकृता	१० वि. श.
चिकित्साकलिका	चंद्रटकृता	११ वि.
चिकित्सा कौमुदी	काशीराज स्मृता	

असांवामकः चिकित्सा कौमुदी द्वितीय काशिपतियों दिवोदास धनवन्तरे रतिवृद्ध पितामहः

चिकित्सा तत्व विज्ञानम	स्व वैद्यधन्वन्तरि स्मृतम।	
चिकित्सा दर्पणम्	काशिराज दिवोदास कृतम्	
चिकित्सा संग्रह चक्रदत्त संग्रहो वा, चक्रपाणिकृतः		१२ वि. श.
चिकित्सा संग्रह टीका तत्वचन्द्रिका वा, शिवदास कृता		१५-१६ वि. श.
चिकित्सा संग्रह टीका	रत्नप्रभा वा (निश्चल प्रणीता)	१२-१३ वि. श.
चिकित्सा समुच्चयः	तीसट कृतः	१०-११ वि. श.
चिकित्सा सार तंत्रम्	अश्विद्वय स्मृतम्	
चिकित्सा तिलक	श्री निवासाचार्यकृत (प्रका.)	
चिकित्सामृतम	मिल्हण कृतम्	१३८१ वि. संवत्सर

चिकित्सा सार संग्रह	गदाधर कृतः सम्पूर्णा ग्रन्थ	१३ वि. श.
चिकित्सा अंजनम	विद्यापतिकृतम्	१७-१८ वि. श.
चिकित्सास्थान टिप्पणम्	चक्रपाणिकृतम्	११ वि. श.
चिकित्सा मंजरी	रघुनाथ भट्ट कृतम्	१७५४ वि.श.
चिकित्सा रत्नावली	कविचन्द्र कृता	
चिकित्सा सार दीपिका	हरानन्ददास कवि चन्द्रकृता	
चिकित्सा क्रम कल्पवल्ली	प्रकाशित वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई	

चिकित्सा तिलक, कोशिकगोत्रीय अखिल्लवंशीय ऐंजनगयंपौत्र, रघुनाथ पुत्र श्रीनिवासाचार्य कृत।

चिकित्सा दीपिका	हरानन्द कृता	
चिकित्सा मंजरी	रघुनाथ पण्डितकृत	१७५४ वि.श.
	प्रकाशित सिंधिया प्राच्य संस्थान वि. श. २०१६	
चिकित्सामृत संग्रहः	साररत्नावलीवा गणेशभिषक् कृत	
चिकित्सा रत्नम्	जगन्नाथ दास कृतम	
चिकित्सा रत्नावली	राधामाधव वैद्य कृतम एवं कवि चन्द्रकृत १७ वि.श.	
चिकित्सार्णवः	महेश्वर कृतः	
चिकित्सार्णवः	सदानन्द शुक्ल कृत	
चिकित्सार्णव संहिता	लौहटकृत जम्मू (पा.लि.)	
चिकित्सा सागरः	वत्सरेश्वर ठक्कुर कृतः	
चिकित्सा सार	क. हरिभारती कृत	
	ख. गोपालदास कृत (प्रकाशित)	
	ग. क्षेमशंकर मिश्र कृत (पा.ली.)	
	घ. हरराम कृत	

चिकित्सासार कौमुदी चिकित्सा समुच्चय

सुन्दर देवकृत चिकित्सा सुन्दर (पा.ली.)

च्यवन संहिता

क. ज्वर समुच्चय	१० वि. श.
ख. ज्वर तिमिर भाष्कर	कृष्ण पुत्र नैगम कायस्थ कृत रचनाकाल १५४६ वि. प्रकाशित मोतीलाल बनारसीदास वि. १९९३ लाहौर।

ग. ज्वर निर्णय	कृष्ण पण्डित पुत्र नारायण कृत	
घ. ज्वर पराजय	जैयरविकृत	रचनाकाल १८५१ वि. श.
ङ. सर्वज्वर चिकित्सागदांकुशो वा प्रकाशित वाराणसी वि. १६५०		
जीवानन्दम्	आनन्द रायमखी कृत प्रकाशित जयपुर तथा वाराणसी १७६२ ई.	रचनाकाल
जतूकर्ण तंत्रम		
जीवदान विधि	जीवदान तंत्रम् वा (च्यवनकृतम)	
जीवरक्षा मृतम्	श्रीकंठकृता	
तक्र कल्पः	पराशर स्मृतम्	
त्रिशति गुजराती	देवराज पुत्र शार्ङ्गधरकृत, यतिवर बैकुंठाश्रमशिष्य, बलभट्टकृत वैद्यबल्लभाटीकायुक्ता	खेमराज बम्बई से प्रकाशति सं. १६६८
तत्वचन्द्रिका, चिकित्सासंग्रह टीका, शिवदास कृता		१६ वि. श.
तत्व बोधः	शिवदास कृताः हृदय टीका अष्टांग हृदय टीका	१६ वि. श.
तत्वप्रदीपिका, चरकटीका व	शिवदास कृता	१६ वि. श.
सरलार्थ प्रकाशिनी	रसरत्नसमुच्चय टीका अष्टांग टीका	१५ वि. श.
टोडरानन्द	टोडरमल कृत	१६ वि. श.
दशसाहश्री मध्य संहिता,	मध्य वागुभट्ट अष्टांगसंग्रह संहितावा	२-३ वि. श.
द्रव्यगुण संग्रहो द्रव्यगुर्णो वा	चक्रकृत	११ वि. श.
द्रव्यगुण शतकम्	त्रिमल्लभट्ट कृतम	१६ वि. श.
द्रव्यगुण संग्रह टीका	शिवदास कृता	१६ वि. श.
द्रव्यावली	द्रव्यकोशो वा चन्द्रट कृता	११ वि. श.
द्वादश साहस्री, वृद्धवाग्भट्टः अष्टांगसंग्रहो वा द्वितीय वाग्भट्ट कृताः		२-३ वि. श.
द्वादश साहस्री	चरक संहिता	
धनुवन्तरि विलास	तुसराजकृत	तंजौर
धनुवन्तरि निघण्टुः		१०-१३ वि. श.
धातु लक्षणम्	नारदीयम्	६-५ वि. श.

नरवाहन सिद्धान्त	वत्सराजनरवाहन बोधिकृतः रसशास्त्री योगि ग्रन्थः	
नवरत्न माला	योगरत्नाकर उद्धृत, मल्लिनाथ कृता सटीक	
नवपत्र चिकित्सा	हस्तलिखित	बड़ौदा
नवका परीक्षा	हस्तलिखित	भरतपुर
नाग बोधी सिद्धान्तः	रस-शास्त्रीय ग्रन्थ	३-४ वि. श.
नागर्जुन योग	वैद्यक ग्रन्थः	१-२ वि. श.
नागार्जुन सिद्धान्त		१-२ वि. श.
नागार्जुनांजन (नागार्जुन कृतम्)		१-२ वि. श.
नारायण विलास	(उदयपुर)	
नाड़ी विज्ञान	महर्षि कणाद प्रणीत, वेंकटेश्वर प्रेस १६५७ वि.स. बम्बई तथा गंगाधर वैद्य टीका साथ प्रकाशित कलकत्ता	
नाड़ी परीक्षा	रावणकृत, बम्बई से प्रकाशित	१६६६ वि.श.
नाड़ी विज्ञान	गोविन्दराय सेन कृत पाण्डुलिपि सरस्वती भवन, वाराणसी	
नाड़ी विज्ञान दर्पणम्	भूधर भट्ट कृत (प्रकाशित)	
नाड़ी परीक्षा	अग्निवेश कृत, पाण्डुलिपि सरस्वती भवन, वाराणसी	
नाड़ी प्रबोधकः	पाण्डुलिपि एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता सूर्य रास पुत्र श्री भारती शिष्य रामचन्द्र वाजपेयी।	
नाड़ी समुच्चय	जोधपुर	वि. १५०३ सन् १४४६
नाड़ी प्रकाश	दत्तराम	
नाड़ी परीक्षा, नाड़ी प्रकाशः	गोविन्द (एन.सी.सी.)	
नाड़ी परीक्षा	योगीश्वर पाण्डुलिपि, आनान्दाश्रम पूना।	
नाड़ी ज्ञानम्	आत्रेय	
नाड़ी ज्ञान दीपिका		१८५४ वि. श.
नाड़ी जीवन		

नाड़ी लक्षणम्		
नाड़ी निदान सटीक आश्विनौ आर.एस.एच.,		पाण्डुलिपि सी.सी.आई. आर.एस.एस. नई दिल्ली।
नाड़ी निर्णय सटीक		
नाड़ी निरूपणम्		
नाड़ी शास्त्रम्		
नाड़ी शास्त्र संग्रहः		
नाड़ी परीक्षा	रामचन्द्र सोमयाजी, अग्निचित, सूर्यदास पुत्रनै-भिषारण्य वासी (वि.श. १४६६ ई. १४४३)	
नाड़ी ज्ञान तरंगिणी	रघुनाथ प्रसाद कृत	
नाड़ी विज्ञान	द्वारकानाथ भट्टाचार्य कृत	
नाड़ी विज्ञान के कुछ अन्य ग्रन्थ,	ढुंढी राज, दत्तात्रेय नन्दि तथा मार्कण्डेय कृता	
नाड़ी परीक्षादि चिकित्सा कथनम्	संजीवेश्वर शर्मात्मज रत्नपाणी शर्मा	
नवनीतकम् नवीन संहिता वा	सौश्रुतम् पाण्डुलिपि हार्नले प्रकाशित दिल्ली	२-३ वि.श. बावर मैन वि.श. १९६९
निघंटु शेष कृता	जैनाचार्य हेमचन्द्र	काल १३ वि.श.१२२१ ई.
निघंटुः	शिवदास कृत	१६ वि.श. नामोल्लेख
निघंटु संग्रह	रघुनाथ द्वन्द जी	वि. १९५० सं. १८९३ ई.
निघंटु चन्द्र कृत	निमिकृत निघंटु हरमेखला,	रचनाकाल-१० वि.श. से पूर्व
अरुण दत्त निघंटु		११ वि.श.
निघंटु रत्नाकर	गणेश राम चन्द्र	
निघंटु गुण संग्रहः	शोढल कृतः	वि.श. १३०७ ई., १२५०
निघंटु मदन विनोदः	मदन विनोद निघंटुर्वा मदन पाल कृतम्	सं. १४३१, १३७४ ई.
निघंटु भाव प्रकाश	लटकन मिश्रतनय भावमिश्र कृत	१७ वि.श.

		१६-श.ई.
निघंटु कैयदेव कृतः	भरद्वाज गोत्रीय पद्मनाम पौत्र सारंग पुत्र	१५ वि.श. १४५० ई.
नीलकंठ वैद्यकम्	दरभंगा	
निघंटु रत्नाकरः	विष्णु वासुदेवगोड़ बोलेकृत पं. श्री कृष्ण शास्त्री नयरे सम्पादित प्रकाशित बम्बई	वि.श. १९९३(१९३६ ई.)
निघंटु संग्रह	रघुनाथ जी इन्द्र जी कृतः	वि.श. १९५० अनुपलब्ध
निघंटु शालिग्राम	मुरादाबाद (उ.प्र.) प्रकाशित बम्बई ई. १९२५	काल वि. १९५३ सं. २० वि.श.
निदानं, माधव निदानम्	निदान संग्रह रोगविनिश्चयो वा माधवकर कृतम्	७-८ वि.श.
निबंध संग्रह	डल्हण कृत सुश्रुत व्याख्या	१३ वि.श.
निदान मंजरी, नृसिंह निदानम् पूज्यपद कृत निदान मुक्तावली निदान प्रदीप	शंकराचार्य कृत	
निदान प्रदीप	नागनाथ कृत	
निरन्तर पर व्याख्या	जेज्जट कृता चरक टीका	९-१० वि.श.
परिभाषा नारायण दास नरेन्द्रलाल मिश्र पा. वैद्यक परिभाषा पद गोविन्द सेन	प्रकाशित कलकत्ता १९६३ बम्बई से १९६३	
पंचम देवः	आयुर्वेद नाम उपवेदः	
पंजिका कलाप पंजिका, कलाप पंजिका	त्रिलोचन वैद्य कृता	११ वि.श.
पंजीका, वृहद पंजिका	रायदास कृता	१०-११ वि. श.
पंजिका, सुश्रुत पंजिका	भट्ट्ट भाष्कर प्रणीता	१०-११ वि. श.
पथ्यापथ्य विनिश्चयः	विश्वनाथ सेन कृतः उत्कल महाराज	
पथ्यापथ्य निघटुवा	प्रताप रुद्र वैद्य	१६ वि. श.
पथ्यापथ्य	द्विवेदी केशव प्रसाद, प्रकाशित बम्बई	वि. श. १९५३
पदार्थ चन्द्रिका, हृदय टीका वा चन्दननन्द कृता		१०-११ वि. श.
प्रयोग चिन्तामणि	प्रकाशक राममाणिक्य सेन कलकत्ता	

पराकृत संहिता, आंध्र प्रदेशीय श्री नाथ पण्डित कृता श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय तिरूपति प्रकाशित वि.श. २०२६		काल १६ वि. श.
परिहार वार्तिकम्, चरक टीका आषाढ़ वर्मा कृत		६ वि. श.
पयाय रत्न माला	रत्नमाला व आयुर्वेद कोशः माधव्य कृतः शिला हद निवासी इन्द्रकर सेन	७-६ वि. श.
पाक विधिः, पाक दर्पण	दिवाकर चन्द्र	
पाकदर्पण	नलकृत, प्रकाशित वाराणसी स. १६७२	१६००-१८०० वि. श.
पाकावली	काशीनाथ	
पालकाप्य गजायुर्वेद हस्त्यायुर्वेद	राजपुत्र पालकाप्य कृतम् प्रकाशित आनान्दाश्रम	वि. १६८३ सं. ७-८ विश
प्रश्नसहस्र विधानम्, सुश्रुतश्लोकवार्तिकम्, माधव प्रणीतम्		७-८ वि. श.
वृहत्तंत्र प्रदीपिका, तंत्र प्रदीपो वा गोबर्धन कृता		११ वि. श.
वृहत पंजिका, न्याय चन्द्रिका गयदासाचार्य प्रणीता चन्द्रिका, सुश्रुत पंजिका सौश्रुत पंजिका वा		१०-११ वि. श.
पाकार्णवः	पूना पा.	
औषध पाकावली	जम्मू पा.	
पाकाधिकरणम्	बड़ौदा पा.	
पाकाधिकारः	बड़ौदा पा.	
पाक मार्तण्ड	पूना पा.	
पाक शास्त्रम्	विन्दु कृत पूना पा.	
पाक प्रदीप	रविदत्त वैद्य, कृतखेमराज बम्बई प्रकाशित १६२४ ई.	
पाक विधि	दिवाकर चन्द्र नेपाली पा.	
पाकावली	माधव उपाध्याय	
भोजन कुतूहलम्	रघुनाथ सूरिकृत, त्रिवेन्द्रम् प्रकाशित १६५६ ई.	
वाष्प चन्द्र निघंटु	बोपदेव कृत, सिद्धमंत्र प्रकाश व्याख्या मुद्रितः	
भानुमती	चक्रपाणि कृत सुश्रुत व्याख्या	११ वि. श.

प्रत्यक्ष शारीरम्	गणनाथ सरस्वती कृतम्	२० वि. श.
भालुकि तंत्रम्		
भाव प्रकाशः	भवनाथ मिश्र कृतवैद्यक ग्रन्थः	१४ वि. श.
भास्कर संहिता		
भास्कर सिद्धान्तः		
भिषग् मुष्टिः	भीमविनोद दामोदर कृता (पा.लि.)	
भेडतंत्रम् भेल संहिता वा	महर्षि भेड कृतम्	प्रका. कोलकत्ता
भेड संहिता, भेल संहिता वा	" " "	वाराणसी
भेषज तंत्रम	व्याडि पण्डित प्रणीतम्	८ वि. श.
भेषजरत्नावली संग्रह ग्रन्थ	प्रकाशित	२० वि. श.
मत्तमाण्डव्य सिद्धान्तः	मत्तमाण्डव्यकृतो रस शास्त्रीय ग्रन्थः	
मध्य संहिता	मध्यवाग्भट्ट दस साहस्री अष्टांग संग्रहे संहिता वा	५-६ वि. श.
मन्थान भैरव तंत्रम् रस शास्त्री ग्रन्थः		
माधव निदानम् व्याख्या	सुधीर कृता	७-८ वि. श.
माधव निदानम्, निदानंवा	माधव कृतम् माधवचिकित्सातंत्र	७-८ वि. श.
योग रत्न समुच्चयः	चंद्रट प्रणीतः	११ वि. श.
योग रत्नाकरः	भव्यदत्त कृत	१६ वि. श.
योग तरंगिणी	त्रिमल्ल भट्ट कृत, वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशित सं. २०१३	१७०७ वि. श.
योग चिन्तामणिः	सार संग्रहो वा, वैद्यसारोद्धारोवा जैन हर्ष कृतकः	१७ वि. श.
योगरत्न माला	नागार्जुन कृत, गुणाकर विवृतिसमेता	१२६७ वि. श.
योग रत्नावली	दासतनय गंगाधर कृता	
योगशतकम्	क. नागार्जुनीय ख. मदन सिंह कृत, ग. लक्ष्मी दास कृत घ. वैद्यनाथपुत्र कृत ङ. अनन्तयोगीश्वराचार्य कृत,	

	अन्य चंद्रिका टींका समेतम् टीका कर्ता नन्दलाल (आनन्दाश्रम पूना।)	
योगामृतम्	गोपीदास सेन कृत	शक सं. १६६३ वि. श. १७८६
	सुबोधिनी टीका समेत	
योगोक्ति लीलावती	गोविन्द देव कृता	
योगोक्ति	विवेकचन्द्रः सुन्दरदेव कृतः	
योगांजनम् चिकित्साञ्जनं वा	उपाध्याय विद्यापति कृतम्	
	श्यामदेव कृत योगेश्वर	
योगरत्नाकर टीका	शिवदास कृता	१७ वि. श.
योग रत्नावली	गंगाधर कविराज कृता	१६ वि. श.
योग मुक्तिः	चन्द्रट कृता	१० वि. श.
योग संग्रहः	जगन्नाथ कृतः	१७ वि. श.
योग सार संग्रह	नन्दि गुरुकृतः वाणा तनय दक्ष कृत योगसारश्च	
योगसार संग्रह टीका	पूर्णा नन्द कृता	
रति शास्त्रम्	नागार्जुनीयम्	२ वि. श.
रत्न परीक्षा	बुद्ध भट्ट कृत	१२-१३ वि. श.
रत्नप्रभा	निश्चलकृत चक्रदत्तीय चिकित्सा संग्रह टीका	
रत्नमाला पर्याय रत्नमालावा	माधव कृता	८ वि. श.
रत्नमाला	गोवर्धन कृता	११ वि. श.
रस चन्द्रोदय	महाराज चन्द्रसेन कृत	४ वि. श.
रस निगमः	देवीप्रोक्तं रसतंत्रम् रस शास्त्री ग्रन्थः	
रस रत्न माला	नित्यानाथ कृता	१४ वि. श.
रसवाग्भट्ट, रस समुच्चय	द्वितीय वाग्भट्ट कृता प्रतिसंस्कृताश्चसोमग्रन्थेन प्रकाशित वाराणसी १६४१	२-३ वि. श.
रसरत्नसमुच्चय टीका तरलार्थ प्रकासिनी वा	चिन्तामणित्रिशिखरेण प्रणीता	१६ वि. श.

रसरत्नाकरः	नागार्जुनीयः	१०-११ रस वि. श.
रस संकेत कलिका	चामुण्ड कायस्थ प्रणीता	
रस रत्नाकरः	नित्यनाथ कृत (पार्वतीय सूत्र सिद्ध नित्यनाथ)	
	प्रकाशित बम्बई, १६४५	१४-१५ वि. श.
रस राज महोदधिः	शवपति वासुदेव पुत्र कपालिकृतः	४ वि. श.
रससर्वस्वम् वासुदेवतंत्रम्, वासुदेव संहिता वा,		
शकाधिपति वासुदेव प्रणीता		२-३ वि. श.
रस राज लक्ष्मी	विष्णुदेव कृता	१४ वि. श.
रस सार	गोविन्दा चार्य	१४ वि. श.
रसाध्याय कंकालीय, रसरहस्य रसेश्वर सिद्धान्तः रसकल्प (१३ वि.श.)		
	प्रका. वाराणसी १६३० ई.	
रसयोग सागरः	प्रकाशित	
रससारतंत्रम		
रसहृदयम्	गोविन्दभगवत्पादकृतम्	७-६ वि. श.
रस हृदय टीका, मुग्धबोधिनी	मुग्धबोधिनी वा चतुर्भुज मिश्रकृत	१७ वि. श.
रस प्रकाश सुधाधर	सौराष्ट्रवासीयशेखर भट्ट कृत	१२-१३ वि. श.
रसांकुशः	रस शास्त्र ग्रन्थः	
रस ग्रन्थ	काकचणिश्वर कल्पतंत्रम	१३ वि. श.
	प्रकाशित चौखम्भा, वाराणसी	
रसाध्याय	ईषततंत्रंवा, जयदेव कृतम	३-४ वि. श.
रसाध्याय टीका	मेरूतुंग कृता	१४ वि. श.
रसामृतम्	जयदेव कविराज प्रणीतम्	१०-११ वि. श.
रसार्णवः	नित्यनाथ कृतः प्रकाशित वाराणसी	१४-१५ वि.श.
रसेन्द्र चिन्तामणि	ढुण्ढुक नाथ कृतः प्रका. बम्बई से	सं. १६८१
		वि. श. १६
रसेन्द्र चूडामणिः	नारायण पुत्रसोमदेव कृत	
	प्रकाशित वाराणसी १६३२ ई.	
रसेन्द्र तिलकं	रसेन्द्र तिलक योगी कृतम	
रसेन्द्र परिभाषा	सोमदेव कृता	१३ वि. श.

रसेन्द्र मंगलम्	नागार्जुनीयम्	५-१० वि. श.
रसेश्वर दर्शनम्	माधवकृत सर्वदर्शन स्थानम्	१४ वि. श.
रसेश्वर सिद्धान्तः	सोमदेव कृतः	१३ वि. श.
रस तरंगिणी	सदानन्द शर्मा कृतां	२० वि. श.
रसोन कल्प	काशीराज स्मृतः	
रसवैशषिक	भदन्त नागार्जुन	१०-११ वि. श.
	प्रकाशित के.एल. प्रकाशन	
	आयुर्वेद ग्रन्थावली-	वि.सं. १९२८ ई.
रत्नमाला	नरसिंह कविराज कृतः	
रत्नाकर	ओषध योग ग्रन्थपूज्यपाद कृतः	
रत्नावली	राघव माधव कृतमा	
राम निदानम्	महामहोपाध्याय शिष्य रामलाल कृत	
	पाण्डुलिपि, जोधपुर	
राम विनोदः	पद्मराम शिष्यम् रामचन्द्र पण्डित कृतः जम्मू	
राज मार्तण्डः	राजभोज कृतः योग सार संग्रह	१२ वि.श.
राजमार्तण्डः अर्क प्रकाशो वा रावणीयः		
राजमार्तण्डः	भोजराज कृतश्चान्यः	१२ वि.श.
राज मृगांकः धरा	धाराधिपति भोजकृत ग्रन्थः	११ वि.श.
रावणीय चिकित्सा	रावणीया स्मृता	
राजनिघंटुः निघंटुराज, अभिधान चिन्तामणि	ईश्वर सूरी पुत्र नरहरि पण्डित कृत	१७ वि.श.
रसरत्न प्रदीप,	रत्नपाल सुत रामराज कृत	१५-१६ वि.श.
	प्रकाशित लाहौर	१९२५ ई.
रसपद्धति	महाराष्ट्रीय बिन्दु विरचिता	१५ वि.श. प्रकाशित
	तदात्मजमहोदय कृता व्याख्या युक्ता	बम्बई १९२५
रससंकेत कलिकामेह	नैगम कायस्था चामुण्डकृता, योगिनी	वि.श. १५३१
रसनक्षत्र मासिका	मालवराज वैद्य मदन सिंह कृत काल	वि. श. १५५७ (१५०० ई.)
रसग्रन्थ धातु रस माला	गुर्जरदेवदत्त कृता	

रसेन्द्र सार संग्रह	गोपालकृष्ण भट्ट कृत प्रकाशित वाराणसी	१३७ ई.
रसेन्द्र कल्पद्रुम	नीलकण्ठात्मज रामकृष्ण भट्ट कृत (१५३५ ई.)	वि. १५६२
रसकौमुदी	चन्द्रशेखर मुनीश्वर वंशज सर्वज्ञ चन्द्रसुतज्ञानग्र चन्द्र कृता प्रकासित	मो. बा. दास १६३२ ई.
रसकामधेनुः	शाकद्वीपीय बलभद्र मिश्र पौत्र १६ विश. प्रकासित हरराम मिश्र पुत्र चूणामणि मित्रकृताः गुजराती	
पारद योग शास्त्रम	शिवराम योगीन्द्र कृतम् प्रकाशित मो.ब.दास सं. १६२३ सम्पादित सदानन्द शर्मा	
पारद संहिता	निरंजन प्रसाद गुप्त सम्पादित बम्बई १६१६ ई.	
रस चिन्तामणि	अनन्तदेव सरिकृता प्रकाशित बम्बई सं. १६५७	
रसमंजरी	शालीनाथ सिद्धकृता, बेंकटेश मुद्रक बम्बई सं. १६७८	
रसराज मृगांकः	भोजराज कृत प्रकाशित बम्बई-१६२३	
नन्दीतंत्रम रसग्रन्थ	उद्धृत	८ वि. श.
रससिद्धिशास्त्रम	तिब्बती अनुवाद नरेन्द्र भट्ट तथा रत्न श्री द्वारा रचनाकार व्याडि	६-१० वि. श.
रसायन शास्त्रोद्धृतः	व्याडिकृता, रचनाकार व्याडि	६-१० वि. श.
रूग्विनिश्चयः निदानं माधव निदानं वा	माधवकृता	७-८ वि. श.
लक्षण प्रकाशः	हेमाद्रिकृतः	१५-१६ वि.श.
लघु निदानम्	सुरजीत कृतम्	८-६ वि.श.
लघु वागभटः सूक्ष्मवाग्भटः अष्टांग हृदय संहिता हृदयं वा		
लंकेश सिद्धान्तः	द्वितीय बाग्भट्ट कृतम्	३-४ वि.श.
लौह शास्त्रम	जीवनाथ कृतम्	
लौह प्रदीपः	श्री विक्रमदेव कृत	१२ वि.श.
लक्ष्मणोत्सवः	लक्ष्मण कृत पूना	१५०७ वि.श.
लघु चिकित्सा चिन्तामणि		
दसकरा जीयम्	वसराज कृत	१३ वि.श.

बंगसेन संग्रह	बंगसेन कृतः	१२ वि.श.
वह्निनवेशतंत्रम	अग्निवेशतंत्रम वा अग्निवेशपरमर्षि स्मृतम	
वह्नि देश तन्त्र टीका, अग्निवेश टीका		चरक प्रणीता
वातस्कंध	पञ्च स्कंधोपेत सिद्धान्त सारावली	३-४ वि.श.
	पातञ्जली स्मृत वैद्यक ग्रन्थ	
वाग्भट्ट संहिता, वैद्यक संहिता	वा वाग्भट्ट व्याकरण कृता	११-१२ वि.श.
	वाग्भट्ट प्रणीता	
विश्व प्रकाश कोषः	महेश्वर वैद्य प्रणीताः	१२ वि.श.
वृद्धजीवकीय तंत्रम	कश्यपोक्तं, वृहज्जीवकेन गृहीतं परिवर्धितच	
विद्या प्रकाश चिकित्सा	धन्वन्तरिकृता	
विद्वन्मुश्वमण्डनम्	विनयमेरूकृतम्	
विवेकचन्द्र		
विश्व वल्लभ	चक्रपाणिमणि जोधपुर	
वीरमित्रोदयः	मित्रमिश्र कृतः	
वीर वैद्य रत्नहार	शलिग्राम पण्डित (जम्मू)	
वीर हार लतिका	विल्ला राम पुत्र काश्मीरक (जम्मू)	
वृद्ध सुश्रुतम्	सुश्रुततंत्रं वा	
वृहत्त्रयी	गुरुपद हालदारकृत इतिहास ग्रन्थः	२० वि. श.
वैद्यक सार संग्रहः	रघुनाथ शास्त्रिदासे एवं कृष्णशास्त्रिभटवडेकर कृत	
वैद्यक कोशः	चन्द्रट कृता	११ वि. श.
वैद्य जीवनम्	दिवाकरभट्ट पुत्र श्री लोलिम्ब राज	
	प्रकाशित	१७०७ वि. श.
वैद्यक निघंटुः	वैद्यनिघंटुर्वा प्रथम वाग्भट्ट कृतः	२ वि. श.
वैद्यक शब्द सिन्धुः	उमेशचन्द्र गुप्त संपादितः वैद्यकोषः	२० वि. श.
वैद्यक संहिता वाग्भट्ट संहिता	वा वाग्भट्टा चार्य कृता	१२-१३ वि. श.
वैद्यक सर्वस्वम्	नकुल कृतम्	
वैद्यकुल पंजिका	भरतमल्लिकृता	१८ वि. श.
वैद्यक कोशः	चक्रपाणिकृतः	१२ वि.श.
वैद्यक चिन्तामणिः	नारायणभट्ट कृतः	१४ वि. श.
वैद्यक प्रदीप	भव्यदत्त कृतः	१२ वि. श.

वैद्यप्रसारकः	कातंत्र पंजीकृत त्रिलोचन पुत्र गदाधरकृतः १२ वि. श.	
वैद्यमहोत्सवः	रामनाथ कृतः	१७ वि. श.
वैद्यामृतम्	माणिक्य भट्ट सुतमोरेश्वर कृतम् वि. श. २००४ सन् १५४७ ई. अहमद नगर में विरचित	
वैद्य संदेह मंजनम्	मिथिलाधिप जनकस्मृतम्	
वैद्यसारः	त्रिलोचन कृतः	३-४ वि. श.
वैष्णव वैद्यक शास्त्रम	नारायणदास सिद्ध प्रणीतम्	१० वि.श.
व्यग्रदरिद्र शुभंकरम् शुभंकरों	वा चक्रपाणिकृतम्	१२ वि. श.
वीरसिंहाविलोकः	तोमरवंशीयकमल सिंह पौत्र, देवशर्मा पुत्र वीरसिंह कृत	१४४० वि. श.
व्याख्या कुसुमावली कुसुमावली	वा, श्रीकण्ठदत्त कृता सिद्ध योग संग्रहीता	१२-१३ वि. श.
व्याधि सिन्धु विमर्दनम्	सहदेव कृतम्	
वैद्य वल्लभः	हस्तिरुचिकविकृतः	वि. श. १६२६ ई. १६७३
वैद्य विनोदः	अनन्तभट्ट पुत्र शंकर भट्ट कृत	वि. श. १७६२
वैद्य रहस्यम्	वंशीधर सुत उपाध्याय विद्यापतिकृतम्	वि. श. १७५४
वैद्य चिन्तामणिः	अमरेश्वर भट्ट बल्लभेन्द्र इन्द्र कण्ठीकृत	१५ वि. श.
वैद्य मनोरमा	वैद्य कालिदास कृत, योगसंग्रह केरल देशीयः बम्बई से प्रकाशित	वि. श. १६७३
वैद्यक चिकित्सा सार कौमुदी		
वैद्यक रत्नमालिका	दरभंगा	
वैद्य कल्पः	दरभंगा	
वैद्यक कल्पतरु	संगनाथ पुत्र मल्लिकानाथ कृत (जम्मू)	
वैद्यक कल्पतरुः	केशव पण्डितपुत्र मल्लिनाथ कृत	
वैद्य कल्पद्रुम	दरभंगा	
वैद्यक कल्पद्रुम	रामचन्द्र वैद्य कृतः	
वैद्य कल्पद्रुमः	रघुनाथ प्रसाद कृतः	
वैद्यक सर्वस्वम्	महेश चन्द्र कृतम्	

वैद्यक सारः	शंकर कृतः	
वैद्य सार राम	प्रकाशित बम्बई	वि. श. १६५३
वैद्यक सार संग्रह	वलमीकि कृतः	
वैद्यक सार संग्रह	व्यास गण पीतकृतः	
वैद्यक सरोद्धारः सटीक		
वैद्य कुतूहल	वंशीधर कृत	
वैद्य चन्द्रोदयः	त्रिमल्ल कृत	
वैद्य चिकित्सामृतम्		
वैद्य चिन्मामणिः	यशवन्त कृतम्	वि. श. १८४६
वैद्य दर्पणम्	प्राणनाथ कृत	
वैद्य प्रदीपः	हिमकर सुतउद्भव मिश्र कृतः	
वैद्य भास्करद्वयम्	धन्वन्तरि कृतः	
वैद्य मुक्तावली, सटीक	माणिक्य चन्द्र सुत मौक्तिक कृत	वि. श. १६०८
वैद्य रत्नम्	गोस्वामी शिवानन्द भट्ट कृतम् प्रकाशित	
वैद्य रत्नावली	रामानुज यतिवर	
वैद्य रसायनः	आनन्दाश्रम	
वैद्य वल्लभः	लक्ष्मण सूरी कृतः	
वैद्य वल्लभः	मैथिल हरिहर कृतः	
वैद्य वल्लभविवृतिः	कृष्ण पुत्र नारायण कृत (जम्मू)	
वैद्य विद्या विनोदः	धन्वन्तरि कृतः (जम्मू)	
वैद्य विनोदः	अकलंकस्वामिकृतः	
वैद्य विनोद सारः	महादेव भिषक् कृत	
वैद्य संक्षिप्त सारः	सोमनाथ महापात्र कृतः	
वैद्य संग्रह	गोपालदास कृत	
वैद्य सर्वस्व	लक्ष्मण सुत मनुकृत (जम्मू)	
वैद्य सर्वस्व	काशीराम कृत	
वैद्यक सारः	पुरुषोत्तमकृतः	
वैद्यक सारः	राम कृत	
वैद्यक सार	सीताराम सोमनाथ कृत, आनन्दाश्रम	

वैद्य कौस्तुभशुभंकर क्षेत्र निवासी मेघाराम मिश्र प्रकाशित		वि. श. १९८५ सन् १९२८
वैद्य विलासः	कवि राघव कृत रघुनाथ पण्डित कृतो वि.श. १६५४ रचनाकाल प्रकाशित	
वैद्यक सार समुच्चयः	शिवराम कायस्थ कृतः	
वैद्य सांख्यम्		
वैद्य हृदयानन्दम	नीलकण्ठ सुतयोगी प्रहरज कृतम्	
वैद्यामृतम्	नारायण (सिंह जी) कृतम् माणिक्य भट्ट आत्मजमोरेश्वर भट्टकृत्यश्च वि. १६०४	
वैद्यामृतमंजरी	मथुरा नाथ कृत शुक्ल कृता	
वैद्यादर्शः	गोकुलनाथ कृत	
व्याधि निग्रह	विश्राम कृत जोधपुर	
व्याधि विध्वंसिनी	भावसिंह, जोधपुर	
शतश्लोकी	वोपदेवशतकम् वा स्वरचित चंद्रकला व्याख्यासमेता (प्रकाशित)	कौट्टयम १४ वि.श.
शालीहोत्र संहिता	राजर्षिशालिहोत्र स्मृताश्वार्युवेद शास्त्रम्	
शाङ्गंधर संहिता	शाङ्गंधर कृता संस्कृतटीका आढमल्ल कृतदीपिका काशीराम कृत गूढ़ार्थदीपिका, अनेक भाषानुवादों में अधुना प्रकाशित	रचनाकाल १३ वि. श
शिलाजतु कल्पः		
सर्वसार संग्रह	चक्रपाणिकृत	१२ वि.श.
सर्वांग सुन्दरी टीका	अष्टांग हृदयटीका अरुण दत्त कृता	१३ वि.श.
सिद्ध योगः	वृन्द कृतवृन्दमाधव कृतो वा	१० वि. श.
सिद्ध सारः	रविगुप्त कृत	६ वि. श.
सिद्धान्त सारावली	पतंजली कृत	वैद्यक ग्रन्थ
सिद्धभेषज मणि माला भेषज	मणिमाला वा कृष्ण राम भट्ट	१९०५-१९५४)
सिद्धोपदेश संग्रह	दुर्लभ गण कृतः	

सिद्धान्त निदानम्	गणनाथसेन सरस्वती कृत	२० वि. श.
सुरानन्द सिद्धान्तः	आयुर्वेद रस ग्रन्थ विशेषः	
सुश्रुत टिप्पणम्	ब्रस्मदेव कृतम्	११-१२ वि. श.
सुश्रुत टिप्पणम्	माधव ब्रस्मवादि कृतम्	११-१२ वि. श.
सुश्रुत टीका	कार्तिककुण्ड कृता	११-१२ वि. श.
सुश्रुत टीका	जेज्जट कृता	९-१० वि. श.
शतोपधानी		
शतयोग ग्रन्थः		
सद्योग कण्डिका		
सद्योग चिन्तामणिः	रामेश्वर कृतः	
सद्वैद्य भावावली	जगन्नाथ गुप्त	
सहस्र योग		
साध्यरोग रत्नावली	श्यामलाल कृता	
सारकलिका	उदयकर कृता	
सारकौमुदी		
सार रत्नावली	गणेश कृता	
सार संग्रह	गणकृत (जम्मू)	
सारावली	शिवदास कृता	
सिद्धयोग माला		
सिद्धयोग रत्नावली		
सिद्धयोग समुच्चयः		
सिद्धभेषज मंजूषा	जयदेव शास्त्री कृता	
वृत्त रत्नावली	मणिराम कृता	रचनाकाल वि.श., १६८९
सिद्ध भेषज मणिमाला		
सुश्रुत तंत्रम	सुश्रुत संहिता वा	
सुश्रुत पंजिका	गयदास महाचार्य कृता	१०-११ वि. श.
सुश्रुत पंजिका	भास्कर भट्ट प्रणीता भट्ट भास्कर प्रणीता वा	१०-११ वि.श.
सुश्रुत वार्तिक व्याख्या वा ब्रह्मदेव कृता		११ वि.श.

सुश्रुत व्याख्या विप्रचण्डाचार्य कृता ५-६ वि. श.
सुश्रुत व्याख्या सुधा सुधीर कृता १०-११ वि. श.
सुश्रुत व्याख्या निबंध संग्रहो वा डल्हण कृता १३ वि. श.
सुश्रुत व्याख्या, भयसेनीया १०-११ वि. श.
सुश्रुत श्लोक वार्तिक प्रश्न सहस्रविधानं वा माधव कृतम् ७-८ वि. श.
सुश्रुत संहिता, सुश्रुतो वा वृद्धसुश्रुत ग्रन्थः कविलवलनामक १-२ वि. श.
नवीन सुश्रुत प्रणीत
सुश्रुतार्थ संदीपन भाष्यम् गंगाधर शिष्य हाराणचन्द्रचक्रवर्ति कृतम् २०-२१ वि. श.
सूक्ष्म वाग्भटः, सूक्ष्म संहिता, स्वल्पवाग्भटः,
अष्टांग हृदय संहिता, अष्टांग हृदयं वा द्वितीय वाग्भट्ट कृतः ३-४ वि.श.
सूद शास्त्रम वा भीमसेन कृतम् मद्रास वा.
सूदशास्त्रम् नलनृप कृतम्
सौश्रुतपंजिका, न्यायचन्द्रिका, चन्द्रिका, वृहद् पंजिका वा गयदास कृता ११-१२ वि.श.
सन्निपातार्णवः
सन्निपात चिकित्सा
सन्निपात कलिका अश्विनौ कृता पाण्डुलिपियाँ
सन्निपात कलिका धन्वन्तरि कृता
सन्निपात निदान चिकित्सा
सन्निपात लक्षण चिकित्सा
सन्निपात मंजरी गोविन्दवापट
स्कंद संहिता, वाहट ग्रन्थ गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय पा.पी. १०-११ वि.श.
सौश्रुत व्याख्या गयीकृता
स्वच्छंद भैरव तंत्रम् स्वच्छंद भैरव कृतम्रसशास्त्रीयो वैद्यक ग्रन्थ
हरीशवर तंत्रम् रसशास्त्रीय वैद्यक ग्रन्थः
हरीत तंत्रम् परमर्षि हारीत स्मृतम्
हारीत संहिता प्रति संस्कृत हरीत तंत्रम्
हृदय कोशः चन्द्रनन्दन कृता १०-११ वि.श.
हृदयटिप्पणम् चतुर्थ वाग्भट्ट कृतम् १४ वि.श.
हृदय टीका आशाधर कृता, अष्टांग हृदय टीका १४ वि.श.

हृदय टीका	इन्दु कृता अष्टांग हृदय टीका ११ वि. श.
हृदय टीका	अष्टांग हृदय टीका, ईश्वर सेन कृता
हृदय टीका	अष्टांग हृदय टीका सर्वहित मित्र कृता १० वि. श.

हंसराजनिदानं हंस राजीय वैद्यक शास्त्रम् वा निदान ग्रन्थ

भिषक चक्र चित्तोत्सवोवा	१८ वि.श.
हरिघारित ग्रन्थः	हरिराय शर्माकृत, वरालोकपुर इटावा से प्रकाशित वि.श. १८८३
हरमेखला	माहुक कृता उद्धृत चक्रपाणि द्वारा लेखन काल प्रकाशित त्रिवेन्द्रम् द्विखण्ड में। वि.श. १०१२
हरी चन्दन संग्रह	दामोदर मिश्र कृत
हितोपदेश	श्रीकंठ शंभुकृत शिवपंडित कृत जोधपुर
शिवचन्द्र परमशैवाचार्य कृतः	जोधपुर खेमराज प्रेस बम्बई से प्रकाशित।
हृदय दीपकः	वैद्याचार्य केशव पुत्र वोपदेव वि.श. १३२८ सन् १२६०-१२७१
हेमचन्द्र सूरि आचार्य	अभिधान चिन्तामणि माला शेषनाम माला निघंटु अनेकार्थ संग्रह १२-१३ वि.श.

अष्टाविंश अध्याय

आयुर्वेदीय शिक्षण संस्थान एवं आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाएं

सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर की मान्यता प्राप्त निम्नलिखित शिक्षण संस्थायें हैं-

स्नातक स्तर की शिक्षण संस्थायें

आन्ध्र प्रदेश

१. डॉ. बी. आर. के. आर. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज-एस. आर. नगर इरागाडा, हैदराबाद-५०० ०३८।
२. डॉ. नोरी रामाशास्त्री गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, महात्मागांधी रोड, विजयवाड़ा-५२० ००२।
३. ए. एल. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज इन्डस्ट्रीयल कालोनी, लक्ष्मीपुरा, वारांगल-५०६ ०१३।
४. श्री वेंकटेश्वर आयुर्वेदिक कालेज, टी. टी. देवस्थानम् तिरुपति-५१७ ५०७।

असम

५. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, पो. आ. जालुक्वरी, जिला कामरूप, गुवाहाटी-७८० ०१४।

बिहार

६. गवर्नमेण्ट अयोध्या शिव कुमारी, आयुर्वेद महाविद्यालय, बेगूसराय - ८५१ २१८।
७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेद महाविद्यालय, कदमकुँआ, पटना - ८०० ००३।
८. गवर्नमेण्ट श्री यतीन्द्र नारायण अष्टाङ्ग आयुर्वेदिक कालेज, पो.आ.-चम्पानगर, जिला-भागलपुर-८१२ ००४।
९. श्री रवीन्द्रनाथ मुखर्जी आयुर्वेद महाविद्यालय, मोतीहारी, जिला-चम्पारन (पूर्व)-८४५ ४०१।
१०. स्वामी राघवेन्द्राचार्य त्रिदांदी आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय, करजरा स्टेशन, पो. आ. मंझोली, गया-८२३००१।
११. दयानन्द आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज एवं हासपीटल, सीवान-८४१ २२६।
१२. आयुर्वेद मेडिकल कालेज, गया-८२३ ००१।

१३. पी. बी. एन. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन मेडिकल साइन्सेज एण्ड एस. एम. वी. सी. आयुर्वेदिक हासपीटल, रान्टे रोड, मधुवनी - ८४७ २११।

१४. गवर्नमेण्ट महारानी रामेश्वरी भारतीय चिकित्सा निज्ञान संस्थान, मोहनपुर, दंगभंगा - ८४६ ००७।

१५. गवर्नमेन्ट श्री धन्वतरि आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय अहिरौली, बक्सर-८०२००१।

१६. श्री मोती सिंह जागेश्वरी आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय छपरा-३४१३०१।

१७. नीतिश्वर आयुर्वेद मेडिकल कालेज एवं चिकित्सालय कन्हौली, पोस्ट रमना, जिला मुजफ्फरपुर-८४२००२।

दिल्ली

१८. आयुर्वेद एवं यूनानी तिब्बिया कालेज, अजमल खान रोड, करोलबाग, नयी दिल्ली - ११० ००५।

गोआ

१६. भारतीय संस्कृति प्रवोधिनी गोमान्टक आयुर्वेद महाविद्यालय एवं रिसर्च सेण्टर, न्यू बिल्डिंग, पोण्डा रोड, वाजा, शिरोडा, गोआ - ४०३ १०३।

गुजरात

२०. गवर्नमेण्ट अखण्डानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय, भद्रा, अहमदाबाद - ३८० ००१।

२१. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, परम्वेश्वर रोड, जूनागढ़ - ३६२ ००१।

२२. शेठ जे. पी. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, वेडुवा, पानवाड़ी रोड, भावनगर -३६४ ००१।

२३. श्री गुलाब कुँवरवा आयुर्वेद महाविद्यालय, धन्वन्तरि मन्दिर, जामनगर-३६१ ००८।

२४. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, अजवा रोड, पानीघाट, बड़ौदा - ३८० ०१६।

२५. आर्य कन्या शुद्ध आयुर्वेद महाविद्यालय, बड़ौदा - ३८० ०१८।

२६. श्री ओ.एच. नाजर आयुर्वेद महाविद्यालय, श्री स्वामी आत्मानन्द सरस्वती रोड, सूरत - ३६५ ००३।

२७. जे.एस. आयुर्वेद महाविद्यालय नाडियाड - ३८७ ००१।

२८. श्री बाल हनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय, लोद्र मेहसाना - ३८२ ८३५।

हरियाणा

२९. श्री कृष्ण गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, नियर डी.सी. रेजीडेंस, उम्री रोड, कुरुक्षेत्र - १३२ ११८।
३०. श्री बाबा मस्तनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक - १२४ ०२१।
३१. गौर ब्राह्मण आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल, रोहतक - १२४ ००१।
३२. श्री मारुसिंह मेमोरियल महिला आयुर्वेदिक डिग्री कालेज, खानपुर कलां, जिला - सोनपत - १३१३०५।
३३. दादरी शिक्षा ट्रस्ट मुरारिलाल आर. आयुवैदिक मेडिकल कालेज, चरखारी, दादरी-१२७३०६।

हिमाञ्चल प्रदेश

३४. राजीव गाँधी गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, पपरौला, जिला-कागड़ा - १७६ ११५।

जम्मू एण्ड कश्मीर

३५. जम्मू आयुर्वेद एवं शोध संस्थान, वन तालाव, नारडीन रायपुर (कोटमालवल रोड) जम्मू-१८१७२३।

झारखण्ड

३६. सूर्यमुखी दिनेश आयुवैदिक मेडिकल कालेज एवं चिकित्सालय दिनेश नगर पोस्ट-बुटी, रांची-८३५२१७।

कर्नाटक

३७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, धन्वन्तरि रोड, बंगलोर - ५६० ००९।
३८. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, विश्वेश्वरैया सर्किल, सय्याजी राव रोड, मैसूर - ५७० ०२१।
३९. तारानाथ गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, अनन्यपुर रोड, बेलारी - ५८३ १०१।
४०. टी.एम.ए.ई. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, ए.एन.गुडी, हेम्पी रोड, हास्पेट, जिला-बेलारी - ५८ ३२०१।
४१. श्री कालभैरवेश्वर स्वामी इन्स्टीट्यूट आफ आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज विजयानगर (आदि चोन्चन गिरि मठ) बंगलोर - ५६००४०।
४२. इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ आयुर्वेदिक मेडिसिन एण्ड रिसर्च, बंगलोर पैलेस कम्पाउण्ड, जय महल रोड, बंगलौर - ५६०००६।
४३. जे.एस.एस. आयुर्वेद मेडिकल कालेज, रामानुज रोड, मैसूर - ५७० ०१५।

४४. के.एल.ई. सोसाइटी श्री बी.एम. कंकनवाडी आयुर्वेद महाविद्यालय, शाहपुर, बेलगम - ५९० ००३।
४५. श्री शिवयोगेश्वर रूरल आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, इन्चल सौनदत्ती, बेलगम - ५९१ १२१।
४६. एस.एन.वी.वी. समस्ते, एम.जी.वी. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, बैलहोंगल, बेलगम - ५९१ १०२।
४७. कन्नाडा बालग सोसाइटी, रूरल आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज हास्पीटल एण्ड रिसर्ज सेन्टर, रामनगर, बेलगम - ५९००१०।
४८. श्री जे.जी. को आपरेटिव हास्पीटल सोसाइटी, आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, घाटप्रभा, जिला-बेलगम।
४९. आयुर्वेद महाविद्यालय, हेगेरी एक्सटेंशन, हुवली - ५८० ०२४।
५०. ए. वी. समिति आयुर्वेद महाविद्यालय, मुरनकेरी, बीजापुर - ५८६ १०१।
५१. डॉ. बी. एन. एम. रूरल आयुर्वेद मेडिकल कालेज, श्रीमती सुशीला देवी नगर कालोनी, कालेज रोड, बीजापुर - ५८६१०१।
५२. तालुका एस.पी.एस. मंडाली आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, सिंदगी - ५८६ १२८।
५३. श्री बसावेश्वर विद्यावर्धक संघ आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज एण्ड हास्पीटल, बगलकोट - ५८७ १०१।
५४. श्री भारतेश एजुकेशन सोसाइटी ग्रामीण आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, तेरदल, जिला-बीजापुर - ५८७ ३१५।
५५. श्री वीरपुलीकेशी विद्यावर्धक संस्था रूरल आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, बदामी, बीजापुर - ५८७ २०१।
५६. श्री विजय महन्वेश आयुर्वेद मेडिकल कालेज, पी.वी. नं. १५ इल्कल, जिला- बीजापुर - ५८७ १२५।
५७. श्री जगद्गुरु टी.वी. गडग आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, शिवावासावा नगर (अश्विनी नगर) न्यूबिल्डिंग, हवेरी, धारवद - ५८१ ११०।
५८. अल्वा आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, मूडविद्री, जिला- दक्षिण कन्नाडा - ५७४ २२७।
५९. के.वी.जी. कालेज ऑफ आयुर्वेद, कुरुन्जी भाग, सुल्लीया - ५७४ ३२७।
६०. अरोर लक्ष्मी नारायण राव मेमोरियल आयुर्वेद मेडिकल कालेज, कोप्पा, जिला-चिकमलूर - ५७७ १२६।
६१. श्रीधर्मस्थल मंजुनाथेश्वर कालेज ऑफ आयुर्वेद, थात्रीरोहालमा अग्रहरा रोड पी. बी. नं- १६४, हासन - ५७३२०१।
६२. आयुर्वेद मेडिकल कालेज, मनहाल्ली रोड, सिद्धारुधा कालोनी, विडार-५८५ ४०३

६३. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, १८५१/३३ अंजनिया ले आउट, दवांगेरे, जिला- चित्रदुर्गा - ५७७ ००४।
६४. बापू जी एजुकेशन सोसाइटी श्री गुरु वाल्मीकि महर्षि आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज
६५. अमरुथा आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, डोडापेठ, चित्रदुर्गा - ६५७ ७५०१।
६६. बापूजी आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, चल्लकेरे, जिला-चित्रदुर्गा - ५७७ ५२२।
६७. टी.ए.एम.ई. सोसाइटी आयुर्वेदिक कालेज, धन्वन्तरि कैम्पस, कवलगुण्डी, पोरत-भद्रवती, हलेजेडिकट्टे, जिला-शिमोगा - ५७७२२६।
६८. बापूजी आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, राजेन्द्र नगर, शिमोगा - ५७७ २०१।
६९. श्री हिंगुलाम्बिका एजूकेशन सोसाइटी आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, भवानी नगर, मक्तामपुरा, गुलवार्गा - ५८५ १०१।
७०. रूरल ई.टी. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, स्टेशन रोड, गविमठ, कोप्पल, जिला-रायचुर - ५८४ २३१।
७१. श्रीमल रिखवचन्द सुखानी आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, रायचुर - ५८४ १०१।
७२. कल्मथाडा पी.एस.वी.एस. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, मान्वी, जिला-रायचुर-५८४१२३।
७३. महागणपति आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज एवं हास्पिटल, हौसाल नगर, हल्याल रोड, धर्वाद - ५८० ००३।
७४. श्री एस.बी.एस. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, मुण्डार्गी, जिला- धाखाद-५८२ ११८।
७५. भगवान महावीर जैन आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज एण्ड हास्पीटल, गजेन्द्रगढ़ - ५८२ ११४।
७६. श्री धर्मस्थल मंजुनाथेश्वर कालेज ऑफ आयुर्वेद, पो. आ.-कुठपाडी, लक्ष्मीनारायण नगर, उडुपी - ५७४ ११८।
७७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, तिरुवनतपुरम् - ६६५ ००१।
७८. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, धन्वन्तरि नगर, पुथिया कायु, न्निपुनिपुरा, जि. - इरनाकुलम् - ६८२ ३०१।
७९. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, नियर एस. एन. पार्क, कन्नूर - ६७० ००१।
८०. वैद्यरत्नम् आयुर्वेदिक कालेज, थैकाट्टुसरी, ओल्लुर-थ्रिसुर - ६८० ३२२।
८१. वैद्यरत्नम् पी. एस. वरीर आयुर्वेद कालेज, जिला-मल्लापुरम् - ६७६ ५०१ कोट्टाकल, पो. आ.-इडीरकोड।

छत्तीसगढ़

८२. गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज एण्ड हास्पीटल, रायपुर - ४६२ ००२।

मध्य प्रदेश

८३. गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज एण्ड हास्पीटल, लश्कर, ग्वालियर-४७४ ००९।

८४. गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज एण्ड हास्पीटल, जबलपुर - ४८२ ००२।

८५. गवर्नमेण्ट धन्वन्तरि आयुर्वेद कालेज, मंगलनाथ मार्ग, उज्जैन - ४५६ ००१।

८६. गवर्नमेण्ट अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय, लालबाग, लोकमान्य नगर, इन्दौर - ४५२ ००६।

८७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज एण्ड हास्पीटल, न्यू आउटडोर बिल्डिंग, रीवा-४८६ ००१।

८८. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल, शिकारपुर, बुरहानपुर, खण्डवा-४५० ३३१।

८९. पं. खुशीलाल शर्मा आयुर्वेद महाविद्यालय एण्ड संस्थान, श्यामला हिल रोड, भारत स्काउट एण्ड गाइड भवन, भोपाल - ४६२ ००२।

९०. राजीव गान्धी आयुर्वेद मेडिकल कालेज, भोपाल।

९१. स्व. पं. शिवशान्ति लाला शर्मा आयुर्वेद मेडिकल कालेज एवं चिकित्सालय, रतलाम।

महाराष्ट्र

९२. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, वजीराबाद, नांडेड - ४३१ ५०१।

९३. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, तिलजापुर रोड, ओसमानाबाद - ४१३ ५०१।

९४. छत्रपति साहू महाराज शिक्षण संस्थान आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, कंचनवाडी, पैथन रोड, औरंगाबाद - ४३१ ००३।

९५. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, राजे रघुजी नगर, उम्रेद रोड, नागपुर-४४० ०२४।

९६. श्री आयुर्वेद महाविद्यालय, हनुमान नगर, धन्वन्तरि मार्ग, नागपुर - ४४० ००९।

९७. भाऊ साहब मुलक आयुर्वेद महाविद्यालय, नन्दनवान, नागपुर - ४४० ००९।

९८. आर. ए. पोद्दार आयुर्वेद मेडिकल कालेज, डॉ. एनीबेसेण्ट रोड, वर्ली, मुम्बई - ४०० ०१०।

९९. श्रीमती कमलादेवी श्री एम.पी. आयुर्वेद महाविद्यालय, नेताजी सुभाष मार्ग, वर्ली रोड, मुम्बई - ४०० ००२।

१००. आयुर्वेद महाविद्यालय, नियर सायन रेलवे स्टेशन, सायन, मुम्बई - ४०० ०२२।

१०१. वाई.एम.टी. आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, फोर्थ फ्लोर, त्रिवेणी संगम, मुनिसिपल बिल्डिंग, कुरे रोड (ई), मुम्बई - ४०००१२।

१०२. आर.जे.वी.एस. भाई साहब सावन्त आयुर्वेद महाविद्यालय सूतिकागृह परिसर, श्वस्तिकवाडा, सावान्त वाडा, जिला-सिन्धुदुर्ग - ४१६ ५१०।

१०३. नालासोपारा आयुर्वेद मेडिकल कालेज, नालासोपारा (पूर्व) ताल वसई जिला-थाना - ४०१२०९।

१०४. तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय ५८३/२ रास्ता पेठ, पुणे - ४११ ०११।
१०५. अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय २०६२, न्यू सदाशिव पेठ, स्वर्गीय वैद्य एच.बी. परांजापे, चौक, विजयानगर कालोनी पुणे - ४११ ०३०।
१०६. एम.ए. एम. आयुर्वेद महाविद्यालय मालवाडी, हडप्सर पुणे - ४११०२८।
१०७. कालेज आफ आयुर्वेद एवं रिसर्च सेण्टर, सेक्टर - २७ अकुर्दी प्राधिकरण पुणे - ४११ ०४४।
१०८. बी.वी. कालेज आफ आयुर्वेद कटराज धनकावाडी, पुणे सतारा रोड डूरन्डवाने, पुणे - ४११ ०४३।
१०६. आयुर्वेद महाविद्यालय नियर मडगे महाराज ब्रिज, गनेशवाडी पंचवटी नासिक - ४२२ ००३।
११०. जी. एस. जी. आयुर्वेद महाविद्यालय मालिवाडा विजामबाग अहमदनगर-४१४ ००१।
१११. श्री विवेकानन्द नर्सिंग होम ट्रस्ट' स आयुर्वेद महाविद्यालय, श्री शिवाजी नगर, पो. राहुरी फैक्टरी, ताल राहुरी अहमदनगर - ४१३७०६ ।
११२. एस. एस. ट्रस्ट आयुर्वेद मेडिकल कालेज, नासिक पुणे रोड संगमकर अहमदनगर - ४२२ ६०५।
११३. सिद्धकला आयुर्वेद महाविद्यालय, नहरू चौक, संगमकर, अहमद नगर-४२२ ६०५
११४. करमवीर व्यंकट राव तानाजी रणधीर आयुर्वेद महाविद्यालय, बोराडी, ताल-शिरपुर, जिला-धुले - ४२५ ४२८।
११५. धुले सी.एस. आयुर्वेद महाविद्यालय, आगरा रोड, देवपुर, धुले - ४२४ ००२।
११६. दादा साहब एस.एस.एन. आयुर्वेद महाविद्यालय, मुम्बई, आगरा हाईवे, नगाँव, धुले-४२४ ००४।
११७. सेठ सी.एम. आर्यगला वैद्यक महाविद्यालय, मेण्डामल, सतारा - ४१५ ००२।
११८. सेठ गोविन्द जी रावजी आयुर्वेद महाविद्यालय, २१/ए/१३, बुधवार पेठ, सम्राट चौक, सोलापुर - ४१३ ००२।
११६. बसन्तदादा पाटिल आयुर्वेद मेडिकल कालेज, साउथ शिवाजी नगर, सांगली मिराज रोड, सांगली - ४१६ ४१६।
१२०. गंगा एजुकेशनल सोसाइटीज आयुर्वेद मेडिकल कालेज, रंगकलावेश, कोल्हापुर - ४१५ ०१२।
१२१. यशवन्त आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, ए/पी. कोडाली-टेल, पनहला, जिला-कोल्हापुर।
१२२. आयुर्वेद मेडिकल कालेज, पेठ-वाडगाँव टेल, हारकांगले, जिला- कोल्हापुर।
१२३. आर.टी. आयुर्वेद महाविद्यालय, केडया प्लाट्स, जाथर पेठ, अकोला - ४४४ ००५।

१२४. आयुर्वेद महाविद्यालय, नियर रेनुका माता मंदिर, बालापुर रोड, पातुर, जिला- अकोला - ४४४ ००१।

१२५. श्री एच.बी.पी. मण्डल्स विदर्भ आयुर्वेद महाविद्यालय, हनुमान व्यायाम नगर, अमरावती - ४४४ ६०५।

१२६. श्री गुरुदेव आयुर्वेद कालेज, गुरुकुँज आश्रम, अमरावती - ४४४ ६०२।

१२७. श्री डी.एम.एम. आयुर्वेद महाविद्यालय, शिवाजी नगर, अर्मी रोड, यवतमाल -४४५ ००१।

१२८. आयुर्वेद महाविद्यालय, शंकर नगर, पुसाद यवलमाल - ४४५ २०४।

उड़ीसा

१२६. गोपबन्धु आयुर्वेद महाविद्यालय, पुरी - ७५२ ००२।

१३०. गवर्नमेण्ट आयुर्वेद कालेज, बोलनगीर - ७६७ ००१।

१३१. श्री नृसिंह नाथ आयुर्वेद कालेज एवं रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पो.आ.-पैक जिला- बरगढ़ - ७५८ ०३६।

१३२. कविराज अनन्त त्रिपाठी शर्मा आयुर्वेदिक कालेज, ए/पी अंकुशपुर, कुकुडाखण्डी, गंजम - ७६१ १००।

१३३. इन्दिरा गान्धी स्मारक आयुर्वेद मेडिकल कालेज एवं चिकित्सालय जगमार, भुवनेश्वर।

पंजाब

१३४. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटियाला - १४७ ००१।

१३५. दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, जी.टी. रोड, महात्मा हंसराज मार्ग जालंधर सीटी - १४४ ००८।

१३६. श्री एल.एन. आयुर्वेदिक कालेज, संत तुलसीदास मार्ग, अमृतसर - १४३ ००१।

१३७. श्री एस.एस.एम.डी. आयुर्वेदिक कालेज, जी.टी. रोड, विलेज-डुनका मोगा, जिला फरीदकोट - १४२ ००१।

१३८. लाला लाजपत राय आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, नियर कनाल रेस्ट हाऊस, मोगा - १४२ ००१।

१३६. देश भगत आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज एण्ड हास्पीटल, बिहाइण्ड दुर्गा मंदिर, मण्डी, जी.टी. रोड, गाडला टाऊन, गोविन्दगढ़ - १४७ ३०१।

१४०. माँ भागो आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज फॉर उमेन, मालौर रोड, मुक्तसर-१५२ ०२६।

१४१. गुरु नानक आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल, बरकाण्डी रोड, मुक्तसर-१५२ ०२६।

राजस्थान

१४२. महामना एम.एम.एम. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, अम्बामाता रोड, उदयपुर - ३१३ ००१।
१४३. नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ आयुर्वेद, आमेर रोड, माधव विलास पैलेस, जयपुर - ३०२ ००२।
१४४. श्री परसुरामपुरिया राजस्थान आयुर्वेद महाविद्यालय, सीकर - ३३२ ००१।
१४५. श्री भंवरलाल डुगर आयुर्वेद, विश्वभारती गाँधी विद्या मंदिर, सरदारशहर, जिला-चुरू - ३३१ ४०१।
१४६. आयुर्वेद महाविद्यालय, राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर।

तमिलनाडु

१४७. आयुर्वेद कालेज माइलापोर नम्बर १४४ कुटचेरी रोड, चेन्नई - ६०० ००४।
१४८. आयुर्वेद कालेज, पतंजलि पुरी कोयमवटूर - ६४११ १००।
१४६. श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती विद्यालय आयुर्वेद महाविद्यालय नजरथ पेट्टई-६०२ १०२।

उत्तर प्रदेश

१५०. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल, टुड़ियागँज, संत तुलसीदास मार्ग, लखनऊ - २२६ ००४।
१५१. ललित हरि गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एवं हास्पीटल, पीलीभीत-२६२००१।
१५२. साहू रामनारायण मुरली मनोहर गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल वासमण्डी, बरेली - २४३ ००१
१५३. स्वामी कल्याणदेव गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, रामपुर, मुजफ्फरनगर।
१५४. बुन्देलखण्ड गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल, ग्वालियर रोड, झाँसी - २८४ ००३।
१५५. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल, अतर्रा, जिला-बाँदा - २१० २०१।
१५६. श्री लालबहादुर शास्त्री मेमोरियल गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल हण्डिया इलाहाबाद २२१५०३।
१५७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी २२१००२।
१५८. आयुर्वेद महाविद्यालय वी.एच.यू., वाराणसी।
१५६. शम्मेगोसिया आयुर्वेद महाविद्यालय सहेड़ी गाजीपुर।
१६०. अलीगढ़ यूनानी एवं आयुर्वेद महाविद्यालय, अलीगढ।

१६१. साई आयुर्वेद महाविद्यालय, अलीगढ।
१६२. जे.डी. आयुर्वेद महाविद्यालय, अलीगढ़।
१६३. वैद्य यज्ञदत्त शर्मा आयुर्वेद महाविद्यालय, खुर्जा।

उत्तरांचल

१६४. ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय हरिद्वार-२४६४०१।
१६५. गुरुकुल राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय हरिद्वार-२४६४०४।
१६६. दून आयुर्वेद महाविद्यालय, देहरादून-२४८००१।

वेस्ट बंगाल

१६७. जे.बी. राय गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज एण्ड हास्पीटल १७०-१७२, राजा धीरेन्द्र स्ट्रीट कलकत्ता ७००००४

चण्डीगढ़

१६८. श्री धन्वन्तरि आयुर्वेदिक कालेज एण्ड पं. केदारनाथ मेमोरियल आयुर्वेदिक हास्पीटल, सेक्टर ४६ बी चण्डीगढ़ १६००४६

केरल

१६९. गवर्नमेण्ट आयुवैदिक कालेज, तिरुवन्तपुरम्।
१७०. राजकीय आचुर्वेद महाविद्यालय, कन्नौज केरल।
१७१. वैद्यरम् आयुर्वेद महाविद्यालय, त्रिचुर केरल।
१७२. वैद्यरत्नम् पी.एस. आयुर्वेद महाविद्यालय कोरकल, केरल।

स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षण संस्थायें

आन्ध्र प्रदेश

१. डा. बी.आर.के.आर. आयुर्वेदिक कालेज, एस.आर. नगर हैदराबाद - ५०००३८
२. डा. एन.आर.एस. राजकीय आयुर्वेद कालेज, विजयवाडा-७८१०१४।

बिहार

३. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल कदमकुआँ पटना - ८००००३

गुजरात

४. इस्टीट्यूट आफ पोस्टग्रेजुएट ट्रेनिंग एण्ड रिसर्च इन आयुर्वेद गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी न्यू ओ.पी.डी. ब्लाक जामनगर - ३६१००८

५. गवर्नमेण्ट अखण्डानन्द आयुर्वेद कालेज, भद्रा अहमदाबाद - ३८०००१

हिमाचल

६. स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान, हिमाचल प्रदेश, पपरोला कागडा।

कर्नाटक

७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, धन्वन्तरि रोड वेगंलौर - ५६०००६
८. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक मेडिकल कालेज, सयाजी राव रोड विश्वेस्वरैया सर्किल, मैसूर - ५७००२१

केरल

६. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज तिरुवनत्तपुरम - ६६५००१

मध्यप्रदेश

१०. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज ग्वालियर - ४७४००६
११. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज न्यू आउटडोर विल्डिंग रीवा-४६६००१।
१२. गवर्नमेण्ट धन्वन्तरि आयुर्वेद कालेज, मंगलनाथ रोड, उज्जैन-४५६००१।

महाराष्ट्र

१३. आर.ए. पोदार मेडिकल कालेज डा. एनीवेसन्ट रोड वर्ली मुम्बई - ४०००१८
१४. श्रीमती के.जी. मित्तल पुनर्वसु आयुर्वेदिक कालेज नेताजी सुभाष मार्ग चर्नी रोड मुम्बई - २
१५. आयुर्वेद महाविद्यालय नियर सायन रेलवे स्टेशन सायन मुम्बई - ४०००२२
१६. जी.एस.जी. आयुर्वेदिक महाविद्यालय विश्रामबाग अहमदनगर - ४१४००१
१७. आयुर्वेद महाविद्यालय नियर गज महाराज विज गनेशवाड़ी पंचवटी नासिक- ४२२००३
१८. अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय २०६२, सदाशिव पेठ स्वर्गीय वैद्य परांजपे चौक पुणे - ४११०३०
१६. तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय ५८३/२, रास्तापेठ पुणे - ४११०११
२०. आर.टी. आयुर्वेद महाविद्यालय केडिया प्लाट्स जाहर पेठ रोड अकोला - ४४४००५
२१. डी.एम.एम. आयुर्वेद महाविद्यालय अर्जी रोड शिवाजी नगर यवतमल - ४४५००१
२२ श्री एच.वी.पी. मण्डल्स विदर्भ आयुर्वेद महाविद्यालय हनुमान व्यायाम नगर अमरावती - ४४४६०५
२३. श्री गुरुदेव आयुर्वेदिक कालेज गुरुकुल आश्रम (मोजारी) जिला अमरावती

२४. एस.सी.एम. अरि अंगला वैद्यक महाविद्यालय सतारा - ४१५००३
२५. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज वजीराबाद, नानडेड - ४३१६०१
२६. श्री आयुर्वेदिक महाविद्यालय हनुमान नगर नागपुर - ४४०००९
२७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज राजा रघुजी नगर अम्रेर रोड, नागपुर - ४४००२४

उड़ीसा

२८. गोपबन्धु आयुर्वेद महाविद्यालय पुरी - ७५२००१

पंजाब

२९. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक महाविद्यालय पटियाला - १४७००१

राजस्थान

३०. नेशनल इन्टीट्यूट आफ आयुर्वेद, माधव विलास पैलेस अमर रोड-जयपुर-३०२००२
३१. एम.एम.एम. गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज अम्वा माता रोड उदयपुर - ३१३३००१

उत्तरप्रदेश

३२. स्टेट आयुर्वेदिक कालेज तुलसीदास मार्ग टुडियागंज लखनऊ - २२६००४
३३. फैकल्टी आफ आयुर्वेद, इन्स्टीट्यूट आफ मेडिकल साइन्सेज बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी - २२१००५
३४. ललित हरि स्टेट आयुर्वेदिक कालेज एण्ड हास्पीटल पीलीभीत - २५२००१

उत्तराखण्ड

३५. ऋषिकुल स्टेट आयुर्वेदिक कालेज हरिद्वार २४९४०१

वेस्ट बंगाल

३६. इन्टीट्यूट आफ पोस्ट ग्रेजुएट एजुकेशन एण्ड रिसर्च इन आयुर्वेद श्यामदास वैद्य २९४/३१ आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र रोड कलकत्ता

छत्तीसगढ़

३७. गवर्नमेण्ट आयुर्वेद महाविद्यालय, रायपुर।

आयुर्वेदीय पत्र-पत्रिकायें

आयुर्वेद वाङ्मय में कतिपय प्रमुख पत्र पत्रिकाओं का विवरण निम्नलिखित है, जो आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार में अपना योग दे रहे थे या दे रहे हैं-

१.	सद्वैद्यकौस्तुभ हिन्दी	-	शंकरदाजी शास्त्री नासिक
२.	सुधानिधि हिन्दी मासिक	-	जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, इलाहाबाद
३.	सुधानिधि मासिक	-	पं. रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी विजयगढ़ अलीगढ़
४.	धन्वन्तरि मासिक	-	दाऊदयाल गर्ग विजयगढ़
५.	प्राणाचार्य मासिक	-	बांके लाल गुप्त विजयगढ़
६.	अनुभूत योग माला मासिक	-	वैद्यराज विश्वेश्वर दयाल, वरालोकपुर इटावा
७.	आयुर्वेद विज्ञान मासिक	-	स्वामी हरिशरणानन्द अमृतसर
८.	आयुर्वेद	-	पं. गोवर्धन शर्मा छांगाजी, नागपुर
९.	स्वास्थ्य	-	कृष्णगोपाल, आयुर्वेद भवन कालेड़ा अजमेर
१०.	सचित्र आयुर्वेद मासिक	-	वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन पटना
११.	आयुर्वेद विकास मासिक	-	डा. एस.के. वर्मन दिल्ली
१२.	वैद्य सम्मेलन पत्रिका	-	धन्वन्तरि भवन पंजावी बाग ६६ नई दिल्ली
१३.	इन्द्रप्रस्थीय वैद्य सम्मेलन पत्रिका	-	दिल्ली वैद्यसभा नई दिल्ली
१४.	स्वास्थ्य सन्देश	-	आयुर्वेद कार्यालय विक्रम पटना
१५.	आयुर्वेद सन्देश पाक्षिक	-	राजवैद्य सुरेन्द्रनाथ दीक्षित नौवस्ता लखनऊ
१६.	गणमित्रम मासिक	-	पं. वासुदेव मिश्र वैद्य खेतासराय जौनपुर
१७.	जीवन विज्ञान	-	विशुद्धानन्द मारवाड़ी अस्पताल कलकत्ता
१८.	आयुर्वेद संसार	-	प्रताप आयुर्वेदिक फार्मेसी अमृतसर
१९.	वनौषधि	-	चरक अनुसंधान भवन काशी
२०.	आयुर्वेद केशरी	-	रोमश्वर मिश्र वैद्य कानपुर
२१.	आयुर्वेद केशरी	-	पं. शिवराम द्विवेदी एम.एल.ए. लखनऊ
२२.	देशीपकारक पाक्षिक	-	पं. ठाकुरदत्त शर्मा (अमृतधारा) लाहौर
२३.	आरोग्य विज्ञान	-	राजवैद्य ख्यालीराम द्विवेदी इन्दौर
२४.	आयुर्वेद मार्तण्ड	-	श्री किशोरी बल्लभ शर्मा बम्बई
२५.	वैद्यामृत	-	ठाकुरदत्त शर्मा लाहौर
२६.	रत्नाकर	-	वैद्यराज छोटेलाल जैन इटावा
२७.	इंजेक्शन विज्ञान	-	डा. राधा गोविन्द मिश्र झाँसी
२८.	नागार्जुन	-	श्री लक्ष्मीकान्त पाण्डेय कलकत्ता
२९.	जर्नल आफ आयुर्वेद	-	अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन नई दिल्ली
३०.	आयुर्वेद संजीवनी बंगला	-	भगवती प्रसन्न सेन कलिराज कोलकत्ता
३१.	आयुर्वेद वंगला	-	पश्चिम बंगीय आयुर्वेदीय फैकल्टी, कोलकत्ता

३२.	स्वास्थ्य समाचार बंगला	–	–
३३.	आयुर्वेद विकास बंगला	–	ढाका
३४.	आयुर्वेद जगत बंगला	–	विजय काली भट्टाचार्य
३५.	आर्यभिषक (मराठी)	–	शंकरदाजी शास्त्री पदे नासिक
३६.	भिषग् विलास (मराठी)	–	शोलापुर
३७.	आरोग्य मित्र	–	बम्बई
३८.	आर्य वैद्य	–	गणेश शास्त्री जोशी
३९.	आयुर्वेद पत्रिका	–	वैद्य बिन्दु माधव नासिक
४०.	वैद्य कल्पतरु गुजराती	–	जयशंकर लीलाधर त्रिवेदी अहमदावाद
४१.	आयुर्वेद विज्ञान गुजराती	–	दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री बम्बई
४२.	आरोग्य सिन्धु गुजराती	–	वैद्य गोपालजी कुँवरजी ठक्कुर पाटनकर कराँची
४३.	आरोग्य सिन्धु गुजराती	–	चन्द्रशेखर गोपालजी बम्बई
४४.	निरामय गुजराती	–	मोहनलाल व्यास आरोग्य सहायक निधि अहमदावाद
४५.	चरक गुजराती	–	संजीवनी औषधलय अहमदावाद
४६.	सुश्रुत गुजराती	–	अपाले फार्मेसी बड़ौदा
४७.	वैद्य सिन्धु गुजराती, अंग्रेजी, कन्नड़	–	वी.डी. पण्डित बंगलौर
४८.	आयुर्वेद कलानिधि तामिल	–	वैद्यरत्न पं. दुरेस्वामी आयंगार
४९.	जर्नल आफ रिसर्च इन इण्डियन मेडिसन	–	केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् नई दिल्ली
५०.	आयुर्वेदालोक	–	गुलाब कुंअरबा, आयुर्वेद रिसर्च संस्थान, जामनगर
५१.	वैद्यसखा	–	श्री ज्वाला आयुर्वेद भवन अलीगंढ
५२.	आरोग्य धाम	–	डॉ. राकेश अग्रवाल, मुजफ्फरनगर

एकोनत्रिंश अध्याय

आयुर्वेदीय-इतिहास-सन्दर्भ

इस कार्य के लिए हमने संहिताकाल से प्रारम्भ कर १९वीं शताब्दी तक के ही प्रमुख आचार्यों को चुना है। उनका क्रम विषयानुसार रखने का प्रयास किया है। विवरण निम्नलिखित हैं –

क्रम सं.	आचार्य के नाम	स्थान	ग्रन्थ का नाम	प्राप्त इतिहास ग्रन्थ के अनुसार समय	विशेष
1.	आत्रेय पुनर्वसु	कापिल्य (पांचाल की राजधानी) संकिसा	अग्निवेश तंत्र के मूल प्रवक्ता	1000 ई.पू.	विवादास्पद
2.	कांकायन	बहलीक (बुखारा)	–	1000 ई.पू.	विवादास्पद
3.	नग्नजित्	गान्धार (कन्धार)	–	1000 ई.पू.	विवादास्पद
4.	वायोविद	काशी	–	1000 ई.पू.	विवादास्पद
5.	अग्निवेश	कापिल्य (संकिसा)	अग्निवेश संहिता (अप्राप्य)	1000 ई.पू.	विवादास्पद
6.	भेल	गान्धार (कन्धार)	भेल संहिता	1000 ई.पू.	विवादास्पद
7.	हारीत	–	हारीत संहिता (अप्राप्य) उपलब्ध हारीत संहिता	1000 ई.पू. 12वीं शती	विवादास्पद
8.	चरक	पश्चिम सीमान्त प्रदेश	चरक संहिता	2री शती ई.पू.	विवादास्पद
9.	दृढ़बल	पंचनदपुर (पंजाब)	चरक संहिता का प्रति संस्करण	5वीं शती	

क्रम सं.	आचार्य के नाम	स्थान	ग्रन्थ का नाम	प्राप्त इतिहास ग्रन्थ के अनुसार समय	विशेष
10.	भट्टार हरिश्चन्द्र	उज्जयिनी	चरक न्यास (अप्राप्य) खरनाद संहिता का प्रतिसंस्करण (अप्राप्य)	6ठी शती	
11.	स्वामी कुमार	अवंती	चरक पंजिका (अप्राप्य)	6ठी शती	
12.	जंज्जट	कश्मीर	निरन्तर पद व्याख्या	6ठी शती	
13.	चक्रपाणिदत्त	बंगाल	आयुर्वेद दीपिका, भानुमती टीका, चक्रदत्त, द्रव्यगुण संग्रह	11वीं शती	
14.	शिवदास सेन	बंगला	तत्व चन्द्रिका	15वीं शती	
15.	गंगाधर राय	बंगाल	जल्पकल्पतरु	1799–1885 ई.	
16.	योगिन्द्रनाथ सेन	बंगाल	चरकोपस्कार	1871–1918 ई.	
17.	धन्वन्तरि (काशी–राज दिवोदास)	काशी	सुश्रुत संहिता के मूल प्रवक्ता	1000–1500 ई.	विवादास्पद
18.	सुश्रुत	काशी	सुश्रुत संहिता	2री शती	विवादास्पद
19.	नागार्जुन	–	सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कार	5वीं शती	
20.	गयदास	–	न्याय चन्द्रिका	11वीं शती	
21.	डल्हण	मथुरा	निबंध संग्रह	12वीं शती	
22.	वृद्धजीवक	गंगद्वार (कनखल)	काश्यप संहिता	6ठीं शती	

क्रम सं.	आचार्य के नाम	स्थान	ग्रन्थ का नाम	प्राप्त इतिहास ग्रन्थ के अनुसार समय	विशेष
23.	वाग्भट्ट	सिन्धु प्रदेश	अष्टाग संग्रह, अष्टांग ह्रदय	5वीं शती	
24.	हेमाद्रि	देवगिरि	आयुर्वेद रसायन	13वीं शती	
25.	अरुणदत्त	–	सर्वांग सुन्दरी	13वीं शती	
26.	इन्दु	–	इन्दुमती या शशिलेख।	6ठीं शती	
27.	सिद्ध नागार्जुन	दक्षिण भारत	रसरत्नाकर, नागार्जुनकक्षपुट	10वीं शती	
28.	विमलभट्ट	कर्नाटक	वृहदयोग तरगिणी, योगतरंगिणी	17 वीं शती	
29.	हर्षकीर्ति	नागपुर	योगचिन्तामणि, योग संग्रह,	17वीं शती	
30.	रसवाग्भट्ट	–	रसरत्न समुच्चय	13वीं शती	
31.	कृष्णराम भट्ट	जयपुर	सिद्ध भैषज्यमणिमाल	1896 ई.	
32.	गोपाल भट्ट	बंगाल	रसेन्द्रसार संग्रह	13वीं शती	
33.	गोविन्द दास	बंगाल	भैजज्यरत्नावली	18वीं शती	
34.	नित्यनाथ	कर्नाटक	रसरत्नाकर	15वीं शती	
35.	यशोधर भट्ट	सौराष्ट्र (जूनागढ़)	रसप्रकाश सुधाकर	13वीं शती	
36.	दत्ता राम चौबे	बम्बई	वृहदरसराज सुन्दर	1894 ई.	
37.	सोमदेव	–	रसेन्द्र चूड़ामणि	12वीं शती	

क्रम सं.	आचार्य के नाम	स्थान	ग्रन्थ का नाम	प्राप्त इतिहास ग्रन्थ के अनुसार समय	विशेष
38.	भाव मिश्र	कान्यकुब्ज (कन्नौज) काशी (डा. जाली के मत से)	भावप्रकाश	16वीं शती	
39.	रघुनाथ जी इन्द्रजी	महाराष्ट्र	निघण्टु संग्रह	1893 ई.	
40.	नरहरि	कश्मीर	राजनिघण्टु अथवा अभिधान चूणामणि	17वीं शती	
41.	मदनपाल	–	मदनविनोद निघण्टु	17वीं शती	
42.	शालिग्राम	मुरादाबाद (उ.प्र.)	शालिग्राम निघण्टु	19वीं शती	
43.	महेन्द्र भोगिक	–	धन्वन्तरि निघण्टु	10वीं शती	
44.	राजबल्लभ	कान्यकुब्ज (कन्नौज)	राजबल्लभ निघण्टु	18वीं शती	
45.	कैयदेव पण्डित	गुजरात	कैयदेव निघण्टु अथवा पथ्यापथ्य निघण्टु	1424 ई.	
46.	तीसटाचार्य	काश्मीर	चिकित्साकलिका	10वीं शती	
47.	वाचस्पति	इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली)	आतंकदर्पण	13वीं शती	
48.	माधवकर	बंगाल	माधव निदान	7वीं शती	
49.	शार्ङ्गधर प्रथम	शाकम्भरी देश	शारंगधर संहिता	13वीं शती	
50.	रुद्र भट्ट	–	शार्ङ्गधर संहिता–टीका	14वीं शती	
51.	–	–	योगरतकर	17वीं शती	

क्रम सं.	आचार्य के नाम	स्थान	ग्रन्थ का नाम	प्राप्त इतिहास ग्रन्थ के अनुसार समय	विशेष
52.	शार्ङ्गधर (देवराज पुत्र)	गुजरात	त्रिशती	15वीं शती	
53.	सोढल	दक्षिण भारत	गदनिग्रह	12वीं शती	
54.	आढ़मल्ल	राजस्थान	शार्ङ्गधर संहिता टीका	16वीं शती	
55.	वृन्द	मारवाड़	वृन्दमाधव	9वीं शती	
56.	रामराय	विजयानगर	नाड़ी परीक्षा	15वीं शती	
57.	विजयरक्षित	बंगाल	मधुकोष	13वीं शती	
58.	श्रीकण्ठ	बंगाल	मधुकोष	13वीं शती	
59.	बंगसेन	बंगाल	बंग सेनल (चिकित्सासार संग्रह)	12वीं शती	
60.	लोलिम्बराज	पूना	वैद्यावतंस, वैद्य जीवन	17वीं शती	
61.	कायस्थ चामुण्ड	राजस्थान	ज्वरतिमिर भास्कर	1489 ई.	
62.	निमिवैदेह	मिथिला	निमितन्त्र (अप्राप्य)	1000 ई.पू.	विवादास्पद
63.	जनकवैदेह	मिथिला	शालाक्यतन्त्र (अप्राप्य)	1000 ई.पू.	
64.	पूज्यपाद	आंध्र	शालाक्यतंत्र	–	
65.	जीवक	मगध	–	6ठीं शती	
66.	आत्रेय (जीवक के गुरु)	तक्षशिला के प्राध्यापक	–	6ठीं शती	
67.	पृथ्वीमल	–	कौमारभृत्य	14वीं शती	

क्रम सं.	आचार्य के नाम	स्थान	ग्रन्थ का नाम	प्राप्त इतिहास ग्रन्थ के अनुसार समय	विशेष
68.	देवेश्वर	गुजरात	स्त्रीविलास	16वीं शती	
69.	देवेन्द्र मुनि	कर्नाटक	बालग्रह–चिकित्सा	–	
70.	क्षेमराज शर्मा	इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली)	क्षेमकुतूहल	1605 विक्रम सं.	
71.	मोहमनविलास	कालपी	मोहमनविलास	1411 ई.पू.	
72.	टोडरमल	लहरपुर (सीतापुर)	टोडरानन्द (आयुर्वेद सौख्य)	1589 ई.	
73.	कौटिल्य	राजगृह	अर्थशास्त्र	300 ई.पू.	
74.	अभिनवचन्द्र	कर्नाटक	अश्ववैद्य	14वीं ई. पू.	
75.	मोरेश्वर	अहमदनगर	वैद्यामृत	1547 ई.पू.	
76.	कीर्तिवर्मा	कर्नाटक	गो वैद्य	–	
77.	मंगलराज	आंध्र	विषचिकित्सा खगेन्द्रमणिदर्पण	1360 ई.पू.	
78.	वसवराज	आंध्र	वसवराजीयम	15वीं शती	
79.	उग्रादित्याचार्य	आंध्र	कल्याणकारकम्	9वीं शती	
80.	बलभद्र नियोगी	आंध्र	वैद्य चिन्तामणि	–	
81.	वात्सायन	द्रविड़	कामसूत्र	5वीं शती	
82.	वाराह मिहिर	अवन्ती	वृहत संहिता	6ठी शती	
83.	भोजराज	धारानगरी	राजमार्त्तण्ड	11वीं शती	
84.	आनन्दराय मखी	तंजोर	जीवानन्दम्	18वीं शती	
85.	बलराम	काशी	आतंक तिमिर भास्कर	18वीं शती	

क्रम सं.	आचार्य के नाम	स्थान	ग्रन्थ का नाम	प्राप्त इतिहास ग्रन्थ के अनुसार समय	विशेष
86.	कनल एच.बाबर	तुर्किस्तान	बावर पांडुलिपि नावनीतकम	1890 ई. (प्राप्त) 3री शती (लिखी गई)	
87.	वीरसिंह ग्वालियर	वीरसिंहवलोक	1383 ई.		
88.	रघुनाथ	बम्बई	वैद्य विलास	1697 ई.	
89.	हस्तरुचि	तपागच्छ (नागपुर)	वैद्यबल्लभ	1673 ई.	
90.	वाहटाचार्य	–	अष्टांग निघण्टु	8वीं शती	
91.	माधव	–	पर्यायरत्नमाला	9वीं शती	
92.	वैद्याचार्य केशव	–	सिद्ध मंत्र	13वीं शती पूर्वार्द्ध	
93.	बोपदेव	देवगिरि	हृदयदीपक निघण्टु	13वीं शती	
94.	निश्चलकार	बंगाल	चक्रदत्त–रत्नप्रभा (अप्रकाशित)	1275 ई.	
95.	सुदान्त सेन	बंगाल		11वीं शती	

त्रिंशत् अध्याय

वृक्षायुर्वेद

व्याकरण की दृष्टि से वृक्षायुर्वेद शब्द ''वृक्ष + आयुर्वेद'' की सन्धि से उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। आयुर्वेद आयु का विज्ञान (आयुषो वेदः) है। वृक्षों को अधिकृत कर वर्णित आयुर्वेद 'वृक्षायुर्वेद' है। जिस प्रकार आयुर्वेद आयु का सम्पूर्ण विज्ञान है तथा वह आयु की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष का चिन्तन करता हुआ, स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगी के रोग का प्रशमन करता है, उसी प्रकार वृक्षायुर्वेद भी यह सभी क्रियाएं, वृक्षों को अधिकृत कर करता है। वृक्ष कैसे उत्पन्न होते हैं, क्यों उत्पन्न नहीं होते, अच्छे एवं उपयोगी वृक्षों को कैसे उत्पन्न किया जाय तथा अनुपयोगी वृक्षों को किस प्रकार उत्पन्न होने से रोका जाय, किस भूमि, जलवायु या ऋतु में कौन वृक्ष उत्पन्न होते हैं या ठीक से उत्पन्न किया जा सकता है, सम्यक् उत्पत्ति हेतु देश, काल, भूमि आदि का चयन एवं शोधन आदि वृक्ष की उत्पत्ति से सम्बन्धित सभी विषय, वृक्ष अपना जीवन निर्वाह किस प्रकार करता है, किस प्रकार विपरीत भूमि, जलवायु, ऋतु, कीट पतंगों से अपनी रक्षा करता है या हम कर सकते हैं, सम्यक रूप से लम्बे समय तक स्थिर रहने के लिए भूमि, जलवायु, ऋतु, खाद, पानी की किस प्रकार की आवश्यकता होती है या होगी आदि 'स्थिति' से सम्बोधित विषय तथा वृक्ष नष्ट क्यों होते हैं, उन्हें नष्ट होने से बचाने के लिए क्या उपाय किये जाँय या अनुपयोगी वृक्षों को कैसे नष्ट किया जाय आदि, विनाश से सम्बन्धित क्रियाओं तथा घटनाओं पर चिन्तन एवं विचार करना तथा वृक्षों के लिए क्या हितकर है, क्या अहितकर इस पर विचार करना वृक्षायुर्वेद का विषय है। यह वृक्ष के लिए हितकर-अहितकर का विचार वृक्ष के बीज, भूमि, जलवायु, उर्वरक, सिंचाई, घास-फूस, कीट-पतंगे, जीव-जन्तुओं द्वारा हानि आदि सभी के विषय में हो सकता है।

जिस प्रकार आयुर्वेद शब्द का उच्चारण होने से मनुष्य को अधिकृत कर स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी के रोग का निवारण करने वाली विधा का बोध होता है, उसी प्रकार वृक्षायुर्वेद से तात्पर्य स्वस्थावस्था में रह रहे वृक्ष के स्वास्थ्य की रक्षा तथा उसे और उत्कृष्ट बनाने का प्रयास तथा रोगी वृक्ष के रोग निवारणकारी उपायों का बोध होना चाहिए।

वास्तव में जिस प्रकार मनुष्य अधिकृत आयुर्वेद को यदि मनुष्यायुर्वेद कहने से जो बोध उत्पन्न हो, वही बोध वृक्ष अधिकृत आयुर्वेद को वृक्षायुर्वेद, हस्ति अधिकृत आयुर्वेद को हस्त्यायुर्वेद, अश्व अधिकृत आयुर्वेद को अश्वायुर्वेद आदि कहने से होना चाहिए।

वृक्षायुर्वेद शब्द के इस विस्तृत अर्थबोधक व्याख्या को अनेक विद्वानों ने सीमित अर्थों वाली व्याख्या बनाने का प्रयास किया है।

जी.पी. मजूमदार ने इसे पौधों का विज्ञान माना है, जबकि उपवनविनोद को वृक्षकृषि या वृक्षायुर्वेदफलम माना है।

आर.सी. मजूमदार ने वृक्ष से सम्बन्धित तीन पदों की निम्नलिखित व्याख्या की है–

१. वृक्षायुर्वेद – Science of Tree

२. गुल्मवृक्षायुर्वेद – Science of Plant Life

३. भेषज विद्या – Science of Medicinal Plants

एस.एस. मिश्र ने वृक्ष भेषज विद्या वृक्षायुर्वेद, गुल्म वृक्षायुर्वेद तथा वृक्षायुर्वेदयोग नामक ४ पदों में इसकी व्याख्या की है, जिसमें प्रथम तीन को शुद्ध वनस्पति विज्ञान तथा वृक्षायुर्वेदयोग को प्रायोगिक वनस्पति विज्ञान माना है।

कुछ विद्वानों ने वृक्षायुर्वेद की निकटता कृषितन्त्र से स्थापित की है, परन्तु आर.के. कॉंगले ने कृषितन्त्र, शुल्व एवं वृक्षायुर्वेद को अलग-अलग बताया है।

कौटिल्य ने भी पद 'वृक्षायुर्वेद' ही बताया है। अपने व्यापक अर्थों में यह पद वृक्ष की आयु से सम्बन्धित सभी पक्षों के होने वाले चिन्तन को अपनी विषय-वस्तु के रूप में समाहित करता हैं। वृक्ष भेषज विद्या, गुल्मवृक्षायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद योग शब्द न केवल इस वृक्ष साम्राज्य के एक हिस्से का बोध कराते हैं, अपितु कृषितन्त्र, भूमिपरीक्षण, मृदापरीक्षण, बीज शोधन आदि प्रक्रियाएं भी निदानात्मक एवं उपचारात्मक प्रक्रियाओं की भांति इसके पूरक अंग हैं।

वास्तव में जो कुछ विद्वानों ने इस शब्द को वृक्षायु (Life or Longivity of Plant + Science) के रूप में निरूपित करने का प्रयास किया। वह भी Science of Life or Longivity of Plant के मूल रूप में, मूल परिभाषा 'वृक्ष आयुर्वेद' के 'Science of Plant Life' की ही समानता करती है।

वृक्षायुर्वेद वास्तव में वृक्षों की चिकित्सा या औषधि प्रयोग से सम्बन्धित न होकर वृक्ष के जीवन से सम्बन्धित सभी पक्षों को समाहित कर वृक्ष के आयुर्वेद के रूप में प्रतिष्ठित थी।

कुछ विद्वान वृक्षायुर्वेद की कृषितन्त्र से निकटता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार वृक्षायुर्वेद में मनुष्यों की भॉंति त्रिदोष के सिद्धान्त का सफल प्रयोग नहीं किया गया। परन्तु उनकी इस बात को तभी तक सत्य माना जा सकता है, जब तक गजायुर्वेद की पुस्तकों का अध्ययन न किया गया हो, क्योंकि इसमें मनुष्य के अतिरिक्त हाथियों में भी त्रिदोष सिद्धान्त का सफल प्रयोग किया गया है।

कृषि तन्त्र एवं वृक्षायुर्वेद में समानता का कारण यह भी था कि दोनों के उद्देश्य एक समान थे। कृषि तन्त्र में फसल हेतु खेत में की जाने वाली विधियों का उपयोग वृक्षायुर्वेद में वृक्षों हेतु उपवन में किया जा सकता है। परन्तु यही विधियों का अन्तर दोनों में भेद उत्पन्न करने का भी कारक है।

आधुनिक काल में इसे कृषि एवं वनस्पति विज्ञान का संयोग या 'Arbori Horticulture' के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त वृक्षायुर्वेद शब्द दो ग्रन्थों में शब्दशः उल्लिखित है। वात्स्यायन के कामसूत्र एवं वसुदेव के ग्रन्थ में। वाराहमिहिर के प्रसिद्ध ग्रन्थ वृहत्संहिता में एक पूरा अध्याय (अध्याय ५४) वृक्षायुर्वेद से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त विष्णु धर्मोत्तरपुराण (अध्याय २०) तथा अग्निपुराण का अध्याय-२८१ वृक्षायुर्वेद से सम्बन्धित है। पूर्ण पुस्तक के रूप प्राचीन काल में कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है। मध्यकाल १२वीं शती में सूरपाल रचित वृक्षायुर्वेद ही इस विषय पर स्वतन्त्र आकर ग्रन्थ के रूप में घोषित किया जा सकता है।

सम्यक ग्रन्थ के अभाव में विद्वानों ने वृक्षायुर्वेद को अपने-अपने ढंग से समझने का प्रयास किया है। आर.सी. मजूमदार ने वृक्षायुर्वेद के विषय-क्षेत्र में निम्नलिखित सामग्री की परिकल्पना की है –

बीज का चयन, मृदाचयन, बीज शोधन, मृदा शोधन, सिंचाई, खाद, वपन, उगना, रोपण, कटाई-छटाई, निकाई-गुड़ाई, खाद, सामयिक देखभाल, फसलचक्र तथा उपज के सम्बन्ध में मौसम।

वृक्षों का वर्गीकरण, उनके वास्तुशास्त्रीय एवं स्वस्थवृत्त विषयक उपयोग, उपवन की उपयोगिता, पादपसंग्रह तथा पौधों की चिकित्सा से सम्बन्धित विषयों को इसमें रखा है।

ए.के. घोष तथा एस.एन. घोष ने भी इसी प्रकार बीज संग्रह, शोधन, मृदाचयन एवं शोधन, अंकुरण निकाई-गुड़ाई, पोषण, सिंचाई, खाद, जलवायु, तथा पौध के वास्तुशास्त्रीय एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी उपयोग को वृक्षायुर्वेद का विषय माना है।

कालक्रम में वृक्षायुर्वेद

प्रकृति के समस्त जन्तु अपने पोषण हेतु पादप-जगत पर आधारित हैं। या तो वह स्वयं पौधों द्वारा उत्पन्न आहार को ग्रहण करते हैं या उन्हें कोई अन्य जन्तु ग्रहण करता है और वह उस जन्तु को खाकर अपना पोषण करते हैं। इस प्रकार पोषण चक्र की पादप प्रथम कड़ी हैं। इनकी उत्पत्ति भी देवताओं से तीन युग पूर्व मानी जाती है –

"या औषधी पूर्व जाता, देवेभ्यत्रियुगा पुरा।'

जीवन में इसके पोषक एवं रोग निवारक प्रभावों की समीक्षा मनुष्य ने वैदिक काल पूर्व ही कर ली थी तथा उससे प्रभावित होकर इन्हें देव स्वरूप भी माना है –

'यो देवा अग्नौ यो अप्सु यो ओषधीषु, वनस्पतिषु'

अथवा

...रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः आदि मन्त्र आज भी इसका उद्घोष कर रहे हैं।

पौराणिक एवं महाभारत काल में वृक्ष परम परोपकारी देवता माने गये। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ये वृक्ष कितने धर्मात्मा एवं परोपकारी हैं, जो स्वयं पत्थर खाकर भी हमें मीठे फल देते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् की शकुन्तला की सहेलियां ये लताएं कही गयी है।

पुराणों में सौ पुत्रों के बराबर एक वृक्ष माना गया है। हानिकर पदार्थों को ग्रहण कर जन्तु जगत हेतु लाभप्रद तत्त्व देने के कारण ही वृक्ष भगवान शिव के अवतार कहे गये। उपर्युक्त उदाहरण मानव ही नहीं अपितु जन्तु-जगत में वृक्षों की उपयोगिता सिद्ध करने हेतु पर्याप्त है।

महर्षि चरक ने वृक्षों द्वारा प्रयुक्त होने वाले अवयवों में पत्र, पुष्प, फल, प्ररोह, मूल, त्वक, निर्यास, क्षार, काष्ठ, क्षीर आदि का वर्णन किया है। यह सभी अवयव आसानी से तथा समय से प्राप्त हों, उचित मात्रा में प्राप्त हों, स्वस्थावस्था में प्राप्त हों तथा स्वस्थ वृक्ष से प्राप्त हों, मनुष्य की ऐसी आवश्यकताओं ने ही उसे वृक्षों के प्रति उत्तरदायी तथा उनके पोषण एवं संरक्षण के प्रति जागरूक बनाया। वृक्षों की उपयोगिता तथा अपनी आवश्यकता के अनुरूप मनुष्य वृक्षों की देखभाल के लिए प्रयत्नशील रहने लगा, जो धीरे-धीरे विकसित होता हुआ एक सम्यक विज्ञान का स्वरूप प्राप्त करने लगा। उसकी अनुभूतियाँ संकलित होकर कुछ स्फुट श्लोकों से लेकर आकर ग्रन्थों तक का स्वरूप ग्रहण करने लगीं और ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा। काल के गाल एवं आक्रान्ताओं के दौमर्नस्य से बचकर कुछ अब भी अपने अतीत के गौरव के रूप में आधुनिक चेतना पर दस्तक देती रहती हैं।

वृक्षों की उपयोगिता से सम्बन्धित प्राचीनतम उदाहरण हड़प्पा संस्कृति से प्राप्त होता है, जिसमें कटोरे में नक्षत्रों को बीज भी भांति उगते दिखाया गया है।

संहिता, अरण्यक एवं उपनिषद काल में वृक्षों की उपयोगिता से सम्बन्धित अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं। अथर्ववेद में अनेक वृक्षों को चमत्कारिक माना गया है तथा वैदिक काल की वन्दनाओं से स्पष्ट है कि उनमें जीवन की अभिधारणा का स्पष्ट बोध था।

वृक्षों के प्रति ज्ञान भी ऋग्वेद से अथर्ववेद तक बढ़ता गया। ऋग्वेद में वृक्षों की संख्या केवल ६७ है, यजुर्वेद में यह ८१ परन्तु अथर्ववेद में यह २९८ है।

इसके अतिरिक्त वृक्षों का वर्गीकरण उनके आकार-प्रकार एवं गुण के आधार पर भी किया गया है।

यथा- वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध, ओषधि यथा -

प्रस्तृनति
स्तम्भिनी
एक श्रृंग
प्रतानवती
अंशुमती
काण्डिनी
विशाखा
जीवल
नागरारिष्ट
मधुमत्त

इसी प्रकार तैतरेय संहिता में मूल, तूल, काण्ड, बलास, पुष्प, फल स्कन्ध, शाखा, पर्ण आदि विभाजन किये गये हैं।

'वृक्षायुर्वेद' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हुआ है, जिसमें कृषितन्त्र, शुल्ब एवं वृक्षायुर्वेद जानने वाले विद्वान से सहायता लेने का निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त पाणिनि अष्टाध्यायी के दो सूत्रों, महाभारत तथा जातक कथाओं में भी वृक्षायुर्वेद से सम्बन्धित सामग्री है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में पुष्कर को वृक्षायुर्वेद का आदि उपदेष्टा तथा अग्निपुराण में धन्वन्तरि को वृक्षायुर्वेद का आदि उपदेष्टा माना है। एम.आर. भट्ट के अनुसार पाराशर भी पुष्कर के सातीर्थ्य थे। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग-संग्रह तथा निघण्टु ग्रन्थों में वृक्षायुर्वेद से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री दृष्टिगोचर होती है।

अर्थशास्त्र – कौटिल्य द्वारा रचित इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम वृक्षायुर्वेद शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसके अध्याय -२४ में कृषि से सम्बन्धित सामग्री का वर्णन है, जिसमें कृषि, जल प्राप्ति एवं सिंचाई के साथ वृक्षों के विषय में भी वर्णन है।

इसी अध्याय के श्लोक २४-२५ में वर्णन है कि जहाँ खेत समाप्त हो, वहाँ किनारे पर चढ़ने वाले अंगूर आदि तथा गन्ना तथा कुओं के किनारे सब्जियां लगायें। इसके अतिरिक्त सुगन्धित वृक्ष, ह्रीवेर पिण्डालुक आदि लगायें।

उन वृक्षों में जिनमें तने काटकर लगाये जाते हैं, तनों के कटे टुकड़े पर शहद, घी और सुअर की चर्बी एवं गोबर लगायें। ग्रन्थिल तनों पर केवल शहद लगायें।

कामसूत्र - इसमें वृक्षायुर्वेद शब्द प्राप्त होता है, परन्तु इसमें वृक्षायुर्वेद की विषय सामग्री नहीं है, अपितु यह केवल स्त्रियों के ६४ कलाओं में प्रवीण होने की एक कला है।

ब्रह्म संहिता - इस वाराहमिहिर द्वारा रचित ग्रन्थ का काल ५०५-५८० ई. माना जाता है। इसके अध्याय ५४ का नाम ही वृक्षायुर्वेद है। इसमें ३१ श्लोक हैं, जिनकी वर्ण्य सामग्री मुख्यतः निम्नवत हैं -

१. उपवन बनाने के विषय।
२. भूमि चयन एवं शोधन।
३. मांगल्य वृक्षों के बारे।
४-५. काण्डरोप्य अर्थात काण्ड कटने के बाद रोपण से सम्बन्धित विधियाँ यथा गोबर व शहद का लेप।
६. सम्यक रोपण विधि (प्ररोप्ययेत)।
७,८,९. रोपाई एवं सिंचाई।
रोपाई पूर्व-घी, उष्ट्रमीगी, शहद, विडंग, दुग्ध, एवं गोबर का लेप करें।
सिचाई - आवश्यकता एवं ऋतु के अनुसार।
१०,११,१२,१३,१४,१५,१६. चिकित्सितम् - चिकित्सा सम्बन्धी।
१६, १७ १८ - फल नाश के कारण
फलसपुष्प समृद्धि के उपाय-यथा-भेड़, बकरी, गोमूत्र, सत्तू, जल शहद का प्रयोग एवं भेड़ पालन ७ दिन।
१६, २०. बीज शोधन।
२१. तितिन्डी बीज बोने की विधि।
२२-३०. विभिन्न बीज बोने की विधि।
३१. पादसंरोपण-मंगल वृक्षों के रोपने के ज्योतिषीय विधानों का वर्णन है।

मूल रूप में वृक्षायुर्वेद का ग्रन्थ न होने पर भी ब्रह्म संहिता का वर्णन श्लाघनीय है।

सूरपाल-सूरपाल द्वारा लिखित वृक्षायुर्वेद ही एक मात्र पूर्ण ग्रन्थ है। यह नागरीलिपि बद्ध बोधायन पुस्तकालय में सुरक्षित है। सूरपाल, राजा भीमपाल के राजवैद्य एवं अन्तरंग थे। भीमपाल के पिता का नाम त्रिलोचनपाल था। इनका महमूद गजनी से युद्ध हुआ था। इस प्रकार सूरपाल का काल १२वीं शती तथा स्थान बंगाल निर्धारित होता है।

सूरपाल द्वारा रचित वृक्षायुर्वेद ग्रन्थ में ३२५ श्लोक हैं, जो १३ अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम तीन श्लोक परिचयात्मक तथा अन्तिम ३२५वां पुष्पिका स्वरूप का है। ४-२३ श्लोक में तरु महिमा का वर्णन है।

अध्याय २ में २४ से ३४ श्लोक हैं- इसमें ज्योतिष एवं स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से वृक्ष लगाने का विधान है।

सूरपाल के अनुसार घर के सामने वृक्ष नहीं लगाने चाहिए और न ही वृक्ष की छाया घर पर पड़नी चाहिए। - श्लोक - २८

अध्याय ३ - (३५-४४) भूमि का निरूपण किया गया है, जिसमें इसके तीन विभाग-

जांगल - कम वर्षा क्षेत्र।

आनूप - अधिक वर्षा क्षेत्र।

साधारण - सामान्य वर्षा क्षेत्र।

अध्याय ४ - (४५-६२) - इसमें काण्ड रोपण की विधियों, काण्ड शोधन सुरक्षा घृतादि लेप आदि का वर्णन है।

अध्याय ५ - (६३-६६) - इसमें बोने की विधियों का वर्णन है।

अध्याय ६ - (६७-१०६) - कुब्जपाजल - इसमें वृक्षों की सिंचाई तथा अधिक जल, धूप, धुएं आदि से बचाव का निर्देश है।

अध्याय ७ - (१०७-१६४) - इसमें वृक्षो के पोषण से सम्बन्धित विधियों तथा आम, ताड़ कमल, लकुच, धातृका बदरी आदि का विशेष वर्णन है।

अध्याय ८ - (१६५-१८३) - रोग जनन तथा वृक्ष रोगों का वर्णन है।

अध्याय ९ - (१८४७-२२२) - वृक्ष के रोगों की चिकित्सा विधि का वर्णन है।

अध्याय १० - (२२३-२६२) - इसमें विचित्र या Botanical Garden बनाने की विधि-वर्णन है।

अध्याय ११ - (२६३-३००) - इसमें उपवन प्रक्रिया का वर्णन है।

अध्याय १२ - (३०१-३१६) - इसमें कुआँ के लिए भूमि परीक्षा का वर्णन है।

अध्याय १३ - (३२०-३२४) - अन्नादि निष्पत्ति - इसमें अनाजों की उपज बढ़ाने सम्बन्धी वर्णन है।

इस प्रकार सूरपाल रचित यह ग्रन्थ तत्कालीन विधा का सुनियोजित प्रस्तुतीकरण है।

इसके अतिरिक्त भूधरकृत-मानसोल्लास तथा उपवन विनोद आदि ग्रन्थ भी वृक्षायुर्वेद की तत्कालीन महत्ता पर प्रकाश डालते हैं।

प्राचीन भारत में जब अन्य देशों में मनुष्यों हेतु चिकित्सा विज्ञान विकसित नहीं हो पाया था, भारत में पशु-पक्षी, वृक्ष आदि विषयक विज्ञान का विकसित होना, भारत भूमि की उर्वरता का द्योतक है। काल प्रभाव एवं आक्रान्ताओं द्वारा नष्ट-भ्रष्ट होने पर भी सूरपाल रचित ग्रन्थ तथा अन्य में प्राप्त सामग्रियाँ वृक्ष एवं मनुष्यों के सहकार पर भारतीय चिन्तन की श्रेष्ठता का प्रमाण प्रस्तुत करती रहेंगी।

एकत्रिंशत् अध्याय

आयुर्वेद में पर्यावरण एवं समाज का इतिहास

महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व चरक संहिता विमान स्थान तृतीय अध्याय में 'जनपदोध्वस' का उल्लेख विस्तार से किया है, जो पर्यावरण प्रदूषण का सबसे ज्वलन्त उदाहरण है। जनपदोंध्वस के कारण ही समाज में विभिन्न प्रकार के रोग होने का संकेत मिलता है। जनपदोध्वंस का कारण दूषित वायु, जल, देश और काल बतलाया गया है। पुनः अग्निवेश ने कहा कि इन चारों के विकृति का मूल कारण अधर्म है।

समाज के लोभमूलक अधर्म युक्त आचरण पर्यावरण एवं स्वास्थ्य दोनों के विनाश का कारण है। आयुर्वेद में पर्यावरण एवं स्वास्थ्य दोनों के विनाश में समाज ही प्रमुख कारण है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद वाङ्मय में अनेक स्थलों पर वायु, जल, देश, काल की विकृति का लक्षण तथा उनसे बचने के उपाय का विस्तार के उल्लेख मिलता है, जो पर्यावरण संरक्षण के प्रति समाज को जागरूक करने का महर्षियों का स्तुत्य प्रयास है।

इस पर्यावरण के संरक्षण हेतु वे सदैव चिन्तित रहते थे। शारीरिक स्वास्थ्य की संरक्षा एवं रोगों के विनाश हेतु उसके कारणों तथा निवारण के उपायों पर विचार किया जाता था। प्राकृतिक सन्तुलन तथा स्वास्थ्य के सहसम्बन्धों को भली-भांति समझने हेतु उन्होंने अनेक गोष्ठियों का आयोजन किया। उसके अनुसार रोगों का महत्वपूर्ण कारण मनुष्य की प्रकृति से विमुखता बतलाया गया है।

चरक चिकित्सा (१-४-३) में उल्लेख आया है कि जब ऋषिजन ग्रामों में निवास करने लगे और ग्राम्य अन्न गोधूम (गेहूं) आदि का आहार सेवन करने लगे, तो उनके शरीर अधिक स्थूल और मेदस्वी हो गये, उनकी शारीरिक चेष्टाएं मन्द पड़ गयीं और वे अस्वस्थ होने के कारण अपने दैनिक जीवन निर्वाह में असमर्थ हो गये। उन्हें इस बात का आभास हुआ कि हमारे अस्वास्थ और मन्दता का कारण ग्रामवास है। अतः उत्तम यह होगा कि हम लोग ग्रामवास को छोड़कर हिमालय पर चलें। जहां ग्रामवास जनित दोष नहीं होते, वह पवित्र और शान्त स्थान गंगा-यमुना का उद्गम स्थल है। वह दिव्य तीर्थ है, जहां दिव्य औषधियां उत्पन्न होती हैं। इस निश्चय के अनुसार भृगु, अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठ कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि महर्षि हिमालय पर चले गये।

वहां शचीपति इन्द्र ने महषियों का मधुर वचनों से स्वागत किया और उनके स्वास्थ्य हानि के प्रति शोक प्रकट करते हुए कहा कि ग्रामवास दोषों का मूल कारण है। आप लोगों

ने अच्छा किया, उसे छोड़ कर चले आये। इससे स्पष्ट है कि आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व समाज पर्यावरण के प्रति जागरूक था।

प्राचीन काल में ऋषियों ने सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए अथवा किन्हीं विवादास्पद विषयों में उत्पन्न सन्देह निवारणार्थ ऋषि-परिषद् का आयोजन करने की पद्धति अपनायी थी, उसी परम्परा के अनुसार आयुर्वेद के मनीषियों ने भी सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु समय-समय पर ऋषिपरिषदों (Seminar & Symposium) का आयोजन किया था, जिसका उल्लेख अनेक स्तरों पर उपलब्ध होता है।

चरक संहिता में उल्लेख आया है कि विभिन्न समस्याओं के समाधान के निमित्त अनेक ऋषिपरिषदें सम्पन्न हुई थीं,

१. दीर्घञ्जीवितीय	अध्याय चरक	सूत्रस्थान १/६-१६
२. वातकलाकलीय	अध्याय चरक	सूत्रस्थान १/२/३-१४
३. यज्जः पुरुषीय	अध्याय चरक	सूत्रस्थान २५/३-३५
४. आत्रेय भद्रकाप्यीय	अध्याय चरक	सूत्रस्थान २६/३-६
५. खुड्डीकागर्भावक्रान्ति	अध्याय चरक	शारीस्थान ३/३ २६
६. शरीर विचय	अध्याय चरक	शारीस्थान ६/२१
७. फलमात्रासिद्धि	अध्याय चरक	सिद्धिस्थान ११/३/३०

इसमें प्रथम ऋषि परिषद् हिमालय के पार्श्व प्रदेश (उपत्यका) में एकत्र हुआ था। चतुर्थ ऋषिपरिषद् चैत्ररथ (चित्राल) नामक रमणीय वन प्रदेश में आयोजित किया गया था। इन परिषद्ों में अनेकों महर्षियों, विद्वानों, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों द्वारा सम्मिलित होने का उल्लेख प्राप्त होता हैं, द्वितीय वातकलाकलीय ऋषिपरिषद् वात (वायु) की कला (गुण) तथा अकला (दोष) पर विचार करने और परस्पर ऋषियों के मत के जिज्ञासा की दृष्टि से सम्पन्न हुई। वायु के विषय में यह प्रश्न किया गया कि वायु के गुण कौन हैं ? वाुय क्यों प्रकुपित होता है ? कैसे शान्त होता है ? कुपित एवं स्वस्थ वायु के लक्षण क्या हैं ? शरीर के भीतर और बाहर वायु के क्या कर्म हैं ? कुश, भारद्वाज कांकायन और वडिश ने क्रमशः वायु के गुण, प्रकोपक कारण, प्रशमन कारण तथा प्रकोपण गुण एवं प्रशमन गुणों का विवेचन किया है। तदनन्तर आचार्य वायोर्विद् ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि वायु ही शरीर धारक, मन का नियन्ता और आयुष्य का नियामक है। प्रकृतिस्थ वात् ही शरीर के भरण-पोषण की व्यवस्था के संचालन से जीवन को स्थापित करता है। वात (वायु) जब प्रकृपित होता है, तो शरीर एवं मन में विकार उत्पन्न होते हैं। प्रकृपित वायु, प्राणवायु के क्रिया को अवरुद्ध कर देता है। इस ऋषिपरिषद् में कई ऋषि उपस्थित थे।

१. कुश साङ्कृत्यायन,

२. कुमारशिरा भारद्वाज

३. कांकायन वाह्लीकभिषुक

४. वडिश धामार्गव

५. वार्योविद

६. मारीचि

७. काप्य

८. पुनर्वसु आत्रेय

मारीच ने पित्त के अन्तर्गत स्थित अग्नि की महत्ता बतलाते हुए कहा कि पित्त के स्वाभाविक स्थिति रहने पर मनुष्य स्वस्थ रहता है, अन्यथा वह रोग से ग्रस्त हो जाता हैं पुनः 'काप्य' ने श्लेष्मा (कफ) के अन्तर्गत 'सोम' को ही शरीर के आरोग्य एवं अनारोग्य का कारण बतलाया। अन्त में पुनर्वसु आत्रेय ने सभी ऋषियों के कथनों की प्रशंसा की और निर्णय दिया कि शरीर में जब वात (वायु), पित्त (अग्नि), कफ (जल) प्राकृतिक स्थिति में होते हैं, तब ये पुरुष का आरोग्य (कल्याण) करते हैं। अन्यथा ये रोग का कारण बन जाते हैं।

शरीर में इन वात-पित्त-कफ की तुलना वाह्य प्रकृति के वायु, सूर्य एवं चन्द्र से की गयी है। पित्त की व्युत्पत्ति, तप सन्तापे और कफ की 'केन जलेन फलति' होने से इनका जगत में गुणात्मक साम्य वायु, अग्नि और जल से है। अतः वात-पित्त-कफ का साम्य वाह्य जगत् में वायु, अग्नि जगत् एवं जल के सन्तुलन से सम्बन्धित है।

आयुर्वेद में उपजीव्य शास्त्रों में भी पर्यावरण सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री वर्णित है। अथर्ववेद में पृथ्वी को माता कहकर उसके प्रति सम्मान एवं श्रद्धा व्यक्त किया गया है। पृथ्वी को धरती मां कहने का तात्पर्य यही है कि हम उसका एवं उसकी सम्पदा का विदोहन न करें। प्रकृति के प्रति देवत्व की भावना भारतीय परम्परा की विशेषता रही है। अग्नि को अग्निदेव, वायु को प्राण देवता, सूर्य को सूर्य देव, जल को वरुण कहकर उनकी स्तुति की गयी है तथा सभी में ईश्वर का निवास माना गया है।

यो देवाऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।

योषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः।। (उपनिषद)

अर्थात् जो अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी आकाश, औषधि एवं वनस्पतियों में विद्यमान है, उस देव को हम नमस्कार करते हैं। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी एवं आकाश में मैं हूँ।

पर्यावरण के सन्दर्भ में वनों एवं वृक्षों के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। वेद, आरण्यक, उपनिषद् एवं स्मृतियों का मनन एवं चिन्तन वनों में हुआ है, इतना

ही नहीं रामायण में अरण्य काण्ड एवं महाभारत में 'वनपर्व' का नाम वृक्षों के प्रति भारतीयों की श्रद्धा एवं आस्था का प्रतीक है।

पुनः प्रकृति को ईश्वर के समकक्ष स्थापित कर उसकी पूजा एवं स्तुति का विधान बताया गया है – द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिवनस्पतयः शान्तिः।'' इस वैदिक मंत्र का पाठ प्रत्येक शुभकार्य के प्रारम्भ में अब भी अनिवार्य है।

वेदों से प्राचीन कोई वाङ्मय नहीं है। वेद के शान्ति पाठ में सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड में शान्ति की शुभकामना की गई है। शान्ति पाठ में जिन पांच तत्वो की शान्ति का उल्लेख है, वे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश है। किसी के भी कुपित होने पर क्रमशः भूकम्प, बाढ़ जलप्लावन, दावाग्नि एवं भयंकर तूफान की स्थिति आ सकती है। उपासना से पांचों तत्व शान्त रहते हैं।

महाभारत में कहा गया है कि –

अहमश्वत्थरूपेण पालयामि जगत्त्रयम्।
अश्वत्थो न स्तिथो यत्र प्रतिष्ठितः।। (वैष्णव धर्मपर्व १६)

अर्थात् राजन ! मैं ही पीपल के वृक्ष के रूप में रहकर तीनों लोकों का पालन करता हूँ, जहां पीपल का वृक्ष नहीं है वहां मेरा वास नहीं है। गीता में भी भगवान कृष्ण ने कहा है, मैं वृक्षों में पीपल वृक्ष हूँ। (गीता १०/२५)

अथर्ववेद में कहा गया है कि शमी (खेजड़ी) एवं पीपल की पूजा से बांझ स्त्री को पुत्ररत्न प्राप्त होता है।

शमीमश्वत्थ आरूढ़स्त्रत पुसंवन कृतम।
तद वै पुत्रस्य वेदनं तत स्त्रीव्यामरामति।। (अथर्ववेद ६१२-११ प्रथम पद)

मत्स्य पुराण में कहा गया है कि दस कुंओं के बराबर एक बावड़ी, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र तथा दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष लगाने का फल है।

दशकूपसमोवापी, दशवापीसमोह्रदः
दशह्रदसमोपुत्रः, दशपुत्रसमोद्रुमः।। (मत्स्यपुराण ५१२)

पदमपुराण में कहा गया है कि जिस स्थान पर तुलसी का पौधा रहता है, वहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि समस्त देवता निवास करते हैं। अतः जो भक्त तुलसी की नित्य श्रद्धापूर्वक पूजा-अर्चना करते हैं, उनको अनायास ही सभी देवों की पूजा एवं फल का लाभ प्राप्त होता है। शास्त्रों के अनुसार यदि प्रातः दोपहर एवं संध्या तीनों पहर तुलसी का सेवन

किया जाए, तो सेवन करने वाले की काया इतनी शुद्ध हो जाती है, जितनी अनेक बार चन्द्रायण व्रत करने से भी नहीं होगी। लक्ष्मी और तुलसी का सम्बन्ध भगवान विष्णु के साथ होने से पुराणों में ऐसा कहा गया है कि जिस घर के आंगन में तुलसी का पौधा नहीं होता, वहां लक्ष्मी का निवास नहीं होता।

तत्रकेशवसान्निध्य यत्रास्ति तुलसीवनम्।
तत्र ब्रह्मा च कमला सर्वदेवगणैः सह।। (पद्मपुराण २६/३८)

आज भी कार्तिक माह की एकादशी पर विष्णु भगवान की प्रसन्नता के लिए तुलसी एवं विष्णु का विवाह उत्सव मनाया जाता है। इसी कारण तुलसी को हरिप्रिया, विष्णुप्रिया, विष्णुवल्लभा आदि नामों से पुकारा जाता है। इसलिए कहा गया है कि जिस प्रसाद (चरणामृत) आदि में हरिप्रिया तुलसी नहीं होती है, उस प्रसाद को हरि (भगवान) स्वीकार नहीं करते हैं।

अपने अनेक गुणों के कारण तुलसी केवल हिन्दू-परिवार में ही नहीं, बल्कि बौद्ध, जैन, एवं सिक्ख धर्मों में भी समान रूप से पूज्य है। तुलसी का पौधा स्वास्थ्य लाभ में प्रयुक्त होने के साथ-साथ अपने आस-पास का वातावरण को शुद्ध करने की क्षमता रखता है। तुलसी के पौधे के गमले या तुलसी का रोपण घर में करने से मच्छरों का उपद्रव समाप्त हो जाता है। कारण इसके पत्तों में कीटनाशक गुण होते हैं तथा मच्छर इसके पौधे से दूर भागते हैं। इसकी गन्ध वायु के साथ जितनी दूर तक जाती है, वहाँ का वातावरण एवं निवास करने वाले सब प्राणी पवित्र एवं निर्विकार या रोगरहित हो जाते हैं। दूषित एवं विषैली वायु शुद्ध हो जाती है। इसीलिये तुलसी के पौधे को प्रत्येक सद्गृहस्थों के घरों, मन्दिर, देवालय, तीर्थ-स्थान एवं पूजा स्थलों में वातावरण शुद्धि के लिए लगाए जाते हैं।

सर्प भय से दूर होने के लिए किसी पेड़ की जड़ को धारण करना, युद्ध में विजय, ग्रहों की स्थिति को मजबूत करने के लिए कई जड़ों या वृक्ष की लकड़ियों को धारण किया जाता है। तुलसी की माल, रूद्राक्ष की माला, चन्दन की माला, स्फटिक, वैजयन्ती, कमलबीज एवं हरिद्रा की माला का प्रयोग आज भी प्रचलित है। नीम, गुडुची, अशोक, तुलसी, हरिद्रा, शंखपुष्पी, धात्री, हरितकी, विभीतक, विल्व आदि ऐसे पेड़-पौधे हैं, जिनका अकेले प्रयोग ही अनेक रोगों को नष्ट करने में उपयोगी है। पीपल के पेड़-पत्तों का भूत बाधा में बहुत प्रयोग किया जाता है। कार्तिक मास में आंवले का पूजन किया जाता है। अक्षय नवमी को आँवले के वृक्ष का पूजन और उसका प्रसाद ग्रहण करने का विधान है।

हमारे देश में वट-सावित्री, अशोक-पूजा, पीपलार्चन, धात्री-पूजा, तुलसी-पूजा, आम्र-विवाह की परम्परा आज भी समाज में दिखाई पड़ती है। दूब घास, बिल्वपत्र, पुष्प, अपामार्ग और ऋतुफल के बिना पूजा ही अधूरी रह जाती है।

यहाँ पर्वतों को देवतुलय माना गया है, गोवर्धन पूजा इसका अनुपम उदाहरण है। महाकवि कालिदास ने हिमालय को देवात्मा कहा है- "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवात्मा हिमालया नाम नगाधिराजः।" इसी प्रकार चित्रकूट (कामद गिरी), विन्ध्याचल एवं महेन्द्र आदि पर्वतों का उल्लेख मिलता है।

ऐसी मान्यता है कि नदियों में स्नान करने एवं जल-सेवन करने से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट दूर होते हैं, यही कारण है कि इन नदियों के तट पर विशाल कुम्भ पर्व प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन एवं नासिक में आयोजित होता है। विशेष ग्रह नक्षत्र का संयोग होने पर इनका महत्व और भी बढ़ जाता है।

उत्तर दिशा में बद्रीकाश्रम, केदारनाथ, गंगोत्री, जमुनोत्री, दक्षिण में रामेश्वरम्, पश्चिम में द्वारिका एवं पूर्व में पुरी जैसे तीर्थस्थलों की धार्मिक यात्रा की परम्परा हिमालय पर्वत एवं हिन्द महासागर तथा अरब सागर का दर्शन पर्यावरण एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

पर्व एवं उत्सव आदि भी प्रकृति-संरक्षण का उपदेश देते हैं। नागपंचमी पर नागों की पूजा का भाव यही है कि पर्यावरण सन्तुलन के लिए प्रत्येक जीवो की उपस्थिति अनिवार्य है। इससे भी अधिक जनजीवन और वन जीवन का सन्तुलन बनाये रखने में सहायक सर्प-गोधा प्रकृति विषाक्त प्राणियों, सिंह-व्याघ्र प्रकृति हिंसक प्राणियों, गो-वाराह, प्रकृति गृह प्राणियों मत्स्य कच्छ, प्रकृति जलचरों और गरुड़ प्रकृति नभचरों को भी 'देव' संज्ञा प्रदान करने उनके पालन-रक्षण एवं पूजन का विधान किया गया। अतः हमें उनका संरक्षण करना चाहिए। शारदीय तथा वासन्तिक नवरात्र पर्व एवं पंजाब में मनाया जाने वाला वैशाखी ऋतु परिवर्तन से सम्बन्ध रखता है।

प्रतिदिन चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य, समिधा एवं गाय के घी से हवन करने का विधान है। इससे प्रदूषण दूर होकर वायुमण्डल शुद्ध होता है। यज्ञ कर्म के लिए नाना प्रकार की औषधियों, वनस्पतियों और समिधाओं का उल्लेख मिलता है। इन सबके व्यवहार की विधि का सम्यक् उल्लेख धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल से आयुर्वेद की दृष्टि में समाज एवं पर्यावरण की सन्तुलित सहभागिता पर केन्द्रित था, जो आज भी अवलोकनीय है। केवल आयुर्वेदीय विधि से समाज पर्यावरण संरक्षण हेतु सचेत रहे, तो देश का कल्याण हो सकता है।

द्वात्रिंशत् अध्याय

आयुर्वेद में अनुसंधान पद्धति का इतिहास

आयुर्वेद मूलतः एक अनुभूतिपरक विज्ञान हैं, इसमें सृष्टि के व्यापार से अनुभूत तथ्यों का तर्क शास्त्रीय ढंग से चिन्तन कर सिद्धान्तों की स्थापना की गई है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान के जनक महर्षि चरक ने सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए कहा है-

सिद्धान्तों नाम सः यः परीक्षकैर्बहुविधपरीक्ष्य।
हेतुभिश्च सांधयित्वा स्याप्यते निर्णयः।। च.वि. ८

अर्थात् सिद्धान्त वह निर्णय है, जो कि बहुत से परीक्षकों द्वारा बहुत सारी विधियों से परीक्षा करके विभिन्न हेतुओं से सिद्ध करके स्थापित किया जाता है, चरक ने प्रमाणों के लिए अनेक स्थान पर परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है। इसी के लिए उपलब्धि, साधन, ज्ञान, विज्ञान, प्रमाण एवं विज्ञानोपाय शब्दों का प्रयोग हुआ है। चरक सूत्र अध्याय ग्यारह में सत् (भाव) व असत् (अभाव) पदार्थो का ज्ञान या परीक्षा चार प्रकार से बताया गया है। आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्ति अर्थात् संसार में जितने भी व्यक्त एवं अव्यक्त भाव है, वे सभी इन चार प्रमाणों द्वारा जाने जा सकते है।

द्विविधमेव खलु सर्व सच्चासच्च, तस्य चतुर्विध परीक्षा आप्तोपदेशः,
प्रत्यक्षम्, अनुमानं, युक्तिश्चेति।। च.सू. ११/१७

परिवर्तन सृष्टि का नियम है जिसका कि एक कारण मानव की अनुसंधानपरक सोच माना जा सकता है। प्राचीनकाल से मनुष्य एक के एक बाद तथ्य का ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान एवं विज्ञान की वृद्धि करता आया है। यही कारण है कि अग्नि जिसको आदिमानव ने दो पत्थरों के रगड़ से निकलते हुए देखा था। आज उसी का प्रयोग विभिन्न स्वरूपों में विभिन्न प्रयोजनों के लिए किया जाता है।

आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) में तो कार्य कारण भाव और अनुसंधान की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य रूप से मिलता ही है। आयुर्वेद संहिताओं में भी इसका वर्णन बहुतायत से मिलता है। चरक ने ज्ञान प्राप्ति के तीन साधन बताये है अध्ययन, अध्यापन और तद्विद् संभाषा। चरक संहिता में ऐसी अनेक परिषादों का वर्णन है, जिनमें अनेक विचारणीय विषयों पर विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मत रखें और अध्यक्ष द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना का निर्णय लिया गया है, इनमें मुख्य रूप से आयुर्वेद अवतरण संबंधी संभाषा परिषद् जिसका वर्णन चरक सूत्र अध्याय एक में, त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) संबंधी संभाषा

परिषद् जिसका वर्णन चरक अध्याय बारह में है, पुरुष एवं रोग उत्पत्ति संबंधी परिषद चरक सूत्र २५ में है, रस संख्या निर्णय संबंधी संभाषा परिषद चरक सूत्र २६, गर्भ की उत्पत्ति किससे और कैसे होती है, चरक शारीर अध्याय ३ में, गर्भ में पहला अंग कौन सा बनता है चरक शारीर अध्याय ६ आदि में वर्णन प्राप्त है, इन परिषदों का आयोजन कार्यशैली एवं सिद्धान्त स्थापना का जो विषय संहिताओं में मिलता है वह महर्षियों की वैज्ञानिक शोध समीक्षा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। परिषदों द्वारा अनुमोदित होने के बाद ही कोई सिद्धान्त बनता और व्यवहारित होता था। चिकित्सा कर्म के लिए भी लिखा गया है **वैद्यसमूहोनिः संशयं कराणाम्** अर्थात् आधुनिक युग के समान प्राचीनकाल में चिकित्सक गंभीर रोगों में परस्पर विचार-विमर्श करके ही निर्णय लेते थे, विभिन्न विषयों पर पक्षपातरहित होकर विचार करने का निर्देश संहिताओं में दिया गया है जो कि पूर्ण वैज्ञानिकता का द्योतक है।

वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ।। च.सू. २५/२७
मुक्त्वैवं वादसङ्ग्रहमध्यात्ममनुचिन्त्यताम।
नाविधूते तमः स्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते।। च.स. २५/२८

अर्थात् वाद प्रतिवाद की प्रक्रिया से किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार जैसे कि तेल पेरने वाला मनुष्य घूम फिर कर पुनः उसी स्थान पर आ जाता है, जहाँ से चला था, वाद प्रतिवाद में भी मनुष्य अपने पक्ष पर केन्द्रित रहता है और किसी प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उसे छोड़कर आध्यात्मिक चिन्तन अर्थात् समन्वयात्मक रूप में निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करनी चाहिए क्योंकि तम अंधकार नष्ट नहीं होता, तब तक योग्य एवं स्थिर सिद्धान्त का ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार आयुर्वेद अनुसंधान पद्धति के स्वरूप को दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

१. अनुसंधान का सैद्धान्तिक स्वरूप
२. अनुसंधान का व्यवहारिक स्वरूप

१. अनुसंधान का सैद्धान्तिक स्वरूप- आयुर्वेद में अनुसंधान की परम्परा उतनी ही पुरानी है, जितना कि आयुर्वेद। विभिन्न इतिहासकारों द्वारा वर्णित आयुर्वेदा अवतरण परम्परा यदि ध्यान से चिन्तन किया जाय, तो वह पूर्ण अनुसंधानात्मक प्रतीत होती है, पूर्व में प्रचलित वैदिक चिकित्सा प्रणाली जो कि मुख्यतः दैवव्यपाश्रय चिकित्सा थी, का अनुसरण करने के बाद भी समस्त शरीरधारियों को नष्ट करने वाले विघ्न स्वरूप रोग उत्पन्न होने

लगे, तब परम तपस्वी महर्षिगण जो कि आप्त पुरुष कहलाते है। ज्ञान, विज्ञान, तप ब्रह्मचर्य एवं सर्व विद्यायुक्त थे, हिमालय के निर्विघ्न एकांत स्थान में एकत्रित हुए और उस शुभ स्वच्छ और पवित्र हिमालय के तलहटी में बैठकर विचार-विमर्श कर समस्या का समाधान सोचने लगे। तदोपरान्त सर्वसम्मति से परम तपस्वी महर्षि भारद्वाज को इन्द्र के पास स्वर्ग में आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भेजा। इससे पूर्व आयुर्वेद केवल देवलोक की ही विद्या समझा जाता था, जिसका कि ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा से दक्ष प्रजापति, इनसे अश्वनी और अश्वनी से इन्द्र ने प्राप्त किया था।

> विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।
> तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्य व्रतायुषाम्।। च.सू. १/६
> तदा भूतेष्वननुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः।
> समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे।। च.सू. १/७

आत्रेय परम्परा के अनुसार महर्षि भारद्वाज पहले व्यक्ति थे, जो आयुर्वेद का ज्ञान त्रिसूत्र हेतुलिङ्गौषध के रूप में इन्द्र से पृथ्वीलोक पर लाये और बिना कुछ परिवर्तन किये समस्त ऋषियों को ज्यों का त्यों सुनाया। यहाँ हेतु निदान, लिङ्गलक्षण और औषध चिकित्सा को इंगित करता है। हेतु एवं लिंग को विकसित कर निदान पंचक जिसके अन्तर्गत निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं संप्राप्ति आते है कि स्थापना की गयी और औषध से चिकित्सा मुख्यतः युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा, जो कि चरक का मुख्य अवदान है, किया जाता है।

> हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
> त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः।। च. सू. १/२४

अन्वेष्ण की परम्परा कभी समाप्त नहीं होती, त्रिसूत्र रूप में आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ऋषियों के सामने समस्या थी कि इसे व्यवहारिक स्वरूप कैसे दिया जाय, इसी के लिए पुनः सभी ऋषियों ने ध्यानस्थ होकर अपने ज्ञान चक्षुओं से छः पदार्थो को देखा, देखने का तात्पर्य यहाँ वैज्ञानिक चिन्तन और अन्वेष्ण से है, जिस प्रकार वैशेषिक दर्शन में सृष्टि ज्ञान के लिए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय छः पदार्थो को स्वीकारा है, वैसे ही आयुर्वेद में भी उभयलोक हितार्थ सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म एवं समवाय इन छः पदार्थो को माना है, परन्तु जैसा कि प्रतीत होता है इनकी गणना का क्रम भिन्न है, वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य को प्रमुख होने के कारण प्रथम पदार्थ माना है, जबकि आयुर्वेद में चिकित्सा की दृष्टि से सामान्य को प्रथम स्थान दिया है, अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि जिसके लिए जिसकी प्रधानता थी, उसने उसी के अनुरूप पदार्थो का वर्णन किया है, यही कारण है कि आयुर्वेद को एक स्वतंत्र मौलिक दर्शन कहा जाता है जो कि

इसके अनुसंधानात्मक स्वरूप को दर्शाता है क्योंकि इसके विषयवस्तु को इसने अपने अनुसार प्रदर्शित एवं व्यवहारित किया है।

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान्‌ द्रव्याणि कर्म च।। च.सू. १/२८
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम्‌।।

आयुर्वेद एक सर्वपरिषद्‌ शास्त्र है, अतः दर्शनशास्त्र की अवधारणा **यद्‌ ब्रह्माण्डे तद्‌ पिण्डे** अर्थात्‌ जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड (प्राणीमात्र) में भी के अनुरूप आयुर्वेद में भी **पुरुषोऽयं लोक सम्मितः** का अनुसरण किया गया है, जिसके अनुसार जो लोक/संसार में है वही पुरुष/मनुष्य में भी विद्यमान है, इसी मान्यता पर आधारित विभिन्न सिद्धान्तों की रचना आयुर्वेद की अपनी मौलिक अवधारणा है, जैसे पंच महाभूत का सिद्धान्त, त्रिदोष का सिद्धान्त, प्राणी एवं रोग उत्पत्ति का सिद्धान्त आदि। जो सृष्टि में है वही प्राणी में भी, के अनुसार प्राणी का अध्ययन सृष्टि के सन्दर्भ में किया गया है। शरीर पंच महाभूतों से बना है और उसमें चेतना का प्रादुर्भाव आत्म तत्व के कारण होता है। आयुर्वेद के अनुसार सृष्टि के सभी तत्व पंचभौतिक है- **पाञ्च भौतिकमऽस्मिनार्थे तच्चेतनावचेतनम्‌ च (च. सू. २६/१०)**। वाह्य वातावरण का संचालन जिस प्रकार परमेश्वर के द्वारा होता है, उसी प्रकार शरीर एवं इनकी क्रियाओं का संचालन आत्म तत्व के कारण होता है। इसी तर्क के आधार पर लोक पुरुष साम्य का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। ऋषियों ने अपनी व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण कर जो परिणाम निकाले, वे आज भी उतने ही उपयोगी एवं स्थिर हैं। यदि इस सिद्धान्त को आधुनिक परिपेक्ष में देखा जाय, तो मनुष्य एवं वातावरण का संबंध बड़े ही व्यापक स्वरूप में दिखाई देता है, जिसके कि हानि एवं लाभ कर परिणाम समाज के सामने है।

आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोषवाद जो मुख्य रूप से संहिता काल का माना जाता है, का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध है। ओज, तेज एवं प्राण जिसका वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है का तात्पर्य संहिता निर्दिष्ट वात पित्त कफ से ही है, परन्तु इसे वैज्ञानिक एवं व्यवहारिक स्वरूप देने का श्रेय संहिता ग्रन्थों को ही है। जिसके अनुसार वात पित्त कफ को सृष्टि में ¬पस्थित सूर्य, चन्द्रमा एवं वायु के सदृश्य माना गया है, जो कि क्रमशः शरीर एवं सृष्टि का संचालन करते है। जैसा की आचार्य सुश्रुत ने कहा है-

विसर्गादानाविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगदेहं कफपित्तनिलास्तथा।। सु.सू. २१/८

आचार्यों में सदैव ही शास्त्रार्थ ज्ञान से आयुर्वेद के ज्ञान का उपवृहण एवं पोषण किया दर्शन शास्त्र से लिए गये ज्ञान का उपयोग कर अपने ज्ञान का विस्तार किया एवं नये-नये सिद्धांत स्थापित किये। षट्पदार्थ, परमाणुवाद, क्षणभंगुरवाद, स्वभावपरमवाद, सत्कार्यवाद, आदि अनेक सिद्धांतों का उपयोग चिकित्सा में किया। परमाणु वाद के आधार पर चरक ने शरीर अवयवों की संख्या को अपरिसंख्येय बताया है। **शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येयाभवन्ति च.स. ७/१७** इसी प्रकार शरीर स्थान के चौथे अध्याय में शुक्र शोणित की विकृतियों को बीज, बीज भाग, बीज भाग अवयव के रूप में विभाजन करके वर्णित किया है, जो कि आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी पूर्ण वैज्ञानिक सिद्ध होता है। रस, गुण, वीर्य, विपाक, एवं प्रभाव आदि का निरूपण भी वैज्ञानिक रीति से किया गया है।

इन सिद्धांतों को स्थापित एवं विकसित करने के साधन क्या थे, यह अज्ञात है, परन्तु यह तो निश्चित है कि आयुर्वेद में वैज्ञानिक अनुसंधान की पृष्ठभूमि अत्यंत सुदृढ़ रही है। आप्त (यथार्थ दर्शी) का स्वरूप जो चरक संहिता में बताया गया है। वह एक अन्वेषण शील परम तपस्वी वैज्ञानिक का है, जो कि राग द्वेष से रहित होकर ज्ञान विज्ञान की प्रक्रिया द्वारा त्रैकालिक सत्य के सिद्धांतों की स्थापना करता है। उन्होंने तपोज्ञान के बल पर वाह्य एवं अभ्यान्तर दृष्टि जो कि अत्यन्त सूक्ष्म ग्राही होती है, के द्वारा वस्तुओं के स्वभाव के तह तक जाकर उनके बीच विद्यमान कार्य कारण भाव की कड़ी को स्थापित किया। वस्तुतः ज्ञान की इसी प्रक्रिया का नाम अनुसंधान है। इसके लिए उन्होंने प्रकृति एवं उसमें स्थित सजीव एवं निर्जीव वस्तुओं का सहारा लिया। यही कारण है कि विज्ञान के सभी सिद्धांत प्रकृति साधर्म्य रखते हैं, इन विद्वानों को शिष्ट एवं विबुद्ध की संज्ञा भी दी गयी है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति के अनुसंधान ही विज्ञान परक होते हैं।

> रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता स्तपोज्ञानबलेन ये।
> येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।
> आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
> सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।। -चरक

२. अनुसंधान का व्यवहारिक स्वरूप जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि आयुर्वेद प्रकृति के सिद्धांतों पर आधारित विज्ञान है, आयुर्वेद के ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के समीप रहकर जीव के प्राकृतिक एवं वैकृत स्वभाव का अध्ययन किया। आयुर्वेद के अनुसार जीव की रचना पंच महाभूत और आत्मा के मिलने से हुई है। अतः चेतन शरीर की क्रियाओं की व्याख्या के लिए एक प्राणी शरीर का अध्ययन दूसरे प्राणी के शरीर के अध्ययन में सहायक हो सकता है, क्योंकि दोनों ही पंचमहाभूत और आत्मा से बने हैं। मानव शरीर

सर्वोच्च एवं सर्व प्रमुख होने से प्रधान तथा अन्य प्राणी उसके उपकरण माने जाते हैं। जैसा कि सुश्रुत संहिता की टीका में डल्डण ने कहा है।

> तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः संस्वेद जरायुजाण्डजोद्भिजसंज्ञ
> तत्र पुरुष प्रधानम् तस्योपकरणमन्यतः। सु.सू. १

प्राचीन ऋषि मुनि प्रकृति में पशु पक्षियों के बीच रहने के कारण उनके प्राकृत एवं वैकृत क्रिया कलापों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त कर मानव शरीर की व्याख्या की है। जैसे की किसी वनस्पति के खाने के बाद यदि किसी पशु को अतिसार होता है, तो इससे समझ आता है कि अमुक औषधि/वनस्पति अति सारक है। अतः ऐसी औषधि का प्रयोग का अध्ययन मनुष्य में भी किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य परिस्थितियों का ज्ञान भी ऋषियों ने पशु-पक्षियों के माध्यम से प्राप्त किया। कीड़े मकोड़ों का विस्तृत वर्णन आयुर्वेदीय संहिताओं में मिलता है। सुश्रुत संहिता के कल्पस्थान में कीटों का विस्तृत वर्णन है सामान्य वर्णन के साथ साथ दोषानुसार वातिक पैतिक एवं श्लैष्मिक विभाजन करके वर्णन किया गया है, ताकि मानव शरीर से उनके सम्बन्ध का अध्ययन आसानी से किया जा सके। इसी प्रकार हस्त्यायुर्वेद तथा अश्व आयुर्वेद में हाथी एवं घोड़ों की प्रकृति वर्णन विकृत स्थितियों का वर्णन है, विभिन्न विकारों के स्वरूप निर्धारण हेतु मनुष्य के साथ पशु पक्षियों में मिलने वाले वैकारीक लक्षणों का विवरण भी संहिता ग्रंथों में मिलता है, उदाहरण के लिए ज्वर का प्रत्यात्म लक्षण संताप सभी प्राणियों में ज्वर का परीक्षण करने के बाद निर्धारित किया गया है।

> ज्वर प्रत्यात्मिकं लिङ्ग संतापो देहमानसः।
> ज्वरेणाविशतां भूतं न हि किंचिंत तप्यते।। च.चि. ३

यह इंगित करता है कि सभी प्राणियों में ज्वर का अध्ययन किया गया है। माधव निदान के व्याख्याकार पालकाप्य हस्त्यआयुर्वेद के सूत्रों में हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, बकरी कीट पतंग आदि जीवों में ज्वर का उल्लेख है। पशु पक्षी रूग्ण होने पर कुछ लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं और मुक्त होने के लिए जाने-अनजाने में किसी वन औषधि का प्रयोग होने से रोग मुक्ति पाते है। सर्प से युद्ध के बाद नेवला जिस वन औषधि का व्यवहार करते हैं, उसे नकुली नाम से जाना जाता है। यही नहीं द्रव्यों के नाम और पहचान उनके उत्पत्ति स्थान, स्वरूप, गुण व कर्म के अनुसार रखें गये हैं। शास्त्रकारों का उपदेश है कि औषधि की जानकारी वनवासियों और स्थानीय लोगों से प्राप्त करनी चाहिए, आज भी इस प्रकार की जानकारी को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। **विश्व स्वास्थ्य संगठन** ने इस प्रकार के ज्ञान को पारम्परीक के अन्तर्गत रखकर उसका अनुमोदन एवं मान्यता प्रदान की है।

जिसके लिए कुछ मानक निर्धारित किये हैं। इसी प्रकार अनेक रोग एवं उसकी औषधि का ज्ञान ऋषियों को हुआ होगा। जिससे उन्हें अपने ज्ञान से परिमार्जित कर उत्तम रूप में स्थापित किया है। अनेक स्थानों पर जन्तुओं का प्रयोग खाद्य-सामग्री, औषध-परीक्षण व रोग के निदान साध्य-साध्यता निर्धारित करने के लिए किया गया है। राज वैद्य राजा के भोजन का परीक्षण कुत्ते, हिरण, बन्दर, मोर आदि जन्तुओं पर किया करते थे। विषैला भोजन करने पर इनमें विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते थे, इसी परम्परा को आज भी ग्रामीण परिवेश में देखा जा सकता है। जहां लोग भोजन करते समय पहले या बाद में कुत्ते, बिल्ली आदि के लिए कुछ अंश छोड़ देते हैं। यह शायद उसी अन्वेषणात्मक पद्धति का ही एक स्वरूप है। रक्तपित्त रोग में रोगी के मुख से निकला हुआ रक्त दूषित है या शुद्ध, कुत्ते कौवे आदि को खिलाने का विधान है। यदि खा ले, तो रक्त शुद्ध है, अन्यथा दूषित, इसी प्रकार चमड़ी में पाये जाने वाली यूका लिका आदि यदि शरीर से हट जाय, तो रोग असाध्य होता है, मनुष्य एवं पशु पक्षियों में विष के वेगों लक्षणों एवं अवस्थाओं का बड़ा ही सटीक विवेचन है, जो कि जन्तु प्रयोग के बिना सम्भव नहीं है, सुश्रुत के योग्या सूत्रीय प्रकरण में ऐसे कर्मों का उल्लेख है, जिनमें प्रायोगिक परीक्षण का संकेत मिलता है। किसी कर्म की सिद्धि के लिए उसके पूर्वकर्म का अभ्यास योग्या कहलाता है। अष्टविधि शस्त्रकर्म में शस्त्रकर्मों का अभ्यास फल सब्जियों पर बताया गया है।

कर्त्तव्य कर्मणः सम्यग् तत्सदृशकर्माभ्यासो योगः तस्मै भवति इतियोग्या।।

सु.सू. १ चक्रपाणि

काल के प्रभाव से अनुसंधान पद्धति का स्वरूप भी प्रभावित होता है। संहिता काल आयुर्वेद की उन्नति का स्वर्णिम युग था। मध्य काल जिसमें कि मुगलों का आगमन हुआ आयुर्वेद की विधा में भी परिवर्तन हुए। इस युग में जब यूरोप में रसायन शास्त्र विकसित नहीं था, उस समय भारत में पारद जैसी विषैली धातु का चिकित्सा में प्रयोग प्रारम्भ हुआ, अनुसंधान की दृष्टि से बहुत ही चमत्कारिक घटना थी, ठीक वैसे ही जैसे आधुनिक विज्ञान में एन्टीबायोटिक की खोज। अनेक बाहरी द्रव्यों एवं चिकित्सा विधियों का आयुर्वेद में प्रयोग हुआ, अफीम, माजूफल, चोपचीनी आदि अनेक ऐसे द्रव्य हैं जिनका समावेश आयुर्वेद में मध्य काल में हुआ। नाड़ी विज्ञान भी आयुर्वेद की अपनी मूल अवधारणा नहीं है। यह भी मध्यकाल में अरब एवं यूरोप से आये अन्य हकीमों एवं चिकित्सकों से लिया हुआ ज्ञान है मलमूत्र की परीक्षा आदि भी जो शारंगधर संहिता में पहली बार निर्दिष्ट है, मध्य काल की देन है। मल परीक्षा में यदि मल आम दोष युक्त होगा, तो पानी में बैठ जायेगा और यदि आम रहित होगा, तो तैरता रहेगा, मूत्र का प्रवाह भी रोगों के अनुसार विभिन्न दिशाओं में बताया गया है। इसी प्रकार अनेक भारतीय औषधियां और चिकित्सा विधियां

विदेशियों ने भी अपनायीं। इस प्रकार इस युग में सैद्धान्तिक विकास तो कम, परन्तु विचारों का आदान-प्रदान अपनी-अपनी चिकित्सा पद्धतियों को समृद्ध करने में हुआ, जिससे कि चिकित्सा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आधार और मजबूत हुआ।

आधुनिक युग में अंग्रेजों के आक्रमण के बाद जब आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का प्रवेश भारत में हुआ, तो कुछ समय के लिए आयुर्वेद की प्रगति जैसे रुक सी गयी। परन्तु समय की मांग और परिस्थितियों को पहचानते हुए जल्द ही समन्वयात्मक पद्धति का विकास हुआ। इसके लिए आधुनिक युग के अनेक विद्वानों जैसे प्राणजीवन मेहता, चोपड़ा, प्रियव्रत शर्मा, के.एन. उडुपा आदि के प्रयास अग्रणी है। समन्वयात्मक पद्धति परिणाम बहुत संतोष जनक नहीं हुए, जिसका की कारण विद्वान दोनों पद्धति के सिद्धांतों में मौलिक भिन्नता मानते हैं। आज वैद्य समाज के सामने समस्या यही है कि आयुर्वेद में अनुसंधान पद्धति का स्वरूप क्या हो, कुछ विद्वानों का मत है अनुसंधान आधुनिक पद्धति से हो, कुछ विद्वानों का मत है अनुसंधान के पौराणिक पद्धतियों को अपनाया जाय। ऐसे लोगों के अनुसार व्यक्ति जिस राह पर एक बार चल चुका होता, वही आसान होता है, नये रास्ते में अनेक बाधाएं हो सकती हैं, व्यक्ति भटक सकता है। तीसरा वर्ग आचार्य प्रियव्रत शर्मा के समान समन्वयात्मक पद्धति का अनुमोदन करता है। परन्तु उसमें कुछ सावधानियां बरतने का निर्देश भी है। जैसे मनुष्य एवं जन्तु की प्रकृति में अन्तर होता है। इसलिए अनुसंधान परिणाम भी भिन्न होने की सम्भावना है, परन्तु दोनों का संगठन षडधात्वात्मक होने से उनमें पञ्चमहाभूत एवं त्रिदोष विद्यमान हैं। इससे जो भी परिवर्तन होंगे, उनसे द्रव्यों के गुण कर्म का कुछ तो संकेत अवश्य मिलेगा। विषाक्त द्रव्यों का सीधा परीक्षण मनुष्य पर सम्भव नहीं, इसलिए अनुसंधान कार्य में जन्तुओं का प्रयोग आयुर्वेद सम्मत एवं आवश्यकतानुसार हो, जैसे कि रोग उत्पन्न करने कि आधुनिक विधियां प्रतिक्रियात्मक है, परन्तु आयुर्वेद में रोग का मुख्य कारण मिथ्या आहार विहार माना गया है। अतः जन्तु में रोग की उत्पत्ति मिथ्या आहार विहार के द्वारा ही करनी चाहिए। तभी आयुर्वेद सम्मत परिणाम प्राप्त होंगे। इसलिए यदि आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के मौलिक स्वरूप को स्थिर रखते हुए समन्वयात्मक पद्धति के द्वारा शोध कार्य किए जाए, तो परिणाम अच्छे मिलने की सम्भावना है। आयुर्वेद ज्ञान की परम्परा में सदैव ही खुलेपन दृष्टि कोण अपनाया गया है, विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि एक ही विषय का विद्वान सर्वशास्त्रज्ञ नहीं हो सकता, उसे अन्य विषयों का ज्ञान होना अतिआवश्यक है, जो कि इसकी वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार –

नह्येकस्मिन शास्त्रे शक्य सर्वशास्त्राणामवरोध कर्तुम।
एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।

तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः।। सु.सू. ४/७

यद्यपि सुश्रुत ने यह बात चिकित्सक के सन्दर्भ में कही है, परन्तु चिकित्सक भी वैज्ञानिक होता है, वह अपने नित नये ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर नयी नयी चिकित्सा विधियों उपकरणों एवं औषध द्रव्यों की खोज करता है। अतः एक अन्वेषणशील व्यक्ति को अपने ज्ञान के साथ-साथ अन्य विषयों का ज्ञाता होना आवश्यक है, तभी वह अपने ज्ञान विज्ञान एवं अनुसंधान को सार्वभौतिक एवं त्रैकालिक स्वरूप दे सकता है, जो कि आज वैश्वीकरण के युग में आयुर्वेद में अत्यन्त आवश्यक है।

त्रयोत्रिंसोऽध्याय

कौमारभृत्य (प्रसूति-तन्त्र, स्त्री रोग एवं बालरोग) का इतिहास

चिकित्सा का उद्भव, ब्रहमाण्ड के साकार होने के उपरांत, जीवोत्पत्ति के साथ-साथ समवाय संबंध से माना गया है। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य, सुगठित एवं शिक्षित होता गया वैसे-वैसे उसने अपने शरीर के रक्षार्थ विभिन्न उपायों को साधना व अनुभव के आधार पर परीक्षण कर सुव्यवस्थित रूप में करते हुए पीढ़ी दर पीढ़ी श्रुति के माध्यम से, तत्पश्चात् तत्कालीन उपलब्ध विभिन्न माध्यमों द्वारा यथा शिला-पत्र, ताड़-पत्र आदि से इस अमूल्य धरोहर को संजोकर रखता गया। इस प्रकार समय बीतने के साथ-साथ और परिष्कृत एवं संस्कृत कर दुर्घटनाओं से बचाता रहा तथा साथ ही साथ रोगों को समूल नष्ट भी करने का प्रयत्न करता रहा है।

सर्वप्रथम उपलब्ध लिखित साहित्यिक प्रमाण वेदों को माना गया है। जिसमें चिकित्सा का ज्ञान काफी सुव्यवस्थित रूप में मिलता है। प्राचीन समय में चिकित्सा व्यवस्था आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञों के द्वारा की जाती थी। विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन करने पर भी पता चलता है कि आयुर्वेद पृथ्वी लोक पर ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान यथा-हेतु, लिंग व औषध के रूप में सर्वप्रथम अवतीर्ण हुआ। आयुर्वेद के अंतर्गत मनुष्य की चिकित्सा द्विपाद, चतुष्पाद आदि जीव जन्तुओं की चिकित्सा तथा वृक्ष, लता, उद्भिज आदि की चिकित्सा समाहित है। वराह संहिता, अग्निपुराण आदि ग्रंथों में पालकाप्य, मातंग, शालिहोत्र आदि पशुचिकित्सकों तथा उनके विचारों का वर्णन मिलता है। अग्निपुराण के अध्याय २७९ से २९२ में धन्वन्तरि के द्वारा सुश्रुत को मनुष्य, हाथी, घोड़े, गौ तथा वृक्षादि संबंधित ज्ञान का उपदेश देने का उल्लेख है। (ऋग्वेद १/२३, २०,१/३४,६ यजु. १२/७५,१०५; अथर्व० १/४.४)। वेदों में अश्विनी कुमारों को रोगों के निवारण हेतु भेषज का प्रयोग करने के कारण "भिषक" कहा जाता था। (ऋग्वेद १/१५७.६)। उपर्युक्त सभी संदर्भो का अध यन करने से पता चलता है कि आयुर्वेद के अन्तर्गत सभी चेतन जीवों की चिकित्सा समाहित है। मनुष्य हित सर्वोपरि होने के कारण आयुर्वेद का मुख्य क्षेत्र मनुष्य जाति की चिकित्सा ही रहा है।

वैदिक साहित्य में अष्टांग आयुर्वेद के रूप में विभाग या उनके नामों का उल्लेख नहीं मिलता है। परंतु अनेक प्रकार की भैषज्य, औषधि, भूतविद्या तथा स्थान-स्थान पर शल्य, शालाक्य, काय चिकित्सा, अगद, कौमारभृत्य आदि विषयों संबंधित वर्णन के आधार पर

पता चलता है कि ये विभाग पृथक्-पृथक् रूप में विकसित रहे थे। ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता सभी अंगों के विशेषज्ञ थे। महाभारत, हरिवंश पुराण तथा सुश्रुतादि संहिताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल में अष्टांग-आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के रूप में विकसित था। काल प्रवाह में आयुर्वेद के मूल ग्रन्थ धीरे-धीरे लुप्त होते गये। आजकल उपलब्ध संहिताओं में मुख्य रूप से चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, काश्यप संहिता आदि उपलब्ध है।

कौमारभृत्य विषय आयुर्वेद के आठ अंगों यथा काय-चिकित्सा (Internal Medicine), शल्य (Surgery), शालाक्य या उर्ध्वांग (Otolaryngology and Ophthalmology), कौमार भृत्य या बालरोग (Neonatology, Pediatrics, Obstetrics and Gynecology), अगदतन्त्र या दंष्ट्रा (Toxicology) भूत विद्या (Demonology) रसायन (Rejuvenating Medicine including Geriatrics) तथा वाजीकरण (Aphrodisiacs), में एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। अष्टाङ्ग आयुर्वेद को सभी संहिताकारों तथा उत्तरोत्तर आचार्यों ने वर्णित किया है तथा अपने-अपने विषयों की प्रधानता स्वरचित ग्रन्थों में बताई है। इसी क्रम में आचार्य कश्यप ने काश्यप संहिता में आठ अंगों में कौमारभृत्य की प्रधानता बताते हुए कहा है कि अन्य - सभी विषयों के विशेषज्ञ कौमारभृत्य के द्वारा अच्छी तरह से विकास को प्राप्त हुए कुमार की ही चिकित्सा करते हैं (का.सं. वि. १/६१)।

कौमारभृत्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। 'कौमार'–कुमार संबंधी तथा 'भृत्य' -सेवा करना, पालन पोषण करना। यद्यपि कुमार शब्द शिव एवं प्रार्वती के पुत्र ग्रहाधिपति कार्तिकेय के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। तथापि ''कुमार'' शब्द की विषय के आधार पर शब्दकोष में निम्न व्युत्पत्तियाँ की हैं–''

(१) ''कुमारयति क्रीडति (श.क.द्रु; वाचस्पत्यम्) कुमार क्रीडायाम'' (अमरकोष) अर्थात् जिस अवस्था में खेलना ही मुख्य उद्देश्य हो, वह कुमार के नाम से जाना जाता है।

(२) ''कुत्सितो मारोऽस्येति'' (अमरकोष) अर्थात् जिस अवस्था में मार या कामेक्षा कुत्सित (Supress) हो, वह कुमारावस्था है।

(३) जिस अवस्था में तुच्छ व्याधि या प्रमाद से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है, वह कुमारावस्था है। (मोनियर विलियम-संस्कृत इंग्लिश शब्दकोष)

इस प्रकार कौमारभृत्य का शाब्दिक अर्थ होता है, जिस शास्त्र या विषय में बच्चों के पालन पोषण संबंधी वर्णन हो, वह कौमारभृत्य है।

इसी प्रकार अन्य आयुर्वेदाचार्यों ने कौमारभृत्य की व्याख्या की है (चरक संहिता सूत्र स्थान ३०/२८ पर चक्रपाणि टीका; सु. सू. १/७ पर चक्रपाणि टीका)। कौमारभृत्य की

महत्ता तथा विशेषता बताते हुए आचार्य कश्यप ने स्पष्ट किया है कि कुमार के प्रयोग में आने वाली औषधियां हृद्य तथा मात्रा सामान्य से भिन्न तथा विशेष होती है। बच्चों में प्रयुक्त उपक्रम भी भिन्न व विशेष होते हैं (काश्यप संहिता विमान स्थान प्रथम अध्याय/ ६१)। अष्टागसंग्रहकार आचार्य वाग्भट्ट ने कौमारभृत्य के लिये "बाल" शब्द का प्रयोग किया है (अ.स.सू.१)।

कौमारभृत्य का क्षेत्र

कौमारभृत्य विषय तथा परिभाषा का गहन अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि इस अंग में न केवल बच्चों की चिकित्सा संबंधी ज्ञान विवेचना है अपितु इसमें प्रसूति तंत्र, स्त्रीरोग को भी समाहित किया गया है। कौमारभृत्य का क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसके अंतर्गत, कुमार का भरण, धात्री, क्षीर दोष संशोधनार्थ उपक्रम, दुष्ट स्तन्यजन्यरोग, ग्रहजन्य व्याधियाँ उनके शमनार्थ विभिन्न प्रकार के उपक्रमों का वर्णन आता है (सु.सू. १/७)। इसके अतिरिक्त नवग्रहों का ज्ञान व चिकित्सा (सु.सू.३/३५-३७) ग्रह प्रतिषेध, योनिव्यापद् प्रतिषेध, के साथ-साथ शरीरास्थान वर्णित विषय यथा- रज, गर्भाधान, गर्भस्रावादि के साथ सामान्य प्रसव एवं सूतिका आदि भी कौमारभृत्य में ही समाहित है। सु.उ. ३८ के संपादन वाक्य ("इतिसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे योनिव्यापत्प्रतिषेधो नाम") से स्पष्ट हो जाता है।

उपलब्ध हारीत संहिता में बाल चिकित्सा कौमारभृत्य का कार्यक्षेत्र अधिक स्पष्ट व संक्षेप में बताया है-

> गर्भोपक्रम विज्ञानं सूतिकोपक्रमस्तथा ।
> बालानां रोगशमनी क्रिया बालचिकित्सम्।। (हा. स. प्रथम स्थान २/१७)

श्री गणनाथ सेन ने प्रसूति तन्त्र को शारीर के अन्तर्गत तथा मूढ़ गर्भ चिकित्सा को शल्य तन्त्र में अन्तर्निहित कर प्रसुति तन्त्र को कौमारभृतय से भिन्न माना है, किन्तु स्त्री रोग को कौमारभृत्य का ही अङ्ग माना है।

यह सर्वविदित है कि आयुर्वेद साहित्य की रचना, राज्याश्रय में हुई, इसकी पुष्टि उपलब्ध विषयवस्तु से हो जाती है। राजा के पुत्र को कुमार कहा जाता था। इनकी सेवा हेतु 'कुमाराधार' एवं 'धात्रियों' की नियुक्ति होती थी। यह निर्विवाद सत्य है कि शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ व सर्वगुण सम्पन्न संतान प्राप्ति हेतु माता पिता का पूर्णरूपेण स्वस्थ रहना गर्भावस्था से पूर्व, तत्कालीन व तत्पश्चात् होने वाले सर्वश्रेष्ठ उपक्रमों का होना यथा विभिन्न प्रकार के संस्कार आदि अत्यन्त आवश्यक होते है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर ही आयुर्वेद साहित्य में "कुमार" को मूल आधार मानते हुए, उसकी प्राप्ति

तथा शरीर की निर्वाधगति से वृद्धि एवं विकास हेतु आवश्यक माता (स्त्री) के शरीर की संबंधित विशिष्ट स्त्री रोगों तथा प्रसूति तंत्र का विस्तृत वर्णन कौमारभृत्य के ही अंतर्गत किया गया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि कौमारभृत्य अंग के अंतर्गत मुख्य रूप से नव संतति की उत्पत्ति, उत्पत्ति में प्रयुक्त होने वाले सभी साधन यथा माता, पुत्र आदि उनके स्वास्थ्य, रोग तधा उनके निवारणार्थ उपायों का वर्णन आता है।

वेद-वेदांग आदि में कौमारभृत्य

वेदों, उपनिषदों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों आदि में कौमारभृत्य अर्थात् प्रसूति स्त्री एवं बाल चिकित्सा का वर्णन मिलता है। आयुर्वेदावतरण के व्याख्यान में ब्रह्मा से इन्द्र तक का काल वस्तुतः वैदिक काल ही है। इसके पश्चात् संहिता का प्रांरभ होता है। (आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास डॉ. पी.वी. शर्मा)। वेदों के काल के बारे में विद्वानों में मत-वैभिन्यता मिलती है। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिषि को आधार वनाकर ऋग्वेद का काल ई. पू. ४०००-६००० वर्ष माना है। अथर्ववेद या अथर्वाऽङ्गिरस का का काल १५०० ई. पू. से लेकर ६००० वर्ष ई. पूर्व मानते हैं। आयुर्वेद को पंचम वेद या अथर्ववेद के उपवेद के रूप में मानते हैं।

अश्विनी कुमार, जो कि देवभिषक् थे, ने निम्न कौमार भृत्य से संबंधित चिकित्सा कार्य किये थे-

१. वध्निमती वन्ध्या को हिरण्यहस्त पुत्र दिया (ऋग्वेद १/११६/१३)।
२. जहु की प्रजा को उत्तम बल, सन्तति, ऐश्वर्य, दीर्घायु दी (ऋ. १/११६/१६)।
३. मान को पुत्र दिया (ऋग्वेद १/११७/११)।
४. सुख प्रसव (ऋग्वेद ५/७८/७-६)।
५. प्रसूति संवंधी ज्ञान का उल्लेख (ऋग्वेद १०/१६२/१-४)।
६. कुमार में कृमियों का उल्लेख मिलता है यथा ६ कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि" (अर्थवेद ५/२३/२) उल्लेख भी मिलता है। (अथर्ववेद २/३१/१-५; २/३२/१-६, ४/३७/१-१२; ५/२३/१-१३ मंत्र)।
७. इन क्रिमियों का नाश सूर्य के द्वारा होता है, (अर्थ. ५/२३/६) अग्नि को क्रिमिघ्न बताया है (अर्थव. १/२८/१)।
८. राक्षस, पिशाच आदि शब्द क्रिमियों के लिये प्रयुक्त हुए है। स्त्रियों की श्रेणि में शूल उत्पन्न करने वाले राक्षसों का नाश करें, ऐसी प्रार्थना इन्द्र से की गई है (अथर्व.८/६/१३)।
९. प्रसव विकार में योनि भेदन (१/११/१-६)।
१०. गर्भाशय भेदन के द्वारा प्रसव का संकेत भी मिलता है-

"वि तेभिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाऽवजरायु पद्यताम्।।

महत्ता तथा विशेषता बताते हुए आचार्य कश्यप ने स्पष्ट किया है कि कुमार के प्रयोग में आने वाली औषधियां द्रव्य तथा मात्रा सामान्य से भिन्न तथा विशेष होती है। बच्चों में प्रयुक्त उपक्रम भी भिन्न व विशेष होते हैं (काश्यप संहिता विमान स्थान प्रथम अध्याय/ ६१)। अष्टागसंग्रहकार आचार्य वाग्भट्ट ने कौमारभृत्य के लिये "बाल" शब्द का प्रयोग किया है (अ.स.सू.१)।

कौमारभृत्य का क्षेत्र

कौमारभृत्य विषय तथा परिभाषा का गहन अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि इस अंग में न केवल बच्चों की चिकित्सा संबंधी ज्ञान विवेचना है अपितु इसमें प्रसूति तंत्र, स्त्रीरोग को भी समाहित किया गया है। कौमारभृत्य का क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसके अंतर्गत, कुमार का भरण, धात्री, क्षीर दोष संशोधनार्थ उपक्रम, दुष्ट स्तन्यजन्यरोग, ग्रहजन्य व्याधियाँ उनके शमनार्थ विभिन्न प्रकार के उपक्रमों का वर्णन आता है (सु.सू. १/७)। इसके अतिरिक्त नवग्रहों का ज्ञान व चिकित्सा (सु.सू.३/३५-३७) ग्रह प्रतिषेध, योनिव्यापद् प्रतिषेध, के साथ-साथ शरीरास्थान वर्णित विषय यथा- रज, गर्भाधान, गर्भस्रावादि के साथ सामान्य प्रसव एवं सूतिका आदि भी कौमारभृत्य में ही समाहित है। सु.उ. ३८ के संपादन वाक्य ("इतिसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे योनिव्यापत्प्रतिषेधो नाम") से स्पष्ट हो जाता है।

उपलब्ध हारीत संहिता में बाल चिकित्सा कौमारभृत्य का कार्यक्षेत्र अधिक स्पष्ट व संक्षेप में बताया है-

> गर्भोपक्रम विज्ञानं सूतिकोपक्रमस्तथा ।
> बालानां रोगशमनी क्रिया बालचिकित्सम्।। (हा. स. प्रथम स्थान २/१७)

श्री गणनाथ सेन ने प्रसूति तन्त्र को शारीर के अन्तर्गत तथा मूढ़ गर्भ चिकित्सा को शल्य तन्त्र में अन्तर्निहित कर प्रसूति तन्त्र को कौमारभृतय से भिन्न माना है, किन्तु स्त्री रोग को कौमारभृत्य का ही अङ्ग माना है।

यह सर्वविदित है कि आयुर्वेद साहित्य की रचना, राज्याश्रय में हुई, इसकी पुष्टि उपलब्ध विषयवस्तु से हो जाती है। राजा के पुत्र को कुमार कहा जाता था। इनकी सेवा हेतु 'कुमाराधार' एवं 'धात्रियों' की नियुक्ति होती थी। यह निर्विवाद सत्य है कि शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ व सर्वगुण सम्पन्न संतान प्राप्ति हेतु माता पिता का पूर्णरूपेण स्वस्थ रहना गर्भावस्था से पूर्व, तत्कालीन व तत्पश्चात् होने वाले सर्वश्रेष्ठ उपक्रमों का होना यथा विभिन्न प्रकार के संस्कार आदि अत्यन्त आवश्यक होते है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर ही आयुर्वेद साहित्य में "कुमार" को मूल आधार मानते हुए, उसकी प्राप्ति

तथा शरीर की निर्वाधगति से वृद्धि एवं विकास हेतु आवश्यक माता (स्त्री) के शरीर की संवंधित विशिष्ट स्त्री रोगों तथा प्रसूति तंत्र का विस्तृत वर्णन कौमारभृत्य के ही अंतर्गत किया गया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि कौमारभृत्य अंग के अंर्तगत मुख्य रूप से नव संतति की उत्पत्ति, उत्पत्ति में प्रयुक्त होने वाले सभी साधन यथा माता, पुत्र आदि उनके स्वास्थ्य, रोग तथा उनके निवारणार्थ उपायों का वर्णन आता है।

वेद-वेदांग आदि में कौमारभृत्य

वेदों, उपनिषदों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों आदि में कौमारभृत्य अर्थात् प्रसूति स्त्री एवं बाल चिकित्सा का वर्णन मिलता है। आयुर्वेदावतरण के व्याख्यान में ब्रह्मा से इन्द्र तक का काल वस्तुतः वैदिक काल ही है। इसके पश्चात् संहिता का प्रांरभ होता है। (आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास डॉ. पी.वी. शर्मा)। वेदों के काल के बारे में विद्वानों में मत-वैभिन्यता मिलती है। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिपि को आधार वनाकर ऋग्वेद का काल ई. पू. ४०००-६००० वर्ष माना है। अथर्ववेद या अथर्वाऽङ्गिरस का का काल १५०० ई. पू. से लेकर ६००० वर्ष ई. पूर्व मानते हैं। आयुर्वेद को पंचम वेद या अथर्ववेद के उपवेद के रूप में मानते हैं।

अश्विनी कुमार, जो कि देवभिषक् थे, ने निम्न कौमार भृत्य से संबंधित चिकित्सा कार्य किये थे-

१. वध्निमती वन्ध्या को हिरण्यहस्त पुत्र दिया (ऋग्वेद १/११६/१३)।
२. जहु की प्रजा को उत्तम बल, सन्तति, ऐश्वर्य, दीर्घायु दी (ऋ. १/११६/१९)।
३. मान को पुत्र दिया (ऋग्वेद १/११७/११)।
४. सुख प्रसव (ऋग्वेद ५/७८/७-६)।
५. प्रसूति संवंधी ज्ञान का उल्लेख (ऋग्वेद १०/१६२/१-४)।
६. कुमार में कृमियों का उल्लेख मिलता है यथा ६ कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि" (अर्थवेद ५/२३/२) उल्लेख भी मिलता है। (अथर्ववेद २/३१/१-५; २/३२/१-६, ४/३७/१-१२; ५/२३/१-१३ मंत्र)।
७. इन क्रिमियों का नाश सूर्य के द्वारा होता है, (अर्थ. ५/२३/६) अग्नि को क्रिमिघ्न बताया है (अर्थव. १/२८/१)।
८. राक्षस, पिशाच आदि शब्द क्रिमियों के लिये प्रयुक्त हुए है। स्त्रियों की श्रेणि में शूल उत्पन्न करने वाले राक्षसों का नाश करें, ऐसी प्रार्थना इन्द्र से की गई है (अथर्व.८/६/१३)।
९. प्रसव विकार में योनि भेदन (१/११/१-६)।
१०. गर्भाशय भेदन के द्वारा प्रसव का संकेत भी मिलता है-

"वि तेभिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाऽवजरायु पद्यताम्।।

११. गर्भदोष निवारणार्थ मंत्र का वर्णन है (अर्थव. ८/६/१-२६)।
१२. अश्विनि, रूद्र, आदित्य, अग्नि, सोम, सूर्य, इन्द्र, मित्रवरुण, यजमान इष्ट, गणपति, दिव्य औषधियों यथा शालिवृक्ष, दूर्वा, औदुम्वर आदि से पुत्र प्राप्ति एवं स्वस्थ जीवन हेतु प्रार्थना की गई है।
१३. बृहदारण्यक उपनिषद् में संभोग के समय इच्दानुसार गर्भाधान का उपाय वताया है (६/४/१०-११)।
१४. गर्भोपनिषद में गर्भ विज्ञान (Embryology) का वैज्ञानिक वर्णन परिलक्षित होता है।
१५. गर्भलंभन, पुंसवन व अनवलोभन संस्करों/विधियों का वर्णन (आ.मृ.१/१३/१)।
१६. बोधायन गृह्य सूत्र, पितृभेद प्रकरण ३/६/१-४; बौ० श्रौ० १४/१४ के अनुसार यदि गर्भिणी स्त्री का देहान्त हो जाये, तो उसका कुक्षिपाटन कर गर्भ को निकालने का निर्देश है।
१७. पारस्कर गृह्यसूत्र में भी नवजात शिशु के विनाश में स्कन्द ग्रह कारण है। गर्भाधान, गर्भ, प्रसव, ऋतुकाल, गर्भाधान काल, १०वें दिन नामकरण, ४/५ मास तक तेज प्रकाश में लाना, आदि (पारस्कर गृह्यसूत्र १/१३) का वर्णन मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में जन्म के बाद जातकर्म, ६ठें माह में अन्नप्राशन आदि का वर्णन है। कात्यायन गृह्यसूत्र ३/४ वर्ष में कर्णविधन (कात्यायन गृह्य सूत्र-२) आश्वलायन व पारस्कर गृह्यसूत्र में पुंसवन का वर्णन मिलता है।
१८. कौशिक सूत्र में स्त्री कर्म का विस्तृत वर्णन है, जिसमें मुख्य रूप से पुंसवन, गर्भाधान, गर्भवृंहण व प्रजनन की विधियाँ बताई है। (कौ.सू.२८/१५; ३२/२८; ३५/१-२०; ३३/२०)।
१९. बौद्ध साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस काल में ४ प्रकार की धात्रियों की नियुक्ति होती थी। प्रथम क्रीड़ा धात्री जो बच्चों के साथ रहकर क्रीड़ा करती थी अर्थात् खेलती थी। द्वितीय अंक धात्री, जो बच्चों को गोद में रखने के लिये नियुक्त होती थी। तृतीय स्तन्यधात्री जो बच्चो को दुग्ध पान कराती थी तथा चतुर्थ मल धात्री जो बच्चों के मल-मूत्र साफ करने के लिये नियुक्त होती थी ।
२०. विष्णु पुराण में गर्भस्थ शिशु की आकृति, उसकी स्थिति, शिशु की माता के गर्भ से बाहर आने के कारणों का वर्णन मिलता ह। इसमें नवजात शिशु का जन्म के पश्चात वाह्य वातावरण (Extrauterine Environment) में भी मूर्च्छित रहने का उल्लेख है। श्रीमद्भागवत पुराण में ९ ग्रह का वर्णन है, इसमें स्कन्द व स्कन्दापस्मार को छोड़कर शेष ग्रह स्त्री जाति के माने हैं।
२१. गर्भ का पोषण नाभि के माध्यम से होने का उल्लेख जैमिनी ब्राह्मण में मिलता है। गर्भस्राव तथा गर्भपात का वर्णन भी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।

२२. महाभारत के वनपर्व में स्त्रियों के गर्भ नाशक तथा बालक की रक्षा करने के रूप में स्कन्द ग्रह का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त महाभारत में शकुनि, पूतना, शीतपूतना, मुखमण्डलिका, स्कन्द आदि बाल ग्रह, गर्भशय्या आदि का वर्णन तथा बाल का काल १२ वर्ष तक ही माना है।

२३. कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी कौमारभृत्य विशेषज्ञ का वर्णन है। (१/१६/१०) इसके अतिरिक्त सूतिका चिकित्सालय, गर्भ संवंधी संस्था का जानकारी भी मिलती है।

२४. कालिदास द्वारा रचित रघुवंश महाकाव्य में "कौमारभृत्या कुशलवैद्यो" पुंसवन तथा सूतिका व्यवस्था का वर्णन मिलता है। रघु के जन्म से पूर्व, रानी सुदक्षणा का पीला पड़ने तथा मिट्टी खाने की इच्छा होने (पाण्डु या), दौहृदा के लक्षण, गर्भावस्था के शुरू के महीनों में दुर्वल होने तथा बाद के महीनों में पुष्ट होने का वर्णन महाकवि ने किया। (रघु. ३/१.३, १२)

२५. महाकवि बाणभट्ट ने कादम्वरी में सूतिकागार, रक्षा निमित्त नानाविध औषध मूल, लाड्लीप्रसूति प्रभृति यन्त्र तथा गोरोचन प्रभृति द्रव्यों, गर्भरक्षा के लिये ब्राह्मी औषध का प्रयोग तथा गर्भवती के लक्षण आदि का वर्णन किया है। (गर्भवती विलासवती वर्णन-१५) महाकवि बाणभट्ट ने अपने दूसरे काव्य 'हर्ष चरित' में गर्भिणी के लक्षणों का वर्णन किया। गर्भस्थ शिशु (हर्ष) की शौर्यता को प्रदर्शित करने वाली इच्छा को रानी (हर्ष की माता) के द्वारा व्यक्त करने अर्थात् दौहृदा के वीररस से भरपूर लक्षणों को महाकवि भी वर्णित करने से अपने को रोक नहीं पाये। (हर्ष चरित, चतुर्थ उच्छ्वास, पृष्ठ संख्या २१३-२१८) उन्होंने स्पष्ट वर्णन किया है कि गर्भवती महिला सूतिका, कुमार की देखभाल कौमारभृत्य की किया करते थे। महाकाव्य में वर्णन मिलने से यह पता चलता है कि सामान्यजन में कौमारभृत्य का महत्त्व कितना गहरा था ?

संहिताओं में कौमार भृत्य

विषय के सारे अंग जिसमे समाहित हो, उसे संहिता कहते हैं। आयुर्वेद में मुख्यतया दो सम्प्रदाय, प्रथम आत्रेय सम्प्रदाय तथा द्वितीय धान्वन्तर सम्प्रदाय है। आत्रेय सम्प्रदाय में अग्निवेश आदि आचार्यो ने तथा धान्वन्तर सम्प्रदाय में सुश्रुतादि आचार्यों ने अपनी अपनी संहितायें बनाई। इन संहिताओं से पूर्व ब्रह्म संहिता (सु.सू. १/३), धान्वन्तर संहिता (अ. हृ. शा. ३/१६) पर अरुण दत्त की टीका तथा भास्कर संहिता (ब्रह्मवैवर्त १६ अध्याय) का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में संहितायें तंत्र के नाम से प्रसिद्ध थी। प्राचीन संहिताओं में चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भेल संहिता तथा काश्यप संहिता

उपलब्ध है। इनमे भेल व कश्यप संहिता खण्डित रूप में मिलती है। अन्य संहिताओं में हारीत संहिता (मौलिकता संदिग्ध), अष्टांग संग्रह अष्टांग हृदय आदि है।

१. चरक संहिताः उपनिषदकाल में-१००० ई. पू. के लगभग अग्निवेश तंत्र मूलरूप में लिखी गई। जिस पर शुंगकाल में (२ शती ई. पू.) चरक ने संग्रह तथा भाष्य लिखा, जो चरक संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुई, पर कालान्तर में दृढ़वल ने चौथी शती में इसका पुनः प्रतिसंस्कार किया। इस "अग्निवेश तंत्र" में आयुर्वेद का परलोक से इह लोक में अवतरण स्पष्ट रूप से वर्णित है तदनुसार, ब्रह्मा ने आयुर्वेद को मानवहित में त्रिसूत्र या त्रिस्कन्ध अर्थात हेतु, लिंग एवं औषधयके रूप में लोककल्याणार्थ उपदेश दिया था (च.सू. १/२४-२५) तत्पश्चात्, अष्टांग आयुर्वेद का विकास हुआ। इस काल में आयुर्वेद अपने चरम पर था। प्रत्येक अंग के पृथक्-पृथक् विशेषज्ञ तथा महा-विशेषज्ञ (Super-Specialist) थे। यथा वायोर्विद-वातदोष, अर्थात् वात के विशेषज्ञ माने जाते थे। ऐसा विभिन तद्विद् संभाषाओं में भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न महाविशेषज्ञों के भाग लेने से स्पष्ट हो जाता है। (च.सू. २६/६-७, का.सं. राजपुत्रीय अध्याय तथा विरेचन प्रकरण) इन तद्विद् संभाषाओं में अस्पष्ट विषयों पर भिन्न भिन्न प्रदेशों, देशों के महा-विशेषज्ञों द्वारा भाग लेने तथा अन्त में एक सर्वमान्य सिद्धान्त पर सहमत होने का उल्लेख मिलता है। इस तरह की संभावनायें, आजकल होने वाली कान्फ्रेंस, सेनीनार, कार्यशाला आदि का ही परिवर्द्धित रूप था। चरक संहिता में प्रसूति स्त्री तथा बाल रोग का कोई स्वतन्त्र उल्लेख तो नहीं मिलता है, अपितु इस विषय पर विभिन्न रोगों, सिद्धान्तों तथा चिकित्सा उपक्रमों का वर्णन मिलता है। चरक संहिता में गर्भ का पोषण उपस्नेह तथा उपस्वेद द्वारा होना (च.शा. ४/२७), गर्भोपघातकर भाव तथा उनका गर्भ पर प्रभाव पड़ने का स्पष्ट उल्लेख है। (च. सू. २५/४०, च.शा. ४/१८ व ८/२६) जन्मजात व वंशानुगत रोगों के कारणों तथा उनके द्वारा उत्पन्न विभिन्न रोगों का वर्णन सूत्ररूप में होते हुए भी इस वैज्ञानिक युग में भी सार्थक व स्वीकार्य है। यथा-"यस्य यस्य हिऽङ्गावयवस्य बीजे, बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्यऽगांवयवस्य विकृतिरूपजायते च.शा. ३/१७।

चरक शारीर के २/२६ अध्याय में वर्णित विकृत, हीनाधिकांगी या विकलेन्द्रिय संतान की उत्पत्ति आदि के कारण को देखकर उस काल में आयुर्वेद की वैज्ञानिकता व शिखरता का अनुभव किया जा सकता है- "बीजात्मककर्माशय काल दोषैर्मातुस्तथाऽहारविहार दोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रिय वैकृतानि दोषाः।

चरक शारीर के ८वें अध्याय में जन्मोपरांत, निष्चेष्ट बालक के प्राण प्रत्यागमन का वर्णन वैज्ञानिकसिद्धान्तों के आधार पर लिखित रूप में प्रथम मिलता है। चरक ने शिशु के स्नान तथा उदक पान हेतु दिया गया सिद्धान्त आज भी उतना ही सत्य है, जितना कि आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व था। यथा-"ततः प्रत्यागत प्राणं प्रकृति भूतमभिसमीक्ष्य

स्नानोदक ग्रहणाभ्यामुपपादयेत् ।" इसके अतिरिक्त नवजात शिशु की देखभाल हेतु दिये गये अन्य पक्ष भी आज अनुसन्धान के लिये प्रेरित करते हैं। चरक का मुख्य योगदान स्तन्य परीक्षा, स्तन्य दुष्टि, स्तन्य जनन, स्तन्यशोधक गण, पुंसवन कर्म, गर्भिणी परिचर्या सूतिकागार, व योनि रोगों में शल्य चिकित्सा सिद्धान्तों का निर्देश मिलता है, तथा कुमारागार का निर्माण कुशल वास्तुकार से कराना आदि अन्य सिद्धान्त आज भी कुमारागार के निर्माण में उपयोग किया जाता है (च.शा. ८/५९/६०)।।

२. सुश्रुत संहिताः यह मूलतः शल्य प्रधान ग्रन्थ माना जाता है। इसमें अन्य अंगों की शल्य संबंधी विषयों सहित कौमारभृत्य अंग के अंतर्गत स्त्री-शरीर रचना, मूढ़ गर्भ की शल्य चिकित्सा आदि का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं, जिन्होंने सुश्रुत आदि शिष्यों को शल्य ज्ञान का मूलरूप में उपदेश दिया था (आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, द्वारा प्रो. पी.वी. शर्मा)। सुश्रुत संहिता ४ स्तरों में आद्यसुश्रुत, सुश्रुत, नागार्जुन, तथा चन्द्रट–क्रमशः १०००-१५०० ई. पू. दूसरी शती, ५वीं शती तथा पाठशुद्धि १०वी शती में किया। सुश्रुत संहिता में भी कौमार भृत्य, प्रसूति तंत्र तथा स्त्रीरोग के गूढ़ विषय वर्णित हैं। इस शास्त्र में स्त्रियों के शरीर में तीन बर्हिमुख स्त्रोतस पुरुष से अधिक (सु.शा. ५/१०), स्त्रियों में २० पेशियां, स्त्रियों में भग (Vulva) का प्रमाण १२ अंगुल (सु.शा. ३५/१३) अधिक बताये हैं। योनि, शंख नाभि के आकार की, आवर्तो से युक्त तथा तीसरे आवर्त में गर्भाशय का होना, आभ्यान्तर आर्तववह स्रोतस (Capillary, Bed of uterus, Adenexa and Ovaries with major blood vessels) के विद्ध होने पर वन्ध्यापन, मैथुन असहिष्णुता (Dyspareunia) तथा आर्तवनाश (Ammenorrhea) का, दोहृद अवमानना जन्य रोग-यथा कुज, कुणि पंगु, मिन्मिन आदि का होना (सु.शा. २/५४), गर्भदोष चिकित्सा (सु.शा. १०/६१); मूढ़गर्भ, मूढ़गर्भ भेद; गर्भकोष, अपरासंग चिकित्सा, मक्कलशूल, योनि संवरण आदि उपद्रव, मूढ़गर्भ के साथ होने पर स्त्री की मृत्यु होने की संभावना, मूढ़ गर्भ की चिकित्सा विधि व शस्त्र चिकित्सा (सु. नि. ८/४-५; सु. सू. ३३/१३; सु.चि. १५/९-१०), गर्भपात (सु.नि.८/७), वातभिपन्नगर्भ (सु. शा. १०/५१) तथा नवजात शिशु परिचर्या में आचार्य सुश्रुत ने कौमार्यभृत्य के अन्तर्गत प्रसूति तंत्र तथा स्त्रीरोग तथा बाल रोग का समावेश किया। तदनुसार उल्व अपनयन, नाभिनाल छेदन तथा ग्रीवा में बाँधना, बला तैल का शरीर पर लगाना (सु. शा. १०/१२), शिशु को काल, दोष तथा विभवता का विचार करके कोष्ण (Lukewarm) औषध सिद्ध जल द्वारा स्नान कराना (सु.शा. १०/१३), संस्कार (सु.शा. १०/१३, सु.शा. १०/२४, १६/३) बताये है। अन्नप्राशन -६ठें महीने के बाद कराने का विधान है (सु. शा. १०/५४)। बाल्यावस्था के ३ भेद किये हैं, यथा क्षीरप, क्षीरान्नाद, अन्नाद (सु. सू. ३५/३४) सुश्रुततंत्र उत्तर तंत्र के २७ वे अध्याय में विस्तृत वर्णन किया है। – ग्रह रोग

का अध्ययन करने पर पता चलता है कि ग्रह रोग आजकल मिलने वाले सूक्ष्म जीवाणु (Microorganism) आदि ही हैं तथा जीवाणु जन्य व्याधियों के लक्षण तथा उपद्रव ग्रह रोग के लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। कुकूणक (सु. उ. १६/६-१५), अहिपूतना (सु. नि. १४/५६-६०; सु. चि. २०/५७-५८), गुद भ्रंश (Prolapse of Rectum सु.चि. २०/६१), मस्तुलुंगक्षय (सु. शा. १०/४७) आदि रोगों का वर्णन इस ग्रन्थ का विशेष योगदान रहा है।

३. काश्यप संहिता : काश्यप संहिता कौमार भृत्य अर्थात् नवजात शिशु, बालरोग, स्त्रीरोग, प्रसूति तंत्र विषय पर लिखित एक मात्र उपलब्ध प्राचीन व परंतु खण्डित ग्रन्थ है, जो ताड़पत्र पर नेवारी लिपि में ८वीं या ६वीं शताब्दी के मध्य लिखा गया था। आजकल पाण्डुलिपि काठमाण्डू के दरबार पुस्तकालय में है। इस पाण्डुलिपि को १६३८ में नेपाल के राजगुरु पं. हेमराज शर्मा ने नेवारी लिपि को देवनागरी लिपि में अनुवाद किया। उपलब्ध ग्रन्थ के पूर्व, मध्य तथा अन्त में पृष्ठ, पंक्तियाँ तथा शब्दों का लोप है (प्रो. पी. वी. तिवारी-'इण्ट्रोडक्शन टू काश्यप संहिता' पृष्ठ सं. ६)। इस ग्रंथ के प्रारंभ के १०-१२ अध्याय भी खण्डित हैं, अन्त में लिखे स्थान के ८० में से केवल २५ अध्याय मिलते हैं। (काश्यप संहिता- हिन्दी उपोद्घात द्वारा पृ. सं. १६)।

मूल काश्यप संहिता का काल २-६ ई. पू. माना गया है। इस ग्रन्थ का उपक्रम व उपसंहार भाग खण्डित होने से महर्षि कश्यप का पूर्ण परिचय नहीं मिल पाता है फिर भी काश्यप संहिता के कल्पस्थान के "संहिता कल्पनामक" अध्याय के अनुसार-"दक्ष प्रजापति के यज्ञ से उत्पन्न नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित मनुष्य जाति की भलाई हेतु पितामह ब्रह्मा की सहायता तथा स्वयं महर्षि कश्यप के तपोवल से इस ग्रंथ (कश्यप संहिता) का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् इस विस्तृत काश्यप संहिता को ऋचीक पुत्र जीवक ने संक्षिप्त रचना में परिवर्तित किया। परंतु तत्कालीन ऋषि मुनियों द्वारा इसे "बाल जल्पित" अर्थात् बालक वचन कहकर स्वीकार नहीं किया। तब जीवक ने उन ऋषियों के समक्ष कनखल (हरिद्वार) स्थित गंगा के कुण्ड में डुबकी लगाई। जिससे बाल जीवक, वली पलित युक्त (Greyed hair wrinkled skin) होकर वृद्ध रूप में परिणित हो गया। इस चमत्कारिक परिवर्तन को देखकर ऋषि मुनियों ने इस बाल जीवक का 'वृद्ध जीवक' नामकरण किया। इनका काल ४-६ठी शती माना गया है। तत्पश्चात्, लुप्तप्रायः इस तंत्र को भाग्यवश अनायास नामक यक्ष ने प्राप्त करके इस ग्रन्थ की रक्षा की, तदोपरान्त, वृद्ध जीवक के वंशज, वेद-वेदांग के ज्ञाता तथा शिव कश्यप के भक्त 'वात्स्य' ने अनायास यक्ष को प्रसन्न करके इस ग्रन्थ को प्राप्त करके लोक कल्याणार्थ अपनी अद्वितीय बुद्धि विलक्षणता एवं श्रम-साधना से इसको प्रतिसंस्कारित एवं प्रकाशित किया। इनका काल ७वीं शती माना गया है। इसके अष्टस्थानों में उल्लेख-विहीन विषयों को खिलस्थान के रूप में संकलित किया गया है।

इस ग्रंथ में कुल ७७ अध्यायों में से २८ अध्याय कौमारभृत्य के विभिन्न पहलुओं पर पूर्ण समर्पित है। इनमें से १७ अध्याय (६ सूत्रस्थान, ५ चिकित्सा स्थान, २ कल्प स्थान तथा ४ खिलस्थान) पूर्णतया (Exclusively) कौमारभृत्य (बालरोग) को समर्पित है तथा ९ अध्याय (सू. स्थान के ३, चिकित्सा स्थान के २, कल्पस्थान का एक तथा खिलस्थान के तीन) पूर्णतया स्त्री एवं प्रसूति रोग को समर्पित है। दो अध्याय (सूत्र व चिकित्सा स्थान का एक-एक) धात्री एवं स्तन्य को समर्पित है। इस ग्रंथ के शेष ४९ अध्यायों में भी मुख्य तौर से बच्चों के विकास, निवारण, चिकित्सा आदि विषयों का ही वर्णन हैं इसके अतिरिक्त, बच्चों के विभिन्न रोगों के कारण, स्तन्य दुष्टि आदि का वर्णन है।

काश्यप संहिता के १८वें अध्याय में लेहन का उपयोग, शारीरिक विकास एवं वृद्धि हेतु, बुद्धि, मेधा, स्मृति एवं व्याधिक्षमत्व को बढ़ाने हेतु किया है। लेहन के अतिरिक्त घृत की मात्रा, गर्भवती स्त्री हेतु पथ्य आहार का वर्णन भी है। सूत्रस्थान में विशेष रूप से स्तन वज्र, स्तन कीलक (Breast abscess), शुद्ध स्तन्य तथा अशुद्ध स्तन्य का शारीरिक व मानसिक विकास पर प्रभाव, दन्त निषेचन, उद्‌भव, पातन, चालन पुनर्भव आदि पर जाति, माता-पिता तथा स्वकर्म के प्रभाव का कारण माना है। २७ वे अध्याय में बच्चों की चिकित्सा के सिद्धांत, विशेष योनि में जन्म, षड्भावों का वर्णन यकृतप्लीहा, हृदयादि का विकास, योनि की स्थिति का वर्णन मिलता है। इसमें हृदय का विशेष वर्णन करते हुए बताया गया है कि शरीर में पांच हृदय होते है अर्थात् एक चेतना स्थल पर तथा शेष चार पादतल एवं हस्त तल पर। ये शाखा हृदय कहलाते है। काश्यप संहिता में बाल्यावस्था में शुक्र-शोणित दोनों की उपस्थिति बताई गई है तथा वर्ण (जाति) के आधार पर ऋतुकाल स्राव का व प्रसव के समय स्राव (Show) के वर्ण के अनुसार लिंग (sex) का ज्ञान विशेष रूप से वर्णन है। गर्भवती स्त्री परिचर्या, प्रसव वेदना का प्रभाव, भेदानुसार आदि विवरण (का. शा. जातिसूत्रीय शारीराध्याय) व ग्रहों के ग्रहण करने, उनका शिशु पर प्रभाव तथा चिकित्सा का वर्णन है। गर्भिणी को होने वाले रोगों की चिकित्सा का वर्णन, दुष्प्रजाता के उपद्रव, लशुन कल्पादि का निर्देश है। रोगों, गर्भिणी के स्तन्य पान, श्लेष्मिक दोष तथा कुपोषण के कारण होने वाले रोगों के कारण फक्क नामक विशेष रोग, सिद्धि स्थान में वस्ति (Medicated Enema) चिकित्सा का वर्णन है। इसके कल्प स्थान में धूप, प्रतिधूप, उपग्रहनाशक धूप, सर्वरोग हर धूप, सर्वग्रह नाशक धूप, लशुन-कल्प, कटुतैल-कल्प, शतपुष्पा-शतावरी कल्प, रेवती कल्प, भोजन-कल्पादि का विस्तृत वर्णन है। काश्यप संहिता में वात्स्य द्वारा संलग्न किये गये खिलस्थान में विषम, तृतीयक, चतुर्थक ज्वर, वय भेद (गर्भ, बाल, कुमार एवं युवा-मध्यम-वृद्ध), वयानुसार औषध मात्रा, कृताकृत यूष, महायूष, आदि का वर्णन; जातहारिणि का विस्तृत वर्णन, मातंगी विद्या, चर्मदल (Dermatitis), अम्लपित्त आदि का वर्णन मिलता है।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त, काश्यपसंहिता का स्त्री के जननांगों की जन्मजात विकृतियों, भ्रूणावस्था, गर्भ शिशु का पोषण, जातहारिणी, जन्मोपरान्त शिशु की मृत्यु, गर्भस्राव या समयपूर्व प्रसव को रोकने हेतु "वरण बन्ध" (का. सं. क. रेवती/८०); मूढ़ गर्भ के कारण गर्भ या गर्भवती स्त्री की मृत्यु के लक्षणों का वर्णन तथा विशेष प्रकार के लक्षण गर्भवती स्त्री में उत्पन्न होने पर शस्त्र द्वारा गर्भ का निर्हरण करने का निर्देश भी मिलता है।

४.अष्टांग संग्रह तथा अष्टांग हृदय : अष्टांग संग्रह के रचयिता वृद्ध वाग्भट्ट या वाग्भट्ट प्रथम है इनका ५५० ई. (६ठी शती) माना है। कौमार भृत्य विषय मुख्यरूप से उत्तर स्थान के प्रथम ६ अध्याय में मिलता है। अष्टांग हृदय की रचना लघु वाग्भट्ट या वाग्भट्ट द्वितीय ने की है। इनका काल ७वी शतीं के प्रथम चरण में आता है। इसे मूढ़गर्भ प्रकरण में दो विष्कम्भ नाम के मूढ़गर्भ वताये है, जो शस्त्र साध्य है। (अ. हृ. शा.२) अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदय में कौमार भृत्य एवं प्रसूति तंत्र के विभिन्न विषयों को समाहित किया है इसमें वाल चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त (अ.सं.उ. २/२, २६-२६/अ. सं. उ. २/६७, अ. हृ. उ. २/७७७ २६-३४), (अ. हृ. ३० १/४०), योनि की आकृति शंख नाभि सदृश, तीसरे आवर्त में गर्भ शैय्या, (अ. सं. शा. ५/४६, अ. सं. शा. ३/११) गर्भाशय की स्थिति, पित्ताशय एवं पक्वाशय के मध्य में, गर्भ में शिशु के न रोने का कारण (अ. सं. शा. २/६५), गर्भोपधातकर भाव (अ. सं. सू. १३/३; अ. सं. शा. ३/३, अ. सं. शा. १/४४-४७), गर्भशोष, उपविष्टक आदि, गर्भव्यापद (अं. सं. शा. ४/१७), योनि भ्रंश का वर्णन मिलता है तथा योनिव्रणेक्षण, योनि व्रण प्रक्षालन यन्त्र (Similar to Cusco's bivalve speculum of today) का वर्णन इस ग्रन्थ की विशेषता है। अष्टाङ्ग के रचियता ने नवजात शिशु परिचर्या के अन्तर्गत प्राण प्रत्यागमन हेतु कृष्ण कपालिका सूर्य तथा मंत्र का प्रयोग, (अ. सं. ३७२/४, अ. हृ. उ. १/४) नाभि उपकल्पन विधि, नवजात शिशु स्नान विधि, शंख प्रदेश पर पिचुधारण रक्षा कर्म (अ. सं. उ. १/१६) नवजात शिशु का प्रथम ४ दिन के प्राशन का विधान (अ. सं. उ. १/१२) का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन किया है। इनमें ३ तरह के संस्कार यथा-नामकरण संस्कार (अ. सं. उ. १/२७-३०; अ. हृ. उ. १/२७ ३०), कर्ण वेधन संस्कार, अन्न प्राशन (अ. सं. उ. १/५३-५४) निष्क्रमण संस्कार (अ. स. उ. १/४०) का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में उल्वक रोग (अ. सं. उ. २/९१), उपशीर्षक बालशोष (अ. सं. उ. २/६४, अ. हृ. उ. २/४६), पारिगर्भिक (अ. सं. उ. २/६४, अ. हृ. उ. १/३८), क्षीरालसक (अ. छ. उ. २/२०-२२, २३-२५) का वर्णन इसको अन्य संहिताओं से अलग श्रेणी में रखता है।

५. भेल-संहिताः वर्तमान ग्रन्थ लगभग ७वी शती का है जबकि मूल भेल संहिता

(अनुपलब्ध) का काल लगभग १००० ई. पू. रहा होगा। वर्तमान उपलब्ध भेल संहिता में कौमार भृत्य का वर्णन काफी कम मिलता है इसमें गर्भ का पोषण, केदारी कुल्या न्याय से मानते है। (भे. सं. शा. ४/८३), शुक्राधिक भाग से पुत्र तथा रक्ताधिक भाग से कन्या की उत्पत्ति (भे. सं. शा. ३/१०) तथा सूतिकागार का वर्णन (भे. सं. शा. ८/६) मिलता है।

६. **हारीत संहिताः** वर्तमान में उपलब्ध "हारीत संहित" मूल ग्रन्थ, जो हारीत ऋषि ने लिखा था, से भिन्न है। इस ग्रन्थ के प्रथम स्थान के द्वितीय अध्याय में इसका नाम "वैद्यक सर्वस्व" दिया है। इसका काल १०-१२वी शती माना गया है। इस ग्रन्थ में मनुष्य की आयु ४ भागों में विभक्त है यथा बाल, युवा मध्यम तथा वृद्ध (हा. सं. १/५/१-२), स्त्रियों का वयो विभाग करते हुए बताया है, कि ५ वर्ष की आयु तक बाला, ५-११ वर्ष की आयु तक मुग्धा, १२ वर्ष की पुनः बाला, १३--१६ वर्ष की आयु तक पुनः मुग्धा, २०-२८ वर्ष की आयु तक प्रोढ़ा तथा २९-४१ वर्ष की आयु तक प्रगल्भा नाम दिया है। इसमें उत्फुल्लिका (३/५४/९-१३), पंचमहाभूतों का गर्भ में अवतरण (हा. सं. ६ स्थान शा. १/४८-४९), गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि (हा. सं. स्थान शा. १/१७-१९), द्वौहृदा, प्रसवकाल, मूढ़गर्भ, मृतगर्भा के लक्षण, मूढ़गर्भ निदान (हा. सं. तृतीय स्थान ५२/१-३) जातकर्म संस्कार, नामकरण संस्कार तथा पंचक्षीर दोष (हा. सं. तृतीय स्थान ५४/१-२) का वर्णन मिलता है।

लघुत्रयी में कौमारभृत्य (प्रसूति-स्त्री एवं बालरोग)

१. माधव निदान या रोग विनिश्चय या रूग् विनिश्चय- यह लगभग ७०० ई. प. की कृति है तथा माधवकृत है। इसमें योनिव्यापद, योनिकन्द, सूतिका रोग, स्तन रोग, स्तन्यदुष्टि, मूढ़गर्भ, (मा. नि ६४/३) सूतिका रोग, नवजात शिशु कामला (मा. नि. बा. रोग १२) क्षीर दोष, अहिपूतना (मा. नि ५५/५०-५१) पोथकी, ग्रहरोग, कुकूणक आदि का वर्णन है।

२. **शार्गंधर संहिता,** का काल लगभग १३ वीं शती माना जाता है आचार्य शार्गधर द्वारा रचित इस संहिता में गर्भाशय (शा. पू. एक. ५/१०) तथा स्त्रियों में २० पेशियाँ अधिक होने का वर्णन मिलता है। (शा. पू. ख. ५/४)

३. भावप्रकाश : भावमिश्र द्वारा रचित भावप्रकाश का काल १६ वीं शती माना गया है। इसमें योनि की आकृति शंख नाभि के सदृश, तीसरे आवर्त में गर्भशय्या (भा. प्र. गर्भ प्रकरण ३/३१, ८९/२, ८७/१), योनि की नाड़ियाँ, अनस्थि गर्भ (भा. प्र. पू. ख. गर्भ प्र. ३/५७, १८७), रजःस्राव काल, गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि, गर्भांग-विकृति, गर्भ के न रोने का कारण, दौहृदा का वर्णन व्यक्तगर्भा के लक्षण, दोहृदा अवमानना, सूतिकागार,

मूढ़गर्भ (भा. प्र. चि. ६०/११३) सूतिकारोग एवं ग्रहरोगादि का वर्णन मिलता है।

कौमार भृत्य पर उपलब्ध मुख्य ग्रन्थ

(प्रसूति -स्त्री एवं बालरोग)

१. पर्वतक तंत्र - अनुपलब्ध
२. बन्धक तंत्र - अनुपलब्ध
३. हिरण्याक्षतंत्र - अनुपलब्ध
४. कुमार तंत्र - अनुपलब्ध
५. काश्यपादि तंत्रः इस ग्रन्थ का केवल नामोल्लेख सुश्रुत संहिता उत्तर तंत्र २७/४-५ पर डल्हण द्वारा की गई टीका में मिलता है।
६. "काश्यपीय रोग निदानम्"- यह पाण्डुलिपि जी. ओ. एम. एल. वोल्यूम २३ संख्या १३११२ में सूची बद्ध है। यह ग्रन्थ भी अपूर्ण हैं, यह एक अर्वाचीन ग्रन्थ समझा जाता है। (इन्ट्रोडक्शन टू काश्यप संहिता ; द्वारा -प्रो. पी.वी. तिवारी; पृ. संख्या १८)
७. नावनीतक या सिद्धसंकर्षः (४थी शती)- यह खोटांग मध्य एशिया स्थान के भूगर्भ से यह वैद्यक ग्रन्थ मिला। इसको "बावर पाण्डुलिपि" भी कहते है। इस पाण्डुलिपि में कौमारभृत्य विषय के १४ के अध्याय में आचार्य जीवक तथा कश्यप का वर्णन है। इसमें स्त्रीरोग एवं कौमार भृत्य का भी वर्णन है।
८. पंच रक्षा (बौद्ध ग्रन्थ)- यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसके चीनी भाषा में कई अनुवाद हुए। इनमें से एक अनुवाद ३१७ से ३२२ ई. में मध्य एशिया निवासी कुचभिक्षु पोश्री मिश्र ने किया। इसमें गर्भ के बच्चो के रोग, बालग्रहों की पूजा तथा महामयूरी विद्या का उल्लेख है।
९. रावण कृत बाल कुमार तंत्र कुमार तंत्र या दशग्रीव बाल तंत्रः
१०. इस ग्रन्थ का ६-७ वीं सदी में चीनी में अनुवाद हुआ। इस पुस्तक का १९५४ में बम्वई से प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थ में वर्ष, मास, तथा दिनों के भेद के अनुसार ग्रह पूतनादि का वर्णन है। श्वास कास चिकित्सा (र. कु. त. १५४) आदि का वर्णन है। रविदत्त वैद्य ने इस ग्रन्थ की भाषा टीका की है।
११. बाल चिकित्सा मृतः ताड़ पत्र पर लिखित, कल्याण वर्मा कृत ग्रन्थ है। यह नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में उपलब्ध है। इसमें बालरोगों की औषधियों का संग्रह है।
१२. हरमेखला : माहुक पुत्र श्री माधव पौत्र श्री कवि मण्डन द्वारा विरचित ९वीं शदी (८८७ वि.सं.) का ग्रन्थ है। यह चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है इसमें योनिस्तम्भन, पुरुष व स्त्री को षण्ड करने के, स्त्री भोगाक्षमत्व करने, गर्भ-स्तंभन, गर्भशिशेर्जात्यान्धत्वादापादन, गर्भ धारण, गर्भवृद्धि, गर्भनिरोध हेतु योग बताये हैं (ह.

मे. द्वितीय/तृतीय परिच्छेद)। अन्य योग में बताया है कि मधु, गोघृत तथा पलाशवीज का लेप योनि (vagina) के अन्दर ऋतुकाल में लेप करने पर वह कभी भी गर्भ को धारण नहीं करती है। (ह.मे. चतुर्थ परिच्छेद-श्लोक १२६) परिवार नियोजन (Family Planning) के बारे में उस समय काफी प्रचलन था, ऐसा विभिन्न योगों के वर्णन से पता चलता है हरमेखला में गर्भ पात, गर्भ स्राव रोकने, शिशु ग्रह व्याधि परिहार हेतु धूम, विष, रोग, भूत बाधा आदि का वर्णन मिलता है।

१३. **वृन्द माधव या सिद्ध योग** (९ वीं शती): वृन्द द्वारा रचित ग्रन्थ है। इसमें बच्चों के विभिन्न रोगों की चिकित्सा यथा अतिसार, श्वास, कास आदि तथा स्त्रीरोगों की चिकित्सा का वर्णन है।
१४. **मेघनाथ**- यह उग्रादित्याचार्य कृत ग्रन्थ ९वीं शताब्दी में विरचित हैं इस ग्रन्थ का उल्लेख "कल्याणकारक" ग्रन्थ में है।
१५. **चिकित्सा कलिका** (९५०-१००० ई. पं.) : यह तीसटाचार्य कृत ग्रन्थ हैं इसमें कौमार भृत्य पर ३७८ से ३८० श्लोक वर्णित है।
१६. **चक्रदत्त, चक्रसंग्रह या चिकित्सा संग्रहः** (११वीं शती) यह आचार्य चक्रपणि दत्त कृत हैं। इसमें स्वर्णगैरिक व स्नुहीदल का बाल रोगों के तथा गर्भधारण हेतु स्वर्णरजतादियोग का वर्णन है इसके अलावा भी अन्य रोगों की चिकित्सा का वर्णन है।
१७. **राजमार्तण्ड** (११वी शती) राजा भोजकृत, स्त्रीरोग, बालरोग तथा स्तन रोगों का वर्णन है।
१८. **वंगसेन** (१२१० ई.) सोमरोग का वर्णन है।
१९. **वैद्यमनोरमा** (१३-१४वीं शती)- सोम रोग, शय्या मूत्रादि रोगों का वर्णन है। (वै म. २/१३; ७/१४) यह वैद्य कालिदास कृत है।
२०. **"स्त्री विलास"** यह देवेश्वरोपाध्याय कृत १६वीं शती का माना जाता है। इसमें प्रसूति-स्त्री रोगों का वर्णन है।
२१. **वैद्य वल्लभ** (१६७३ ई.) यह हस्ति रूचि कवि कृत ग्रन्थ है। इसमें गर्भपात, गर्भ निवारण उपाय, स्त्रियों का धातु रोग आदि का वर्णन है। (वै. व. २/१७)
२२. **बालतंत्रम्** (संवत् १६४४ या १५७८ ई.) यह कल्याण वैद्य विरचित हैं इसमें वर्ष, मास तथा दिनों के भेद से विभिन्न बालग्रहों का वर्णन है।
२३. **योगरत्नाकर** (१७ वीं शती) इसमें क्षीर दोष, अहिपूतना उत्फुल्लिका, ग्रह रोग, नाभिपाक, वमनातिसार, ज्वरातिसार आदि का वर्णन है।
२४. **क्रिया काल गुणोत्तर तंत्र**- इसमें स्कन्द तथा मार्कण्डेय पुराण के वाक्य मिलते है। इस ग्रन्थ में बच्चों में रोग उत्पन्न करने वाले ग्रह, उनका दिन, मास तथा वर्ष अनुसार भेद तथा इनकी चिकित्सा हेतु मंत्र प्रयोग, कल्प, औषधियाँ तथा धातुओं का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में सैकड़ों बालग्रहों का वर्णन है।

२५. **योग सुधा निधिः** यह अर्वाचीन ग्रन्थ है। इसमें बालतंत्र के समान ही विषय वर्णित है। यह ग्रन्थ बन्दी मिश्र द्वारा विरचित है।

कौमार भृत्यांतर्गत प्रसूति, स्त्री रोग एवं बालरोग का स्वतंत्र विषय के रूप में विभाजन-

प्रारम्भ में दोनों विषय अर्थात प्रसूति, स्त्री एवं बाल रोग एक ही अङ्ग में निहित थे। अभी तक उपलब्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि सर्वप्रथम "स्त्री विलास" देवेश्वरोपध्याय कृत १६वीं शती में प्रसूति-स्त्री पर स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलता है। उस काल से प्रसूति व स्त्री विषय का कौमारभृत्य से पृथक मान सकते हैं। इसके पश्चात इस विषय पर साहित्य २०/२१ वीं सदी में विस्तार से मिलता है।

२०वीं शदी के प्रसूति तंत्र एवं बालरोग पर स्वतंत्र ग्रन्थ

(अ) प्रसूति तंत्र

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन वर्ष
"अभिनव प्रसूति तंत्रम्"	पं. दामोदर शर्मा गौड़	१६५०
"स्त्री विज्ञान"	अन्तु भाई	१६५२
"प्रसूति विज्ञान"	रमानाथ द्विवेदी	१६५४
"Ayurvedic Concepts in Gynecology"	डॉ. (कु.) प्रेमवती तिवारी	१६८६
प्रसूति विज्ञान	वी.के. पटवर्धन	१६५७
स्त्री रोग विज्ञान	राजेन्द्र प्रसाद भटनागर	१६७३
आयुर्वेदीय प्रसूति तंत्र एवं स्त्री रोग; प्रथम एवं द्वितीय भाग	प्रो. (कु.) प्रेमवती तिवारी	१६८६
"स्त्री चिकित्सा"	वसति राय	१६८६
प्रसूति तंत्र	प्रो. (कु.) पी.वी. तिवारी	२००१
	प्रो मंजरी द्विवेदी	२००१

(ब) कौमार भृत्य (बाल रोग)

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन वर्ष
कुमार तंत्र	कविराज यामिनी भूषण	१६२०
कौमार भृत्य	रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी	१६४८
कौमार भृत्य	राधा कृष्णनाथ कृत	१६७८
कौमार भृत्य	डॉ. डी.एन. मिश्रा	१६६०

Child Health Care in Ayurveda	डॉ. अभिमन्यु कुमार	१९९४
Kashyap Samhita	प्रो. (कु.) पी. वी. तिवारी /डा. आर.डी. शर्मा	१९९७
	डा. अभिमन्यु कुमार, डा. नीरज	
Introduction to Kashyap Samhita	प्रो. (कु.) पी. वी. तिवारी	१९९७
अभिनव बाल तन्त्र	डा. चन्दनमल जैन	१९९७
Kaumarbhritya in Ayurveda	प्रो. (कु.) पी.वी. तिवारी	१९९९
Ayurvedic Concept of Human Embryology	डॉ. अभिमन्यु कुमार	२०००
बाल चिकित्सादर्श	डा. आर. डी. शर्मा	२००४

चतुस्त्रिंशोऽध्याय

पुराणों में आयुर्वेद

पुराण पद का प्रयोग वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। प्रायः पुराण व इतिहास दोनों पद का प्रयोग साथ-साथ दृष्टिगत होता है। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति "पुरा भवम" से है जो "प्राचीन काल में होने वाला" अर्थ रखता है। पुरा शब्द से ट्यु प्रत्यय अवश्य होता है परन्तु नियम प्राप्त तुट् आगमन नहीं होता है।[1] यास्क के अनुसार "पुरा नवं भवति पुराणं" अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है, उसे पुराण कहते हैं। पद्म पुराण के अनुसार "पुरा परम्परां वष्टि कामयते" अर्थाद् जो प्राचीनता की कामना करता है वह पुराण है। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार-पुरा एतत् अम्।

पुराण व इतिहास दोनों का उल्लेख साथ-साथ होते हुए भी दोनों में भिन्नता है परन्तु कतिपय स्थानों पर कुछ संदिग्धता का आभास होता है। यथा महाभारत को इतिहास माना जाता है परन्तु आदिपर्व १/१७ में इसे पुराण कहा गया है तथा वायु पुराण १०३/४८-४६ में अपने को पुरातन इतिहास कहा गया है। शंकराचार्य के अनुसार प्राचीन आख्यान तथा आख्यायिका का सूचक भाग इतिहास है तथा सृष्टि का वर्णन पुराण है।

इतिहास व पुराण के उपादेयता के सम्बन्ध में कहा गया है-"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" अर्थात् इतिहास व पुराण वेद के ज्ञान का उपबृंहण करते हैं। यदि वेद को ज्ञान अर्थ में लिया जाय, तो किसी प्रकार का ज्ञान इतिहास व पुराण द्वारा उपबृंहित होता है। वात्सायन के अनुसार "लोकवृत्तमितिहासपुराणस्यविषयः" अर्थात् लोक वृत्तियां इतिहास पुराण के विषय हैं।

पुराणों की संख्या अठारह कही गयी है। देवी भागवत के अनुसार निम्न अठारह पुराण हैं।

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापद्लिङ्ग - कू-स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक् ।। दे.भा. १/३/२१

मद्वय - १. मत्स्य पुराण, २. मार्कण्डेय पुराण

भद्वय - ३. भागवत पुराण, ४. भविष्य पुराण

ब्रत्रय - ५. ब्रह्म पुराण, ६. ब्रह्मवैवर्त ७. ब्रह्माण्ड पुराण वचतुष्टय ८. वामन, ६. विष्णु १०. वायु तथा ११. वाराह पुराण

---

१. पुराण विमर्श - आचार्य बलदेव उपाध्याय - पेज-३

अनापदल्लिङ्ग-कूस्क-१२. अग्नि पुराण १३. नारद पुराण १४. पद्म १५. लिङ् पुराण १६. गरूण १७. कूर्म पुराण तथा १८. स्कन्दपुराण।

विष्णु पुराण व भागवत पुराण के अनुसार निम्न अठारह पुराण हैं।[1]

१. ब्रह्म पुराण	२. पद्म पुराण	३. विष्णु पुराण
४. शिव पुराण	५. भागवत	६. नारद पुराण
७. मार्कण्डेय	८. अग्नि पुराण	९. भविष्य पुराण
१०. ब्रह्मवैवर्त पुराण	११. लिङ्ग	१२. वराह पुराण
१३. स्कन्द पुराण	१४. वामन पुराण	१५. कूर्म पुराण
१६. मत्स्य पुराण	१७. गरूण पुराण तथा	१८. ब्रह्माण्ड पुराण।

पुराणों के काल के संवंध में अन्तः व बाह्य साक्ष्यों के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने पुराण विमर्श नामक पुस्तक में तीन श्रेणियों में पुराणों को विभाजित किया है, जो उचित प्रतीत होता है। पुराणों का कालविभाजन उन्होंने निम्नवत किया है-

१. प्राचीनकाल	१-४०० ई.	वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, मार्कण्डेय पुराण, मत्स्य पुराण, विष्णु पुराण
२. मध्यकाल	५००-९०० ई.	श्रीमद्भागवत् पुराण, कूर्मपुराण, स्कन्द पुराण, पद्म पुराण
३. अर्वाचीन काल	९००-१००० ई.	ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म पुराण, लिङ्ग आदि।

पुराणों में वंशावली, सृष्टि उत्पत्ति, धर्मादि के ज्ञान के साथ-साथ लोक वृत्ति सम्बन्धित ज्ञान की प्रचुरता है। आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयों का सामान्य ज्ञान जो जनोपयोगी था, सम्भवतः पुराणों के माध्यम से पहुंचाया गया। स्वास्थ्य से सम्बन्धित तथ्यों को पुराण में उपदेशात्मक रूप में समझाया गया है। आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों के सम्बन्धित ज्ञान पुराणों में तदनुरूप वर्णित है। आयुर्वेदेतर ग्रन्थों में सर्वप्रथम आयुर्वेद पद का व्यवहार तथां आयुर्वेद के आठ अङ्गों का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है।

विभिन्न पुराणों में आयुर्वेद के इतिहास से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। आत्रेय परम्परा में वर्णित भरद्वाज का उल्लेख हरिवंश, मत्स्यपुराण में है, जहाँ इन्हें आङ्गिरस भरद्वाज व भरद्वाज का पुत्र माना गया है। आयुर्वेद से सम्बन्धित धन्वन्तरि का विशद वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। विष्णु-वराह-अग्निपुराण व महाभारत के अनुसार समुद्रमन्थन से तेरह रत्नों के साथ धन्वन्तरि भी उत्पन्न हुए।[2] वराह पुराण के अनुसार

---

१. विष्णुपुराण ३/६/२०-२४, भागवतपुराण - १२/१३/३-८

२. विष्णुपुराण अं. १ अ. १, वराह पुराण - ४०/२/६, अग्निपुराण अ. ३, महाभा. आदि पर्व १६

कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को धन्वन्तरि प्रकट हुए (व.पु. ४०/२/६)। हरिवंशपुराण अ. २९ में धन्वन्तरि तथा दिवोदास को काशवंशीय कहा गया है तथा दिवोदास का उल्लेख काशीराज के रूप में है। अग्निपुराण में तथा गरुण पुराण में धन्वन्तरि के चतुर्थ सन्तति के रूप में दिवोदास का उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

मौलिक सिद्धान्त

विभिन्न पुराणों में आयुर्वेद के सिद्धान्तों का वर्णन विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। आयुर्वेद वर्णित सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया का वर्णन विभिन्न पुराणों में है। श्रीमद्भागवत पुराण में सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि सर्वप्रथम सृष्टि उत्पत्ति हेतु सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों में विषमता होती है, इसके बाद द्वितीय अवस्था में अहंकार की उत्पत्ति होती है जिससे पंचमहाभूत, ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तृतीय सर्ग में भूतोत्पत्ति होती है तथा द्रव्य शक्ति रूप तन्मात्रा की स्थिति होती है पुनः चतुर्थ में श्रेष्ठ इन्द्रियों की तथा पंचम सर्ग में मन की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अगली अवस्था में अन्य भावों की उत्पत्ति होती है।[2] विष्णु पुराण में कहा गया है कि ये पांच तत्व विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ हैं बिना इनके आपस में मिले सृष्टि की रचना नहीं हो सकती है अतः सृष्टि उत्पत्ति लक्ष्य रखने वाली ये शक्तियाँ एक दूसरे के संयोग कर महान् से विशेष पर्यन्त प्रकृति के समस्त रूपों में पुरुष से अधिष्ठित होकर प्रकृति की सहायता से सृष्टि की रचना करते हैं।[3] विष्णु पुराण में सृष्टि प्रलय का भी वर्णन प्राप्त होता है। (वि.पु.प्रं.अ. ४/१२-२८)

भागवत पुराण में कहा गया है कि सृष्टिचक्र मन द्वारा ही संचालित होता है – मनः हरं कारणमानमन्ति संसारचक्रं परिवर्त्तये। (भा.पु. स्क. १/१/२३)। भा.पु. में मन की उत्पत्ति अहंकार से होना वर्णित है।[4] वि.पु. ६/३/६-९ में काल का वर्णन किया गया है जहां निमेष से वर्ष तक का वर्णन किया गया है।

विष्णु पुराण में गर्भ शारीर का उल्लेख प्राप्त होता है। कहा गया है कि गर्भस्थ शिशु की अस्थियां कुंडलाकार मुड़ी रहती हैं तथा उसका पृष्ठ व ग्रीवा गर्भ की झिल्ली से ढका रहता है।[5] विष्णु पुराण में पैर, जिस्वा, दन्त, मुख, रोम, नेत्र, मस्तक, ग्रीवा, घ्राण, कर्ण आदि का उल्लेख मिलता है। (वि.पु. प्रथम अं. ४/३२-३५) पुनः शरीर के लिए कहा गया है कि यह रक्त, पूय, मल, स्नायु, मज्जा, आदि से आवृत्त है (वि.पु.प्र.अं. १६/६२-६८)।

---

१. अ.पु. अ. २७८, ग.पु. अ. १३९
२. भागवत पुराण ३/१०/१४-१७
३. वि.पु. प्रथम अंश २/३३-५३
४. भा.पु. ३/६/२६
५. वि.पु. पृष्ठ अंश ५/१०-११

शारीराङ्गों में हनु, सिर (मूर्द्धा), रूक्मिनी, शिशन, गुदादि का उल्लेख है (वि.पु. द्वितीय अंश १२/३१-३३)। तृतीय अंश अ. १७ में हृदयस्थ नाड़ियों का उल्लेख है। पंचम अंश अ. ५ में शिर, कण्ठादि अंगों का उल्लेख है। छठे अंश के अध्याय ७ में योग के सन्दर्भ में अक्षि, कपोल, ललाट, कर्ण, ग्रीवा, वक्षः स्थल, भुजा, चरणादि का उल्लेख है। पद्म पुराण में अस्थियों की संख्या ३६० कही गई है तथा इसे शरीर का मूल आधार माना गया है तथा यह उल्लेखित है कि इन अस्थियों से मांसपेशियां व स्नायु बंधे रहते हैं। तथा पुरुष में ५०० एवं स्त्रियों में ५२० पेशियां कही गई हैं।[1]

पुराणों में क्रिया-शारीर से सम्बन्धित भी अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। गरुण पुराण में त्रिदोष का विशद वर्णन प्राप्त होता है। गरूण पुराण १/१६९ अ. के. १५वें व १७वें श्लोक में त्रिदोष का परिचय दिया गया। यथा – वायु शीत, सूक्ष्म, गुण वाला होता है तथा यह स्वर नाशक व बल होता है। पित्त को अम्ल कटु, व उष्ण कहा गया है तथा कफ को मधुर, लवण, स्निग्ध, गुरू व पिच्छिल कहा गया है। इनके स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है कि वायु का स्थान गुदा, वस्ति, पित्त का पक्वाशय तथा कफ का स्थान आमाशय, कण्ठ एवं सन्धियां हैं। ग.पु. १/१६८/१३-१४ में स्पष्ट कहा गया है कि दोष, धातु व मल शरीर के आधार है यदि ये समभाव में रहते हैं तो मनुष्य स्वस्थ रहता है एवं इनके वृद्धि क्षय की अवस्था में रोगोत्पत्ति होती है। ग.पु. १/१६८/३०.३५ में प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

मन व मनोवृत्ति

पुराणों में मन व मन से सम्बन्धित विषयों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। लोक वृत्ति से सम्बन्ध रखने के कारण पुराणों में मानसिक पक्ष का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में मन को ही बन्धन व मोक्ष का कारण माना गया है-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यैर्निर्विषयं मनः।।

भागवत पुराण मे कहा गया है कि मन द्वारा ही जीवन के समस्त क्रिया कलाप सम्पादित होते हैं तथा कहा गया है कि जिस काल तक प्राणियों में मन क्रियाशील रहता है तव तक उसके व्यवहार प्रकट होते हैं तथा जब यह मन गुणातीत होता है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है। विषयासक्त मन इस संसार में पुनः आता है तथा विषय हीन मन मोक्ष प्राप्त करता है।[2] मन के स्वरूप के बारे में कहा गया है कि – जिस प्रकार जल स्वभावतः बुद्बुद

---

१. प.पु. २/६६/५९-६०
२. भा.पु. ५/११/६-८

व आवर्तादि रहित शान्त व विकार शून्य होता है उसी प्रकार स्वाभाविक मन स्वच्छ, विकार रहित, शान्त व वृत्तिरहित होता है–

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृतिभिऽर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिपराः।। भा.पु. ३/२६/२२

मन की एकादश वृत्तियों में पांच-पांच ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां तथा अहंकार कहा गया है तथा पंच तन्मात्रा को मन का आधारूभूत विषय कहा गया है।[1] विष्णुपुराण में अहंकार को अविद्या कहा गया है।[2] भागवत पुराण ७१-४-४३-४४ में मानस प्रकृतियों का वर्णन किया गया है तथा सात्विक, राजस व तामस तीन प्रकृतियां कही गई हैं– रजस्तमः प्रकृतयः सत्वप्रकृतयः क्वचित्।।

श्रीमद् भागवत पुराण में गृहस्थ जीवन निर्वाह करने वाले लोगों के सामान्य मनोविज्ञान का व्यवहारिक स्वरूप को अतिस्पष्ट रूप से दर्शाया गया है।[3] भा.पु. में युवामनोविज्ञान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि शैशवावस्था व पौगण्ड के बाद युवावस्था का आगमन होता है। युवावस्था में यदि भोग्यवस्तु प्राप्त न हो तो क्रोध की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में अभिमान, क्रोधादि की वृध्दि होती है जिससे स्वयं की हानि तथा शत्रुओं की वृध्दि होती है। इस अवस्था में रसेन्द्रिय व उपस्थेन्द्रिय भोग में लिप्त पुरुषों के साथ रहता हुआ व्यक्ति उनका नित्य अनुसरण करने में लिप्त रहता है।[4]

पुराणों में मनोविज्ञान से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख विस्तृत रूप में है। यहाँ विस्तार भय से संकेत मात्र दिया गया है।

स्वास्थ्य रक्षण व स्वस्थवृत

विष्णु पुराण प्रथम अंश ६/१२५ में आरोग्यता का कारण विष्णु को कहा गया है। वि.पु. ३/१०/११-१३ में सद्वृत का वर्णन किया गया है। इसमें विवाह की उम्र मर्यादा

---

१. भा.पु. १०/११/६
२. वि.पु. ३६/१७/११
३. आत्मजायासूतागारप शुद्रविणबन्धपु।
निरूढ़मूल हृदय आत्मानं बहुमन्यते।।
गृहेषु कूट धर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतान्द्रितः।
कुर्वन्दुःख प्रतिकारं सुखयन्मन्यते गृही।। भा.पु./३०/१८
४. इत्येवं शैशवभुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेवच।
सहदेहेनमानेन बर्धमानेनमन्युना।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः।।
यद्यसद्धिपथिपुनः शिश्नोदरकृतोद्यतैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विसुति पूर्व कृतः।। भा.पु. ३/३१/२८-३२

तथा कन्या चयन करने के विधान का वर्णन किया गया है तथा यह उल्लेखित है कि उत्तम कन्या के लक्षण क्या होते हैं ? विष्णु पुराण में स्वास्थ्य रक्षणार्थ दिनचर्या का विशद वर्णन किया गया है, जहां निर्देश दिया गया है कि ब्रह्म मुहूर्त में जग जाना चाहिए। मल-मूत्र त्याग करने से सम्बन्धित स्थान, काल व विधि-विधानों का वर्णन किया गया है। शौच प्रक्षालन की संख्या आदि का भी निर्देश दिया गया है। भोजन से संबंधित तथ्यों का उल्लेख उपदेशात्मक रूप में किया गया है, जो आयुर्वेद में वर्णित आहार विधि के समान ही है। दिनचर्या के साथ-साथ रात्रिचर्या का भी वर्णन किया गया है। विष्णुपुराण में स्वस्थवृत्त का वर्णन आयुर्वेद के सदृश ही है तथा विस्तृत रूप में है। पद्मपुराण में भोज्य पदार्थों के छः प्रकार का वर्णन किया गया है।[1]

१. भक्ष्य (चबाकर खाये जाने वाले पदार्थ)।
२. भोज्य (खाये जाने वाले सामान्य पदार्थ)।
३. पेय (पीये जाने वाले द्रव पदार्थ)।
४. लेह्य (चाटे जाने वाले अर्द्धघन पदार्थ)।
५. चोष्य (चूसकर ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ)।
६. खाद्य।

विष विज्ञान

पुराणों में विष विज्ञान से सम्बन्धित तथ्यों का भी विशद वर्णन है। अग्नि पुराण में सर्प व सर्पविष से सम्बन्धित दो स्वतन्त्र अध्याय वर्णित है। विष्णु पुराण में रसोइयों द्वारा प्रहलाद के हलाहल विष देने का वर्णन किया गया है (वि.पु. १/६६/१५५)। अग्नि पुराण में स्वतन्त्र रूप से चार अध्याय २९५ से २९८ तक में विष चिकित्सा का ही वर्णन किया है।

गर्भविज्ञान व बालतन्त्र

विष्णु पुराण अंश ६/५/१०-१६वें श्लोक में गर्भस्थ शिशु का वर्णन किया गया है। कहा गया है कि गर्भस्थशिशु एक झिल्ली से आवृत रहता है, उसकी अस्थियां कुण्डलाकार मुड़ी रहती हैं। शिशु चेतना युक्त होते हुए भी श्वास प्रश्वास लेने में असमर्थ रहता है। इसकी उत्पत्ति वायु की प्रेरणा से अधोमुख होती है। गरूण पुराण १/१७२/३६-४२ वें श्लोकों में बालतन्त्र का वर्णन किया गया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न बाल ग्रहों का वर्णन किया गया है। अग्नि पुराण में भी बाल ग्रह में धातकी पुष्प, लोध्र आदि औषधियों द्वारा धूपन देने का उल्लेख किया गया है। अग्निपुराण में ग्रहानुसार चिकित्सा का वर्णन किया गया है तथा निम्न ग्रहों द्वारा बालकों के ग्रसित होने का संकेत प्राप्त होता है, जहां यह

---

१. ग.पु. २/६६/१५

निर्देश दिया गया है कि इन ग्रही शिशुओं की अमुक, द्रव्य से चिकित्सा बलि देकर करनी चाहिए। यथा-पापिनी ग्रही-भीषण ग्रही-काकोली-हंसादिका-कण्टकारी-भूतकेशी-श्रीदण्डी-उर्ध्वग्रही-रोदनी-पूतना-मुकुटा-गौमुखी-पिंगला-ललना पंकजा-निराहारा-यमुना-कुम्भकर्णी-तापसी- राक्षसी-चंचला-यातना-रोदिनी-चटका-धावनी-जात देवा-कालाग्रही आदि।

अग्निपुराण में बालकों के ज्वर, कास, श्वास, अतिसार, भगन्दर आदि व्याधियों के चिकित्सा का वर्णन किया गया है। (आयुर्वेद का प्रमाणिक इतिहास भा.रा. गुप्त) पद्म पुराण २/६६/२८-४१वें श्लोक में गर्भावक्रान्ति का वर्णन किया गया है इसमें मासानुमासिक वृद्धि का वर्णन किया गया है। प.पु. २/६६/५० में उल्लेख किया गया है कि गर्भकाल से कई गुना ज्यादा वेदना प्रसव काल में होती है। अग्निपुराण के अध्याय २९९ से अध्याय ३०१ तक में तीन अध्याय पूर्णतः बाल तन्त्र हैं, जिसमें बाल ग्रहों का वर्णन किया गया है।

औषधियों का उल्लेख

पुराणों में औषधियों का भी उल्लेख प्राप्त होता हैं विष्णु पुराण २/५/४८-५३ वें श्लोक में धान्य, यव, गोधूम, प्रियंगु, तिल, उदार, चीनक, अनु, कोरतुष, उद, मुद्ग, मसूर, विष्पाप, कुलत्थ, आढकी, चणक, तथा शण इन सत्रह औषधियों का उल्लेख है। कतिपय उन औषधियों का उल्लेख किया गया है, जो यज्ञ के काम में लाई जाती थीं। वि.पु. २/६/२१-२६वें श्लोक में निम्न औषधियों का उल्लेख यज्ञ औषधियों के रूप में किया गया है–धन, यव, उड़द, गोधूम, अनु, तिल, प्रियंगु, श्यामाक, निवार आदि। वि.पु. २/२/१७-१८ में कहा गया है कि – द्रोण पर्वत पर अनेक प्रकार की औषधियां उत्पन्न होती हैं। कतिपय रसौषधियों व रत्नादि का भी औषधि रूप में उल्लेख हैं लाख, वैदूर्य इन्द्रनील, गैरिक, हरताल आदि (वि.पु. ३/१६/५-६)

गरूण पुराण में रसों के कर्म का भी उल्लेख प्राप्त होता है। यथा मधुर रस को चक्षुष्य व रस धातुवर्द्धक कहा गया है। अम्ल रस हृदय रोग के लिए हितकर, रूचिकर, दीपन-पाचक होता है। तिक्त रस दीपन, शोषक, शोधक, पित्तवर्द्धक, लेखक तथा ज्वर तृषानाशक होता है। कषाय रस ग्राही एवं शोषक होता है।[1]

द्रव्य को रस, वीर्य, विपाक का आश्रय कहा गया है। वीर्य या शक्ति के दो प्रकार शीत व उष्ण बतलाये गये हैं।[2]

---

१. ग.पु. २/१६८/२०-२१
२. ग.पु. २/१६८/२२-२३

रोग व रोगी परीक्षा

आयुर्वेद की तरह पुराणों में भी चिकित्सा से पहले रोग परीक्षा का उल्लेख मिलता है। गरूण पुराण १/१६८/२४-२५ में कहा गया है कि- चिकित्सक को सर्वप्रथम देश-काल-अग्नि-वय-सात्म्य-प्रकृति-औषध-देह-सत्त्व-बल-व्याधि आदि की परीक्षा करने के बाद चिकित्सा करनी चाहिए। प्रकृति परीक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है कि- वात प्रकृति के व्यक्ति कृशकाय, रूक्षता युक्त, अल्परूप में केश वाला, चंचल स्वभाव का तथा स्वप्न में बोलने वाला होता है। पित्त प्रकृति के व्यक्ति का केश अल्प वय में पक जाता है। वह गौर वर्ण का, सुन्दर, क्रोध करने वाला तथा स्वप्न में अग्नि देखता है। कफ प्रकृति का व्यक्ति स्थिर चित्रवाला, सूक्ष्म स्वर वाला, प्रसन्नचित्त तथा स्निग्धतायुक्त होता है। वह स्वप्न में जलादि देखता है। मिश्र लक्षण वाले को मिश्र प्रकृति का समझना चाहिए।[1]

गरूण पुराण में साध्यासाध्यता के दृष्टिकोण से भी रोगी परीक्षा का निर्देश है तथा असाध्य रोगियों के लक्षणों का भी वर्णन किया गया है। इसमें चिकित्सक, मित्र, गुरु आदि से द्वेष करने वाले व्यक्तियों तथा विषयोपभोग करने वाले व्यक्तियों को अरिष्ट लक्षण वाला अर्थात मृत्यु के निकट होने वाला कहा गया है।[2] आतुर के अरिष्ट लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-जिस व्यक्ति का गुल्फ, जानु, गण्ड, हनु की भ्रंशता हो तथा ये अपने स्थान से हट गये हों तथा जिस्वा, ओष्ठ कृष्ण वर्ण के हो गये हों अथवा अपने स्थान से हट गये हों, वह रोगी शीघ्र मृत्यु को प्राप्त करता है।[3]

रोग व चिकित्सा

गरूण पुराण १/१६८/१-१५ में तीनों दोषों के प्रकोप के कारण व लक्षणों का वर्णन सम्यक रूप से किया गया है, जिसे निम्न तालिका में दर्शाया जा रहा है –

दोष	प्रकोपक कारण	लक्षण	सन्दर्भ
वात	कटु, तिक्त व कषाय रस, रूक्ष वस्तुओं का अतिसेवन, चिन्ता, अतिमैथुन, व्यायाम, भय, शोक, रात्रि जागरण, अतिशय रूप में भार वहन, वर्षा ऋतु में दिन के समाप्त होने पर।	शरीर में रूक्षता, अंग प्रत्यङ्गों में संकोच रोमहर्ष, स्तम्भ, तोंद, शोष श्यामता, अंगों में शिथिलता, बल व शारीरिक शक्ति की वृद्धि।	ग.पु. ९/१६८/२-३ ग.पु. १/१६८/८-९

१. ग.पु. २/१६८/३२-३५
२. ग.पु. १/१६८/४८-५२
३. ग.पु. १/१६८/५३-५४

दोष	प्रकोपक कारण	लक्षण	सन्दर्भ
पित्त	कटु, अम्ल, लवण रस का सेवन, क्षार सेवन, उष्ण द्रव्य सेवन, अजीर्णता, तीक्ष्ण धूप, अग्नि, सन्ताप, मद्यपान, क्रोध, भोजन पाचन काल, शरद ऋतु, ग्रीष्म ऋतु का मध्याह्न, अर्द्धरात्रि।	जलन, उष्मा, स्वेदन, कोप, लालिमा, थकावट, पाक, शरीर से शव के समान या अम्ल गंध आना, स्वेद, तृषा, मूर्च्छा, शरीर का वर्ण हरित या हारिद्र होना।	१/१६८/४-५ ग.पु. १/१६८/१०
कफ	मधुर अम्ल लवण स्निग्ध व गुरु आहार, अति मात्रा में आहार सेवन, नूतन चावल, पिच्छिल मांस, आहार सेवन करने के बाद व्यायाम करना, दिवा स्वप्न, प्रातः काल बसन्त ऋतु तथा आहार सेवन करने के उपरान्त।	शरीर का स्निग्ध होना, मुख में मधुरता का अनुभव शरीर को गीले कपड़े से ढकने जैसा अनुभव शोथ, शीतता, निद्रा, कण्डू, गुरूता, आदि।	ग.पु. १/१६८/७-८ ग.पु. १/१६८/१२

आयुर्वेद के समान ही सभी व्याधियों का कारण अग्नि को माना गया है। ग.पु. में अग्नि के चार भेदों का उल्लेख मिलता है, मन्दाग्नि की अवस्था में कफ की, तीक्ष्णाग्नि की अवस्था में पित्त की, विषमाग्नि की अवस्था में वात की चिकित्सा करने को कहा गया है। समाग्नि को आरोग्यता प्रदायक कहा गया है। (ग.पु. १/१६८/३६-३८)

सामान्य रोगों का उल्लेख व चिकित्सा

पुराणों में विभिन्न रोगों का उल्लेख प्राप्त होता है तथा उनकी चिकित्सा हेतु विभिन्न योगों का उल्लेख प्राप्त होता है। आयुर्वेद की तरह ही गरुणपुराण में चिकित्सा के चार अङ्ग-चिकित्सक, भेषज, रोगी व परिचारक उल्लेखित है। (ग.पु. १/१६८/२४) पद्म पुराण में क्षुधा को अग्रय व्याधि कहा गया है। इसके बारे में कहा गया है कि इससे समस्त बल का नाश हो जाता है। तथा इसकी औषधि अन्न कहा गया है।[1] क्षुधा जन्य रोगों का उल्लेख करते हुए इससे मूकता, बधिरापन, पंगुता, जड़ता, आदि की उत्पत्ति बतलाते हुए

१. प.पु. २/६६/१४४

कहा गया है कि क्षुधा से ग्रसित व्यक्ति अमर्यादित हो जाता है।[1] पद्म पुराण २/६६/२२१ में कहा गया है कि व्याधियों से शरीरधारी अन्य प्रकार के दुःख को प्राप्त करता है। आगन्तुज व्याधियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये औषध से शान्त होती है तथा कालज व्याधियां जप, होम आदि द्वारा शान्त होते हैं।[2] गरूण पुराण १/१४७/२४ में चार प्रकार के आगन्तुज ज्वरों का वर्णन किया गया है–१. अभिधातज २. अभिषंगज ३. अभिशापज तथा ४. अभिचारज। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद की तरह साम व निराम ज्वर का भी वर्णन प्राप्त होता है (ग.पु. १/१४७/३६)। गरूण पुराण के १/१५२/१-२६ श्लोक में राक्षयक्ष्मा रोग का विशद वर्णन किया गया है। आयुर्वेद की तरह ही इसके चार कारणों का उल्लेख है–१. सहज २. वेगविधारण ३. शुक्र ओज स्नेह का क्षय तथा ४. अन्नपान विधि का त्याग करना। इसमें विसूचिका को अजीर्णजन्य व्याधि माना गया है, जिसमें वचा तथा लवण मिश्रित जल देने का विधान है (ग.पु. १/१६८/३६)। इसके अतिरिक्त ग.पु. में एक अम्लाजीर्ण का उल्लेख किया गया है जिसमें भ्रम, मूर्च्छा तथा शुक्रक्षय लक्षण कहा गया है। रसजीर्ण में सम्पूर्ण शरीर में वेदना, शिरोग्रह तथा अरूचि कहा गया है। इसकी चिकित्सा भोजन का त्याग, विश्राम तथा शयन कहा गया है। विष्टम्भाजीर्ण में शूल, गुल्म व मल-मूत्रावरोध होना कहा गया है, इसकी चिकित्सा में लवण मिश्रित जल देने का विधान किया गया है। इन अजीर्ण की स्थितियों में कतिपय औषधि का वर्णन किया गया है यथा- पंचमूल, विल्व, पाटला आदि। इसमें पथ्यापथ्य का भी निर्देश दिया गया है।[3] ग.पु. १/१५४ के १ से ७वें श्लोक में हृदयरोगों का वर्णन किया गया है तथा आयुर्वेद की तरह ही इस का पांच प्रकार कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसमें मूत्राघात, ग्रहणी, अश्मरी, शर्करा, मूत्रसाद, प्रमेह, विद्रधि, गुल्म, दन्तरोग आदि की चिकित्सा हेतु औषधीय योगों का वर्णन १/१५५ में किया गया है। इसमें १/१५६ वें अध्याय के १ से ५८ तक के श्लोक में अर्श का, १/१५७ के १ से १३वें श्लोक में अतिसारका, १/१५८ के १ से २४ मूत्राघात की, १/१६० के १ से ६० विद्रधिगुल्म की, १/१६२/१ से ४० पाण्डु की, १/१६४/१ से ४४ क्रिमी रोग की, १/१७१ के ३१-३४ अम्लपित्त की, १/१६७ के १ से ५५ वातरक्त की चिकित्सा बतलाई गई हैं। यहां विस्तारभय से कतिपय उदाहरणों द्वारा संकेत मात्र दिया गया है।

अग्नि पुराण में चिकित्सा से सम्बन्धित तथ्यों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अग्नि पुराण का अध्याय २७९ से अध्याय २८६ तक सात अध्यायों में चिकित्सा का वर्णन किया गया है। २७९वें अध्याय में विभिन्न रोगों के सिद्धौषधियों का वर्णन किया गया है ज्वर में

---

१. प.पु. १/१६/२८८
२. प.पु. २/६६/१२३-१२४
३. प.पु. १/१६८/४१-४६

प्रथमतः लघंन का निर्देश दिया गया है। उर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग रक्तपित्त में वमन का निर्देश है। औषधि योगों में दूर्वा स्वरस, वासा स्वरस, शतावर-द्राक्षा-शुण्ठी व बलासिद्ध क्षीर आदि का प्रयोग बतलाया गया है। आहार रूप में गोधूम, मुद्ग, क्षीर सिद्ध पेय का विधान बतलाया गया है। (अ.पु. २७६/१-१२)। ज्वर चिकित्सा प्रकरण में निशोथ को विरेचक तथा मदनफल का प्रयोग वमन हेतु कहा गया है। (अ.पु. २७६/६०)

अग्नि पुराण अध्याय २८० सर्वरोगहराणि औषधानि है, जिसका प्रारम्भ "धन्वन्तरिरूवाच" से किया गया है, जिससे यह स्पष्टतः अनुमान लगाया जा सकता है कि विभिन्न रोगों की चिकित्सा आयुर्वेद से ग्रहण की गयी है।

अग्निपुराण अध्याय २७६ से अध्याय २८६ तक में चिकित्सा से सम्बन्धित विषयों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जो संकेत मात्र है। सम्पूर्ण विषयों का वर्णन करना सम्भव नहीं है।

अश्मरी	:		वंश व वरूण त्वक् चूर्ण।
अपस्मार	:	१.	वृश्चिकाली, कूठ, लवण २. शंखपुष्पी, वच, कूठ आदि का चूर्ण।
अरूचि	:		चित्रक मूल, विडंग, त्रिकटु आदि।
अतिसार	:	१.	विल्वादि योग २. शाल्मली योग, शुण्ठी योग।
रक्तातिसार	:		मुस्तक, इन्द्रयव, अतिविषादि।
उदररोग	:	१.	स्नुही क्षीर भावित पिप्पली।
		२.	वचादि चूर्ण ३. निशोथ चूर्ण
उन्माद	:		त्रिकटु, शु. हिंगु के साथ।
उरःक्षत	:		जटामांस्यादि योग।
ग्रहणी	:		चित्रकमूल चूर्ण।
गलगण्ड	:		लाङ्गलीमूल कल्क।
कुष्ठ	:		वाकुची चूर्ण, हरीतकी चूर्ण, पंचतिक्तघृतादि।
गुल्म	:		स्वर्जिकाक्षार, चित्रक मूल, व अजमोद चूर्ण
प्लीहा रोग	:		पिप्पली।
पाण्डु	:		त्रिफलादि योग, त्रिकट्वादि योग, जीरकादि योग।
ज्वर	:		षड्ङ्गपानीय, पिप्पल्यादि योग।
तृष्णा	:		वटरोह, कमल, लाजा आदि।
विबन्ध	:		त्रिफला, त्रिकटु, सिद्ध घृत।
छर्दिरोग	:		वटांकुर, श्रृंगी, लोध्रत्वक्, शिलाजीत आदि।

मदात्यय : शुण्ठीमूल, गिलोय, कण्टकारी, पुष्कर मूलादि।

मूत्रकृच्छता : मुस्तक, हरिद्रादि का ब्राह्म लेप, गोक्षुरादि का अन्तःप्रयोग।

राजयक्ष्मा : शतावरी, विदारीकन्द, वला, अश्वागंधादि का प्रयोग।

वातरक्त : वर्धमान पिप्पली, व गुडुची स्वरस प्रयोग।

इसके अतिरिक्त कतिपय शस्त्र साध्य रोगों की चिकित्सा हेतु औषधियों द्वारा चिकित्सा व औषधियों के ब्राह्म प्रयोग का वर्णन किया गया है। यथा–

व्रणशोथ : भेदन व रोपण हेतु निम्व चूर्ण।
कुम्भी सार भस्म का क्षीर के साथ बाह्य लेप, निम्वपत्र लेपादि।

भगन्दर : त्रिवृतमूल, जीवन्ती, हरिद्रा, मंजिष्ठ, निम्वपत्रादि का लेप।

अश्मरी : वरूण त्वक् का अन्तः प्रयोग।

गुदभ्रंश : शुण्ठी, यवक्षार, बदर मूल आदि द्रव्यों के क्वाथ का अन्तःप्रयोग।

नाड़ी व्रण : त्रिफलादि गुग्गुल का अन्तःप्रयोग, आरग्वध फल, हरिद्रा, लाक्षा आदि का मधुयव घृत के साथ लेप।

उपर्युक्त उद्धरण संकेत मात्र हैं। सम्पूर्ण विवरण हेतु अग्निपुराण का मूलतः अध्ययन करना अभीष्ट है।

जरावस्था का वर्णन

विष्णु पुराण पंचम अंश अ. १६ के १२ से १५वें श्लोक में जरावस्था के लक्षणों का वर्णन है, जो आयुर्वेदी दृष्टिकोण से अति महत्वपूर्ण है। जरावस्था या वृद्धावस्था के निम्न लक्षण वर्णित हैं–

१. अङ्गों में शिथिलता।
२. दन्तपतन।
३. शरीर की त्वचा का झुर्रियों से युक्त होना।
४. शरीर पर सिरा धमनी आदि का उभरा हुआ दिखाई देना।
४. दृष्टिशक्ति का कमजोर होना, विशेष कर दूर की वस्तु दिखलाई न देना तथा अक्षिप्रदेश में गड्ढा पड़ जाना।
६. नासिका छिद्रों के बाल का बाहर आना।
७. शरीर में कम्पन।
८. मेरुदण्ड की अस्थियों का झुक जाना।
६. शरीरस्थ अस्थियों एवं मांसपेशियों का क्षीण हो जाना।
१०. जठराग्नि का मंद हो जाना।

११. पुंसत्वशक्ति का क्षीण हो जाना।
१२. इन्द्रियों द्वारा सम्यक् रूपेण कार्य सम्पादन नहीं होना।
१३. भ्रमणावस्था, उठने-बैठने तथा श्वास लेने में कठिनाई होना आदि।

भूतविद्या

मानसिक रोगों के सन्दर्भ में यदि पुराणों का अवलोकन किया जाताहै, तो पाया जाता है कि भूतविद्या या आगन्तुज मानस रोगों का विस्तृत वर्णन किया गया है। पुराण में भूतों की उत्पत्ति, उनके प्रकार व संख्या, सामान्य लक्षण एवं विशिष्ट लक्षण, स्वभाव, भूतों द्वारा रोगोत्पत्ति, उपसर्ग, उत्पन्न विकार एवं चिकित्सा का वर्णन है। इसका कारण सम्भवतः यह रहा है कि तद्काल में मानसिक व्याधियों का कारण भूतादि होते हैं, इस प्रकार की लोक समाज में मान्यता प्रचलित थी अथवा इससे उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा में दैवव्यापाश्रय की प्रधानता होने के कारण विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान व कर्मकाण्ड की प्रमुखता होने से पुराणों के ये विवेच्य विषय रहे हैं। इनके उत्पत्ति से सम्वन्धित इसी प्रकार की अवधारणा वर्णित है। जिस प्रकार की अवधारणा अन्य प्राणियों के लिए है। गरूण पुराण में इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा से कही गई है (ग.पु. १/४/२८)। वाराह पुराण के अनुसार नारायण से ब्रह्मा, ब्रह्मा से मरीचि तथा मरीचि से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई, जिनमें सुर, दैत्य, गन्धर्व, मनुष्य, उरग, पक्षी आदि सभी थे। (वाराह पुराण २५/६९)। कूर्म पुराण के अनुसार ब्रह्मा के क्रोधावस्था में उनके आंखों से अश्रु टपक गये, जिनेस इन भूत प्रेतादि की उत्पत्ति हुई। कूर्म पुराण १०/१८-२०)। मारकण्डेय पुराण में इनकी उत्पत्ति अधर्म से मानी गई है (मार.पु. ४१/१६-१७)। वायु पुराण देव सृष्टि ५ में इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी गई है। इसके अतिरिक्त वायु पुराण दे.सू.-४ में अलग-अलग भूतों की उत्पत्ति अलग अलग अंगों-से कही गई है। यथा-प्रजापति के जंघा से असुर की उत्पत्ति हुई।[1] अग्नि पुराण में समस्त जीवधारियों की उत्पत्ति ब्रह्मा से कही गई है तथा चौदह वर्ग में जीवधारियों को वर्गीकृत किया गया है-

चतुर्दशाविधं तत् भूतसर्ग प्रकीर्तितम्-वह्निपुराणोक्त क्लीवमार्धम्। कुछ पुराणों में तीन प्रकार के योनियों का [illegible]न प्राप्त होता है-१. मानव योनि २. तिर्यक योनि-इसके अन्तर्गत पशु पक्षियों का समावेश है तथा ३. देव योनि, जिसके अन्तर्गत भूत प्रेतादि का समावेश है।

---

१. आयुर्वेदीय भूतविद्याविवेचन डा. वी.के. द्विवेदी पेज-६२

विभिन्न पुराणों में इन भूतादि की संख्या भिन्न बतलाई गई है। अग्निपुराण में मानसिक विकारोत्पादक भूतों एवं बालग्रहों का उल्लेख एक साथ किया गया है तथा इनकी संख्या १६ कही गई है।[1]

१. प्रेत, २. डाकिनी, ३. वेताल, ४. पिशाच, ५. गन्धर्व, ६. यक्ष, ७. राक्षस, ८. शकुनि, ९. पूतना, १०. विनायक, ११. मुखमण्डिका, १२. रेवती, १३. वृद्धरेवती, १४. उग्र, १५. वृद्धिका तथा १६. मातृग्रह। वाराह पुराण के अनुसार इनकी संख्या कोटिशः है। वा.पु. में समस्त प्राणियों को चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। १. मानव, २. असुर, ३. देव तथा ४. पशु (वाराह पुराण १९/६)। कूर्म पुराण में इनकी संख्या आठ उल्लेखित है। गरुण पुराण में राक्षस, भूत, पिशाच, असुर इनका नामोल्लेख है (ग.पु. पू. सं. २/४२)। कालिका पुराण में इनका विकास वायु एवं अग्नि से माना गया है (का.पु. १७/२५-२६)।

इन भूतों के स्वरूपादि के बारे में पद्मपुराण के उत्तर खण्ड अध्याय सोलह में कहा गया है कि–

.....तं पिशाचंददर्श सः।
विकरालमुखं दीनं पिशङ्गनयनं भृशम्।।
उर्द्धमूर्द्धजकृष्णाङ्गं यमदूतमिवापरम्।
चलजिह्व च लम्बोष्ठं दीर्घजंघशिराकुलम्।
दीर्घाङ्घ्रि शुष्कतुण्डश्च गवाक्षं शुष्कपञ्जरम्।।

प.पु. में ही कहा गया है कि ये भूतप्रेत अन्तरिक्ष में विचरण करते रहते हैं (प.पु. उ.ख.अ. १५)। वामन पुराण में इन भूतादि का आहार बहता हुआ रक्त कहा गया है (वा.पु. अ. १९/२४)। आयुर्वेद में भी इन्हें रक्तपायी कहा गया है। वामन पुराण में इनके पृथक-पृथक लक्षण भी वर्णित हैं। यथा- राक्षस के बारे में कहा गया है कि ये सदैव दूसरे के स्त्री व धन के लिए लालायित रहते हैं। इनका स्वभाव आक्रामक होता है (वा.पु. ११/२६)। पिशाच के बारे में कहा गया है कि ये अविवेकी अपवित्र, असत्यभाषी तथा अज्ञानी होते हैं। ये मांसाहारी होते हैं (वा.पु. ११/२७)। इसी प्रकार पितृ-देव-दैत्य-सिद्ध-गन्धर्व-विद्याधर-यक्ष-मानव तथा कूष्माण्ड के लक्षणों का वर्णन अ. ग्यारह के १५-२८वें श्लोक में किया गया है। वामन पुराण में वर्णित बारह ग्रहो का उल्लेख आयुर्वेद के वाग्भट्ट

---

१. ग्रहान्प्रेतग्रहांश्चापि तथा वै डाकिनीग्रहान्।
बेतालाश्च पिशाचाश्च गन्धर्वान्यक्षराक्षसान्।।
वृद्धिकाख्यान्ग्रहांश्चोग्रास्तथा मातृग्रहानपि।
बालस्य विष्णोश्चरितं हन्तुं बालग्रहानिमान्।। अ.पु. ३१/२९-३१

द्वारा वर्णित ग्रहों के समान है। इन लक्षणों को वा.पु. में इन भूतों का धर्म कहा गया है। कूष्माण्डग्रह के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है कि यह मानसिक वृत्तियों का नाश करने वाला होता है तथा मानव के स्मृति का नाश करता है। ये शारीरीक बल, ओज, छाया, तथा विभिन्न प्रकार के भोग का नाश करते हैं –

चित्तवृत्तिहरा ये च ये जनाः स्मृतिहारकाः।
बलौजसां च हर्त्तारश्छायाविध्वंसकाश्च ये।।
....
कूष्माडास्तेप्रणश्यन्तुविष्णुचक्र इवाहताः।। (वा.पु. १७-१८)

इन भूतों द्वारा व्याधि उत्पन्न करने का भी वर्णन किया गया है। मारकण्डेय पुराण के अ. ४० के श्लोक साठ में कहा गया है कि अमानुष या भूतों द्वारा उत्पन्न व्याधियों में चिकित्सा करनेकी आवश्यकता होती है क्योंकि ये अमानुष सत्व योगियों के प्रज्ञा को दूषित कर विभिन्न प्रकार की बाधायें उत्पन्न करते हैं।

अमानुषात्सत्वजाद्बाधास्त्विवति चिकित्सितम्।
अमानुषसत्वमन्तर्योगिनं प्रज्ञे विक्षिपेद्यदि।।

वायु पुराण में कहा गया है कि देव, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष, असुर आदि से उपसर्ग के द्वारा बार-बार आक्रमण करते हैं (वायु.पु. १२/१५)। मारकण्डेय पुराण में इन भूतादि की तीन श्रेणियां विभाजित की गई हैं - सात्विक – राजसिक व तामसिक (मा.पु. ३१(८)। अग्नि पुराण में उन्माद रोग का कारण इन भूतादि को माना गया है तथा उन्माद रोग का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें रोगोत्पादक अवस्थाओं का वर्णन उसी रूप में प्राप्त होता है जिस प्रकार से आयुर्वेद में वर्णन किया गया है। यथा– सरिता, ताड़ाग तट पर, गर्भावस्था, खुले आकाश में शयन, रजःस्राव की स्थिति, लंघनादि करने पर, अविहित रूप से कोई अनुष्ठान करने पर, अधर्म करने पर, शून्य गृह में अकेले रहने पर, चौराहे पर आदि (अग्नि पु. ३००/३-६)। अग्नि पुराण में भी भूतोन्माद को आगन्तुज उन्माद कहा गया है (अ.पु. ३००/२) इस उन्माद का लक्षण भी आयुर्वेदिक लक्षणों से कतिपय रूप में समानता रखता है (अ.पु. ३००/८)। महाभारत में इन भूतादि द्वारा मनुष्य को ग्रसित करने के दो कारण कहे गये हैं–बलि एवं काम (म.भा. व.प. २३०/५६) जो आयुर्वेद के सदृश हैं परन्तु आयुर्वेद में तीन कारण उल्लेखित हैं। महाभारत में ग्रहोपसर्ग के प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है, जो आयुर्वेद में चरक संहिता वर्णित उन्माद प्रक्रिया से समानता रखता है। इसका वर्णन महाभारत वन पर्व अ. २३० के श्लोक ४७ से ५३ तक में किया गया है।

भूतोन्माद की चिकित्सा साङ्गोपाङ्ग रूप में वर्णित है। यथा-प्रतिवन्धक चिकित्सा तथा प्रशामक चिकित्सा। प्रशामक चिकित्सा में दैव व्यापाश्रय, युक्तिव्यापाश्रय व सत्वावजय इन तीनों प्रकार के चिकित्सा का व्यवहार दर्शाया गया है। प्रतिवन्धक चिकित्सा के सन्दर्भ में कहा गया है कि – जो मनुष्य अपने इन्द्रियों को वश में रखता है, पवित्र रहता है, ईश्वर में विश्वास रखता है, दूसरे का आदर सत्कार करता है, उस व्यक्ति को भूत प्रेतादि ग्रसित नहीं करते हैं। (म.भा.व.प. २३०/५८) इसके अतिरिक्त कहा गया है, जो महेश्वर भक्त होते हैं। उन्हें ये ग्रसित नहीं करते हैं। (म.भ. २३०/५६)[1]

मारकण्डेय पुराण में ग्रहोपसर्ग के प्रतिवन्धन के बारे में कहा गया है कि योग ग्रहोन्माद से प्रतिवन्धन का सर्वश्रेष्ठ उपाय है, जो मनुष्य योग के द्वारा सात प्रकार की धारणाओं का अतिक्रमण कर लेता है, उसे ग्रहोन्माद नहीं होता है।[2] वायु पुराण में भी योग को सर्वश्रेष्ठ प्रतिवन्धक कहा गया है।[3]

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के सन्दर्भ में कहा गया है कि वाराणसी में विश्वभुजा देवी की पूजा अर्चना करने से ग्रहोन्माद शान्त होता है (स्क. पु. ७०/२५)। वाराणसी में कुब्ज देव की पूजा करने से भूतोन्माद शान्त होता है (स्क. पु. ७०/५६)। अग्नि पुराण में एवं विशिष्ट मन्त्र द्वारा चिकित्सा विधान है (अ.पु. ३१/३३-३८)।

युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के अन्तर्गत अनेक औषधि योगों का वर्णन किया गया है। यथा-कृष्णा, निशा, रास्ना का लेह रोगी के जिह्वा पर रगड़ना (अ.पु. ३००/३१-३२)। धात्री, विश्वा, सिता, कृष्णा मुस्तादि औषधियों के अवलेह का अन्तःप्रयोग करना (अ.पु. ३००/३३-३४)। इसी प्रकार अग्नि पुराण अ. ३०० के श्लोक २४ से ३६ में अनेक औषधि योगों का वर्णन किया गया है।

सत्वावजय के सन्दर्भ में 'सान्त्वन' का उल्लेख किया गया है (म.भा.व.प. २३०/५५) मन की एकाग्रता या विकेन्द्रीकरण ग्रहोन्माद की चिकित्सा कही गई है।[4]

मनोविकार

आयुर्वेद की तरह ही पुराणों में मनोविकारों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। आयुर्वेद में मनोचिकित्सा के सन्दर्भ में पुराण की उपयोगिता दर्शायी गयी है। विभिन्न पुराणों की उपयोगिता तद्काल में सामूहिक मनोचिकित्सा के रूप में भी होती रही है, अतः स्वभावतः मनोविकार व मनोचिकित्सा का व्यवहारिक स्वरूप पुराणों में उपलब्ध है। वि.पु.

---

१. स रथोऽधिष्ठितो ...ग्रामणीसर्पराक्षसैः।। कू.पु. ४०/११
२. मार.पु. ३१/२८-२६
३. वायु.पु. १५
४. मार.पु. ३१/६०-६१

१/१७/६५ में मन में दुःखोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। श्री मद्भागवतपुराण में मनोविकार प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति किसी विषय के चिन्तन में संलग्न हो जाते हैं, उनकी इन्द्रियां विषय में अनुवन्धित हो जाती हैं। जिस प्रकार जलाशय आश्रित तृणादि जलाशय के जल का ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियार्थों द्वारा क्रमशः मन, बुद्धि व विचार शक्ति का नाश हो जाता है। बुद्धि विचार शक्ति के नाश होने पर पूर्व की स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश हो जाता है। (भाग. पु. ४/२२/३१) महाभारत शान्ति पर्व में सभी मानसिक दुःखों का मूल कारण संकल्प कहा गया है।

भागवत पुराण में कहा गया है कि मनुष्य सुख की कामना से जिस वस्तु को श्रम द्वारा प्राप्त करता है, उसके नाश होने पर वह शोकाकुल हो जाता है (भा.पु. ३/३०/२)। भा.गी. में शोक को इद्रियों का शोषक कहा गया है। महाभारत में अपने लोगों के साथ युद्ध करना शोकोत्पादक कहा गया है भाग. पु. ७/१०/३ में हृदयग्रन्थि का उल्लेख किया गया है। भा.पु. ३/२/५ में आनन्द का उल्लेख है। वायु पुराण में योगियों में होने वाले उपसर्ग के सन्दर्भ में विभिन्न मनोविकारों का वर्णन किया गया है। योगियों में होने वाले उपसर्ग को भ्रमावस्था कहा गया है। इसमें ज्ञान का भ्रंश हो जाता है।[1] उपसर्ग के ५ भेद कहे गये हैं – १. प्रतिभ, २. श्रवण, ३. दैव, ४. भ्रम, ५. आवर्त।

१. प्रतिभ–जिसमें बुद्धि की भ्रंशता होती है जिससे बुद्ध अपना कार्य सम्यक रूप से नहीं कर पाती है।[2]
२. श्रवण–इसमें व्यक्ति को सहस्र योजन दूर के शब्द सुनाई देने का अनुभव होता है।[3]
३. दैव–जब किसी व्यक्ति को ऐसा अनुभव हो कि देवता हमारे साथ में है या हमको देख रहे है तब उसे दैव उपसर्ग कहते हैं।[4]
४. भ्रम–इस स्थिति में मन की स्थिरता समाप्त हो जाती है, जिससे उसके आचार व्यवहार में विकृति आ जाती है।[5]
५. आवर्त–व्यक्ति के चित्त का नाश हो जाता है। जिससे मन की क्रियाशीलता का नाश होकर सभी प्रकार के ज्ञान का भ्रंश हो जाता है।[6]

---

१. वायु.पु. १२/११
२. मार.पु. ३२/६११
३. मार.पु. ३२/१०
४. मार.पु. ३२/११
५. मार.पु. ३२/१२
६. मार.पु. ३२/१३

अग्नि पुराण में उन्माद रोग का बृहद वर्णन मिलता है जिसमें दो प्रकार के उन्माद कहे गये हैं–१. दोषज, २. आगन्तुज। पुन दोषज उन्माद के ४ प्रकार कहे गये हैं। १. वाजत, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातिक[1] उन्माद के लक्षण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि रोगी अपने जीवन को समाप्त करने की कोशिश करता है। रोगी अपने केश को बार-बार स्पर्श करता है। भूख प्यास समाप्त हो जाती है। त्वचा में प्रदाह होता है। हमेशा विचारमग्न रहता है।[2] पुराणों में मानसिक रोगों की चिकित्सा का विशद वर्णन मिलता है। इसके प्रतिवन्धक चिकित्सा के सम्वन्ध में भागवतपुराण में कहा गया है कि अधर्म का त्याग कर धर्म का पालन करने से मनोविकार की सम्भावना नहीं रहती है।[3] पुनः भागवतपुराण १/१६!२५-२८ में कहा गया है कि धर्म के ५० गुण होते हैं तथा चार पाद होते हैं। इसमें से निदान रूप एक-एक पाद की हानि होती है और उसी के अनुसार मनोवल की वृद्धि होती है, इन धर्म के ५० गुणों का पालन करने वाले को मानसिक व्याधियां नहीं होतीं हैं।

शामक चिकित्सा के अन्तर्गत तीनों प्रकार के चिकित्सा का वर्णन किया गया है। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के सन्दर्भ में कहा गया है कि ईश्वर की भक्ति करने से रजोगुण, तमोगुण, काम क्रोध आदि का नाश होता है तथा सत्वगुण की वृद्धि के साथ चित्त निर्मल हो जाता है (भा.पु.म. २१-२६)। पुनः कहा गया है कि हृदयस्थ आत्म स्वरूप का साक्षात करने से हृदय ग्रंथि का नाश हो जाता है तथा सभी प्रकार के संशय समाप्त हो जाता है। और मनुष्य कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। (का.पु. ५/२/२) पुनः भागवत पुराण १/६/३६ में कहा गया है कि ईश्वर की सेवा से सभी प्रकार के मानसिक रोग समाप्त हो जाता है। युक्तिव्यपाश्रय के सन्दर्भ में अग्निपुराण में बहुत सारे योगों का वर्णन है जिसका विस्तृत वर्णन अ.पु.अ. ३०१ श्लोक २३-३८ में वर्णित है।

यथा- भारंगी, यष्टिमधु का घृत के साथ प्रयोग।

- पाठा, तिक्ता, भारंगी चूर्ण का प्रयोग घृत व शहद के साथ।
- कृष्णादितैल का मर्दन।
- द्रोण पुष्पी, कुष्माण्ड स्वरस का प्रयोग पंचगव्य घृत के साथ।
- वृश्चिकाली, भारंगी आदि के क्वाथ का प्रयोग।

पुराणों में मनोविकारों की शान्ति के लिए मनोचिकित्सा का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. अ.पु. ३००/१-२

२. अ.पु. ३००/७८

३. भा.पु. १७/३२

सान्त्वन (म.भा.वृ.प. २३०/५५)।

मन का विकेन्द्रीकरण (मा.पु. ३/६०)।

यदि मन रजगुण से विक्षिप्त और तम गुण से विमूढ़ हो, तब धैर्य एवं धारणा से चिकित्सा (भा.पु. २/१/२८)।

विष्णुपुराण में प्राणायाम को मनो चिकित्सा के रूप कहा गया है (वि.पु. ६/७/४५)।

तत्वज्ञान से मोह समाप्त होता है और स्मृति स्थिर रहती है (भा.गी. १८/७३)।

श्रीमद भागवत पुराण के सप्तम स्कन्ध ११५वें अध्याय में श्लोक संख्या २२-२४ में रोगानुसार निम्न मनोचिकित्सा का उल्लेख है।

१. काम रोग की चिकित्सा - संकल्प, त्याग

२. क्रोध की चिकित्सा - त्याग।

३. विषयासक्ति की चिकित्सा - अर्थ से अनर्थ परिकल्पना।

४. शोक और मोह की चिकित्सा - अध्यात्म विद्या।

५. हिंसा की चिकित्सा - प्राणियों की निश्चेष्टता द्वारा।

६. दम्भ की चिकित्सा - सन्त समागम।

७. निद्रा की चिकित्सा - सात्विक आहार।

८. आधिभौतिक दुखों की चिकित्सा - दया द्वारा।

९. रजोगुण की चिकित्सा - सत्व गुणों द्वारा।

भारतवर्ष में पुराणों का प्रचलन धर्मशास्त्र के रूप में भी हैं। जनसामान्य से सीधे रूप में सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में पुराण सर्वोपरि है। जनसामान्य में पौराणिक कथाओं के श्रवण का प्रचलन है तथा कतिपय स्थितियों में सीधे रूप मे पुराण श्रवण किया जाता है, अतः पुराणों के सम्बन्ध में यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा को जन सामान्य से जोड़ने वाला माध्यम पुराण है। हालांकि पुराणों के विषयवस्तु सृष्टि उत्पत्ति वंशावली आदि है परन्तु इसमें लोक व्यवहार से सम्बन्धित समस्त ज्ञान का व्यवहारिक स्वरूप बोधगम्य रूप में है। आयुर्वेद भी भारतीय ज्ञान परम्परा की एक निधि है अतः यह स्वाभाविक है कि पुराणों में आयुर्वेद से सम्बन्धित सामग्रियो का विस्तृत वर्णन है। इस सन्दर्भ में अनेक प्रकार के शोध भी हुए हैं।

पुराणों में आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करने पर पाया जाता है कि आयुर्वेद के सभी अङ्गों से सम्बन्धित तथ्य व विषय पुराणों में वर्णित है। पुराण चूंकि जन सामान्य से जुड़े हैं अतः आयुर्वेद से सम्बन्धित उन्हीं सामान्य सिद्धान्तों एवं औषधियों का उल्लेख मिलता है, जो जनसामान्य के लिए उपयोगी ही नहीं बल्कि उसका ज्ञान आवश्यक है।

जिस प्रकार आधुनिक युग में सिद्ध एवं परीक्षित स्वास्थ्य से सम्बन्धित तथ्य एवं सिद्ध औषधियां विभिन्न माध्यमों से जन सामान्य तक पहुंचायी जाती हैं। यथा- टी.वी., प्रोजेक्टर आदि उसी प्रकार जन सामान्य से सम्वन्ध रखने वाले पुराणों में आयुर्वेद के विषयों को समावेशित कर जनसामान्य तक पहुंचायें। औषधयोगों पर दृष्टिपात करने के बाद यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि जिन औषधियों के निर्माण में जटिलता थी या जिनका निर्माण या सेवन करने में चिकित्सक की आवश्यकता थी, इनका उल्लेख पुराणों में नहीं किया गया है, वल्कि जनोपयोगी रोगानुसार सामान्य औषधियों का वर्णन किया गया है। सामान्यतया पुराणों में उन्हीं औषधियों का उल्लेख किया गया है, जो सर्वसुलभ हो तथा जिन औषधियों से जनसामान्य परिचित हो। साथ-साथ यह भी देखा जाता है कि पुराण वर्णित औषधियां निरापद अर्थात उनका सेवन कराने से किसी तरह की हानि की सम्भावना नहीं रहती है। विशेषकर अग्निपुराण एवं गरुण पुराण में औषधियों का वर्णन है। गरूण पुराण एवं अग्निपुराण का श्रवण का प्रचलन बहुत है। अतः इन पुराणों के माध्यम से स्वास्थ्योपयोगी औषधियों को जन सामान्य तक प्राथमिक चिकित्सा के उद्देश्य से पहुंचाया गया है। अग्निपुराण में सर्वरोग औषधि अध्याय में "धन्वन्तरि उवाचः" कहकर स्पष्ट कर दिया गया है कि यह औषधियां धान्वन्तर सम्प्रदाय की ही है, लेकिन यह ध्यान रखा गया है कि उन्हीं औषधियों का वर्णन किया गया है, जो निरापद सर्वसुलभ तथा प्राथमिक चिकित्सा में सहायक है।

पुराणों के अध्ययन से आयुर्वेदीय विषय से सम्वन्धित सामग्रियों के आधार पर ऐतिहासिक अनुशीलन का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता हैं। महाभारत में वर्णित आयुर्वेद सिद्धान्त चरक संहिता से साम्य रखता है यथा- चरक संहिता में अहंकार से सीधे पंचमहाभूतों की उत्पत्ति मानी गयी है जो कि महाभारत में यथारूप में निहित है। श्रीमदभागवतसपुराण में शारीरिक रोग एवं चिकित्सा का कोई विशेष उल्लेख नहीं है परन्तु मानसिक पक्ष एवं मनोचिकित्सा का विस्तृत वर्णन है। जिसके अधिकतम विषय चरक संहिता वर्णित विषयों से साम्यता रखते हैं। अन्य पुराणों में जो आयुर्वेद के विषय प्राप्त होते हैं, वे बाद के आचार्यों की अवधारणा से साम्य रखते हैं। विशेष कर वाग्भट्ट की अवधारणा और विषयवस्तु पुराणों में विशेष रूप से वर्णित है। सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में सुश्रुत की अवधारणा अधिकतम पौराणिक है। पुराणों के अध्ययन में आयुर्वेदीय दृष्टिकोण में भूतविद्या और मनोचिकित्सा बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वामन पुराण, मारकण्डेय पुराण आदि में जो भूतविद्या से सम्वन्धित विषय प्राप्त होते हैं, वह वाग्भट्ट से ज्यादा साम्य रखते हैं, जवकि चरक, सुश्रुत में आठ-आठ ग्रहों का उल्लेख किया है। पुराणों में कूष्माण्ड और किन्नर आदि का वर्णन मिलता है। सम्भवतः यह पुराण वाग्भट के काल के बाद के हैं। अग्नि पुराणों में ग्रहों की श्रेणी वयानुसार की गई है, जिसमें बालग्रह और वयस्कग्रह एवं

बृद्धग्रह इनका एक साथ वर्णन मिलता है। चरक संहिता में बालग्रह का वर्णन नहीं है। परन्तु सुश्रुत संहिता में इसका विशद वर्णन है। सम्भवतः पूर्व के पुराणों में बालग्रह का वर्णन सुश्रुत के आधार पर किया गया है या वाग्भट्ट से लिया गया है। क्योंकि वाग्भट्ट ने सुश्रुतोक्त ग्रह के साथ कतिपय अन्य ग्रहों का वर्णन किया है। पुराणों में मनोचिकित्सा कथाओं के माध्यम से व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है तथा इन पुराणों का उपयोग मनोचिकित्सा हेतु किया जा सकता है, जैसा कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में किया गया है।

पुराणों में आयुर्वेद के विषय सामग्री का अध्ययन करने से पता चलता है कि आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने जो तीन श्रेणियो में पुराणों का जो काल निर्धारित है-पूर्व, मध्य, अर्वाचीन उसके अनुसार ही प्रचलित आयुर्वेद के स्वरूप एवं प्रचलित आयुर्वेदीय संहिताओं से आयुर्वेदीय विषयवस्तु का ग्रहण किया गया है।

पञ्चात्रिंशोऽध्याय

उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्य-सूत्र, स्मृति एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र में आयुर्वेद

उपनिषद्

कुल ११ उपनिषद् है। लेकिन शंकराचार्य के अनुसार ईश, केन, हठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैतिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर तथा शंकरभाष्य में कौषोतकि, जावाल, महानारायण, वैगल चार अन्य उपनिषद् मिलाकर कुल १५ उपनिषद् है, ज्योतिष द्वारा उपनिषद् काल १२०० या १६०० ई.पू. माना है। शरीर में अन्न के पाचन को गन्ने के रस से गुड़ वनने की प्रक्रिया द्वारा बताया है। रस पकाते समय तीन कड़ाहो का उपयोग तीन प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म पाक अन्न का होता है। उपनिषद् में भी वर्णन है कि अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। उपनिषद् में मन को अन्नमय कहा गया हैं जो अन्न भक्षण किया जाता है। वह भक्षण के पश्चात् तीन प्रकार से विभाजित हो जाता है स्थूलतम अंश मल, मध्यम अंश मासं, अतिसूक्ष्म अंश मन बन जाता है। उपनिषद्रों में अर्क, अर्जुन, आमलक, उदुम्वर, पलाश, पीपल, यव, ब्रीहि, सर्षप आदि वनस्पतियाँ निर्दिष्ट है।

छान्दोग्यापनिषद् (७०० ई.पू.) :-छान्दोग्यापनिषद् में सर्प विद्या तथा मधु विद्या प्रसंग, हृदय, नाड़ी वर्णन, आहार का रस मल विवेचन, पामा रोग, दीर्घायुष्य, निद्रा एवं स्वप्न का उल्लेख, रोग को दूर कर ११६ वर्ष की आयु की प्राप्ति के उपायों का उल्लेख है। भूत विद्या एक अलग विज्ञान के रूप में वर्णित है। इसमें मनुष्य की आयु ११६ वर्ष मानी है, जिसमें पहले २४ वर्ष वाल्यावस्था, ४४ वर्ष युवावस्था, ४८ वर्ष वृद्धावस्था होती है तथा इस उपनिषद् में ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के लिये १०१ वर्षों तक इन्द्र के साथ निवास का उल्लेख है। सत्वतमो वहुला आपः (छान्दोग्य) नारद द्वारा उल्लिखित विद्याओं में आयुर्वेद का नाम नही है परन्तु भूत विद्या तथा सर्प विद्या का उल्लेख है। अन्न को स्वास्थ्य का आधार, लम्बे समय तक भोजन न करने पर मनुष्य जीवित रहता है परन्तु अदृष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता, अविज्ञाता (छन्दोग्य २-१६-२) प्राण ही जव उत्प्राण के साथ ऊपर उठता है, तव वाणी और संगीत की उत्पत्ति होती है। उदान को उपनिषद् में उत्प्राण भी कहा है। (छान्दोग्य) छान्दोग्य उपनिषद् में सत्व, रज, तम तीन गुणों का वर्णन मिलता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् (७०० ई.पू.) :-वृहदारण्यक उपनिषद् में प्राणायतन तथा गन्धर्वगृहीता स्त्री का वर्णन तीन एषणाये पुत्रैषणा, वित्तेषणा तथा लोकैषणा मानी है। वृहदारण्यक में मृत्यु, शरीरांगों का वर्णन, हृदय तथा उसकी नाड़ियों का वर्णन, नेत्र रचना, पुरुष के अवयवो, धातुओं, लोम, त्वक, रक्त, माँस, स्नायु, अस्थि, मज्जा के साथ वनस्पतियों तथा वृक्षों की रचना का वर्णन मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में स्त्री का संभोग करते हुए इच्छानुसार गर्भाधान का उपाय बताया गया है। इसमें स्त्री के बन्ध्याकरणार्थ (६/४/७) एवं पुत्रवती (६/४/८) करने के लिए तथा गर्भ धारण के लिए मंत्र वर्णन मिलता है। (वृ. पृ. ६/४/११) उपनिषद्रों में वर्णन मिलता है कि हृतकमल के अन्दर सूक्ष्मतर आकाश में अपने अन्न के सहारे जीवात्मा स्थित रहता है हृदय कमल से १०१ सूक्ष्म ज्ञान वाहिनियाँ निकलती है जिनकी सहस्रो शाखाएँ होती है। देहधारी आत्मा इन नाड़ियों द्वारा बुद्धि, मन, इन्द्रियों तथा उनके विषयों की जानकारी प्राप्त करता है। चरक शब्द उपनिषद् में भी आया है। (वृह.उप. ३/३१/१)

ईशावास्योपनिषद् (७०० ई.पू.) :-ईशावास्योपनिषद् में परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप वर्णित किया गया है। इसके अनुसार समस्त प्राणियों को स्वयं में एवं स्वयं को समस्त प्राणियों में देखेंगे, तब वह एकात्मकता की अनुभूति के कारण घृणा नहीं करेगा।

ऐतरेय उपनिषद् (६००-८०० ई.पू.) :- ऐतरेय उपनिषद् में पुरुष को त्रिज कहा गया है। गर्भ में स्थिति पहला जन्म, गर्भाशय के बाहर निकलना दूसरा जन्म तथा मृत्यु के बाद पुनर्जन्म को तीसरा जन्म कहा गया है। समस्त प्राणियों का रस पृथ्वी, पृथ्वी का रस जल, जल का रस औषधियाँ और औषधियों का रस ही पुरुष शरीर है। (ऐतरेय १,२,४)

तैतिरीयोपनिषद् (६००-५०० ई. पू.) :-आत्मा से सर्वप्रथम आकाश तत्व की उत्पत्ति आकाश से वायु, तेजस की उत्पत्ति वायु महाभूत से, अग्नि से जल तत्व की तथा जल के बाद पृथ्वी् महाभूत की उत्पत्ति हुई। (तैतरीयोपनिषद्) इसमें अन्न को ब्रह्म बताया है। इसके द्वारा मनुष्य जीवित रहता है अन्न की निन्दा एवं अवहेलना नहीं करनी चाहिए। अन्न को सर्वोषध कहा गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (२००-१०० ई.पू.) :-श्वेताश्वतरोपनिषद् में सृष्टि का कारण काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा तथा नास्तिक मतों का उल्लेख मिलता है। पंचमहाभूत, योनि, पुरुष ये सब अलग-अलग नहीं तो इन सबका संयोग कारण हैं हृदय में परमेश्वर अदृश्य रूप में उसी प्रकार रहता है जैसे- तिलों में तेल, दही में घृत, स्रोतों में जल प्रकृति रूप एक वृक्ष में परमात्मा और जीवात्मा रुपी पक्षी रहते है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में क्षर को प्रधान, अमृत को अक्षर अन्य को देव का कहा गया है।

गर्भोपनिषद् :- गर्भोपनिषद् में शरीर को कोष्ठाग्नि, ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि का आश्रयस्थल तथा वात-पित्त-कफ शब्दों का और देह के भीतर इसके प्रमाण का वर्णन किया

गया है। इसके अनुसार देह पिण्ड को शरीर कहते है क्योंकि इसमें ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि तथा जठराग्नि के रूप में अग्नि निवास करता है।

कठोपनिषद् :-जगत में एक भी ऐसा पदार्थ नहीं जो गतिमान नहीं। एक अग्नि तत्व ही अलग-अलग द्रव्यों में प्रविष्ट होकर उसका स्वरूप ग्रहण कर लेता है। कठोपनिषद् में ब्रह्म के प्रकाशित होने पर ही सब प्रकाशित होते है। आत्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथि और मन लगाम है।

केनोपनिषद् :-केनोपनिषद् में बताया है कि जो प्राण द्वारा प्रेरित नहीं होता, जिससे प्राण प्रेरणा प्राप्त करता है, वह ब्रह्म है तथा प्राणशक्ति से चेष्टावान हुए जिन तत्वों की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है।

शरीरकोपनिषद् :-शरीरकोपनिषद् में पृथ्व्यादि पंचमहाभूत के समावाय को शरीर बताया है। यह शरीर मैथुन से उत्पन्न होता है तथा विण्मूत्र, पित्त, कफ, मज्जा मेद वसादि अनेक मलों से परिपूर्ण रहता है। मूत्र, श्लेष्मा, रक्त, शुक्र स्वेद, शरीरस्थ जलीयांश है। अस्थि, चर्म, नाड़ी, रोम, मांस, पृथ्वी के अंश तथा क्षुधा, तृष्णा, मोह, मैथुन, अग्नि के अंश, प्रचारण विलेख, स्थूल आदि उन्मेष एवं निमेष वायव्य अंश, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि आकाश के अंश है। (शरीरकोपनिषद्)

प्रश्नोपनिषद् :-आकाशादि पंचमहाभूत शरीर को धारण करते है। (प्रश्नोपनिषद् २-२) प्रश्नोपनिषद् के अनुसार १५ प्रसिद्ध कलाएँ है जो अन्तिम प्रश्न में पढ़ी गयी तथा देह के आश्रित चक्षु आदि इन्द्रियों में स्थित समस्त देवता अपने प्रतिदेवता आदित्यादि में लीन हो जाते है। प्रश्नोपनिषद् में पंचतन्मात्रा का वर्णन मिलता है।

मु.ड्कोपनिषद् :-पुरुष में ही सात प्राण, सात दीप्तियाँ, सात समिधा, सात होम आदि का वर्णन मिलता है। (मु.ड्कोपनिषद् १/८) दश वायु में पंचवायु को मुख्य माना है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योति, ६ वेदांग अपरा विद्या कहे जाते है। (मुण्डकोपनिषद् खण्ड १/५)

त्रिशिखि ब्राह्मण, ध्यान विन्दु उपनिषद्, भावनोपनिषद् :-इनमें एकन्य नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त को उपवायु (त्रिशिखि ब्राह्मण ७६-७७, ध्यान विन्दु उप ५६-५७, भावनोपनिषद्) बताया है।

वाराहोपनिषद् :-इयमें सप्त वैचारिक भूमिकाएँ निरुपित की है यथा- शुभेक्षा, विचारणा, तनुमानसा सत्वापत्ति, असंभक्ति, वादार्थ, भावना, तुरीयगा। (वाराहोपनिषद् ४-१)

श्वेताश्वतर उपनिषद् :-श्वेताश्वतर उपनिषद् में योग की अवधारणा तथा शरीर की परिभाषा, शरीर में लघुत्व, किसी प्रकार के रोग का न होना, विषयासक्ति की निवृत्ति वर्ण की उज्जवलता, स्वर की मधुरता, शरीर में शुभ गन्ध, मूत्रापुरीषादि की न्यूनता, योगसिद्धियाँ एवं स्वस्थ पुरुष के लक्षण बताये है।

ब्रह्मोपनिषद् :-शरीर में नाभि, हृदय, कण्ठ, ब्रह्मरंध्र आत्मा के विशेषज्ञ स्थान तथा चार चरण वाला ब्रह्मकाशमय होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय आत्मा की चार अवस्था है। (ब्रह्मोपनिषद्)

पुराण

जैमिनियोपनिषद् :-शंख का वर्णन मिलता है।

पुराण १८ माने गये है। गुण भेद से पुराणों को निम्नलिखित रूप में विभाजित कर सकते है यथा- सात्विक पुराण- विष्णु, नारदीय, भागवत गरुड़, पदम, वाराह तथा राजसिक पुराण- ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन तथा तामसिक पुराण- मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द, अग्नि है। शरीरावयव भेद से निम्न रूप में विभाजित कर सकते है- हृदय (पदम), शिर (ब्रह्म), दक्षिण बाहु (विष्णु), वाम बाहु (शिव), जंघा (भागवत), नाभि (नारदीय), दक्षिण पाद (मारकण्डेय), वामपद, (अग्नि), दक्षिण सक्थि (भविष्य), वाम सक्थि (ब्रह्म वैवर्त), दक्षिण गुलफ (लिंग), वाम (वाराह), रोम (स्कन्द), त्वचा (वामन), पीठ (कूर्म), स्नायु (मत्स्य), मज्जा (गरुड़), अस्थि (ब्रह्माण्ड) को वर्गीकृत किया गया है। पुराणों में दस प्राण माने गये है। आत्मा को मिलाकर ग्यारह ये ही एकादश रूद्र है। पुराणों में रसायन, जीवन एवं स्वास्थ्य सम्वन्धी वर्णन मिलते है। पुराणों में स्वस्थवृत्त की सामग्री का निरुपण धार्मिक परिप्रेक्ष्य में हुआ है।

पद्म पुराण (६००-१४०० ई.पू.) :-पंचमहाभूतों द्वारा सृष्टि निर्माण (प.पु. ३/२/१८/२२), शरीर वर्णन (प.पु. २/६६/१-७), खाद्य के ६ भेद भक्ष्य, भोज्य पेय, लेह्य, चोष्य, खाद्य (प.पु. २/६६/१५) का वर्णन है। अन्न पाचन, बारह मलों के निस्तारण द्वार (कर्ण, अक्षि, जिह्वा, दन्त, ओष्ठ, प्रजननेन्द्रिय, गुद, स्वेद, विष्ठा, मूत्रमार्ग) का वर्णन है। गर्भावक्रान्ति का विस्तृत वर्णन (प.पु. २/६६/२८-४१), शरीर का आधार अस्थि एवं ३६० अस्थियाँ, ५०० पेशी, साढ़े तीन करोड़ रोम, बत्तीस दांत, २० नख (प.पु. २/६६/ ५९-६२) १०१ प्रकार की मृत्यु, काल मृत्यु १००, आगन्तुक मृत्यु (प.पु. २/६६/१२२), क्षुधा को समस्त व्याधियों में श्रेष्ठ माना है। क्षुधा के कारण व्यक्ति में गूंगापन, बहरापन, जड़ता, पंगुता आदि उत्पन्न हो जाते हैं। (प.पु. १/१६/२८१-२८८) क्षुत व्याधि से युक्त व्यक्ति के लिए अन्न ही श्रेष्ठ औषध बताया गया है।

वात-पित्त-कफ वैषम्य से व्याधि, काल व्याधि को औषध, दान द्वारा शान्त न किये जाने परन्तु रसायन, तप, सिद्ध महात्माओं के द्वारा बताये गये मार्ग से काल मृत्यु को जीतने का उल्लेख मिलता है। अश्विनीकुमारों के चिकित्सा चातुर्य, चार प्रकार का अजीर्ण- आम, अम्ल, रस एवं विष्टबधाजीर्ण, संसार को दुखमय एवं प्राणी को गर्भावास से ही दुख भोगने का वर्णन है। जो रोगी चिकित्सक मित्र गुरु से द्वेष करता है, इन्द्रिया विषयों में लिप्त हो, गुल्फ, जानु हनु भ्रष्ट हो जाये, जिह्वा ओष्ठ कृष्ण वर्ण का हो, उसकी अवश्य मृत्यु होने का वर्णन मिलता है।

पद्‌म पुराण में शोणित १० पल, श्लेष्मा अर्द्ध आढ़क, पित्त १ कुड़व वसा ३० पल, मेदस १० पल, शुक्र १/२ कुड़व, मासं - १ सहस्र पल, मज्जा-रक्त १२ पल। हृदय रूपी पद्‌म में चारों तरफ से सभी नाड़ियों के जुड़े होने तथा प्राण वायु संपूर्ण नाड़ियों के मुख में उस रस को स्थापित करने तथा रस से शुक्र उत्पत्ति की पोषण प्रक्रिया का वर्णन मिलता है।

गरुड़ पुराण (६५० ई.पू.) :-इसमें रत्नों की परीक्षा, शुद्ध-अशुद्ध लक्षण, धारण विधि, पथ्यापथ्य, अनुपान, वाजीकरण तथा नेत्र रोग आदि का वर्णन है। गरुड़ पुराण के अनुसार शरीरस्थ सूक्ष्म वायु प्राणी की मृत्यु के वाद उसके गले से निकलती है। इसके अलावा वायु शरीरस्थ नवद्वार, तालु से निकल जाती है। शरीर की समस्त धातुओं, उपधातुओं का उल्लेख तथा प्राणी को काम, क्रोध, राग, द्वेष, तृष्णा आदि विषयों से ग्रस्त माना है। शरीर अन्नमय आदि ६ कोषों से युक्त है। आमवस्या, षष्ठी, नवमी, प्रतिपदा तिथि तथा रविवार इन तिथि में दन्तकाष्ठ के अभाव में १२ गण्डूष जल से मुख शुद्धि का वर्णन किया है। स्नान के प्रकार १. ब्रह्म, २. आग्नेय, ३. वायव्य, ४. दिव्य. ५. वारुण, ६. यौगिक (ग.पु. १,५०,८) बताये है।

गरुड़ पुराण में वात-पित्त-कफ के प्रकुपित होने के कारण (ग.पु. १/१६८/१७३) एवं लक्षण, रसों के गुण (ग.पु. १/१६८/२०-२३) बताये है। चिकित्सा के चार अंग तथा देश काल, अग्नि, वयस, बल सात्म्य, प्रकृति आदि के अनुसार चिकित्सा करने का वर्णन (ग.पु. १/१६८ २४-२५) किया है। विभिन्न प्रकार की प्रकृति के लक्षण चार प्रकार की अग्नि, चार प्रकार का अर्जीण (ग.पु. १/१६८/३२-४६) एवं अरिष्ट लक्षण (ग.पु. १/१६८/५३-५४) वर्णन किया है। पंचनिदान, दोषप्रकोपक कारण, दोषों की विकारकारिता, ज्वर के पर्याय, भेद, अभिन्यास एवं हतौजस ज्वर, रक्तपित्त, अरुचि, राजयक्ष्मा, हृदय रोग, तृष्णा, मदात्य अर्श अतिसार, उदर, विद्रधि, विसर्प, वातज व्याधि, वातरक्त का वर्णन मिलता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण:-ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्मखण्ड में आयुर्वेदावतरण, धन्वन्तरि और नाग देवी के संवाद वर्णन से तत्कालीन विष वैद्यक के ज्ञान का पता चलता है। इसमें आयुर्वेद की उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा वर्णित है।

स्कन्द पुराण :-स्कन्द पुराण में सभी उपकरणों से युक्त आरोग्यशाला के महत्व, वैद्य के गुण एवं कर्तव्य का वर्णन है।

विष्णु पुराण (६वीं-७वीं शताब्दी) :-विष्णु पुराण में सृष्टि प्रलय वर्णन सृष्टि उत्पत्ति क्रम के विपरीत क्रम से सभी का लीन होकर सृष्टि के अन्त में हो जाने का वर्णन किया गया हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ बताये गये हैं। (वि.पु. प्रथम अंश, अ.

१८/२१) मोक्ष की प्राप्ति का साधन मन पर विजय वर्णित है। (वि.पु. चतुर्थ अंश अ. २४/१३१) धन्वन्तरि के द्वारा आयुर्वेद के अष्टांग विभागों का निर्देश मिलता है। गर्भस्थ शिशु की आकृति स्थिति आदि का वर्णन है तथा सूतिका वात से प्रेरित होकर अधोमुख मलमूत्रादि से युक्त कष्टपूर्वक माता के गर्भ से बाहर आता है, अस्थि बन्धन प्रजापत्य वायु से सन्तप्त रहते हैं। बाहरी वातावरण में आने पर भी मूर्च्छित रहता हैं (वि.पु. षष्ठ अंश, अ. ५/१०-१६) विष्णु स्तुति में पैर, दाँत, मुख, जिह्वा, रोम, नेत्र, मस्तक, प्राण कर्ण आदि अंगों का वर्णन तथा शब्द उच्चारण प्रक्रिया जिह्वा, दाँत, ओष्ठ तालु के सहयोग से होती है। (वि.पु. द्वितीय अंश अ.१३/८७)

विष्णु पुराण तृतीय अंश अध्याय १०,११,१२,१३ में सद्वृत्त एवं स्वस्थवृत्त का वर्णन है हलाहल विष का प्रयोग मिलता है। अहंकार को महारोग, क्रोध से शक्ति नाश, गृहस्थ के कर्तव्यों का वर्णन तथा उसे श्रेष्ठ आश्रम बताया गया है। आध्यात्मिक ताप के शारीरिक एवं मानसिक भेद जिसमें शिरोरोग प्रतिश्याय, ज्वर, शूल भगन्दर, गुल्म, अर्श, शोथ, श्वास, छर्दि रोग, अतिसार, नेत्ररोग शारीरिक ताप तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक विषाद, ईर्ष्या आदि मानसिक ताप है। (वि.पु. षष्ठ अंश अ. ५/२७-३५) वृद्धावस्था का विस्तृत वर्णन है। द्रोण पर्वत पर विभिन्न प्रकार की औषधियों के उत्पन्न होने तन्त्रादि द्वारा झाड़-फूँक के प्रयोग का वर्णन मिलता है। विवाह योग्य आयु, विवाह के अयोग्य कन्या के लक्षणों का उल्लेख मिलता है। विष्णु पुराण में चौदह विद्याओं में आयुर्वेद को न मानकर आयुर्वेद धनुर्वेद, गांधर्व, अर्थशास्त्र इन चार का मिश्रण करने पर हुई १८ विद्याओं में आता है। तामस अहंकार से सभी भूतों की उत्पत्ति तथा दस इन्द्रियों को तैजस या राजस अहंकार से उत्पन्न माना जाता हैं। विष्णु पुराण में स्वसुख हेतु साधन का संग्रह, हृदय को क्लेश देने वाला, मन्द सत्व में हृदयस्थ नाड़ियाँ ज्ञान का वहन करने वाली न होना तथा योगाभ्यास में प्राण एवं अपान वायु के नाम मिलते है। मनुष्यों के बन्धन मोक्ष का कारण मन तथा विषयों में आसक्त होकर बन्धन करने वाले विषयों को त्यागने से मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। प्राण और अपान के द्वारा निरोध करने से दो प्राणायाम तथा दोनों को एक समय रोकने से तीसरा कुम्भक प्राणायाम होता है (वि.पु. अ. ७/४१)

विष्णु की स्तुति में वर्णित है कि मन्द सत्व रूप में हृदयस्थ नाड़ियाँ ज्ञान का अत्यधिक वहन करने वाली नहीं होती है। गंगाजल में मृतक के अस्थि, चर्म, स्नायु केश शरीरादि का कोई भाग पड़ने पर स्वर्ग प्राप्त होता है। वृद्धावस्था में बाल एवं दाँत जीर्ण होने का वर्णन। 'षण्ड' शब्द पुंसत्वहीन या नपुंसकता के लिए प्रयुक्त हुआ है। योगाभ्यास में प्राण तथा अपान वायु का भी नाम आया है। विष्णु पुराण में आत्मा के ५ भेद भूतात्मा, इन्द्रित्यात्मा, प्रधानात्मा, जीवात्मा, परमात्मा बताये गये है।

वायु पुराण (३५०-५५० ई.पू.) :-वायु पुराण में अमृत उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन, द्रोण पर्वत पर विशल्यघ्नी और मृतसंजीवनी औषधियों का वर्णन, अमृत उत्पत्ति के लिए औषधियों को योग्य स्थान पर उगाना। वायु पुराण में संहितावादी ब्राह्मणों को चरक कहा है। योगियों में ८ प्रकार के ऐश्वर्य- अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, कामावसायिता, अष्ट ऐश्वर्यो की त्रिविध प्रकृति का वर्णन अध्याय १४ में मिलता है। वायु को सवका आश्रय स्थान, वायु से जल, जल से प्राण, प्राण से वीर्य उत्पन्न होता है। ३३ भाग रज और १४ भाग वीर्य आधे पल के परिणाम में जब गर्भाशय में जाता है, तब गर्भ बनकर वह पंच वायु द्वारा आवृत्त हो जाता है तथा नौ महीना रहकर अधोमुख होकर योनि छिद्र से उत्पन्न होता है। पिता के शरीर के समान उसका रूप और प्रत्येक अंग उत्पन्न होता हैं, माता के द्वारा गृहीत आहार रस जो नाभिरंध्र से वहाँ तक पहुँचता है। देहधारियों का प्राण टिका रहता हैं। वायु पुराण अध्याय १८ में पापियों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित कर्म, प्राणायाम, उपवास आदि का वर्णन मिलता है। अध्याय १६ में अरिष्ट निरुपण, युग वर्णन श्राद्ध कल्प एवं प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है।

वायु पुराण और हरिवंश पुराण में समुद्र मन्थन से धन्वन्तरि के प्रादुर्भाव का वर्णन मत्स्य पुराण के अनुसार अमृत मन्थन के साथ उपलब्ध रत्नों में से धन्वन्तरि को भास्कर ने ग्रहण किया।

हरिवंश पुराण :-हरिवंश पुराण में धन्वन्तरि को सर्वरोग प्रणाशन और आयुर्वेद प्रवर्तक कहा गया है।

मार्कण्डेय पुराण (३००-६०० ई.पू.) :-मार्कण्डेय पुराण में धन्वन्तरि के लिए पूर्वोत्तर दिशा में बलि देने का नियम वर्णित है। शरीर विज्ञान का प्रतिपादन, गर्भ में शरीर का पोषण तथा आयु वृद्धि के उपाय बताये गये है। चारों वर्णों और आश्रमों के कर्तव्य, विवाह के योग्य कन्या के लक्षण, पुत्र प्राप्ति के उपाय, सदवृत्त, स्नान के नियम, पाँच महायज्ञों और पितृ तर्पण, बासी भोजन, अधिक गरम भोजन के निषेध का वर्णन मिलता है। योग साधना की विस्तृत शिक्षा, प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के समस्त दोषों के नष्ट होने का उल्लेख है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार जिसने अधिक भोजन कर लिया हो या बिल्कुल भोजन नहीं किया और जो थका हुआ है या जिसका मन दुखी है वह योग नहीं कर सकता।

श्रीमद्भागवत पुराण :-श्रीमद्भागवत पुराण में ६ ग्रहों का वर्णन हैं, इसमें स्कन्द और स्कन्दापस्मार को छोड़कर शेष ग्रह स्त्री जाति के है। श्रीमद्भागवत में हतपुण्डरीक को उर्ध्वनाल और अधोमुख कहा है।

कूर्म पुराण :-कूर्म पुराण में सूर्य की सात रश्मियाँ, सूर्य की सहस्र नाड़ियों तथा सदवृत्त का वर्णन मिलता है। ब्रह्मचारी का धर्म, नित्य कर्म विधि, भक्ष्या भक्ष्य वर्णन, अष्टांग

योग तथा ईश की अराधना हेतु कर्म योग का विधान तथा प्रायश्चित, दान विधि, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ धर्म का वर्णन मिलता है।

अग्निपुराण :-अग्निपुराण में सृष्टि उत्पत्ति, प्रलय, वंश परम्परा, स्वप्न, शकुन, अरिष्ट, विज्ञान, वनस्पतियों, रसशास्त्र, पशु चिकित्सा, कृमि तथा मंत्र चिकित्सा एवं मंत्र सिद्धि के उपाय, यंत्र प्रयोग द्वारा सर्प-दंश की चिकित्सा का विस्तृत वर्णन मिलता है। अरोचक, अश्मरी, अपस्मार, अर्श, अतिसार, आमवात, उपदशं कर्णशूल, कुष्ठरोग, गलगण्ड गण्डमाला, गुदभ्रंश, छर्दि रोग, तृष्णा नासारोग, नेत्ररोग, नाड़ीव्रण, प्रमेह, प्लीहारोग पाण्डुरोग, बालरोग (बालग्रह, मुखरोग, जिह्वारोग, मूर्च्छा, रक्तपित्त, वात व्याधि, विसर्प) आदि रोग तथा इन रोगों में चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होने वाले योगों का वर्णन है।

अग्निपुराण में प्राणायाम अष्टांग योग, स्वप्न में शुभाशुभ फल स्त्री पुरुषों के शुभाशुभ लक्षणों का वर्णन मिलता है। अकाल प्रसव एवं विकृत प्रसव की शान्ति का उपाय तथा स्त्रियों की संतानहीनता दोष के विनाशक स्नान विधि विनायक स्नान का वर्णन मिलता हैं शारीरिक मानसिक, आगन्तुक सहज व्याधियों तथा वातादि प्रकृति के लक्षणों का विस्तृत उल्लेख मिलता है विषहारक मंत्र और औषध, विष के प्रकार, नागों के लक्षण कें बारे में बताया गया है।

अग्निपुराण में आत्यन्तिक लय और गर्भोत्पत्ति, गर्भ में स्थित जीव के प्रथम महीनों में अवयवों की उत्पत्ति, सात्विक आदि गुणों के लक्षण, धातुओं, त्वचा एवं कला के कार्यो का वर्णन किया गया है। व्यायाम के द्वारा कफ नाश एवं अजीर्णता में परिश्रम न करने का उल्लेख है। बच्चों के जन्म के दिन पापिनी, रात्रि में भीषणी, तीसरी रात्रि में घण्टाली, चतुर्थ, पंचम एवं सप्तम दिन क्रमशः काकोली, हंसाधिका, युक्तकेशी गृहों का वर्णन तथा गृहजन्य दोषों को दूर करने के उपाय वर्णित है। अग्निपुराण को तामस माना गया है। (प.पु. ६/२६३/१८-८२) जरा मृत्युनाशक ३६ औषधियों की सूची, पंचधा धर्म, अंग विद्या का वर्णन तथा नाभि के मध्य में ७२००० नाड़ियाँ, स्थित चक्राकार, १० प्रधान नाड़ियो (इड़ा पिंगला सुषुम्ना गांधारी, हस्तिजिह्वा, पृथा, यशा, अल्बुणा, हुहु, शंखिनी) का उल्लेख मिलता है। इन नाड़ियों में १० प्राणों का संचार होता है- प्राण, उदान, व्यान, अपान समान वायु, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत धनंजय)।

अग्नि पुराण में पशु चिकित्सा का उल्लेख है। इसमें आयुर्वेद मंत्र, मृतसंजीवनी, षडंगपानीय आदि योगो का, नासागत रक्तस्राव में दूर्वा स्वरस, वातरक्त में गिलोय तथा धातुओ का भस्म के रूप में प्रयोग वर्णित है।

व्याकरण शास्त्र (७०० ई.पू.)

पाणिनी के अश्वादिगण में भरद्वाज पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश तथा गर्गादि गण में अग्निवेश का उल्लेख मिलता है। त्रिदोष का उल्लेख (पा. ५/१/३८, ५/२३६,८७),

औषधि और औषध में भेद, रोग के लिए गद और उपताप, पर्याय का प्रयोग, द्वितीयक और चतुर्थक शब्द का प्रयोग दूसरे या चौथे दिन आने वाले ज्वर के लिए किया जाता है। रोग के आधार पर रोगी को सम्बोधित किया जाता है जैसे- गुल्मी, उन्मादी, कुष्ठी औषधियों के हरीतक्यादि, प्लाक्षादि गणों का वर्णन मिलता है। आचार्य पाणिनी ने भी तक्षशिला का उल्लेख किया है। (अष्टाध्यायी ४/३/१३) वर्णोत्पत्ति के लिए आठ स्थान बताये गये है- उरः, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु (पाणिनी शिक्षा-१३) विस्वर अथवा अवक्षर बोलने वाले की आयु घटती है और विस्वर बोलने से बीमारियाँ आती है (पाणिनी शिक्षा ५३) । ण व वुल प्रत्यय को लगाकर प्रवाहिका, विदारिका, विलम्बिका आदि रोगवाचक स्त्रीलिंग शब्द तथा पुलिंग में आक्षेपक तमक आदि। वक्षस्थल में वायु का संचार रुक जाये, तो ध्वनि की उत्पत्ति नहीं होती है (पाणिनी शिक्षा ६/९)।

रामायण (ईसा से ५०० वर्ष पूर्व)

वाल्मीकि रामायण हिन्दुओं का पवित्र ग्रन्थ है, जो जनमानस के अन्तर्मन में ईश्वर ज्योति के सदृश विद्यामान है। रामायण में आयुर्वेद से सम्बन्धित विषय स्थान-स्थान पर परिलक्षित होते है। वनवास प्रकरण तथा स्वयंवर में राम-लक्ष्मण के सौन्दर्य की तुलना आयुर्वेद में वर्णित देव वैद्य अश्विनीकुमारों से की गई है। (वा.रा. अयोध्याकाण्ड ५८/१०, बालकाण्ड ५०/१९-२०) सुन्दरकाण्ड में समुद्र मन्थन के समय दण्डकमण्डल युक्त आयुर्वेद पुरुष धन्वन्तरि की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड में वैद्य शब्द का वर्णन आता है। उत्तर काण्ड में पंचमहाभूत एवं मन की शपथ लेते हुए महर्षि वाल्मीकि द्वारा राम से सीता की पवित्रता को बताने का वर्णन मिलता है। सुन्दरकाण्ड में मूढ़ गर्भ को बाहर निकालने हेतु शल्य क्रिया की तुलना डरी हुई सीता स्वयं को काटने से करती है। शल्य (उत्तर ४७/४)। इस प्रकरण से उस समय प्रचलित शल्य कर्म का पता चलता है, क्योंकि दशरथ के शव को औषध सिद्ध तैल से परिपूर्ण द्रोणी में रखा जाना, रामायण काल में शव की सुरक्षा विधि का ज्ञान होना बतलाता है। (अयो. ६६/१६) मानस, स्वाभाविक, आगन्तुक व्याधि का उल्लेख मिलता है अयोध्याकाण्ड एवं सुन्दरकाण्ड में भाविक स्वप्न का वर्णन मिलता है। रामायण में ज्वर शब्द का प्रयोग दुःख के अर्थ में हुआ है। रामायण में लेह, पेय एवं भोज्य द्रव्य का वर्णन है। रामायण काल में मद्यो (युद्ध १/३३) एवं मधु का वर्णन मिलता है। (युद्ध ८/२३-२४, उत्तर ३६/२६) कुटज, अर्जुन, कदम्ब, सर्ज, मीन, सप्तपर्ण, कोविदार आदि औषधियों के नाम रामायण में मिलते है। पानभूमि या मधुशाला का वर्णन मिलता है। रामायण में मृत एवं जीवित व्यक्ति के परीक्षण की विधि वर्णित है। मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी, संधानकरणी औषधि का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि रामायण और जैमिनीय ब्राह्मण में अण्डकोशों के प्रत्यारोपण का

आख्यान वर्णित है। रामायण में भौतिक वायु के साथ-साथ शारीर रूप वायु का वर्णन मिलता है। रामायण में भी तक्षशिला की समृद्धि का उल्लेख मिलता है। रामायण का पाठ दुष्ट ग्रहों का निवारण करता है। रामायण का पाठ धर्मार्थ चतुष्ट्य का साधक होना बताया है। (१/१६, १/२१) इक्षु-काण्ड रस (बालकाण्ड ५ सर्ग/१७), चन्दन का वर्णन (बालकाण्ड ६ सर्ग/२०) पुत्र प्राप्ति हेतु अश्वमेद्य यज्ञ अथर्ववेद के मंत्रों से करने का तथा यूप खड़ा करने हेतु विल्व एवं खदिर के प्रयोग का वर्णन मिलता है। संतान प्राप्त करने वाली पायस का उल्लेख है, जो माता को खिलाई जाती थी। रामायण में राम लक्ष्मणदि का नामाकरण १२वें दिन करने का वर्णन मिलता है।

महाभारत में आयुर्वेद (काल ४०० ई.पू.)

महाभारत के आदि पर्व में वर्णित है कि समुद्र मन्थन के समय जो औषधियाँ समुद्र में डाली गई थी, वे अमृत स्राव के रूप में निकली तथा धन्वन्तरि अमृतयुक्त श्वेत कमण्डल धारण किये प्रकट हुए। धन्वन्तरि का आयुर्वेद के आदि देव के रूप में वर्णन मिलता है। कृष्णात्रेय का चिकित्सक के रूप में शालिहोत्र का अश्व चिकित्सक तथा सुश्रुत का शल्य चिकित्सक के रूप में वर्णन मिलता है। महाभारत में महर्षि च्यवन द्वारा अश्विनीकुमारों को यज्ञ में अधिकार का उल्लेख, चैत्ररथवन तथा आयुर्वेद के आठ अंगों का वर्णन मिलता है। रोग का पर्याय गद, (महाभारत सभा. ७८/६) रोगों को कर्मज तथा पूर्वजन्म के पाप कर्मों के परिणाम स्वरूप इस जन्म में मनुष्य को व्याधियाँ उत्पन्न होती है (शा. पर्व. २६२/४६)। व्याधि के शारीरिक एवं मानसिक भेद तथा शारीरिक व्याधि से मानसिक तथा मानसिक व्याधि से शारीरिक रोग उत्पन्न होता है (शान्ति. पर्व १६/८)। रूद्र कोप से ज्वर की उत्पत्ति तथा ज्वर शब्द का उल्लेख दुःख एवं चिन्ता के रूप में किया गया है। शान्त, उष्ण और वायु शारीरिक रोगों के कारण तथा विभिन्न रोगों के नाम उन्माद, ग्रहणी, जलोदर, तृषा, पलित, शीर्ष रोग, राजयक्ष्मा, अक्षिरोग, गलग्रह उरुस्तम्भ, अपस्मार अग्निदग्ध आदि मिलते है। गद व्याधि का पर्याय तथा आधि मानसिक विकार का पर्याय वर्णित है। १ वर्ष ६ माह एवं ६ दिन सम्वन्धी अरिष्टों के लक्षण का वर्णन मिलता है (शा.प. ३१७/८-१७)।

महाभारत आदि पर्व में स्थावर एवं जांगम विष, मंत्र द्वारा विष के प्रभाव को कम करने का उल्लेख तथा तक्षक सर्प द्वारा दंशित वृक्ष को महर्षि कश्यप द्वारा मंत्रों से पुनर्जीवित करने का वर्णन है। विष के प्रभाव एवं चिकित्सा, कालकूट विष (आदि अ. १८), हरताल एवं हिंगुल के गुण कर्म वर्णित है।

पंचमहाभूत (शा.अ. २८४), इनके गुण कर्म (शा.अ. २५२), सत्व रज, तम मन के गुण, वात-पित्त-कफ के गुण कर्म, पाँच प्रकार की वायु का वर्णन (शान्ति अ. १८४) संजीवनी विद्या तथा जीव के गर्भ में प्रवेश करने का वर्णन मिलता है (अश्व अ. ११८)।

आठ प्रकार की वायु (प्रवाह, अवाह, उदान, समवाह, विवाह, परिवाह, परवाह) सप्त धातु, उपधातु (स्नायु, वसा, नाड़ी आदि) तथा ओजस का वर्णन शक्ति के रूप में मिलता है। अग्नि के ३ प्रकार वैद्युत, जठर, ईधन, पंच इन्द्रियों के साथ मन का कार्य भोज्य, भक्ष्य, पेय, चूष्य आहार, ऋतुसंधि में रोगों के उत्पन्न होने, तिन्दुक की लकड़ी की दाँतौन का वर्णन महाभारत में मिलता है। महाभारत में चिकित्सकों के लिए वैद्य, चिकित्सक, शल्यकर्ता, शल्योद्धरण, कोविद, रसायनविद्, आयुर्वेदविद् शब्द तथा नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारों के अवतार कहे गए है। काल के महत्व का वर्णन करते हुए क्षण, लव मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष, चार युग काल के भेद बताए है। १२ वर्ष तक की अवस्था को बाल तथा शकुनि शीतपूतना, रेवती, मुखमण्डलिका, स्कन्द बाल गृहों तथा गर्भ शैय्या का वर्णन किया है। काम को भी रोग माना है, जो प्राणहर होता है। महाभारत में शिव सहस्त्र नाम को महत्व दिया है। विविध प्राणियों में उत्पन्न होने वाले ज्वरों के अलग-अलग नामों का उल्लेख है।

महाभारत में राजयक्ष्मा को एक घातक व्याधि बताया है। संपूर्ण उपकरणों से युक्त शस्त्र विशारद वैद्य का वर्णन मिलता है। महाभारत में वनस्पतियों को चेतन द्रव्यों के समान ही पंचभूतात्मक तथा इन्द्रिययुक्त माना है। अहंकार के कारण चिन्ता, संताप, कुटिलता, कठोरता, क्रोध, मान, मद, द्वेष आदि राजस भाव प्रकट होते है। महाभारत शान्ति पर्व के अनुसार सभी कार्य काल के वश में होते है। पुरुष को अव्यय कहा है, यह निर्गुण, अनादि, अक्षर, उदासीन, निष्क्रिय, शाश्वत एवं चित्त प्रकाश स्वरूप है। श्रीमद्भागवत गीता में प्राण, अपान वायु, आत्मज्ञान की प्राप्ति, अन्तःकरण की शुद्धि तथा शीत-उष्ण, रागद्वेष आदि बाद ाओं का वर्णन मिलता है। सर्दी-गर्मी और सुख-दुख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग क्षण भंगुर और अनित्य है। आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत पुरातन है। अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य है। निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है।

जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती है, उसकी ही बुद्धि स्थित होती है। मन के द्वारा विषयों का चिन्तन होने से विषयों में आसक्ति तथा आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध, क्रोध से अविवेक, अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रम तथा बुद्धि नाश होता है (गीता २/६३)। संपूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते है (गीता १३/१४)। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग के अभ्यास का वर्णन मिलता है (गीता ६/१२)। जीवात्मा, पंचज्ञानेन्द्रिय और मन का आश्रय करके विषयों के सेवन करने का उल्लेख मिलता है। सूर्य में स्थित तेज, संपूर्ण जगत् को प्रकाशित, पृथ्वी में प्रवेश करके भूतों का धारण करना, अमृतमय चन्द्रमा होकर औषधियों को पुष्ट करना तथा प्राणियों के शरीर में स्थित होकर वैश्वानर अग्नि रूप होकर प्राण और अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता है, सात्त्विक राजसिक, तामसिक पुरुष के प्रिय भोजन तथा चारों प्रकार

के वर्णो के मनुष्य के स्वाभाविक कर्म (गीता १०/१७) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अंहकार-आठ प्रकार से विभक्त प्रकृति का वर्णन मिलता है।

स्मृति

मनुस्मृति :-मनुस्मृति में वर्णित है कि सत्वगुणी लोग देव योनि को, रजोगुणी मनुष्य योनि को एवं तमोगुणी तिर्यक योनि को प्राप्त होते है और जो इन्द्रियों को तृप्त करने में लगे रहते है, वे निन्दित गति को प्राप्त करते है। पापकर्मी मनुष्य को पशु योनि, कीट, पतंगे, तृण, गुल्म लता आदि स्थावर योनि में जन्म लेने का उल्लेख किया है तथा वनस्पतियों को अन्तः संज्ञा वाला एवं सुख-दुखः की अनुभूति वाला माना है। मनुस्मृति में बलिवैश्व देव-यज्ञ के प्रत्येक गृहस्थ को धन्वन्तरि के नाम से एक आहुति अवश्य देने का विधान है।

मनुस्मृति में उद्विजो के भेद वनस्पति वृक्ष तथा वल्ली के रूप में किया गया है। गृहस्थाश्रम में आचार का वर्णन आयुर्वेद के समान, चिकित्सक के अन्न के ग्रहण करने का निषेध, चिकित्सक यदि मनुष्य की चिकित्सा ठीक प्रकार न करे, तो मध्य साहस का दण्ड देने तथा पशु की चिकित्सा में प्रथम साहस का दण्ड देने का वर्णन मिलता है।

विष्णु स्मृति :-विष्णु स्मृति में स्वास्थ्य एवं सद्वृत्त सम्बन्धी वर्णन मिलता है। मृत्यु के चार कारण- वेदों का अनभ्यास, सदाचार से न रहना, आलसी जीवन, दूषित अन्न का भोजन बताया है। वनस्पतियों, विष, सोम सुगन्धित कर्पूर, तेल आदि पैसा लेकर बेचना अपराध, वृक्षों लताओं तथा बोई हुई औषधियों को नष्ट करने वाले व्यक्ति दण्डनीय होते थे।

याज्ञवल्क्य स्मृति :-याज्ञवल्क्य स्मृति में मनुष्य की अस्थियाँ ३६०, त्वचा ६, शिराएँ ७००, स्नायु ९००, धमनियाँ २००, पेशियाँ ५००, नाड़ियों की संख्या ७२००० तथा हृदय से निकलने वाली बताया है। याज्ञवल्क्य ने संसर्गज रोगियों के साथ विवाह सम्वन्ध निषिद्ध बताया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ एवं गृह्य सूत्र

ब्राह्मण ग्रन्थ में सोमपान की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। शंख का वर्णन शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मण में आया है। शतपथ ब्राह्मण में ५ अग्नि, सप्त धातु, नाभि के स्थान पर तीन दोष वात-पित्त-कफ, ३६० शंकु के रूप में पुरुष में ३६० अस्थियाँ है। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य एवाग्नयेः चन्द्रमासाम्यः बताया है। शतपथ ब्राह्मण में देव, ऋतु बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा को तथा पितृ ऋतु शरद, हेमन्त शिशिर को वर्णित किया है। शतपथ ब्राह्मण में बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा इन ऋतुओं में क्रमशः ब्रह्म वर्चस, धन के लिए यज्ञ का विधान किया है। वर्षा ऋतु में सभी ऋतुओं का समावेश मानकर यज्ञ करने को कहा गया है। दिन एवं रात्रि

में ही ६ ऋतुओं का निर्धारण किया गया है। (श.ब्रा. २/२/१/७-६) शतपथ ब्राह्मण तथा वृहदारण्यक उपनिषद् में हृदय शब्द रक्त संवहन सम्बन्धी ज्ञान को दर्शाता हैं, हृदय शब्द में तीन धातुएँ, 'हृ', 'दा' और 'इण' हृदय शब्द हरण-दान-अयन इन तीन क्रियाओं को बताता है (श.ब्रा. १४/८/४)। शतपथ ब्राह्मण में औषधियों में जल तथा वनस्पतियों में अग्नि की स्थिति का उल्लेख है। सूक्ष्म जीवाणुओं को कृमि यातु धान, राक्षस इसके लिए सर्प शब्द बाया है (शतपथ ब्राह्मण)। जैमिनीय ब्राह्मण ३/३५ में मर्मो का संकेत दिया है तथा एक जरामूरीय सूत्र है जिसका विधान जरा और मृत्यु से बचने के लिए किया गया है। गर्भ का पोषण नाभि के माध्यम से तथा नाभि में प्राणों की स्थिति मानी है (जै.ब्रा.)।

गोपथ ब्राह्मण में भेषज को अथर्वा कहा है। भेषज के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है, जो ब्रह्मपद है। गोपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि ऋतु संधियों में रोग होते है और ऋतु संधियों में ही यज्ञ किये जाते है।

ऐतरेय ब्राह्मण में अश्विनीकुमारों का चिकित्सक के रूप में उल्लेख ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन, औषधियों के द्वारा रोग निवारण, शाप से उन्माद, कुष्ठ की उत्पत्ति भूताक्रान्ति तथा रोगाक्रान्ति का वर्णन है। भारद्वाज ऋषि का वर्णन, जिन्होनें दिनचर्या का पालन कर दीर्घायु प्राप्त की थी। ऐतरेय ब्राह्मण में औषधियों के रोग निवारकत्व, अंजन से नेत्र रोग निवारण वरुण कोप से जलोदर रोग की उत्पत्ति का वर्णन है। समविधान ब्राह्मण में सर्पो से रक्षा, भूतों तथा रोगों के आक्रमण का वर्णन है।

आश्वलायन में सूर्योदय एवं सूर्यास्त में सोना रोग का कारण, पशु रोगों की निवृत्ति का उल्लेख है। आश्वलायन श्रोतसूत्र में विष विद्या का तथा संसगेज रोगों की शान्ति के उपायों का उल्लेख है। सांख्यायन में रोगों की निवृत्ति एवं सर्पदंश की चिकित्सा का वर्णन है। गर्भस्राव एवं गर्भपात का ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

गृह्य सूत्रों में नवग्रह का उपचार तथा कौशिक सूत्र में स्कन्द भैषज्य जम्भ तथा ग्रहों की चिकित्सा का उल्लेख है। कौशिक सूत्र में शास्त्राभिघात होने पर रुधिर प्रवाह या अस्थि भंग की स्थिति में लाक्षाक्वाथ से परिषेक, लाक्षाघृत तथा दुग्धपान का वर्णन है। गृत्य सूत्र में मालिश के द्वारा शिरःशूल चिकित्सा तथा हिरण्केशीय गृह्यसूत्र में अग्नि का रोगनाशकत्व, खदिर गृह्यसूत्र में कृमियों का वर्णन तथा सर्पदंश का उपाय बताया गया है। कौशिक सूत्र में पुरुष के लिए वृष्य, विष भैषज्य विधान का वर्णन है। कौशिक सूत्र में पुंसवन, गर्भाधान, गर्भदृहण (कौ.सू. २८/५,३२/२८) तथा अन्य गृह्य सूत्रों में गर्भलंभन, पुंसवन और अनवलोभन का वर्णन है। कल्प सूत्रों में वर्णन है कि यदि गर्भिणी स्त्री की मृत्यु हो जाये, तब कुक्षिपाटन कर गर्भ को निकालकर व्रण सीने के बाद अत्येंष्टि करनी चाहिए। गोभिलीय सूत्र में रोग निवर्तक मंत्रों का उल्लेख तथा सर्पदंश का उपाय बताया गया है। अग्निवेशीय गृह्यसूत्र में अपमृत्यु से बचाव के लिए अपमृत्युंजय कल्प का विधान है।

गर्भाधान, गर्भ, प्रसव आदि के सम्बन्ध में विचार गृह्य सूत्रों में ज्यों के त्यों मिलते है। पारस्कर गृह्य सूत्र १/१३ में आर्तव, ऋतुकाल, गर्भाधान का विवरण तथा आश्वलायन गृह्य सूत्र में प्रसव के बाद शिशु को मधु, घृत और स्वर्ण प्राशन का विधान आयुर्वेद के समान मिलता है। दसवें दिन नामकरण, चार या पाँच मास तक शिशु को उग्र प्रकाश में न लाना (पारस्कर गृ.सू.), छठें माह में अन्नप्राशन (आश्वलायन गृ.सू.) का वर्णन है। कात्यायन गृह्य सूत्र में तीसरे या पाँचवे वर्ष में कर्ण वेधन एवं इसके अतिरिक्त पुंसवन (आश्वलायन, पारस्कर), जल के औषधि स्वरूप आदि का वर्णन (पारस्कर) मिलता है। कौशिक सूत्र में सोम के लेने से उपद्रव की चिकित्सा का वर्णन मिलता है।

कादम्बरी में विषापहरण तथा आभिज्ञान शाकुन्तलम् में भरत को मारीच कश्यप ने रक्षा के लिए अपराजिता मूल का मणिबन्ध दिया था। वाणभट्ट की रचनाओं में कुमारागार और कुमार सम्बन्धी नियमों का वर्णन मिलता है। महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी में सूतिकागार, रक्षा निमित्त नानाविध औषध मूल, लाङ्गलीप्रसूति प्रभृति यंत्र तथा गोरोचन प्रभृति द्रव्यों, गर्भरक्षा के लिये ब्राह्मी औषध का प्रयोग तथा गर्भवती के लक्षण आदि का वर्णन किया है। महाकवि बाणभट्ट ने अपने दूसरे काव्य 'हर्ष चरित' में गर्भिणी के लक्षणों का वर्णन किया। गर्भस्थ शिशु (हर्ष) की शौर्यता को प्रदर्शित करने वाली इच्छा को रानी (हर्ष की माता) के द्वारा व्यक्त करने अर्थात् दौहृदा के वीर रस से भरपूर लक्षणों को महाकवि भी वर्णित करने से अपने को रोक नहीं पाये। उन्होंने स्पष्ट वर्णन किया है कि गर्भवती महिला, सूतिका, कुमार की देखभाल कौमारभृत्य ही किया करते थे। महाकाव्य में वर्णन मिलने से यह पता चलता है कि सामान्यजन में कौमारभृत्य का महत्व कितना गहरा था ?

कालिदास ने कौमारभृत्य शास्त्रज्ञ वैद्यों तथा सूतिका गृह की व्यवस्था का (कालिदास रघुवंश सर्ग ३/१२-१५) तथा भारत का औषधि व्यापार पूर्वीय द्वीप समूहों से होने का उल्लेख किया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में आयुर्वेद

कौटिल्य अर्थशास्त्र में स्वर्ण, ताम्र, लौह के भेद, गुण, पहचान विधि, चाँदी, लौह आदि खनिज पदार्थों को शुद्ध करने, धातु शोधन एवं धातु मार्दवकर का विशद् वर्णन है। उत्तम धन की प्राप्ति के साधन में खनिज पदार्थ स्वर्ण, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, प्रवाल, शंख, लौह आदि भूमि धातुओं का वर्णन मिलता है। स्वतंत्र रूप से रस धातु से ताम्र आदि धातुओं को स्वर्ण रूप में परिणत करने का उपदेश वर्णित है। मुक्ता के प्राप्तिस्थान एवं विभिन्न नामों, १३ दोष एवं ८ गुणों का उल्लेख किया गया है। ५ प्रकार की मणि, ८ प्रकार की वैदूर्य मणि, इन्द्रनील जातीय मणि एवं उत्पत्ति स्थान के अनुसार ६ प्रकार का वज्र बताया

है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में स्वर्ण ५ रंगों तथा ५ प्रकार का तथा प्रवाल के दो प्राप्ति स्थानों का वर्णन किया है। स्वर्ण शोधन की विभिन्न विधियों, चार प्रकार की चाँदी, विष वर्ग में सर्वप्रथम स्थावर विषों (कालकूट, वत्सनाभ, कुष्ठ, मेषश्रृङ्ग, वेल्लितक आदि) तथा जांगम विषों में सर्प विष एवं भिन्न प्रकार के कीटों का वर्णन किया गया है।

औपनिषद् प्रकरण में विष युक्त औषधियों का वर्णन तथा शत्रु को मारने के लिए मंत्र औषधि का निरुपण भी किया गया है। विभिन्न प्रकार के आसव अरिष्टों का वर्णन किया गया है। चिकित्सक के चिकित्सा कर्म में दुरुपयोग करने पर दण्ड विधान भी वर्णित है। स्वस्थवृत्त के नियमों का भी उल्लेख किया है। बत्तीस तंत्र युक्तियों का सर्वप्रथम वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र में ही किया गया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में मादक विषों के लिए मदन शब्द, मृत्युन्तर परीक्षा, कुष्ठ, व्रण आदि से पीड़ित व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने का निषेध बताया गया है। संग्राम सम्बन्धी विवरण करते हुए सेना के पीछे यंत्रशास्त्र औषधि तथा तेलादि चिकित्सापयोगीय साधनों से युक्त वैद्यों के रहना आवश्यक बताया है (कौ.अर्थ. अधिकरण १०)।

औषधियों को सुरक्षित रूप में रखने वाले कोषगृह, भिषग्, चिकित्सालय गर्भ सम्बन्धी संस्था, सूतिका चिकित्सालय, घोड़ा, हाथी, बैल आदि की चिकित्सा, औषधियों के उत्पादन के लिए भूमि अलग छोड़ देने, विषकन्या (कौ.अर्थ १/४), स्त्रियाँ पुत्र प्राप्ति के लिए होती है, इस प्रकार का वर्णन मिलता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में ऐसे चिकित्सकों का उल्लेख है जिनके पास शस्त्र यंत्र, अंगद, स्नेह, वस्त्र आदि हो तथा कुष्ठ और उन्माद रोगों में चिकित्सकों को प्राण माना गया है।

षट्त्रिंशोऽध्याय

नाड़ी विज्ञान का इतिहास

नाड़ी शब्द ''नट'' अवस्पंदने धातु से नाटी बनता है, नाटी का नाड़ी ''ट'' के ''ड'' होने से वह नाड़ी बना हुआ है। अतः जिसमें स्पन्दन होता है, वह स्रोत नाड़ी है। लकार और डकार का अभेद मानकर 'नाली' नाड़ी को कहा जाता है, इससे सिद्ध होता है कि डकार और लकार का अभेद प्रयोग चिरकाल से प्रचलित हो चुका था। इसी प्रकार 'नल' शब्द 'नड़' कहा जाता है, नाली का अर्थ है कि जिसके एक ओर से द्रव पदार्थ या वायु प्रवेश करके दूसरी ओर निकल जाय, उसे नाली कहेंगे।

नाड़ी विज्ञान - जिस विज्ञान के अध्ययन में नाड़ी संवंधी ज्ञान होता है, उसे नाड़ी विज्ञान कहते हैं। यह एक रोग निर्णायक सम्पूर्ण विज्ञान है, जो कि भारतीय चिकित्सा विज्ञान में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं गूढ़तम विषय माना जाता है। इसका मौलिक ज्ञान वैदिक परम्परा से भी पूर्व माना जाता है, क्योंकि इसका सर्वप्रथम उपदेश योगेश्वर महेश ने दिया है।

नाड़ी विज्ञान बहुत ही प्राचीन विज्ञान है और स्वतंत्र विज्ञान के रूप में अवतीर्ण हुआ है, इसके उपदेष्टा स्वयं भगवान शिव हैं। नन्दी का नाड़ी विज्ञान अधिक प्रिय एवं सुगम है, ईस्वीय सन् से कई वर्ष पूर्व शिव सम्प्रदाय के योगी जनों ने सर्वप्रथम इसे जाना और अपने शिष्यों को उपदेश दिया। रोग परीक्षण में नाड़ी विज्ञान का प्रमुख स्थान है। यद्यपि रोग- परीक्षा के अष्टविध, दशविध, द्वादशविध परीक्षण शास्त्रकारों ने वर्णन किया है और वे रोग ज्ञान के उत्तम साधन हैं, परन्तु कुछ समय तक निर्णायक होते हैं, उनसे रोग का ज्ञान होता है, किन्तु तुरन्त रोग ज्ञान में नाड़ी विज्ञान अति आवश्यक है, आयुर्वेद में नाड़ी परीक्षा रोग निदान का पर्याय बन चुकी है।

नाड़ी के पर्याय -स्नायु, नाड़ी, वसा हिस्त्रा धमनी, धमनी, धरा, तन्तुकी जीव, संज्ञा एवं शिरा।

नाड़ी की गति विषयक संज्ञाओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि धमनी में रक्त की गति होती है। रक्त के साथ ही शरीर में दोष प्रभावित होते हैं, वह दोनों विज्ञान से सिद्ध है। अतः रक्त में दोष की परीक्षा सम्भव है। कणाद, रावण, आत्रेय, अश्वनीकुमारों ने भी लिखित गतियों का परीक्षण करके विचार दिये हैं।

नाड़ी विज्ञान का अवतरण, उत्पत्ति एवं विकास - नाड़ी विज्ञान का साहित्य आत्रेय, अग्निवेश, अश्वनी कुमारो, हारीत, नन्दी और पार्वती के उपदेशों में प्राप्त होता है।

इसका उद्भव शिव एवं पार्वती के प्रश्न एवं उत्तरों में मिलता है। कुछ लोग वैदिक काल से उत्पत्ति मानते हैं एवं कुछ लोग तान्त्रिक काल की ८ से ९ सदी मानते हैं। वैदिक काल में त्रिदोष शिरा-धमनी नाड़ी का वर्णन एवं इन्हीं का विचार नाड़ी परीक्षा में करते हैं। नाड़ी विज्ञान तंत्र योग में विकसित एवं प्रौढ़ हुआ। परन्तु तांत्रिक तक सीमित रहा। वेदों के बाद उपनिषदों व तंत्रों में नाड़ियों का वर्णन मिलता है। शिव तंत्र में इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों का वर्णन है। इन तीनों से शाखा प्रशाखा होकर साढ़े तीन लाख नाड़ियां निकलती हैं। शिव संहिता ३०० बी.सी. एवं पातंजलि का योग दर्शन इसी समय लिखा गया है। अष्टचक्र- नवद्वार वाली पुरी का वर्णन मिलता है अष्ट चक्र नवद्वार पुरी अयोध्या। अथर्ववेद में सिरा, धमनी व नाड़ी शब्दों का प्रयोग किया गया है अथर्ववेद १/१७/१-३ मंत्र।

१. शरीर पोषक धमनी - शिरा लोहिता नाड़ियों का विवरण दिखाई देता है। रस एवं रक्त प्रवाह का वर्णन है नाड़ी विज्ञान में भी धमनी एवं नाड़ी का वर्णन है।
२. शतस्य धमनीनाम सहस्रस्य हिराणाम। अथर्ववेद
   इमा यास्ते शताहिराः सहस्रं धमनी उत। अथर्ववेद - १/३६/१
   नाड़ी विज्ञान में अंगुलियों द्वारा स्पर्श करना ही विशेष साधन हैं

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः। अथर्ववेद ४/१३/६

यह मंत्र निर्देश करता है कि वैद्य का हाथ विश्व के लिए औषधि स्वरूप है और सर्वविद मंगल को बढ़ाने वाला है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में भी नाड़ी ज्ञान का कितना महत्व था, जिसमें वैद्य के हाथ द्वारा स्पर्श मात्र ही औषध स्वरूप माना जाता था।

भिषक् तमं त्वां भिषजां श्रृणोमि। ऋग्वेद ८-३३-४

अर्थात् ऋग्वेद में ब्रह्मा के लिए भिषक् शब्द का प्रयोग किया गया है।

रूद्र (भगवान शिव) रसशास्त्र एवं तंत्र विधा के आदि प्रवर्तक हैं। समय-ईस्वीय सन् कई सहस्र वर्ष पूर्व से लेकर। अघोर मंत्र इनका आदि संविधान था। गोरक्ष संहिता में कार्तिकेय, नन्दी आदि ने कई हजार श्लोक की संहिता लिखी है। इस सम्प्रदाय ने नाड़ी विज्ञान को प्रमुख साधन माना है।

उपनिषद् में नाड़ी विज्ञान

उपनिषदों में करोड़ों नाड़ियों का वर्णन है, प्रश्नोपनिषद् तथा कठोपनिषद् में ७२ करोड़ नाड़ियों का वर्णन है, जिनका मूल हृदय माना गया है। शिवतंत्र में इडा, पिंगला व

सुषुम्ना नाड़ियों का वर्णन है, जिनसे शाखा प्रशाखा लगभग साढ़े तीन लाख नाड़ी निकलती है।

प्रथम उपदेष्टा - योगीश्वर महेश।

नाड़ियों के देवता - वातज नाड़ी के देवता भगवान विष्णु, पितज नाड़ी के देवता ब्रह्मा एवं कफज के भगवान शिव माने जाते हैं।

लिंग अनुसार नाड़ी परीक्षा विधान -हिन्दू संस्कृति में स्त्री पुरुष को संयुक्त रूप या स्त्री को अर्धाग्नि माना है, स्त्री पुरुष की वामांगी मानी गयी है। यज्ञ पूजा आदि शुभ कर्मों में स्त्री पुरुष के बायी ओर बैठती है। शायद यही कारण है कि पुरुष के दाये हाथ एवं स्त्री के बाये हाथ की नाड़ी की परीक्षा की जाती है, परन्तु यह भी एक अनुसंधान का विषय है। आचार्य हारीत ने तो शरीर का दक्षिणांश शिव एवं वामांश शक्ति (पार्वती) स्वरूप मानकर पुरुष में दक्षिण व स्त्री में वाम हस्त नाड़ी परीक्षा लिखी है।

नाड़ी विज्ञान का काल - जैसा कि उपलब्ध साहित्य से सिद्ध है कि नाड़ी विज्ञान का काल आदि ही कहा जायेगा, क्योंकि रूद्र इसके आदि पुरुष हैं और तंत्र युग, चाणक्य काल से पूर्व का है, जिसमें कि नाड़ी विज्ञान का विशेष रूप में विकास प्रचार एवं प्रसार हुआ। इसके बाद मध्यकालीन भारत में मुगलों के साथ-साथ इसे आया हुआ कुछ लोग मानते हैं। लेकिन प्राप्त वाङ्गमय से सिद्ध होता है कि वेद और आयुर्वेद में इसका ज्ञान पहले से विद्यमान था। चरक एवं सुश्रुत में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि संहिता काल में भी नाड़ी विज्ञान का अस्तित्व था, परन्तु मुख्य रूप से निदान के लिए नहीं। चरक संहिता के इन्द्रिय स्थान में नाड़ी के आधार पर मनुष्य की मृत्यु का समय निर्धारित किया है, इसी प्रकार चरक संहिता के पांचवे अध्याय में स्त्रोतस् के पर्याय बतलाते हुए नाड़ी शब्द का भी प्रयोग किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह ज्ञान पूर्व में प्रचलित था। हर चिन्तक की अपनी भाषा एवं शैली होती है, जो कि काल से भी प्रभावित होती है। यही कारण है कि संहिता काल में तांत्रिक काल के समान नाड़ी विज्ञान का स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता, परन्तु जहां भी जिस भी संदर्भ में आवश्यकता हुई, वहां-वहां पर नाड़ी का बार-बार वर्णन आया है। दूसरी बात यह है कि संहिता काल में आयुर्वेद पर दार्शनिक प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है, जिसमें कि नाड़ी विज्ञान का वर्णन नहीं के बराबर मिलता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण आयुर्वेदिक साहित्य सन्दर्भ के अनुसार नाड़ी विज्ञान से भरा पड़ा है। ऐसे में यह कहना कि आयुर्वेद में मध्यकाल से पूर्व नाड़ी ज्ञान नहीं था, तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। ऐसा ही विचार मूर्धन्य विद्वान आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी जी ने अपने अभिनव नाड़ी विज्ञान में व्यक्त किया है।

नाड़ी ज्ञान के मूल सिद्धान्त - (त्रिदोष एवं नाड़ी का संबंध)

आदौ च वहते वातो मध्ये पित्तं तथैव च।
अन्ते च वहते श्लेष्मा नाड़िकातन्त्र लक्षणम्।।

अर्थात् प्रारम्भ में वात, मध्य में पित और अन्त में श्लेष्मा नाड़ी होती है, जो कि अपने-अपने लक्षणों को व्यक्त करती है। यह पूर्णतः आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त को परिलक्षित करता है, जो कि वेदों में भी मिलता है।

वात नाड़ी के सन्दर्भ में सुश्रुत में नाड़ी शब्द का प्रयोग किया गया है।

१. यदातु नाडीसु विमार्गमागतः स एव शब्दभिवहा सुतिष्ठति। सु.उ. ३०
२. श्रमात भयादुक्षकषाय भोजनात् समीरणः शब्द पथे प्रतिष्ठितः श्वेऽयत्रीव कर्णयोः

इसी प्रकार चरक संहिता में भी दोष एवं नाड़ी का घनिष्ठ संवंध दर्शाया गया है–

दोषाः प्रवृद्धा स्वीलिङ्गं दर्शयन्ति यथावलम्।
क्षीणा जहति स्वलिङ्गं समः स्वं कर्मकुर्वते।। च.सू. १७/६१

वातेऽधिके भवेन्नाड़ी व्यक्तातर्जनीतले।
पित्तेव्यक्ताऽय मध्यायां तृतीयांअगुलिग कफे।।

अर्थात् बढ़े हुए दोषों में उनके लक्षण भी बढ़े हुए होते हैं, क्षीण लक्षणों में लक्षण भी क्षीण तथा साम्य स्थिति में नाड़ी के द्वारा साम्य प्रतीत होते हैं। वात के बढ़ने पर नाड़ी अत्यन्त व्यक्त और तर्जनी अंगुली के नीचे प्रतीत होती है, पित् के बढ़ने पर मध्यमा और कफ के बढ़ने पर तृतीया अंगुली के नीचे प्रतीत होती है।

नाड़ी स्पन्दन के स्थान

पाणिपात्कण्ठ नासाक्षि कर्णजिह्वा च मेढ्गा।
वाम दक्षिणतो लक्ष्याषेऽथ प्राण प्रबोधकाः।। वसवराजीयम्

१. अंगुष्ठ मूल अर्थात हाथ के अंगूठे के मूल में जो नाड़ी होती है और मुख्यतः व्यवहार में जिसे देखा जाता है, वह जीवन साक्षिणी धमनी (Radial Artery) है।
२. पादमूलः गुल्फ संधि के पीछे।
३. कर्ण मूल कान के नीचे।
४. ग्रीवा मूल गर्दन के नीचे।
५. नेत्र नाड़ी आँख के निचले पलक के नीचे।
६. जिह्वा मूल नाड़ी जीभ के नीचे।
७. मेढ्र मूल।

नाड़ी स्पर्श विधि

स्पर्शनात् पीडनात् ध्मातादूदेदनान्मर्दनादपि।
तासु प्राणस्य संचार प्रयत्नेन विशोधयेत्।। नाड़ीतंत्र

वरत्रयं परीक्षेत धृत्वा-धृत्वा विमोचयेत्।
विभृत्य बहुधा बुद्धयारोग युक्ति विनिर्दिशेत्।। योगरत्नाकर

अर्थात् स्पर्श करने से, दवाने से, थोड़ा दबाव देकर दवाने से एवं मर्दन करने से प्रयत्न के द्वारा नाड़ी की परीक्षा करनी चाहिए और तीन बार करनी चाहिए। अंगुलियों को बार-बार उठाकर पुनः पुनः रखना चाहिए और इस प्रकार से कौन सा दोष वढ़ा है, इसका युक्ति पूर्वक निश्चय करना चाहिए। उसी के बाद रोग विशेष का निर्देश करना चाहिए।

नाड़ी ज्ञान के स्रोत

शास्त्रेण सम्प्रदायेन स्वानुभवेनवै।
परीक्षाः रत्नवच्चास्या त्वभ्यासादेव जायते।। योगरत्नाकर

१. शास्त्रेण-शास्त्र के अध्ययन के द्वारा।
२. सम्प्रदायेन-चिकित्सक सम्प्रदाय के द्वारा (मुख्यतः गुरु से)।
३. स्वानुभवेन-अपने अनुभव से बार-बार परीक्षा करके नाड़ी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

१. अस्थ्नः प्रकोष्ठवाह्यस्थ मध्यमानामिकाशिताः।
   जीव नाड़ीति सा प्रोक्ता नन्दिना तत्ववेदिना। कणादः
२. अस्थि प्रकोष्ठगा नाड़ी मध्येय कापि समाश्रिता।
   जीवनाड़ीति सा प्रोक्ता नन्दिना तत्व वेदिना।

आयुर्वेद में नाड़ी विज्ञान- आयुर्वेद में संहिताओं में मुख्यतः बृहत्त्रयी में नाड़ियों का वर्णन तो बहुत मिलता है, परन्तु निदान के सन्दर्भ में नहीं। विभिन्न संहिताओं में वर्णित विभिन्न प्रकार के रोग एवं रोगी परीक्षाओं में जो स्पर्श परीक्षा का वर्णन है, उसका तात्पर्य नाड़ी परीक्षा से ही है। न केवल मात्र रोगी के स्पर्श से, क्योंकि परीक्षा केवल ताप आदि का ज्ञान करने के लिए नहीं की जाती, बल्कि मुख्य रूप से नाड़ी के द्वारा दोषों की स्थिति जानने के लिए की जाती है, जिसका कि स्पष्ट वर्णन नहीं है।

संहिताओं में नाड़ी विज्ञान के सन्दर्भ

१. इति नाड़ी कल्पन विधिमुपदेक्ष्यामः। चरक
२. इति नाड़ी कल्पन विधिरूक्तः। चरक

३. असम्यक कल्पने हि नाडया आयाम व्यायामो हुडिका पिंडलिका विनामिका विजृम्भिकाभ्योभयम। च.शा. ८/४४-४५

४. मातुस्तुखलूरसवहायां नाडयां गर्भनाडी प्रतिबद्धा। सु.शा. ३/३१

५. ततो नाभिनाडीमष्टांगुलमायाभ्य सूत्रेण बध्वाच्छेदयेत सु.शा. १०/१२

६. स्त्रोतासिं सिरा धमन्यो रसवाहिन्यो नाडयः पन्थानो मार्ग। च.वि. ५

७. तस्येचत परिमृश्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फ जानु-वक्षणगुद व्रषणस्तन मणिक पर्शुका हनु नासिका कर्ण अक्षि भ्रू नासिकादीति व्यस्ताणिच्युतांनि वा स्थानेभ्यः सस्तानि परासुरिति विधात। च.इ. ४

८. गर्भ पोषण प्रकरण में नाड़ी शब्द का प्रयोग आया है। मातुस्तु खलु रसवहायां नाडयां गर्भनाडी प्रतिबद्धा.....। सु. शा. ३/३१

९. नाल छेदन प्रकरण में नाड़ी शब्द का वर्णन आया है। - ततो नाभि नाडीमष्टांगुलमायम्य नाडयां सूत्रेण.... बध्वाच्छेदयेत्। सु.शा १०/१२

१०. नहि वात शिरा कश्चिद न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता तस्मात् सर्ववहाशिरा।। सु.सू. ७
कहने का तात्पर्य है कि कोई भी नाड़ी, शिरा एवं धमनी न केवल वातज, न केवल पितज और न ही केवल श्लेष्मज होती है, बल्कि सर्वदोषों का वहन करने वाली होती है, क्योंकि इसमें रक्त का वहन होता है और रक्त का सम्वन्ध तीनों दोषों से होता है।

११. शारंगधर संहिता मध्य काल की प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण संहिता है, जिसमें निदान की दृष्टिकोण से नाड़ी का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस संहिता के प्रथम भाग के तृतीय अध्याय में नाड़ी विज्ञान का विस्तृत वर्णन है, यह वर्णन विभिन्न सन्दर्भों में किया है, जिसमें सवसे पहले रचना शारीर के दृष्टिकोण से नाड़ी का वर्णन किया गया है, जिसमें वताया गया है कि अंगूठे के मूल में जो नाड़ी होती है, वह जीवन की साक्षी है, इसी प्रकार शरीरक्रिया-विकृति एवं मानस विकार आदि अनेक स्थितियों में नाड़ियों का अगल-अलग वर्णन है। इसी संहिता में दोषों के अनुसार नाड़ियों की गति का वर्णन है, जैसा कि वातनाड़ी की गति सर्प के समान पित्तज की मण्डूक एवं कफज नाड़ी की गति हंस की गति के समान होती है।

१२. आयुर्वेद में रोगी रोग परीक्षा का पृथक-पृथक वर्णन मिलता है, मध्य काल जिसे कि नाड़ी विज्ञान का युग कहते हैं, उसमें रोग परीक्षा का वर्णन करते हुए नाड़ी को प्रथम स्थान पर रखा गया है, जो कि इसके महत्त्व को दर्शाता है।
रोगाक्रांत शरीरस्य स्थानान्यष्टो परीक्षयेत्।
नाड़ी मूत्रं मलं जिह्वा शब्दं स्पर्श दृगाकृति।। योगरत्नाकर

अर्थात रोग से पीड़ित शरीर की आठ स्थानों की परीक्षा करनी अत्यन्त आवश्यक है, जिसमें नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श दृष्टि और आकृति की परीक्षा करनी चाहिए। शारंगधर ने हाथ की कलाई एवं अंगूठे के मूल के धमनी को जीवसाक्षिणी कहा है।

भाव प्रकाश संहिता जो कि मध्य काल के अन्त का ग्रंथ माना जाता है, में लगभग १५ श्लोकों में नाड़ी विज्ञान का विस्तृत वर्णन है। इसमें भी शारंगधर संहिता के समान शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में नाड़ियों का वर्णन किया है। स्वस्थ अवस्था से लेकर शारीरिक विकार, मानसिक विकार, यहां तक कि मृत्यु के समय नाड़ी के लक्षणों का वर्णन है। इस प्रकार आयुर्वेद में नाड़ी विज्ञान के निम्न आधार प्रतीत होते हैं -

१. आयुर्वेद का त्रिदोष विज्ञान इसकी आधारशिला है।
२. दोषों की कल्पना, पंचमहाभूतों के नाड़ी की कल्पना इसमें मिलती है।
३. यह आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार है।

नाड़ी विज्ञान एवं चिकित्सा की अन्य पद्धतियाँ –चीन चिकित्सा प्रणाली में नाड़ी परीक्षा का विस्तृत वर्णन है, जो कि २५०० ई. पूर्व का है - यंग एवं विन के सिद्धांत। यूरोप में टूबेर्स पेपारस २५०० ई. पूर्व, गलेन १७५ ए.डी.। विलियम हार्वे का १५७८ में नाड़ी के सम्वन्ध में वर्णन मिलता है। सनक्टोरस ने नाड़ी परीक्षा का वर्णन १५६१ से १६३६ थर्मामीटर के साथ किया।

ग्रीक में नाड़ी - गैलन ३०० वी.सी. पुस्तकें नाड़ी पर लिखी हैं।

इजिप्टीयन द्वारा नाड़ी परीक्षा - ई. पेपीरस एडविन स्मिथ एवं एडवरस पेपीरस इसमें प्रथम में अंगुली द्वारा एषण करना आदि सम्मिलित है।

तमिल में नाड़ी परीक्षा आयुर्वेद के रूप में - नाड़ी उत्पत्ति - मनुस्क्रिप्ट तेलगु भाषा में जो कि तैंजोर स्टेट लाइब्रेरी में उपलब्ध है।

यूनानी वैद्यक और नाड़ी विज्ञान - अरब पद्धति व ग्रीक की जननी मानी जाती है, जो कि यूनानी चिकित्सा पद्धति के नाम से जानी जाती है। तिव ए.डी. ९८०-१०३६ ए.डी उर्दू भाषा में गजनी १००० ए.डी., कुतुबद्दीन १२०६ से १२१० इस्लामिक संस्कार।

यूनानी सिद्धांत अरकान (अखलात) की कल्पना से बहुत पूर्व पंचभूत सिद्धांत भारत में प्रौढ़ हो चुका था। व्रणपूरण व विष विज्ञान का ज्ञान उत्तर कालीन साहित्य में भारतीय विचार ही है। ७५०-८५० ई. अरवी का स्वर्ण काल था, इसी समय भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद अरवी में हुआ। अरब में चरक, सुश्रुत एवं अष्टांग संग्रह का अरवी में अनुवाद हुआ। शिव सम्प्रदाय का प्रचार ई. सन् से ५००-६०० वर्ष पूर्व प्रौढ़ ज्ञान बन चुका था। हारीत ने लिखा है कि भारतीय चिकित्सकों के नाम जो बगदाद गये थे, उन्होंने ही अनुवाद किया। यह सम्भव है कि कुछ ज्ञान ग्रीक भाषा से संस्कृत में अनुवाद हुआ हो, परन्तु नाड़ी

परीक्षा का ग्रीक साहित्य में पाये जाना हिन्दू साहित्य के पूर्व का प्रतीत नहीं होता। वास्तव में वर्णनात्मक अन्तर है आयुर्वेद संहिता मुगल काल से पूर्व की लिखी है, इसमें कोई शंका नहीं है। नाड़ी परीक्षा स्पर्श परीक्षा का एक अंग है, जो आयुर्वेद में वर्णित विभिन्न परीक्षाओं का अंग है।

१. मंक : (ककन्मणिक) बाजीगर (विजयकर) २५५ हिजरी सन् में।
२. इन्धेन (धनु) ३. बाखर (व्याघ्र), राजा मनका (मंक), दाहक अंकर (शंकर), जंकल (जेज्जट), अरिकल (आर्य), जवहर (जवाहर), अंदी (नंदी)।

बावर के बाद १५४० में हुमायूँ ने आक्रमण कर यही राज्य बनाने की शुरुआत की। अकवर ने १५६५ में पानीपत की लड़ाई में हेमू को जीता। ये लोग अपने साथ हकीम लाये थे, तव सीधा सम्पर्क वैद्यों और हकीमों का हुआ। कणाद, अश्वनीकुमारो, भारद्वाज एवं हारीत की नाड़ी विज्ञान सातवीं सदी का है।

कतिपय नाड़ी विज्ञान के विद्वान

यद्यपि नाड़ी विद्वान के वैद्य तो सम्पूर्ण भारत में पाए जाते थे और आज भी मिलते हैं परन्तु रोग निदान की विभिन्न तकनीकों के आविष्कार एवं उपलब्धि के कारण आधुनिक युग में नाड़ी विज्ञान का प्रचलन कम होता जा रहा है। काशी जिसे भगवान शिव की नगरी एवं सर्वविद्या की राजधानी कहा जाता है, में अनेक मूर्धन्य विद्वानों का जन्म हुआ है काशीराज दिवोदास धन्वंतरि ने काशी में ही शल्य तन्त्र का उपदेश दिया था। कुछ विद्वानो के अनुसार अग्निवेश तन्त्र के प्रतिसंस्कर्ता महर्षि पातञ्जलि भी यही हुए, भावप्रकाश के लेखक भावमिश्र भी काशी के ही माने जाते हैं, हालांकि विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इन्हें बिहार का निवासी भी मानते हैं। वैद्य शिरोमणि लोलिम्वराज ने वैद्यजीवन यहीं निर्माण किया। विद्वानो की इसी श्रृंखला में वैद्य सम्राट पद्मभूषण कविराज श्री सत्यनारायण शास्त्री जी की कर्मभूमि भी काशी ही है। शास्त्री जी नाड़ी विज्ञान के अद्वितीय विद्वान थे। रोगी की नाड़ी देखकर उसके विषय में पूरा इतिहास क्रम से बताते थे, केवल नाड़ी देखकर रोगी का सम्पूर्ण निदान बिना पूछे लिखकर देते थे, जिससे रोगी भी चकित रह जाते थे। रोगी के शरीर का कौन सा अंग व अवयव का कौन सा अंश काम नहीं कर रहा है, केवल नाड़ी परीक्षण से बता देते थे। रुग्ण स्त्री में कितनी बार गर्भस्राव हो चुका है, कौन सा गर्भ है, ज्योतिष के समान केवल नाड़ी देखकर बता देते थे। वैद्यों के समान अनेक हकीम भी हुए, जिन्हें विज्ञान का गूढ़ ज्ञान था, हकीम अजलम खां, जो यूनानी एवं आयुर्वेदिक तिबिया कालेज के संस्थापक थे, का नाम इस विषय में प्रशसंनीय है। इस प्रकार काशी एवं देश के विभिन्न भागों में अनेक वैद्य एवं हकीम ऐसे हुए, जिन्हें नाड़ी विज्ञान का विशिष्ट ज्ञान था। त्रयंम्बक शास्त्री जी का नाम भी नाड़ी विज्ञान के विशेषज्ञों में आता है।

नाड़ी परीक्षा का महत्त्व एवं आवश्यकता

रुग्णस्य मुग्धस्य विमोहितस्य दीपः पदार्थामिव जीव नाड़ी।
प्रदर्शयेद दोष जनितस्वरूपं व्यस्तं समस्तं युगलीकृतञ्च।।

(रावणकृत नाड़ी परीक्षा)

जैसे अंधेरे में रखे हुए पदार्थ दीप की सहायता से भलीभांति देखे जा सकते हैं, उसी प्रकार जीव नाड़ी मनुष्य के रोगों, मूर्च्छा आदि स्थितियों में एवं दोषों की उत्पत्ति आदि को उनके स्वरूप और गति को उनके पृथक् द्वन्द्वज या सन्निपातिक रूपों को अंशांश भेद की कल्पना से बता देती है।

महर्षि सुश्रुत ने कहा है –

तदेभिरेव (वातपिश्लेष्मभिः) शोणितचतुर्थैः
सम्भव स्थितिप्रलयेष्वस्यविरहित शरीरं भवति – सु.सू. ३१/३

वातपितकफ एवं चतुर्थ रक्त जन्म, स्थिति प्रलय में कारण है, रक्त विना दोष कुपित नहीं हो सकता।

रोग परीक्षण करना चिकित्सा कर्म से ज्यादा महत्वपूर्ण है, नाड़ी परीक्षा में किसी यंत्र आदि की आवश्यकता नहीं होती है। चिकित्सक स्वयं करता है और सामंजस्य करता है लक्षणों के आधार पर। इसमें किसी भी प्रकार के रोगी की नाड़ी परीक्षा की जा सकती है, इसमें कुछ भी खर्च नहीं होता और समय भी अधिक नहीं लगता। भौतिक एवं रासायनिक द्रव्यों की आवश्यकता नहीं होती। नाड़ी परीक्षा कहीं भी किसी भी समय आत्यायिक समय में की जा सकती है, यह साधारण परीक्षा अभ्यास के बाद कोई भी चिकित्सक कर सकता है।

शरीर के सामान्य विशेष का ज्ञान होना नाड़ी विज्ञान की आवश्यकता को ध्यान देते हुए आचार्यों ने इसे एक पृथक ही रोग विज्ञान का आधार कहा है। इसमें प्राण की क्या स्थिति है, तुरन्त ज्ञान होता है, कुछ लोगों का विचार है कि जिस चिकित्सक को नाड़ी जिह्वा तथा मूत्र परीक्षा का ज्ञान नहीं है, वह रोगी को संकट में डालता है। अब प्रश्न उठता है कि आज के वैज्ञानिक युग में रोग निदान के एक से एक नवीन यंत्र एवं विधियां उपलब्ध हैं, तो नाड़ी ज्ञान का कोई प्रयोजन है या नहीं, वस्तुतः ऐसा नहीं है। नाड़ी ज्ञान रोग एवं स्वास्थ्य परीक्षा की ऐसी विधि है, जो किसी भी समय किसी भी जगह किसी भी व्यक्ति की जा सकती है। ऐसा भी माना जाता है कि जिव्हा पाचन संस्थान का दर्पण होता है उसी प्रकार से आधुनिक विज्ञान के अनुसार नाड़ी भी परिसंचरण तंत्र का एक समूचा

निदान पुंज कहा जा सकता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार हृदय और उससे सम्बन्धित विभिन्न नाड़ियों के स्वस्थ्य एवं रोग अवस्था का ज्ञान नाड़ी के द्वारा होता है दूसरी ओर आयुर्वेद में तो नाड़ी के द्वारा न केवल एक संस्थान अवयव या भाग बल्कि सम्पूर्ण शरीर के अन्तर्गत होने वाले प्राकृत एवं विकृत क्रिया कलापों का ज्ञान नाड़ी के द्वारा हो जाता है, क्योंकि आयुर्वेद में नाड़ी ज्ञान का आधार त्रिदोष है जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। आवश्यकता है कि वैद्य नाड़ी ज्ञान का विशेषज्ञ हो, जिसमें अपने तप, साधना एवं अभ्यास के द्वारा नाड़ी ज्ञान को प्राप्त किया हो। नाड़ी विज्ञान का मुकाबला कोई भी आधुनिक तकनीक नहीं कर सकती। व्यवहार में देखा जाता है कि रोग निदान में लाखों रुपये खर्च करने के बाद भी रोग का पता नहीं चलता और एक सिद्ध वैद्य केवल नाड़ी ज्ञान के आधार पर दोषों की अंशाश कल्पना द्वारा निदान एवं चिकित्सा करने में समर्थ होता है। विभिन्न हृदय रोग, रक्त अल्पता एवं जल अल्पता का ज्ञान केवल नाड़ी के द्वारा जाना जा सकता है। रास्ते में चलते-चलते किसी भी व्यक्ति के दुर्घटना ग्रसित होने पर तत्काल केवल नाड़ी परीक्षा ही एक साधन होता है, इस प्रकार हर काल, हर परिस्थिति एवं हर विधा के चिकित्सक के लिए नाड़ी विज्ञान का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

सप्तत्रिंशोऽध्याय

योग का इतिहास

योग एक बहुत ही व्यापक विषय है। इसकी मुख्य धारा आध्यात्मिक है। यह तत्व ज्ञान एवं तत्त्वानूभूति का माध्यम है। आज प्रत्येक वर्ग एवं अवस्था के व्यक्ति योग के अध्ययन और अभ्यास के प्रति आकृष्ट हैं इस समय योग अपने मौलिक स्वरूप को त्यागकर वैज्ञानिक, अर्न्तराष्ट्रीयता, भौतिकता की ओर अग्रसर है। पश्चिम में हठ योग की प्रसिध्दि शारीरिक व्यायाम की चर्चा के रूप में हुई। भारतीय उपमहाद्वीप में योग का पारम्परिक अभ्यास अभी भी पाया जाता है। भारत, नेपाल और तिब्वत में गुरु शिष्य परम्परा आज भी अस्तित्व में है, जिसके कारण बीसवीं शताब्दी में महान योगियों ने अन्तर्राष्ट्रीय जागरूकता उत्पन्न की है। भारत में हिन्दू जनसंख्या लगभग ८० करोड़ है, जिनमें योग दिनचर्या का एक भाग है। यहां पर प्रातःकाल में मनुष्य सूर्य नमस्कार करते हुए दिखाई दे जाते हैं।

यद्यपि योग कब उत्पन्न हुआ, यह अभी तक रहस्य ही बना हुआ है। प्राप्त तथ्यों के आधार पर सर्वप्रथम योग परम्परा उपलब्ध मानव सभ्यता से लगभग ५ हजार वर्ष पूर्व मानी जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार पाषाण युग में आधुनिक हिन्दुत्व और मेहरगढ़ के बीच सांस्कृतिक साम्यता के कारण योग की उत्पत्ति हुई। बहुत से हिन्दू विचार रीति-रिवाज और आज के प्रतीक का मूल इस मेहरगढ़ की संस्कृति से मिलता है। योग के अस्तित्व का प्रथम पुरातत्व विषयक तथ्य सिन्धु घाटी की खुदाई से प्राप्त पत्थरों की मोहरों एवं पत्थरों पर प्राप्त योग की तस्वीरों से होता है। ये प्रमाण इतिहास की पुस्तकों में योग को ३०० ईसा पूर्व का मानते हैं। इसका सम्बन्ध विशेष रूप से सिन्धु सरस्वती सभ्यता से जोड़ते है। यह सवसे बड़ी सभ्यता थी।

संसार में प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ वेद हैं। वैदिक साहित्य, प्रार्थनीय चिन्तन-मनन के वर्णनों से पूर्ण है। वैदिक मनुष्य ऋषियों पर निर्भर रहते थे कि कैसे दैवीय तारतम्य में रहा जाय, बाद में ब्राह्मणग्रन्थ वेद के अनुष्ठान और स्रोतों को वर्णित करने के लिये लिखे गये हैं। डेविड फ्राले के अनुसार प्राचीनतम हिन्दू पुस्तक ऋग्वेद में योग के संकेत मिलते हैं। योग के महान विद्वानों में अनेक प्रसिध्द ऋषियों जैसे याज्ञवल्क्य, वशिष्ट के नाम निहित हैं। योग का इतिहास ५-८ हजार वर्ष पूर्व का है। ऋग्वेद में योग शब्द से तात्पर्य विचारों को जोड़ने या अनुशासन से है, बाद में योग शब्द का वर्णन केवल अथर्ववेद में आया है। पर इस समय इसमें श्वास नियमन, इसके अभ्यास का मुख्य भाग था। वृत्य काण्ड में

अनेक लोगों का वर्णन मिलता है जिन्हें वृत्य कहते हैं। ये जनन क्षमता के पुरोहित थे, जो रूद्र की पूजा करते थे। अपनी पूजा में वायु की तरह आवाज निकालने का प्रयास कर सुन्दर गाना गाते थे। ये अपने श्वास का नियमन करते थे। इस शोध से श्वास नियमन विज्ञान की उत्पत्ति हुई, जिस प्राणायाम कहते हैं।

उपनिषद् काल (८००-६०० बी.सी.) में लगभग २०० धर्म ग्रन्थों में आत्मा और इसका ब्रह्म से संबंध का वर्णन किया गया है। कर्म सिद्धान्त उपनिषद् के साथ उत्पन्न हुआ। उपनिषद् के प्रागैतिहासिक काल में योग की शिक्षा प्रारम्भिक रूप में थी। योग का वहुत स्पष्ट वर्णन उपनिषद्रों में मिलता है, जो कि प्राचीन हिन्दुत्व को प्रकट करते हैं। इनका समय ८००-५०० ईसा पूर्व है।

उपनिषद्रों में योग की पारिभाषिक शब्दावली और धारणा से स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। सामान्य से अधिक आत्मा का वर्णन और ब्रह्म की अनुभूति उपनिषद्रों की संपति है। उपनिषद्रों में योग का वर्णन उस मार्ग को बताया है, जिसके द्वारा मनुष्य दुःखों से छूट जाता है। उस समय योग के दो अङ्ग को प्रसिद्धि मिली। कर्मयोग एवं ज्ञानयोग, दोनों मार्गों का विकास मनुष्यों को दुःखों से मुक्ति पाने और अन्ततः ज्ञान प्राप्ति और अज्ञानता से मुक्ति प्राप्ति आदि का वर्णन मिलता है। उपनिषद्रों में अहंकार का आन्तरिक त्याग तथा वेदों में त्याग की कला में भगवान को वाह्य भेंट तथा इसके बदले शान्तिमय दीर्घायु जीवन की प्राप्ति का विशद वर्णन मिलता है। योग की पहली मुख्य पुस्तक भगवद् गीता थी, जिसे गीतोपनिषद् भी कहते हैं।

कठोपनिषद् में इन्द्रियों के स्थिर रहने को योग कहा गया है। मैत्ररेयणीय उपनिषद् (२००-३०० बी.सी.) में योग का वर्णन षड्ङ्ग योग के रूप में मिलता है। यथा- प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तर्क तथा समाधि। (तैति. उप. शाङ्क.) योगों युक्ति समाधानम्। योगो शिखोपनिषद् के अनुसार नवचक्रों में लीन होकर योग सिद्धियों को प्राप्त करना लय योग है। हठ योग प्रदीपिका में हठ योग को राजयोग प्राप्ति के उपाय तथा राज योग प्राप्ति तक करने का वर्णन है। राजयोग को सर्वोत्तम योग बताया है। योग शिखोपनिषद् में रजस तथा रेतस के मेल को राजयोग बताया है। योग शब्द अप्राप्त की प्राप्ति के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। (गीता शाङ्. ६/२२) गीता में दुःख के संयोग से वियोग को (गीता ६/२३) कर्मों में कुशलता को (गीता. २/५०) समत्वं को योग कहते हैं (गीता. २/४८)। प्राण और अपान की एकता, पिंगला और इडा स्वर का संयोग तथा परमात्मा और जीवात्मा का मिलन योग है (योग शिखोपनिषद्)।

उपासना कांड के अनुसार चित्त की वृत्तियों से निरोध करने को योग कहते हैं। जीवात्मा और परमात्मा के एकीकरण को योग कहते हैं। ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता को योग बताया गया है (अग्नि पुराण)। इसी तरह कूर्मपुराण में बताया गया है कि वृत्ति निरोध से प्राप्त एकता को योग कहते हैं। वाराह पुराण में प्राणायाम के सम्बन्ध में नाड़ी विज्ञान के महत्व तथा इन नाडियों में दशविध वायु संचरित होती है। शंकराचार्य के अनुसार योग अनुभव युक्त विज्ञान सहित ज्ञान है। याज्ञवल्क्य स्मृति १/८ में योग के द्वारा आत्म दर्शन को परम धर्म बताया गया है। पातञ्जलि योगसूत्र के अनुसार योग चित्तवृत्ति निरोध की अवस्था है (यो.सू. १/२)।

सांख्य का अस्तित्व लगभग ४००-२०० वर्ष ईसा पूर्व तथा सांख्य का प्रारम्भ आचार्य कपिल के द्वारा हुआ है। इस दर्शन के अनुसार दृश्यमान संसार दैवीय प्रत्यक्ष नहीं था। प्रकृति और ब्रह्माण्ड में जो भी अस्तित्व में है अलग तथा पूर्ण रूप से चेतनता से भिन्न था। योग ने यह द्वैतवाद सांख्य से लिया तथा वे विश्वास करने लगे कि प्रकृति प्रत्येक द्रव्य को उत्पन्न करती है और पुरुष विपरीत रूप से इसे प्रकाशित करता है। बाद में योग परम्परा प्रवर्तक विचार करने लगे कि वस्तुओं से लगाव और इच्छा, भोग-विलास में संतुष्टि के लिये मार्ग संसार का पूर्ण रूपेण त्याग कर देना है।

पातञ्जलि एक भारतीय दार्शनिक थे, इनका काल दूसरी सदी था। सर्वप्रथम योग के क्रमानुसार प्रस्तुतीकरण का श्रेय पातंजलि को जाता है, इन्हें आधुनिक योग का पिता कहा जाता है। योग के बहुत से आसन बोधि धर्म (५२६ बी.सी) के समय थे। पुरातत्व विज्ञान की सहायता से केवल पद्मासन का निश्चय हो सका है। यह आकृति ध्यान अभ्यास का मूल है।

पातंजलि ने क्रियायोग का वृत्तान्त प्रस्तुत किया। क्रिया योग को आंतरिक कर्मयोग के रूप में अच्छी तरह वर्णित किया जा सकता है। पातंजलि अष्टाङ्ग योग के नियमों का ठीक प्रकार से पालन करने विशेष रूप से तप स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान से एक योगी अपने अचेतन मन से संस्कारों को मिटा देता है। संस्कार कर्म की तरह निशान हैं, जो अच्छे और बुरे व्यवहार से उत्पन्न होते हैं। स्थायी यादगारें जो अचेतन मन पर चिन्हित हैं, वह चेतन मन को आगे बढ़ाती हैं या प्रेरित करती हैं। योगसूत्र के अनुसार एक व्यक्ति विशेष अच्छे और बुरे संस्कार वाला होता है।

महायोगी गोरखनाथ ने सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में वर्णित किया है कि देदीप्यमान शिव ही योगत्व के प्रकाशक हैं, जबकि वैष्णवी परम्परा के दत्तात्रेय आदिनाथ भगवान शिव को लय योग का प्रवर्तक मानते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार श्री हरि ही योग के प्रवर्तक हैं।

हिन्दू संस्कृति और दर्शन पर आज भगवत गीता का अत्यधिक प्रभाव है, यह प्राचीन ग्रन्थ लगभग ५०० वर्ष ईसा पूर्व लिखा गया था। भगवद् गीता से निश्चित होता है कि इसके लिखने के काल तक योग काफी प्राचीन हो गया था। गीता को प्रासंगिकता ज्ञान भक्ति एवं कर्म योग को एक रूप करने से मिली। लगभग १४०० वर्ष ईसा पूर्व व्यास ऋषि ने वैदिक मंत्रों को चार वैदिक ग्रन्थों में वर्गीकृत किया। आरण्यक ग्रन्थों में योगियों के लिए विस्तृत अनुष्ठान एकांत वनों में रहने का अनुसरण किया। इस युग ने भारतीय चिकित्सा परम्परा के प्रारंभ की तरह कार्य किया तथा आयुर्वेद के रूप में जाना गया। छठी सदी ईसा पूर्व भगवान बुद्ध ने बौद्ध शिक्षा का प्रसार किया, जिसमें उन्होंने प्राणायाम के महत्व और नीतियों को बताया। सिद्धार्थ गौतम ध्यान में कुशल थे तथा प्रथम बौद्ध थे, जिन्होंने योग का अध्ययन किया एवं ३५ वर्ष की अल्पावस्था में ज्ञान को प्राप्त किया।

दूसरी शताब्दी में पातञ्जलि ने योगसूत्र लिखा, जिसमें १६५ योगसूत्र राजयोग पर व्याख्या की तथा योग को परिभाषित किया है। पातञ्जलि का विश्वास था कि प्रकृति और पुरुष का पृथक्करण आत्मा की पूर्ण रूपेण शुद्धि के लिये आवश्यक है, यह प्रागैतिहासिक युग (Preclassical era) और वैदिक योग के विपरीत था, जो शरीर और मन की एकरूपता को मानता है। पातञ्जलि ने पारंपरिक अद्वैत से भिन्न वर्णन किया तथा पातंजलि के बाद सदियों तक योग का द्वैतवाद प्रधान था। परन्तु प्राचीन कालिक रसायन शास्त्र की खोज के साथ योगविद् शरीर को मन्दिर के रूप में मानने लगे। वैकल्पिक विचार स्वास्थ्य दीर्घजीवन की ओर परिवर्तित हो गये।

योग का पश्चाद् ऐतिहासिक युग (Post-classical era) प्रथम शताब्दी के प्रारंभ में पातंजलि योगसूत्र में अष्टाङ्ग मार्ग या अष्टाङ्ग योग का एक केन्द्रीय पहलू के रूप में अनुसरण किया गया। कुछ धारणाओं एवं मत के अनुसार, उपनिषद् के प्रारंभ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सम्पूर्ण पोस्ट क्लासिकल काल में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ, जिसे योग की मुख्य धारा कहा जा सकता है। तंत्र और हठ योग के प्रारंभ हुए स्कूलों में पुराने सिद्धान्तों से परिवर्तन कर योगाभ्यास के क्षेत्र को बढ़ाया। आयुर्वेद की मुख्यधारा और आधुनिक समय में पश्चाद् ऐतिहासिक युग (Post-classical era) के दार्शनिकों ने पातंजलि के द्वैतवाद को अस्वीकार कर दिया, जिस कारण एक युग का अंत एवं दूसरे युग का प्रारंभ हुआ।

तंत्र योग का इतिहास

लगभग चौथी सदी में पोस्ट क्लासिकल काल के प्रारंभ में तंत्र योग का सूत्रपात हुआ, परन्तु ५०० सो ६०० वर्ष बाद तक भी इसका पूर्ण विकास नहीं हुआ। तंत्र योग ने वेदों का अनुसारण नहीं किया तथा इस धारणा का खण्डन किया कि युक्ति की प्राप्ति कठोर

तपस्या और ध्यान से हो सकती है। तंत्र योग ने सांख्य के इस सिद्धान्त को अमान्य कर दिया कि योगी को संसार का त्याग कर देना चाहिये। तंत्र योग में भक्ति पर जोर देने के स्थान पर कर्मयोग को महत्व दिया। दुःख के कारणों की शिक्षा एवं मुक्ति मार्ग में तंत्र के विचार अपने पूर्वजों के समान थे। पारम्परिक अद्वैतवादियों के विपरीत तांत्रिक विश्वास करते थे कि सारा संसार मिथ्या नहीं है। तांत्रिक योग में शरीर युक्ति का माध्यम हो गया। अधिकांशतः पश्चिम में तंत्र की समानता मैथुन क्रिया से करते हैं, बाह्यमार्गी तांत्रिक इसे सुखानुभूति से रोकने के लिये जिसमें मैथुनेच्छा को भी लिखा गया था, समाधि प्राप्त करने के लिये काम में लाते थे।

दक्षिणमार्गी तांत्रिक स्त्री शक्ति के जागरण के लिये आसन, प्राणायाम, मुद्रा बंध पर विश्वास करते थे। योग परंपरा के साथ तंत्र खत्म नहीं हुआ, बल्कि एक योगी को तंत्र अभ्यास प्रारंभ करने के लिये यम-नियम-आसन-प्राणायाम का पालन करना होता है। उसके बाद एक विन्दु पर ध्यान केन्द्रित का पालन करना होता है। प्रत्याहार में कुशल होने पर दैवीय शक्ति की उपस्थिति महसूस कर सकते हैं। तंत्र में मंत्र का प्रयोग ऋग्वेद के समान पुराना है। मंत्र का प्रत्येक वर्ण शरीर के एक अवयव के अनुरूप और शरीर का प्रत्येक स्थान ब्रह्माण्ड में शक्ति का प्रतिनिधित्व करता था। मंत्रों का उच्चारण करके योगी शरीर और उसके अनुरूप ब्रह्माण्ड की शक्तियों को जगा सकते थे। तांत्रिक योगी दृष्टव्य माध्यमों जैसे मण्डलों आदि का अपने ध्यान में प्रयोग करते थे। सामान्यतया ये माध्यम लकड़ी, कागज, कपड़े के बने वृत्त चित्र, ज्यामितीय आकृति होते थे। केन्द्र में एक विन्दु होता था, जो ब्रह्माण्ड एवं मन के संयोग का प्रतिनिधित्व करता था। ध्यान और दर्शन के द्वारा तांत्रिक मंडल में प्रवेश कर अनुभव करते थे कि सभी वस्तुओं की एकता उनमें रहती है तथा उनमें और दैव में कोई पृथक्करण नहीं है।

हठ योग

हठ योग सबसे पहले नवीं या दसवीं सदी में प्रवेश हुआ। हठ योग के सिद्धान्त तंत्र से उत्पन्न हुए, जिसमें बौद्ध, प्राचीन कालीन रसायन शास्त्र और शैव के तत्व समाहित हैं। हठ शब्द में 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा होता है। मानव शरीर में स्थित मानसिक एवं शारीरिक ऊर्जाओं के बीच साम्य स्थापित कर इन शक्तियों को असीम करने की विद्या हठ योग है। इस विद्या के द्वारा योगी शरीर की मांसपेशियों को नियन्त्रित करके उन्हें सांसारिक एवं पारलौकिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाता है। हठ योगी कठोर शोधन प्रक्रिया का प्रयोग, आसन एवं प्राणायाम का अभ्यास करने से पहले करते हैं। हठ योग के अभ्यास में सबसे बड़ा अवरोध लालच, अहंकार, घृणा, राग तथा भ्रान्ति है। हठ योगियों ने काफी ग्रन्थ लिखे। सबसे पहला और प्राथमिक ग्रन्थ योग गोरक्ष ने लिखा। इनका

काल नवीं से दसवी सदी माना जाता है। बाद में हठ योग के ग्रन्थों में उन्हें १२वीं से तेरहवीं सदी में रखा है। इनकी सबसे पहली रचना सिद्ध सिद्धान्त पद्धति हठ योग के तत्वों का परिचय कराती है तथा भौतिक शरीर केवल एक स्तर पर मूर्तरूप है। पांच और गतिमान स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर, नव उर्जा चक्रों का विस्तृत वर्णन ३ लक्ष्य, १६ अधारों का वर्णन किया है, जिस पर योगी ध्यान केन्द्रित करता है। स्वात्माराम योगी जो स्वयं को गोरक्ष का शिष्य बताते हैं, उन्होंने चौदहवीं सदी के मध्य हठ योग प्रदीपिका ग्रन्थ लिखा। इससे १६ आकृतियों का वर्णन (अधिकांश पद्मासन के विभिन्न रूप) बहुत से शोधन संस्कार, ८ प्राणायाम तकनीक विशिष्ट बन्ध के साथ १० मुद्राओं का वर्णन है।

घेरण्ड संहिता सत्रहवीं सदी के अन्त का ग्रन्थ है, जो हठ योग प्रदीपिका पर आधारित है। इसमें योगाभ्यास के लिये आवश्यक ७ नियम योगाभ्यास के लिये आवश्यक सिद्धान्त, स्वच्छता, दृढता, स्थिरता, सततता, हल्कापन, अलौकिक ज्ञान का वर्णन मिलता है। घेरण्ड संहिता में ३२ आसन एवं २५ मुद्रायें बताई गई हैं। हठ योग पर सबसे अधिक संक्षिप्त और प्रजातंत्रीय ग्रन्थ शिव संहिता, लगभग १८वीं सदी के प्रारम्भ में लिखी गई है। इसमें शरीर क्रिया की जटिलतायें, ८४ विभिन्न आसन, ५ विशिष्ट प्रकार के प्राणों तथा उन्हें नियमित करने की स्पष्ट तकनीक, चार आसनों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

योग, उपनिषद् १४वीं और १५वीं सदी के बीच में लिखा गया था। इसमें योगाभ्यास का विस्तार से वर्णन मिलता है तथा कुछ आसन प्राणायाम एवं मुद्राओं को भी निहित किया है। एक योग उपनिषद् तेजोबिन्दु उपनिषद् ने सात नये अंग, पातंजलि अष्टाङ्ग योग पर प्रत्यारोपित किये हैं। इसमें मूल बन्ध, साम्यता, दृष्टि की स्थिरता, त्याग, मौन, देश, काल का वर्णन किया है। त्रिशिखि ब्राह्मण उपनिषद् में १७ विभिन्न आसन और आभ्यान्तर शरीर की नाड़ियों के शोधन का अभ्यास एवं श्वास नियमन का वर्णन किया है। योग तत्व उपनिषद् में वर्णित है कि आलस्यता, आत्मप्रशंसा, मैथुन-कल्पनायें आदि मुक्ति प्राप्ति में बाधायें हैं।

आधुनिक योग संयुक्त राष्ट्रों में सन् १८०० के करीब आया है। अंग्रेजों के एक समूह ने एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल बनायी, उनके शोध और अनुवादों में वेद और योग पर निबन्ध और शांकर (८०० ए.डी.) की कविता थी। सोसायटी के सदस्य सर चार्ल्स विल्किन्स ने सबसे पहले १७८५ में भगवद् गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसका श्रेय स्वामी विवेकानन्द, उनके समर्थक एवं अन्य गुरुओं को जाता है। स्वामी विवेकानन्द रामकृष्ण के शिष्य थे। उन्हें अपने गुरु के द्वारा १८९३ में शिकागो की धर्मसंसद में भाग लेने का कार्य दिया गया। इस कार्य के लिए स्वामी विवेकानन्द को अच्छा समर्थन मिला। उन्होंने योग की परंपरा के प्रसार के लिए संयुक्त राष्ट्रों की यात्रा की एवं व्याख्यान दिये। १८९९ में

उन्होंने न्यूयार्क वेदान्त सोसायटी की स्थापना की, जो भक्ति, कर्म, ज्ञान और राजयोग के लिए समर्पित थी।

डच विद्वान पाल टयुक्सेन ने १६११ में ''हिस्ट्री आफ द योग ट्रेडिशन्'' पुस्तक लिखी। १६३१ में स्वीडन के शोधकर्ता सीगार्ड लिन्डगुइस्ट ने योग पर दो पुस्तकों का प्रकाशन किया तथा इटली के जियुलियो सीजर ने तंत्र योग पर रचना की। बीसवीं शताब्दी के आसपास परमहंस माधवाचार्य जी ने वैज्ञानिकों और डाक्टरों को योगाभ्यासों की शरीर क्रियात्मक विधा पर कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके ही एक छात्र 'केवलयानन्द आरम एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट' पूना में खोला। माधवादास जी ने अपने दूसरे अनुयायी योगेन्द्र मस्तमनी को इस इन्स्टीट्यूट की प्रथम अमेरिकी शाखा खोलने के लिए संयुक्त राष्ट्र भेजा। कृष्णमूर्ति ने १६३० के प्रारंभ से १६८६ तक अपने बहुत सारे अनुयायी बनाये।

१६४३ में थियोस बरनार्ड ने भारत में अध्ययन किया तथा हठ योग पर ''द रिपोर्ट आफ पर्सनल एक्सपीरियन्स'' पुस्तक लिखी। १६५० में रमन महर्षि के शिष्य रिचर्ड हिटेलमैन ने न्यूयार्क में योग की शिक्षा दी तथा इनकी पुस्तक ''द ट्वीन्टी डे योग प्लान'' को काफी प्रसिद्धि मिली। १६४६ में परमहंस योगानन्द के द्वारा ''आटोबायोग्राफी आफ ए योगी'' पुस्तक को अत्यधिक प्रसिद्धि मिली। दूसरे योग गुरु जिनमें कृष्णामूर्ति और महेश योगी को उनके 'ट्रान्सडेन्टल मेडिटेशन' के लिए याद रखा जायेगा, जिसमें इन्हें ६ठे दशक में नाम मिला।

सबसे अधिक प्रभावशाली योग गुरु में स्वामी शिवानन्द, जिन्होंने मलेशिया में डाक्टर की तरह सेवा कार्य किया तथा अमेरिका एवं यूरोप में १६६०-७० में स्कूल खोले। शिवानन्द के कार्यों ने योग के सिद्धान्तों में थोड़ा परिवर्तन किया। उन्होंने २०० से भी अधिक पुस्तकें लिखीं। स्वामी शिवानन्द 'अर्न्तराष्ट्रीय शिवानन्द योग वेदान्त केन्द्र' के संस्थापक तथा इसके अनुयायी स्वामी विष्णु देवानन्द ने भी ''इलस्ट्रेटेड बुक आफ योग'' लिखी। योगी भजन जिन्होंने सातवें दशक में कुण्डलिनि योग की शिक्षा प्रारंभ की। इन्होंने ३ एच. संगठन (हेल्थ स्वस्थ, हैप्पी -प्रसन्न, होली-पवित्र) स्थापित किये। जिसके विश्व भर में लगभग २०० केन्द्र हैं। टी. कृष्णामाचार्य ने आसन के विभिन्न प्रकार और प्राणायाम की विभिन्न तकनीकों को विकसित किया। ''श्री तत्व निधि'', जो योग की १६वीं सदी के प्रारंभ की पुस्तक है, जो मैसूर महाराज के पुस्तकालय से मिली थी, ने कृष्णामाचार्य को प्रभावित किया। कृष्णामाचार्य के तीन प्रमुख शिष्यों में पट्टाभाई ने ''स्कूल आफ अष्टाङ्ग विन्यास'' योग विकसित किया। इन्द्रा देवी अमेरिका में प्रथम योग की महिला के रूप में जानी गई, इन्होंने १६४७ में सोवियत यूनियन में योग का परिचय कराया, इनके ६ स्कूल अर्जेंटीना में अपना जीवन कृष्णामाचार्य के योग सन्देश को विक्रम चौधरी के द्वारा उत्पन्न विक्रम योग को यश मिल रहा है, जिसमें दो प्राणायाम तकनीक तथा चौबीस आसन है।

कृपालु योग को अमृत देसाई ने विकसित किया। वृन्दा स्कार्वेल्ली की पुस्तक "अवेकनिङ्ग द स्पाइन" की प्रसिद्धि ने हजारों मनुष्यों को स्कारवेल्ली विधि में प्रशिक्षित किया।

आज पश्चिम में योग के अनुयायी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को कम महत्त्व देते हुए शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता को महत्व दे रहे हैं।

योग के ही क्षेत्र में कार्य करते हुए स्वामी रामदेव ने कुछ वर्ष पूर्व हरिद्वार में दिव्य योग संस्थान की स्थापना की। इन्होंने योग पर पुस्तकें लिखीं तथा इन्होंने टी.वी. चैनलों के माध्यम से तथा देश-विदेशों में योग के कैंप लगाकर योग से संबंधित उपदेशों तथा योगासनों के प्रदर्शनों से करोड़ों लोगों के मन में अपना स्थान बनाकर ख्याति प्राप्त की। २००६ में इन्होंने पातंजलि योग विश्वविद्यालय की स्थापना हरिद्वार में की।

आयुर्वेद में योग

योग आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण विषय है। आयुर्वेद का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ बनाये रखने तथा रोगी के विकार को शमन करना है। आयुर्वेद शरीर, मन, इन्द्रियों तथा आत्मा के संयोग को दीर्घ काल तक बनाये रखने के लिये विभिन्न उपायों को बताने वाला विज्ञान है। यह जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य अर्थात मोक्ष प्राप्ति के साधन को बताता है, योग का उद्देश्य स्वस्थ रहते हुए मोक्ष प्राप्त करना है। योग के द्वारा सुख दुःख को महसूस किये विना वृत्तियों का त्याग करते हुए चित्त निरोध करके मोक्षदायिनी परम पद को प्राप्त करता है। आयुर्वेद, योग तथा व्याकरण विज्ञान का प्रथम उद्देश्य पंचमहाभूतात्मक शरीर या शारीरी के चर्मोत्कर्ष, इन्द्रियोत्कर्ष सहित आत्म प्रकाश प्रमोचनार्थ तथा वाक् सिद्धि हेतु रहा है। चरक संहिता पातंजल योगसूत्र तथा व्याकरण महाभाष्य ये तीनों शास्त्र संभवतः एक ही व्यक्ति या समुदाय द्वारा लिखे हुए प्रतीत होते हैं। इसके लिये चरक संहितोक्त वक्तव्य दृष्टव्य है –

> पातञ्जल महाभाष्य चरक प्रतिसंस्कृतैः।
> मनोवाक्कायदोषाणं हन्त्रेऽहियतये नमः। च.सू. १/१ चक्रपाणि

चरक संहिता के शारीर स्थान में नैष्ठिकी चिकित्सा के सन्दर्भ में तत्वज्ञान तथा तत्वानुभूति मूलक योग तथा प्रज्ञा का सत्या बुद्धि के रूप में वर्णन मिलता है। इन्हीं योग सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन योगसूत्र में मिलता है। अत्रिदेव विद्यालंकार के अनुसार कृष्ण यजुर्वेद की चरक शाखा के ज्ञाता को आयुर्वेद चिकित्सा का भी ज्ञान था। वे सदैव घूमा करते थे तथा योग विद्या का प्रयोग भी रोग निवारणार्थ करते थे। चरक संहिता के शरीर शुद्धि हेतु पंचकर्म के सिद्धान्त हठ योग में वर्णित शरीर शोधनार्थ षट्कर्मों यथाा धौति, नेति, बस्ति आदि से मिलते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आयुर्वेद में शरीर शुद्धि हेतु औषध का प्रयोग

मुख्यतया होता है जवकि हठ योगान्तर्गत शरीर शोधन विभिन्न क्रिया विशेष के द्वारा होता है। दोनों विद्याओं का उद्गम एक ही प्रयोजन के लिए हुआ था। जैसे-

"धर्मार्थकामोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्" (च.सू. १/१५)
योगोमोक्षप्रवर्तकः। (च.शा. १/१३६)

आयुर्वेद में योग के सदृश ही औषधि, मंत्र, जप तथा समाधि आदि का विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। योगसूत्र में वर्णित पंचक्लेशादि बन्धनों का कारण तथा चित्त शुद्धि ही इसका निवारण बताया है। इसी के सदृश पुनः स्पष्ट करते हुए बताया है कि योग एवं मोक्ष दोनों ही स्थितियों में वेदनामवर्तन होता है। आयुर्वेद में वैद्य की चार प्रकार की वृत्तियों को ही योगसूत्र में चित्तप्रसादनार्थ बताया है। (यो.सू. १/३३) चरक शारीर के प्रथम तथा पंचम अध्याय तथा चरक सूत्र स्थान के आठवें तथा चिकित्सा के तेरहवें अध्याय में योग संबंधी वर्णन मिलता है। जवकि अष्टाङ्ग तथा सुश्रुत संहिता में एक दो स्थान पर संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

अष्टत्रिंशोऽध्याय

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आयुर्वेद

भारतीय स्वतन्त्रता हेतु जंग की शुरूआत १८५७ में मंगल पाण्डेय एवं रानी लक्ष्मीवाई के नेतृत्व में प्रारम्भ हुई और लगभग ६० साल वाद १५ अगस्त १६४७ को देश स्वतन्त्र हुआ। परतंत्रता काल में देश की अन्य विधाओं के साथ-साथ भारतीय चिकित्सा पद्धति (आयुर्वेद) एवं अन्य सम्वन्धित चिकित्सा पद्धतियों का भी ह्रास हुआ है। गाँधी जी द्वारा चलाए गए स्वदेशी आन्दोलन के कारण देशी चिकित्सा पद्धति होने के नाते आयुर्वेद की किस्मत ने भी करवट बदली। पूर्व में आयुर्वेद का पठन-पाठन एवं चिकित्सा व्यवस्था संस्कृत विद्यालयों से सम्वन्ध था, परन्तु स्वदेशी आन्दोलन के साथ आयुर्वेद विद्यालयों की स्थापना हुई, जिनके साथ उनके आतुरालय एवं चिकित्सालय सम्वन्धित थे। स्वदेशी चिकित्सा पद्धति पर विशेष वल दिया जाने लगा और देशी चिकित्सा पद्धतियाँ मुख्यतया आयुर्वेद की उन्नति की ओर बढ़ने लगी।

परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, देशी चिकित्सा पद्धति होने पर भी आयुर्वेद का विकास उस रूप में तो नहीं हुआ, जो होना चाहिए, फिर भी आयुर्वेद प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुआ। १६४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के कर्णधारों जिनमें राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, पंडित जवाहर लाल नेहरू, प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद, द्वितीय प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री, श्रीमती इन्दिरा गाँधी, श्री मोरारजी देसाई, श्री जगजीवन राम एवं भारत सरकार की प्रथम स्वास्थ्य मंत्री श्रीमती (डॉ.) सुशीला नायर ने यह माना कि आयुर्वेद पूर्ण वैज्ञानिक है। यह भारत की अमूल्य धरोहर है। इसका विकास होना अत्यन्तावश्यक है। इसी के फलस्वरूप अनेक कमेटियों का गठन हुआ। जिन्होंने देशी चिकित्सा पद्धतियों को राजकीय मान्यता देने की सिफारिश की और साथ ही साथ व्यवसाय नियंत्रण के निवंधन की व्यवस्था, शिक्षण के लिए विद्यालय एवं चिकित्सालय प्रशिक्षण के लिए आतुरालय एवं अस्पतालों की स्थापना का सुझाव दिया। स्नातकोत्तर शिक्षण, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान के लिए भी सुझाव दिए गए। सरकार ने भी इन कमेटियों की सिफारिशों को लागू करने के लिए यथासंभव कदम उठाए और भारतीय चिकित्सा के प्रदेश स्तर पर परिषद् एवं स्टेट कौसिंल की स्थापना होने लगी।

समितियों में सर्वप्रथम १६४७ में डॉ. रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में चोपड़ा समिति का गठन हुआ, जिसने जुलाई १६४७ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया। आयुर्वेद को समन्वयात्मक ढंग से विकसित करने का सुझाव इस कमेटी ने दिया और गाँवों से लेकर शहरों तक विभिन्न राजकीय स्तरों पर आयुर्वेद की सेवाओं की भूमिका प्रस्तुत की। आयुर्वेद

के स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसंधान की अभिसंस्तुति भी इसी कमेटी ने की, जिसके उपरान्त आयुर्वेद में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसंधान का वातावरण बनने लगा। इसी प्रकार १६४६ में डा. सी.जी. पंडित की अध्यक्षता में पंडित कमेटी का गठन हुआ। जिसने आयुर्वेद विकास के लिए अन्य सुझावों के साथ-साथ चोपड़ा कमेटी द्वारा अभिसंस्तुत जामनगर में केन्द्रीय देशी चिकित्सा अनुसंधान केन्द्र की स्थापना का सुझाव दिया। जिसके फलस्वरूप १६५२ में जामनगर में इस केन्द्र की स्थापना हुई और डा. प्राणजीवन मेहता इसके प्रथम निदेशक बने। डा. मेहता मूलतः आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विद्वान थे, परन्तु आयुर्वेद में भी उनकी गहरी रूचि थी। उनकी अध्यक्षता में जामनगर में समन्वयात्मक ढंग से अनुसंधान का कार्य हुआ।

चोपड़ा एवं पंडित कमेटी के समान ही १६५४ में दवे कमेटी एवं १६५८ में उडुप्पा कमेटी आदि का गठन हुआ। जिन्होंने पूर्व निर्देशित सिफारिशों के अनुसार आयुर्वेद कालेजों में प्रवेश योग्यता इण्टर साइंस, विधिवत शिक्षा प्राप्त वैद्य हकीमों का पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन), व्यवसाय एवं चिकित्सा के लिए बोर्डो की स्थापना, वैद्य एवं हकीमों के अधिकार आधुनिक चिकित्सकों के समान हो, ऐसा प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया। पाठ्यक्रम ५ १/२ वर्ष का हो, इण्डियन मेडिकल कौंसिल (Medical Council of India) के समान एक कौसिंल हो, केन्द्र एवं राज्यों में स्वतन्त्र निदेशालय हो, स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान की सुविधा की जाए और अनुसंधान शिक्षण का अंग हो, आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा सेवा का अंग माना जाय, सभी आयुर्वेदिक विद्यालय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध हो, मेडिकल कालेजों में आयुर्वेद के पीठ (Chair) हो और अस्पतालों में एक आयुर्वेदिक वार्ड हो, औषध निर्माण का मानकीकरण हो, केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसंधान परिषद् की स्थापना हो आदि सिफारिशों को, जिन्हें कार्यान्वित करवाने एवं लागू कराने में इन कमेटियों ने विशेष भूमिका निभाई और इनमें से अधिकतर को सरकार ने लागू एवं कार्यान्वित भी किया। प्रो. के. एन. उडुप्पा की अध्यक्षता में गठित उडुप्पा कमेटी का आयुर्वेद के उत्थान में विशेष योगदान रहा। इसी कमेटी की सिफारिशों के बाद का.हि.वि.वि. एवं त्रिवेन्द्रम में स्नातकोत्तर शिक्षण संस्थान एवं अनुसंधान, केन्द्र स्थापित हुए, जिनमें द्रव्यगुण, चिकित्सा वाङ्गमय में अनुसंधान औषधियों का सर्वेक्षण, निर्माण एवं मानकीकरण के लिए विशेष कदम उठाये। स्वातंत्रोत्तर काल में आयुर्वेद के हर पक्ष के विकास पर ध्यान दिया गया। जिन मुख्य विन्दुओं के विकास पर मुख्य रूप से ध्यान दिया गया है, उनमें निम्नलिखित है।

शिक्षण, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान योजना

१. स्नातकीय स्तर पर

२. स्नातकोत्तर स्तर पर

स्नातकीय शिक्षण योजना

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक पंचवर्षीय योजनाओं में आयुर्वेद के महाविद्यालय का विकास हर दृष्टि से हुआ। विश्वविद्यालयों से उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया। स्नातक स्तर पर प्रवेशार्थ इण्टर साइंस वेसिक अहर्ता कर दी गई। १९७१ में सी.सी.आई. एम. का गठन होने के पश्चात् एकरूपता लाने के लिये सम्पूर्ण देश में पाठ्यक्रम का एक रूप तैयार कर लागू किया गया, जिसे शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम माना जाता है। मोहनलाल व्यास, जो कि गुजरात के स्वास्थ्य मंत्री थे, उन्होंने ही शुद्ध आयुर्वेद आन्दोलन का नेतृत्व किया और उन्हीं की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई, जिसने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम तैयार कर लागू कराया। इसी के साथ उन्होंने राजकीय स्तर पर आयुर्वेद विश्वविद्यालय की स्थापना की। स्नातक स्तर पर ग्रन्थ प्रधान की जगह विषय प्रधान अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की गई है। पिछले लगभग १० साल पूर्व (१९९३-९४) तक ५ १/२ में ५ साल तक वार्षिक परीक्षा, विषय प्रधान शिक्षण-प्रशिक्षण एवं ६ महीने व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता था, परन्तु अब १ १/२ - १ १/२ साल के तीन व्यावसायिक परीक्षा में आयुर्वेद में स्नातक स्तर की पढ़ाई पूर्ण कर एक वर्ष का व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है। संसाधनों एवं अध्यापकों की कमी के कारण सम्पूर्ण देश में शिक्षण की व्यवस्था में एकरूपता नहीं है, परन्तु फिर भी सी.सी.आई.एम. के मानकों के अनुसार प्रायः सभी जगह प्रयोगशाला, म्यूजियम, भैषज्योद्यान एवं योग के स्नातकीय शिक्षण सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था है। साठ के दशक में दो मुख्य घटनाएँ घटित हुई, जिसमें एक का.हि.वि.वि. वाराणसी तथा मद्रास के आयुर्वेद कालेजों को बन्द कर दिया गया और शुद्ध आयुर्वेद के आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। विश्वविद्यालय प्रशासन एवं आयुर्वेद मनीषियों के अथक प्रयास से लगभग ३५-४० वर्ष पश्चात् बाद का.हि.वि. वि. वाराणसी में पुनः १९९९ में स्नातक स्तर की शिक्षण व्यवस्था आरम्भ की गई, जो निरन्तर प्रगति की राह पर अग्रसर हैं। स्वतन्त्रता पश्चात् अनेक आयुर्वेद विद्यालयों की स्थापना की गयी है।

स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान

प्राचीन काल में स्नातकोत्तर शिक्षण का क्या स्वरूप था। यह तो बहुत ज्ञात नहीं है परन्तु जैसा कि शास्त्र अध्ययन से प्रतीत होता है, उस काल में मुख्यतः शास्त्र परक व्यवहारिक ज्ञान विद्यार्थियों को करा दिया जाता था। उसके पश्चात् वे अध्ययन-अध्यापन और तदविद् सम्भाषा के द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि एवं विकास करते थे और साथ ही साथ विशेषज्ञता प्राप्त करने हेतु एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाते थे। आधुनिक काल में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस परम्परा में विशिष्ट परिवर्तन आया है। स्नातकोत्तर शिक्षण

केवल शास्त्र परक न होकर विषय विशिष्ट परक हो गया है और साथ ही साथ पूर्ण अनुसंधान तो नहीं, परन्तु अनुसंधान विधि का मौलिक ज्ञान स्नातकोत्तर शिक्षण काल में ही दिया जाता है। इसी काल में विद्यार्थी को अध्यापन एवं चिकित्सा के व्यवहारिक पक्ष का ज्ञान भी हो जाता है। शोध, शिक्षण एवं चिकित्सा करने के लिए स्नातकोत्तर शिक्षण अत्यन्त आवश्यक है। तभी शोध, शिक्षा एवं चिकित्सा का मानकीकरण हो सकता है। अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गठित चोपड़ा कमेटी ने इस पर सबसे अधिक बल दिया। इसी कार्य के लिए देश के विभिन्न भागों में स्नातकोत्तर शिक्षण संस्थानों की स्थापना हुई, जिनमें गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर, का.हि.वि.वि. वाराणसी और राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर भारत के तीन मुख्य संस्थान हैं, जो केन्द्रीय स्तर के है। जामनगर का स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्र १९५६ में स्थापित हुआ, जिसके प्रथम प्राचार्य आचार्य यादव जी त्रिकम जी बने थे। १९६३ में का.हि.वि.वि. में स्नातक स्तर की शिक्षा को बन्दकर स्नातकोत्तर की स्थापना हुई, जिसके निदेशक आचार्य प्रो. प्रियव्रत शर्मा जी हुए। १९७५ में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर की स्थापना हुई, जिसमें स्नातक, स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ। अन्य आयुर्वेद महाविद्यालय जो किसी न किसी विश्वविद्यालय से सम्बन्ध है, में भी किसी विभाग को प्रोन्नत कर स्नातकोत्तर शिक्षण की सुविधा दी गई है। जिनमें लखनऊ, ऋषिकुल, पपरौला, उदयपुर, पीलीभीत तथा दक्षिण भारत के कुछ आयुर्वेदिक कालेज है, जहाँ स्नाकोत्तर प्रशिक्षण के साथ-साथ अनुसंधान कार्य भी चल रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण देश में लगभग ५३ स्नातकोत्तर विभाग स्थापित किए गए हैं।

अनुसंधान

अनुसंधान की प्रक्रिया तो हर युग में किसी न किसी रूप में चलती रही है। प्राचीन मनीषियों ने प्रकृति के सान्निध्य में रहकर एक ही प्रक्रिया का बार-बार अध्ययन कर विभिन्न हेतुओं से सिद्ध कर विभिन्न सिद्धान्त स्थापित किए, जो आज के वैज्ञानिक युग में भी रहस्य बने हुए है कि आखिर किस ज्ञान और प्रक्रिया के द्वारा उन्होंने ये सिद्धान्त प्रतिपादित किये। जैसे योनि रोग का कारण एवं गर्भ में विकृति के कारण बीज, बीज भाग, बीज भागावयव, जिन्हें कि आधुनिक विज्ञान के अनुसार स्पर्म-क्रोमोसोम एवं जीन के समकक्ष माना जा सकता है, का वर्णन किया है, जो कि उनकी अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि को दर्शाता है। इसी प्रकार संहिताओं में अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्नातकोत्तर शिक्षण के साथ-साथ अनुसंधान पर भी विशेष बल दिया गया। सर्वप्रथम १९४८ में गठित चोपड़ा कमेटी ने भी आयुर्वेद अनुसंधान की आवश्यकता पर बल दिया, ताकि आधुनिक युगानुरूप उसे वैज्ञानिक आधार दिया जा सके। आयुर्वेद में

अनुसंधान को गति देने हेतु योजना आयोग के तत्वाधान में जून १९५७ में वैद्यों की एक बैठक बुलाई गयी, जिसमें यह तय हुआ कि १५ सदस्यों की एक अनुसंधान परिषद् का गठन किया जाए, ताकि आयुर्वेदीय अनुसंधान को सही दिशा निर्देश मिले। इसी के फलस्वरूप १९५९ में ११ सदस्यीय केन्द्रीय अनुसंधान परिषद् की स्थापना की गयी। इसके साथ स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से प्रायः सभी मेडिकल कालेजों में आयुर्वेदिक औषधियाँ पर अनुसंधान कार्य हो रहा है और इस कार्य में पूर्णता व दक्षता हेतु अनेक स्वतन्त्र शोध संस्थान स्थापित हुए है, जिनमें लखनऊ का केन्द्रीय भैषज शोध संस्थान (CDRI), इण्डियन कौसिंल ऑफ मेडिकल रिसर्च (ICMR) तथा केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी अनुसंधान परिषद् आदि मुख्य हैं, जिनकी स्थापना के बाद अनुसंधान में आशा जनक प्रगति हुई और शोध कार्य हुए हैं। इसी के साथ-साथ विभिन्न संस्थाओं में किसी न किसी रूप में अनुसंधान प्रक्रियाएँ।

शुद्ध आयुर्वेद

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आयुर्वेद इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। वैसे तो का. हि.वि.वि. में आयुर्वेद की शिक्षा संस्कृत के साथ चल रही थी, परन्तु जव स्वर्गीय महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी दो वार आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष बने, तो उन्होंने १९२७ में का.हि.वि.वि. में आयुर्वेद कालेज की स्थापना की और कविराज धर्मदास वैद्य जी को इसका अध्यक्ष बनाया, जिनके शिष्य होने का गौरव पं. राजेश्वर शास्त्री, पं. दुर्गादत्त शास्त्री, पं. विश्वनाथ द्विवेदी एवं पं. चन्द्रदत्त त्रिपाठी को प्राप्त है। ये सभी प्राचीन परम्परा के समर्थक थे। १९३५ ई. में धर्मदास जी की मृत्यु के बाद आयुर्वेद शिक्षण पद्धति में समन्वयात्मक पद्धति (Integrated System) का प्रादुर्भाव हुआ, जो कि डॉ. गणनाथ जी सेन के कारण (१९३५-४५) तक फला फूला। इसके पश्चात् १९४५-५५ का समय आया, जिसमें कि आचार्य यादव जी त्रिक्रम जी आयुर्वेद जगत् में काफी प्रभावी रहे। ये भी समन्वयवादी नीति का काल रहा, क्योंकि आचार्य जी स्वयं इस पद्धति के समर्थक थे। १९४७ में देश के आजाद होने के वाद आयुर्वेद को आधुनिक चिकित्सा के साथ समन्वयात्मक रूप प्रदान कर राष्ट्रीय चिकित्सा के साथ समन्वयात्मक बनाने की पहल होने लगी और अनेक राज्यों में आयुर्वेद विकास योजनाओं पर विचार एवं क्रियान्वयन होने लगा। परन्तु जब से मिश्रित पद्धति का निर्णय लिया गया था; तभी से वैद्यों का एक वर्ग इसके विरोध में था, उनका यह मानना था कि एलोपैथी के साथ मिलकर आयुर्वेद का मौलिक स्वरूप नष्ट हो जायेगा। अतः इसे अपने वास्तविक स्वरूप में ही रहने दिया जाए। इस प्रकार विद्यापीठ का शिक्षण कार्यक्रम भी समन्नयात्मक पद्धति के समानान्तर चलता रहा। विरोध एवं समर्थन की प्रक्रिया चलती रही और १९४० के आसपास विरोधात्मक

विचार उग्र रूप में बाहर आए। कविराज मणिन्द्रकुमार मुखर्जी जो कि १६४३ से ४५ तक आयुर्वेद महासम्मेलन के अध्यक्ष बने और उसी मंच से शुद्ध आयुर्वेद का समर्थन एवं समन्वयात्मक पद्धति का विरोध करते रहे। इसमें एलोपैथी के भी चिकित्सक उनके साथ थे। अन्ततः १६५२ में बम्बई सरकार के समर्थन में वैद्यों ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम तैयार किया एवं लागू करवाया। जुलाई १६५८ में प्रो. के.एन. उडुप्पा, जो कि चि.वि. संस्थान, का.हि.वि.वि. के संस्थापक थे, की अध्यक्षता में उडुप्पा कमेटी का गठन हुआ। जिसने शुद्ध आयुर्वेद पाठ्यक्रम को लागू रखने की सिफारिश की। १६६० में योजना मंत्री स्वर्गीय गुजलारी लाल नंदा की अध्यक्षा में पैनेल ऑन आयुर्वेद के नाम से एक बैठक हुई, जिसमें ४ वर्षीय शुद्ध आयुर्वेद डिप्लोमा चलाने का निर्णय लिया गया। १६६२ में महाबलेश्वर में सम्पन्न केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री परिषद् ने शुद्ध आयुर्वेद को ही चालू रखने का निर्णय लिया। शुद्ध आयुर्वेद और मिश्र पद्धति के झगड़े में १६६० में का.हि.वि.वि. में स्नातक स्तरीय शिक्षण बन्द करके स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान प्रारम्भ हुआ।

एक जनवरी १६६३ में गुजरात के स्वस्थ्य मंत्री मोहन लाल व्यास जी की अध्यक्षता में शुद्ध आयुर्वेद शिक्षा समिति का गठन हुआ, जिसके सचिव पंडित शिवशर्मा जी जिन्होंने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम एवं प्रतिवेदन राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृति हेतु प्रदान किया, जो कि केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत होकर राज्य सरकारों के पास लागू करने के लिए भेज दिया गया। शुद्ध आयुर्वेद के जो समर्थक थे, उनमें तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री गुलजारी लाल नंदा, मोहन लाल व्यास, मोरारजी देसाई, पंडित शिवशर्मा, हरिदत्त शास्त्री आदि के नाम प्रमुख हैं।

केन्द्र एवं राज्य सरकारों के क्रियान्वयन के बाद भी सम्पूर्ण देश की साधनहीनता आयुर्वेदिक कालेजों में व्यवहारिक ज्ञान हेतु साधन की कमी, ग्रन्थ प्रधान अध्ययन तथा अनियंत्रण के कारण से आयुर्वेद की उपाधि एवं पाठ्यक्रम में एकरूपता नहीं आई, जिसके कारण एक केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के गठन की आवश्यकता महसूस ही गई और परिणामतः १ सितम्बर १६७१ को ७२ सदस्यों की भारतीय चिकित्सा परिषद् का गठन हो गया, जिसके प्रथम सभापति पं. शिव शर्मा तथा प्रथम सचिव शिवकुमार मिश्र बने। परिषद् ने सम्पूर्ण देश में एक पाठ्यक्रम लागू किया, जिससे एकरूपता लाने में काफी सफलता मिली, परन्तु शुद्ध आयुर्वेद एवं समन्वयात्मक पद्धति को लेकर उहापोह अब तक भी बना हुआ है। कुछ संस्थाएं ऐसी हैं, जहाँ समन्वयात्मक पद्धति अपनाई जा रही है, जैसे– का.हि.वि.वि. और दूसरी ओर शुद्ध आयुर्वेद की विचारधारा जैसे जामनगर एवं जयपुर। वस्तुतः उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान में विना समन्वय के आशानुरूप सफलता प्राप्त करना काफी कठिन कार्य है। प्राचीन महर्षियों ने भी कहा है एक ही विद्या का ज्ञाता विद्वान नहीं हो सकता। इसी उहापोह के कारण निजी चिकित्सा व्यवसाय करने वालों के सामने

भी समय-समय पर विभिन्न कठिनाइयाँ आती हैं, जिनका की निराकरण न्यायिक दृष्टि से अभी तक नहीं हो पाया है।

प्रशासन एवं लोक सेवा

किसी भी विधा को अपना अस्तित्व स्थापित करने एवं प्रगति करने के लिए राजाश्रय अत्यन्त आवश्यक है। आयुर्वेद ने ऐसे अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। प्राचीन काल में इसका चहुमुखी विकास हुआ, पर मध्य और आधुनिक काल में विशेष रूप से ह्रास ही हुआ, जिनका मुख्य कारण विदेशी आक्रमण एवं देश का गुलाम होना है। मध्यकाल में तो फिर भी यदि इसका विकास नहीं हुआ, तो बहुत अधिक ह्रास भी नहीं हुआ। मुगल बादशाहों ने हकीमों के समान वैद्यों को भी समान अवसर प्रदान किया गया, परन्तु राजाश्रय उनके साथ आई चिकित्सा पद्धति को ही था, फिर भी मध्यकाल में आयुर्वेद में रसशास्त्र का अत्यधिक विकास हुआ। इसी काल को रसशास्त्र का स्वर्णिम युग कहा जाता है। सबसे ज्यादा आयुर्वेद का ह्रास आधुनिक काल में अंग्रेजों के आने के बाद हुआ। शुरू में तो किसी तरह आयुर्वेद भी एलोपैथी के साथ चलता रहा, परन्तु बाद में २०वीं शताब्दी में तो उन्होंने इसे बिल्कुल बेकार बताकर संस्कृत एवं आयुर्वेद के विद्यालयों को बन्द करके मेडिकल कालेजों की स्थापना कर दी। परन्तु जैसे-जैसे आजादी की लड़ाई ने जोर पकड़ा, आयुर्वेद का भी योगदान होने लगा। स्वदेशी आन्दोलन काल में देशी चिकित्सा पद्धतियों विशेषकर आयुर्वेद के विकास पर विशेष बल दिया गया। इसी काल में अनेक आयुर्वेदिक कालेजों की स्थापना हुई, जिनमें आयुर्वेद का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आयुर्वेद के प्रचार एवं प्रसार हेतु कई कमेटियों का गठन हुआ, जिन्होंने शिक्षण व्यवस्था में सुधार, स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसंधान के साथ-साथ प्रशासन एवं लोक सेवा में आयुर्वेद की भागीदारी की सिफारिशे की और उन्हें क्रियान्वित भी कराया। इसी के परिणाम स्वरूप प्रशासन एवं लोक सेवा की स्थिति में काफी सुधार आया है। केन्द्र तथा विभिन्न राज्यों में आयुर्वेद के निदेशालयों की स्थापना हुई। केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय में देशी चिकित्सा पद्धति के लिए परामर्शदाता का पद बना। राजस्थान में आयुर्वेद का मंत्री नियुक्त किया गया, जो प्रशासन की ओर से आयुर्वेद को दिए गए महत्व को दर्शाता है। फरवरी सन् २००३ में राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर की स्थापना की गई, जिसके प्रथम कुलपति प्रो. रामहर्ष सिंह को नियुक्त किया गया। अनेक पंचवर्षीय योजनाओं में आयुर्वेद के लिए भी धनराशि दी गई, जिससे आयुर्वेद के विकास कार्य को बल मिला और शिक्षकों के वेतनमान में वृद्धि हुई है। आयुर्वेद के शिक्षकों एवं चिकित्सा अधिकारियों का वेतनमान आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के शिक्षकों एवं चिकित्सा व्यावसायियों के समान है। आयुर्वेद को धनराशि प्राप्त होने से लोक सेवा के कार्यो को भी प्रोत्साहन मिला, जिसके फलस्वरूप अनेक

आयुर्वेद अस्पतालों एवं औषधालयों की स्थापना की गई। विभिन्न योजनाओं में आयुर्वेद के विकास एवं प्रचार हेतु धन का प्रावधान है। अनुसंधान पद्धति पर विशेष बल दिया जा रहा है। यहाँ तक कि अनुसंधान के लिए कोई भी फंडिंग एजेन्सी धन देने को तैयार है। विगत वर्षों में भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय के अन्तर्गत आयुर्वेद का अलग विभाग स्थापित किया गया जिसे 'आयुष' कहा जाता है। यह विभाग आयुर्वेद में होने वाले विभिन्न कार्यक्रमों की समीक्षा करता है, योजनाएं बनाता है, अनुसंधान के लिए धन प्रदान कराता है और देश-विदेश में होने वाले आयुर्वेद सम्बन्धी विभिन्न क्रिया कलापों का संचालन करता है। आयुर्वेद में स्वास्थ्य एवं शिक्षा सम्बन्धी अनेक विषयों पर विभिन्न समितियों द्वारा इसका नियंत्रण रहता है।

शास्त्रचर्चा एवं शास्त्रीय विकास

आयुर्वेद में शास्त्रचर्चा एवं शास्त्रीय विकास की परम्परा सदा से रही है, परन्तु मध्य एवं आधुनिक काल (आजादी से पूर्व) में इस परम्परा का ह्रास हुआ है। आजादी के बाद पचास के दशक में यादवजी त्रिक्रम जी के निर्देशन में शास्त्र-चर्चा का क्रम शुरू हुआ। मध्य काल में आयुर्वेद की जो परम्परा क्षीण हो गई थी, उसका वृहद और बहुमुखी विकास होने लगा। इसमें वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक पंडित रामनारायण शर्मा ने प्रमुख योगदान दिया। इसके बाद हालाँकि १९३५ में का.हि.वि.वि. वाराणसी में पंचमहाभूत पर एक बहुत बड़ी परिषद् का आयोजन किया गया था, जिसकी अध्यक्षता डा. गणनाथ सेन ने की थी। अनेक शास्त्रचर्चा एवं परिषदों का आयोजन किया गया, जिनमें आयुर्वेद के सिद्धान्त, द्रव्यगुण एवं चिकित्सा आदि विषयों के विभिन्न पक्षों पर विचार विमर्श हुआ। आचार्य जी ने स्वयं एवं उस काल में अनेक चिन्तन परक मनीषियों को भी इसके लिए प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप आयुर्वेद वाङ्गमय की अत्यधिक वृद्धि हुई। आचार्य जी के इस प्रयास से जहाँ एक ओर पाठ्य-ग्रन्थों का भण्डार बढ़ा और साथ ही साथ विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन की परम्परा को भी बल मिला। इस कार्य के अन्तर्गत जिन सिद्धान्तों पर मुख्य रूप से चिन्तन हुआ, उनमें पंचमहाभूत, दोष, प्रकृति, अग्नि एवं स्रोतस आदि है। इस काल में लिखे गये मुख्यतः प्राच्य एवं पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रों के समन्वय की जो परम्परा आचार्य यादव जी त्रिक्रम जी ने की, वह काफी फलीभूत हुई, जिसके कारण अनेक स्नातकोत्तर शिक्षक एवं अनुसंधान केन्द्र स्थापित हुए, जामनगर का शिक्षण एवं अनुसंधान केन्द्र उन्हीं के परिश्रम का परिणाम है, जिसके वे प्रथम आचार्य भी नियुक्त हुए। पिछले दो दशकों से पुनः शास्त्रचर्चा एवं कार्यशालाओं का प्रवचन काफी बढ़ा है, जिससे देश-विदेश के विद्वान भाग लेते हैं। पिछले कुछ दशकों में वैश्वीकरण की हवा के चलते आयुर्वेद के विभिन्न पारम्परिक ज्ञान एवं औषधियों को जब विकसित देशों ने पेटेंट कराना

शुरू किया, तब भारत सरकार एक परियोजना के तहत टी.के.डी.एल. नामक संस्था का गठन किया, जिसमें कि समस्त आयुर्वेदीय औषधि एवं ज्ञान को संकलित करने का कार्य प्रारम्भ किया, जिसमें कि काफी कुछ काम हो चुका है और अभी जारी है। इससे अब विदेशी कम्पनियाँ या एजेन्सियाँ भारतीय वनस्पतियों, औषधियों एवं अन्य ज्ञान को पेटेंट नहीं करा पायेंगे।

भेषज संहिता

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत में ब्रिटिश फार्मेसियाँ को ही आदर्श माना जाता था, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय भेषज संहिता (Indian Pharmacopia) का निर्माण हुआ। १९४६ में भारत सरकार ने इण्डियन फार्मोकोपिया की लिस्ट प्रकाशित की, जिसमें उपयोगी द्रव्यों की सूची थी। १९४८ में भारत सरकार ने इण्डियन फार्मोकोपियां कमेटी का गठन किया, सिफारिश चोपड़ा कमेटी ने की थी और १९५५ में इण्डियन फार्मोकोपियां प्रस्तुत एवं प्रकाशित हो गया। इसका पूरक १९६० में और द्वितीय संस्करण १९६६ में प्रकाशित हुआ। द्रव्यों एवं योगों की मानकीकरण के लिए विभिन्न केन्द्र स्थापित हुए हैं, जो कि केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् के अन्तर्गत कार्य करते है।

इसकी सूची सरकारी प्रकाशन के रूप बी. मुखर्जी द्वारा रचित इण्डियन फार्मेस्युटिकल कोडेक्स उल्लेखनीय रचना है, उसका प्रथम भाग आयुर्वेद औषधियों पर प्रकाशित हुआ। (व्रेत १९५३) बी. मुखर्जी उस समय केन्द्रीय भेषज अनुसंधान संस्थान लखनऊ के निदेशक थे।

औषधियों का सर्वेक्षण, भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अनेक भारतीय वनोषधियाँ का सर्वेक्षण कर उन पर विवरणात्मक ग्रन्थ लिखने का कार्य हुआ, जिसमें मुख्य भूमिका विदेशियों की है। भारतीयों में ठाकुर बलवंत सिंह ने हिमालय प्रदेश की वनस्पतियों के लिए वनोषैधियों को तथा छोटा नागपुन जमूई क्षेत्रों के लिए 'बिहार की वनस्पतियाँ' की रचना की है। वैद्य मायाराम उनियाल ने उत्तरांचल की औषधियों पर काम किया है। फादर संतापो द्वारा 'बोटनिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' भारतीय औषधियों के अध्ययन एवं सर्वेक्षण में महत्वपूर्ण योगदान है। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् के तत्वाधान में वनस्पति सर्वेक्षण अनेक केन्द्र स्थापित किये गये हैं, जहाँ प्रादेशिक स्तर पर कार्य हो रहा है। वनस्पतियों का सर्वेक्षण प्रारम्भ होने पर विभिन्न महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में भैषज्योद्यान एवं संग्रहालयों की स्थापना होने लगी है। दक्षिण भारत में केरल के कोटकल, हरिद्वार में बाबा रामदेव ने अनेक औषधियों के पौधों के उद्यान स्थापित किये है। लखनऊ का राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान भी उल्लेखनीय है। औषधियों की दृष्टि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं देहरादून का भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय भी अवलोकनीय है।

औषधि निर्माण एवं फार्मेसियाँ

आज सबसे बड़ी समस्या कारगर और संज्ञाहरण औषधियों की उपलब्धि की है। अत्यधिक चिकित्सा के लिए औषधि का अभाव है। वेदनाहर और संज्ञाहरण औषधियाँ प्रायः न के समान हैं। अतः इस दिशा में गंभीरता से सोचने, अथक प्रयास करने की आवश्यकता है, तभी आयुर्वेद, आयुर्वेद के रूप में जीवित रह सकेगा।

१६४० में ड्रग एक्ट पारित हुआ, १६४७ में औषधि कानून प्रकाशित हुआ और १६४८ में फार्मेसी एक्ट पारित हुआ, जिसके अन्तर्गत फार्मेसी कौसिंल ऑफ इण्डिया १६४६ में गठित हुआ, इसमें प्रावधान थे कि राज्यों में भी फार्मेसी कौसिंल बने और शिक्षण सम्बन्धी विवरण निर्धारित हो, परन्तु इसमें भारतीय भैषज्य कल्पना को नियंत्रित करने की कोई व्यवस्था न थी। इसलिए १६६४ में जो ड्रग एण्ड कास्मेटिक एक्ट का संशोधित रूप बना, उसमें आयुर्वेद एवं यूनानी द्रव्यों का समावेश किया गया, जिसके अन्तर्गत आयुर्वेद एवं यूनानी ड्रग टेक्निकल एडवाइजरी बोर्ड गठित हुआ, जो संशोधित विषयों पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों को परामर्श देता है। पिछले कुछ दशकों से आयुर्वेद फार्मेसी में भी डिप्लोमा कोर्स चल रहे हैं। जामनगर में तो पहले से ही चल रहा था, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में २००६ से इस कोर्स का प्रारम्भ हो चुका है। स्नातकोत्तर डिप्लोमा कोर्स तो पहले से ही चल रहे है।

प्राचीन काल में वैद्य औषधि निर्माण स्वयं ही करता है, कहीं-कहीं आज भी ऐसा देखने में आता है। राजा की चिकित्सा के लिए राजभवन में ही औषधि निर्माणशाला हुआ करती थी। आधुनिक काल में अंग्रेजी फार्मेसी की तरह ही अंग्रेजों ने देश के विभिन्न भागों कलकत्ता, बम्बई आदि नगरों में फार्मेसी को स्थापित किया, जिनका कार्य औषधि बना कर विक्रय था। परन्तु बाद में धीरे-धीरे इनका लाभ देखकर विभिन्न रसायन शास्त्रों एवं पूँजीपतियों एवं समृद्ध वैद्यों ने भी इसमें पैसा लगाना शुरू कर दिया, जो एक अच्छे उद्योग के रूप में सामने आया। औषध निर्माणशाला भी आधुनिक स्वरूप में बदल गयी और उसमें उपयोग होने वाले उपकरण भी आधुनिक है। भट्टियों की जगह फरनेस ने ले ली है। इसी प्रकार अन्य विधियों का भी आधुनिकीकरण हो चुका है।

गुरूकुल कांगड़ी हरिद्वार, हिमालय, डाबर, वैद्यनाथ, धूपतापेश्वर, झंडू एवं ऊझां आदि फार्मेसियों की स्थापना तो आजादी के पूर्व की है, परन्तु आजादी के बाद भी अनेक कम्पनियाँ अस्तित्व में आयी है। जैसे- एमिल, मुरली फार्मा, अर्कशाला, आर्य वैद्यशाला आदि। इन फार्मेसियों द्वारा बनाई जाने वाली औषधियाँ न केवल भारत बल्कि अन्य देशों में निर्यात की जाती है जो देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करती है। प्राचीन काल से औषधियों की शुद्ध एवं विक्रय पर किसी न किसी रूप में राज्य का नियंत्रण रहा, आधुनिक काल में जब अंग्रेजी औषधियों की खपत बढ़ी और औषधि की शुद्धता और

मानक के अनुसार आपूर्ति की समस्या उत्पन्न हुई, तब १९३० में डा. रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में ड्रग इंक्वायरी कमेटी बनाई गयी। इसके प्रतिवेदन १९३१ में प्रकाशित हुआ। तभी से भारत में आधुनिक रूप में फार्मेसी युग का प्रारम्भ हुआ और इसका शिक्षण कार्य भी प्रारम्भ हो गया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में डा. महादेव लाल सर्राफ जो कि फार्मेसी शिक्षण एवं संगठन के जनक माने जाते है के नेतृत्व में फार्मेसी की स्थापना हुई।

केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् (C.C.I.M.) की स्थापना

स्वतन्त्रता से पूर्व आयुर्वेद की शिक्षण व्यवस्था सम्पूर्ण देश में अलग-अलग प्रकार से चलती थी, मुख्यतः शास्त्रीय पठन-पाठन ही था, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देशी चिकित्सा पद्धतियों की शिक्षा एवं चिकित्सा व्यवस्था में एकरूपता लाने, उनके बहुमुखी विकास एवं अनुसंधान में सितम्बर १९७१ को एक केन्द्रीय परिषद् का गठन हुआ, जिसे "केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्" कहा जाता है। सम्पूर्ण देश में एक ही पाठ्यक्रम लागू किया गया, शिक्षा एवं चिकित्सा को सुचारू रूप से संचालन हेतु मानदण्ड स्थापित किए गए, जो प्रत्येक आयुर्वेदिक कालेज को मान्य है। कालेजों में परिषद् द्वारा निर्धारित मानकों का परीक्षण करने के लिए समय-समय पर ३-३ सदस्यों की समिति को भेजा जाता है, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर संस्था की मान्यता स्थिर या समाप्त हो सकती है। परिषद् ही भारतीय चिकित्सा पद्धति के चिकित्सकों के पंजीकरण एवं अधिकारों की रक्षा करती है। शासन एवं चिकित्सकों की ओर से आए विभिन्न गतिरोधों का निराकरण करती है। परिषद् ने अपने क्रिया-कलापों को सुचारू से चलाने के लिए विभिन्न समितियों का गठन किया हुआ।

केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् की स्थापना (C.C.R.A.S.)

देशी चिकित्सा पद्धतियों में अनुसंधान को अधिक गति देने हेतु १९७८ में CCRAS की गठन किया गया। इससे पहले १९६९ में भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी के अनुसंधान हेतु परिषद् का गठन किया गया। यह इसी से निकली हुई एक शाखा है, जो मुख्यतः आयुर्वेद एवं सिद्ध पद्धति में अनुसंधान हेतु गठित की गई है। इस परिषद् का मुख्य उद्देश्य है चिकित्सा पद्धतियों के अनुसंधान, संदेहास्पद विषयों का स्पष्टीकरण, वाङ्गमय अनुसंधान, भैषज्य अनुसंधान, रोग निदान अनुसंधान, रोग चिकित्सा अनुसंधान, स्वस्थवृत सम्बन्धी अनुसंधान आदि सभी पहलुओं को वैज्ञानिक आधार देना। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय एवं क्षेत्रीय ईकाइयों का गठन किया गया है, जो सभी अपने क्षेत्र में कार्यरत है। परिषद् अनुसंधान सम्बन्धी क्रिया-कलाप जैसे भवन निर्माण, उसकी देखरेख, पुरस्कार, छात्रवृत्ति, अनुसंधान इकाइयों को आर्थिक सहायता तथा यात्रा सम्बन्धी व्यय

आदि परिषद् के ही है। अनुसंधान सम्बन्धी विभिन्न परियोजनाओं के संचालन हेतु सहायता प्रदान करना परिषद् का ही कार्य है। इस परिषद् ने कई औषधियों एवं रोगों पर अनुसंधान को प्रकाशित भी किया है।

राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ की स्थापना (RAV)

गुरु शिष्य परम्परा जो कि प्राचीन काल में प्रचलित थी, के द्वारा आयुर्वेदिक शास्त्रीय ज्ञानवर्धन हेतु ११ मई १९८८ में राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ (RAV) की स्थापना की गई। यह भारत सरकार के स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्तशासी निकाय है, जो सोसायटी पंजीकरण नियम १९६० के अन्तर्गत पंजीकृत है। यह संस्था धन्वन्तरि भवन मार्ग नं. ६६ पंजाबी बाग नई दिल्ली में स्थित है। यह संस्था अपने अनुभवी गुरुजनों में से जो मुख्य रूप से अवकाश प्राप्त होते हैं, को गुरु नियुक्त करती है और आयुर्वेद में स्नातकोत्तर योग्यता रखने वाले विद्वानों को एक लिखित और मौखिक परीक्षा द्वारा चयन करती है। कुछ वर्षों से स्नातकों को भी चयनित किया जाता है, जिनकी अर्हताएं अलग हैं। जो दो साल तक गुरु के सान्निध्य में रहकर शास्त्र ज्ञान अर्जित कर एक शोध प्रबन्ध भी लिखते हैं, इसके बाद लिखित एवं मौखिक परीक्षा पास कर इसके सदस्य बन जाते हैं। इसके लिए शिष्य को गुरु के सान्निध्य में रहना होता है और इस दो साल की अवधि के दौरान वे किसी अन्य व्यवसाय को नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें लगभग अब ९ हजार जो कि पहले २.५ हजार था, मानदेय सरकार की ओर से मिलता है। इस संस्था के मुख्य उद्देश्य आयुर्वेद ज्ञान को बढ़ाना, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आयुर्वेद का शिक्षण कार्य चलाना, विभिन्न कार्यशालाएं एवं संगोष्ठियाँ आयोजित करना, आयुर्वेदीय शिक्षा उन्नयन हेतु महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों से सम्पर्क बनाना, पुरस्कार, छात्रवृत्ति एवं अनुसंधान हेतु अनुदान की व्यवस्था करना आदि। इस संस्था को चलाने वाले सदस्यों में कुछ सरकारी तथा कुछ गैर सरकारी होते है। पद्‌म भूषण वैद्यराज वृहस्पतिदेव त्रिगुण इसके अध्यक्ष है वैद्य सुरेन्द्र कुमार शर्मा, आयुर्वेद सलाहकार भारत सरकार, इसके प्रथम निदेशक थे, सम्प्रति वैद्य वी.वी. प्रसाद इसके निदेशक हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार

विज्ञान को सीमाओं में नहीं बाधा जा सकता। वह किसी देश, जाति या धर्म का नहीं होता, परन्तु फिर भी हर विद्या की कोई न कोई जन्मस्थली/मातृभूमि अवश्य होती है। आयुर्वेद भारतीय परम्परा की धरोहर है। यह विश्व की सबसे पुरानी चिकित्सा पद्धति माना जाता है। सुश्रुत संहिता में यहाँ तक लिखा है कि परमब्रह्म परमेश्वर ने सृष्टि की रचना से पहले ही आयुर्वेद का उपदेश दिया है, इसीलिए इसे अनादि, शाश्वत और सार्वभौमिक

माना जाता है। जहाँ तक बात है आयुर्वेद के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार की है, अत्यन्त प्राचीन काल से ही इसका सम्बन्ध संसार के विभिन्न भागों से रहा है। संहिता काल में जिन परिषद्‌ों का उल्लेख है, उनमें विभिन्न देशों से आए विभिन्न विद्वानों का वर्णन मिलता हैं, जो इसके सार्वभौमिक प्रभाव को दर्शाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का जनक हिप्पोक्रेट्स इससे भलीभाँति प्रभावित थे, जो उसके सभी सिद्धान्तों से मिलते-जुलते है। विश्व विजेता का स्वप्न देखने वाला सिकन्दर जिसने भारत भूमि पर आकर ही पराजय का मुख देखा, अनेक भारतीय विद्वानों को अपने साथ ले गया और उसके समय में अनेक विद्वान विदेशों से भारत आए। मध्य काल में विभिन्न आक्रमणों के कारण अन्य देशों की सभ्यताओं ने आयुर्वेद को प्रभावित किया है। यह सर्वविदित है ऐसे अनेक प्रकरण मिलते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि मध्य काल में भी आयुर्वेद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसारित था। फिरंग रोग, चोपचीनी का प्रयोग, नाड़ी विज्ञान, जिस पर कि विद्वानों में मतभेद है, का आयुर्वेद में आगमन मध्य काल में ही माना जाता है।

आधुनिक काल में वैश्वीकरण के युग में आयुर्वेद ने भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी विशेष स्थान बनाया है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति के दुष्परिणामों के कारण पूरा विश्व आयुर्वेद की ओर आकृष्ट हुआ है, यही कारण है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसे पारम्परिक चिकित्सा के रूप में मान्यता दी है और विदेशों में वैकल्पिक चिकित्सा के रूप में उभर रहा है। अमेरिका, रूस, जर्मनी, जापान आदि अनेक विकसित देशों में आयुर्वेद के विद्यालय खुल रहे हैं। अनेक भारतीय विद्वान विदेशों में जाकर आयुर्वेद पढ़ा रहे है और बहुत से विदेशी भारत आकर पढ़ रहे है। भारत के निकटवर्ती देश भूटान, चीन, श्रीलंका, नेपाल, मलेशिया, बंगलादेश, मारिशस आदि देशों में तो पहले से ही आयुर्वेद का पठन-पाठन एवं चिकित्सा व्यवसाय होता है। अनेक आयुर्वेदिक औषधियों की विदेशी बाजार में खपत है। विकसित देशों में भी कास्मेटिक एवं पूरक आहार के रूप में आयुर्वेद को अपनाया जा रहा है, विभिन्न देशों में समय-समय पर सेमिनार आदि आयोजित किये जाते है, जिनमें अनेक भारतीय आयुर्वेद विद्वान भाग लेते है और भारत में होने वाले कार्यक्रमों में भी अनेक विदेशी हिस्सा लेने आते है और काफी कुछ देखने व सीखने के इच्छुक नजर आते है। अनेक देशों में आयुर्वेदीय औषधियों की खेती एवं अनुसंधान पर सरकार काफी धन खर्च कर रही है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन में आयुर्वेद

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान पर अथाह धन खर्च करने और सभी साधन जुटाने के बाद भी न केवल भारत में बल्कि सम्पूर्ण विश्व में स्वास्थ्य समस्या से छुटकारा नहीं मिला है। यही कारण है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन को इसका विकल्प सोचने पर मजबूर होना

पड़ा है, जिसका परिणाम यह है कि उसने आयुर्वेद को पारम्परिक चिकित्सा के रूप में मान्यता दी है। आयुर्वेद को भारत के अलावा अन्य देशों में स्थापित करने में विश्व स्वास्थ्य संगठन विशेष भूमिका निभा रहा है। यह अनुसंधान के लिए धन की व्यवस्था करता है, आयुर्वेद की क्षारसूत्र चिकित्सा पद्धति जिसका विकास मुख्य रूप से का.हि.वि.वि. से हुआ है, को विश्व स्वास्थ्य संगठन में मान्यता प्रदान की है। स्थानीय स्तर पर प्रयुक्त होने वाले विभिन्न औषधि एवं जड़ी-बूटियाँ द्रव्य जिनका उल्लेख संहिताओं में है या नहीं, परन्तु उनका प्रयोग प्रमाणित है, को पारम्परिक ज्ञान के रूप में मान्यता प्रदान करने का प्रावधान विश्व स्वास्थ्य संगठन ने किया है।

भविष्य में आयुर्वेद की उन्नति हेतु कुछ योजनाएँ

जैसा कि पिछले कुछ दशकों में देखने में आया है कि आयुर्वेद को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काफी महत्व दिया जा रहा है। इसके विकास एवं प्रगति में बाधक मुख्य रूप से दो बातें सामने आती है, एक तो इसके सिद्धान्तों की आधुनिक परिवेश में व्यवहारिक उपादेयता और दूसरा औषधियों का युगानुरूप पूर्णरूपेण मानकीकरण न हो पाना। दोनों ही परेशानियों का कारण क्रमशः सिद्धान्तों का आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी के द्वारा पूर्ण रूप से सामंजस्य न हो पाना और औषध निर्माण में शास्त्रीय विधियों का अत्यधिक जटिल होना। इनके अतिरिक्त भी आयुर्वेद के प्रगति हेतु यदि निम्न बिन्दुओं पर गहराई से सोच विचार कर योजनाएं बनाई जाएँ और उन्हें क्रियान्वित किया जाए, तो काफी हद तक सफलता मिलेगी और आयुर्वेद भी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के समकक्ष खड़ा होगा।

शिक्षा योजना

इसके तीन स्तर होने चाहिए एक विद्यालय स्तर पर, दूसरा स्नातक स्तर पर तथा स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसंधान स्तर पर।

विद्यालय शिक्षा स्तर का तात्पर्य यहाँ यह है कि आधुनिक विज्ञान के समान स्कूली पढ़ाई के स्तर पर आयुर्वेद का मौलिक ज्ञान विद्यार्थियों को दिया जाए, ताकि स्नातकीय स्तर पर आते-आते उनके मस्तिष्क में आयुर्वेद का कुछ सैद्धान्तिक ज्ञान उन्हें अवश्य हो। व्यवहारिक रूप में देखा जाता है कि विद्यार्थी जब कालेज में आता है, तो पंचमहाभूत, त्रिदोष एवं त्रिगुण जैसे शब्द उनके लिए नये ही नहीं, अपितु विचित्र प्रतीत होते है, जिन्हें उनके मस्तिष्क में उतरना या उतारना आसान नहीं होता, उनका मौलिक शिक्षा स्तर विज्ञान एवं तकनीकी होता है, विज्ञान एवं कम्प्यूटर की भाषा विद्यार्थी तुरन्त और आसानी से समझ जाता है, क्योंकि शुरू से ही वह उसे पढ़ता एवं समझता आ रहा है। उदाहरण स्वरूप

कोशिका को उसने कभी देखा नहीं होता, परन्तु फिर भी उसके विषय से उसे सब ज्ञान रहता है, उसे वह पढ़ाया जाता है, समझाया जाता है, परन्तु आयुर्वेद के विषय में ऐसा नहीं होता है। अतः विद्यार्थी उसके प्रति उदासीन हो जाता है और विषय को आत्मसात करने के जगह उसे भार स्वरूप ढोता है तथा केवल पास होने मात्र के लिए पढ़ता है। अतः स्कूल स्तर पर ही इसका मौलिक ज्ञान आधुनिक विज्ञान के समान दिया जाना चाहिए। आज के समय में तो इसकी व्यवहारिकता और बढ़ जाती है, जबकि वातावरण एवं मनुष्य के बीच समन्वय विगड़ रहा है, जिसका कि ज्ञान विद्यार्थियों को दिया जाता है परन्तु आध ुनिक ज्ञान एवं मानकें के आधार पर।

स्नातक स्तर

केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् का गठन हो जाने के पश्चात् भी आयुर्वेद के स्नातक स्तरीय शिक्षा में देश के अलग-अलग भागों में बहुत अन्तर है, यह सर्वविदित है। अतः स्नातक स्तर की शिक्षा में सुधार एवं परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है। आयुर्वेद विद्यालय का संचालन नियमित एवं सुचारू रूप से होना चाहिए और उसे राज्य मान्यता उसी प्रकार मिलनी चाहिए और जिस प्रकार राज्य मेडिकल कालेजों की होती है। हाँलाकि स्वतन्त्रता के पश्चात् परिस्थितियों में अत्यन्त बदलाव आया है। विद्यार्थियों के लिए वे सभी साधन उपलब्ध हो, जो आज के किसी विज्ञान के विद्यार्थी के लिए है, जिसमें कम्प्यूटर, इंटरनेट, अध्ययन कक्ष का आधुनिक स्वरूप, जिसमें न केवल आयुर्वेद बल्कि सभी विद्याओं का ज्ञान विद्यार्थियों को दिया जाए। वे कूपमंडूक बन कर न रह जाए। आज समन्वयात्मक शिक्षा का युग है। आयुर्वेद में हजारों वर्ष पूर्व ही कहा गया है कि एक विषय का ज्ञाता विद्वान नहीं होता, वाङ्गमय का नवीन एवं पूर्ण भण्डार विद्यार्थियों के लिए होना चाहिए। पाठ्यक्रम जो कई वर्षों से ऐसे ही चल रहे हैं, युगानुरूप उनमें बदलाव होने चाहिये। आखिरी के साल में एक साल की जो आतुरालय प्रशिक्षण होता है, उसमें विद्यार्थी की क्रियाकारी इतना ज्ञान आवश्यक हो जाना चाहिए कि यदि स्नातक स्तर के बाद ही वह चिकित्सा व्यवसाय में जाए या जाना पड़ जाये, तो वैज्ञानिक रीति से समाज की सेवा कर अपनी आजीविका कमा सके, इसके अन्तर्गत उसे क्षारकर्म, अग्निकर्म, जलौका, पंचकर्म एवं औषधि निर्माण का इतना ज्ञान अवश्य हो जाए कि चिकित्सा करते समय किसी प्रकार का उपद्रव उत्पन्न न हो, ताकि समाज में आयुर्वेद व उसके स्नातक की प्रतिष्ठा बनी रहे और स्नातक को भी प्रशासन की ओर से निर्देश दिया जाय कि वह अपनी सीमा में रह कर ही चिकित्सा व्यवसाय करे। स्नातक स्तर की शिक्षा एवं प्रशिक्षण में विद्यार्थी, (स्नातक) को इतना ज्ञान अवश्य हो जाए कि किस रोगी की चिकित्सा उसे करनी चाहिए और किसकी नहीं।

स्नातकोत्तर शिक्षण और अनुसंधान

आज का युग विज्ञान एवं तकनीकी का युग है, विज्ञान की कसौटी पर जो खरा उतरता, समाज उसी को मानता है। प्राचीन काल का आप्त वचन को मानने की परम्परा प्रायः समाप्त सी हो गयी है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आयुर्वेद वैज्ञानिक नहीं, क्योंकि हजारों सालों से मानव जाति की सेवा करता आ रहा है, बल्कि कारण यह है कि आधुनिक युग की यह अवधारणा है कि वही विज्ञान महत्वपूर्ण होता है जिसमें दिन प्रतिदिन अनुसंधान होता है और नवीन विचार एवं उपलब्धियाँ हासिल होती है, समाज को लाभ होता है। इसलिए आयुर्वेद व्यवहारिक होने के साथ-साथ समाज से जुड़ा होने के कारण इसमें अनुसंधान की आवश्यकता है। इसके हर क्षेत्र में अनुसंधान एवं नवीनीकरण की आवश्यकता है, यही कारण है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् गठित प्रथम कमेटी ने इन्हीं बातों पर विशेष बल दिया। इस दिशा में बहुत प्रयास भी हुआ है, परन्तु जितना आवश्यक एवं अपेक्षित है, उतना नहीं। उसका सबसे बड़ा प्रधान कारण है आधुनिक विज्ञान एवं आयुर्वेद के सिद्धान्तों की नितान्त भिन्नता। अतः आधुनिक तकनीक इसमें बहुत अधिक सहायता नहीं कर पाती, दूसरे जो गौण रूप में कारण नजर आते हैं, धनाभाव, साधनहीनता एवं विशेषज्ञों की उदासीनता एक सफल अनुसंधानकर्ता के अन्दर वही गुण होने चाहिए, जो आयुर्वेद में आप्त पुरुष के लक्षण कहे गये है। अतः आयुर्वेद के अनुसंधान के लिए न केवल आयुर्वेद विशेषज्ञ बल्कि अन्य विधाओं के विद्वानों का भी सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। अनुसंधान के लिए आवश्यक है कि स्नातकोत्तर प्रशिक्षण उत्तम हो। स्नातकोत्तर शिक्षण में आवश्यक है कि विषय विशेष के सभी पहलुओं पर गंभीरता से विचार हो, गूढ़ रहस्यों का व्यवहारिक चिन्तन हो और उपलब्ध तकनीक का प्रयोग कर विषय को व्यवहारिक बनाया जाय। स्नातकोत्तर शिक्षण का स्वरूप विवेचनात्मक, आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक होना चाहिए। ग्रन्थों की मौलिक भाषा संस्कृत होने से स्नातक एवं स्नातकोत्तर दोनों ही विद्यार्थियों के लिए विषय गूढ़ होता है, कई शब्दों के तात्पर्य इतने क्लिष्ट एवं रहस्यपूर्ण होते हैं कि उन पर अनुसंधान किया जा सकता है। समझ में न आने की वजह से उसे छोड़ दिया जाता है, वह केवल परीक्षा पास कर लेने मात्र के लिए रह जाता है। अतः स्नातकोत्तर शिक्षण एवं प्रशिक्षण में छात्र एवं अध्यापक दोनों आयुर्वेद में रूचि श्रद्धा एवं विश्वास रखने वाले हो, दक्ष कुशल एवं सिद्धहस्त हो, जिसका कि व्यवहार में अभाव देखा जाता है, तभी आयुर्वेद का सर्वांगीण विकास हो सकता है और वह पुनः खोए हुए गौरव को प्राप्त कर सकता है।

स्वास्थ्य रक्षक योजना

स्वास्थ्य रक्षक योजना भी इस प्रकार की हो, जो आम आदमी को लाभान्वित करे। इसका प्रचार एवं प्रसार के लिए इसे विद्यालय स्तर की शिक्षा में भी सम्मिलित करना

चाहिए। स्कूलों से ही स्वास्थ्य रक्षा पाठ के अन्तर्गत सद्वृत्त, स्वस्थ्यवृत्त जैसे दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या तथा जनपदोध्वंस जैसे विषयों को विद्यार्थियों से अवगत कराना चाहिए, तभी समाज में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता बढ़ेगी। आज वातावरण के सम्बन्धी विषयों का अध्ययन विद्यालय स्तर से कराया जाता है, ताकि बच्चे आने वाले कल के परिणामों से अवगत रहे। आयुर्वेद तो भारतवर्ष की संस्कृति में घर-घर में समाया हुआ है। आवश्यकता है केवल पुर्नजागरण की, क्योंकि आधुनिकता के कारण वह प्रायः घरेलू स्तर लुप्त सा होने लगा है। हमारी दादी एवं नानियाँ छोटे-छोटे रोगों का इलाज घरेलू उपचार से ही कर लिया करती थी, हर मामूली रोग के लिए आज के समान चिकित्सकों के पास नहीं दौड़ना पड़ता था। क्या खाना है क्या नहीं है, कब खाना चाहिए, कब नहीं, मौसम के अनुसार क्या हितकर होता है, क्या अहितकर यह सब ज्ञान उन्हें था। आयुर्वेद के प्रति आकर्षण नई पीढ़ी में भी है। किसी कास्मेटिक क्रीम या साबुन के साथ यदि आयुर्वेद या नेचुरल शब्द लग जाता है, तो युवक-युवतियों को विशेष लुभाता है। अतः इसकी शिक्षा बाल्यकाल से देनी चाहिए, ताकि बाल्यावस्था से ही व्यक्ति के मन में आयुर्वेद के प्रति विश्वास एवं आकर्षण उत्पन्न हो। स्नातकीय स्तर पर इस विषय की समुचित शिक्षा का प्रबन्ध आयुर्वेद विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में होने चाहिए। प्रत्येक जनपद में आधुनिक स्वास्थ्य केन्द्र के साथ-साथ आयुर्वेद का भी स्वास्थ्य केन्द्र होना चाहिए। विद्यार्थियों को स्वास्थ्य रक्षण हेतु सिद्धान्तों के व्यवहारित स्वरूप का ज्ञान कराना चाहिए, ताकि जब वे चिकित्सा व्यवसाय में आए, तो उस ज्ञान का उपयोग कर सकें। जैसे दिनचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त तथा रसायन प्रयोग आदि हर आधुनिक चिकित्सालय में आधुनिक रक्षणात्मक विधियों के साथ-साथ आयुर्वेदिक विधियों का भी प्रचार-प्रसार होना चाहिए।

चिकित्सकीय स्तर पर योजनाएं

विषय वस्तु को समझने के लिए चाहे विद्यार्थी शुद्ध पद्धति से अध्ययन करे या समन्वयात्मक, परन्तु चिकित्सार्थ पूर्ण आयुर्वेद पद्धति का सहारा लेना चाहिए। तभी आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को बढ़ावा मिलेगा। प्रत्येक जिले में आधुनिक के समान आयुर्वेदिक चिकित्सालय भी होना चाहिए। ताकि रोगी आवश्यकतानुसार चिकित्सा सेवा प्राप्त कर सके, इसी के साथ-साथ इनके रख-रखाव एवं संचालन की जिम्मेदारी आयुर्वेदिक विशेषज्ञों के अधिकार में होना चाहिए। यदि गाँव, कस्बे आदि में कोई व्यक्ति या स्नातक स्तर का चिकित्सा व्यवसायी आयुर्वेदिक विधियों से चिकित्सा करता है, तो उसे निपुण एवं सक्षम बनाने के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए तथा यदि आवश्यक हो, तो आर्थिक सहायता भी प्रदान कर जनता की सेवा के लिए अधिक उपयोगी बनाना चाहिए। प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय चिकित्सा की व्यवस्था हो, जहाँ पर विशिष्ट चिकित्साएं जैसे

पंचकर्म, क्षारकर्म, जलौका, अग्निकर्म आदि का प्रबन्ध हो, तभी आयुर्वेद को पुनः जनमानस तक स्थापित किया जा सकता है।

औषधि संग्रह संरक्षण की व्यवस्था

प्रत्येक आयुर्वेदिक औषधालय के साथ ही उसकी फार्मेसी भी स्थापित होनी चाहिए, जहाँ रोगियों को दवा सस्ती एवं सुलभता से प्राप्त हो सके। फार्मेसियों में दवा का निर्माण शास्त्रीय विधि से हो। काष्ठौधियों का कच्चा माल पूर्ण गुण युक्त हो और औषधि निर्माण के पश्चात् उनके रख-रखाव की पूर्ण आधुनिक सुविधा हो, ताकि वे खराब न हो। औषधि के निर्माण में शास्त्रीय विधियों का ध्यान रखा जाए अन्यथा वे घातक सिद्ध हो सकती है। जैसे कि समाज में उनके प्रति भ्रान्तियाँ प्रचलित है और समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ उन भ्रान्तियों को और भी मजबूत कर देती है, जैसा कि हाल में सन् २००५ में अमेरिकन जर्नल में प्रकाशित लेख ने पूरी दुनियाँ में आयुर्वेद की दवाओं के प्रति संशय की स्थिति पैदा कर दी थी। कुछ दवाइयाँ छोटे स्तर की इकाइयों द्वारा बनाई जा सकती है। जैसे तेल, अवलेह, लेप एवं अंजन आदि, जिनको पुनः फार्मेसी में मानकीकरण करके बाजार में भेजा जाए। सबसे महत्वपूर्ण बात आजकल दवाओं के स्वरूप और पैकिंग की है। कोशिश हो औषधियों का स्वरूप और पैकिंग आधुनिक औषधियों के समान वैज्ञानिक और सुरक्षित हो। प्रत्येक पर औषधि बनने और पैक होने की तिथि, प्रयोग अवधि, घातक परिणाम एवं निर्देशित रोगों का विवरण होना चाहिए।

साहित्य की उपलब्धता

विदेशी आक्रमणों के कारण आयुर्वेद का बहुत सारा साहित्य नष्ट हो चुका। साथ ही मध्य काल में टीकाओं के अलावा नवीन साहित्य सृजन भी बहुत कम हुआ है। अतः ऐसा साहित्य जो लुप्त हो चुका है उसका अन्य माध्यमों से संग्रह करना चाहिए। दिन प्रतिदिन जो अनुसंधान हो रहे हैं, सभी आयुर्वेद विशेषज्ञों को साहित्य के आधार से उससे अवगत कराना चाहिए। क्षेत्रीय स्तर पर प्रचलित विभिन्न चिकित्सा विधियों जैसे साँप, बिच्छू के काटने पर मंत्र व जड़ी-बूटी का वैज्ञानिक विश्लेषण कर उसे उपलब्ध साहित्य से जोड़ना चाहिए। कामला एवं सूखा रोग आदि में आज भी ऐसा देखा जाता है कि जड़ी बूटियों को धारण करने से ठीक हो जाता है। इनके वैज्ञानिक रहस्य को उजागर कर प्रकाशित करना चाहिए, क्योंकि बिना कारण कोई कार्य नहीं होता है। यह कार्य-कारण सिद्धान्त से पूर्ण सिद्ध है। अतः जो विज्ञान जितना उन्नत होगा, उसका साहित्य भी उतना ही उन्नत होगा। सम्पूर्ण आयुर्वेद साहित्य का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो, जो काफी हद तक हो चुका। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि के संहिताओं का हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद जिसमें आचार्य

गुरुवर प्रियव्रत शर्मा जी का भागीरथी प्रयास है। चक्रपाणि का हिन्दी अनुवाद चुका है, जिसका प्रथम श्रेय डा. हरिश्चन्द्र कुशवाहा, झांसी को जाता है।

इस प्रकार अतीत, वर्तमान और भविष्य को ध्यान में रखते हुए सरकार और आयुर्वेद जगत् में कार्यरत विद्वान जिस भी स्तर पर हो, विभिन्न योजनाओं के तहत यदि कार्य करते हैं, तो इसमें कोई संदेह नहीं, कि आयुर्वेद पुनः अपने आपको न केवल भारत बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक सक्षम चिकित्सा पद्धति के रूप में स्थापित करने में सफल होगा।

एकोनचत्वारिंशोऽध्याय

आयुर्वेद का विकास क्रम

ब्रिटिश शासन के समय जब पाश्चात्य चिकित्सा प्रभावी हुई, तब आयुर्वेद पद्धति द्वितीय स्तर की विकल्प चिकित्सा के रूप में पारम्परिक चिकित्सकों और गरीबों द्वारा स्वीकृत होकर जीवित रही है तथा मानव समाज की सेवा करती रही।

आज देश को स्वतंत्र हुए ६० वर्ष हो जाने पर भी आयुर्वेद की जितनी प्रगति होनी चाहिए थी, उतनी प्रगति नहीं हो पायी। १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समन्वय पर जोर दिया गया। दोनों पद्धतियों को मिलाकर एक राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति बनाने पर भी विचार किया गया तथा अनेक राज्यों में आयुर्वेद के विकास के लिए योजनाएं बननी प्रारम्भ हुई। इस समन्वय युग में लेखकों को पाठ्यग्रन्थ समन्वयात्मक प्रणाली पर लिखने के लिए प्रेरित किया गया तथा चिकित्सकों ने भी आधुनिक विज्ञान पर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया।

डॉ. रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में जनवरी १९४७ में भारत सरकार ने चोपड़ा कमेटी का गठन किया था। जुलाई १९४८ में इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें इस कमेटी ने आयुर्वेद को समन्वयात्मक ढंग से विकसित करने का सुझाव दिया। इस कमेटी ने स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसंधान की संस्तुति की।

गोहाटी तथा पुरी में १९४८ में आयुर्वेदिक कॉलेज खुला तथा पटियाला में १९५२ में आयुर्वेदिक कॉलेज का प्रारम्भ हुआ। १९४९ से किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज लखनऊ में आयुर्वेद का अध्यापन प्रारम्भ हुआ तथा सन् १९५४ में राजकीय आयुर्वेदिक कॉलेज लखनऊ की स्थापना हुई।

चोपड़ा कमेटी के सुझावों को मूर्त रूप देने के लिए भारत सरकार ने १९४९ में डॉ. सी.जी. पण्डित (निदेशक भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद्) की अध्यक्षता में पण्डित कमेटी का गठन किया। इस कमेटी के सुझाव से १९५२ में जामनगर में केन्द्रीय देशी चिकित्सा अनुसंधान केन्द्र की स्थापना हुई। जिसके निदेशक डॉ. प्राण जीवन मेहता थे। इस कमेटी के अनुसार आयुर्वेदिक कॉलेजों की प्रवेश योग्यता की इण्टर और पाठ्यक्रम पाँच वर्षो का निर्धारित किया गया।

मिश्र पद्धति के समर्थक आचार्य यादवजी, डा. गणनाथ सेन, कैप्टेन श्री निवास मूर्ति आदि थे। पण्डित कमेटी ने १९४८ में इन कॉलेजों के स्तर तथा प्रवेश योग्यता आदि में वृद्धि करने का समर्थन किया। धीरे-धीरे पाठ्यक्रम में आधुनिक विज्ञान की वृद्धि तथा आयुर्वेद का क्षेत्र घटता गया। वैद्यों के एक वर्ग ने मिश्र पद्धति का विरोध किया तथा शुद्ध आयुर्वेद का समर्थन करने लगा। जिसके फलस्वरूप १९५२ में महाराष्ट्र सरकार के

तत्वावधान में वैद्यों ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया था, जो अनेक संस्थाओं में पाठ्यक्रम के रूप में लागू किया गया।

आयुर्वेदिक शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करने के लिए दयाशंकर त्रिकमजी दवे की अध्यक्षता में दवे कमेटी १९५५ में गठित हुई। इस कमेटी की सिफारिशों के अनुसार इण्डियन मेडिकल कॉन्सिल होनी चाहिए तथा एक रूप शिक्षाक्रम साढ़े पाँच वर्षों का हो, प्रारम्भिक योग्यता इण्टर साइंस के साथ-साथ संस्कृत का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रत्येक राज्य में व्यवसाय और शिक्षा के नियंत्रण के लिए बोर्ड की स्थापना होनी चाहिए। केन्द्र और राज्यों में स्वतंत्र निदेशालय स्थापित होने चाहिए।

जुलाई १९५६ में जामनगर में आयुर्वेद के प्रथम स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्र की स्थापना हुई। आचार्य यादवजी इसके प्राचार्य नियुक्त हुए। इस केन्द्र में स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अनुसंधान प्रारम्भ हुआ। जुलाई १९५८ में देश में आयुर्वेद की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए डॉ. के.एन. उडुप्पा की अध्यक्षता में उडुप्पा कमेटी गठित हुई। इस कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा सेवा का अंग एवं केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से पूर्ण मान्यता मिलनी चाहिए। मिश्रित एवं शुद्ध दोनों पाठ्यक्रम साथ-साथ चलने चाहिए। सभी आयुर्वेद विद्यालय विश्वविद्यालयों से संबंद्ध हो, जिनमें अलग आयुर्वेद की फैकल्टी होनी चाहिए। वाराणसी, पूना और त्रिवेन्द्रम् में स्नातकोत्तर शिक्षण केन्द्र स्थापित किये जाने चाहिए, जिनमें तीन वर्षों का पाठ्यक्रम हो। प्रत्येक राज्य में एक संस्था में स्नातकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। प्राच्य विद्या संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद शास्त्राचार्य की पढ़ाई पहले से होती थी, किन्तु सन् १९२७ में विधिवत आयुर्वेदिक कॉलेज प्रारम्भ हुआ। १९६३ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कॉलेज जो भारत का प्रथम विश्वविद्यालय स्थित आयुर्वेद संस्था तथा सर्वोत्तम महाविद्यालय था, बन्द कर दिया गया। उसके स्थान पर कॉलेज आफ मेडिकल साइन्सेज की स्थापना हुई।

१९-२० जुलाई १९६० को योजना आयोग के द्वारा पैनल आन आयुर्वेद की बैठक योजना मंत्री गुलजारी लाल नन्दा की अध्यक्षता में हुई, जिसमें चारवर्षीय शुद्ध आयुर्वेद का डिप्लोमा कोर्स चलाने का सुझाव दिया गया। सन् १९६२ में महाबलेश्वर में केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने का निर्णय लिया, इसके लिए गुजरात के स्वास्थ्य मंत्री मोहन लाल व्यास की अध्यक्षता में शुद्ध आयुर्वेद शिक्षा समिति जनवरी १९६३ में गठित की गयी। पं. शिवशर्मा इसके सचिव थे। समिति ने शुद्ध आयुर्वेद का पाठ्यक्रम एवं रिपोर्ट भारत सरकार को दी, जो स्वीकृति के बाद सभी राज्यों में लागू करने के लिए भेजी गयी। संस्थाओं में साधनों की कमी एवं ग्रन्थ प्रधान शास्त्रीय अध्ययन-अध्यापन के कारण छात्रों में असंतोष उत्पन्न होने लगा। इसके कारण शुद्ध आयुर्वेद भी

सफल नहीं हो सका। दूसरी तरफ सन् १९६३ में बी.एच.यू. में आयुर्वेद का स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान केन्द्र की स्थापना तथा उडुप्पा कमेटी के की संस्तुति के अनुसार केन्द्र में एक केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसंधान परिषद की स्थापना हुई। कहीं पर मिश्र पद्धति और कहीं पर शुद्ध आयुर्वेद की संस्थायें चलती रही। देश भर में ऐसे अनेक अनुसंधान केन्द्रों की स्थापना हुई। आयुर्वेद के इन केन्द्रों में द्रव्य चिकित्सा तथा वाङ्मयात्मक अनुसंधान हो रहे है। विभिन्न औषधियों के मानकीकरण के लिए भी कार्य चल रहे है। सन् १९९९-२००० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में आयुर्वेद संकाय के अन्तर्गत बी.ए.एम.एस. पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुआ।

सन् १९६४ में "भारतीय औषधि विषयक ड्रग एवं कास्मेटिक एक्ट १९४०" का विधेयक जारी हुआ। १९६४-६५ में केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध शिक्षा समिति की स्थापना हुई। आयुर्वेद एवं होम्योपैथिक औषधियों के लिए १९६९ में एक सर्वोच्च अनुसंधान संस्था, केन्द्रीय आयुर्वेद एवं होम्यापैथी परिषद् की स्थापना हुई। १९७० में आयुर्वेदिक औषधियों के लिए गाजियाबाद में फार्मेकोपिया प्रयोगशाला की स्थापना हुई।

अधिकांश राज्यों में बोर्ड या आयुर्वेद फैकल्टी के द्वारा आयुर्वेद की परीक्षाओं की व्यवस्था हो चुकी थी, परन्तु आयुर्वेद की उपाधि एवं पाठ्यक्रम में एकरूपता नहीं थी। गुजरात में ५ जनवरी १९६९ को आयुर्वेद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। १९७० में संसद द्वारा इण्डियन मेडिसिन सेण्ट्रल कॉन्सिल एक्ट पारित हुआ, जिसको भारतीय चिकित्सा पद्धतियों में शिक्षा एवं व्यवसाय कार्य नियंत्रण की जिम्मेदारी सौपीं गयी। ७२ मनोनीत सदस्यों की केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् १ सितम्बर १९७१ को बनाई गयी। इसके द्वारा एक पाठ्यक्रम बनाकर देश भर में लागू करने की व्यवस्था की गई। इस परिषद् के प्रथम सभापति पं. शिवशर्मा, एवं प्रथम सचिव शिव कुमार मिश्र बने। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् संस्थाओं के संचालन के लिए मानक बनाती है। जिसका पालन करना प्रत्येक संस्था के लिए अनिवार्य है। विद्यालयों में इन मानकों के निरीक्षण के लिए ३-३ सदस्यों का एक पैनल भेजा जाता है, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर ही परिषद् द्वारा संस्था को मान्यता मिलती है।

१९७२-७३ में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान की स्थापना जयपुर में हुई। १९७६ में ४४४ आयुर्वेदिक योगों के प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ। १९७८ में केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद् (सी.सी.आर.ए.एस.) की दिल्ली में स्थापना हुई। सी.सी.आर.ए.एस. के अन्तर्गत ६ केन्द्रीय अनुसंधान संस्थान, ८ क्षेत्रीय अनुसंधान संस्थान, १० क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र है। केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद् अनुसंधान इकाइयों एवं शोध कार्यो के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करती है तथा परिषद् के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पुस्तकों एवं पोस्टर आदि का प्रकाशन करती है। यह परिषद् शोध कार्य के लिए

छात्रवृत्ति प्रदान करती है। लखनऊ स्थित केन्द्रीय औषधीय अनुसंधान संस्थान भी आयुर्वेदिक औषधियों पर कार्य कर रहा है। इस संस्थान ने गुग्गुलु से मेदोहर प्रभाव की औषधि तैयार की है। सी.सी.आर.ए.एस. का आई.सी.एम. आर. के साथ कई वर्षों से आर.सी.एच. पर कार्य चल रहा है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए औषधि बनाकर ५ प्रान्तों में प्रत्येक प्रान्त के २ जिले की २ प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर यह योजना लागू होने वाली है।

१९८२ में आयुर्वेदिक औषधियों के आयात-निर्यात को नियंत्रित करने के लिए ड्रग एवं कास्मेटिक अधिनियम पारित हुआ। १९८३ में उत्तरांचल राज्य के अल्मोड़ा जिले के मोहान नामक स्थान पर इण्डियन मेडिसिन फार्मास्युटिकल कार्पोरेशन लिमिटेड प्रारम्भ हुई। ११ फरवरी १९८८ में राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ की स्थापना की गई। राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ भारत सरकार के स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्तशासी संस्था है। इस विद्यापीठ की स्थापना गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा आयुर्वेद ज्ञान की वृद्धि के उद्देश्य से की गई है। इसमें ५-५ विद्यार्थी गुरुओं के पास दो एवं एक वर्ष के लिए अध्ययनार्थ जाते है । क्रमशः स्नातकोत्तर उपाधिधारी एवं आयुर्वेद के स्नातक इसके प्रत्याशी बन सकते है। दो वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर शोध प्रवन्ध तथा परीक्षा उत्तीर्ण करने पर विद्यापीठ की सदस्यता प्रदान की जाती है। विद्यापीठ के नियमों के अन्तर्गत गुरु एवं शिष्य को प्रतिमाह मानदेय दिया जाता है। राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ प्रतिवर्ष आयुर्वेद के विभिन्न विषयों पर संगोष्ठी या कार्यशाला आयोजित करती है। विद्यापीठ के द्वारा नाड़ी विज्ञान, क्षारसूत्र, वृक्क रोग, हृदय रोग आदि पर संगोष्ठी एवं कार्यशाला क्षारसूत्र चिकित्सा, द्रव्य गुण एवं मातृ शिशु परिचर्या पर ग्रन्थ प्रकाशित किए गए है। २९-३० नवम्बर २००५ में विश्व स्वास्थ्य संगठन के द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ तथा प्रसूति स्त्री एवं कौमारभृत्य पर पारस्परिक ज्ञानवर्धन के लिए एक कार्यशाला आयोजित की गई।

केन्द्रीय योजना के अन्तर्गत राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय हैदराबाद, पटना, अहमदाबाद, बंगलौर, मैसूर, त्रिवेन्द्रम्, ग्वालियर, मुम्बई, पटियाला, लखनऊ, ऋषिकुल हरिद्वार, पीलीभीत, कलकत्ता, पुरी, पपरौला कन्नूर, हासन, पूना, नागपुर आदि विद्यालयों में स्नातकोत्तर शिक्षण की व्यवस्था की गई है।

बी.एच.यू., राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान जयपुर, जामनगर आयुर्वेद विश्वविद्यालय (गुजरात) में लगभग आयुर्वेद के सभी विषयों में स्नातकोत्तर एवं आयुर्वेद वाचस्पति शिक्षण की व्यवस्था है।

सन् २००३ में राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय की स्थापना जोधपुर में हुई, इस विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति प्रो. रामहर्ष सिंह रहे, सम्प्रति प्रो. बनवारी लाल गौड़ इस विश्वविद्यालय के कुलपति है।

१६६६ में केन्द्रीय सहायता से एक्स्ट्रा म्यूरल रिसर्च प्रोग्राम की प्रस्तुति संस्थाओं के उच्चीकरण के लिए की गयी। मुख्य औषधियों की एग्रो तकनीक के विकास के लिए ३३ संगठनों में केन्द्रीय योजना का कार्यान्वयन किया गया। १६६८ में ३२ प्रयोगशालाओं में औषधि पौधों के फार्मेकोपियल मानकीकरण के विकास के लिए केन्द्रीय योजनाओं का कार्यान्वयन किया गया।

केन्द्रीय सरकार के चिकित्सालय में आयुर्वेद के विशिष्ट क्लीनिक की स्थापना १६६८ में सफदरजंग नई दिल्ली में हुई। आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार के लिए १६६८-६६ में गैर सरकारी संगठनों के आई.ई.सी. (सूचना, शिक्षा, सम्प्रेषण) योजना का कार्यान्वयन हुआ। अत्यधिक मात्रा में औषधीय पौधों को उगाने के लिए वनस्पति वन योजना की प्रस्तुति १६६६ में हुई। आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार के लिए न्यूयार्क (यू.एस.ए.) में होने वाले आयुर्वेदिक सम्मेलन का उद्घाटन पूर्व प्रधानमंत्रीजी अटल विहारी बाजपेयी ने २००० में किया। सन् २००० में ही औषधीय पौधों का बोर्ड आई.एस.एम. एण्ड एच के अन्तर्गत गठित करने के लिए अधिसूचना जारी की गई। सन् २००० में आर.सी.एच. प्रोग्राम के अन्तर्गत आयुर्वेदिक औषधीयों की प्रस्तुति तथा आयुर्वेद में अनुसंधान के लिए सलाहकार समिति का गठन हुआ। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के अन्तर्गत आर.सी.एच. प्रोग्राम में आयुर्वेद की मुख्य धारा की नीति का निर्णय हुआ। २०००-२००१ में राज्यों की औषधि परीक्षण प्रयोगशालाओं फार्मेसी के सुदृढ़ीकरण के लिए केन्द्रीय सहायता योजना का क्रियान्वयन किया।

विभिन्न प्रदेशों में आयुर्वेद के २२ निदेशालय नई दिल्ली, चण्डीगढ़, शिमला, श्रीनगर और जम्मू, तिरुवनन्तपुरुम, भोपाल, भुवनेश्वर, लखनऊ, कलकत्ता, देहरादून आदि शहरो में है। देश में २६५८ आयुर्वेदिक अस्पतालों में लगभग ४३५६० रोगी की चिकित्सा हेतु उपलब्ध शेय्याएं है। सी.जी.एच.एस. की ३४ डिसेन्सरी तथा २५ शैयाओं का अस्पताल नई दिल्ली में हैं। दूसरे मंत्रालयों में १६२ डिस्पेन्सरी है।

२००० तक केवल २५ देशों में पारम्परिक चिकित्सा राष्ट्रीय नीति बनायी, जबकि हर्बल उत्पाद के लिए रजिस्ट्रेशन प्रक्रिया ७० देशों ने की है। अधिकांश देशों में कोई भी औषधीय सुरक्षा निरीक्षण के लिए योजना नहीं है। औषधियों की गुणवत्ता परीक्षण की कमी होने के कारण विषाक्तता को समर्थन मिल रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने पारम्परिक चिकित्सा पर २००२ में एक योजना बनाई, इस योजना में प्रायः प्रयुक्त होने वाली पारम्परिक चिकित्सा पद्धतियाँ और स्वास्थ्य से सम्बन्धित योजनाए जिसमें आयुर्वेद, चाईनीज, यूनानी, अरबी और भारतीय चिकित्सा है। विश्व सवास्थ्य संगठन ने पारम्परिक चिकित्सा की पहचान का दायरा बढ़ाने के लिए इसे राष्ट्रीय तंत्र में समाहित करने के लिए समर्थन किया, जिससे पारम्परिक चिकित्सा का प्रभावी उपयोगी हो सके और औषधीय

पौधों, साधन तथा ज्ञान को सुरक्षित किया जा सके। जिससे पारम्परिक चिकित्सा के तर्कसंगत प्रयोग एवं गुणवत्ता, सुरक्षा एवं क्षमता को बढ़ावा मिल सके।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय में परामर्शदाता नियुक्त किया गया। पंचवर्षीय योजनाओं में उपलब्ध धनराशि से आयुर्वेदिक औषधालयों की संख्या बढ़ी तथा वेतनमान में भी वृद्धि हुई। केन्द्र सरकार ने वैद्यों और डाक्टरों की स्थिति में समानता लाने का प्रशसंनीय प्रयास किया। आयुर्वेद को राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा में स्थान दिया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आयुर्वेद के नये स्कूल स्थापित हुए। आज ३०० से अधिक आयुर्वेदिक कम्पनी एवं अस्पताल तथा कई सौ विद्यालय पिछले १० वर्षों में खोले गये। १६७० के मध्य पश्चिम में आयुर्वेद के प्रति आकर्षण प्रारम्भ हुआ, आयुर्वेदिक शिक्षक भारत से संयुक्त राष्ट्र और यूरोप जाने लगे। आज पूरे यूरोप, आस्ट्रेलिया और संयुक्त राष्ट्र में आयुर्वेदिक कॉलेज खुल रहे हैं।

विषय विशेषज्ञता का विकास (Development of subject specilities)

आयुर्वेद एक प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति है, जो जीवन में रोग की चिकित्सकीय एवं रोकथाम दोनों पक्ष से सम्बन्धित है। इसमें स्वास्थ्य की परिभाषा विश्व स्वास्थ्य संगठन की नवीन युग में स्वस्थ की कल्पना से है। चरक संहिता तथा सुश्रुत संहिता आदि ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि पहले आयुर्वेद में ८ विशेषतायें थी जैसे–काय चिकित्सा, कौमारभृत्य, भूत विद्या, शल्य, शालाक्य, अगद तंत्र, रसायन, वाजीकरण। प्राचीन विश्वविद्यालयों नालन्दा एवं तक्षशिला में आयुर्वेद का अध्यापन होता था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रथम स्वास्थ्य मंत्रियों के अधिवेशन में सर्वमान्य मत था कि आयुर्वेद का विकास होना चाहिए, जिससे इसके द्वारा चिकित्सा सुविधा जन–जन को दी जा सके। पिछले पचास वर्षों में अध्यापन एवं प्रशिक्षण के विकास में १६ विशेषताओं का विकास हुआ–

१. आयुर्वेद सिद्धान्त	२. आयुर्वेद संहिता	३. रचना शारीर
४. क्रिया शारीर	५. द्रव्य गुण	६. रस शास्त्र
७. भैषज्य कल्पना	८. कौमारभृत्य	६. प्रसूति तंत्र
१०. स्वस्थवृत्त	११. काय चिकित्सा	१२. रोग निदान
१३. शल्य	१४. शालक्य	१५. मनोविज्ञान
१६. पंचकर्म		

मिनीमम स्टैन्डर्डस ऑफ एजुकेशन इन इण्डियन मेडिसिन रेगूलेशन १६८६ जो १ जुलाई १६८६ से लागू है। इण्डियन मेडिसिन सेण्ट्रल कौन्सिल (पी.जी. एजूकेशन)

एमेन्डमेन्ट रेगूलेशन १९९४ आयुर्वेद वाचस्पति के लिए बनाया गया है। उपर्युक्त १६ विषय विशेषज्ञता को सी.सी.आई.एम. ने इण्डियन मेडिसिन सेन्ट्रल काउन्सिल रेगुलेशन २००५ (स्नातकोत्तर शिक्षा के लिये) के द्वारा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में वृद्धि करके निम्न २२ विषयों में चलाने की संस्तुति की है।

१. आयुर्वेद सिद्धान्त
२. आयुर्वेद संहिता (चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, वाग्भट संहिता)
३. रचना शारीर
४. क्रिया शारीर (दोष, धातु, मल विज्ञान)
५. द्रव्यगुण
६. रस शास्त्र
७. भैषज्य कल्पना
८. प्रसूति तंत्र एवं स्त्री रोग
९. कौमारभृत्य (बालरोग)
१०. काय चिकित्सा
११. स्वस्थवृत्त
१२. रोग निदान एवं विकृति विज्ञान
१३. मनोविज्ञान एवं मानस रोग
१४. शल्य तंत्र (सामान्य)
१५. शल्यतंत्र, क्षारकर्म एवं अनुशस्त्र कर्म
१६. शालाक्य तंत्र-नेत्ररोग
१७. शालाक्य तंत्र-दन्त एवं मुखरोग
१८. शालाक्य तंत्र शिरो, नासा कर्ण एवं कण्ठरोग
१९. पंचकर्म
२०. अगदतंत्र एवं विधि. वैद्यक
२१. संज्ञाहरण
२२. छाया एवं विकिरण विज्ञान

भारत में लगभग २१४ आयुर्वेदिक विद्यालय है, जिनमे ५३ विद्यालयों में स्नातक के साथ-साथ विभिन्न विषयों में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चल रहे है।

भारत सरकार की योजनायें

आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार एवं विकास के लिए भारत सरकार ने अनेक योजनाये लागू की है, ये योजनाये सरकारी गैर सरकारी संगठन, प्राईवेट चिकित्सक, उद्योग आदि के लिये

है। भारत सरकार इन योजनाओं के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है। गैर सरकारी संस्थानों को वित्तीय सहायता का उद्देश्य सभी वर्गो में निवारक, प्रचार-प्रसारक एवं साध्यता के पक्ष के लिए जागरुकता उत्पन्न करने के लिए औषधीय पौधों को उगाने की तकनीक, कार्यशाला, योग का प्रशिक्षण तथा ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्र में औषधियों को उगाना है। आयुर्वेद के द्वारा मिलने वाले लाभ के लिए प्रिन्ट एवं इलैक्ट्रानिक मीडिया एवं रोड शो के द्वारा जागरुकता उत्पन्न की जा सकती है। भारत सरकार गोष्ठी, कार्यशाला, विचार विनिमय के तथा विदेश जाने के लिए वित्तीय सहायता दे रही है। आयुर्वेद औषधियों के निर्यात के लिए भी उद्योगों को प्रोत्साहित कर रही है। अनुभवी शिक्षकों के द्वारा अच्छी पुस्तकों के लेखन एवं प्रकाशन तथा पाण्डुलिपियों का अधिग्रहण कर सुरक्षित रखने एवं प्रकाशन के लिए वित्तीय सहायता दी जा रही है। जिसके द्वारा छात्र शिक्षक, अनुसंधानकर्ता लाभान्वित हो सकेंगे। भारत सरकार के द्वारा राज्य के एक कॉलेज को माडल कॉलेज बनाने की योजना तथा कॉलेजों में कम्पयूटर लैव बनाने के लिए वित्तीय सहायता सें विद्यालयों में शिक्षण एवं चिकित्सा का उच्चीकरण हो रहा है। विभिन्न विषयों में चलाये गये रिओरियन्टेशन कार्यक्रम तथा आर.सी.एच. कार्यक्रम सम्बन्धित विषयों के ज्ञान के प्रचार तथा प्रसार में लाभकारी है। सतत् चिकित्सा क्षेत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत चिकित्सक नवीन सूचनाओं, चिकित्सा व्यवस्थाओं एवं शोध कार्यो की जानकारी के द्वारा लाभान्वित हो रहे है।

पारम्परिक ज्ञान डिजिटल लाइब्रेरी (Traditional knowledge digital library)

यह परियोजना आयुर्वेद की १४ शास्त्रीय पुस्तकों में प्राप्त ३५००० योगों की वर्तमान सूचना को पेटेन्ट के अनुरूप व्यवस्था में रखने का सी.सी.आर.ए.एस. एवं कॉन्सिल ऑफ साइन्टिफिक रिसर्च का संयुक्त साहसिक प्रयास है। ३० आयुर्वेद विशेषज्ञ ५ सूचना तकनीक विशेषज्ञ, २ पेटेन्ट परीक्षक रखे गये है। डिजिटल लाइब्रेरी में अन्तर्राष्ट्रीय पेटेन्ट वर्गीकरण, पारम्परिक शोध वर्गीकरण, आयुर्वेद की पारिभाषिक शब्दावली, धारणाये, वर्गीकृत योग, औषध मात्रा, रोग की अवस्था, सन्दर्भ ग्रन्थ प्रमाण को लिया गया है।

मुख्य रूप से बंगलादेश में २५ प्रतिशत चिकित्सक आयुर्वेद एवं यूनानी के है। ८ विद्यालय आयुर्वेद एवं यूनानी की शिक्षा प्रदान कर रहे है। नेपाल की सरकार आयुर्वेद को परम्परागत चिकित्सा पद्धति के रूप में मानती है तथा १९९६ में नेपाल ने राष्ट्रीय आयुर्वेद स्वास्थ्य नीति प्रकाशित की थी।

श्रीलंका में आयुर्वेद लोकप्रिय है। श्रीलंका में २५ आयुर्वेदिक अस्पताल, आयुर्वेदीय, अनुसंधान संस्थान, आयुर्वेदिक चिकित्सा परिषद् एवं आयुर्वेदिक औषधि निगम हैं।

भारत के अतिरिक्त नेपाल, मारीशस, वर्मा, श्रीलंका आदि देशों में आयुर्वेद पर अध्ययन तथा अनुसंधान सम्बन्धी कार्य हो रहा है। श्रीलंका में भण्डारनायक आयुर्वेद

संस्थान में आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन तथा नेपाल में त्रिभुवन विश्वविद्यालय के तत्वावधान में आयुर्वेद संकाय में आयुर्वेदिक स्नातक पाठ्यक्रम तथा शोध कार्य चल रहा है। पश्चिमी देशों में भी लोग आयुर्वेद में रूचि ले रहे है।

इग्लैण्ड में स्कूल आफ हर्बल मेडिसिन नामक संस्थान इस पद्धति में स्नातक तैयार करने तथा वनस्पतियों के औषधीय गुणों के अनुसंधान में रत है।

भारत में ६५ प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में आुयर्वेदिक औषधियों का प्रयोग स्वास्थ्य संरक्षण के लिए करती है। (विश्व स्वास्थ्य संगठन २००३) विकसित देशों में पारम्परिक चिकित्सा अधिक लोकप्रिय हो रही है। धाना, बाली, नाइजीरिया, जाम्बिया आदि देशों में हर्बल औषधियाँ प्रथम चिकित्सा के रूप में ६० प्रतिशत बच्चों में ज्वर में प्रयोग की जाती है।

विदेशों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रसार

विदेशों में आयुर्वेद का प्रसार काफी समय पश्चात् हुआ। संयुक्त राष्ट्रों में आयुर्वेद के प्रति रूचि १९७० में महर्षि महेश योगी के संगठन ट्रान्स डेन्टल मेडिटेशन के प्रयास से शुरु हुई। इसके परिणाम स्वरूप भारत के चिकित्सक डॉ. बृहस्पतिदेव त्रिगुणा, वसन्त लाल आदि संयुक्त राष्ट्र गये। १९८० के अन्त में डॉ. दीपक चोपड़ा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक परिपूर्ण स्वास्थ्य (परफैक्ट हेल्थ) सामान्य जनता के लिए लिखी। इसके बाद कुछ अमेरिकी अग्रणी डॉ. डेविड फ्राले "अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ वैदिक स्टडिज" आयुर्वेद के प्रति आकर्षित हुए। पश्चिम के ही डॉ. राबर्ट स्वोबोडा ने भारत में बी.ए.एम.एस. पाठ्यक्रम पूर्ण किया। सन् १९९५ में कैलिफोर्निया कॉलेज आफ आयुर्वेद की स्थापना हुई। सन् २००४ में नेशनल आयुर्वेदिक मेडिकल एसोसिएशन ने आयुर्वेद के प्रथम शैक्षिक मानक स्थापित किये। स्कूल के स्नातकों को चिकित्सक का स्थान मिला। अधिकांश दूसरे स्कूलों ने चिकित्सा के बजाय जीवन शैली प्रवन्धन पर ध्यान केन्द्रित किया। यूनाईटेड स्ट्ेटस में आयुर्वेद के अनेक प्रकार के कार्यक्रम चलते है जैसे–पत्राचार कार्यक्रम, पूर्ण कालिक प्रशिक्षण कार्यक्रम, सप्ताहान्त प्रशिक्षण कार्यक्रम, संक्षिप्त विचार गोष्ठी पाठ्यक्रम, इन्टर्नशिप कार्यक्रम, सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम।

पूर्ण कालिक कार्यक्रम के लिए संयुक्त राष्ट्र में कैलिफोर्निया कॉलेज ऑफ आयुर्वेद में १८ माह का पाठ्यक्रम तथा आयुर्वेद इन्स्टीट्यूट न्यू मैक्सिको में १६ माह का पाठ्यक्रम चलाया जा रहा है।

आज आयुर्वेद के ज्ञान के लिए संपूर्ण विश्व भारत की तरफ आकर्षित है। विश्व के अनेक देशों अमेरिका यू.के., रूस, जर्मनी, हंगरी, दक्षिण अफ्रीका आदि में अनेक महत्वपूर्ण कार्य आुयर्वेद की सूचनाओं के प्रसारण और इसमें नई संभावनाएँ खोजने के लिए

चल रहे है। २००१-२००२ में भारत सरकार ने वैश्वीकरण के लिए निम्न प्रयास किये। पारम्परिक चिकित्सा के क्षेत्र में विशेषज्ञ चिकित्सकों को विदेशों में होने वाली गोष्ठियों में प्रतिनिधित्व के लिए भेजा।

आई.एस.एम. और एच. के संयुक्त सचिव के साथ एक प्रतिनिधि मण्डल जिसमें होम्योपैथ और आयुर्वेद के विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, उद्योगों के प्रतिनिधियों ने आयुर्वेद का वैज्ञानिक आधार और अनुसंधान कार्य वैकल्पिक चिकित्सा की उप समिति के सामने प्रस्तुत किया, जो हाउस आफ लार्ड, यू.के. पार्लियामेण्ट्री के द्वारा बनायी गयी थी। इस प्रस्तुतिकरण के द्वारा शंकाओं को समाप्त करने के बारे में आयुर्वेद की वैधता, वैज्ञानिक आधार एवं क्षमता को समिति के द्वारा स्वीकार किया गया।

आयुर्वेद की एक गोष्ठी के साथ प्रदर्शनी भी विश्व स्वास्थ्य सभा के अवसर पर जेनेवा में आयोजित की, जिसमें आयुर्वेद का वैज्ञानिक आधार, क्षमता और जीर्ण रोगों में पंचकर्म की भूमिका को बताया। इसके द्वारा आयुर्वेद साहित्य एवं औषधियों में रुचि उत्पन्न करने में सफलता मिली। राष्ट्रीय संस्थान योगम् नई दिल्ली के योग के विशेषज्ञों ने दुशनबे में कजाकिस्तान इण्डियन एम्बेसी के द्वारा हुई गोष्ठी में भाग लिया। योग का ज्ञान और प्रशिक्षण न केवल सामान्य जनता को बल्कि रक्षा मंत्रालय के सदस्यों और मेडिकल विश्वविद्यालय के शिक्षक एवं छात्रों तथा सेना अस्पताल के चिकित्सकों एवं सदस्यों को भी दिया गया।

१८-२१ जुलाई २००१ को जोहान्सवर्ग (दक्षिण अफ्रीका) में दो गोष्ठी और एक प्रस्तुतीकरण आई.एस.एम. और एच. के द्वारा किया गया। जिसमें योग प्रदर्शन एवं आयुर्वेद साहित्य को प्रस्तुत किया। इससे प्रभावित होकर दक्षिण अफ्रीका ने एक नियम पारित करने का निर्णय लिया, जो पारम्परिक औषधियों के आयात का निरीक्षण करेगा, विशेष रूप से आयुर्वेद और यूनानी।

कुछ विशेषज्ञ चिकित्सकों और संयुक्त सचिव ने बर्लिन जर्मनी में होने वाली गोष्ठी में भाग लिया। जिसमें आयुर्वेद का शोध कार्य, नीतियों और बुनियादी संरचना की विस्तृत जानकारी को दृश्यश्रव्य माध्यम से प्रस्तुत किया।

आयुर्वेद के विकास के लिए पाँच सदस्यों के एक प्रतिनिधि मण्डल ने रूस और भारत के बीच में आयुर्वेद के क्षेत्र में सहयोग और सहकारी कार्यक्रमों के लिए एक आश्वासन पर हस्ताक्षर किये।

अनेक बैठकों में विचार-विमर्श के बाद रूस की कम्पनियों ने आयुर्वेदिक औषधियों के आयात में रुचि ली। इस चर्चा के मुख्य बिन्दु आयुर्वेदिक अध्यापकों के प्रतिनिधि मण्डल भेजने, आयुर्वेदिक अनुसंधान केन्द्र की स्थापना, आयुर्वेदिक औषधियों का आयात तथा आयुर्वेदिक पुस्तकों तथा शोधपत्रों का रूसी भाषा में अनुवाद करना था। भारत सरकार ने

नवम्बर २००१ में जिम्बाबवे में होने वाले "इन्टिग्रेशन आफ ट्रेडिशनल मेडिसिन इन नेशनल हेल्थ सिस्टम" पर विश्व स्वास्थ्य संगठन की रीजनल वैठक में भाग लिया।

हंगरी सरकार के साथ हंगरी आयुर्वेद के विकास के लिए समझौते के स्मरण पत्र पर हस्ताक्षर किये। हंगरी सरकार ने आयुर्वेद को मान्यता दी और वहाँ पर आयुर्वेद के ४० उत्पाद बेचे जा रहे है।

आयुष विभाग के सचिव एवं परामर्शदाता नवम्बर २००१ में आयुर्वेदिक शिक्षा प्रोग्राम के बारे में एवं वैकल्पिक चिकित्सा के राष्ट्रीय केन्द्र के अधिकारियों से विचार-विमर्श करने के लिए अमेरिका गये। यह केन्द्र राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान बेथेड्सा वाशिंगटन के अन्तर्गत है। यह केन्द्र यू.एस. के मेडिकल स्कूल में ट्रेनिंग माडल प्रारम्भ करने के लिए योजना बनाता है। अन्त में यह निश्चित हुआ कि १५ चिकित्सक विशेषज्ञ भारत जायेगे, जिससे आयुर्वेद के क्षेत्र में शोध संभावनाओं पर पारस्परिक वार्तालाप हो सके।

आयुर्वेद के प्रसार में विश्व के विभिन्न संगठनों का योगदान

विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organiztion)

विश्व स्वास्थ्य संगठन स्वास्थ्य सम्बन्धी राष्ट्र संघ (United Nations) का मुख्य संगठन है। इसका केन्द्रीय कार्यालय जेनेवा में है और यह संगठन डायरेक्टर जनरल के अधीनस्थ कार्य करता है। प्रत्येक देश इसका सदस्य बन सकता है। दक्षिण पूर्व एशिया का कार्यालय नई दिल्ली में है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन सभी देशों में समन्वय स्थापित कर स्वास्थ्य सेवाओं के विकास के लिए सहायता देता है। स्वास्थ्य विषय पर लेख, पुस्तकें तथा रिपोर्ट आदि का प्रकाशन करता है।

यूनिसेफ

यह संगठन विश्व स्वास्थ्य संगठन की सहायता से बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य पोषक आहार, गाँव में पेयजल एवं सामाजिक उन्नति के कार्यों में सलाह एवं सहायता प्रदान करता है।

रेडक्रास सोसाइटी

भारतीय रेडक्रास संगठन से संबद्ध है। इसकी स्थापना सन् १९२० में हुई। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य जन स्वास्थ्य में सुधार, रोगों की रोकथाम एवं रोगियों के कष्टों के निवारण के लिए प्रयत्न करना। यह सोसाइटी अपंग सैनिकों को दूध, औषध, कृत्रिम अंग, सैनिक चिकित्सालयों को समाचार एवं पत्र-पत्रिकायें प्रदान करती है। प्राकृतिक

आपदा के समय पीड़ितों की सहायता करती है। मातृ एवं शिशु केन्द्रों पर माता एवं बच्चों को, अनाथ बच्चों को, पिछड़ी जाति की बस्तियों में दूध एवं आवश्यक औषधियाँ प्रदान करती है। इसकी अनेक शाखाओं में स्थापित रक्त बैंक से निःशुल्क रक्त रोगियों को दिया जाता है।

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

१९०७ में महाराष्ट्र के नासिक नामक स्थान पर वैद्यगण श्री शंकर दा जी शास्त्री पदे के नेतृत्व में एकत्रित हुए और अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन की स्थापना की। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य आयुर्वेद विज्ञान के शिक्षण-प्रशिक्षण, अनुसंधान, प्रचार-प्रसार आदि के द्वारा आयुर्वेद का विकास और संरक्षण करना था। सबसे पहला प्रान्तीय संगठन विहार में हुआ। १९०९ में नेतृत्व जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के पास आ गया। अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन का १९४२-४३ में स्थापित कार्यालय धन्वतरि भवन नई दिल्ली पंजावी बाग में है। इस समय इसके अध्यक्ष वैद्य देवेन्द्र त्रिगुणा है। अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मलेन, 'वैद्य महासम्मेलन' नामक पत्रिका का भी प्रकाशन करता है। इस संगठन का प्रत्येक वर्ष अधिवेशन होता है।

नीमा (NIMA-National Integrated Medical Association)

नेशलन इन्टीग्रेटेड मेडिकल ऐसोसिएशन नीमा की स्थापना १९९६ में आल इण्डिया नेशनल इन्टीग्रेटेड मेडिकल एसोसिएशन के रूप में हुई थी। इससे पूर्व यह इन्टीग्रेटेड मेडिकल एसोसिएशन के रूप में कार्यरत थी। तव इसकी स्टेट यूनिट, स्थानीय यूनिट थी। नीमा के प्रथम अध्यक्ष डॉ. पी.एन. अवस्थी, पोद्दार आयुर्वेदिक कॉलेज मुम्वई में शल्यज्ञ थे। आजकल नीमा के अध्यक्ष डॉ. एस.एन. परचुरे है। यह संस्था डाक्टर्स की समस्याओं के लिए लड़ती है। यह संस्था देश के विभिन्न स्थानों पर सेमिनार लेक्चर आदि ज्ञानवर्धक कार्यक्रमों का आयोजन करती रहती है। इस संस्था की तरफ से नीमा पत्रिका का भी प्रकाशन होता है।

विश्व आयुर्वेद परिषद्

विश्व आयुर्वेद परिषद् की स्थापना प्रख्यात समाजसेवी लक्ष्मण श्री कृष्ण भिड़े की प्रेरणा एवं उनके आयुर्वेद के प्रति रूझान से हुई। मई १९९७ में दिल्ली, वाराणसी, लखनऊ, बरेली आदि के प्रतिष्ठित आयुर्वेदज्ञों ने मिलकर विश्व आयुर्वेद परिषद् की स्थापना की। इस परिषद् के प्रथम संस्थापक एवं अध्यक्ष प्रो. जगन्नाथ शर्मा, प्रोफेसर फार्मेकोलोजी विभाग, अखिल भारतीय आयुर्वेद संस्थान नई दिल्ली थे। यह परिषद् समाज

के सहयोग से चलती है। आजकल इस परिषद् के अध्यक्ष प्रो. योगेश मिश्र, महामंत्री प्रो. एस.पी. मिश्र है। इस परिषद् का मुख्य उद्‌देश्य ग्रामीण क्षेत्रों से वैद्यों को ढूँढ निकालना, नाड़ी वैद्यों, जड़ी-बूटी जानकारों को ढूँढना तथा आयुर्वेद की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करना है। विश्व आयुर्वेद परिषद् के द्वारा पहले त्रैमासिक और अब मासिक पत्रिका का सम्पादन होता है। वर्तमान में इस पत्रिका के सम्पादक प्रो. शिवसागर शुक्ल है।

आयुर्वेद के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थों का हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में अनुवाद हो गया है। परन्तु यदि आयुर्वेद के ग्रन्थों का सभी भाषाओं में अनुवाद हो जाये। तो आयुर्वेद का योगदान न केवल राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के रूप में अपितु अन्तर्राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति के रूप में हो सकता है।

आज आयुर्वेदिक औषध निर्माण के लिए सबसे कठिन समस्या इसके निर्माण की विधि को ठीक करना हैं, क्योंकि विभिन्न निर्माण संस्थाओं के द्वारा बनी हुई एक ही औषधि अलग-अलग प्रभाव उत्पन्न करती है। औषधि निर्माण के लिए औषधि पौधों एवं धातुओं को शास्त्रों में वर्णित विभिन्न शोधन एवं मारण उपायों द्वारा तैयार किया जाये, तो हमें चिकित्सा में उत्कृष्ट प्रभाव मिलेगा।

आजकल आयुर्वेद का विकास काफी तेजी से हो रहा है। स्वास्थ्य को बनाये रखने तथा रोगों विशेष रूप से जीर्ण रोगों की चिकित्सा में इस शास्त्र की योग्यता को देखते हुए संपूर्ण विश्व का ध्यान इस समय आयुर्वेद की ओर है। औषध एवं सिद्धान्तों पर हो रहे अनुसंधानों में आधुनिक विज्ञान के योगदान तथा समन्वय के कारण ही यह संभव हो रहा है। वह दिन दूर न ही जब आयुर्वेद का समस्त चिकित्सा पद्धतियों में विशेष स्थान होगा।

चत्वारिंशोऽध्यायः

पुराकालीन चिकित्सा विज्ञान

आज का चिकित्सा विज्ञान कई सहस्राब्दियों के अनुभव एवं परम्परा ज्ञान का विकसित रूप है। यह परम्परा अनादि है-परम्परा से आये हुए ज्ञानों में बहुविध परिवर्तन होते रहते हैं। सतत् परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप वस्तुस्थिति में एक नवीनरूपता आ जाती है। प्राचीन युग में भी दार्शनिक, वैज्ञानिक और विचारक पैदा हुए, उन्होंने अपने युग के ज्ञान एवं विज्ञान के आधार पर प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया। वही परम्परा आज के युग के मनीषियों में भी मिलती है। प्राचीन युग में सूक्ष्म या अदृष्ट के प्रतिपादनों का अधिक महत्त्व दिया गया। रहस्यात्मक ढंग से किसी आनुभूतिक सत्य का प्रतिपादन थोड़े अक्षरों और शब्दों में (सूत्ररूप) करना उनका उद्देश्य रहता था, परन्तु परवर्ती युग में जैसे-जैसे वहिर्जगत् का उद्घाटन होता गया, स्थूल तथा दृष्ट (भौतिक) तत्वों के रहस्योद्घाटन में ही मानव बुद्धि केन्द्रित होती गई। आधुनिक युग में मानव की अंतश्चेतना सुप्त होकर वहिर्जगत् के भौतिक तत्वों के अधिकाधिक संवर्द्धन एवं परिवृंहण में लगी हुई है। दृष्ट जगत् के विश्लेषण की यह परम्परा क्रमशः विकसित हुई है। अस्तु, इसे विकास परम्परा (एवूलेशन) नाम से अभिहित किया जाता है। आज ज्ञान एवं विज्ञान की विभिन्न शाखायें हो गई हैं। इन विविध शाखाओं के विकास के साथ ही चिकित्सा विज्ञान की शाखा में भी कई कालों में इसी प्रकार का विकासक्रम दिखाई पड़ता है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में चिकित्सा पद्धतियों का अभ्युदय

विश्व के विभिन्न खण्डों में विविध प्रकार की सभ्यताओं का निवेश, उत्थान तथा पतन पुराकालीन इतिहास देखने पर मिलता है। किसी जाति या देश की सभ्यता का मापन पुरातत्वविद् कुछ मापदण्डों के आधार पर करते हैं। उदाहरणार्थ नगर का निर्माण, मूर्तिकला, वास्तुकला, स्थापत्य, भित्तिचित्रण, लेखनकला, व्यवसाय, वाहन, यंत्रवाद्य तथा सभ्यता के अन्य तत्व। पुरातत्व के अनुसंधानकर्ताओं ने खुदाई के द्वारा भूगर्भ में गड़ी हुई बहुत देशों की पुराकालीन सभ्यताओं पर शोधकार्य किया है। खुदाई से मिली हुई वस्तुओं के अध्ययन से प्राक्कालीन समाज, शासन व्यवस्था, संस्कृति, चिकित्सा-विज्ञान के तत्व प्रभृति विषयों का आंकलन करते हुए पुराकालीन सभ्यताओं के इतिहास की एक रूपरेखा भी दी गई है। उस इतिहास के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि तद्-तद् सभ्यताओं के अभ्युदय के साथ-साथ उनके ज्ञान और विज्ञान की उन्नति हुई, पुनः सभ्यताओं के पतन के साथ उनका ज्ञान एवं विज्ञान भी नष्ट हो गया। चिकित्सा विज्ञान के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के उत्थान और पतन देखने को मिलते है। चिकित्सा विज्ञान एक प्रत्यक्ष फलदायी जीवनोपयोगी व्यावहारिक विद्या है। अस्तु, सभ्यता के पतन के साथ उसका भी

पतन तो अवश्य होता है, परन्तु उसका मूलोच्छेद नहीं होता और संतति बनी मिलती है अर्थात् जो चिकित्सा व्यवहार में रही, उसका स्वरूप बदल गया, कालक्रम से उसका बहुत अंश इतिहास की सामग्री हो गई, फिर भी उसके स्थान पर आने वाली भावी चिकित्सा-पद्धति के लिए वह प्रेरणा का श्रोत बनी रही। यही कारण है कि बहुत-सी चुनी हुई औषधियाँ जो आज से पांच-छः हजार वर्ष पूर्व चिकित्सा में व्यवहृत होती थीं, आज के अंतरिक्ष युग में भी वैज्ञानिक-चिकित्सा पद्धति में अचूक दवा के रूप में प्रसिद्ध हैं।

भारतवर्ष में बहुत सी विद्याओं एवं कलाओं के भग्नावशेष देखने को मिलते हैं, परन्तु भारतीय प्राचीन चिकित्सा विज्ञान (आयुर्वेद) की परम्परा विभिन्न ऐतिहासिक कालों में भी निरन्तर बनी मिलती है। इस देश के लिए यह गौरव का विषय है कि वह अपनी सनातन आयुर्वेद परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा है। यह सौभाग्य का विषय है कि त्रिकालदर्शी ऋषि प्रणीत आयुर्वेद के सूत्र (हेतुलिंगौषधज्ञान) अपने स्थान पर ध्रुवसत्य के रूप में दृढ़ रहे और युगानुरूप जिज्ञासुओं की ज्ञानलिप्सा को तृप्त करते रहे, लक्ष-लक्ष नर नारियों को स्वास्थ्य-संरक्षण, आरोग्य एवं दीर्घायुष्य प्रदान करते रहे तथा वर्तमान तथा भविष्य में आने वाली नई पीढ़ियों के चिकित्साशास्त्रियों के लिए नव-स्फुरण और प्रेरणा का स्रोत बनते रहे। इस प्रकार का सौभाग्य अर्थात् प्राचीन विज्ञान की सुदृढ़ भिति है, ऊपर पल्लवित एवं पुष्पित होने वाले बीसवीं शती के चन्द्र विजय काल के नवीनतम वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति का सामंजस्य विश्व के कुछ सीमित क्षेत्रों में ही सुलभ है। सुनने में आता है कि चीन में भी उस देश की प्राचीन चिकित्सा पद्धति अभी जीवित है। जब कि दूसरे भूभागों में प्राचीन चिकित्सा विद्या विस्मृत होकर इतिहास की सामग्री मात्र है। विभिन्न युगों में से गुजरने वाले सार्वभौम चिकित्सा विज्ञान की परम्परा का आधुनिक युग को ऐतिहासिकों ने कई खण्डों में विभाजित किया है। आयुर्वेद का साहित्य तथा वैद्यक विद्या भी उन सभी युगों से होकर गुजरी है। आयुर्वेद में वर्णित विज्ञान नामक विषय की भी यही स्थिति है। रोग तथा रोगी के साध्यासाध्यत्व का विवेचन उसके जीवन, स्वास्थ्य तथा मृत्यु का भविष्य कथन प्रभृति प्रसंग विश्व के दूसरे खण्डों में भी, जिनकी संस्कृति में चिकित्सा विज्ञान था, एक प्रमुख चिकित्सांग रहा है।

आज के युग में दुनिया एक परिवार के रूप में छोटी हो गई है। यान्त्रिक सुविधाओं के कारण एवं तकनीकी विकास के फलस्वरूप विश्व के विविध खण्डों में चलने वाले ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विचारों का आदान-प्रदान एक सरल कार्य हो गया है। परन्तु अति प्राचीन काल से पांच या छः हजार वर्ष पूर्व भी जब कि यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं, मानव, सभ्यता के प्रारम्भिक युग में था, तब भी इन उपलब्धियों का आदान-प्रदान दूर-दूर तक संसार के भागों में होता रहा। उस काल में मनुष्य अधिकतर पैदल चला करते थे अथवा पशुओं की सवारी (घोड़े, ऊँट) के जरिये यातायात स्थल मार्ग

से करते थे। नौका से सहारे नदी या समुद्र से कुछ व्यवसाय चलते रहे होंगे। विचारों के आदान-प्रदान के साधन जो भी रहे हों, पुराकाल में भारतवर्ष की सिन्धु सभ्यता, मध्यपूर्व की मेसोपोटामिया एवं मिश्र की सभ्यता, सुदूर पूर्व की चीन की सभ्यता तथा अमेरिका के मैक्सिको एवं पेरू देश के विचार विर्तकों में बहुत कुछ साम्य देखने को मिलता है।

उपलब्ध प्राक्कालीन चिकित्सा विज्ञान में उस युग के अरिष्ट के चिन्तन के सम्बन्ध में पर्याप्त समानता पाई जाती है। उस युग की कई सभ्यताएँ तो इतिहास की सामग्री मात्र हैं, किन्तु भारतवर्ष एवं चीन की वैद्यक विद्या की परम्परा अब भी चली आ रही है। भारतवर्ष का आयुर्वेद तथा उसका अँरिष्ट विज्ञान कई युगों से होकर गुजरा है। उसका रूप भी बहुत बातों में बदलता गया है। उसका कारण यह है कि शब्द बहुत से अर्थों के बोधक होते हैं। भाषा की अभिव्यंजन क्षमता भी सीमित होती है। अस्तु, शब्दों का जो भाव मूल प्रणेता का रहा, हम ठीक उसी अर्थ में उस भाव का ग्रहण करते हैं, यह कथन कठिन है। विश्व के विविध भागों की प्राचीन सभ्यताओं में जिनमें चिकित्सा विज्ञान का प्रचलन था, उसके कई प्रकार के चिन्तनों में समानता किस प्रकार आयी ? उनके विचारों में आदान-प्रदान का क्या स्वरूप था ? आज के युग में उसका अनुमान करना दुर्गम है। ऐसा लगता है कि यह समानता केवल भौतिक साधनों तक ही सीमित न रही हो, प्रत्युत पूर्व पुरुषों में उनके सात्विक गुणों की विशेषता ही कारण रूप में रही हो। इसके कारण उसकी षष्ट ज्ञानेन्द्रिय जागृत रही हो। (एक्सट्रांसेन्स आफ परसेप्शन) जिसके बल पर वे अत्यधिक दूरी पर स्थित भूखण्डों के व्यक्तियों के भावों को जान सकते रहे हों (टेलीपैथी), इस विधि से उनके ज्ञानों का पारस्परिक आदान-प्रदान होता रहा हो और विचारों में समानता रहती हो। संसार भर की पुराकालीन सभ्यताओं के भिन्न-भिन्न भूभागों में प्रकृति के उद्‌घाटनार्थ तत्वों का विचार, बहुदेवों की कल्पना, मूर्तिकल्पना, चित्रलिपि, रोगोत्पति में आधिदैविक कारणों की महत्ता, चिकित्सा में मंत्रादि आधिदैविक उपचारों की बहुलता, ग्रह-नक्षत्र तथा शुभाशुभ विवेचन, अरिष्ट सूचक आयु तथा उसका शुभाशुभ विवेचन तथा शकुनादि विचारों में एकरूपता प्राक्कालीन चिकित्सा विज्ञानों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

पुराकालीन चिकित्सा विज्ञान पर लिखी अपनी पुस्तक "सायन्स एण्ड सेक्रेट्स ऑव अर्ली मेडिसिन" में जुरगेन थोखाल्ड ने लिखा है कि आज तक कोई लिखित प्रबन्ध, प्रस्तर, मूर्ति या शिलालेख या कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि मिश्र देश के प्राचीन वासी चिकित्सक कभी सुदूर पूर्व भारत को आते थे अथवा चीन देश के चिकित्सक मिश्र देश को जाते थे।

चिकित्सा-विज्ञान के विकास क्रम के काल-क्रमानुसार खण्ड

१. प्राक् ऐतिहासिक चिकित्सा विज्ञान जादू टोना-३००० वर्ष ई. पूर्व के पहले)।

२. पुराकालीन चिकित्सा (आर्केमेडिसिन) (३०००-१५०० वर्ष ई.पू.)।
३. ग्रीक चिकित्सा विज्ञान (३३० व. ई. पूर्व ३० ई. पूर्व)।
४. रोम देशीय चिकित्सा विज्ञान (२००-१८६ व. ई. पू.) पश्चिमी रोम सभ्यता।
५. बैजेण्टायन चिकित्सा विज्ञान (पूर्वी रोम की सभ्यता-ई. ३१३ से १४५३)।
६. अरब चिकित्सा पद्धति (पश्चिमी चिकित्सा पद्धति को एक धरोहर के रूप में प्राप्त हुई)।
७. मध्य युगीन चिकित्सा विज्ञान (मेडिकल मेडिसिन-ई. १३वीं से १५वीं शती तक)।
८. पुनर्जागरण चिकित्सा पद्धति (रीनेसेन्स मेडिसन-ई. सोलहवीं शती १५११-१५५३)।
९. बारोक चिकित्सा-विज्ञान (बारोक मेडिसिन-स्पेनवासियों की द. अमरीका में विजय ई. सन् १५९२-ई. १७वीं शती)।
१०. प्रकाशमान चिकित्सा विज्ञान (मेडिसिन इन इलाइटेण्मेण्ट-ई. १८वीं शती)।
११. उन्नीसवीं शती का चिकित्सा-विज्ञान।
१२. बीसवीं शती का चिकित्सा-विज्ञान।

चिकित्सा विज्ञान का विकास-क्रम

प्रागैतिहासिक-आदिम मानव जिनके बारे में प्रस्तरों के अंकन, कहानियों, लौकिक श्रुतियों एवं पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जानने का प्रयत्न किया जाता है अथवा आज आदिम जातियों की विद्यमानता के आधार पर अनुमान किया जाता है, उनमें भी रोग पैदा होते रहे होंगे और उनकी कुछ चिकित्सा की भी व्यवस्था की जाती होगी। अनुमानतः उनमें श्वसन-तंत्र, संधिवात, पचन-तंत्र, मूत्र-प्रजनन संस्थान, उपसर्गज, अभिघातज तथा मानस रोग होते रहे होंगे और उनमें घरेलू उपचार जैसे भोजन (पथ्य), जड़ी-बूटी, अभ्यंग एवं लेप आदि का प्रयोग (फिजियोथिरैपी) भी रहा होगा। इसके अतिरिक्त मानस चिकित्सक (सायकोपैथ) भी रहे होंगे, जो अपने शकुन विचार (इक्सोर्सिज्म) के आधार पर रोग तथा रोगों का भविष्य कथन या शुभाशुभ परिणामों का आंकलन करते रहे होंगे। चिकित्सकों का यह वर्ग वैद्य मंत्रज्ञ (जादूगर), पुरोहित, लोकनेता एवं राजकवि का समन्वित रूप था। आधुनिक इतिहासकार इसे जादू चिकित्सा (मैजिक मेडिसिन) कहता है और जादू टोना आदि को विज्ञान का पूर्ववर्ती रूप (प्रीकर्सर ऑव साइंस) मानता है क्योंकि प्रकृति के समझने का मानव का यह प्रथम प्रयास था। इस युग का चिकित्सा विज्ञान, चिकित्सा, धर्मशास्त्र विद्या, कला, ज्ञान, निष्ठा एवं श्रद्धा का एक समुच्चय था। फलतः आदिम युग की चिकित्सा कौन (व्यक्तित्व), कहां (धर्मकृत्य का पवित्र स्थल) तथा कब (तिथि मुहूर्त नक्षत्र) आदि के आधार पर प्रचलित थी, जबकि आज की वैज्ञानिक-चिकित्सापद्धति क्या (जो किया गया है) कैसे (विधि जो प्रयुक्त हुई) और क्यों (चिकित्सा कारणानुरूप) व्यवस्था पर आधृत है।

संक्षेप में प्राचीन युग में चिकित्सा अप्रतर्क्य (इम्पिरिकल) थी और आज प्रतर्क्य (रेशनल) है। वर्तमान युग में आधुनिक सभ्यता के सम्पर्क से वंचित दूरस्थ कई भूभागों में आदिवासियों में आज भी जादू टोना प्रभृति से निदान एवं चिकित्सा की परम्परा मिलती है। चिकित्सा विज्ञान का महान् इतिहास लेखक हेनरी सिगरिस्ट ने लिखा है आज से २० हजार वर्ष पूर्व जो आदिम चिकित्सा पद्धति थी, तत्सदृश चिकित्सा पद्धति अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, गिनी आदि देशों के आदिवासियों में उसको देखने को मिली है। विश्व की प्रारंभिक चिकित्सा में भारत, मेसोपोटामिया, मिश्र तथा चीन चिकित्सा पद्धतियों का नामोल्लेख महत्व का है, जिनका अलग-अलग विवरण निम्नलिखित है -

असुर तथा बैबीलोन देश का चिकित्सा विज्ञान

सुमेर देशीय संस्कृति एक प्राचीन संस्कृति है। बाइविल में इसे एब्राहीम की जन्मभूमि कहा गया है। ईसा से २८०० वर्ष पूर्व अक्काड राजा सरगान ने प्रथम मेसोपोटामिया राज्य की स्थापना की, ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में वह विलीन हो गया, जिसकी पुनः खोज उन्नीसवीं शती के पूर्व तक नहीं हो सकी।

बेबीलीन

यूफ्रेटेश (फरात) नदी के तट पर ईसा से ३००० वर्ष ईस्वी पूर्व एक नगर की स्थापना हुई। इस नगर का नामकरण तद्देशीय तत्कालीन प्रधान देव मर्दुक के नाम पर हुआ। यह नगर असीरियन राजा सेना घरीव के द्वारा (६६३ व.ई.पू.) जीत लिया गया और पुनः अर्सारियन के द्वारा अधिक भव्य रूप में निर्मित हुआ। फिर ५३८ व. ईस्वी पू. में फारसी राजा सायरस के द्वारा विजित होकर यह सभ्यता ध्वस्त हुई और सदा के लिए विलीन हो गई। वेबीलीन में सर्वप्रधान राजा हुन्नुरब्बी हुआ, जिसने क्यूनीफार्म अक्षरों में ३६०० पंक्तियों में विधि विधान को लिखवाया। इसकी जानकारी उन्नीसवीं शती में पुरातत्ववेत्ताओं ने खुदाई के आधार पर प्राप्त की।

असुर

बेबीलीन से २०० मील की दूरी पर असीरिया की प्रथम राजधानी की स्थापना टैग्ररिस (दजला) के तट पर (३००० व.ई. पू.) हुई, पश्चात् यह सभ्यता भी विलीन होकर बेबीलीन और निनवेह के रूप में परिणत हो गई।

निनवेह

असीरिया की राजधानी था। इसमें सर्वाधिक प्रतापी राजा असुर बनिपाल हुआ। इसका पतन ६०८ व.ई.पू. हो गया। असुर बनिपाल (६६८-६२६ व.ई.पू.) के युग में

साहित्य तथा विज्ञान का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। इसने एक राजकीय ग्रंथागार बनवाया, जिसमें उस काल के उपलब्ध सभी साहित्यों का संकलन कराया। उस युग में चित्रलिपि इस क्षेत्र में प्रचलित थी। कागज की खोज नहीं हुई थी। साहित्य की रचना क्यूनीफार्म अक्षरों में होती थी, जिसे मिट्टी के ठीकरों पर रीड की कलम से लिखकर आग में पकाकर रख लिया जाता था। कालक्रम से ये ठीकरे (टेबलेट्स) जमीन के अन्दर कई गज नीचे धंस गये थे। पुरातत्वविदों ने खुदाइयों के अनन्तर उनका पता लगाया। पश्चात् उनका गूढ़वाचन हुआ। खुदाई से प्राप्त भग्नावशेषों की कुछ प्रतियां ब्रिटिश म्यूजियम में आज भी संगृहीत हैं और उपलब्ध हैं।

निपुर

एक अज्ञात सुमेर देश के चिकित्सक ने ३००० व.ई.पू. अपने मूल्यवान बारह व्यवस्था पत्रों का संकलन 3 ¾ x 6 ¼ इंच के पके ठीकरों पर रीड की कलम से क्यूनीफार्म अक्षरों में अंकित कर अपनी कीर्ति को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न किया था। चिकित्सा की यह पुस्तक निपुर के ध्वंसावशेषों में ४००० वर्षों से पृथ्वी के अन्दर कई गज नीचे गड़ी हुई थी। उन्नीसवीं शती के पुरातत्वविदों के हाथ लगी और उसका गूढ़ वाचन हुआ। गूढ़वाचन करने वाले सर आस्ट्रेन हेनरी लेयार्ड सुमेर देश के प्रथम पुरातत्ववेत्ता हुए, जिन्होंने सन् १८४५-१८५४ ई. तक ठीकरों के वाचन का प्रथम प्रयास किया। पश्चात् उनके सहायक हरमजुमदार ने दजला नदी की घाटी में निनवेह स्थान पर प्राचीन नगर की खुदाई करायी। इस व्यक्ति का प्रयास बड़ा सराहनीय रहा। इसके प्रयत्नों से राजा असुर बनिकाल के ग्रन्थागार का पता लगा, जिसमें बीस हजार, क्यूनीफार्म अक्षरों में लिखित ठीकरें प्राप्त हुए और लैवेट नाम फ्रान्स देशीय पुरातत्ववेत्ता ने पुनः इन ठीकरों के पढ़ने का प्रयास किया और बड़े परिश्रम के अनन्तर उनका वाचन करके एक पुस्तक का प्रकाशन "ट्रेट अकेडीन डे डायग्नोस्टिक एट प्रोग्नेस्टिक मेडिकाक्स" नाम से फ्रान्सीसी भाषा में किया। इस प्रकाशन से मेसोपोटामिया की प्राक्कालीन चिकित्सा विज्ञान के सम्बन्ध में वहुत ज्ञान हुआ। इसमें अरिष्ट ज्ञान की तत्कालीन साधनों के ऊपर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसी ग्रन्थ के आधार पर आयुर्वेद का इतिहास लेखक श्री फिलियोजा ने अपनी रचना में अरिष्टों (प्राग्नास्टिक्स) का भारत, सुमेर तथा ग्रीक वैद्यक का एक तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।

फ्रेडरिक कुचलर तथा कैम्पवल थाम्पसन ने वहुत ठीकरों का पुनर्वाचन किया और सन् १९२५ में एक अंग्रेजी पुस्तक इसी के आधार पर प्रकाशित की, जिसका नाम "ऐसिरियन मेडिकल टैक्स्टस" था। सन् १९४० में अमेरिकन वैज्ञानिक सेमुअलमोह कारमोर ने पुनः एकद्विषयक शोध को एवं तत्सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करायी।

पुरा वृत्तान्त

इन वाचनों से यह ज्ञात होता है कि सुमेर, असुर, बेबीलोन तथा अक्काड सभ्यताओं में चिकित्सक की प्राचीन संज्ञा ''असु'' थी। वहां के वैद्य ''असु'' नाम से समाज में पूजित होते थे। प्रस्तर युग से मानो सभ्यता का सूर्योदय होने लगा था। इतिहास में सर्वप्रथम चिकित्सा व्यवस्था के रूप में ये ठीकरे मिले। पाश्चात्य इतिहासविद्रों का ऐसा मत है कि इन दो नदियों के संगम स्थल (दजला-फरात) पर बसे हुए सुमेर क्षेत्र में सर्व प्रथम ईसा से ३००० वर्ष पूर्व चिकित्सा विद्या ने जन्म लिया। विद्या जादूगरी के कला की तरफ प्रवृत्त हुई। अर्दनन वैद्य का वृतान्त मिलता है। इसने आमवात एवं कृमि दन्त के सम्बन्ध में बताया। कई रोगों का जैसे विसूचिका, प्रवाहिका, यकृच्छोथ, अभिष्यंद, कुष्ठ (वेनु) क्षय, फुफ्फुस शोष, श्वसन रोग, कामला, आन्त्रावरोध, पिताशयशूल तथा अर्श रोगों का आख्यान पाया जाता है। रोग उत्पादक हेतुओं में कर्म, देव एवं प्रेत बाधादि का अधिक महत्व दिया गया है। गणित एवं फलित ज्योतिष का आविर्भाव, ग्रह नक्षत्रों का मानव शरीर पर प्रभावादि की चर्चा मिलती है। मेसोपोटोमिया की चिकित्सा विद्या में यकृत का रोगोत्पादन में सर्वाधि क महत्व दिया गया है। यकृत विकारों के निदान की भी एक विशेष प्रक्रिया बतायी गयी है। रोगी के नाम पर पशु को बलि देकर उसके यकृत का निरीक्षण करके उसके ऊपर रोगी के यकृतगत विकार का अनुमान करना यह यकृतदर्शन की प्रणाली बतायी गई है। समाज में पुरोहित, धर्मगुरु, राजा, चिकित्सक, शकुन विचार तथा मंदिरों की प्रधानता थी। चिकित्सा विद्या में भी मंदिर एवं धर्म गुरुओं का विशेष महत्व दिया जाता था। लिंग नाश का शल्यकर्म, चश्मे का आदिम ज्ञान, मूत्रकृच्छ (गनोरिया) तथा मूत्रनाड़ी (कैथेटर) का भी ज्ञान था। बहुत सी औषधियों का नामोल्लेख मेसोपोटामिया की चिकित्सा पद्धति में मिलता है। गांजा, भांग, मधुयष्टि, कैल्शियम कार्बोनेट का पथरी में, व्रण बन्धन, गुदवस्ति तथा वस्ति का भी ज्ञान उस युग में था। संभव है ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व औषधि व्यापार सम्बन्ध ा भारत के साथ रहा हो।

वर्तमान में इस क्षेत्र को इराक कहा जाता है। इस क्षेत्र में आज वैज्ञानिक चिकित्सा प्रचलित है।

अरिष्ट ज्ञान

अक्काड सभ्यता की चिकित्सा विद्या में अरिष्ट विवेचन एक प्रमुख चिकित्सांग रहा होगा। उस काल के उपलब्ध साहित्य में अरिष्टों का विवेचन पांच खण्डों में हुआ है। श्री लैबेटनामक तद्विद्य ने उस देश के प्राग्ज्ञानों का ग्रीक देश के प्राग्ज्ञान विषयों में तुलनात्मक विवेचन किया है। ग्रीक साहित्य का अध्ययन ''हिपोक्रैटिक कलेक्शन'' तथा ''प्रीनोशन्स डीकाक्स्'' के आधार पर उसने किया है। एक दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

मेसोपोटामिया

यदि उसकी नासा शीतल हो, तो वह मरेगा तथा यदि उसका नासाग्र पीला हो, तो वह मरेगा।

ग्रीक

यदि कान शीतल एवं संकुचित हो, तो वह अरिष्ट चिन्ह है। वस्तुतः इतने कथन मात्र से उपर्युक्त अरिष्ट चिन्ह सटीक नहीं सिद्ध होते हैं। सम्भवतः इन सूत्रों के कुछ और भी पूरक वचन रहे होंगे, जिनका मौखिक उपदेश गुरु से प्राप्त होता रहा होगा, जो कालक्रम से आज लुप्त हो गये हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है।

मिश्र देशीय प्राक्कालीन चिकित्सा विज्ञान

ऐतिहासिकों ने दूसरी प्राचीन सभ्यता की खोज नील नदी की घाटी में की है। यहां पर प्राक्कालीन चिकित्सा का अभ्युदय प्रथस ग्रीक चिकित्सक के जन्म लेने के दो हजार वर्ष पूर्व हो गया था। ईसा से ३१५०-२७०० वर्ष पूर्व एक राजा जोस्टर हुआ, जिसने मिश्र (इजीप्ट) का प्रथम पिरैमिड निर्माण करया। उसी के युग में प्राम चिकित्सक उस देश में पैदा हुआ, जिसका इतिहास साक्षी है। इस चिकित्सक का नाम था इम्हेंटोप (२७०० ई. पू.), जिसका शाब्दिक अर्थ होता है संतोषप्रद। यह समाज में देववत् पूज्य था।

मेसोपोटामिया की भांति मिश्र देश में भी चिकित्सा विद्या एक पवित्र कला के रूप में मंदिरों में सुरक्षित रहती थी। समाज में बड़ा विद्वान् पुरोहित या चिकित्सक माना जाता था। वैद्यक विद्या का शिक्षण तथा अभ्यास भी अधिकतर मंदिरों में ही होता था। चिकित्सक को "सुनु" कहा जाता था। मेसोपोटामिया के चिकित्सा विद्या में यकृत् ही प्राण का अधिष्ठान माना जाता था, परन्तु मिश्री चिकित्सकों ने श्वसन तथा रक्तवह संस्थान को अधिक महत्व दिया। बाइस से चौव्वालीस तक रक्त वाहिनियों को हृदय से सम्बद्ध मानते थे, जिनसे पूरे शरीर का पोषण होता है। वस्ति (एनीमा) का भी प्रयोग चिकित्सा में बहुलता से होता था। यह प्राचीन मिश्री सभ्यता (का अन्त) फारस देश के द्वारा विजित होकर पांच सौ वर्ष ई. पू. नष्ट हो गई, जिनका पुनर्मूल्यांकन उन्नीसवीं शती में पुरातत्व वेत्ताओं ने की।

मिश्रदेशीय प्राचीन चिकित्सा विज्ञान के ज्ञान के साधन

(१) शुष्क शवों (ममीज) का अध्ययन (पिरामिडों में गड़े)।
(२) हेरोडोटस का इतिहास, जो कि ४५० व.ई.पू. लिखा गया।
(३) औदकश्री पत्रतन वेष्टम (पपाइरी)।

पपाइरी

प्राचीन मिश्र चिकित्सा की कुल ८ पपाइरी उपलब्ध हुई हैं। इनमें से कुछ जर्मनी में, कुछ ब्रिटेन में तथा कुछ अमेरिका में सुरक्षित हैं। उनका लेखन काल सन् १६००-१२०० वर्ष ई. पू. का है। जार्ज एवर्स नामक जर्मन प्रोफेसर सर्वप्रथम मिश्र देश का पुरातत्ववेत्ता हुआ। इस मिश्र वेत्ता (इजाप्टोलाजिस्ट) को उन्नीसवीं शती में एक अरवी व्यक्ति के हाथ से एक लम्बा औदक श्रीपत्र का वेष्टन (पपाइरसरोल) प्राप्त हुआ। उस अरबी व्यक्ति ने बताया कि वह वेष्टन उसने सन् १८६२ ईस्वी में एक सुरक्षित शुष्क शव के दोनों पैरों में मध्य से प्राप्त किया था। यह वेष्टन ७५ फीट लम्बा था और उसमें १०८ अनुच्छेद (पैराग्राफ) लिखे हुए थे। प्रत्येक अनुच्छेद में, जो बहुत घने लिखे थे, बीस से बाइस पंक्तियां तक लिखी थी। इसका गूढ़ वाचन इस जर्मन प्राध्यापक ने किया। उसमें मानव शरीर के विविध अंगों में होने वाले रोग तथा चिकित्सा में व्यवहृत होने वाली औषधि निर्माण विधियों का उल्लेख प्राप्त हुआ। यह पपाईरस १५५५ इ.पू. से पश्चात् का कथमपि नहीं हो सकता। एवर्स ने दो वर्षों के अनन्तर पुस्तक के रूप में इस वाचन को प्रकाशित कराया।

हेनरिच बुगवा नामक एक अन्य जर्मन मिश्र वेत्ता ने भी इसके पूर्व एक पपाइरस का पता लगाया, जो एक पात्र में भरकर रखा गया था और सक्कारा क्षेत्र में कई गज अन्दर भूमि के अन्दर गड़ा हुआ मिला था, उसमें २७९ पंक्तियां लिखी थीं। यह भी कई औषधि व्यवस्थाओं का संकलन था। दूसरा एक पपाइरस, जो चिकित्सा विद्या से ही संवद्ध है, लन्दन में उपलब्ध है। वह संभवतः १६०० ई.पू. का है।

सन् १८९० में एवर्स के पपाइरस के गूढ़ वाचन का प्रथम प्रयास एच. बोशिम ने किया। यद्यपि यह वाचन पूर्णतया ठीक रहा, इस बात का दावा नहीं किया जा सकता, तथापि उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्रीक चिकित्सा शास्त्रज्ञ हिपोक्रेट्स (४६० ई.पू.) जो चिकित्सा शास्त्र का जन्मदाता या पिता कहा जाता है, इससे बहुत पूर्व ही मिश्र देश में चिकित्सा शास्त्र का सुष्ठु स्वरूप उपलब्ध होता है। वर्लिन पपाइरस के पश्चात लन्दन पापाइरस का वाचन हुआ। पश्चात् १८९९ ईस्वी में किसी अरवी व्यक्ति द्वारा प्राप्त पपाइरस का पता चला, जो डाको ऊपरी मिश्र में मिला था। इससे भी उस देश की पुराकालीन चिकित्सा विद्या के उत्कर्ष का पता चलता है। उपलब्ध पपाइरस का दूसरा गूढ़ वाचन सन् १९३७ ईस्वी में वैण्डिक्स एबेल नामक विद्वान ने किया। तदनन्तर जेम्स हेन वेस्टड नामक अमेरिकन विद्वान् ने १९३० ईस्वी में पुनः वाचन किया। यह गूढ़ वाचन बड़ा ही उत्तम और प्रमाणिक सिद्ध हुआ।

इन गूढ़ वाचनों के फलस्वरूप उस देश की पुराकालीन चिकित्सा पद्धति के सम्बन्ध में बहुत सी जानकारी प्राप्त होती है। इसमें सूर्य देव को सर्वोपरि चिकित्सक माना गया है। शिश्न चर्म का चक्र छेदन (२४२३-२६६३ व.ई.पू.) प्रचलित रहा। यह कर्म

मन्दिरों में ही होता था। मन्दिरों और पौरोहित्य कर्म आदि का प्रमाण भी मिलता है। स्मिथ पपाइरस की पाण्डुलिपि में रोगों का वर्णन, उनकी व्याख्या, निदान, सम्प्राप्ति, साध्या-साध्यत्व तथा चिकित्सा का आख्यान मिलता है। विशाख मूल या लक्ष्मणा (मैण्ड्रागोरा या मैण्ड्रेक) भी सम्भवतः चिकित्सा में औषधियों के रूप में व्यवहृत होता था। आज के युग में औषधि के क्रियाशील द्रव्य स्कोपोलामीन एवं एट्रोपीन के रूप में व्यवहृत होकर गोधूल-निन्द्रा के लिए बरते जाते हैं। मिश्र देश में हेनबेन हायोसायमस (फोलियो हायोसायमी म्यूटिसी) भी चिकित्सा में व्यवहृत होते थे। एवर्स के पपाइरस में दालचीनी का नाम बहुत बार आया है। यह द्रव्य नील नदीकी घाटी से हजारों मील दूर चीन, भारत और लंका से प्राप्त होता था। केशर भी चिकित्सा में व्यवहृत होती थी, जो सम्भवतः क्रीट देश से मंगाई जाती थी।

मिश्र देश के व्यवस्थापत्रों के गूढ़ वाचन से औषधियों का आश्चर्य देश कहा गया है। इसमें सनाय, एरण्ड, अफीम, पोस्तादाना, पारसीक यमानी (हेनवेन) प्रभृति द्रव्यों का उल्लेख भी मिलता है। संभवतः पुराकाल में समुद्री मार्ग से भारत, अफ्रीका, क्रीट और चीन देश से औषधि व्यापार का सम्बन्ध व्यवस्थित रहा, जिससे तद्-तद् देशों की औषधियों का आयात मिश्र देश में होता रहा हो। पपाइरी में कई चिकित्सकों का जैसे इवटी, नेबामुन आदि का नामोल्लेख मिलता है। शल्य तंत्र का भी विकास हो गया था। निनंख नामक शल्यविद् का नाम महत्व का है, जिसने शल्य तंत्र पर एक पाठ्य पुस्तक का निर्माण किया था। चिकित्सा में धातु उपधातुओं का भी व्यवहार होता रहा। जैसे ताम्र, अंजन तथा सीसधातु। हृदय एवं नाड़ी का रहस्य ज्ञात था। इकवस नामक चिकित्सक ने शोधन के महत्व का उल्लेख रोग के रोकथाम के उपाय एवं स्वास्थ्य संरक्षण के साधनों में किया है। शूक रोग तथा उपदंश या फिरंग रोग (विनेरियल डिसीजेज) का भी आख्यान मिलता है। सर विलण्डर पेट्री ने योनिव्यापदों के उपर लिखी एक पाठ्य पुस्तक की भी शोध की, जो २२०० वर्ष ई.पू. की लिखी थी।

इस पुराकालीन चिकित्सा पद्धति में बहुत प्रकार के पशुओं के मल, मूत्र, विष्ठा आदि का वर्णन पाया जाता है। सिंह, व्याघ्र, तरक्षु आदि पशुओं की विष्ठाओं का शरीर पर लेप करना या उनको जलाकर शरीर का धूपन करने का विधान बहुत मिलता है। इस विद्या को पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने गंदे परनाले का द्रव्यगुण की संज्ञा दी है, जो उस काल में उस क्षेत्र में प्रचलित थी। इन त्याज्य मलों का औषधि के रूप में व्यवहार (एक्सक्रीमेण्टल ड्रग्स) के अंधकार पक्ष को छोड़कर प्रकाशमान पक्ष पर विचार किया जाय, तो वस्तुतः ये आधुनिक युग की प्रतिजीवी औषयों (एण्टोबायटिक्स) के पूर्वगामी हैं। पशुओं की विष्ठाओं के साथ बहुत से ऐसे तृणाणु एवं प्रतिरोधी द्रव्य निकलते हैं, जो पुनः जीवित मानव शरीर में प्रयुक्त होकर उपसर्गकारी विकारी तत्वों के लिए घातक सिद्ध होते हैं। आधुनिक एण्टीवायोटिक्स के मूल द्रव्य जल की काई और फफूंद आदि ही होते हैं।

शुष्क शव मिश्री चिकित्सा विज्ञान के साक्षी हैं। मिश्र देश के पिरामिड्स के नीचे पाये जाने वाले समाधिगत शुष्क शवों का अध्ययन डा. आर्मेट रफर ने १८६३ ईस्वी में प्रारंभ किया। पश्चात् डा. इलियट स्मिथ ने भी कार्य प्रारम्भ किया। इन शुष्क शवों (ममीज्) का क्ष-किरणों से परीक्षा एवं अध्ययन प्रारम्भ किया। मिश्र देश में मृत्यु के पश्चात शवों को सुरक्षित रखने की विद्या ज्ञात थी। उस समाज में एक सम्प्रदाय था, जो इस कला में सुशिक्षित रहता था। निर्धन से लेकर धनवान् और प्रजा से लेकर राजा तक के शवों को सड़ने-गलने से बचाकर वे जमीन के अन्दर गाड़ दिया करते थे। आज कई हजार वर्षों के अनन्तर भी वे शव उसी रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह शुष्क शव संरक्षण विद्या मिश्र देश तक ही सीमित थी, ऐसे शवों को ममी कहा जाता है। इन ममी के अध्ययन से आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के बहुत से तत्वों का पता लगा है। इस शुष्क शवाध्ययन की कला को पुराकालीन विकृति-विज्ञान (पैलियोपैथोलाजी) कहा जाता है। इस विद्या का जन्म मिश्र देशीय शवों के अध्ययन के साथ ही हुआ। पुराकालीन विकृति विज्ञान के अध्ययन से मिश्र रक्त का वर्ग (ब्लड ग्रुप) तथा मिश्र देश में होने वाले प्राचीन रोगों का भी पता चलता है। उस काल में यकृद्दाल्युदर, क्षय, प्लेग (शुष्क शवों के फफ्फुस में प्लेग कीटाणुओं की उपलब्धि से), शीतला, वातरक्त, वृक्कवृद्धि, कृमि, धमनी की कठोरता (कारोनरी धमनी के रोग) आदि देखने को मिले। इसी पुराकालीन विकृतियों के आधार पर ही आधुनिक युग के धमनी रोगों के सम्बन्ध में विचारों का जन्म हुआ, जिसका विस्तृत रूप आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के पाठ्यग्रंथों में देखने को मिलता है। इसके अलावा शवों के अध्ययन से उस युग में दन्त रोग, गलगण्ड और कैंसर प्रभृति रोगों की उपस्थिति का भी ज्ञान हुआ।

अरिष्ट ज्ञान

प्राग्ज्ञान (प्राग्नोसिस) संभवतः इस क्षेत्र की पुराकालीन चिकित्सा विज्ञान में मेसोपोटामिया सदृश विकसित नहीं था, फिर भी शकुन विचार के आधार पर आयुमर्यादा निर्धारण की परिपाटी थी। उदाहरणार्थ एक प्रसंग यहां पर उद्धृत किया जा रहा है। रोगी को एक विशेष प्रकार का लकड़ी हाथ में पकड़ा दो, उसे घर से बाहर खुले में निकालो, फिर घर के चारों ओर एक चक्कर लगाने को कहो, यदि वह समर्थ होगा, तो वर्ष के अन्त तक नहीं मरेगा (अन्यथा एक वर्ष के अन्दर ही मर जायेगा)। वर्तमान में अरब गणराज्य इसरायल आदि नवीन सभ्य देश हैं, चिकित्सा पद्धति आधुनिक है।

चीनी प्राक्कालीन चिकित्सा विज्ञान

चीनी सभ्यता की प्राचीनता की प्रतीक चीन की भीषण किलेबन्दी के रूप में एवं प्राचीन इतिहास का साक्षी चीन की दीवाल आज भी विद्यमान है। यह महा दीवाल १४००

मील लम्बी है, जिसके ऊपर २४००० बुर्ज हैं। यह दीवाल बाहरी आक्रमणों से बचाने के लिए महाराज बिसन्नाटी (२२१-२१० ई.पू.) के काल में निर्मित हुई थी। यह चीनी पुराकालीन इतिहास की समाप्ति का युग था। चीन देश की चिकित्सा पद्धति के ऊपर फांजबुहुटोर ने एक इतिहास की पुस्तक लिखी है। सबसे प्राचीन चिकित्सक राज वंश चाऊ तथा हान काल में हुए। पुराकाल में चीनी चिकित्सकों की संज्ञा "ई" थी। महाराजाधिराज शेनन्ग (२८३८-२६२६ ई.पू.) द्रव्यगुण विज्ञान पर एक पुस्तक लिखी थी। उसके बाद महाराज संगती तथा उनके मंत्री चीपो (२६९८-२५९८ ई.पू.) ने स्वास्थ्य तथा रोग विमर्श सम्बन्धी चिकित्सा ग्रन्थ बनाया। नोचिन्ग ने अंतर्मन का सिद्धान्त स्थिर किया। शांगकाल में (१७६६-१०८८ ई.पू.) वृक्करोग, शीतला, महामारी, प्लेग, क्षय, देव, राक्षस, शकुन विचार प्रभृति बातें चर्चा युक्त ग्रंथ लेखन किया। शांगवंश (१५२३-१०२८ ई.पू.) चाऊ वंश (१०२७-२५६ ई.पू.) की समाधियों से ताम्र तथा पीतल धातु की प्राप्ति हुई थी।

चाऊ राज्य के अंतिम काल (२२१३ ई.पू.) की रचनायें मिलती हैं। उसमें समाज को बहु दैवोपासक बताया गया है। शान्गतों उस काल के सबसे प्रधान कल्याणकारी देव थे। बहुत से अरिष्टकर राक्षसों (डेमन्स) का भी वर्णन मिलता है, जिनके कारण से रोगों की उत्पत्ति होती थी। यिन्‌यंग (प्रकृति पुरुष) से ब्रह्माण्ड की रचना का सिद्धान्त मिलता है। पंच तत्वों में काष्ठ, अग्नि, पृथ्वी, धातु और जल का वर्णन पाया जाता है। पंच पंचक का वृहदाख्यान मिलता है। जैसे पंचदिशा, पंचग्रह, पंच ऋतु, पंचकाल, पंचवर्ण, पंचरस, पंच सम्बन्ध आदि से प्रकृति के रहस्योद्‌घाटन किया गया है। कन्फूसियस (५५१-४७९ ई.पू.) नामक दार्शनिक चीन देश में पैदा हुआ, जिसने आधार धर्म का उपदेश किया। हान काल (२०६-२२०) शताब्दी ईस्वी में चिकित्सा शास्त्र का बहुत विकास हुआ। विश्व की गतिशील शक्तियों का आधार यिन यंग को स्थिर किया गया। शरीर में इड़ा (सिम्पेथेटिक) तथा पिंगला (पैरासिम्पैथेटिक) तथा ना चिन्ह् ने दो सौ प्रकार का नाड़ियों का ज्ञान करके नाड़ी विज्ञान तथा सूचीवेध चिकित्सा पद्धति (एक्यूपंचर) पर महान रचनाएं बनाई। पुराकाल में चीन देश में शल्यतंत्र भी व्यवहार में था। उसमें हाटो नामक शल्यविद् की चर्चा मिलती है। हानकाल का प्रधान चिकित्सक ताईगसा हुआ। इसकी तनख्वाह ६००-१००० कुलियों से ढोने योग्य चावल प्रतिवर्ष थी। पंचागों में हृदय, फुम्फुस, यकृत, प्लीहा तथा वृक्क ये शरीर के प्रधान अंग माने जाते थे।

आधुनिक युग में एफेड्रीन, चालमोगरा, कपूर तथा अहिफेन का चिकित्सा में प्रयोग पुराकालीन चीनी चिकित्सा विज्ञान की ही देन मानी जाती है। इसके अतिरिक्त पारद, विषम ज्वरघ्न कुछ औषधियां, जिनमें मूल प्रकृति औषधियों का प्रयोग उस क्षेत्र में उस काल में होता रहा।

चीनी वैद्यक में मृत्यु नाड़ी या अरिष्ट नाड़ी का विशद विवेचन पाया जाता है। मृत्यु की नाड़ी का पांच आन्तरिक मर्मांगों के साथ सम्बन्ध रहता है-हृदय, फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा तथा वृक्क। यहां पर उदाहरण के लिये एक मृत्यु सूचक नाड़ी का वर्णन किया जा रहा है, जो हृदय के निपात में मिलती है। "यदि हृदय की प्राकृत नाड़ी बदलती जाय, चेहरा फीका और निस्तेज हो जाय, नाड़ी मंद पड़ती जाय, तो रोगी की मृत्यु एक दिन में हो जाती है।" वर्तमान में चीन देश में प्राचीन तथा अर्वाचीन उभय विधि चिकित्सा विज्ञान का प्रचलन है।

मैक्सिकों का पुराकालीन चिकित्सा

अमेरिका को आज नयी दुनिया मानते हैं, जिसकी खोज ई. सन् १४९२ में कोलम्बस ने की थी। परन्तु उसके बहुत पूर्व (कई हजार वर्ष) मैक्सिको, पेरू तथा यूकेटान में एक महान् सभ्यता की विद्यमानता को ऐतिहासिकों ने सिद्ध किया है। उस क्षेत्र में कई सभ्यताओं तथा राजवंशों के चिन्ह खुदाई के अनन्तर प्राप्त हुए हैं। जैसे ओलमेक, मय तथा ऐजटेक सभ्यताओं के भग्नावशेष देखने को मिले है। ईसा पूर्व २००० वर्ष के मध्य में वहां पर बड़े शहर, वास्तु कला, स्थापत्य, मूर्ति कला, शासन, कागज, गणित, पंचांग लेखन चित्रांकन व्यवसाय तथा अन्य सभ्यता के उच्च तत्वों के विकास के चिन्ह मिले हैं। खुदाई से प्राप्त जैव द्रव्यों का अधुना भौतिक रसायन विधि (आइसोटोप १४ सी) से काल निर्णय किया जा सकता है। आज का पुरातत्ववेत्ता इन विधियों को अपनाकर काल निर्णय करता है। मैक्सिको तथा पेरू की सभ्यता का भी काल निर्णय इन्हीं विधियों के आधार पर हुआ है।

टेनोकिटलान, जहां वर्तमान में मैक्सिको शहर स्थित है, वहां पर सन् १५१९ ईस्वी में स्पेनियाई ने आक्रमण किया और वहाँ की श्री देखकर आश्चर्यचकित हो गये थे। वहाँ पर बड़े-बड़े पिरामिड थे और पिरामिडों के ऊपर मंदिर बने थे। आजटैक राज्य के ये पिरामिड नील घाटी के पिरामिड से भी विशाल और कलापूर्ण थे। उन पिरामिडों को टियोक्लो कहते थे। गूढ़ाक्षर लेखन (होरोग्लीपिक स्क्रिप्ट) की कला उस युग में वहां पर भी थी। ह्विटजिलोपीशिटली वहां के प्रधान देव थे, जो नरबलि से तृप्त होते थे। एक बार राजधानी में २० हजार कैदियों की नरबलि दी गई थी। टलाजोलटियोटल उस युग की देवी थी। जिनके कोप से रोगादि की उत्पत्ति होने की मान्यता थी। ऐज्टेक सभ्यता के पश्चात् मय राज्य (४००-९०९ ई.पू.) स्थापित हुआ। भवन निर्माण कला का इस सभ्यता में अतुलनीय विकास हुआ। आगे चलकर ४३५ ई. सन् में पीड्रासनीग्रस नगर की स्थापना हुई। यहाँ पर ज्योतिषशास्त्र का बहुत विकास हुआ। आजटेक युग के ग्रंथों के कुछ अवशेष, पादरी शाहगुन के लेख तथा स्पेनियाई डाक्टरों के कुछ लेख मैक्सिको चिकित्सा विज्ञान पर प्रकाश डालते हैं।

डा. निकोलस मनोरेडेस (१५६५ ई.) ने मैक्सिको की एजटैक चिकित्सा पद्धति पर पुस्तक प्रकाशित की। पुराकालीन मैक्सिको चिकित्सा एज्टेक काल में चरम विकास पर थी। चिकित्सकों की संज्ञा हेम्पीकेमोयाक, ओक्वेटल्युपुक अथवा सरकास थी। संभव है इन्हीं संज्ञाओं वाले प्रथम चिकित्सक मैक्सिको एवं पेरू देश में पैदा हुए हों। तम्बाकू, रबर, सार्सापरिला, कोका (जिससे कोको बनता है), कई निद्राकर औषधियां (पिसोदाल) तथा कैमाटाल (कामोत्तेजक) प्रभृति द्रव्य इसी सभ्यता की देन है, जो आज भी व्यवहार में है। वर्तमान में इस भूभाग का नाम मैक्सिको है और यहाँ की चिकित्सा प्रणाली वैज्ञानिक है।

पेरू देश का पुराकालीन चिकित्सा विज्ञान

पेरू देश में पुराकाल में इनका राज्य स्थापित रहा। इसमें एक चिकित्सा पद्धति का अभ्युदय हुआ था। भवन निर्माण तथा बर्तनों के बनाने की कला, मिट्टी की मूर्तियों के बनाने की कला इस देश में प्राचीन काल में बहुत विकसित थी। इस सभ्यता में चित्रांकन और मूर्तियों के बनाने के अतिरिक्त लेखन-कला का पूर्णतया अभाव पाया जाता है। पुराकालीन सभ्यताओं में यही एक देश था, जिसमें गूढ़ाक्षरों में लेखन का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

इस खण्ड में भी कई सभ्यताओं के चिन्ह खुदाई में मिलते हैं। चीन सभ्यता, जिसकी राजधानी चान चान थी, पेरू का पुराकालीन अंतिम राज्य रहा है, जिसकी स्थापना ७००-५०० ई.पू. हुई थी। दूसरी उल्लेखनीय सभ्यता मोचीकाली की रही है। सूर्य उनके उपास्य देव थे। उनके नाम से कई सूर्यस्तूप (सन पिरेमिड) बने मिले हैं। इसमें किप्पू गांठदार सूत्रों के रखने तथा रेखाओं को खीचने का बड़ा प्रचलन था। सम्भवतः अंक गणना के निमित्त ये सब चिन्ह बनते रहे हों।

स्वप्नों के आधार पर रोग निदान की पद्धति थी। चिकित्सक का समाज में पवित्र स्थान था। मिट्टी की मूर्तियों के, जिनकी प्राप्ति खुदाई से हुई है, अध्ययन से पता चलता है कि मैक्सिको तथा पेरू दोनों देशों के पुराकालीन चिकित्सकों को श्लीपद, क्षय, वालशोष, फिरंग, सुजाक रोगों का ज्ञान था। आमवात रोग, पक्षवध तथा वातिक शूल में अभ्यंग तथा वाष्पस्वेदन से चिकित्सा होती थी। वस्ति को इयुल्काचीनी कहते थे और इसका प्रयोग बहुलता से होता था। वमन-विरेचन तथा स्वेदन के निमित्त यूफोर्बिया ल्नेचेन हेना नामक औषधि का सेवन तथा आतप में स्वेदन कराया जाता था। अपक्व भुट्टे की मूँछ को मूत्रल रूप में प्रयोग होता था। इस चिकित्सा पद्धति में गंधक, तूतिया एवं हरताल का व्यवहार होता था। इनको एक विषाक्त वनस्पति कोका का ज्ञान था और जिसका वे चिकित्सा में व्यवहार करते थे। जिससे आज के युग में कोकेन नाम क्रियाशील द्रव्य प्राप्त हुआ, जिसका विश्व में स्थानिक संज्ञा हरण के रूप में आज भी प्रयोग हो रहा है।

पेरू की पुराकालीन सभ्यता में सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि उनका शल्यतंत्र का ज्ञान बहुत उन्नत अवस्थाओं में रहा। कपालास्थिवेधन (ट्रोपेनेशन) की हुई सहस्त्रों कपालअस्थियाँ पुरानी समाधियों से उद्धृत हुई हैं। बहुतों में तो केवल शल्यविद् ने भेद भर किया है कपालस्थि खण्ड को पृथक् भी नहीं किया है। संभव है वेधन काल में ही रोगी की मृत्यु हो गयी हो। ताम्र एवं पीतल के बहुत शल्यतंत्रीय यन्त्र-शस्त्र भी खुदाईयों से उपलब्ध हुए हैं। संभव है सफलतापूर्वक यह शल्य कर्म उस खण्ड में उस युग में होता रहा हो। बीसवीं सदी में उसी देश के एक सर्जन ने आधुनिक एसेप्टिक विधियों को अपनाते हुए उस युग में यंत्र-शस्त्रों की सहायता से सफलतापूर्वक कपालअस्थि वेधन किया (डा. फ्रैनसीस्को ग्रैना लिमा, ईस्वी सन् १९६२)।

अंगच्छेदन (एम्पुटेशन) भी उस काल में एक अत्यन्त व्यवहृत शल्य कर्म रहा होगा। बहुत सी मूर्तियां अंगछेदित मिली हैं। रोगी जनों के ढोने के लिए स्ट्रेचर का भी व्यवहार उस युग में प्रचलित था। अरिष्ट ज्ञान में मैक्सिकों पद्धति का एक सूत्र अरिष्ट सम्बन्धी एज्टेक चिकित्सा पद्धति का एक पाठ निम्नलिखित है -

"चिकित्सक रोगी का नाम और आंख देखकर बता सकता है कि रोगी अच्छा होगा या मर जायेगा। आंखों के मध्य में श्यामता का क्रमशः बढ़ते जाना, नेत्रों का काला होना, अपारदर्शी होना, नाक का क्रमशः पतला होना, दांतों का लगातार काटना और प्रलाप हो, .. त्वचा पर देवदार का लेप करें, त्वचा का भेड़िये, ईगल या पमा की अस्थियों से वेधन करें-यदि लाभ नहीं हो, तो रोगी काल कवलित हो जायगा।"

भारत-पुराकालीन सिन्धु सभ्यता

मोहन-जोदड़ों तथा हरप्पा की खुदाइयों के अनन्तर भारत में पुराकाल में या प्राक्ऐतिहासिक युग में एक आश्चर्यजनक महान् सभ्यता की खोज हुई है। लोधन (गुजरात) में हुई खुदाई से प्राप्त सभ्यता का भी अध्ययन करने से वह सभ्यता भी इसी (सिन्धु सभ्यता) से ही सम्बद्ध प्रतीत होती है। आज से पांच हजार वर्ष पूर्व (ईसा ३००० वर्ष से १५०० वर्ष पूर्व) भारत के इस अंचल में एक महान् सभ्यता थी। खुदाई से प्राप्त सामाग्रियों के अध्ययन से यह एक विकसित नागरिक सभ्यता ज्ञात होती है।

सम्भवतः मुअन-जोदड़ों, हरप्पा तथा लोमन ये तीन नगर उस काल की सभ्यता की राजधानियां थी। इनसे सम्बद्ध लगभग सौ छोटे-छोटे नगर थे। इस सभ्यता का प्रतिपादन करती हुई उपलब्धियाँ खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो नागरिक सभ्यता की दिशा इंगित करती हैं। उदाहरणार्थ महान स्नानागार, तैरने के तालाब, वाष्प स्थान, सोने, वेष-भूषा एवं बैठने के पृथक्-पृथक् कमरे आदि। इसके अतिरिक्त जमीन के नीचे से गन्दी नालियों के

प्रबन्ध, स्वच्छता एवं वास्तुकला का भी उस युग में यथेष्ट विकास हो चुका था। समाज में पशुपालन, कपास, गेहूं और जौ की कृषि होती थी और कुटीर व्यवसाय भी विकसित था।

इस विकसित सभ्यता को देखते हुए और सफाई की व्यवस्थाओं पर ध्यान देने से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस सभ्यता के काल में चिकित्सा विज्ञान का भी पर्याप्त विकास रहा होगा, परन्तु उसके सम्बन्ध में कोई दृढ़ प्रमाण अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है, जिसके आधार पर ऐसा कहा जा सके। दुर्भाग्यवश सिन्धु नदी की घाटी की इस पुराकालीन सभ्यता के अवशिष्ट लिपियों का गूढ़वाचन अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। कई पुरातत्ववेत्ताओं ने इस दिशा में प्रयत्न किया, परन्तु उनके गूढ़ वाचनों में प्रचुर भिन्नता पाई जाती है, ऐकमत्य नहीं है। फिर भी देश के पुरातत्ववेत्ताओं ने इस सम्बन्ध में स्तुत्य प्रयास किया है और उनका यह दावा है कि उनका गूढ़वाचन सर्वोत्तम हुआ है। संभव है इनके गूढ़वाचन के फलस्वरूप तत्कालीन चिकित्सा विज्ञान के तत्वों के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़े। इस सम्बन्ध में एक इतिहासवेत्ता ने लिखा है कि अभी तक भारत इतिहास का एक प्रसंग मात्र था, परन्तु सिन्धु नदी की खुदाई के अनन्तर अब वह इतिहास का प्रधान लक्ष्य सिद्ध हो रहा है। इतना निर्विवाद कहा जा सकता है कि सिकन्दर ने या ग्रीकों ने आक्रामण करके जब अपना प्रथम चरण भारत में रखा, तो उससे बहुत पहले भारत में चिकित्सा विज्ञान बहुत विकसित स्वरूप का था और वह भी चिकित्सा विज्ञान को अपने फलवान विचारों और उपदेशों से प्रभावित करता रहा।

इस गूढ़ वाचनों के अतिरिक्त आर्यों का अथर्ववेद एक ज्वलन्त प्रमाण है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विश्व में सर्वप्रथम लिखित साहित्य के रूप में चिकित्सा विज्ञान या आयुर्वेद का प्रतिपादन हुआ है। वेदों में विशेषतः अथर्ववेद में चिकित्सा विज्ञान या आयुर्वेद से सम्बद्ध बहुविध विषयों का विवेचन पाया जाता है। जैसे तकमन, सोम, कुष्ठ एवं कृत्रिम अंग संयोजन एवं अरिष्ट विवेचन आदि। परवर्ती काल में आत्रेय पीठ तक्षशिला केन्द्र से भी चिकित्सा विज्ञान की सर्वप्रथम रचनायें हुईं। धन्वन्तरि पीठ काशी से भी चिकित्सा शास्त्र की विश्व में प्रथम रचनायें हुईं। इनमें चरक तथा सुश्रुत प्रणीत संहितायें सर्वोत्तम सिद्ध हुईं, जो पुराकाल से लेकर आज तक अपनी ज्ञान गरिमा से चिकित्सा शास्त्र की परम्परा को अक्षुण बनाये रखी हैं।

इस प्रकार प्राक् ऐतिहासिक काल से आरम्भ करके आज तक की बनी हुई परम्परा को आयुर्वेद कहा जाता है। इस विद्या के ज्ञाताओं की प्राचीन संज्ञा भिषक् थी और आज की वैद्य है। आधुनिक युग के इतिहास के आधिकारिक विद्वानों का मत है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता इतनी ही प्राचीन है। सम्भवतः इस सभ्यता का अन्त १५०० ई. पू. हो गया था। अथर्ववेद एवं तद्भूत आयुर्वेद से संहिता ग्रन्थों को पुराकाल की निर्धारित काल सीमा

के परवर्ती युग का माना जाता है। अस्तु, इन ग्रन्थों में प्राप्य चिकित्सा सामग्री एवं अरिष्ट विवेचन का प्रसंग यहाँ समाविष्ट नहीं है। विविध पुराकालीन चिकित्सा विज्ञान के आभिलेखिक साक्ष्य के आधार पर तथा आयुर्वेद के वर्तमान से उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर यह अनुमान करना सहज है कि भारतीय सिन्धु सभ्यता के चिकित्सा विज्ञाान में भी अरिष्ट ज्ञान का वर्णन षडंग विज्ञानीय विधि से ही होता रहा होगा (सीमियोग्राफी)।

सिर से लेकर पैर तक के अंगोपांगों के लक्षण एवं चिन्हों की विवेचना और उनका महत्व प्रतिपादन करना तथा उनके आधार पर शुभाशुभ भविष्य कथन करने की परिपाटी रही होगी। इसी का विस्तृत वर्णन परवर्ती आयुर्वेद के ग्रन्थों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ यदि नाक कुटिल, स्फुटित, शुष्क, त्रुटित शब्दायमान मिले, तो वह मनुष्य जीवित नहीं रहता (सु.सू. ३१/७)।

यह काल निर्णय अर्वाचीन इतिहासविदों के द्वारा किया गया है, जो अधिकतर प्रतीच्य विद्वान् थे। बहुत से भारतीय विद्वान् इसके विपक्ष में भी अपनी दलीलें देते हैं। वेद शाश्वत हैं, आयुर्वेद की रचनायें भी अति प्राचीन काल की हैं। अनादिनिधन का सर्वोपरि भौतिक प्रतीक काशी पुरी है। पुराकाल से आज तक बहुत सी सभ्यताओं और आयुर्वेद के केन्द्र बने होंगे और नष्ट हुए होंगे, जैसा कि आयुर्वेद विद्यापीठ तक्षशिला केन्द्र की प्रसिद्धि है। आज यह कालक्रम से विलीन हो गया, परन्तु आश्चर्य का विषय है कि अति प्राचीन काल से स्थापित धन्वन्तरि पीठ काशी आज भी विद्यमान है। पुराणों के अनुसार यह एक शाश्वत रहने वाली पुरी है। अस्तु, भारतीय सनातन परम्परा के विद्वानों के काल निर्णय सम्बन्धी मत भी मननीय हैं।

सैंधव सभ्यता पश्चिमी एशियाई सभ्यताओं से सादृश्य रखते हुए भी प्रकृत्या विशिष्ट भारतीय सभ्यता थी। इस सभ्यता के संस्थापक कौन थे ? किस जाति के थे ? यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद रहा है। दीक्षितार, पुसलेकर, रामचन्द्रन् तथा शंकरानन्द आदि अनेक प्राच्य विद्वानों का यह विश्वास है कि यह श्रेय वैदिक आर्यों को ही देना चाहिए। श्रीलक्ष्मण स्वरूप का यह सुझाव है कि सिन्धु सभ्यता के निर्माता आर्य अवश्य थे, परन्तु यह वेदों में वर्णित सभ्यता न होकर उसका परवर्ती रूप है। अस्तु, चिकित्सा विज्ञान के इतिहास लेखन के प्रसंग में अधिक विवादों में न जाकर सैधव-चिकित्सा पद्धति को पूर्व वैदिक मान लेना युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

कालानुसार आयुर्वेद विकास क्रम

ई.पू. ३००० वर्ष	- सिन्धु घाटी में प्राचीनतम भारतीय राज्य का प्रमाण प्रधान केन्द्र खम्भात की खाड़ी के चारों तरफ मुअन-जोदड़ो, हरप्पा आदि।

ई.पू. २००० वर्ष " - वैदिक काल।
ई.पू. ५६०-४८० " - गौतम बुद्ध।
ई.पू. ५४०-४७८ " - महावीर।
ई.पू. ४६० " - अजातशत्रु मगध।
ई.पू. ४६३ " - नन्दवंश मगध।
ई.पू. ३२६-३२५ " - सिकन्दर का आक्रमण।
ई.पू. ३२२-३२२ " - चन्द्रगुप्त मौर्य।
ई.पू. ३०५ " - सेल्युकस का सिन्धु देश की ओर अग्रसर होना।
ई.पू. ३०२ " - मेगास्थनीय पाटलिपुत्र।
ई.पू. २६८ " - चन्द्रगुप्त की मृत्यु।
ई.पू. २७३-२३२ " - अशोक।
ई.पू. १८३ " - शुंग राज्य की स्थापना-पुष्यमित्र द्वारा अंतिम मौर्य राजा को मारकर।
ई.पू. १८०-१६ " - मिनैण्डर (मिलिन्द) पंजाब का राजा।
ई.पू. १७१ " - खरवल्ल का मगध पर आक्रमण।
ईस्वी सन् ४८ " - कैडिफिशेज कुशान का गांधार विजय।
ईस्वी सन् १२०-१६२" - कनिष्क कुषाण।
ईस्वी सन् १५० " - राजा रुद्रदामन का प्रथम संस्कृत शिलालेख जूनागढ़।
ईस्वी सन् ३२०-३३०" - चन्द्रगुप्त प्रथम।
ईस्वी सन् ३३०-३८० " - समुद्रगुप्त।
ईस्वी सन् ३८०-४१५" - चन्द्रगुप्त द्वितीय।
ईस्वी सन् ५३० " - मिहिरकुल यशोधर्मन के द्वारा विजित हुआ।
ईस्वी सन् ६०६-६४७" - हर्ष।
ईस्वी सन् ६०८-६४२" - पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य।
ईस्वी सन् ६३०-६४५" - ह्वेनसांग की भारत यात्रा।
ईस्वी सन् ७१०-७१२" - सिन्ध अरब राज्य।
ईस्वी सन् ७५० " - गोपाल प्रथम पाल राजा बंगाल।
ईस्वी सन् ७६०-६७३" - राष्ट्रकूट वंश।

ईस्वी सन् ८४०-६१०" - मिहिरभोज तथा महेन्द्रपाल कन्नौज में।
ईस्वी सन् ६७७ " - मुसलमानों का भारत में प्रवेश।
ईस्वी सन् ८००-६०० शती तक - आयुर्वेद एवं हिकमत का योग।
ईस्वी सन् १६००-१६००" - प्रतीच्य चिकित्सा विज्ञान का आंशिक सम्पर्क।
ईस्वी सन् १६००-२०००" - प्रतीच्य विद्वानों का पूर्ण सम्पर्क।

सभ्यता का प्रथम आविर्भाव भारत में सिन्धु नदी की घाटी में, पश्चिमी एशिया में दजला और फरात नदी की घाटी में तथा अफ्रीका में नील नदी की घाटी में हुआ। तत्तद् देशों में सभ्यता के अन्यान्य विकासों के साथ-साथ चिकित्सा विज्ञान (आयुर्वेद) का भी जन्म हुआ। चिकित्सा विज्ञान के जन्म के साथ ही उसके प्राग्ज्ञान या अरिष्ट ज्ञान नामक उपांग का भी सूत्रपात हुआ। चीन की सभ्यता तथा चिकित्सा विज्ञान, भारतीय, सुमेरियन तथा मिश्री सभ्यता के समान प्राचीन नहीं है, तथापि साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों प्रकार के साक्ष्य से यह निश्चित संकेत मिलता है कि चीन में कांस्यकालीन नागरिक सभ्यता का उदय संग्हो नदी से सिञ्चित भूमि में दूसरी सहस्त्राब्दी ई.पू. के मध्य में हुआ था। फिर भी कई अन्य कारणों से इसका प्राचीन विश्व सभ्यता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में तो इस सभ्यता का विकास समग्र मौलिक रूप में ही हुआ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त एक भारत को छोड़कर केवल चीन की ही सभ्यता एवं चिकित्सा विज्ञान अपने अबाध नैरन्तर्य का दावा कर सकती हैं।

मैक्सिको और पेरू देश की सभ्यता एवं चिकित्सा विज्ञान भी पुराकालीन (आर्केक) है, परन्तु वह उपर्युक्त सभ्यताओं के परवर्ती काल का है। संभवतः इस सभ्यता एवं उसके चिकित्सा विज्ञान का उदय भी प्रथम एवं द्वितीय सहस्त्राब्दी ई.पू. के मध्य के समीप हुआ हो। इन प्राचीन सभ्यताओं के चिकित्सा विज्ञान में सिंधु सभ्यता की न तो उदयकालीन अवस्था पर अभी तक पूर्णतः विश्वसनीय प्रकाश मिल पाया है और न तो राजनीतिक इतिहास ही ज्ञात होता है। कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे लगता है कि यह सभ्यता सुमेरियन और मिश्री सभ्यताओं से भी पुरानी थी, परन्तु इनके आधार पर निश्चित निष्कर्ष निकालना असंभव है।

इसके विपरीत पुरातात्विक एवं अभिलेखिक साक्ष्य की सहायता से सुमेरियन और मिश्री सभ्यताओं के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का पर्याप्त स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है और राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा भी दी जा सकती है। परन्तु इन दोनों में कौन सी सभ्यता प्राचीनतर है, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. आयुर्वेद का वृहत्त इतिहास : अत्रिदेव गुप्त उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

२. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास : आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखम्भा वाराणसी।

३. काश्यप संहिता : काश्यप, चौखम्भा, वाराणसी।

४. सुश्रुत संहिता : सुश्रुत, चौखम्भा, वाराणसी।

५. चरक संहिता : चरक, चौखम्भा, वाराणसी।

६. वेदों में आयुर्वेद : वैद्य रामगोपाल शास्त्री, दिल्ली १६५६।

७. वैदिक प्लाण्ट : जी.पी. मजुमदार पृष्ठ ६४५-५६१ सन् १६०४।

८. ऋग्वेद संहिता : भाग १-५ पूना १६३३-५१।

६. अथर्ववेद संहिता : १-४ होशियारपुर १६६०-६२।

१०. यजुर्वेद संहिता : हिन्दी टीका सातवलेकर।

११. सामवेद संहिता : वही वही

१२. दिव्य औषधि सोम : डा. हीरालाल विश्वकर्मा।

१३. अथर्व चिकित्सा विज्ञान : डा. हीरालाल विश्वकर्मा, चौखम्भा, वाराणसी।

१४. आयुर्वेद इतिहास एवं परिचय : डा. विद्याधर शुक्ल, प्रो. रविदत्त त्रिपाठी, चौखम्भा, वाराणसी।

१५. आयुर्वेद का इतिहास : डा. भागवत राम गुप्त, चौखम्भा, वाराणसी।

१६. महायान ग्रन्थों में निहित आयुर्वेदीय सामग्री : डा. रवीन्द्रनाथ त्रिपाठी।

१७. तुलसी लोक यश : भाग-II १६८०।

१८. अरिष्ट विज्ञान : डा. रमानाथ द्विवेदी।

१६. हेनरी, ई. (१६६७) : ऐ हिस्ट्री ऑव मेडिसिन, सं. प्रथम, पृ.१-१०४, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस।

२१. सिंगर, चा. एवं एशवर्थ, (१९६२) : ए शार्ट हिस्ट्री आफ मेडिसिन, आ. ई. सं. द्वितीय पृ.-१-४१, आक्सफोर्ड।

२२. फिलियोजा, जे. (१९६४) : दी क्लासिकल डाक्टरीन ऑव इण्डियन मेडिसिन, सं. प्रथम, पृ. २५८-२८०, मुन्शीराम मनोहर लाल, दिल्ली।

२३. गोयल, एस. (१९६६) : विश्व की प्राचीन सभ्यतायें, सं. प्रथम, पृ. २३-२५, २-८, एवं ४२७, विश्वविद्यालय प्रेस, वाराणसी।

२४. विलड्यूराट (१९५४) : आवर ओरियेण्टल हेरिटेज, सं. पृ. ७-१०, सायमेन एण्ड शूटर, न्यूयार्क।

२५. केलिक्स मार्टा, ई. (१९६५) : ए विक्टोरियल हिस्ट्री ऑव मेडिसन, सं. प्रथम -१-४१ स्प्रिंग बुक लंदन।

२६. सिंगरिस्ट, एच. ई. (१९६७) : ऐ हिस्ट्री ऑव मेडिसिन, प्रिंटिग एण्ड आर्कैक मेडिसिन, सं. प्रथम, पृ. १-१०५, गलेक्सो बुक यूनांइटेड स्टेट्स, आक्स। फोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

२७. गूथरी डोग्लाज (१९५८) : ऐ हिस्ट्री ऑफ मेडिसिन थेमास नेल्सन एण्ड सन्स लिमिटेड न्यूयार्क ।

२८. एडक्स फ्रान्सि (१९६७) : जिनिविन वर्कस आफ हिपीक्रेट्स दी विलियम एण्ड विल्किन कम्पनी, बाल्टीमोर, मेरीलैण्ड।

२९. बेन्किन आसवेल (१९६७) : ऐसण्ट मेडिसीन पृ. ६५-८५, जौनस हापकिन, प्रेस बाल्टीमोर।

३०. ब्राउन ई. जी. (१९६२) : अरेबियन मेडिसिन, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी सिटी प्रेस।

३४. A Critical Appraisal of Ayurvedic Material in Budhist Literature with special reference to Tripitak -1985. : Dr. Jyotirmitr

संक्षिप्त परिचय

आयुर्वेद बृहस्पति वैद्य डा. रमानाथ द्विवेदी का जन्म ५ मई १९२० को बलिया जिले के ओझवलिया ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम पं. अनमोल द्विवेदी और माता का नाम परमज्योति था। प्रारम्भिक शिक्षा बलिया से प्राप्त कर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आयुर्वेदाचार्य एवं पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। आयुर्वेद विश्वविद्यालय झांसी ने आयुर्वेद के शिक्षण एवं चिकित्सा में इनके असीम योगदान को देखते हुए इन्हें डी.एस.सी. (आयुर्वेद बृहस्पति) की मानक उपाधि से सम्मानित किया। राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ के द्वारा इन्हें "फेलो आफ नेशनल अकादमी आफ आयुर्वेद" से अलंकृत किया गया। चालीस साल से अधिक के शैक्षिक जीवन में इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आर्युविज्ञान संस्थान में विभिन्न शैक्षिक एवं चिकित्सकीय पदों पर सेवारत रहते हुए आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर वासनजी खेमजी चेयर का पद ग्रहण किया। शिक्षक एवं चिकित्सक के रूप में इन्होंने स्नातक एवं परास्नातक स्तरों पर अष्टांग आयुर्वेद का वृहद रूप से प्रचार एवं प्रसार किया। इनके संरक्षण में बारह से ज्यादा विद्यार्थियों ने एम.डी. एवं पी.एच.डी. की उपाधियां प्राप्त की। इन्होंने दस से अधिक आयुर्वेद के मूल ग्रन्थों की रचना की, जो सम्पूर्ण भारत के आयुर्वेद संस्थानों में प्रचलित हैं। इनके साठ वर्षों से अधिक के चिकित्सकीय अनुभव का लाभ जनमानस आज भी प्राप्त कर रहा है।

जीवन-वृत्त

प्रो. रविदत्त त्रिपाठी

भूतपूर्व
- निदेशक, आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएँ, उ.प्र.।
- संकाय-प्रमुख, आयुर्वेद एवं यूनानी संकाय, छत्रपति शाहूजी महराज विश्वविद्यालय, कानपुर उ.प्र.।
- अध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता।
- प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय उत्तर प्रदेश।
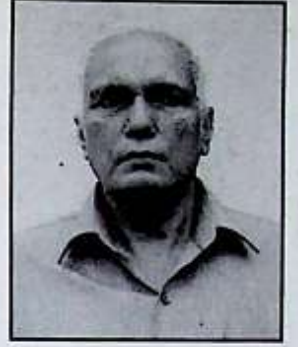
पत्राचार हेतु स्थायी पता : चन्द्रकुटी, १६ ए, कैलाशपुरी कालोनी, नेवादा, सुन्दरपुर, वाराणसी-२२१००५।

फोन : ०५४२-२३१६५१३, ९४१५२३६५७२।

जन्मतिथि : ३१ जुलाई १९४५।

शिक्षा : आयुर्वेदाचार्य बी.ए.एम.एम.एस. (ल.वि.वि. लखनऊ)।
डी. एवाई एम. (का.हि.वि.वि., वाराणसी)।
पी-एच.डी. (ल.वि.वि., लखनऊ)।

प्रकाशित ग्रन्थ : १. पदार्थ विज्ञान (१९८०)।
२. अष्टागसंग्रह सूत्र स्थान, हिन्दीव्याख्या (१९८४)।
३. माधव निदान पूर्वार्द्ध, मधुकोश हिन्दी व्याख्या (१९९३)।
४. आयुर्वेद इतिहास एवं परिचय (१९८१)।
५. चरक संहिता हिन्दी व्याख्या (१९९८)।

समालोचना : शतश्लोकी (आयुर्वेदीय ग्रन्थ, सम्पादक डा. प्रभात शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

पुरस्कार : १. प्रथम पुरस्कार-आयुर्वेद एवं तिब्बती अकादमी लखनऊ उ.प्र. १९८०-८१, १९८५ (दो बार)।
२. विशेष पुरस्कार-उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ १९८५, १९९३ (दो बार)।

सम्मान : १. आयुर्वेद महासम्मेलन प्रयाग द्वारा सम्मानित २००१।
२. धन्वन्तरि सम्मान, धन्वन्तरि अभियान संस्थान उत्तर प्रदेश प्रयाग २००२।

निर्देशक : पी.एच.डी. शोध प्रबन्ध ४

प्रकाशित शोधपत्र/लेख : ४८

अध्यक्ष : अखिल भारतीय सभाषा परिषद् लखनऊ (उ.प्र.) २०००, वाराणसी-२०००, रीवां (म.प्र.) २००३, रायपुर (छतीसगढ़) २००४, जालन्धर (पंजाब) २००४ आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय।

वार्ताएँ : आकाशवाणी केन्द लखनऊ एवं वाराणसी से आयुर्वेद एवं स्वास्थ्य संबंधी अनेकानेक वार्ताएँ प्रसारित।

'संस्कृत वाङ्मय के बृहद् इतिहास' के सप्तदश खण्ड 'आयुर्वेद का इतिहास' में आयुर्वेद अवतरण से लेकर उसके विकास का क्रमबद्ध दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है।

इस खण्ड में वैदिक वाङ्मय वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ के अतिरिक्त पुराण, रामायण, महाभारत, जैन एवं बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद का विवेचन किया गया है। अष्टांग एवं उपाङ्गभूत आयुर्वेद के साथ-साथ शल्यतन्त्र, कौमारभृत्य (प्रसूति तन्त्र, स्त्री रोग एवं बाल रोग), भूतविद्या, रसशास्त्र, द्रव्यगुण, शारीरविज्ञान, वृक्षायुर्वेद, पशु-आयुर्वेद, नाड़ीविज्ञान के विशद् विवेचन के अतिरिक्त आयुर्वेद चिकित्सा से सम्बन्धित योग, तन्त्र-मन्त्र, ज्योतिष, चुम्बक-रेकी एवं एक्यूप्रेशर चिकित्सा का भी समुल्लेख किया गया है। इस समय विश्व की ज्वलन्त समस्या 'पर्यावरण एवं समाज' पर आयुर्वेद का ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी उपलब्ध है। इसके साथ ही मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, मालवा, राजस्थान, गुजरात, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल एवं विशेष रूप से वाराणसी की वैद्य परम्परा को उजागर किया गया है। आयुर्वेद इतिहास सन्दर्भ में संहिता काल से प्रारम्भ करके १९वीं शताब्दी तक तथा प्रमुख आधुनिक आचार्यो का स्थान, काल, रचनाएँ एवं उनके विषय में उल्लिखित है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आयुर्वेद के विकास क्रम एवं आयुर्वेदीय अनुसन्धान के स्वरूप पर भी विचार है।

सम्पादकीय में विभिन्न देशों की प्राचीन सभ्यताओं के विकास के साथ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में चिकित्सा पद्धतियों के अभ्युदय का सविस्तर वर्णन इस खण्ड का वैशिष्ट्य है।